पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

# सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक सेवा धर्म के उपासक

*सम्पादक*

ब्रह्मवर्चस

*प्रकाशक*

अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा

# विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक
# एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्ज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी मां शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही है। उनने भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं है किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानी गणों के, वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देख सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबा कर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता मन को, विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों करोड़ों के मनों के अंत:स्थल को छू कर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्ल मार्क्स के साम्यवाद की क्रांति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े रहते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाय, कैसे छन्दबद्ध, लिपिबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पंद्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता-श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आसपास के दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंत:करण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे। छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुत: अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवाकर उनने घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा।

उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनने चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किन्तु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय, अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय, यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ मे उनके घर की पूजा स्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनने प्रज्ज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में संपन्न क्रिया कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषि सत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनने संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष के चौबीस महा- पुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रांति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्वपूर्ण मोड़ था, जिसने भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि "प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरु सत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गई, संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धत: परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।"

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने तोड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख सुन कर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमे घरवालों के विरोध के बावजूद पैदल लम्बा रास्ता पारकर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल

भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अंग्रेजी सीखकर लौटे। आसन- सोल जेल में वे श्री जवाहर लाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से-मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जन आक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रांतिकारी स्थिति की तरह उनने भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरारा आन्दोलन के दौरान उनने झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा छीनने का प्रयास करते रहे। उनने मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्य चकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्त जी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनने पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्य मंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधी जी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनने प्रधान मंत्री राहत फण्ड, हरिजन फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का, सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरु हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रह कर उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारियाँ कम थीं अत: पुन: सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनने परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमश: उनके अध्यवसाय घर-घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदय स्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ, स्थान बदला, आगरा से मथुरा आ गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंत: स्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं

परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुखी था-पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रांति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलाये भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परम वंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५८ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनने गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देश भर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की अपनी रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनमें महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूल थाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञान सम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तपःपूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनने अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों, यज्ञायोजनों के द्वारा विचार क्रांति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों में विशेष कार्य भार सौंप, परम वंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़ कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनने शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट् परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके

लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी बूटी, यज्ञविज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञान सम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्त्ता निर्माण हेतु युग शिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता, आस्तिकता संवर्धन एवं जन जागृति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञा संस्थान - शक्तिपीठ-प्रज्ञामण्डल-स्वाध्याय मंडल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तप साधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी को दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देव संस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियो ने अपना समय समाज के नव निर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरु सत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युगसंधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेघ महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नव निर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रांति के निमित्त सौर ऊर्जा के दोहन द्वारा विशिष्ट प्रयोगों के माध्यम से विशिष्ट मंत्राहुतियों द्वारा सम्पन्न किये गये इन अश्वमेधों ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु संपन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९५ में कार्त्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी जा रही है। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो सत्तर खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हो रहा है। विनम्रता एव ब्राह्मणत्व का कसोटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जायेंगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र मे बढ़ चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेंगे' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

# भूमिका

वाङ्मय के विगत खण्डों की तरह इस खण्ड में संस्कृति की रक्षा-मानव मात्र की मुक्ति के लिए प्रयास पुरुषार्थ करने वाले महापुरुषों-अवतारी सत्ताओं के जीवन वृत्त दिये गये हैं । इसमें धर्मोद्धारक एवं संस्कृति-रक्षक भी हैं तो ज्ञान-क्रांति के प्रणेता भी एवं सेवा साधना द्वारा विश्व वसुधा के लिए ही जीकर समाज-संस्कृति-विज्ञानजगत से लेकर अपने राष्ट्रों के लिए कुछ कर गुजरने वालों के विवरण पूज्यवर की लेखनी से लिखे गये हैं । सामान्य से परे असामान्य स्तर का जीवन जीने वाले इन महापुरुषों के कारण ही धरित्री पर संस्कृति-सभ्यता एवं धर्म का कलेवर जिन्दा है ।

मानवी चिन्तन का सहज स्वभाव अधोगामी होता है. । वृत्ति पतनोन्मुख ही रहती है । बहिरंग का आकर्षण ही मानवी प्रकृति को भाता है किन्तु उस चिन्तन की धारा को ऊर्ध्वमुखी बनाने का कार्य ऐसी लीला गाथाओं से होता है जो इस खण्ड में वर्णित हैं । भले ही आज.वे सभी महापुरुष हमारे बीच नहीं, किन्तु उनके सत्कार्यों के वर्णन को पढ़कर हम उनके वैचारिक सत्संग का सहज ही लाभ ले सकते हैं । स्वाध्याय परम्परा के अन्तर्गत महापुरुषों-लीलावतारों के जीवन वृत्तान्तों को इसीलिए बार-बार पढ़ा जाता है ताकि मस्तिष्क पटल पर उसकी छाप पड़ती चली जाय एवं क्रमशः वही चित्त की वृत्ति व स्वभाव भी बन जाय-अंततः संस्कार में परिणित हो जाय ।

महात्मा बुद्ध सिद्धार्थ के रूप में राजा थे व तीर्थंकर महावीर स्वामी भी राजघराने के सर्वे-सर्वा । किन्तु दोनों ने ही मानव मात्र की मुक्ति के लिए अपने वैभव को ठोकर मार दी एवं गहन तप-तितिक्षा का मार्ग अपनाकर सबकी मुक्ति का मार्ग खोजा । दोनों क्रमशः बौद्धधर्म व जैन धर्म-सम्प्रदाय के प्रणेता कहलाये । एक ही समय में जन्मे, एक ही क्षेत्र विशेष में कार्य करने वाले इन अवतारी पुरुषों के कार्य को इनके अनुयायियों ने बढ़ाया एवं मात्र बिहार-उत्तर प्रदेश के थोड़े भाग तक सीमित उनके कार्य क्षेत्र से यह फैलकर सारे विश्व के कोने-कोने में पहुँच गया । संवेदना की कसक ही बुद्ध व महावीर को जन्म देती है । ईसा जन्मे तो थे एक कुमारी कन्या के गर्भ से-एक बढ़ई के घर किन्तु उनका जन्म ही मानव मात्र को करुणा व सेवा का पाठ पढ़ाने के लिए हुआ था । आज दो तिहाई विश्व उनकी शिक्षाओं-औरों के प्रति करुणा, सच्ची सेवा व सभी में प्रभु का दर्शन-इन आधारों पर चलता हुआ देखा जा सकता है । आद्यशंकराचार्य ने दक्षिण के केरल प्रांत से उठकर पूरे भारत की परिव्रजा कर देव संस्कृति दिग्विजय का शंखनाद किया, चार मठ स्थापित किए एवं भारत के गौरव को पुनः स्थापित किया । कबीर सर्वधर्म समभाव लाने वाले ही नहीं-कुरीति-उन्मूलक, समाज सुधारक, सिद्ध-संत माने जाते हैं । उनकी उलटबासियाँ क्रांतिकारी हैं । हिन्दू-मुस्लिम सभी उन्हें समान रूप से मानते हैं एवं उनका फक्कड़पन उनके काव्य में कर्त्तत्त्व में-देखा जाता है । अन्ध विश्वासों से घिरे समाज को उनने एक नयी दिशा दी । संत नामदेव, चैतन्य महाप्रभु, संत तुकाराम एक ही धारा भक्तियोग के प्रसारक-प्रचारक रहे व इस मार्ग से कैसे भगवान को पाया जा सकता है, यह शिक्षा तीनों के जीवन से मिलती है । जहाँ गुरुनानक देव जी व गुरुगोविन्द सिंह जी सिखधर्म के दो प्रमुख गुरु माने जाते हैं, वहाँ वे राष्ट्र की रक्षा के लिए धर्मतंत्र को "एक हाथ में माला-एक हाथ में भाला " का मंत्र देने वाले अनीति से संघर्ष कर मन्यु जगाए रखने की प्रेरणा भी देते हैं । सिख धर्म पूरी तरह गुरुभक्ति-अहं की मुक्ति पर टिका है । समर्थ रामदास न केवल शिवाजी के गुरु थे, उनने महाराष्ट्र से पूरे दक्षिण तक गाँव-गाँव व्यायाम शालाएँ, हनुमान मन्दिर के माध्यम से राष्ट्र चेतना को जगाने का महत्त्वपूर्ण कार्य तब किया, जब देश आक्रांताओं से घिरा था ।

इस खण्ड में जहाँ इसी क्रम में आगे ज्ञान क्रांति को जन्म देने वाले कार्ल मार्क्स व टाल्सटाय का जहाँ जीवन वृत्त वर्णित है, वहीं लेखनी के शिल्पी-पत्रकार-क्रांतिकारी गणेश शंकर विद्यार्थी की भी जीवन गाथा

# विषय सूची

ꕤꕤꕤ

# || धर्मोद्धारक और संस्कृति संरक्षक ||

## लोक कल्याण के व्रती : महात्मा बुद्ध

ढाई हजार वर्ष पुरानी बात है । कपिलवस्तु नगरी के राजमार्ग पर एक बुड्ढा भिखारी चला जा रहा था । जरावस्था ने उसकी कमर को झुका दिया था, नेत्रों की ज्योति को क्षीण कर दिया था, दाँतों को गिरा दिया था और पैरों को लड़खड़ा कर चलने वाला बना दिया था । वह रोटी के एक टुकड़े के लिये पुकार मचा रहा था, पर रोटी देने के बदले कितने ही शरारती बालक उसके पीछे पड़ गये थे और तरह-तरह से छेड़ कर उसे तंग कर रहे थे । इतने मे एक राजकीय रथ चलते-चलते उसके पास रुका और उसमें से एक देव-कान्ति वाला युवा पुरुष उतर कर उस भिखारी को ध्यान पूर्वक देखने लगा । उसने अपने सारथी से पूछा कि यह कौन है और इसकी यह दुर्दशा क्यो हो रही है ? तब उसे मालूम हुआ कि यह एक बुड्ढा आदमी है जो शरीर से अशक्त हो जाने से जीविकोपार्जन में असमर्थ हो गया है और भूख की व्यथा को दूर करने के लिये इधर-उधर रोटी माँगता फिरता है । राजकुमार को यह एक अनोखा दृश्य जान पड़ा, क्योकि उसने आज से पहले किसी दीन-दु:खी वृद्ध पुरुष को नहीं देखा था । उसको अभी तक जिस वातावरण में रखा गया था, उसमें सुख और आनन्ददायक श्रेष्ठ दृश्यों के अतिरिक्त उसे कभी दैन्य, कष्ट, रोग-शोक की घटनाओ को देखने का अवसर ही नहीं मिला । आज संयोग से मार्ग में चलते हुए ऐसी जर्जर और निकृष्ट अवस्था मे पहुँचे हुए व्यक्ति को देखकर उसकी आँखें खुल गईं । यह राजकुमार गौतम थे जो आगे चलकर महात्मा बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए ।

गौतम शाक्य वंशीय राजा शुद्धोदन के पुत्र थे । उनकी माता महामाया उनको सात दिन का ही छोड़कर मर गई थी और उनका लालन-पालन सेवक और दासियों द्वारा किया गया था । इनके जन्म के समय किसी ज्योतिषी ने कह दिया था कि ये आगे चलकर यदि घर में रहे तो एक पराक्रमी सम्राट बनेंगे और जो गृह त्यागी हो गये तो बड़े धर्म प्रचारक और लोक सेवा सिद्ध होंगे । इस भविष्य कथन से राजा शुद्धोदन का हृदय शंकाकुल हो गया था और उसने यह व्यवस्था कर रखी थी कि राजकुमार को सदैव अत्यन्त सुख और प्रसन्नता के वातावरण मे रखा जाये और उनके सामने सांसारिक दु:ख, रोग-शोक की चर्चा भूल कर भी न की जाये । यही कारण था कि राज भवन के दास-दासी उनको सदैव आमोद-प्रमोद और मनोरंजन में लगाये रहते थे और संसार की वास्तविक अवस्था के सम्पर्क मे उनको कभी नहीं आने दिया जाता था ।

### गौतम का विचार-मंथन

इसी से जब अकस्मात् एक दिन उन्होने एक जराग्रस्त दीन-दु:खी भिखारी को देखा तो उसकी बड़ी गहरी प्रतिक्रिया हुई । अभी तक तो वे संसार के सब लोगों को अपनी ही तरह सुखी और आमोद-प्रमोद में जीवन व्यतीत करने वाला समझते थे । पर जब उनको अनुभव हुआ कि संसार का वास्तविक रूप ऐसा नहीं है और उसमे अनगिनती व्यक्ति अभावग्रस्त, कष्टपूर्ण और तरह-तरह की व्याधियों से व्याकुल जीवन व्यतीत करते हैं तो उनके कोमल हृदय को बड़ा धक्का लगा और वे इस समस्या का मनन करने तथा उसके प्रतिकार का उपाय ढूँढ़ने लगे ।

गौतम का हृदय आरम्भिक अवस्था से ही सब प्राणियो के लिये सम्वेदनशील था और वे किसी का कष्ट नही देख सकते थे । इस सम्बन्ध में एक उपाख्यान बहुत प्रसिद्ध है कि एक दिन उनके एक निकट सम्बन्धी देवदत्त ने बाण चला कर उड़ते हुए हंस को घायल कर दिया और वह पंख फड़फड़ाता हुआ गौतम के पास ही आ गिरा । उसे देखकर इनके मन में बड़ा

करुणा-भाव उत्पन्न हुआ और वे तुरन्त ही उसे उठाकर शरीर पर हाथ फेरने लगे । इतने में देवदत्त आ पहुँचा और उसने अपना मारा हुआ हंस माँगा, पर इन्होंने देने से इन्कार किया और अन्त में यह विवाद राजा शुद्धोदन के समीप पहुँचा । वहाँ पर गौतम ने यह दलील दी कि मारने वाले से बचाने वाला सदैव बड़ा हुआ करता है, इसलिये इस हंस पर देवदत्त का नहीं मेरा अधिकार है और मैं इसकी प्राण रक्षा करूँगा । इनका यह कथन सबने ठीक बतलाया और यह भी अनुभव किया कि जब ये एक पक्षी के प्रति इतनी आत्मीयता का भाव रखते हैं, तो संसार में पीड़ित मानवता के प्रति कल्याण-भावना क्यों न रखेंगे ?

इनके पिता ने इनकी गम्भीर मनोवृत्ति को देखकर शीघ्र ही इनका विवाह यशोधरा नाम की राजकुमारी से कर दिया था, जो बड़ी सुन्दर और पतिपरायणा थी । वह भी उनको सदा राजमहलो के वैभवशाली और आमोद युक्त जीवन में लुभाये रखने की चेष्टा किया करती थी तो भी जैसे-जैसे बुद्ध को निरीक्षण और मनन द्वारा संसार की वास्तविक अवस्था का ज्ञान होता गया उनको उस राजसी जीवन से विरक्ति होती गई । वे अपने मन में यही सोचा करते कि संसार मे—हमारे ही आस-पास के स्थानों में इतने अधिक व्यक्ति भोजन, वस्त्र, मकान, औषधि, परिचर्या के बिना कष्ट सहन कर रहे हैं तो मुझे इन सुरम्य महलों मे रगरेलियाँ मनाने का क्या अधिकार है, यह कहाँ की मानवता है कि एक तरफ तो अनेक नरतन धारी भूखे, नंगे, रोगी, पीड़ित पड़े कराह रहे हो और दूसरी तरफ दस-बीस राजवंशीय व्यक्ति सुरा और सुन्दरियो का आस्वादन करते हुए असंख्य धन तथा मानव-श्रम की बर्बादी कर रहे हो । नही, यह स्पष्ट अन्याय है । जब तक सबको साधारण जीवन-निर्वाह की सुविधा मिल जाये तब तक किसी को यह अधिकार नहीं कि वह सार्वजनिक धन और जीवनोपयोगी सामग्री का ऐसा दुरुपयोग करे ।

## राजकीय बन्धनों का त्याग

गौतम की यह विचारधारा क्रमशः परिपक्व होती चली गई । यद्यपि उनके पिता राजा शुद्धोदन ने इस बात का भरसक प्रयत्न किया कि राजकुमार के सामने संसार की दुर्दशा का कोई चित्र न आने पाये, न उनको ज्ञान-वैराग्य की बातो को सुनने का अवसर दिया जाये, तो भी गौतम ने दो-चार बार संयोग से जो दीन, दुःखी, रोगी और मृत व्यक्तियों को देख लिया उसी से उनके भीतर विचार मन्थन आरम्भ हो गया और अपनी तर्क-बुद्धि तथा न्याय-पथ पर चलने वाली मनोभावना के द्वारा उन्होंने शीघ्र ही यह समझ लिया कि संसार से इस अन्याय और दुरवस्था को मिटाना है तो इसके लिये सबसे पहली आवश्यकता यही है कि इस राजपाट के झंझट और बन्धन को दूर हटाया जाये क्योंकि, जब तक इसमें रहा जायेगा तब तक पीड़ित मानवता की सेवा सहायता करना तो दूर उनके निकट जा सकना भी सम्भव नहीं । इसलिये उन्होंने महलों में रहते हुए भी अपने जीवन को सादा बनाना आरम्भ कर दिया और राज्य के बन्धनों को तोड़कर स्वतन्त्र होने का निश्चय कर लिया ।

कुछ समय पश्चात् जब यशोधरा ने एक पुत्र को जन्म दिया तब गौतम पर इसकी प्रतिक्रिया भिन्न रूप में ही हुई । एक तरफ तो समस्त राज्य में हर्षोल्लास और मागलिक उत्सवो की धूम मची हुई थी और दूसरी ओर गौतम इसे एक नये बन्धन के रूप में अनुभव कर रहे थे । वे सोचते थे कि अभी तक तो हम स्त्री और पिता के प्रेम के कारण घर को न छोड सके, अब यदि इस पुत्र का प्रेम भी बढ गया तो गृहत्याग करके अपने को विश्व कल्याण के कार्य के लिये समर्पित कर देना और भी कठिन हो जायेगा । इसलिये उन्होंने शीघ्र से शीघ्र राजसी जीवन को त्यागने का निश्चय कर लिया और जिस दिन उनका पुत्र राहुल सात दिन का ही था वे आधी रात के समय चुपचाप घर को छोड़कर चल दिये । यह मार्ग उनको इसलिये अपनाना पड़ा क्योंकि उनके पिता राज्य की मर्यादा के ख्याल से इस बात की अनुमति देने को कदापि तैयार न थे और हर तरफ से यह प्रयत्न कर रहे थे कि गौतम राजभवन से बाहर न जा सके । उधर गौतम के मन में प्रतिदिन यह धारणा बलवती होती जाती थी कि यदि मैं अन्य लोगों की तरह विषय-भोग में ही लगा रहा और अपनी ईश्वर प्रदत्त शक्तियों को लोक-कल्याण के लिये उपयोग मे न ला सका तो यह एक बहुत बड़ा प्रमाद या अपराध होगा ।

## गौतम के समय की सामाजिक अवस्था

और वास्तव मे उस समय भारतीय समाज की दशा बड़ी शोचनीय हो गई थी और बहुसंख्यक जनता

हीन श्रेणी का जीवन व्यतीत कर रही थी । समाज के अगुआ और पूज्य माने जाने वाले ब्राह्मण, जिन्होंने किसी समय अपनी त्याग और तपस्या के बल पर इस देश में रहने वालों को ही नहीं संसार के अनेक देशों को कर्त्तव्य परायणता, परोपकार, सेवा-धर्म, अनाशक्ति आदि सद्‌गुणों की शिक्षा दी थी और जन-समुदाय को बुराइयाँ त्याग कर सच्चा धार्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी थी, वे ही अब तुच्छ स्वार्थ के वशीभूत होकर केवल खाने-कमाने में तल्लीन हो गये थे । अपनी स्वार्थ-साधना के लिये उन्होंने यज्ञीय कर्मकाण्डो को बहुत बढ़ा दिया था और उनमें अधिकाधिक पशुओं की हिंसा कराके वीभत्सता का वातावरण उत्पन्न कर दिया था । वे अपनी पुरानी पदवी के कारण समाज पर अनुचित दबाव डालकर समाज में असमानता और अव्यवस्था की वृद्धि कर रहे थे, जिसके फल से समस्त देश का पतन होने लग गया था । इस प्रकार समाज की प्रगति के लिये किसी प्रकार का उपयोगी कार्य न करते हुए भी, केवल ढोंग और जनता के अज्ञान के आधार पर वे अपना स्वार्थ साधन कर रहे थे । जब समाज के अगुआओं की यह दशा थी तो अन्य लोगों से अपने धर्म-कर्त्तव्यो के उचित रूप में पालन करने की आशा कैसे की जा सकती थी ?

इसका परिणाम यह हुआ था कि 'यज्ञ' जैसे महान आध्यात्मिक और त्यागमूलक धर्म-कार्य ने एक व्यवसाय का रूप धारण कर लिया था । उससे लाभ उठाने वाला ब्राह्मण तरह-तरह से राजाओं और बड़े लोगों को बहका कर, उनमें प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न करके, बड़े-बड़े यज्ञोत्सवों का आयोजन कराते थे और उसमें गरीब प्रजा के पसीने की कमाई को लाखो रुपया बर्बाद करा देते थे । सबसे बुरी बात यह थी कि उन्होंने बलिदान की प्रथा को इतना अधिक बढा दिया था कि वे 'यज्ञ उत्सव' धर्म-भावना की वृद्धि के बजाय एक प्रकार के कसाई खाने बन गये थे । एक-एक यज्ञ में जब चार-पाँच सौ बकरे, भेड़ों को खुले आम काटा जाता होगा तब वहाँ पर कैसा नर्क के समान दृश्य उपस्थित हो जाता होगा और उसका उपस्थित जनसमूह पर कैसा हानिकारक प्रभाव पड़ता होगा ? इसकी कल्पनो सहज में ही की जा सकती है ।

धर्म के पतन तथा भ्रष्टता के साथ ही इसका दुष्परिणाम यह भी हुआ था कि समाज के निम्न-वर्ग शूद्र और कृषि कार्य करने वाले लोगों का जीवन-निर्वाह कठिन होता जाता था । यज्ञों का खर्च बहुत बढ़ गया था और उनके प्रदर्शन तथा निरर्थक रूढ़ियों की पूर्ति के लिये लाखों लोगों का समय तथा सामग्री को नष्ट किया जाता था । इस सबका भार निम्न-वर्ग पर ही पड़ता था । ब्राह्मणों के दम्भ और राजाओं के शस्त्रबल के भय से उनको सब प्रकार के अन्याय सहन करके भी 'यज्ञों' के व्यर्थ पर महँगे उत्सवों की पूर्ति करनी पड़ती थी, चाहे इसके कारण उनको तथा उनके बच्चों को आधा पेट खाकर ही क्यों न गुजर करनी पड़ती हो इससे उन लोगो में एक असन्तोष तथा विद्रोह की भावना भी उत्पन्न हो रही थी, यद्यपि किसी उचित अवसर के अभाव से वह अभी अप्रकट ही था ।

समाज की इसी संकटपूर्ण और गिरती हुई दशा ने गौतम और उनके जैसे मनस्वी कुछ अन्य व्यक्तियों का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित किया था । देश में जगह-जगह इसका विरोध करने वाले कुछ व्यक्ति और छोटे-छोटे समुदाय उत्पन्न हो रहे थे । यद्यपि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के कारण ऐसे लोग साधु, संन्यासी, तपस्वियों के रूप में रहते थे, पर वास्तव में वे उस समय के 'आन्दोलनकारी' ही थे । उनकी मान्यता थी कि कोरे कर्मकाण्ड और यज्ञादि से किसी मनुष्य की आत्मोन्नति नही हो सकती और जब तक मनुष्य की आत्मा जागृत नही होती वह आत्मतत्व को समझकर सब प्राणियों में एक ही 'परमात्मा' के दर्शन नहीं करने लगता, तब तक वह मुक्ति का अधिकारी नहीं बन सकता । ये लोग अपने सिद्धान्त का प्रचार भी करते थे, पर ब्राह्मणों के प्रभाव के सामने उनके प्रयत्नों का कोई परिणाम नही होता था । पर जब गौतम जैसे उच्चश्रेणी के और लोक कल्याण के व्रतधारी इस मार्ग पर आगे बढे और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्राणोत्सर्ग के लिये उद्यत हो गये तो फिर उन्होने समाज का नक्शा ही बदल दिया ।

## गृह त्याग और तपस्या

गौतम के गृह त्याग का वर्णन बौद्ध ग्रन्थो में बड़े विस्तार से और प्रभावशाली ढंग से किया है । आधुनिक यूरोपियन विद्वानों ने भी उसके सम्बन्ध में अपनी सम्मति

बड़े प्रशंसनीय रूप में प्रकट की है । वास्तव मे उनका यह कार्य था भी ऐसा ही, और यही कारण है आज २५०० से भी अधिक वर्ष बीत जाने पर करोड़ों व्यक्ति उससे प्रेरणा ग्रहण करते रहते हैं । इस घटना का जिक्र करते हुए इनके एक जीवन चरित्र में कहा है—

जब राहुल सात दिन का हो गया तो उसी दिन गौतम का हृदय अत्यन्त चंचल हो उठा । संसार का सारा सुख उन्हें काटने को दौड़ता था । चारों ओर आधि-व्याधि की प्रचुरता दीख पड़ती थी । उसी दिन अर्धरात्रि को वे उठ खड़े हुए । उस समय उनकी सेविकाये अर्धनग्न अवस्था में सो रही थी जिसे देखकर उनको और भी विरक्तता हो गई । गौतम अब घर में नहीं रह सके । उन्होने चुपके से अपने सारथी चण्डक (छन्नक) को जगाया और अपने प्यारे-घोड़े 'केतक' को लाने की आज्ञा दी । सारथी यह सुनकर आश्चर्य में आ गया । उसने गौतम को इस समय घूमने से मना किया पर राजकुमार नहीं माने । घरबार छोड़ने से पहले एक बार गौतम अपनी स्त्री के शयनागार में गये, किन्तु उस समय उनकी स्त्री पुत्र के मुख पर हाथ रख कर सो रही थी । जाग जाने के डर से उन्होंने उसका हाथ न हटाया । उस समय यशोधरा भी अपार रूपवती जान पड रही थी । पर गौतम अपने हृदय को पक्का करके स्त्री और पुत्र की ममता को त्याग कर बाहर निकल आये और जंगल की तरफ रवाना हो गये ।

जंगल मे पहुँच कर वे घोड़े से उतर पड़े और चण्डक से कहा—अब तुम इसे लेकर नगर को लौट जाओ । चण्डक ने भी गौतम से बहुत अनुनय-विनय की, कि वे उसे ऐसी कठिन परीक्षा में न डालें और राजमहल को चले चलें । पर वे अपने निश्चय से टस से मस न हुए और जंगल में अग्रसर होते चले गये, प्रातःकाल होने पर उन्होंने अपने वस्त्र एक भिखारी से बदल लिये और तलवार से अपने घुँघराले लम्बे केशो को काट डाला । इसके बाद धर्म का निश्चय करने के लिये पागल की तरह इधर-उधर घूमने लगे । एक स्थान पर उन्होंने यज्ञ होते देखा, जिसमे वेदी के निकट बहुसंख्यक पशुओं का बलिदान किया जा रहा था और चारो ओर रक्त ही रक्त दिखाई पड़ रहा था । यह दृश्य देखकर उनको बड़ी वेदना हुई और वे अपने मन में विचार करने लगे ।

"ये लोग सोचते होंगे कि हम धर्म कर रहे हैं । पर ये नहीं जानते कि ये इस समय महान नीचता का कार्य कर रहे हैं । कहीं ऐसे 'धर्म' से मन को शान्ति मिल सकती है ? चित्त निर्मल हो सकता है ? यह सब पेट भरने की कला है ।"

गौतम फिर जंगल मे पहुँच गये और दो तपस्वी ब्राह्मणों के पास रहकर वेदादि ग्रन्थों का अध्ययन करने लगे । पर जब एक वर्ष तक वेदाध्ययन से भी उनको *शान्ति प्राप्ति के कुछ लक्षण दिखाई न पड़े तो वे अन्य* पाँच व्यक्तियों के साथ घोर तपश्चर्या करने के निमित्त दूसरे घने जगल मे चले गये ।

इस प्रकार वे विभिन्न सिद्धान्तों के अनुयायी साधुओं के पास रह कर कई वर्ष तक तप करते रहे, जिससे उनका शरीर बहुत दुर्बल हो गया और कार्य शक्ति भी बहुत घट गई, पर इससे न तो उनके मन की समस्याओं का समाधान हुआ और न उनको आत्मिक शान्ति ही मिल सकी । अन्त में वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि केवल गृह त्याग कर वन में निवास करने और स्वेच्छा से शारीरिक कष्ट सहन करने से ही ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती । इसके लिये आवश्यक है कि पूर्वग्रहों की चिन्ता न करके संसार की स्थिति और समस्याओं पर उदार भाव से विचार किया जाये और बुद्धि संगत तथा तर्कयुक्त निर्णय को स्वीकार किया जाये । इस मार्ग पर चलने से उनके हृदय में सत्यज्ञान का उदय हुआ । कहा जाता है कि यह ज्ञान उनको वर्तमान गया नगर के समीप एक बरगद के वृक्ष के नीचे निवास करते हुए प्राप्त हुआ, जिससे उसका नाम 'बोधि वृक्ष' पड़ गया । आगे चल कर वह स्थान बुद्ध मत वालों का प्रधान तीर्थ स्थान बन गया ।

### गौतम बुद्ध के सिद्धान्त

सच्चा आत्मबोध प्राप्त कर लेने पर इनका नाम 'बुद्ध' पड़ गया और उन्होंने संसार में उसका प्रचार करके लोगो को कल्याणकारी धर्म की प्रेरणा देने की इच्छा की । इसलिये गया से चलकर वे काशीपुरी मे चले आये जो उस समय भी विद्या और धर्म चर्चा का एक प्रमुख स्थान थी । यहाँ सारनाथ नामक स्थान पर ठहर कर उन्होंने तपस्या करने वाले व्यक्तियों और

अन्य जिज्ञासु लोगों को जो उपदेश दिया उसका वर्णन बौद्ध धर्म ग्रन्थों में इस प्रकार मिलता है ।

(१) जन्म दुःखदाई होता है । बुढापा दुःखदाई होता है । बीमारी दुःखदाई होती है । मृत्यु दुःखदाई होती है । वेदना, रोना, चित्त की उदासीनता तथा निराशा, ये सब दुःखदाई हैं । बुरी चीजों का सम्बन्ध भी दुःख देता है । आदमी जो चाहता है, उसका न मिलना भी दुःख देता है । संक्षेप में 'लगन के पाँचों खण्ड' जन्म, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु और अभिलाषा की अपूर्णता दुःखदायक है ।

(२) हे साधुओ ! पीड़ा का कारण इसी 'उदार सत्य' में निहित है । कामना जिससे दुनिया में फिर जन्म होता है, जिसमें इधर-उधर थोड़ा आनन्द मिल जाता है—जैसे भोग की कामना, दुनिया में रहने की कामना आदि भी अन्त में दुःखदाई ही होती है ।

(३) हे साधुओ ! दुःख को दूर करने का उपाय यही है कि कामना को निरन्तर संयमित और कम किया जाये । वास्तविक सुख तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि व्यक्ति कामना से स्वतन्त्र न हो जाये अर्थात् अनासक्त भावना से संसार के सब कार्य न करने लगे ।

(४) पीड़ा को दूर करने के आठ उदार सत्य ये हैं—*सम्यक विचार, सम्यक उद्देश्य, सम्यक भाषण, सम्यक* कार्य, सम्यक जीविका, सम्यक प्रयत्न, सम्यक चित्त तथा सम्यक एकाग्रता । सम्यक का आशय यही है कि वह *बात देश, काल, पात्र के अनुकूल और कल्याणकारी हो ।*

इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये बुद्ध ने 'तीन मूल बातों' को जान लेने की आवश्यकता बतलाई—

(१) संसार में जो कुछ भी दीख पड़ता है सब अस्थाई और शीघ्र नष्ट होने वाला है । (२) जो कुछ दीख पड़ता है उसमें दुःख छिपा हुआ है । (३) इनमें से किसी में स्थाई आत्मा नहीं है, सब नष्ट होंगे । जब सभी चीजें नष्ट होने वाली हैं तब इनके फन्दे में क्यों फँसा जाये ? तपस्या तथा उपवास करने से छुटकारा नही मिल सकता । छुटकारे की जड़ तो मन है । मन ही मूल और महामन्त्र है । उसको इन सासारिक विषयो से खींचकर साफ और निर्मल कर दो, तो मार्ग स्वयं स्पष्ट हो जायेगा । रोग और कामना (झूठा प्रेम व लालच) न रहने से तुम्हारे बन्धन स्वयं टूट जायेंगे ।

धर्म का सीधा रास्ता यही है कि शुद्ध मन से काम करना, शुद्ध हृदय से बोलना, शुद्ध चित्त रखना । कार्य, वचन तथा विचार की शुद्धता के लिये ये दस आज्ञायें माननी चाहिये—

(१) किसी की हत्या नहीं करना, (२) चोरी नहीं करना, (३) दुराचार नहीं करना, (४) झूठ नहीं बोलना, (५) दूसरों की निन्दा न करना, (६) दूसरों का दोष न निकालना, (७) अपवित्र भाषण न करना, (८) लालच न करना, (९) दूसरों से घृणा न करना, (१०) अज्ञान से बचना ।

बुद्ध जी ने समझाया कि जो संसार में रहते हुए इन नियमो का पालन करेगा, और सबसे प्रेम-भाव रखते हुए भी राग-द्वेष से अपने को पृथक रखेगा वह अपने जीवन-काल मे और शरीरान्त के पश्चात् भी सब प्रकार के अशुभ परिणामों से मुक्त रहेगा । इस बात की कोई आवश्यकता नहीं कि मनुष्य जंगलो में जाकर तपस्या करे और भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि का कष्ट सहन करे । मुख्य आवश्यकता इस बात की है कि अपने चित्त को सन्तुलित रख कर किसी के प्रति किसी प्रकार का दुर्व्यवहार न करे । प्रकट में मीठी बातें करके परोक्ष मे, दूसरों के अनहित की चेष्टा करना जघन्य कार्य है । इसलिये सच्चा धार्मिक उसी व्यक्ति *को कह सकते हैं जो हृदय में प्राणीमात्र के प्रति* सद्भावना रखे और उनकी कल्याण-कामना करे । जो किसी से द्वेष नही रखेगा, आवश्यकता पड़ने पर पीड़ितो *और अभावग्रस्तों की सेवा सहायता से मुख नही मोड़ेगा,* कुमार्ग अथवा गर्हित आचरण से बचकर रहेगा उसे जीवन-मुक्त ही समझना चाहिये । ऐसा व्यक्ति कभी भव-बन्धन मे ग्रसित नहीं हो सकता ।

मगध में 'कस्सप' और 'नादिकस्सप' नाम के दो अत्यन्त प्रसिद्ध महात्मा रहते थे, जिनमें से प्रत्येक के यहाँ ५०० शिष्य रहते थे । कुछ समय पश्चात् भ्रमण करते हुए बुद्ध वहाँ पहुँचे और वार्तालाप में इन्होने महात्माओं को बतलाया कि वे जिस प्रकार तपस्या कर रहे हैं उससे वास्तविक शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती । जो तपस्या किसी प्रकार की फल की इच्छा रख कर की जाती है उससे कामना का नाश नहीं होता और बिना कामना के मिटे, चित्त की निर्मलता प्राप्त न हो सकेगी । यदि चित्त निर्मल न हुआ तो सभी कुछ व्यर्थ

है । उन महात्माओं पर गौतम के उपदेशों का बड़ा प्रभाव पड़ा और वे अपने एक हजार शिष्यों सहित बुद्ध जी के चेले वन गये ।

वहाँ से आगे चलकर बुद्ध जी राजगृह पहुँचे जो उस समय 'मगध-देश' की राजधानी थी और जिसका राजा विम्वसार पहले से ही इनसे परिचित था । जब उसने सुना कि दोनों कस्सप बन्धु बुद्ध जी के शिष्य हो गये हैं तो उसे एकाएक विश्वास नहीं हुआ कि इतने बड़े महात्मा थोड़ी आयु वाले बुद्ध जी के अनुयायी वन गये हो । इसलिये उसने अपना एक दूत उन महात्माओं के आश्रम में यह जानने को भेजा कि वे बुद्ध जी के शिष्य बने हैं या बुद्ध जी ने उनका शिष्यत्त्व स्वीकार किया है । जब दूत ने इस सम्बन्ध में जिज्ञासा की तो कस्सप ने कहा—

निर्मल अकथ अनादि ज्ञान जिसने है पाया ।
उसी ज्योति-भगवान बुद्ध को गुरु बनाया ।

वास्तव में सत्यज्ञान और सत्य व्यवहार की ऐसी महिमा है कि जिसके आधार पर बालक भी वृद्धों का गुरु वन सकता है । बुद्ध जी ने स्वयं भी अवसर पड़ने पर कई वार अपने शिष्यों को यह वतलाया था कि "वालों के श्वेत हो जाने से कोई पूजनीय और माननीय नहीं हो जाता, वरन जो ज्ञान-वृद्ध है और तदनुसार आचरण करता है उसी को पूज्य मानना चाहिये ।"

विम्वसार ने बुद्ध जी का बड़ा स्वागत-सम्मान किया और स्वयं भी उनका शिष्य वन गया । वड़े शासक के इस प्रकार सहायक वन जाने पर बुद्ध जी का प्रचार-कार्य तेजी से वढ़ने लगा और अपेक्षाकृत थोड़े ही समय में उनको उल्लेखनीय सफलता मिल गई । विम्वसार का उदाहरण देख कर अन्य कई राजा भी बुद्ध जी के कार्य मे सहयोगी वन गये । राजाओं के प्रभाव से अन्य अनेक छोटे-बड़े व्यक्ति इस कार्य में भाग लेने लग गये और बुद्ध जी के जीवनकाल में ही उनका धर्म देशव्यापी बन गया, यह एक वहुत महत्त्वपूर्ण बात थी, क्योंकि अधिकाश महापुरुषों के जीवनकाल में उनका विरोध ही अधिक हुआ है और उनके सिद्धान्तों का प्रचार प्राय उनके तिरोधान के पश्चात् हुआ । गौतम बुद्ध के साथ ही महावीर स्वामी ने, जो विहार के ही एक राजपुत्र थे, जैन धर्म का प्रचार आरम्भ किया था । वे तपस्या और त्याग की दृष्टि मे बुद्ध जी से भी अधिक वढ़े-चढ़े थे, उनका सिद्धान्त भी दार्शनिक दृष्टि से वहुत उच्चकोटि का था, पर फिर भी उनको अधिक सफलता नही मिल सकी और आज भी बौद्धो की तुलना में जैनियो की संख्या नगण्य ही है । कारण यही था कि वड़े तपस्वी और त्यागी होने पर भी महावीर स्वामी बुद्ध जी की तरह समाज व्यावहारिक नहीं थे और उनकी तरह समयानुकूल परिवर्तन करके अपने कार्य को निरन्तर अग्रसर न कर सके । बुद्ध जी की व्यावहारिक और समन्वय कर सकने वाली बुद्धि सभी धर्म प्रचारकों के लिये अनुकरणीय है । यदि वे कट्टरता की वजाय उदारता, समझौता, समन्वय की भावना से काम लें तो नि.सन्देह अपना और दूसरों का कहीं अधिक हित साधन कर सकेंगे ।

## परिवार वालों को धर्म-प्रचारक वनाना

बुद्ध जी क्रमशः देश के विभिन्न भागो में प्रचार करते हुए अपने राज्य में भी जा पहुँचे । महाराज शुद्धोदन अपने पुत्र की महान कीर्ति को सुनकर अपने को परम कृतकृत्य और सौभाग्यशाली समझने लगे और उन्होंने बुद्ध जी का चिरस्मरणीय भव्य स्वागत किया । बुद्ध जी ने इस अवसर पर कोश प्रेम और स्नेह की भावना न दिखलाकर उसी भाव को प्रदर्शित किया जिसे वे अन्य अपरिचित लोगों मे प्रकट करते रहे थे । उन्होंने सवसे पहला कार्य तो यह किया कि अपने नियमानुसार नगर के वाहर मैदान में ठहरे और भोजन का समय होने पर अन्य भिक्षुओं के साथ भिक्षा माँगने निकले । राजा शुद्धोदन वड़े व्यस्त होकर उनके पास आये और कहने लगे "क्या मुझमें, आपको और आपके भिक्षुओं को भोजन कराने की सामर्थ्य नहीं है, जो आप घर-घर भिक्षा माँग रहे है ।"

बुद्ध जी ने कहा—"महाराज, हमारे वंश का यही धर्म है ।"

राजा—"भन्ते ! हमारा वंश क्षत्रिय-वंश है । हमारे वश में कभी किसी ने आज तक भिक्षा नही माँगी ।"

बुद्ध—"महाराज ! आपका वंश क्षत्रिय-वंश होगा । हमारा वंश तो 'बुद्धों' का वश है ।"

कपिलवस्तु मे बुद्ध जी ने अपने पुत्र राहुल, पत्नी यशोधरा और भाई नन्द को भी दीक्षा देकर संन्यासी वना दिया । इस प्रकार एक दृष्टि से उनके राज्य वंश

का अन्त ही हो गया । उन्होंने जिस बात को दूसरों के लिये कल्याणकारी समझा उसे अपने विचार पर भी पूरी तरह से लागू किया । पर आजकल प्रायः इससे उल्टी हालत देखने मे आती है । लोग दूसरों को परोपकार, स्वार्थ, त्याग, सेवा, धर्म का उपदेश देने में बड़े निपुण होते है । पर स्वयं विपरीत मार्ग पर ही चलते है । यही कारण है कि इस समय प्रचार के बहुत अधिक साधन बढ़ जाने पर भी उपदेशकों को उतनी सफलता नही मिलती जितनी पहले किसी प्रकार के यात्रा-साधनों और प्रेस, अखवार आदि के बिना भी प्राप्त हो जाती थी ।

## परमार्थ परायण कार्यकर्ताओं का संगठन

बुद्ध जी जानते थे कि जब तक सच्चे कार्यकर्ताओं का एक सगठन तैयार न होगा तव तक उनके सिद्धान्तों का समुचित प्रसार होना सम्भव नही यद्यपि आरम्भ में ही उनके शिष्यो की संख्या कई सौ तक पहुँच गई थी और वे एक संघ के रूप में उनके साथ भ्रमण करते थे, पर वे उस समय के वातावरण से प्रभावित होकर एक दूसरे की देखा देखी दीक्षा लेते चले गये थे, उच्चकोटि की परमार्थ भावना वाले 'भिक्षु' उनमें थोड़े ही थे । इसलिये जब राजगृह में रहने वाले संजय नामक परिव्राजक के दो विद्वान और परमार्थ परायण शिष्य 'उपतिष्य' और 'कोलित' उनके पास परिव्राजक बनने को उपस्थित हुए तो उन्होने उनको प्रसन्नतापूर्वक दीक्षा दी ।

ये दोनों अपने गुरु के पास रह कर परम्परागत ढंग से प्रचलित शास्त्रो का अध्ययन कर रहे थे, पर सामान्य कर्मकाण्ड और पूजा-उपासना के विधान से उनको सन्तोष नहीं होता था । वे जीवन और विश्व सम्बन्धी सच्चे ज्ञान की खोज में थे और आपस मे प्रतिज्ञा की थी कि "जिस किसी को पहले अमृत (ज्ञान) की प्राप्ति हो वह दूसरे को उसकी सूचना दे ।"

एक दिन उपतिष्य ने अश्वजित नामक बौद्ध भिक्षु को "त्रिचीवर" (भिक्षुओं के तीन वस्त्र) धारण करके और पात्र लेकर राजगृह में भिक्षार्थ फिरते हुए देखा । उनके संयम पूर्ण ढंग और शान्ति युक्त मुखमुद्रा को देखकर उपतिष्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने यह जानना चाहा कि किस गुरु के उपदेश से उनको ऐसा ज्ञान प्राप्त हुआ है ? इसलिये वे एक जिज्ञासु की भाँति उनके पीछे चलने लगे और जब अश्वजित भिक्षा ग्रहण करके अपने स्थान पर पहुँचे तो उपतिष्य ने कहा—"आयुष्मान् ! आपकी आकृति अत्यन्त शान्त और सुन्दर है । छवि-वर्ण परिशुद्ध है । आप किसको अपना गुरु बनाकर प्रव्रजित हुए हैं । आपका शास्ता मार्ग दर्शक कौन है ? आप किसके धर्म को मानते हैं ?"

अश्वजित—"आयुमान् ! मैं शाक्यवंशीय महाश्रमण गौतम को अपना गुरु बनाकर प्रव्रजित हुआ हूँ और उन्ही के धर्म को मानता हूँ ।"

उपतिष्य—"उनका धार्मिक सिद्धान्त क्या है ?"

अश्वजित—मैं इस धर्म मे अभी नया ही प्रव्रजित हुआ हूँ, इसलिये विस्तार पूर्वक तो बतला नहीं सकता, पर संक्षेप में उनका सिद्धान्त यह है—

ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसंहेतु तथागतोआह ।
तेसंचयो निरोधो एवं वादी महासमणो ।

अर्थात्—"जो धर्म (वाह्याचार की दृष्टि से) निर्मित किये गये हैं वे सब निरोध वाले (नाशवान या अस्थायी) हैं ।"

उपतिष्य ने इसको सुना तो उनके ज्ञाननेत्र खुल गये । वे समझ गये कि जो धर्म चारण ऊपरी क्रियाकाण्डों की पूर्ति के लिये किया जाता है तथा जो पूजा-उपासना किसी लौकिक या पारलौकिक कामना को लक्ष्य में रख कर की जाती है उससे सच्चा आत्मज्ञान और आत्म-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती । इसलिये जब तक संसार के पदार्थों को क्षणभंगुर समझकर उनके प्रति आसक्त का त्याग नहीं किया जायेगा और समस्त जीवन व्यवहारों में परमार्थ-भावना का समावेश नहीं किया जायेगा तब तक आत्मा-मार्ग में प्रवेश हो सकना कठिन ही है । यह सोचकर वह अपने मित्र कोलित के पास पहुँचा और उसे भी यह शुभ समाचार सुनाया । उसने भी इस सिद्धान्त की यथार्थता को अनुभव किया और वे उसी दिन शिष्य-भाव से बुद्ध के पास उपस्थित हुए ।

बुद्ध जी ने उनको देखते ही समझ लिया कि ये सत्यज्ञान की खोज में ही यहाँ आये हैं और सच्चे हृदय से उसका अनुगमन करना चाहते हैं । उन्होंने उनसे पूछा तो दोनों ने विनय पूर्वक वन्दना करके कहा—"भगवन् ! हमें प्रव्रजित करें, दीक्षा दें ।"

बुद्ध जी ने कहा—"आओ भिक्षुओ ! धर्म तो स्पष्ट और सरल है । जब मनुष्य अनेक प्रकार की कामनाओं और इच्छाओं को त्याग कर कल्याण भावना से धर्म की सीधी-सादी शिक्षाओं पर आचरण करने लगता है तो उसे स्वयं ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और वह भव-बन्धनों से छुटकारा पा जाता है ।"

दोनों को उसी समय प्रव्रजित करके उनके नाम सारिपुत्र और मौद्गल्यायन घोषित किये गये । उन्होंने संघ में सरल भाव से सेवा करने और सब प्रकार की परिस्थितियों में निर्विकार रह कर कर्त्तव्य पालन में लगे रहने का जो आदर्श उपस्थित किया उससे बौद्ध संघ की बड़ी प्रगति हुई और जनता की दृष्टि मे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी । उनकी आन्तरिक सेवा भावना का यह परिणाम हुआ कि थोड़े ही समय में वे बुद्ध के प्रमुख शिष्य और कार्यकर्ता बन गये और आज भी बुद्ध-जगत में उनका बड़ा नाम और सम्मान है । एक बार जब बुद्ध जी ने एक अन्य प्रिय शिष्य आनन्द से पूछा—"क्या तुमको सारिपुत्र अच्छे लगते हैं ?" तो उसने कहा—

"भन्ते ! कौन ऐसा मूर्ख, दुष्टचित्त और मूढ है, जिसे सारिपुत्र अच्छे नहीं लगते । आयुष्मान् सारिपुत्र पंडित हैं, महा प्रज्ञावान् हैं, अल्पेच्छुक हैं, सन्तोषी हैं, निर्लिप्त है, प्रयत्नशील हैं, ववक्त है, पाप नाश करने वाले हैं । ऐसे सारिपुत्र किसे अच्छे नहीं लगेंगे ?"

कुछ वर्ष पश्चात् जब 'धर्म' की अधिकाधिक सेवा करते हुए नालन्दा के समीप 'नालक' ग्राम में रोगग्रस्त होकर सारिपुत्र का देहान्त हो गया तो आनन्द ने बुद्ध जी के पास पहुँचकर इसकी सूचना उनको दी और कहा—"यह सुनकर मेरा शरीर तो मानो जड़ हो गया । चारों ओर अन्धकार छा गया । धर्म की तो बात क्या दिशायें तक सूझनी बन्द हो गईं ।"

बुद्ध—"क्यों आनन्द, ऐसा किसलिये कहते हो ? क्या सारिपुत्र शील को अपने साथ ले गये ? समाधि को अपने साथ ले गये ? प्रज्ञा को अपने साथ ले गये ? विमुक्ति को अपने साथ ले गये ? मुक्ति के ज्ञान-दर्शन को अपने साथ ले गये ?"

आनन्द—"नहीं भन्ते ! सारिपुत्र शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति—किसी को अपने साथ नहीं ले गये । पर वे मेरे उपदेशक थे, धर्म के ज्ञाता थे, अपने सहकारियो पर उनकी बड़ी कृपा रहती थी । मैं उनकी उस करुणा, दया, कृपा का ही स्मरण करता हूँ ।"

बुद्ध जी—"आनन्द ! जिस प्रकार किसी बड़े भारी वृक्ष के खड़े रहते उसका सबसे बड़ा सारयुक्त तना टूटकर गिर जाये, उसी प्रकार बौद्ध संघ के लिये सारिपुत्र का निर्वाण हो जाना है । पर यह कैब सम्भव है कि जिसकी रचना हुई है, जो अस्तित्व में आया है, उसका विनाश न हो ? नहीं आनन्द ! यह नहीं हो सकता । इसलिये अपने दीपक आप बनो । किसी दूसरे का आश्रय मत देखो । धर्म को ही अपना दीपक समझो, उसका ही आश्रय ग्रहण करो ।"

सदाचारी और परोपकारी महापुरुषों का सम्मान करना, उनकी सेवा-सहायता के लिये सदैव उद्यत रहना प्रत्येक सज्जन का कर्त्तव्य है । पर अपने को उन पर इतना आश्रित करना उचित नहीं कि उनके अभाव मे संसार शून्य ही जान पड़ने लगे । संसार मे रहना या उसे छोड़ सकना तो मनुष्य के वश की बात नहीं, इसलिये प्रत्येक स्थिति मे जगत की नश्वरता को समझकर अपने चित्त को सन्तुलित रखना ही बुद्धिमान व्यक्ति का कर्त्तव्य है । बुद्ध जी भी सारिपुत्र के महान गुणो को पूरी तरह समझते थे और उनसे स्नेह रखते थे, पर वे यह भी जानते थे कि जो पैदा हुआ है उसका अन्त होना अनिवार्य है और ऐसे अवसर पर अत्यधिक मोह दिखाकर कर्त्तव्य में ढील करना उचित नहीं कहा जा सकता । इसलिये आनन्द को बुद्ध जी ने यही समझाया कि संसार मे महत्त्व सद्गुणों का ही है और हम सारिपुत्र का सम्मान ऐसे सद्गुणो के कारण ही करते थे । इसलिये मरणोपरान्त उनके प्रति सम्मान प्रकट करने का मार्ग यही है कि उन सद्गुणो का अधिक से अधिक पालन किया जाये ।

## स्वार्थ त्याग ही साधु का लक्षण है

सारिपुत्र के सद्गुणों का एक उदाहरण दिया गया है । बुद्ध के संघ में कुछ भिक्षु 'छः वर्गीय' कहलाते थे, जो 'संसार त्यागी' बन जाने पर भी अपने आराम का दूसरों से अधिक ध्यान रखते थे । प्रत्येक पड़ाव पर वे सबसे पहले पहुँचकर निवास स्थान और शय्याओं पर कब्जा कर लेते थे कि "यह हमारे उपाध्याय के लिये है, यह हमारे आचार्य के लिये है, यह हमारे लिये है ।"

एक दिन उन्होंने विहार में सब ठहरने के स्थानो पर कब्जा कर लिया, जिससे सारिपुत्र शय्या न पाकर सारी रात बाहर ही किसी वृक्ष के नीचे बैठे रहे ।

रात्रि के कुछ शेष रहने पर बुद्ध जी ने उठकर खाँसा। सारिपुत्र ने भी खाँसा।

बुद्ध जी—वहाँ कौन है ?

"भगवन् ! मैं सारिपुत्र।"

"सारिपुत्र ! तू यहाँ क्यों बैठा है ?"

सारिपुत्र ने सारी बात कह सुनाई। भगवान ने भिक्षु-संघ को सम्बोधित किया—"भिक्षुओ ! क्या छः वर्गीय भिक्षु सचमुच आगे-आगे जाकर विहार और शय्यायें दखल कर लेते हैं ?"

"यह सत्य है, भगवन्।"

बुद्ध जी ने उनको धिक्कारते हुए कहा—"कैसे हैं ये भिक्षु जो आगे जाकर विहार और शैय्यायें दखल कर लेते हैं। भिक्षुओ ! तुम्हें मालूम है कि प्रथम आसन, प्रथम जल, प्रथम परोसा किसे मिलना चाहिये ?"

किसी ने कहा—"भगवन् जो क्षत्रिय-कुल से प्रव्रजित हुआ हो।"

किसी ने कहा—"भगवन्, जो ब्राह्मण-कुल से प्रव्रजित हुआ हो।"

किसी ने कहा—"भगवन् जो गृहपति (वैश्य) कुल से प्रव्रजित हुआ हो।"

इसी प्रकार अन्य व्यक्तियों ने सूत्रपाठ करने वाले, विनयधर, धर्म व्याख्याता आदि के नाम बताइये।

बुद्ध जी ने धार्मिक-कथा सुनाकर भिक्षुओं को समझाया—"भिक्षुओ ! जाति या कुल के आधार पर किसी को सम्मान नहीं दिया जा सकता। इसलिये जो पहले प्रव्रजित हुआ था वही बड़ा है, चाहे वह किसी जाति का हो। इसी नियम के अनुसार आदर-सत्कार, प्रथम आसन, प्रथम जल, प्रथम परोसा भोजन आदि दिया जाना चाहिये।"

सार्वजनिक संस्थाओ और संगठनों में अनैक्य, फूट, असहयोग आदि का कारण यह छोटे-बड़े की भावना ही होती है। वास्तव में बड़ा तो वही है जो ऐसी सामान्य बातों के लिये कभी मनोमालिन्य का भाव नहीं आने देता है और परिस्थिति के अनुसार जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसी में सन्तुष्ट रहता है। फिर भी यदि कभी इस सम्बन्ध मे निर्णय का प्रश्न उपस्थित हो जाये तो उसके लिये बुद्ध जी का मार्ग-दर्शन अधिकांश में उपयोगी है।

## समता के सिद्धान्त पर आचरण

अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुए जिस समय बुद्ध जी वैशाली पहुँचे तो वहाँ नगर के बाहर एक सुरम्य 'आम्रवन' में ठहर गये, वह आम्रवन उस नगर की प्रमुख वेश्या 'आम्रपाली' का था। जब आम्रपाली ने यह समाचार सुना तो वह अपने रथ पर सवार होकर भगवान के दर्शनों के लिये गई। उस समय उसके चित्त में तरह-तरह के विचार उठ रहे थे। कभी वह अपने नीच पेशे की ओर देखती थी और कभी शील के अवतार भगवान बुद्ध की ओर। जब आम्रवन थोड़ी ही दूर रहा तो वह मर्यादा के ख्याल से रथ से उतर पड़ी और पैदल ही आम्रवन के भीतर प्रविष्ट हुई। उसने देखा कि बुद्ध भगवान भिक्षु-समूह को उपदेश दे रहे हैं। वह भी एक ओर बैठकर सुनने लगी। सभा विसर्जित होने पर वह बुद्ध जी के निकट पहुँची और दूसरे दिन संघ सहित भोजन का निमन्त्रण दिया। भगवान ने मौन रहकर उसे स्वीकार कर लिया।

आम्रपाली नगर को लौट रही थी, तब उसे वैशाली के लिच्छाविवंशीय सरदार बुद्ध जी के पड़ाव की तरफ जाते हुए मिले। उन्होंने पूछा—"आम्रपाली आज क्या बात है कि रथ से रथ को धक्का देकर निकल रही है ?"

"आर्य पुत्रो ! भगवान ने कल के लिये मेरा भोजन स्वीकार कर लिया है।"

लिच्छवि यह सुनकर आश्चर्य चकित रह गये और कहने लगे—"आम्रपाली ! यह दान हमें देने दे। हम इसके लिये एक लाख मुद्रा देंगे।"

"आर्यपुत्रो ! एक लाख तो क्या, यदि बदले में मुझे सारी वैशाली भी दे दें, तो भी मैं यह निमन्त्रण नही दे सकती।"

लिच्छवि आपस में कहने लगे—"ओह हमने देर कर दी, हम हार गये। इस गणिका ने हमे जीत लिया।" फिर भी वे सब इकट्ठे होकर बुद्ध जी की सेवा में पहुँचे और कहा—

"भन्ते ! संघ सहित आप कल के लिये हमारा निमन्त्रण स्वीकार करें।"

"लिच्छवियो ! कल के लिये तो मैंने आम्रपाली का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया है।" लिच्छवि चुप रह गये और नतमस्तक होकर वापस चले गये।

दूसरे दिन भोजन का समय हो जाने पर आम्रपाली ने बुद्ध जी के पास सूचना भेजी । वे अपने समस्त भिक्षुओं को साथ लेकर उसके घर पर पहुँचे और बिछे हुए आसनों पर बैठ गये । आम्रपाली ने बड़े प्रेम से आग्रहपूर्वक भगवान को भोजन कराया । भोजन समाप्त होते ही वह उनके सम्मुख बैठ गई और बोली—

"भन्ते ! मै बुद्ध-संघ की शरण जाती हूँ और अपने आम्रवन को बुद्ध तथा भिक्षु-संघ को भेट करती हूँ ।" बुद्ध जी ने मौन रह कर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली ।

यद्यपि भारतीय शास्त्रों में प्राचीन काल से ही 'आत्मवत् सर्वभूतेपु' का उपदेश दिया गया था, पर व्यवहार में उसका उपयोग करने वाले व्यक्तियों की संख्या अंगुलियों पर गिनने लायक थी । विशेषतः शूद्रों और स्त्रियो के साथ तो धर्म नेताओं का व्यवहार किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता था । बुद्ध जी ने इस अन्याय का अनुभव किया है और अपने संघ में सदैव इन दोनों अन्याय पीड़ित वर्गों को समान स्थान दिया । आम्रपाली की घटना इस साम्य भाव का बहुत उत्कृष्ट उदाहरण है । वह स्त्री तो थी ही साथ ही उसका पेशा भी ऐसा था जो समाज में नीच और उपेक्षित समझा जाता है । पर बुद्ध जी ने उसके मनोभाव की शुद्धता को समझ लिया और उसके साथ पूर्ण शिष्टता का व्यवहार किया । इसके परिणामस्वरूप आम्रपाली का हृदय पूर्ण शुद्ध हो गया और उसने अपनी धन-सम्पत्ति ही नहीं, समस्त जीवन धर्म और समाज की सेवा के लिये अर्पण कर दिया । इस उदाहरण ने अन्य हजारो स्त्रियो को भी प्रेरणा दी और वे भी बुद्ध-संघ की अनुयायी और सहायिका बन गईं । इसके परिणामस्वरूप समाज के संस्कार और प्रगति में इतनी अधिक सहायता मिली जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी ।

## बुद्धिसंगत धर्म ही श्रेष्ठ है

धर्म का विषय सदा से विवादग्रस्त रहा है । प्रत्येक धर्म नेता या प्रचारक अपने सिद्धान्तों और आदर्शों को सर्वश्रेष्ठ मानता है । इसके लिये वह प्रायः दूसरे के मतो का खण्डन भी करने लग जाता है । बुद्ध जी के समय में ऐसी ही स्थिति थी और अब वे 'केस पुत्तिय' नामक ब्राह्मणो के ग्राम मे पहुँचे तो वहाँ 'कालामा' गोत्र के लोगों ने उनसे कहा—"भन्ते ! हमारे ग्राम में कुछ ब्राह्मण श्रमण (साधु) आते हैं वे अपने मतों का समर्थन करते हैं और दूसरों मतो का खण्डन । फिर दूसरे आते हैं वे अपने सिद्धान्तो का समर्थन करते हैं और दूसरों के सिद्धान्तों का खण्डन । भन्ते ! हम कैसे जानें कि कौन सही और कोन गलत है ?"

बुद्ध जी ने कहा—"कालामा भाइयो ! सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक है । किसी बात में केवल इस कारण विश्वास मत करो कि बहुत से लोग उसको मानते हैं । इस कारण विश्वास मत करो कि वह तुम्हारे आचार्यों की कही हुई बात है । इस आधार पर विश्वास मत करो कि वह तुम्हारे धर्मग्रन्थों में लिखी है वरन् प्रत्येक बात को अपने व्यक्तिगत अनुभव की कसौटी पर जाँचों । यदि वह तुम्हे अपने तथा औरों के लिये हितकर जान पड़े, तो उसे मान लो, न जान पड़े तो मत मानो ।"

धर्म के निर्णय के विषय में बुद्ध जी की यह सम्मति बहुत उचित और स्पष्ट है इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता । यह सत्य है कि साधारण व्यक्ति धार्मिक समस्याओं पर ठीक-ठीक विचार नहीं कर सकते और किसी गुत्थी को सुलझाने के लिये उनको विद्वानों की सहायता ही लेनी पड़ती है तो भी प्रत्येक विषय में स्वयं विचार करना भी अत्यावश्यक है और यदि कोई बात बुद्धि के विपरीत, तर्क के विरुद्ध जान पडे तो उस पर अच्छी तरह विचार विमर्श किया जाये । केवल शास्त्राज्ञा, पंडितो की मान्यता, गुरुजनों के आदेश के आधार पर किसी भी बात को बिना सोचे-विचारे स्वीकार कर लेना अन्धविश्वास ही कहा जायेगा ।

धर्म के विषय मे इस प्रकार का मतभेद कोई नई बात नही है । वैदिक-काल और स्मृति-काल में भी भिन्न-भिन्न ऋषियो का मत पृथक-पृथक था । वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त दर्शनो के मतो मे परस्पर बहुत अन्तर पाया जाता है । शैव और वैष्णव एक-दूसरे के सम्प्रदायों को सर्वथा अग्राह्य बतलाते हैं । चार्वाक आदि मत वालो ने तो वेदों की खुलकर निन्दा की हैं और उनके रचयिताओ के लिये 'भण्ड, धूर्त, निशाचर' आदि अपशब्दों का प्रयोग करने मे भी सकोच नहीं किया । इसलिये किसी भी सम्प्रदाय के सस्थापक या धर्म-सिद्धान्त के प्रचारक के लिये बिना विचारे निर्भ्रान्त स्वीकार कर लेना या उनके उपदेशो को आँख बन्द

करके सत्य मान लेना कोई प्रशंसा की बात नहीं है । इसलिये अपने गुरुओं, धर्मोपदेशकों के प्रति सब प्रकार से श्रद्धा-भक्ति रखते हुए भी उनके विचारों को जाँच करके ग्रहण करना बुरा नहीं कहा जा सकता ।

## सहकारी-जीवन की आवश्यकता

बुद्ध जी, पाँच सौ भिक्षुओं के लेकर कीटागिरि की ओर चले । सारिपुत्र और मौद्गल्यायन भी उनके साथ थे । जब कीटागिरि निवासी भिक्षुओं ने, जिनमें अश्वजित और पुनर्वसु प्रमुख थे, यह समाचार सुना तो उन्होंने परस्पर सलाह की कि सारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन की नीयत ठीक नही है—इसलिये ऐसा उपाय किया जाये कि उनको शयनासन प्राप्त न हो सके । यह सोचकर उन्होने संघ के समस्त प्रयोजनीय पदार्थों को आपस मे बाँट लिया । जब बुद्ध संघ के कुछ व्यक्ति आगे बढ़कर कीटागिरि पहुँचे और वहाँ के भिक्षुओं से भगवान बुद्ध, सारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन के लिये शयनासन की व्यवस्था करने को कहा तो उन्होंने कहा—

"आवुसो ! यहाँ सांघिक शयनासन नहीं हैं । हमने सभी सांघिक को, सम्पत्ति को बाँट लिया है । भगवान का स्वागत है । वे चाहे जिस विहार में ठहरें । सारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन पायेच्छुक है, हम उन्हें शयनासन नहीं देंगे ।"

"क्यों आवुसो ! तुमने संघ की शय्यायें बाँट ली हैं ?"

"हाँ, हमने ऐसा ही किया है ।"

भिक्षुओ ने जाकर समस्त समाचार भगवान बुद्ध की सेवा मे निवेदन किया तो उन्होने ऐसा अनुचित कर्म करने वाले भिक्षुओं की निन्दा करते हुए कहा—"भिक्षुओ ! पाँच वस्तुये बाँटी नही जा सकती—(१) आराम या आराम की वस्तु, (२) विहार निवास स्थान, (३) मच, पीठ, गद्दी, तकिया (४) लोह कुंभा । (५) बल्ली, बाँस, मूँज ।

साधु का एक बहुत बड़ा लक्षण 'अपरिग्रह' भी है । जो व्यक्ति साधु वेश धारण करके भी अपनी सुख-सुविधा के लिये हर तरह से सुख-सामग्री एकत्रित करता रहे उसे ढोंगी या हरामखोर ही कहना पड़ेगा क्योंकि यदि उसे सुख-सामग्रियों की इतनी लालसा है, तो गृहस्थ-जीवन को त्याग कर भिक्षु बनने की आवश्यकता ही क्या थी ? गृहस्थ में अगर वह परिश्रम करके धनोपार्जन करता, और उससे इच्छानुसार आराम का जीवन व्यतीत करता तो उसकी तरफ कोई विशेष ध्यान न देता । पर यदि कोई व्यक्ति साधु, बनकर जीविकोपार्जन के लिये परिश्रम करना बन्द कर दे और तब भी सुख-सामग्री के संग्रह करने—उन पर अपना स्वामित्व स्थापित करने की फिकर में लगा रहे तो वह समाज के आगे एक दूषित उदाहरण उपस्थित करने का दोषी ही समझा जायेगा ।

साधु आश्रम का एक बड़ा लाभ सहकारी-जीवन व्यतीत करना है । गृहस्थ आश्रम मे तो सामाजिक परिस्थितियों और व्यक्तिगत कारणों से भी मनुष्य को अपने व्यवहार की अधिकांश वस्तुयें पृथक रखनी पड़ती हैं, पर साधु के साथ ऐसा कोई बन्धन नहीं होता और वह चाहे व्यक्तिगत पदार्थों का भार ढोने और उनकी रक्षा करने के झंझट से सहज में ही छुटकारा पा सकता है । जैन साधुओं में इस तथ्य पर बहुत अधिक जोर दिया है और उनके सामने यह आदर्श रखा गया है कि यदि उनमें सामर्थ हो तो वे अपनी आवश्यक वस्तुओं की संख्या घटाते-घटाते उनका पूर्ण रूप से अन्त कर सकते हैं । तब उनके पास तो अन्न का एक दाना और न एक बालिश्त वस्त्र शेष रहता है और वे अपना भार सर्वथा प्रकृति पर और समाज पर छोड़कर निश्चित हो जाते है । यदि इस सीमा तक आगे न बढ़ा जाये, तो भी साधुओ का यह कर्त्तव्य—धर्म अवश्य है कि अपने पास रहने वाली वस्तुओं की संख्या कम से कम रखें और निवास, शय्या, भोजन-सामग्री आदि की व्यवस्था सामूहिक रूप से ही करें । इससे थोड़े पदार्थों मे ही बहुत से लोगों का काम चल सकता है और साधु अनेक वस्तुओं का बोझा ढोने और उनकी देख-भाल करने की चिन्ता से मुक्त रह सकता है । आगे चल कर समाज के अन्य व्यक्ति भी इस आदर्श को अपना सकते हैं और अपनी परिस्थितियों तथा सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए सामूहिक-जीवन मे न्यूनाधिक भाग ले सकते हैं ।

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार का सामूहिक-जीवन सभ्यता और प्रगति का एक बहुत बड़ा साधन है । इसमें प्रत्येक पदार्थ की उपयोगिता कई गुनी बढ़ जाती है और उससे अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सकता है । जो लोग अकेले बड़े पदार्थों की व्यवस्था कर

सकने में असमर्थ होते हैं, वे भी किसी रूप में उनके प्रयोग की सुविधा प्राप्त कर सकते हैं । इससे व्यक्तिगत लालसा, स्वामित्व, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष आदि हानिकारक प्रवृत्तियों में कमी आती है । इसी तथ्य को दृष्टिगोचर रख कर वेदों ने गाया है—

**संगच्छाध्वे सं वदर्ध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।**
**समानो मंत्रः समिति समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।**
**समानी व आकूतिः समाना हृदयानिवः ।**
**समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासतिः ।**

अर्थात्—"तुम लोग साथ-साथ चलो, साथ वोलो, तुम समान मन वाले हो, तुम्हारे विचार भी समान होवें । तुम्हारा कर्म समान हो, तुम्हारे हृदय और मन भी समान हो तुम समान मति और रुचि वाले होकर सब प्रकार से सुसंगठित हो ।"

बुद्ध-संघ में भी आरम्भ में त्याग का आदर्श बड़ा ऊँचा रखा गया था और ऐसी व्यवस्था की गई थी । कि गृहस्थों द्वारा त्यागी गई अल्प उपयोगी वस्तुओं से ही भिक्षु अपना काम चला ले और समाज के ऊपर अपना भार कम से कम आने दे । बौद्ध भिक्षु केवल वस्त्र, पहनने को, सोने को एक गुदड़ी और खाने-पीने के लिये एक काष्ठ-पात्र के सिवाय कुछ न रखते थे । पर बाद में इन भिक्षुओं में भी संग्रह करने की प्रवृत्ति बढ़ती गई और एक समय ऐसा आया जब बौद्ध-मठो में लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति इकट्ठी हो गई जैसा कि आज हम बहुसंख्यक हिन्दू मन्दिरों में देख रहे हैं । सम्पत्ति का इस प्रकार एकत्र होना निश्चित रूप से पतन तथा भ्रष्टाचार का कारण बनता है और वही बात बौद्ध-संघ के साथ हुई । सम्पत्ति के बढ़ने से उनमें भ्रष्टता और तरह-तरह के दोष उत्पन्न हो गये और उनका नाश होने लग गया । बुद्ध जी इस तथ्य को अच्छी तरह समझते थे और इसलिये उन्होंने एक मठ में इसकी थोड़ी-सी प्रवृत्ति देखते ही उसकी निन्दा की और उसे रोकने का आदेश दे दिया । जब तक बौद्ध-संघ इस पर आचरण करता रहा तब तक इसकी निरन्तर प्रगति होती गई और वह दुनिया के दूर-दूर के स्थानो तक फैल गया ।

## बुद्ध जी के अन्तिम दिन

इस प्रकार बुद्ध जी ने लगातार ४५ वर्ष तक देश भर में भ्रमण करके जनता को 'सत्य-धर्म' का उपदेश दिया और उनको अनेक कुरीतियों और अन्ध-विश्वासों से छुड़ाकर कल्याणकारी मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी । इसमें उनको काफी परिश्रम करना पड़ता था और अनेक कठिनाइयाँ भी सहन करनी पड़ती थीं । सभी सुधार के कामो में अनेक दुष्ट प्रकृति के लोग बाधा पहुँचाने को भी उत हो जाते है । बुद्ध जी को भी कभी-कभी ऐसे विरोध को सहन करना पड़ता था । जब वे 'जीतावन' नामक स्थान मे थे तो उनके कुछ शत्रुओ ने सुन्दरी नामक बौद्ध भिक्षुणी को लालच देकर अपनी तरफ मिला लिया और उससे यह कहलाया कि "मैं बुद्ध जी के पास जाया करती हूँ" अर्थात् मेरे साथ उनका अवैध सम्बन्ध है । जब वह अनेक लोगो के सामने यह बात कह चुकी तो उन्हीं दुष्ट लोगो ने चुपके से उसे मार डाला और यह शोर मचाया कि बुद्ध जी के आदमियों ने इसे मार दिया है ।

उन्होंने अपनी तरफ से जाल तो बहुत बड़ा रचा था, पर बुद्ध जी के अब तक की जीवनचर्या और महान त्याग को जानने के कारण किसी ने इस पर जल्दी विश्वास न किया । जब यह समाचार महाराज बिम्बसार के पास पहुँचा तो उन्होने इस समाचार को फैलाने वालो को ही पकड़ मँगाया, और उनको धमका कर सच्ची बात पूछी । लोग शराब के नशे में चूर थे इसलिये अपने आप ही अपना कसूर मान लिया और षड्यन्त्र की पूरी कहानी प्रकट कर दी । फिर उनको अपनी करतूत पर इतनी ग्लानि हुई कि वे बुद्ध जी की शरण में गये और क्षमा माँगने लगे । निर्विकार चित्त भगवान बुद्ध ने उनको भी क्षमा कर दिया और संघ मे शामिल होने की अनुमति दे दी ।

इसी प्रकार एक बार वे अकेले ही यात्रा करते हुए अंगुलिमाल डाकू के सामने जा पहुँचे । यह बड़ा क्रूर और भयकर व्यक्ति था और जिन व्यक्तियो को मारता था उनकी एक अंगुली काटकर अपने गले की माला में शामिल कर लेता था । इस प्रकार वह लगभग एक हजार व्यक्तियों को मार चुका था । वह बुद्ध जी को मारने को उद्यत हुआ । पर इन्होने निर्भय भाव से उसे इस प्रकार उसकी गलती समझाई कि उसकी आँखे खुल गईं और वह अपने कुकृत्य पर पश्चात्ताप करने लगा । बुद्ध जी ने उसे भी धर्मोपदेश देकर बुद्ध संघ में सम्मिलित कर लिया और आगे चलकर वह एक बडा धर्म-प्रचारक बन गया ।

## सुभद्र की कथा

इस प्रकार बुद्ध जीवन भर अज्ञानी और भूले भटकों को सद्मार्ग दिखला कर जब वृद्धावस्था और निर्बलता के कारण मृत्यु शय्या पर पड़ गये, तो सुभद्र नामक परिव्राजक ने यह समाचार सुना। उसने सोचा कि बुद्ध जैसे महापुरुष रोज-रोज नहीं हुआ करते। मेरी धर्म सम्बन्धी शंकाओं के निवृत्त होने का अवसर फिर कभी न मिल सकेगा। इसलिये वह 'शालवन' में, जहाँ भगवान बुद्ध उस समय विश्राम कर रहे थे जा पहुँचा और आनन्द से कहा—"मेरे हृदय में धर्म सम्बन्धी कुछ शंकायें हैं। यदि उन्हें इस समय न मिटा सका तो फिर कभी न मिट सकेंगी। कृपया मुझे भगवान के दर्शन कराइयें।"

"सुभद्र ! यह भगवान से शंका समाधान करने का समय नही है। भगवान निर्वाण-शय्या पर हैं। अब उन्हें कष्ट मत दो।"

"आनन्द ! मुझे भगवान के दर्शन कर लेने दो।"

"सुभद्र ! अब उन्हें कष्ट मत दो।"

आनन्द और सुभद्र के कथोपकथन की अस्पष्ट ध्वनि बुद्ध के कानों में पहुँची। जिन्होंने आजीवन सब प्रकार के लोगों पर सद्विचारों की वर्षा की हो, वह अन्तिम समय मे उसके विपरीत कैसे चल सकते थे। उन्होने कहा—

"आनन्द ! सुभद्र को मत रोको। आने दो। वह ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से आया है मुझे कष्ट देने के विचार से नहीं आया।"

सुभद्र ने पास जाकर करुणा की उस शान्त मूर्ति को देखा। तथागत के उपदेश उसके हृदय में तुरन्त प्रविष्ट हो गये। उसने कहा—'भन्ते ? मैं बुद्ध-धर्म और सघ की शरण मे जाता हूँ। मुझे आप भिक्षु बना लें।"

बुद्ध जी ने कहा—"सुभद्र ! सघ का नियम है कि किसी दूसरे सम्प्रदाय का प्रव्रजित व्यक्ति यदि बौद्ध-संघ मे सम्मिलित होना चाहे, तो उसे चार मास तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।"

"भन्ते ! चार मास तो क्या, मै चार वर्ष तक प्रतीक्षा करने को तैयार हूँ।"

बुद्ध जी—"तो आनन्द ! सुभद्र को अभी प्रव्रजित करो।" सुभद्र ही बुद्ध भगवान का अन्तिम शिष्य हुआ।"

मृत्यु को निकट खड़ी देखकर भी जो परोपकार से मुख न मोड़े वे ही सच्चे महापुरुष और आत्मज्ञानी हैं। नहीं तो अधिकांश व्यक्ति प्राण-संकट की अवस्था में सब कुछ भूलकर जान बचाने के लिये हाथ-पैर पीटने लगते हैं। सामान्य व्यक्ति सदा 'आप मरे तो जग डूबा' की उक्ति को चरितार्थ करने वाले होते हैं। पर आत्मतत्व के वास्तविक ज्ञाता मृत्यु की नाममात्र को भी चिन्ता नहीं करते, और उस समय भी जितने क्षण किसी की सेवा-सहायता में लग सकें उसे ही मरते-मरते जीवन का सार समझते हैं। बुद्ध भगवान का सुभद्र की शंका समाधान करना एक-ऐसा ही कार्य था। उनके इस उदाहरण से हमको यह दीक्षा मिलती है कि मृत्यु का भय निरर्थक है और उसकी सम्भावना देखकर घबरा जाना, कर्त्तव्य-कर्म से विमुख हो जाना और भी हेय है। जब वह एक अनिवार्य बात है और उसको भय अथवा घबराहट द्वारा हटाया भी नहीं जा सकता तो हम क्यों न उसकी तरफ से निर्भय रहें। वह कब आयेगी इसकी परवाह न करके अन्तिम क्षण तक कर्त्तव्य पालन की भावना को जीवित तथा जागृत रखना ही श्रेष्ठ व्यक्तियों का लक्षण है और वे जीवन का लाभ डरने और भागने वाले लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक प्राप्त कर लेते हैं।

## बौद्ध धर्म की वृद्धि और ह्रास

बुद्ध धर्म का प्रचार समस्त देश में और विदेशों में भी इतनी तेजी से बढ़ा कि उसे देखकर अधिकांश लोगो को आश्चर्य होने लगा। पर इसका कारण यही था कि उस समय पंडित और पुरोहितो ने अपने स्वार्थ के लिये प्राचीन धर्म को बहुत उलझन पूर्ण और आडम्बर वाला बना दिया था। शास्त्रो में तो यह कहा गया है कि धर्म हृदय की चीज है और मनुष्य को इसका अनुसरण स्वाभाविक रूप से करना चाहिये। पर उस समय के 'धर्म व्यवसायियों' ने उसे ऐसा रूप दे दिया था कि कोई व्यक्ति अपने मन से स्वतन्त्रता पूर्वक कोई धर्मकृत्य कर ही नहीं सकता था। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो इन पंडित-पुरोहितों ने अपने को भगवान का 'एजेण्ट' बना लिया था और वे कहते हैं कि "हमारे धर्म धर्मकृत्य कराये बिना कोई भगवान को पा ही नहीं सकता।" इस प्रकार वे भगवान और एक सामान्य व्यक्ति के बीच मे बाधा-स्वरूप बन बैठे थे। उन्होंने

यज्ञ और हवन को ही नहीं पूजा-पाठ, भजन, उपासना, दान, व्रत, तीर्थ सबमें कोई न कोई ऐसी पख लगादी थी कि मनुष्य किसी धर्म-कार्य को स्वयं कर सकने में कठिनाई का अनुभव करते थे, और उसमें पंडित-पुरोहितों की सहायता लेना आवश्यक था । ये लोग अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिये लोगों को तरह-तरह से व्यर्थ की क्रियाओं में फँसाकर परेशान करते थे, इससे लोगो में धर्म के प्रति विरक्ता का भाव उत्पन्न होने लग गया ।

यह सत्य है कि वेदों और उपनिषदों के धर्म सिद्धान्त बहुत ऊँचे थे और बौद्ध धर्म मे उनसे बढ़कर ज्ञान-सम्बन्धी कोई बात न थी । पर उस समय वेद और उपनिषदो का प्रचार प्रायः समाप्त हो गया था । सामान्य मनुष्यों की तो क्या बात स्वयं पंडित-पुरोहित भी उनसे अनजान थे । उन्होने उनकी कुछ बातों को अपने अनुकूल रूप में बदलकर उन्ही को 'धर्म' का नाम दे दिया था और इसी से धन कमा कर आराम की जिन्दगी बिताने लगे थे । यही कारण है कि जब बुद्ध जी ने प्राचीन ज्ञान-मार्ग की बातों को सीधे और सरल रूप में कहना आरम्भ किया और धर्म के मार्ग को प्रत्येक व्यक्ति के लिये सुलभ बना दिया तो लोग एकाएक उनकी तरफ आकर्षित हो गये । सच पूछा जाये तो उस समय स्वार्थियों ने बाहर से 'धर्म', "धर्म' पुकारते हुए भीतर ही भीतर उसे ऐसा खोखला और विकार-ग्रस्त कर दिया था कि समाज की आत्मा तमसावृत और पतित हो गई थी और किसी आश्रय के लिये व्याकुल हो रही थी । बुद्ध जी की शिक्षाओं में उनको प्रकाश की रेखा दिखलाई पड़ी और वह बिना विशेष प्रयत्न के उनके चारों ओर इकट्ठी हो गई । एक नया धर्म अपने आप चल पड़ा ।

बुद्ध जी के उपदेश इतने ऊँचे और साथ ही सरल भी थे कि विद्वान और अशिक्षित दोनों को उसमें अपने योग्य तत्त्व की बातें मिल जाती थीं । इसलिये जहाँ शूद्र, कारीगर, स्त्रियाँ उसमे सम्मिलित हुए वहाँ अनेक विद्वान, प्रतिभाशाली तथा बड़ी पदवी वाले भी उनके अनुयायी बन गये । इन सबके सहयोग से बौद्ध धर्म के शीघ्रतापूर्वक दूर-दूर तक फैलने में बहुत सहायता मिली । इस रहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए विंसेण्ट स्मिथ नामक प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहास लेखक ने यह मत प्रकट किया है—

"उस समय 'ब्राह्मणो' के बड़प्पन' में लोग ऊब गये थे । वे किसी न किसी प्रकार उनसे निस्तार चाहते थे । क्षत्रिय भी हृदय से उनसे बहुत असन्तुष्ट थे । इसलिये जब उन्होंने अपने ही वर्ण के एक महापुरुष को धर्म उपदेश देते देखा तो वे जान-बूझकर उसकी बढ़ती की चेष्टा करने लगे, इसीलिये बिम्बसार, प्रसेनजित जैसे क्षत्रिय नरेश तुरन्त ही बुद्ध के समर्थक बन गये ।" क्षत्रियों के कर्मकाण्डी ब्राह्मणों से असन्तुष्ट होने का एक कारण यह भी था कि वे राजाओं में यज्ञ की प्रतियोगिता उत्पन्न करके उनकी सम्पत्ति को स्वयं हड़प लेते थे । इससे राजों को आर्थिक कठिनाई उठानी पड़ती थी । जब उन्होंने इस तथ्य को समझ लिया तो वे ब्राह्मणो के विरोधी बन गये ।

## पतन के कारण

जब तक बौद्ध धर्म के नेता इन सत्य-नियमो पर चलते रहे उसकी निरन्तर उन्नति होती रही और वह समस्त भारत में ही नहीं चीन, टोकियो, जापान, स्याम, लंका, अफगानिस्तान और एशिया के पश्चिमी देशों तक फैल गया । अशोक जैसा इतिहास प्रसिद्ध सम्राट उसमें शामिल हो गया और उसने अपने विशाल-साधन इस कार्य मे लगाकर बौद्ध-धर्म को विश्वव्यापी बना दिया । पर जब बौद्धों में भी विकृतियाँ उत्पन्न होने लगीं और उनके 'भिक्षु' अपने आराम और लाभ के लिये वैसे ही काम करने लग गये, जिनके कारण ब्राह्मणो में हीनता आई थी, तो वह भी गिरने लग गया ।

कुछ विद्वानों के कथनानुसार भारतवर्ष से बौद्ध धर्म के लोग हो जाने का कारण 'ब्राह्मणों का विरोध' ही था । "ब्राह्मणों ने भारत में आरम्भ में जो धर्म फैलाया था और संस्कृति का प्रचार किया था वह इतनी 'सनातन' थी कि कोशिश करने पर भी बौद्ध धर्म उसे पूर्णतया न मिटा सका । अपनी गल्ती का कुपरिणाम भोगकर ब्राह्मण जब पुन· सँभले, तो वे बौद्ध धर्म की बातों को अपने ही शास्त्रो में ढूँढकर बतलाने लगे, और अपने अनुयायियों को उनका उपदेश देने लगे ।"

बौद्ध-धर्म का मुकाबला करने के लिये हिन्दू धर्म के विद्वानों ने प्राचीन कर्मकाण्ड के स्थान पर ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग का प्रचार करना आरम्भ किया ।

कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य जैसे विद्वानो ने मीमांसा और वेदान्त जैसे दर्शनों का प्रतिपादन करके बौद्ध धर्म के तत्त्वज्ञान को दबाया और रामानुज, विष्णु स्वामी आदि वैष्णव सिद्धान्त वालों ने भक्ति-मार्ग द्वारा बौद्धों के व्यवहार धर्म से बढ़कर प्रभावशाली और छोटे से छोटे व्यक्ति को अपने भीतर स्थान देने वाला विधान खोज निकाला। साथ ही अनेक हिन्दू राजा भी इन धर्म-प्रचारकों की सहायतार्थ खड़े हो गये। इस सबका परिणाम यह हुआ कि जिस प्रकार बौद्ध धर्म अकस्मात् बढ़कर बड़ा बन गया और देश भर में छा गया, उसी प्रकार जब वह निर्बल पड़ने लगा तो उसकी जड़ उखड़ते भी देर न लगी। यह एक आश्चर्य की ही बात है कि जो धर्म अभी तक अनेक दूरवर्ती देशो में फैला हुआ है और जिसके अनुयायियों की संख्या अधिकांश अन्य धर्म वालों से अधिक है, वह भारत से इस प्रकार लोप हो गया है कि उसका नाम सुनाई पड़ना भी बन्द हो गया। लोग बौद्ध धर्म को पूर्ण रूप से एक विदेशी-धर्म ही मानने लगे। अब बीस-तीस वर्ष से कुछ उदार विचारों के हिन्दुओं ने ही उसकी चर्चा करनी आरम्भ कर दी है और उसके कुछ धर्म-स्थानों का भी पुनरुद्धार किया है।

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भी मत या सम्प्रदाय का उत्थान सद्‌गुणों और सच्चाई पर ही निर्भर है। संसार के सभी प्रमुख धर्म (मजहब) लोगों को निम्न स्तर की अवस्था से निकालकर उच्च अवस्था को प्राप्त करने के उद्‌देश्य से स्थापित किये गये हैं। पारसी, यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि मजहब आज चाहे जिस दशा में हों पर आरम्भ में सबने अपने अनुयायियो को श्रेष्ठ और समयानुकूल मार्ग पर चलाकर उनका कल्याण साधन ही किया था। पर काल-क्रम से सभी में कुछ व्यक्तियो या समुदाय विशेष की स्वार्थपरता के कारण विकार उत्पन्न हुए और तब उनका पतन होने लग गया। तब फिर किन्हीं व्यक्तियो के हृदय मे अपने धर्म की दुरावस्था का ख्याल आया और वे लोगों को गलत तथा हानिकारक मार्ग से हटाकर धर्म-संस्कार का प्रयत्न करने लगे। बुद्ध जी भी इस बात को समझते थे और इसलिये यह व्यवस्था कर गये थे कि प्रत्येक सौ वर्ष पश्चात् संसार भर के बौद्ध प्रतिनिधियो की एक बड़ी सभा की जाये और उसमें अपने धर्म तथा धर्मानुयायियों की दशा पर पूर्ण विचार करके जो दोष जान पड़े उनको दूर किया जाये और नवीन समयोपयोगी नियमों को प्रचलित किया जाये। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये अगर आवश्यक समझा जाये तो पुरानी प्रथाओं और नियमों से कुछ छोटी-मोटी बातों को छोड़ा और बदला भी जा सकता है।

बुद्ध जी द्वारा इसी बुद्धिसंगत व्यवस्था पर चलने और रुढिवादिता बचे रहने का यह परिणाम हुआ कि बुद्ध-धर्म कई सौ वर्ष तक निरन्तर बढ़ता रहा और संसार के दूरवर्ती देशों के निवासी आग्रहपूर्वक इस देश में आकर उसकी शिक्षा प्राप्त करके अपने यहाँ उसका प्रचार करते रहे। जीवित और लोक-कल्याण की भावना से अनुप्राति धर्म का यही लक्षण है कि निरर्थक या देश-काल के प्रतिकूल रीति-रिवाजों के पालन का प्राचीनता या परम्परा के नाम पर यह आग्रह नही करता। वरन् सदा आत्म-निरीक्षण करता रहता है और किसी कारण वश अपने धर्म मे, अपने समाज में, अपनी जाति मे यदि कोई बुराई, हानिकारक प्रथा, नियम उत्पन्न हो गये हों तो उनको छोड़ने, उनका सुधार करने में आगा पीछा नहीं करता। इसलिये बुद्ध जी की सबसे बड़ी शिक्षा यही है कि मनुष्यो को अपना धार्मिक, सामाजिक आचरण सदैव कल्याणकारी और समयानुकूल नियमों पर आधारित रखना चाहिये। जो समाज, मजहब इस प्रकार अपने दोषों, विकारो को सदैव दूर करते रहते हैं, उनको ही 'जीवित' समझना चाहिये और वे ही संसार मे सफलता और उच्चपद प्राप्त करते हैं।

वर्तमान समय मे हिन्दू धर्म मे जो सबसे बड़ी त्रुटि उत्पन्न हो गई है वह यही है कि इसने आत्म निरीक्षण की प्रवृत्ति को सर्वथा त्याग दिया है और 'लकीर के फकीर' बने रहने को ही धर्म का एक प्रमुख लक्षण मान लिया है। अधिकांश लोगों का दृष्टिकोण तो ऐसा सीमित हो गया है कि वे किसी अत्यन्त साधारण प्रथा-परम्परा को भी, जो इन्हीं सौ-दो सौ वर्षों में किसी कारण वश प्रचलित हो गई है, पर आजकल स्पष्टतः समय के विपरीत और हानिकारक सिद्ध हो रही है, छोड़ना 'धर्म विरुद्ध' समझते हैं। इस समय बाल-विवाह, मृत्युभोज, वैवाहिक अपव्यय, छुआछूत, चार वर्णों के स्थान पर आठ हजार

जातियाँ आदि अनेक हानिकारक प्रवृत्तियाँ हिन्दू-समाज में घुस गई हैं । पर जैसे ही उनके सुधार की बात उठाई जाती है, लोग 'धर्म' के डूबने की पुकार मचाने लग जाते हैं । बुद्ध भगवान के उपदेशों पर ध्यान देकर हम इतना समझ सकते है कि वास्तविक धर्म आत्मोत्थान और चरित्र-निर्माण में है, न कि सामाजिक, लौकिक प्रथाओं में । यदि हम इस तथ्य को समझ लें और परम्परा तथा रूढ़ियों के नाम पर जो कूड़ा-कबाड़ हमारे समाज में भर गया है उसे हम फिर उन्नति की दौड़ में अन्य जातियों से अग्रगामी बन सकते है ।

# अहिंसा और अपरिग्रह के प्रतीक : महावीर स्वामी

महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ और माता त्रिशला का देहान्त हो चुका था और वे इस बन्धन के कट जाने पर समस्त राज-वैभव को त्यागकर सर्वत्यागी संन्यासी बनने की तैयारी कर रहे थे कि उनके बड़े भाई नंदिवर्द्धन ने आकर कहा—"भाई, तुम यह कैसा विचार कर रहे हो ! अभी हम माता-पिता के वियोग से ही सन्तप्त हो रहे है और इसी समय तुम भी हमको छोड़कर चले जाना चाहते हो । एक घाव के ऊपर हम दूसरा घाव कैसे सहन कर सकेंगे । अभी तुम्हारा कर्त्तव्य घर में ही रहकर हमको सान्त्वना देना है जिससे परिजन और प्रजाजनों की सुरक्षा और सुव्यवस्था सम्भव हो सके ।"

भाई की स्नेहपूर्ण बातें सुनकर महावीर चिन्ता मे पड़ गये । वे होश सम्भालते ही समाज में फैले हुए अन्ध-श्रद्धापूर्ण धार्मिक कर्मकाण्डो और अन्याय पूर्ण सामाजिक परम्पराओं की हानियों को समझ गये थे और अपना समस्त जीवन उन्ही के सुधार मे लगाना चाहते थे । अभी तक वृद्ध माता-पिता को मानसिक परिताप न हो इस विचार से वे घर में ठहरे हुए थे । पर जब वह बाधा दूर हो गई तो उनको अपने लक्ष्य की तरफ अग्रसर होने में देर करना एक अपराध की तरह जान पड़ने लगा और वे उसके लिये उद्यत हो गये । भाई की व्याकुलता देखकर उन्होंने कहा—"आप मुझसे कब तक ठहरने की कहते हैं ?"

नन्दिवर्द्धन ने उत्तर दिया—अभी कम से कम दो वर्ष तक तुम घर में रहो, उसके पश्चात् परिस्थिति के अनुसार निश्चय किया जायेगा ।

महावीर ने कहा—"मै आपके सन्तोष के लिये दो वर्ष तक ठहरना स्वीकार करता हूँ, पर अब मै इस राजकीय वैभव और भोग-विलास की सामग्रियों के बीच अपना समय व्यतीत नहीं कर सकता । इसलिये घर में रहते हुए भी मैं एक बिल्कुल सामान्य प्रजाजन के समान जीवन व्यतीत करूँगा और मेरे लिये कोई राजकीय समारम्भ न हो ।"

## महावीर की त्याग वृत्ति

सांसारिक लोगों की निगाह से निःसन्देह यह एक निराला या नासमझी का ही विचार हो सकता है । जिस धन के लिये लोग प्रायः हर प्रकार का कर्म करने को तत्पर हो जाते हैं और जिसके लिये जानबूझ कर भी अन्याय, अत्याचार, अनीति का आश्रय लेने में भी संकोच नहीं करते उसको महावीर स्वेच्छा से त्याग रहे थे और एक क्षण भी उसके संसर्ग मे रहना नहीं चाहते थे । उनको धन की ऐसी ममता और स्वार्थ-भावना मनुष्य के पतन का कारण जान पड़ी थी और वे समाज के सामने एक भिन्न प्रकार का आदर्श और उदाहरण उपस्थित करना चाहते थे । वे लोगो को बतलाना चाहते थे कि धन की अनुचित अभिलाषा रखना, करोड़ो रुपया इकट्ठा करके जगत्-सेठ और नगर-सेठ बनने की महत्त्वाकांक्षा करना व्यक्ति और समाज दोनो के लिये पतनकारी है । इस प्रकार की बातों को मुँह से तो बहुत से लोग कहते हैं और सिद्धान्त रूप मे मानने वालों की भी कमी नहीं, पर उनको स्वयं व्यवहार मे लाने वाले सब प्रकार के साधन और सामर्थ्य होने पर भी समाज के कल्याणार्थ निर्धनता का जीवन अपनाने वाले कदाचित ही कहीं दिखाई पड़ते हैं । महावीर ने एक वैभवशाली नरेश के पुत्र और परमशक्ति सम्पन्न होने पर भी धन-लोलुपता के मार्ग को त्याग कर,

त्याग और अपरिग्रह के आदर्श को जन-साधारण के समक्ष रखने का निश्चय किया ।

महावीर के पिता महाराज सिद्धार्थ क्षत्रिय कुण्डनपुर (कुण्डलपुर) के शासक थे । यह स्थान विहार के लक्खी सराय स्टेशन से कुछ मील दूर खण्डहरों के रूप में अवस्थित है । उनकी माता त्रिशला देवी वैशाली के राजा चेटक की पुत्री थीं । यह दम्पत्ति शुद्ध आचार-विचार वाले और धर्म पर अत्यन्त श्रद्धा रखने वाले थे । इनके ऐसे संस्कारों का प्रभाव महावीर (जिनका परिवारिक नाम 'वर्द्धमान' था) के ऊपर भी बहुत अधिक पड़ा और वे बहुत छोटी अवस्था से ही मानव-जीवन के परम लक्ष्य के सम्बन्ध में विचार करने लगे । उनको अनुभव होने लगा कि धन-सम्पत्ति और उससे प्राप्त हो सकने वाले तरह-तरह के भोग अनित्य हैं और उनके कारण प्रायः मनुष्य की आत्मा का पतन ही होता है । भोगों को प्राप्त करने के लिये अधिकांश मनुष्य नीति और अनीति का विचार त्याग देते हैं । स्वयं भोगों का रूप भी ऐसा है कि उनके कारण आत्मा-निर्वल हो जाती है और मनुष्य के विचार सदाचरण की अपेक्षा असद् मार्ग की तरफ ही अधिक जाते हैं ।

## जैन सिद्धान्त की प्राचीनता

महावीर का जन्म विक्रम सम्वत् से लगभग ५२२ वर्ष पूर्व हुआ था । जैन ग्रन्थों के अनुसार यह धर्म उससे बहुत पहले से प्रचलित था । उनके कथनानुसार इसके प्रवर्तक ऋषभदेव जी थे जो मानव-जाति के आदि काल मे उत्पन्न हुए थे । हिन्दू शास्त्रो मे भी इसका अनुमोदन किया गया है और महापुराण, श्रीमद्भागवत मे ऋषभ को भगवान का नौवां अवतार मानकर उनके सम्बन्ध मे लिखा है—

> नाभेरसावृषभ आस सुदेवि सूनुः ।
> यो वै च नाभेसमदृग् जड़योग चर्याम् ॥
> यत्पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति ।
> स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्त सङ्गः ॥
>
> (२—७—१०)

अर्थात्—"नाभि राजा के घर मे सुदेवी के ऋषभ पुत्र उत्पन्न हुआ, जिन्होने समदर्शी शान्तेन्द्रिय सबसे विरक्त हो, जडयोग समाधि का आचरण किया, जिस योग को परमहंस दशा कहते है ।"

यद्यपि इन पौराणिक मान्यताओ का कोई ऐतिहासिक अथवा तर्क-संगत आधार नही है तो भी हम यह मान सकते है कि जैन धर्म की मूल विचारधारा, जिसको हम कर्मकाण्ड के मुकाबले में ज्ञान-मार्ग कह सकते हैं, भारतवर्ष मे प्राचीनकाल से वैदिक यज्ञों के साथ चलती चली आई थी । केवल ऋषभदेव ही नही महर्षि कपिल आदि और भी अनेकों महापुरुष इस मार्ग के प्रवर्तक रहे हैं । उपनिषदों के ऋषियों में से अधिकांश-की विचारधारा ज्ञानमार्गी ही थी । उसी में से देश-काल के अनुसार विभिन्न शाखायें फूटती रहीं जिनमें जैन सिद्धान्त की भी गिनती की जा सकती है । पर उस समय यह मुख्यतः त्यागी तपस्वियों में ही प्रचलित था, साधारण जनता में से कदाचित् ही किसी का ध्यान इधर आकर्षित होता था । श्री महावीर स्वामी का महत्त्व इसी में है कि उन्होंने इसको एक व्यवस्थित संगठन का रूप देकर जनता को भी इसकी प्रेरणा दी और गृहस्थों के लिये एक श्रवण-श्रेणी पृथक निर्माण कर दी ।

## महावीर का मनस्वी जीवन

अन्त में दो वर्ष व्यतीत हो जाने पर महावीर के अभिनिष्क्रमण (वन गमन) का समय आ पहुँचा । राज्य परिवार, धन-धान्य, महल आदि सब विषयो से उन्होंने अपने मन को खीच लिया और मार्गशीर्ष कृष्णा १० को दिन के चौथे पहर पालकी मे बैठकर राज भवन से बाहर निकले । राज-कुटुम्ब, राज्याधिकारी, सेना के अतिरिक्त हजारो दर्शकों का समूह भी आपके पीछे चला । नगर से कुछ दूर 'ज्ञात-खण्ड' नाम से महावीर का दीक्षा संस्कार हुआ वे पालकी से उतर कर एक अशोक वृक्ष के नीचे बैठ गये और जैन साधुओं के नियमानुसार उन्होंने अपना सर्वस्व, वस्त्र त्याग कर मस्तक और मूँछ आदि के बाल भी अपने हाथ से उखाड कर 'केश लौच' किया । इस दृश्य को देखकर समस्त नगर निवासी, स्वजनवर्ग और विशेष रूप से उनके बड़े भाई नन्दिवर्धन व्याकुल हो उठे और उनके नेत्रों से आँसू गिरने लगे ।

जब एक दिन दो घड़ी शेष रह गया तो महावीर स्वामी उद्यान से उठकर 'विहार' (पदचर्या) करने चल दिये, क्योंकि मुनियों के लिये वर्षाकाल के सिवाय अन्य ऋतुओ मे एक स्थान मे रहने का विधान नहीं है ।

वे निरुद्देश्य भाव से भ्रमण करते हुए कुमारगाव नामक स्थान मे पहुँच गये और वहीं एक जगह खडे होकर ध्यानस्थ हो गये । थोड़ी देर पीछे कुछ ग्वाले वहाँ बैलो को चराने आ गये । महावीर स्वामी को वहाँ खडे देखकर के बैलो को उनके भरोसे छोड़कर किसी काम से गये । जब वे वापस आये तब तक बैल चरते हुए इधर-उधर निकल गये थे । उन्होंने महावीर से उनके विषय मे पूछा । एक तो ध्यानवस्था और दूसरे सासारिक कार्यों से विरक्त, उन्होंने ग्वालो की बातों को सुना भी नही । तब वे ग्वाले बैलों को ढूँढ़ने दूर-दूर तक घूमने लगे । जब बैल उनको न मिले तो थक कर फिर उसी जगह आ गये जहाँ महावीर ध्यान कर रहे थे । उस समय बैल भी घूमते हुए वहीं आ गये थे । इस पर उन ग्वालो ने समझा कि इन्होंने उस समय बैलों को कही छिपा दिया था और इस तरह ये इनको चुराना चाहते थे । बस, वे क्रोधित होकर उनको रस्सियो से मारने लगे । वे मारते-मारते थक गये पर महावीर अपने ध्यान से न डिगे और न उनके मुँह से एक भी शब्द निकाला ।

यह एक प्रकार से पहले ही दिन उनके तपस्वी-जीवन की परीक्षा थी । यद्यपि वर्तमान समय मे इस प्रकार अकारण अपने कष्टों मे डाल देना और बिना किसी उद्देश्य के घोर सकटों को सहन करते रहना ठीक नही समझा जायेगा, पर जो लोग सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र मे पाँव रखते है, यदि वे अपनी प्रतिज्ञा के सच्चे है तो उनको किसी न किसी रूप में कष्टो को सहन करने के लिये प्रस्तुत होना ही पडेगा । वे जो कुछ परोपकारमय कर्म करेंगे वह कुछ लोगों के लिये उपकारी जान पड़ेगा तो अन्य लोगों को उसमे अपनी हानि का अनुभव होगा । उदाहरणार्थ जो प्रचारक शराबी लोगो को इस दुर्व्यसन के त्याग का उपदेश देते है उनको शराब के दुकानदार अपना शत्रु समझते हैं और जब अवसर मिलता है तो उनको हानि पहुँचाने की चेष्टा करते हैं । जो लोग जुआ, सट्टा, लाटरी आदि जैसी कुप्रवृत्तियो को मिटाने का आन्दोलन करते हैं, उनके विरोधी वे लोग बन जाते हैं जो इस प्रकार जघन्य कर्मों से धन कमाते है । महावीर स्वामी को भी समाज में फैली हुई अन्य परम्पराओ को मिटाना था, ऐसी दशा मे जो लोग उन परम्पराओं के आधार पर ही लाभ उठा रहे थे, अपना उदरपोषण करते रहते थे, उनसे टक्कर हो जाना स्वाभाविक ही था । इसलिये महावीर ने पहले ही दिन होने वाले इस दुर्व्यवहार को यदि अपनी एक परीक्षा समझा तो यह ठीक ही था ।

इस प्रकार बारह वर्ष के तपस्वी-जीवन में महावीर को विघ्न बाधाओ का सामना करना पड़ा, पर उन्होंने उन सबको आगामी कार्यक्रम की तैयारी समझकर वीरतापूर्वक सहन किया । यह उनके पूर्ण संयमी और ब्रह्मचर्ययुक्त जीवन का ही प्रभाव था जो इस प्रकार के भयंकर कष्टों को सहकर अपने मार्ग पर दृढ़ रह सके । अनेक बार उनसे विरोध भाव रखने वाले या अकस्मात् मिल जाने वाले क्रूर व्यक्तियों ने भयंकर अत्याचार किये पर उन्होंने कभी किसी पर रोष नहीं किया वरन् सबको पाप कर्म त्याग कर धर्म पथ पर चलने का ही उपदेश दिया । बारहवें वर्ष में जब वे 'षडमानी' गाँव के समीप तपस्या कर रहे थे । तब एक दुष्ट व्यक्ति ने उनके दोनों कानों में लकडी ठूँस दी जिससे उनको घोर वेदना होने लगी । दूसरे दिन जब वे एक दूसरे गाँव में पहुँचे तो एक वैद्य की निगाह उन पर पड़ी । महावीर की मुखाकृति से वैद्य ने उनकी शारीरिक वेदना का अनुमान किया और समस्त शरीर को टटोल कर कानों में ठूँसी हुई लकड़ियों को बाहर निकाला ।

महावीर स्वामी ने अपने बारह वर्ष के तपस्वी जीवन में सर्दी, गर्मी, वर्षा के वेगो को अपने शरीर पर सहन कर जो काया कष्ट उठाये, उनके महत्त्व को थोड़े ही लोग समझ पाये हैं । उनके पुराने ढंग के अनुयायी तो इनको पाप का ध्वंस करने वाला मानकर धर्म का एक बहुत बड़ा अग बतलाते हैं और बुद्धिवादी या प्रत्यक्षवादी इन्हे धर्म की गलत भावना के आधार पर किये गये निरर्थक कार्य और समय का बर्बाद करना बतलाते है और वस्तु स्थिति यह है कि जिस समय यह तपस्या की गई थी उस समय समाज मे कोई बडा काम करने के लिये इसकी अनिवार्य रूप से आवश्यकता थी । उस समय न तो आवागमन के साधन अधिक विकसित हुए थे और न लेन-देन तथा व्यापार व्यवस्था की प्रथा इतनी अधिक प्रचलित हुई थी कि आजकल की तरह कुछ रुपया पास में होने से मनुष्य चाहे जहाँ चला जाये और हर जगह चाहे जो आवश्यक चीज खरीद कर काम चला सके ।

उस समय सामान्य यात्रियों को भी प्रायः वीहड़ जंगलों और पहाड़ी मुकामों में होकर तरह-तरह के खतरे उठाते हुए यात्रा करनी पड़ती थी । इसलिये उस समय दूर की यात्रा एक बड़ा साहसपूर्ण कार्य समझा जाता था जिसे वे ही लोग करने को तैयार होते थे जो प्राणों तक की बाजी लगाने को तैयार हों । ऐसी अवस्था में एक ऐसे धर्मोपदेष्टा के लिये, जिसे देश के अनजान भागों मे दूर-दूर तक चलते चले जाना है हर जगह पुराने सम्प्रदायों के अनुयायी कट्टर लोगों का विरोध सहन करना है, ऊँचे दर्जे की सहन शक्ति का होना कितना अनिवार्य है यह प्रत्येक व्यक्ति सहज मे समझ सकता है । अगर महावीर स्वामी ने इस लक्ष्य को सम्मुख रखकर नये धर्म का प्रचार करने से पहले अपने को इस प्रकार के जीवन का अभ्यस्त बनाने का निश्चय किया तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही थी । उनकी यह साधना कितनी दृढ़ता के साथ की जाती थी, इसका वर्णन 'महावीर पुराण' मे विस्तार के साथ किया गया है । यद्यपि वह पुराणकारों की अतिशयोक्ति पूर्ण शैली मे लिखा गया है, तो भी उसका सारांश वास्तविकता से दूर नही है । उसका एक अश नीचे दिया जाता है—

"महावीर प्रभु देश के अनेक नगरों, ग्रामों एवं वन-उपवनों में वायु की तरह स्वच्छन्द गति से विचरने लगे । वे ममता, मोह से रहित थे और ध्यान-योग की सिद्धि के लिये सिंह के समान निर्भय होकर रात्रि के समय भी पर्वतों की अँधेरी गुफाओं में, श्मशान में, भयंकर निर्जन वन मे रहते थे । क्रमशः छः दिन और आठ दिन के उपवास से लेकर अनेक दिन तक का अनशन तप उन्होंने किया । वर्षाकाल में जबकि सारी प्रकृति झंझावात के उग्र आलोड़न से थर्राने लगती थी, तब महावीर प्रभु धैर्य रूपी कम्बल ओढ़कर किसी वृक्ष के नीचे समाधि लगाये रहते थे । शीतकाल मे किसी चौराहे अथवा नदी के किनारे ध्यान में मग्न रहते थे और इस प्रकार कितने ही वृक्षों को जला देने वाले हिमपात को अपने ध्यान रूपी अग्नि से भस्म किया करते थे । ग्रीष्म काल में जब चारों ओर अग्नि-वर्षा हुआ करती थी तब सूर्य की किरणों से तपे हुए शिलाखण्डों पर अपने ध्यान रूपी शीतल जल की सिंचाई किया करते थे । इस प्रकार वर्षा, शीत एवं ग्रीष्म ऋतुओं में शारीरिक सुख का परित्याग करने के लिये कायक्लेश तप की साधना में तत्पर रहकर छः प्रकार की अति कठिन तपस्या का महावीर स्वामी ने पालन किया ।"

## तपस्या की विचारधारा

महावीर स्वामी की यह तपश्चर्या केवल प्राचीन रूढ़ियों के आधार पर बिना सोचे विचारे नहीं की जाती थी, वरन् उन्होंने संसार में जीव की स्थिति और कर्मानुसार उसकी भली बुरी गति के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया था और उसी विचारधारा से प्रेरित होकर इस जीवन-प्रणाली को अपनाया था । उनकी यह विचारधारा "बारह भावना" के नाम से प्रसिद्ध है और इसमें सन्देह नहीं कि जो कोई उसका मनन और अनुसरण करेगा वह कभी अपने निश्चित कर्त्तव्य मार्ग से पीछे कदम नही रखेगा—बारह भावनाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

अनित्य-भावना—तीनों लोकों की आयु यमराज से घिरी हुई है, यौवन वृद्धावस्था के मुँह में है । यह शरीर रोग रूपी सर्प का बिल है और इन्द्रिय-सुख क्षण-भंगुर है । *अतएव इस अनित्य जगत् के लिये मैं* उत्सुक नही होऊँगा ।

अशरण-भावना—जिस प्रकार निर्जन वन में सिंह के पंजे मे आये हुए बालक को कोई शरण नहीं होती उसी प्रकार संसारी प्राणियों को रोग और मृत्यु से रक्षा करने वाला कोई नहीं है । मुझे अवश्य अपने किये हुए कर्मों को भोगना पड़ेगा ।

संसारानुप्रेक्षा भावना—यह संसार अनादि और अनन्त है । इसमें मूढ़ जीवों को ही सुख दृष्टिगोचर होता है, पर ज्ञानियों के मत से वह दुःख रूप ही है । कारण यह है कि अज्ञानीजन विषय-भोगों को ही सुख मानते है, पर ज्ञानी उनको नरक आदि का निमित्त समझ कर दुःखदायी कहते हैं । पूर्व जन्मों मे मैंने नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करके तरह-तरह के कष्ट भोग किये हैं, इस जीवन मे मुझे उनसे छूटने का प्रयत्न करना चाहिये ।

एकत्व-भावना—इसमे प्राणी को जन्म धारण करके अकेले ही इस संसार रूपी वन में भटकना पड़ता है, अकेले ही दुःख-सुख सहन करना पड़ता है ।

वे निरुद्देश्य भाव से भ्रमण करते हुए कुमारगांव नामक स्थान में पहुँच गये और वहीं एक जगह खड़े होकर ध्यानस्थ हो गये । थोड़ी देर पीछे कुछ ग्वाले वहाँ बैलों को चराने आ गये । महावीर स्वामी को वहाँ खड़े देखकर वे बैलों को उनके भरोसे छोड़कर किसी काम से गये । जब वे वापस आये तब तक बैल चरते हुए इधर-उधर निकल गये थे । उन्होंने महावीर से उनके विषय में पूछा । एक तो ध्यानावस्था और दूसरे सांसारिक कार्यों से विरक्त, उन्होंने ग्वालों की बातों को सुना भी नहीं । तब वे ग्वाले बैलों को ढूँढ़ने दूर-दूर तक घूमने लगे । जब बैल उनको न मिले तो थक कर फिर उसी जगह आ गये जहाँ महावीर ध्यान कर रहे थे । उस समय बैल भी घूमते हुए वहीं आ गये थे । इस पर उन ग्वालों ने समझा कि इन्होंने उस समय बैलों को कहीं छिपा दिया था और इस तरह ये इनको चुराना चाहते थे । बस, वे क्रोधित होकर उनको रस्सियों से मारने लगे । वे मारते-मारते थक गये पर महावीर अपने ध्यान से न डिगे और न उनके मुँह से एक भी शब्द निकाला ।

यह एक प्रकार से पहले ही दिन उनके तपस्वी-जीवन की परीक्षा थी । यद्यपि वर्तमान समय में इस प्रकार अकारण अपने कष्टों में डाल देना और बिना किसी उद्देश्य के घोर संकटों को सहन करते रहना ठीक नहीं समझा जायेगा, पर जो लोग सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में पाँव रखते हैं, यदि वे अपनी प्रतिज्ञा के सच्चे हैं तो उनको किसी न किसी रूप में कष्टों को सहन करने के लिये प्रस्तुत होना ही पड़ेगा । वे जो कुछ परोपकारमय कर्म करेंगे वह कुछ लोगों के लिये उपकारी जान पड़ेगा तो अन्य लोगों को उसमें अपनी हानि का अनुभव होगा । उदाहरणार्थ जो प्रचारक शराबी लोगों को इस दुर्व्यसन के त्याग का उपदेश देते हैं उनको शराब के दुकानदार अपना शत्रु समझते हैं और जब अवसर मिलता है तो उनको हानि पहुँचाने की चेष्टा करते हैं । जो लोग जुआ, सट्टा, लाटरी आदि जैसी कुप्रवृत्तियों को मिटाने का आन्दोलन करते हैं, उनके विरोधी वे लोग बन जाते हैं जो इस प्रकार जघन्य कर्मों से धन कमाते हैं । महावीर स्वामी को भी समाज में फैली हुई अन्य परम्पराओं को मिटाना था, ऐसी दशा में जो लोग उन परम्पराओं के आधार पर ही लाभ उठा रहे थे, अपना उदरपोषण करते रहते थे, उनसे टक्कर हो जाना स्वाभाविक ही था । इसलिये महावीर ने पहले ही दिन होने वाले इस दुर्व्यवहार को यदि अपनी एक परीक्षा समझा तो यह ठीक ही था ।

इस प्रकार बारह वर्ष के तपस्वी-जीवन में महावीर को विघ्न बाधाओं का सामना करना पड़ा, पर उन्होंने उन सबको आगामी कार्यक्रम की तैयारी समझकर वीरतापूर्वक सहन किया । यह उनके पूर्ण संयमी और ब्रह्मचर्ययुक्त जीवन का ही प्रभाव था जो इस प्रकार के भयंकर कष्टों को सहकर अपने मार्ग पर दृढ़ रह सके । अनेक बार उनसे विरोध भाव रखने वाले या अकस्मात् मिल जाने वाले क्रूर व्यक्तियों ने भयंकर अत्याचार किये पर उन्होंने कभी किसी पर रोष नहीं किया वरन् सबको पाप कर्म त्याग कर धर्म पथ पर चलने का ही उपदेश दिया । बारहवें वर्ष में जब वे 'षडमानी' गाँव के समीप तपस्या कर रहे थे । तब एक दुष्ट व्यक्ति ने उनके दोनों कानों में लकड़ी ठूँस दी जिससे उनको घोर वेदना होने लगी । दूसरे दिन जब वे एक दूसरे गाँव में पहुँचे तो एक वैद्य की निगाह उन पर पड़ी । महावीर की मुखाकृति से वैद्य ने उनकी शारीरिक वेदना का अनुमान किया और समस्त शरीर को टटोल कर कानों में ठूँसी हुई लकड़ियों को बाहर निकाला ।

महावीर स्वामी ने अपने बारह वर्ष के तपस्वी जीवन में सर्दी, गर्मी, वर्षा के वेगों को अपने शरीर पर सहन कर जो काया कष्ट उठाये, उनके महत्त्व को थोड़े ही लोग समझ पाये हैं । उनके पुराने ढंग के अनुयायी तो इनको पाप का ध्वंस करने वाला मानकर धर्म का एक बहुत बड़ा अंग बतलाते हैं और बुद्धिवादी या प्रत्यक्षवादी इन्हें धर्म की गलत भावना के आधार पर किये गये निरर्थक कार्य और समय का बर्बाद करना बतलाते हैं और वस्तु स्थिति यह है कि जिस समय यह तपस्या की गई थी उस समय समाज में कोई बड़ा काम करने के लिये इसकी अनिवार्य रूप से आवश्यकता थी । उस समय न तो आवागमन के साधन अधिक विकसित हुए थे और न लेन-देन तथा व्यापार व्यवस्था की प्रथा इतनी अधिक प्रचलित हुई थी कि आजकल की तरह कुछ रुपया पास में होने से मनुष्य चाहे जहाँ चला जाये और हर जगह चाहे जो आवश्यक चीज खरीद कर काम चला सके ।

उस समय सामान्य यात्रियों को भी प्रायः बीहड़ जंगलों और पहाड़ी मुकामों में होकर तरह-तरह के खतरे उठाते हुए यात्रा करनी पड़ती थी। इसलिये उस समय दूर की यात्रा एक बड़ा साहसपूर्ण कार्य समझा जाता था जिसे वे ही लोग करने को तैयार होते थे जो प्राणों तक की बाजी लगाने को तैयार हों। ऐसी अवस्था में एक ऐसे धर्मोपदेष्टा के लिये, जिसे देश के अनजान भागों में दूर-दूर तक चलते चले जाना है हर जगह पुराने सम्प्रदायों के अनुयायी कट्टर लोगों का विरोध सहन करना है, ऊँचे दर्जे की सहन शक्ति का होना कितना अनिवार्य है यह प्रत्येक व्यक्ति सहज में समझ सकता है। अगर महावीर स्वामी ने इस लक्ष्य को सम्मुख रखकर नये धर्म का प्रचार करने से पहले अपने को इस प्रकार के जीवन का अभ्यस्त बनाने का निश्चय किया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। उनकी यह साधना कितनी दृढ़ता के साथ की जाती थी, इसका वर्णन 'महावीर पुराण' में विस्तार के साथ किया गया है। यद्यपि वह पुराणकारों की अतिशयोक्ति पूर्ण शैली में लिखा गया है, तो भी उसका सारांश वास्तविकता से दूर नहीं है। उसका एक अंश नीचे दिया जाता है—

"महावीर प्रभु देश के अनेक नगरों, ग्रामों एवं वन-उपवनों मे वायु की तरह स्वच्छन्द गति से विचरने लगे। वे ममता, मोह से रहित थे और ध्यान-योग की सिद्धि के लिये सिंह के समान निर्भय होकर रात्रि के समय भी पर्वतों की अँधेरी गुफाओं में, श्मशान में, भयंकर निर्जन वन में रहते थे। क्रमशः छ. दिन और आठ दिन के उपवास से लेकर अनेक दिन तक का अनशन तप उन्होंने किया। वर्षाकाल मे जबकि सारी प्रकृति झंझावात के उग्र आलोड़न से थरनि लगती थी, तब महावीर प्रभु धैर्य रूपी कम्बल ओढ़कर किसी वृक्ष के नीचे समाधि लगाये रहते थे। शीतकाल में किसी चौराहे अथवा नदी के किनारे ध्यान में मग्न रहते थे और इस प्रकार कितने ही वृक्षों को जला देने वाले हिमपात को अपने ध्यान रूपी अग्नि से भस्म किया करते थे। ग्रीष्म काल में जब चारों ओर अग्नि-वर्षा हुआ करती थी तब सूर्य की किरणों से तपे हुए शिलाखण्डों पर अपने ध्यान रूपी शीतल जल की सिंचाई किया करते थे। इस प्रकार वर्षा, शीत एवं ग्रीष्म ऋतुओं में शारीरिक सुख का परित्याग करने के लिये कायक्लेश तप की साधना में तत्पर रहकर छः प्रकार की अति कठिन तपस्या का महावीर स्वामी ने पालन किया।"

## तपस्या की विचारधारा

महावीर स्वामी की यह तपश्चर्या केवल प्राचीन रूढ़ियों के आधार पर बिना सोचे विचारे नहीं की जाती थी, वरन् उन्होंने संसार में जीव की स्थिति और कर्मानुसार उसकी भली बुरी गति के सम्बन्ध मे पर्याप्त विचार किया था और उसी विचारधारा मे प्रेरित होकर इस जीवन-प्रणाली को अपनाया था। उनकी यह विचारधारा "बारह भावना" के नाम से प्रसिद्ध है और *इसमे सन्देह नही कि जो कोई उसका मनन और अनुसरण* करेगा वह कभी अपने निश्चित कर्त्तव्य मार्ग से पीछे कदम नही रखेगा—बारह भावनाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

अनित्य-भावना—तीनों लोको की आयु यमराज से घिरी हुई है, यौवन वृद्धावस्था के मुँह में है। यह शरीर रोग रूपी सर्प का बिल है और इन्द्रिय-सुख क्षण-भंगुर है। अतएव इस अनित्य जगत् के लिये मैं उत्सुक नहीं होऊँगा।

अशरण-भावना—जिस प्रकार निर्जन वन में सिंह के पंजे में आये हुए बालक को कोई शरण नहीं होती उसी प्रकार संसारी प्राणियों को रोग और मृत्यु से रक्षा करने वाला कोई नहीं है। मुझे अवश्य अपने किये हुए कर्मों को भोगना पड़ेगा।

संसारानुप्रेक्षा भावना—यह संसार अनादि और अनन्त है। इसमें मूढ़ जीवों को ही सुख दृष्टिगोचर होता है, पर ज्ञानियो के मत से वह दु.ख रूप ही है। कारण यह है कि अज्ञानीजन विषय-भोगों को ही सुख मानते हैं, पर ज्ञानी उनको नरक आदि का निमित्त समझ कर दुःखदायी कहते हैं। पूर्व जन्मों में मैंने नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करके तरह-तरह के कष्ट भोग किये हैं, इस जीवन मे मुझे उनसे छूटने का प्रयत्न करना चाहिये।

एकत्व-भावना—इसमें प्राणी को जन्म धारण करके अकेले ही इस संसार रूपी वन मे भटकना पड़ता है, अकेले ही दु ख-सुख सहन करना पड़ता है।

अन्यत्व-भावना—इस जगत् में प्राणी सब जीवों और वस्तुओं से अलग है । माता-पिता, पुत्र और कुटुम्बी जन भी अपने नही । सांसारिक समस्त पदार्थ मुझसे अलग है ।

अशुचि-भावना—यह शरीर रुधिर, वीर्य आदि से उत्पन्न हुआ है तथा सप्त धातुओं और मलमूत्रादि से भरा है । मेरे लिये ऐसे अशुचि पदार्थों के भण्डार देह का गर्व करना अनुचित है ।

आस्रव-भावना—जिस प्रकार छिद्रयुक्त जहाज में जल भरते रहने से वह समुद्र में डूब जाता है ठीक उसी प्रकार यह जीव भी कर्मों के भार से ससार-सागर मे डुबाता-उतराता रहता है । मैं मन, वचन, कर्म, से ऐसा कार्य नहीं करूँगा जो कर्म-बन्धन में डालने वाला हो ।

निर्जरा-भावना—पूर्व कर्मों को तपस्या द्वारा क्षय करना ही योगियों का कर्त्तव्य है । मैं तप और योग द्वारा कर्म बन्धनों को काटने और उनसे छूटने का उद्योग करूँगा ।

इसी प्रकार सम्वर-भावना, लोक-भावना, बोधि-दुर्लभ भावना और रत्नमय भावना आदि उत्कृष्ट विचारों से महावीर ने अपने मानसिक क्षेत्र को पूर्णतः परिमार्जित करके तपस्वी जीवन को योग्य बनाया था और तभी वे कठिन से कठिन परिस्थितियों का मुकाबला करके समाज का उद्धार कर सकने मे समर्थ हो सके ।

पाठक देखेंगे कि महावीर की यह विचारधारा जहाँ एक अध्यात्मवादी साधन के अनुकूल थी वहाँ जन-सेवा की मनोवृत्ति भी इससे पूर्णतः प्रस्फुटित होती थी । आजकल के जो सार्वजनिक कार्यकर्ता और सामाजिक नेता इस प्रकार उच्च भावनाओ से वंचित रहते है वे ही प्रायः सार्वजनिक जीवन स्वार्थपरता और भ्रष्टाचार की वृद्धि करने वाले होते है । जिनको कभी संसार की अनित्यता का विचार नही आता और जो आराम देने वाले भौतिक पदार्थों को ही महत्त्वपूर्ण समझते है वे कैसे दूसरों के लिये सच्चा त्याग कर सकते है ? इसी प्रकार जिनको किसी भी क्षण आने वाली आपत्ति का ध्यान नही बना रहता और जो अपनी अथवा अपने सहायकों की शक्ति के बल पर अपनी स्थिति को सुरक्षित समझे बैठे हैं वे असहायों पर अन्याय और अत्याचार करने मे क्यो हिचकिचायेंगे ? संसार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होना केवल आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक कारणों से आवश्यक नहीं है किन्तु जिसे इस विश्व की विशालता का कोई विचार नहीं और अपनी डेढ़ ईंट की झोंपड़ी को ही सबसे महत्त्वपूर्ण और सुरक्षा के योग्य मानता है, वह दूसरों की विपत्ति और कष्टों की क्यो परवाह करने लगा ?

जो व्यक्ति महावीर की एकत्व-भावना का यह अर्थ लगाता है कि हम तो अकेले आये हैं और अकेले ही जायेंगे, दूसरों से हमको क्या मतलब, तो वह बड़ी गल्ती करता है । यदि ऐसा होता तो इतना कठोर तप और सर्वस्व त्याग करने के पश्चात् महावीर तीस वर्ष तक जन-जागरण और सर्व साधारण को मार्ग-दर्शन कराने के निमित्त देश भर मे मारे-मारे न फिरते । उनको तो पूर्णरूप से आत्म दर्शन हो ही चुका था कही भी चैन से बैठकर आत्मानन्द में शेष जीवन व्यतीत कर सकते थे । इसलिये उनकी एकत्व-भावना का आशय यही था कि जन-जीवन में प्रविष्ट होने वाले कर्मवीर व्यक्ति को इस ओर ध्यान नहीं देना चाहिये कि उसके कितने व्यक्ति और चल रहे हैं । किसी भी नये सिद्धान्त के प्रचारक को आरम्भ में प्रायः अकेले या अत्यल्प साथियो को लेकर कार्य क्षेत्र मे कदम बढ़ाना पड़ता है । फिर जैसे-जैसे लोग उसके उद्देश्य की महानता को समझते जाते हैं । वैसे-वैसे ही उसके अनुयायियों की सख्या बढती जाती है ।

मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी पारिवारिक माया मोह की ही होती है । बड़े-बड़े कार्यकर्ता स्त्री-पुत्रों के मोह मे पड़कर कर्त्तव्य से पीछे हट जाते है । सामान्य श्रेणी के व्यक्ति तो परिवार की जिम्मेदारी का काम लेकर सार्वजनिक आन्दोलन से अलग ही बने रहते हैं । इसलिये महावीर स्वामी ने लोगो का अन्यत्व भावना का भी उपदेश कि सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी कभी उसमे इतने अधिक लिप्त न हो जाओ कि समाजोत्थान या मातृभूमि की रक्षा जैसा कोई महत्त्वपूर्ण कार्य सम्मुख आने पर भी उससे परिवार के बन्धन के कारण कतराते रहो । इसलिये मनुष्य का कर्त्तव्य यही है कि परिवार तथा सम्बन्धियो का हित साधन अवश्य करे, पर आत्मिक दृष्टि से अपनी स्वतन्त्र और निर्लिप्त सत्ता को भी समझता रहे ।

प्रगति के मार्ग में एक बड़ा रोड़ा अहंकार का है । संसार में मनुष्य छोटी-छोटी सफलताओं पर फूल जाता है, वंश, कुछ धन, सुन्दरता, बल जैसी सामान्य बातों पर गर्व करता है । यह मनोवृत्ति पतन की ओर अग्रसर करने और मनुष्य के अन्य सद्गुणों पर पानी फेर देने वाली है । इस संसार मे एक से बढ़कर एक धनवान, विद्वान, कुलीन, सुन्दर, शक्तिशाली व्यक्ति पड़े है, तब हमारा अपनी साधारण उन्नति पर अहंकार करना मूढ़ता के सिवाय और क्या कहा जा सकता है । महावीर स्वामी की अशुचि भावना का तात्पर्य यही है कि मनुष्य अपनी वास्तविकता पर विचार करता रहे जिससे उसके भीतर झूठा अभिमान पैदा न हो और वह दूसरों के साथ नम्रता और विनय का व्यवहार करता रहे । हमको भली प्रकार समझते रहना चाहिये कि ये दोनो सद्गुण मनुष्य के भूषण हैं जबकि अभिमान या घमण्ड एक बहुत बड़ा दुर्गुण है ।

भारतीय शास्त्रों मे कर्म की गति को बड़ा गहन बतलाया है । कर्म ही मनुष्य को बन्धन में डालता है और कर्म ही उससे मुक्त करता है । हमारे कुछ वेदान्ती भाई कहते हैं कि मनुष्य को कर्म त्याग कर देना चाहिये, पर यह एक ऐसा भ्रमिक सिद्धान्त है । जो कभी कार्य रूप मे परिणत हो ही नही सकता । भगवान कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कह दिया है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

(३-५)

अर्थात्—"कोई भी पुरुष किसी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता, निःसन्देह सभी व्यक्ति प्रकृति मे उत्पन्न हुए गुणो द्वारा परवश होकर कर्म करते ही रहते है ।"

पर चूँकि कर्म स्वभावतः बन्धन कारक होता है । इसलिये गीताकार ने निष्काम भाव से कर्म करने का उपदेश दिया है । श्री महावीर स्वामी भी ऐसे ढंग से कर्म करने का आदेश देते हैं जो मनुष्य के लिये बन्धन कारक न हो ।

पर निष्काम कर्म का सिद्धान्त वर्तमान जन्म के कर्मों पर ही लागू होता है । जो कर्म पुराने जन्मों से प्रारब्ध बनकर साथ लगे हुए हैं उनसे छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं, सिवाय उनको भोगा जाये । पर जहाँ साधारण मनुष्यों को जो विशेषतः सांसारिक कामों में ही संलग्न रहते हैं, उनको बड़े लम्बे समय तक भोगना पड़ता है तपस्या और योग द्वारा कष्ट सहन कर लेने पर उनका निपटारा बहुत जल्दी किया जा सकता है । जो व्यक्ति संसार के विवशता-युक्त बन्धनों से छुटकारा पाना चाहता है, जो उनसे सत्कर्म रूपी तप और योग से छुटकारा पाना चाहता है उनको सत्कर्म रूपी तप और योग से सभी कर्मों से छुटकारा पाने का निरन्तर उद्योग करते रहना चाहिये ।

महावीर स्वामी की इन भावनाओं पर आचरण करने से मनुष्य निःसन्देह आत्म-कल्याण और समाज-कल्याण दोनों की दृष्टि से सर्वोच्च स्थान तक पहुँच सकता है । इनमें कोई बात ऐसी नहीं है जो केवल तपस्वियों के ही लायक हो और उसे गृहस्थ लोग काम में न ला सकें ।

## महावीर स्वामी के उपदेश

तपस्या और साधना द्वारा पूर्ण आत्मशक्ति प्राप्त कर लेने पर महावीर कार्य क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और पूरे तीस वर्ष तक विशेष रूप से विहार और गौण रूप से भारत के अन्यान्य प्रदेशों में भी प्रचार कार्य करते रहे । यद्यपि उनकी धर्म यात्राओं (विहार) का ठीक वर्णन कहीं नहीं मिलता तो भी उपलब्ध वर्णनों से यही विदित होता है कि उनका प्रभाव विशेष रूप से क्षत्रियों और व्यवसायी-वर्ग पर पड़ा, जिनमें शूद्र भी बहुत बड़ी संख्या में सम्मिलित थे ।

महावीर अहिंसा के दृढ उपासक थे, इसलिये किसी भी दशा में विरोधी को क्षति पहुँचाने की वे कल्पना भी नही करते थे । वे किसी के प्रति कठोर वचन भी नहीं बोलते थे और जो उनका विरोध करता उसको भी नम्रता और मधुरता से ही समझाते थे । इससे परिचय हो जाने के बाद लोग उनकी महत्ता समझ जाते थे और उनकी आन्तरिक सद्भावना के प्रभाव से उनके भक्त बन जाते थे ।

महावीर स्वयं क्षत्रिय और राजवंश के थे इसलिये उनका प्रभाव कितने ही क्षत्रिय नरेशों पर विशेष रूप से पड़ा । जैन ग्रन्थो के अनुसार राजगृह का राजा बिम्बसार महावीर का अनुयायी था । वहाँ पर इसका नाम श्रेणिक बतलाया गया है और महावीर स्वामी के अधिकांश उपदेश श्रेणिक के प्रश्नों के उत्तर के रूप में

ही प्रकट किये गये हैं । आगे चलकर इतिहास प्रसिद्ध महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य भी जैन धर्म के अनुयायी बन गये थे और उन्होंने दक्षिण भारत मे जाकर जैन मुनियों का तपस्वी-जीवन व्यतीत किया था । उड़ीसा का राजा खाखेल तथा दक्षिण के कई राजा जैन थे । इसके फलस्वरूप जनता में महावीर स्वामी के सिद्धान्तों का अच्छा प्रचार हो गया और उनके द्वारा प्रचारित धर्म कुछ शताब्दियों के लिये भारत का एक प्रमुख धर्म बन गया । आगे चलकर अनेक जैनाचार्यों ने जैन और हिन्दू धर्म के समन्वय की भावना को भी बल दिया जिसके फल से सिद्धान्त रूप से अन्तर रहने पर भी व्यवहार रूप में इन दोनो धर्मों में बहुत कुछ एकता हो गई और जैन एक सम्प्रदाय के रूप में ही हिन्दुओं मे मिल-जुल गये ।

## अहिंसा परमो धर्मः

महावीर स्वामी का सबसे बड़ा सिद्धान्त अहिंसा का है । जिनके समस्त दर्शन, चरित्र, आचार-विचार का आधार एक इसी अहिंसा सिद्धान्त पर है । वैसे उन्होंने अपने अनुयायी प्रत्येक साधु (मुनि) और गृहस्थ (श्रावक) के लिये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच व्रतों का पालन करना आवश्यक बतलाया है, पर इन सब मे अहिंसा की भावना सम्मिलित है । इसलिये जैन विद्वानों का प्रमुख उपदेश यही होता है कि—"अहिंसा ही परमधर्म है, अहिंसा ही परम ब्रह्म है, अहिंसा ही सुख शान्ति देने वाली है, अहिंसा ही संसार का उद्धार करने वाली है । यही मानव का सच्चा धर्म है, यही मानव का सच्चा कर्म है । अहिंसा जैनाचार का तो प्राण ही है ।"

"मानव और दानव मे केवल अहिंसा का ही तो अन्तर है । अहिंसा मानवी है, हिंसा दानवी है । जब से मानव ने अहिंसा को भुला दिया तभी से वह दानव होता जा रहा है और उसकी दानवता का अभिशाप समस्त विश्व को भोगना पड़ रहा है । संसार में निवास करने वाला प्रत्येक प्राणी सुख शान्ति का इच्छुक है । कोई मरना नहीं चाहता । दुःखी से दुःखी प्राणी भी जीवित रहना चाहता है । सबको अपना जीवन प्रिय ही नहीं, अति प्रिय है । ऐसी अति प्यारी चीज को जो नष्ट कर डालता है वह हिंसक है, दानव है, पातकी है और जो उसकी रक्षा करता है, अपने प्राण देकर भी दूसरों को बचाता है, उन्हें जीवनदान देता है, वह अहिंसक है, वही सच्चा मानव है ।"

यद्यपि समय के प्रभाव से जैन-अहिंसा के रूप में बहुत अन्तर पड़ गया है । लोग उसके मूल तत्त्व से अधिकांश में अनजान हो गये हैं और उसे अनेक बाह्य आचारों में इतना अधिक जकड़ा गया है कि साधारण मनुष्य के लिये उसका ठीक-ठीक पालन कर सकना अति कठिन जान पड़ता है । अन्य मतावलम्बी तो उसे कायरता उत्पन्न करने वाली और इस निगाह मे भारतवर्ष की पराधीनता का एक बड़ा कारण बतलाते हैं । पर इस कथन में सत्य का अंश अत्यल्प है क्योंकि जिस समय भारत पर मुसलमानों का आक्रमण होकर यहाँ की स्वाधीनता का अपहरण हुआ उस समय देश पर पृथ्वीराज, जयचन्द्र, परमाल आदि क्षत्रिय राजाओं का ही अधिकार था जो सभी कट्टर हिन्दू धर्मावलम्बी थे । उस समय न कहीं जैनियो की प्रबलता थी और न अहिंसा के सिद्धान्त की चर्चा । माँस भक्षण पर कोई भी रोक न थी । जो लोग धार्मिक और सामाजिक नियम के कारण माँस ग्रहण करते थे उनकी संख्या दस प्रतिशत ही थी और आज भी ऐसी ही स्थिति हमारी आँखों के सम्मुख उपस्थित है ।

जैनियो के आचार-विचार अहिंसा के विषय में चाहे जैसे रूढिवादी बन गये हों, पर इसमे सन्देह नहीं कि महावीर स्वामी ने अपने समय में जिस अहिंसा सिद्धान्त का प्रचार किया वह निर्बलता और कायरता उत्पन्न करने के बजाय राष्ट्र का निर्माण और संगठन करके उसे सब प्रकार से सशक्त और विकसित बनाने वाली थी । उसका उद्‌देश्य मनुष्य मात्र के बीच शान्ति और प्रेम का व्यवहार स्थापित करना था, जिसके बिना समाज कल्याण और प्रगति की कोई आशा नहीं रखी जा सकती । यद्यपि अहिंसा का प्रतिपादन सभी धर्मोपदेशको ने अपने-अपने ढग से किया है, पर जिस प्रकार महावीर और बुद्ध ने अहिसा पर सबसे अधिक बल देकर उसी को अपने धर्म का मूलमंत्र बनाया, ऐसा किसी अन्य धर्म संस्था ने नहीं किया ।

पर अभी तक लोगों ने अहिंसा के उस तत्त्व को भली प्रकार हृदयंगम नहीं किया है । महात्मा गाँधी ने गुजरात के एक जैन विचारक श्री रायचन्द्र के उपदेशों मे प्रभावित होकर महावीर के अहिंसा-तत्त्व का अध्ययन

और मनन किया था और आजीवन वे उसके अनुयायी बने रहे । भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का आधार अहिंसा पर रखकर उन्होंने संसार के सम्मुख एक नया और अद्भुत आदर्श रखा । हम कह सकते है कि अहिंसा मूलक आन्दोलन द्वारा उन्होंने उसका महत्त्व जितना अधिक बढ़ाया है, उतना पिछले सैकड़ो वर्षों के इतिहास मे किसी ने नही कर दिखाया । महात्मा जी ने सन् १६१६ मे अहमदाबाद की एक सभा मे भाषण करते हुए कहा था—

"मैं विश्वासपूर्वक यह कह सकता हूँ कि महावीर स्वामी का नाम इस समय यदि किसी सिद्धान्त के लिये पूजा जाता है तो वह अहिंसा ही है । मैंने अपनी शक्ति के अनुसार संसार के जुदे-जुदे धर्मों का अध्ययन किया है और उनके जो सिद्धान्त मुझे योग्य मालूम हुए उनका आचरण भी मैं करता रहा हूँ । मैं अपने को एक पक्का सनातनी हिन्दू मानता हूँ, परन्तु मैं नहीं समझता कि जैन-दर्शन दूसरे दर्शनो की अपेक्षा हल्का है अथवा उसकी हिन्दू-धर्म मे गणना नही की जा सकती । इसीलिये मै जानता हूँ कि जो सच्चा हिन्दू है वह जैन है और जो सच्चा जैन है वह हिन्दू है । प्रत्येक धर्म की उच्चता इसी बात मे है कि उस धर्म मे अहिंसा का तत्त्व कितने परिमाण मे है और इस तत्त्व को यदि किसी ने अधिक से अधिक विकसित किया है तो वे महावीर स्वामी थे ।"

वास्तव में उपदेशों और लेखों में अहिंसा के सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी बात कह देना या उसके लिये आदर्श नियम बना देना और बात है और उसे व्यवहार मे लाकर महान फल की प्राप्ति कर दिखाना दूसरी बात है । महावीर ने अपने समय में अहिंसा को ऐसा ही रूप दिया था । वे उसे स्वयं व्यवहार में लाये थे और घोरतम कष्ट सहन करके भी अहिंसा का उदाहरण जनता के सम्मुख उपस्थित किया था । इस प्रकार उन्होंने केवल धर्म को दूषित बनाने वाली पशु-बलिदान की प्रथा को ही नही रोका वरन् देश के विभिन्न वर्गों मे फैले हुए वैषम्य तथा फूट को शान्त करके सामाजिक प्रगति मार्ग को भी प्रशस्त किया । इस निगाह से महावीर स्वामी तत्कालीन जनता के लिये वैसे ही मार्ग-प्रदर्शनकारी थे जैसे वर्तमान समय मे महात्मा गाँधी हुए ।

यह स्पष्ट है कि जन-समाज के पारस्परिक सहयोग और लाभदायक सम्बन्धों का आधार बल-प्रयोग नहीं हो सकता । पारिवारिक और सामाजिक जीवन के निर्माण मे अधिकांश सहानुभूति, दया, प्रेम, त्याग और सौहार्द्र का ही स्थान रहता है । यह भी स्मरण रखना चाहिये कि व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ होता है । व्यक्तियो का जैसा आचरण रहेगा समाज का वैसा ही वातावरण होगा । इसलिये महावीर ने प्रत्येक व्यक्ति के आचरण का सुधार करने तथा उसे त्यागमूलक बनने पर बहुत जोर दिया । उन्होंने यह भी उपदेश दिया कि शासन भी धार्मिक तथा अहिंसक हो, क्योंकि शासन-व्यवस्था में अनीति का प्रवेश हो जाने से समस्त राष्ट्र का नैतिक-जीवन भ्रष्ट हो जाता है । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे देश की आजकल की अवस्था है, जिससे राज्याधिकारियों मे भ्रष्टाचार घुस जाने से समस्त देश का वातावरण दूषित हो गया है और देशवासियों का नैतिक स्तर गिरता जाता है । इसी उद्देश्य से महावीर स्वामी ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि व्रतों का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य रखा था ।

अहिंसा सिद्धान्त का महत्त्व केवल धर्म और समाज की दृष्टि से ही नही है वरन् राजनीति, विश्व शान्ति की समस्या का समाधान भी उसके बिना हो सकना असम्भव है । महावीर ने बतलाया कि सब प्राणियो के साथ 'जियो और जीने दो' की नीति के अनुसार व्यवहार करना चाहिये । उन्होंने सभी मनुष्यों और समाज को यही उपदेश दिया कि 'तुम दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि अपने साथ चाहते हो ।' आज दुनिया के अधिकांश राष्ट्रों मे आपाधापी की नीति चल रही है, जिसने बढ़ते-बढ़ते ऐसा भयंकर रूप धारण कर लिया है कि सदैव विश्वव्यापी संग्राम छिड़ने की आशंका बनी रहती है । यह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है कि यदि ऐसा विश्व युद्ध छिड़ेगा तो मानवीय सभ्यता बहुत कुछ नष्ट हो जायेगी । यह सब विभिन्न राष्ट्रों और जातियो में हिंसा मूलक नीति की प्रधानता होने का ही परिणाम है । स्वार्थपरता, बेईमानी, धोखेबाजी ये सब हिंसा के ही प्रतिरूप है । इसी प्रकार का व्यवहार होते हुए दो व्यक्तियों अथवा दो राष्ट्रों में वास्तविक मित्रता कदापि नही हो सकती, चाहे

वे दुनिया को दिखाने के लिये किसी अवसर पर मेल-मिलाप का ढोंग भले ही कर लें । इसलिये संसार वर्तमान अशान्तिपूर्ण अवस्था का सुधार करने तथा मानव-जाति का महानाश से रक्षा करने का एक मात्र उपाय अहिंसा की भावना का प्रसार होना ही है । इस दृष्टि से महावीर स्वामी का जीवन कार्य आजकल के मनुष्यों के लिये तो एक महान आदर्श की तरह ही माना जा सकता है ।

## अपरिग्रह की महिमा

महावीर स्वामी का दूसरा महान सिद्धान्त अपरिग्रह है । इसका आशय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओ को यथाशक्ति घटाना चाहिये और अपने पास स्वयं ही निश्चित की हुई एक सीमा से अधिक जीवन-निर्वाह की सामग्री का संग्रह नहीं होना चाहिये । इसके लिये उन्होंने अपना तो सर्वस्व त्याग कर ही दिया था, दूसरों को भी वे यही उपदेश देते थे कि अपनी आवश्यकताओं को हर प्रकार से सीमित करो । दुनिया में वास्तविक त्याग बड़ा कठिन है । आज हम देखते हैं कि अनेक व्यक्ति साधु बनने पर भी संग्रह करना नहीं छोड़ पाते और धीरे-धीरे सम्पत्ति, जमीन, जायदाद संग्रह करने में गृहस्थो से भी आगे बढ़ जाते है । इसलिये महावीर स्वामी ने अपरिग्रह के पालन और उसकी सिद्धि के लिये एक विस्तृत और सर्वांगपूर्ण कार्यक्रम बनाया जिसके अनुसार अभ्यास करके सभी लोग इस मार्ग में अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ हो सकते है ।

जैन सिद्धान्त में केवल सम्पत्ति या सामग्री को इकट्ठा न करना ही अपरिग्रह नही बतलाया है, वरन् आवागमन, व्यापार, उद्योग-धन्धे, नौकरी, खानपान, मनोरंजन आदि सभी कार्यो को नियमित और निर्धारित परिमाण में करने का उपदेश दिया है । जैसे उन्होने दिग्व्रत, देशव्रत आदि का विधान किया है, जिसका आशय यह है कि मनुष्य जीवनभर के लिये अपनी आवश्यकताओ को समझकर आने-जाने और लेन-देन करने के लिये क्षेत्र की एक मर्यादा बाँध ले और उसके बाहर कैसा भी लाभदायक सुयोग प्राप्त होने पर न जाये । कभी-कभी यह व्रत धारण कर ले कि इतने समय तक मै अमुक एक स्थान में ही रहूँगा । खाने-पीने के लिये भी ससार मे हजारो प्रकार के पदार्थ मिलते हैं उनमे से अपने लिये चुनकर कुछ पदार्थों के व्यवहार का ही निश्चय कर ले, जिससे प्रत्येक पदार्थ की तरफ उसका ध्यान ही न जाये और न व्यर्थ की लालसा उत्पन्न हो । इसी प्रकार यदि वह भोग के लिये अपनी सीमा को अगर विवाहिता पत्नी तक ही सीमित कर ले तो अनेक दोषों से बचा जा सकता है ।

हम जानते हैं कि आजकल के अधिकांश मनुष्यों को ये बातें बड़ी अजीब और दकियानूसी जान पड़ेगी । कुछ आधुनिक सभ्यताभिमानी इन पर हसेंगे भी । वे कहेंगे कि मनुष्य को संसार की अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करनी चाहिये, जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक पदार्थ और अवस्था को व्यवहार मे लाकर देखना चाहिये और अपने कार्य क्षेत्र को अधिक से अधिक बढ़ाना चाहिये । इस पर संकुचित कूप-मण्डूक बनने से क्या लाभ ?

यदि हम वर्तमान जगत की अशान्तिपूर्ण अवस्था पर गहराई के साथ विचार करे तो हमको उसके मूल में सम्पत्ति और भोग की यही तृष्णा मिलेगी । मनुष्य हजार पा जाता है तो उसको दो हजार की कामना होती है । साइकिल वाला मोटर साइकिल की और मोटर साइकिल वाला मोटरकार की अभिलाषा करता रहता है । इस प्रकार मनुष्य की इच्छाओं और बनावटी आवश्यकताओं की कोई हद नहीं । फिर इस व्यापार-प्रधान युग में आवश्यकताओ को घटाने के बजाय बढ़ाना और उनकी पूर्ति के लिये दूसरे व्यक्तियों और राष्ट्रों से प्रतियोगिता करना भी उन्नति का आधार मान लिया गया । पर इस प्रकार की प्रवृत्ति से आगे चलकर छीना-झपटी और संघर्ष का जन्म होता है । यही मनोवृत्ति विस्तृत क्षेत्र और विशाल परिमाण मे पहुँचकर नाशकारी युद्धो और महासहार का कारण बन जाती है ।

वर्तमान समय, लोगों द्वारा अति सग्रह के लिये 'कन्ट्रोल' और 'कोटा' प्रणाली का उपयोग किया जाने लगा है । पर यदि मनुष्य अपने मन से अपनी इच्छाओ और आवश्यकताओ को मर्यादित नहीं करते तो इस प्रकार के सरकारी नियमो का उल्टा फल निकलता है । व्यापार एवं व्यवहार मे 'चोर बाजारी' (ब्लैक मार्केट) का जन्म होता है । प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक परिमाण मे योग्य वस्तुओं का संग्रह करके उन्हें ताले

मे बन्द करके रखना चाहता है । इसका परिणाम यह होता है कि कुछ चालाक और साधन सम्पन्न व्यक्तियों को सफलता मिल जाती है और शेष लोगों को अभावग्रस्त अवस्था में रहना पड़ता है । वर्तमान युग में जो घोर महँगाई के दर्शन होने लगे हैं वह भी इसी मनोवृत्ति का फल है । इससे आगे चलकर तरह-तरह के आन्दोलन, झगड़े और असन्तोष की वृद्धि होने लगती है और अन्त में समाज में सर्वत्र अशान्ति तथा हिंसा का वातावरण फैल जाता है ।

इस प्रकार की हानिकारक सामाजिक अव्यवस्था का समाधान करने के लिये आजकल 'समाजवाद' या 'साम्यवाद' जैसे सिद्धान्त निकाले गये हैं और संसार में उनका बहुत कुछ प्रचार हो गया है । समाजवाद का सिद्धान्त अधिकांश में स्वाभाविक और न्याययुक्त है और उसका उद्देश्य सामाजिक विषमता को मिटाकर जनता में सहयोग, सुख-शान्ति का प्रसार करना है । पर साथ ही यह भी सत्य है कि इस प्रकार के नैतिक आचरणो का पालन केवल सरकारी कानूनों द्वारा बलपूर्वक नहीं कराया जा सकता है । इसमें भी भीतर ही भीतर हिंसक प्रवृत्तियाँ काम करती रहती हैं जिनसे अशान्ति और कलह की उत्पत्ति होती ही रहती है । इस प्रकार के परिवर्तन नैतिक शिक्षा और आन्तरिक प्रेरणा से ही हो सकते हैं । बाद में सरकारी नियम और कानून भी उसमें सहायक हो सकते है । इसलिये महावीर स्वामी और अन्य प्राचीन धर्मोपदेशकों ने भी इसके लिये आत्म-संयम और त्याग के मार्ग की ही प्रेरणा दी थी । महावीर के अपरिग्रह सम्बन्धी उपदेशो का सारांश एक लेखक ने निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

स्त्री, पुरुष, घर, सोना आदि वस्तुओ में 'ये मेरी हैं' इस तरह का जो ममत्व रहता है, उसी को परिग्रह कहते है । इसी ममत्व को घटाकर उन वस्तुओ के न्यूनाधिक त्याग को परिग्रह—परिमाण व्रत कहा जाता है किन्तु वास्तव में मनुष्य की ममत्वयुक्त भावना ही अपरिग्रह है । यदि बाहरी चीजों को ही परिग्रह माना जाये तो जिन असंख्य गरीब या भिखारी जैसे लोगों के पास कुछ भी नहीं है, पर जो रात-दिन कमाने की उधेड़बुन मे ही लगे रहते हैं, क्या वे सब अपरिग्रही कहलावेंगे ? पर यह कसौटी ठीक नहीं है । सच्चा अपरिग्रही वही है जिसके पास कुछ नहीं है और न जिसके चित्त में किसी चीज की चाह ही है, क्योकि चाह होने पर मनुष्य परिग्रह का संचय किये बिना नही रह सकता । संचय की वृत्ति के तीव्र होने पर न्याय-अन्याय और उचित-अनुचित का विचार नहीं रहता, फिर तो मनुष्य धन का कीड़ा बन जाता है, वह धन का स्वामी न रहकर उसका दास हो जाता है ।

ऐसा व्यक्ति यदि कुछ धन दान के रूप में दे डालता है, तब भी उसका ममत्व नहीं छूटता । वह उसे अपने पास ही रखना चाहता है । उसे भय रहता है कि उस द्रव्य या सामग्री को कोई हड़प न ले । वह यह भी चाहता है कि इससे उसकी खूब कीर्ति हो, लोग उसका गुणगान करें, उसके दोषों पर परदा डाल दिया जाये, अखबारों में उसकी खूब बड़ाई छापी जावे । यह सब ममत्व-भावना का ही लक्षण है । उससे छुटकारा मिले बिना परिग्रह से भी मुक्ति नहीं मिल सकती ।

प्रायः यह देखा जाता है कि जब हम किसी चीज को अपनी नहीं समझते तो उसमें भले-बुरे से न हमे प्रसन्नता होती है, न रंज किन्तु ज्यों ही किसी चीज मे 'यह हमारी है' ऐसी भावना हो जाती है त्यों ही मनुष्य उसकी चिन्ता में पड़ जाता है । इसलिये ममत्व ही परिग्रह है । उसके कम किये बिना परिग्रह रूपी बन्धन से छुटकारा नहीं मिल सकता ।

"जैसे धन-सम्पत्ति बाह्य-परिग्रह है वैसे ही काम, क्रोध, मद, मोह आदि अभ्यन्तर परिग्रह है । बाह्य परिग्रहों के समान ही इन आन्तर-परिग्रहों को भी घटाना चाहिये । परिग्रहों को घटाने का एक ही उपाय है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओ को ध्यान में रखकर रुपया पैसा जमीन जायदाद वगैरह सभी वस्तुओ की एक मर्यादा नियत कर ले कि इससे ज्यादा मैं अपने पास नही रखूँगा । ऐसा करने से उसके पास अनावश्यक द्रव्य का संग्रह भी नहीं हो सकेगा और आवश्यकता के अनुसार द्रव्य पास रहने से उसे कोई कष्ट भी न होगा । साथ ही वह बहुत सी व्यर्थ की हाय-हाय से बच जायेगा और अपना जीवन सुख और सन्तोष के साथ व्यतीत कर सकेगा । आज जो दुनिया में आर्थिक विषमता फैली है उसका कारण मनुष्य की अनावश्यक संचय वृत्ति ही है । यदि सब लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार ही वस्तुये अपने पास रखें और अतिरिक्त

सामग्री को समाज के अन्य सदस्यों के उपयोग के लिये दे डालें तो आज दुनिया मे जितनी अशान्ति दिखाई दे रही है उसका दशमांश भी न रहे, सम्पत्ति के बँटवारे की जो समस्या आज दुनिया के सामने उपस्थित है वह बिना किसी कानून के स्वय ही अधिकांश में हल हो जावे ।"

महावीर स्वामी के पश्चात् भी सभी जैनाचार्य सर्वसाधारण को अपरिग्रह के लिये उपदेश देते रहे है । 'आत्मानुशासन' नामक ग्रन्थ मे गुणभद्र स्वामी ने कहा है—

> आशागर्त प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
> कस्यकिं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥

अर्थात्—"सभी प्राणियों में अभिलाषा का इतना बड़ा गड्ढा रहता है जिसमें समस्त पृथ्वी अणु समान समा जाये । ऐसी स्थिति मे पृथ्वी का बँटवारा किया जाये तो किसके हिस्से मे, कितना आयेगा ? अतः संसार के तृष्णा ग्रस्त प्राणियो ! तुम्हारी विषयों की चाह व्यर्थ ही है ।"

> शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदा ।
> न हि स्वच्छाम्बुभि पूर्णाः कदाचिदपि सिंधवः ॥

अर्थात्—"सज्जनों की सम्पत्ति भी न्यायोपार्जित धन से अधिक नही बढ सकती । क्या कभी महान नदियो को स्वच्छ जल से लबालब भरा हुआ देखा गया ।" "अर्थात् नदियों में सामान्यतः तो थोड़ा ही पानी रहता है और बरसात मे जब वे भरती हैं तो चारों ओर से इकट्ठे होने वाले गन्दे जल से भरकर उफनती है ।"

अतएव मनुष्य को सदैव अन्याय की कमाई से बचना चाहिये । इसी से वह वास्तव में सुखी बन सकता है । इतना ही नहीं यदि मनुष्य मे विशेष योग्यता अथवा बुद्धि है और उसके द्वारा दूसरे व्यक्तियों से बहुत अधिक उपार्जन कर सकता है तो भी उसके लिये यह उचित नहीं कि वह उस सबको अपने ही काम में लाये । अपरिग्रह-व्रत का यह अर्थ नही कि मनुष्य परिश्रम करना कम कर दे अथवा अधिक उपार्जन की कोशिश न करे । ऐसा करना तो समाज की कुसेवा करना ही कहा जायेगा । समाज में जन्म लेकर और उसके वातावरण में पलकर हमको विशेष शक्ति प्राप्त हो गई है तो उसका लाभ अवश्य ही समाज को पहुँचाना चाहिये । जो ऐसा नहीं करता वह स्वार्थी अथवा संकीर्ण विचारों का ही माना जायेगा । प्रशंसनीय जीवन वही है जो समाज के उत्थान-कल्याण के लिये उपयोगी सिद्ध हो । अपनी समस्त कमाई स्वयं के ही काम मे आवे ऐसी भावना रखने वालों को सभी ज्ञानी पुरुषों ने निकृष्ट कहा है । भगवान कृष्ण ने गीता मे ऐसे स्वार्थी और पेटू लोगों की भर्त्सना करते हुए बड़ी मार्मिकता मे कहा है—

> इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
> तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्तेस्तेन एव सः ॥
> यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
> भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
>
> *(गीता ३।१२।१३)*

अर्थात्—"देवगण द्वारा दिये हुए उपभोग्य पदार्थों को जो व्यक्ति उनको समर्पित किये बिना ही भोगता है वह निश्चय ही चोर है । जो व्यक्ति यज्ञ से (परोपकार मय कर्मों) बचे हुए अन्न को खाता है वह सब पापो से छूट जाता है और जो केवल अपने लिये ही पकाता है वह तो पाप को ही खाता है ।"

इसका आशय यही है कि यदि तुमको भगवान की अनुकम्पा से आवश्यकता से अधिक मिल जाता है तो तुम्हारे लिये यह कदापि उचित नही कि तुम सबको अपने ही पेट में डाल लो । ऐसा आचरण समाज और तुम्हारे—दोनो के लिये अहितकर होगा क्योंकि तुम्हारे अधिक ग्रहण कर लेने से समाज में किसी न किसी को उसकी कमी पड जायेगी और दूसरी तरफ आवश्यकता से अधिक सामग्री का उपयोग करने मे तुमको भी अजीर्ण और मन्दाग्नि जैसी खराबियों का सामना करना पड़ेगा । इसलिये समझदार और न्यायशील व्यक्ति का कर्तव्य यही है कि वह वेदो के "सौ हाथो से कमाओ और हजार हाथों से बाँट दो" (ऋग्वेद ३।२४।५) इस आदेश का पालन करे । अपनी विद्या, बुद्धि, शक्ति के द्वारा उत्साहपूर्वक धन पैदा करे, पर उसे सन्दूक मे बन्द न करके निष्काम भावना से समाज कल्याणकारी कार्यों मे लगा दे । यही वास्तविक अपरिग्रह है ।

## जीवन निर्माणकारी अन्य व्रत

अहिसा और अपरिग्रह के सिवाय अन्य तीन व्रत भी जीवन-निर्माण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं । यदि कोई व्यक्ति सांसारिक दृष्टि से कोई बड़ी सफलता

कर ले, बहुत बड़ी सम्पत्ति अथवा किसी राज्य आदि का स्वामी बन जाये तो इसका तब तक कोई महत्त्व नहीं जब तक वह इसके साथ ही सत्य, सन्तोष, सदाचार आदि गुणों का भी धारक न हो । सम्पत्ति और शक्ति दुराचारी व्यक्तियों के लिये महा अनिष्ट का कारण बन जाती है । साथ ही इस प्रकार दुष्कर्म करने से उस दुराचारी के पापों का घड़ा भी शीघ्र भरेगा और अन्त में उसको जीवित और मृत दोनो अवस्थाओं में नरकाग्नि में ही जलना होगा ।

## सत्य-व्रत

इसीलिये महावीर स्वामी ने उपदेश दिया कि यदि तुम अपनी आत्मा का कल्याण चाहते हो तो सत्य-व्रत का पालन करो । इसका अर्थ केवल इतना ही नहीं कि जो वस्तु जैसी देखी या सुनी हो उसे वैसी ही कह दो । यह तो सत्य का साधारण लक्षण है ही । पर साथ ही यह भी अनिवार्य है कि तुम्हारा कथन दूसरों के लिये हितकारी और प्रिय लगने वाला भी हो । यदि तुम्हारे सत्य बोलने से किसी निर्दोष व्यक्ति के प्राण जाते हैं अथवा वह किसी महान संकट में फँस जाता है तो वह वास्तव में असत्य के समान ही दूषित है । इसके विपरीत यदि तुम्हारी बात को बदल कर बोल देने से किसी का उद्धार हो जाता है, प्राण-संकट टल जाता है तो उस दशा में वही सत्य है । सत्य व्रत का पालन करते समय सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के दमन का ध्यान रखना अनिवार्य है ।

सामान्य व्यवहार की दृष्टि से अपने स्वार्थ की दृष्टि से गलत या बनावटी बात कहना असत्य भाषण मानना चाहिये । शास्त्रकारों ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए यह बतलाया है कि मनुष्य प्रायः किन अवसरो पर, किस प्रकार असत्य भाषण किया करते हैं । इसका विभाजन मनुष्य के विषय में झूठ जैसे अनेक लोग विवाह शादी के अवसर पर विरोधवश अथवा कन्या में झूठे दोष बतलाकर उस सम्बन्ध को बिगाड़ने का प्रयत्न करते है । पशुओं के विषय में झूठ—जैसे थोड़ा दूध देने वाली गाय अपने स्वार्थ के लिये बहुत दूध वाली बतला देना । अचेतन वस्तुओं के विषय मे झूठ—जैसे दूसरे की जमीन, मकान आदि को अपना बतला देना । धन के लालच या ईर्ष्या के कारण किसी के विरुद्ध झूठी गवाही देना । अपने पास रखी हुई किसी की धरोहर के सम्बन्ध में झूठ बोल देना । इस प्रकार लोग नित्य-प्रति के व्यवहार में छोटे-छोटे कारणों से झूठ बोलते रहते हैं जिससे उनकी आत्मा निर्बल बनती है और लोक में उनका विश्वास भी जाता रहता है ।

## अचौर्य-व्रत

दूसरे मनुष्य की किसी वस्तु को जान-बूझकर या धोखे से छिपाकर ले लेना ही चोरी है । यह समझना कि केवल रात में दूसरों के घर जाकर उनके ताले तोड़ने वाला या सेंध लगाने वाला ही चोर है ठीक नहीं । अगर आप किसी को चोरी की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रेरणा देते हैं, चोर की किसी प्रकार से सहायता करते हैं तो वह चोरी के अपराध का ही एक अंग है और उसके लिये वर्तमान कानून के अनुसार दण्ड भी मिलता है । पर वास्तव में चोरी का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है और वर्तमान समय मे मनुष्य सैकड़ों ऐसे तरीकों से चोरी करते हैं जो कानून की पकड़ में कम आते हैं, पर उनका असर चोरी से कम किसी प्रकार नहीं होता ।

उदाहरण के लिये मिलावट को लीजिये अगर आप असली घी मे नकली घी, तेल, चर्बी आदि मिलाकर बेचते हैं तो यह स्पष्ट ग्राहकों के रुपये की चोरी करना है, यद्यपि इसके करने वाले भेद खुलने पर भी लज्जित नहीं होते । इसी प्रकार दूसरों के शुद्ध सोने चाँदी में अन्य सस्ती धातु मिला देना भी चोरी से कम नही है, यद्यपि आज इसी कर्म को करके हजारों सर्राफ, सुनार सेठ बने बैठे हैं । जो पसारी लाल मिर्चों मे गेरू, हल्दी में रामरज, मिट्टी, धनियाँ में घोड़े की लीद आदि निकृष्ट पदार्थ मिला देते हैं । क्या वे चोरो को मिलने वाली सजा के हकदार नहीं ? इसी प्रकार जो दुकानदार नियम से हल्के बाँट रख कर या—छोटी नापने की गज रखकर ग्राहकों को ठगते हैं, क्या वे चोर नही कहे जायेंगे ? ये सब चोरी के ही छोटे-बड़े रूप है और अचौर्य व्रत ग्रहण करने वाले को चाहे वह व्यापारी हो, चाहे सरकारी नौकर हो, चाहे किसी प्रकार का कारीगर, दस्तकार हो, सदैव अपनी परिश्रम की कमाई पर ही सन्तोष करना चाहिये । इससे वह सदा सुखी रहेगा और सद्गति का अधिकारी होगा ।

## ब्रह्मचर्य-व्रत

विचारशील मनीषियों के मतानुसार कामवासना एक रोग के समान है । अध्यात्म ग्रन्थों मे इसी प्रकार

भूख को भी एक रोग माना है जिसकी औषधि आहार है । आयुर्वेद के सबसे प्राचीन आचार्यों ने लिखा है कि जो व्यक्ति आहार को भूख रूपी रोग की औषधि के रूप मे ग्रहण करता है वह सदैव स्वस्थ रहता है । पर जो भोजन को जिह्वा के स्वाद और विलास के रूप मे मानकर उसी प्रकार उसका उपयोग करता है वह सदा किसी न किसी व्याधि का शिकार बना ही रहता है । यही बात काम वासना के विषय में कही जा सकती है । उस रोग की औषधि अपनी विवाहित पत्नी से समागम बतलाया गया है । जो लोग इस वासना को पूर्ण रूप से जीत सकते हैं, वे तो संसार में बहुत बड़ी पूजनीय पदवी प्राप्त करते ही हैं, पर यह सबके लिये सम्भव नहीं । एक तो प्रत्येक व्यक्ति के लिये एक अवस्था ऐसी आती है जब इस वासना का वेग स्वाभाविक रूप से बढ़ता है और यदि उसकी पूर्ति न की जाये अथवा किसी विशेष साधना द्वारा उसे शान्त न किया जाये तो वह मनुष्य के लिये हानिकारक ही सिद्ध होती है । ऐसे व्यक्तियों के लिये गीता मे कहा है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते ॥

(गीता ३ /६)

अर्थात्—"जो मूढ़ बुद्धि मनुष्य कर्मेन्द्रियों को जबर्दस्ती रोककर मन से इन्द्रियों के भोगों का चिन्तन करता रहता है उसे मिथ्याचारी अथवा दम्भी समझना चाहिये ।"

इसलिये गृहस्थ आश्रम में रहते हुए ब्रह्मचर्य व्रत पालन का आशय यही है कि सदैव अपनी विवाहित एक पत्नी में ही पूर्ण सन्तोष रखे और उसके सिवा प्रत्येक स्त्री को वह चाहे भली-बुरी कैसी भी हो कदापि वासना की दृष्टि से न देखे । अपनी स्त्री के लिये भी शास्त्रीय और स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का ध्यान रक्खे, यह न हो कि विवाह को काम सेवन का खुला परवाना समझ लिया और उसका ऐसी नियमितता और स्वेच्छा से उपयोग किया जाये कि कुछ ही समय में स्त्री या पुरुष किसी को क्षय जैसा भयंकर रोग लग जाये । इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिये शास्त्रकारों ने जो नियम बतलाये है वे इस प्रकार हैं—

(१) दुराचारिणी स्त्रियों से बचते रहो । (२) मुँह मे अश्लील शब्द निकालने की आदत को सर्वथा त्याग दो । (३) शक्ति से अधिक कामसेवन कभी न करो । (४) अप्राकृत मैथुन का मन में कभी भूलकर भी विचार न आने दो । (५) दूसरो के वैवाहिक सम्बन्धो की चर्चा में कभी भाग न लो ।

इन नियमों का पालन करने के साथ सबसे मुख्य उपाय यह है कि अपने मन को नियन्त्रण और संयत अवस्था मे रखो । इन्द्रियों का सचालनकर्ता मन ही है । वह यदि अध्ययन, मनन, अधिध्यामन द्वारा विकारो से बचा रहता है, तो इन्द्रियाँ स्वयमेव ही दुराचार की तरफ जाने से बची रहेगी । 'यजुर्वेद' के ऋषि ने कहा है—

सुसारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभी शुभिर्वाजिनऽइव ।
हृत् प्रतिष्ठं यदाजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

(यजु ३४/६)

अर्थात्—"जो मन मनुष्य को कर्मों में प्रवृत्त करता है और कुशल सारथी जिस प्रकार रथ के सभी घोड़ों को नियन्त्रण में रखता है उसी प्रकार दसो इन्द्रियों को वश में रखना है, जो मन जरा रहित, वेगशाली और हृदय में स्थित है, वह हमारा मन सदाचार-युक्त श्रेष्ठ विचारो से युक्त रहे ।"

मानव-जीवन के उत्कर्ष विशेषतः अध्यात्म-क्षेत्र मे प्रगति होने के लिये ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन अनिवार्य है । ब्रह्मचर्य का अर्थ ही ब्राह्मी-भाव मे समय व्यतीत करना, तदनुकूल आचरण करना है । इससे शरीर तथा मन की पवित्रता प्राप्त होती है और निम्नगामी वृत्तियो का शमन होता है । कामवासना की अधिकता और दुराचार-व्यभिचार में प्रवृत्त होना इतना बड़ा दुर्गुण है कि यह अनेक अन्य गुणों पर पानी फेर देता है । ऐसे व्यक्ति का न कही सम्मान होता है, न कोई उसे विश्वासपात्र ही समझता है । इसलिये समाज मे, इष्ट-मित्रों में, सज्जन पुरुषो में, आदरणीय स्थान प्राप्त करने की इच्छा रखने वालों को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना अत्यावश्यक है ।

## महावीर और अन्य धर्म

इतिहास के पाठक यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि महाभारत के बाद इस देश की दशा बहुत विशृंखलित हो गई थी और राज्य के साथ धार्मिक संगठन भी बहुत शिथिल हो गया । प्राचीन ऋषि-मुनियो

का जीवित धर्म, जिसमें आवश्यकतानुसार अनजान से अनजान विदेशी अथवा म्लेच्छ आदि के नाम से प्रसिद्ध व्यक्तियों को अपनाने में तनिक भी संकोच नहीं किया जाता था, अब लुप्त हो चुका था। इसी प्रकार यज्ञों की समाज को संगठन करने वाली शक्ति भी नष्ट हो गई थी और उसकी जगह केवल अधिक से अधिक पशुवलि तथा दक्षिणा ही पुरोहितो का आकर्षण केन्द्र बन गया था। इससे समाज की दशा दिन पर दिन पतित होती जाती थी और तरह-तरह की हानिकारक रूढ़ियाँ फैलती जाती थीं।

यह देखकर समाज हितैषी सज्जनो को व्यथा होने लगी, वे धर्म को गिराने वाली उन रूढ़ियों के विरुद्ध मत प्रकट करने लगे और अन्त में कुछ प्रबुद्ध आत्मायें इस परिस्थिति को वदलने के लिये कटिवद्ध होकर मैदान में आ गईं। महावीर और बुद्ध दोनों इसी प्रकार के महान व्यक्ति थे, जिन्होने उस देश व्यापी भ्रष्टाचार को, जिसका मिटाना अधिकांश लोगों को असम्भव जान पड़ता था, समाप्त करके ही दम लिया। उनके अकथनीय श्रम और महान सफलता का प्रभाव जन-साधारण पर इतना पड़ा कि लोगो ने उनको ईश्वरीय अवतारो की श्रेणी मे विठा दिया। यदि वास्तविकता की खोज की जाये तो समस्त अवतार, दिव्यात्मा, पवित्रात्मा, पैगम्बर तीर्थंकर आदि कहलाने वाले महामानवो की महत्ता का यही रहस्य जान पड़ेगा।

धर्म-प्रचार का उद्देश्य महावीर स्वामी के धर्म को कलंकित करने वाली पशुवलि की प्रथा और समाज में अकर्मण्यता की भावना फैलाने वाले भाग्यवाद को दूर हटाना था। इस कार्यक्रम की पूर्ति के लिये वे अनवरत तीन-तीन वर्ष तक उद्योग करते रहे और समाज सुधार के लिये एक सुदृढ़ संगठन—जैन सघ की स्थापना की। यद्यपि उसके पहले भी जैन धर्म के सिद्धान्त देश मे प्रचलित थे पर जन-साधारण मे उनका प्रवेश नही हुआ था, केवल कुछ गृहत्यागी संन्यासी (श्रमण) ही उनके अनुसार आचरण करते थे। महावीर स्वामी ने ही उन सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार करके साधुओ और गृहस्थो का एक विशाल संगठन बनाया और उसके द्वारा देश भर में उस धर्म को फैलाकर समाज को एक नई दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया।

ऐसी दशा में महावीर को स्वभावतः वैदिक और पौराणिक धर्म के अनुयायियों के बीच में ही काम करना पड़ा। जैन ग्रन्थो में बतलाया गया है कि जब महावीर ने बारह वर्ष की घोर तपस्या को पूर्ण करके तीर्थंकर (विश्वगुरु) की पदवी पाई तो उस समय वे अकेले ही थे। उसके प्रथम 'समवशरण' (प्रचार-सभा) मे स्वर्ग के अदृश्य देवताओं के सिवाय कोई भौतिक शरीर धारी मनुष्य न था। न उनके पास ऐसे कोई सहयोगी थे जो उनके उपदेशों को स्मरण रखकर और बाद में लिपिवद्ध करके प्रचार योग्य बना सकें, और वाद-विवाद के लिये या जिज्ञासा से आने वाले विभिन्न सम्प्रदाय वालों के प्रश्नो का समाधान कर सकें।

उस समय उनको समाचार मिला कि मध्यमा नगरी (पावापुर) में सोमिलार्य ब्राह्मण के यहाँ यज्ञ-विषयक एक वडा भारी धार्मिक प्रकरण चल रहा है, जिसमें देश देशान्तरों के वड़े-वड़े विद्वान आमन्त्रित होकर एकत्र हुए है। उन्हे यह अवसर बड़ा उपर्युक्त जान पड़ा और यह सोचकर कि यज्ञ में आये हुए विद्वान ब्राह्मणो में मेरे सिद्धान्तो से सहानुभूति रखने वाले कुछ व्यक्ति अवश्य मिल जायेंगे, वे संध्या समय होने पर भी तुरन्त चल दिये और रातोंरात बारह योजन चलकर प्रातःकाल मध्यमानगरी के महासेन उद्यान में जाकर ठहर गये।

उसी दिन उनके दूसरे 'समवशरण' की रचना की गई और उन्होंने उसमे एक पहर तक उपदेश दिया। इसका समाचार पाकर इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति आदि ग्यारह वेद-वेदांग के पारंगत विद्वान ब्राह्मण अपने पाँच सौ अनुयायियो सहित उनकी सभा में पहुँचे। इन्द्रभूति ने महावीर से जीव-अजीव विषयक प्रश्न किये और उन सबका सन्तोषजनक उत्तर पाकर वह अपने समस्त साथियों सहित उनका शिष्य बन गया। उसे तीर्थंकर के 'गणधर' की पदवी देकर गौतम नाम रखा गया। उस समय से समस्त प्रचार कार्य गौतम गणधर ही करते थे। वे ही प्रत्येक विषय पर महावीर का मन्तव्य जानकर उपदेश और शास्त्रार्थ आदि कार्यों को सम्पन्न करते थे।

इस विवरण से प्रकट होता है कि जैन धर्म और ब्राह्मण-धर्म का सम्पर्क आरम्भ से ही रहा है और दोनों मे विरोध की कल्पना बाद में स्वार्थी या अज्ञानी लोगों ने की है। इस बात का पूर्ण रूप से समर्थन

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने किया है । लोकमान्य तिलक भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के तो सूर्य ही थे साथ ही विद्वान् भी वे सर्वोच्च कोटि के थे । उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था—

"जैन-धर्म ब्राह्मण-धर्म से अत्यन्त निकट सम्बन्ध रखता है । दोनों धर्म प्राचीन और परस्पर सहयोग रखने वाले हैं । जैन हिन्दू ही हैं, हिन्दुओं से पृथक नहीं गिने जा सकते । अनेक महाशय जैनियों को हिन्दुओं से पृथक करते हैं । परन्तु यह धारणा ठीक नहीं, यथार्थ में जैन-समुदाय हिन्दू-जाति में ही है । जिस हिन्दू-धर्म में अन्य अनेक धर्मों और सम्प्रदायों की गणना होती है, उसी में जैनधर्म की भी गणना है । वर्तमान में जो हिन्दू हैं, वे एक समय चार वर्णों में विभक्त थे । इन्हीं चार वर्णों में से जैनियों का समुदाय भी उत्पन्न हुआ है । इसी कारण से दोनों धर्मों की समानता है जो आज तक व्यक्त हो रही है ।"

आगे चलकर लोकमान्य ने बतलाया है—"जैनियों के 'अहिंसा परमो धर्मः' के उदार सिद्धान्त ने ब्राह्मण-धर्म पर चिरस्मरणीय मुहर लगा दी है । यज्ञयागादिकों में पशुओं का वध होकर 'यज्ञार्थ पशु हिंसा' जो आजकल बन्द हो गई है इसका श्रेय मुख्यतः जैन धर्म को है ।"

भारतवर्ष में जो ऊँच-नीच का हानिकारक भेदभाव बहुत अधिक बढ़ गया था और शूद्रों को पशुओं से भी बुरी हालत में रहने को बाध्य किया गया उसका निराकरण भी बहुत अंशों में जैन धर्म ने किया है । इस सम्बन्ध में महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने महावीर स्वामी की प्रशंसा करते हुए एक जगह लिखा था—

"महावीर ने भारतवर्ष में मोक्ष का यह सन्देश घोषित किया कि 'धर्म' एक वास्तविक सत्य है न कि केवल एक सामाजिक प्रथा । मोक्ष उसी धर्म की शरण लेने से मिलता है न कि समाज की बाह्य धार्मिक क्रियाओं द्वारा धर्म मनुष्यों के किसी पारस्परिक भेदभाव से सम्बन्ध नहीं रखता । आश्चर्य है कि इस शिक्षा ने जनसाधारण की बद्धमूल जात-पाँति की अनुचित प्रथा का नाश कर दिया और समस्त देश में एक जागृति उत्पन्न कर दी । दीर्घकाल तक इस क्षत्रिय उपदेशक का प्रभाव ब्राह्मण-धर्म पर पड़ता रहा ।"

बंगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान श्री वरदाकान्त मुखोपाध्याय एम. ए. ने जैन धर्म सम्बन्धी निबन्ध में लिखा है कि "जैनी लोग कहते हैं कि हम हिन्दू हैं और वे "हिन्दू" शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—हि=हिंसा, दू=दूर अर्थात् हिंसा से दूर रहे । सिन्धुतीर वासी आदिम आर्य और उनकी सन्तति ही हिन्दू नहीं है परन्तु हिंसा से दूर रहने वाला प्रत्येक हिन्दू ही है । "हिन्दू धर्म" की यह व्याख्या उचित ही है क्योंकि जो धर्म अध्यात्म पर आधारित है और जिसके शास्त्र बार-बार 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का ही उपदेश देते हैं उसमे हिंसा को स्थान कैसे मिल सकता है ?

महावीर को एक विशिष्ट सम्प्रदाय या 'मत' का संस्थापक मान लेने से उनका महत्त्व ठीक-ठीक नहीं आँका जा सकता । यद्यपि गत ढाई हजार वर्षों में तरह-तरह की उथल-पुथल करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न होने और आक्रमणकारी के रूप में लाखों विदेशियों ने बाहर से आकर भारतीय-समाज में समा जाने से आज 'हिन्दू-धर्म' का रूप बहुत कुछ बदल गया है और जैन-समाज को पृथक् 'धर्म' मान लिया गया है, पर जहाँ तक हम अनुमान कर सकते हैं आरम्भ में उसकी स्थिति वैसी ही रही होगी जैसी पिछले सौ वर्षों में 'ब्रह्म-समाज' और 'आर्य समाज' आदि 'धर्म-संशोधन' की दृष्टि से स्थापित की गई संस्थाओं की थी । महावीर स्वामी ने अपना प्रचार-कार्य उस समय के भारतीय-समाज में प्रचलित दूषित आचरणों और हानिकारक प्रथाओं के सुधार की दृष्टि से ही आरम्भ किया था पर आगे चलकर संकीर्ण मनोवृत्ति के, पृथकतावादी और 'धर्म' के नाम पर पेट भरने वाले लोगों ने उसको एक 'नया धर्म' ही बना दिया ।

हिन्दू-जाति में आज जो सैकड़ों ही नहीं हजारों सम्प्रदाय और 'पंथ' दिखाई पड़ रहे हैं और जिनके कारण वह तीन तेरह होकर विदेशियों और विधर्मियों का शिकार हो रही है, उसका असली कारण यह पृथकतावादी मनोवृत्ति ही है । एक समय था कि हमारे ऋषि-महर्षि 'अनेक में एक' की भावना रखकर समाज को सुदृढ़ और सशक्त बनाते थे, पर आज इसके विपरीत हम 'एक में अनेक' ही हीन मनोवृत्ति का परिचय देकर अपनी शक्ति को स्वयं ही क्षीण कर रहे है । यदि हम बुद्धिमत्ता और उदारता से काम लेकर अपने इधर-उधर बिखरे पड़े हुए अंगों को सुसंगठित कर सकें तो पूर्वकालीन युग की तरह आज भी हम संसार की समस्त जातियों में अवश्य ही अग्रगण्य बन सकते हैं ।

# मानवता के महान उपासक : महापुरुष ईसा

मानव-समाज की प्रगति का इतिहास, उत्थान और पतन के युगों की एक दीर्घ शृंखला की तरह है। ऐसा उदाहरण एक भी नहीं मिल सकता जब कोई जाति या देश निरन्तर उन्नति ही करता रहा हो, जिसकी अवस्था सदा वैभव सम्पन्न और सुखी ही रही हो। ऐसा होना प्रकृति के काल-चक्र के नियमों के प्रतिकूल है। जब तक कोई जाति कठिनाइयों का, विषम परिस्थितियों का सामना नहीं करती तब तक उनमें दृढ़ता, साहस, धैर्य, सहयोग, आत्मसंयम आदि ऐसे गुणों का प्रादुर्भाव नहीं होता जिनके द्वारा ही संसार में वास्तविक अभ्युदय हो सकता और उसकी रक्षा कर सकना सम्भव होता है। प्रायः ऐसा भी देखने में आता है कि जब कोई जाति परिश्रम, आत्मसंयम और अनुकूल अवसर पा जाने से धन, सत्ता वैभव की, स्वामिनी हो जाती है तो कुछ समय बाद उसमें मद, अहंकार और पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष का भाव उत्पन्न हो जाता है और तब धीरे-धीरे वह जाति पतन की ओर अग्रसर होने लग जाती है।

हमारे भारतवर्ष के इतिहास में इस प्रकार उत्थान और पतन के न मालूम कितने युग आ चुके हैं। कभी चक्रवर्ती सम्राटों का आविर्भाव होकर यह संसार की सम्पत्ति, सभ्यता, सत्ता का केन्द्र बन गया और कभी विदेशी, विजातीय लोगों के आक्रमणों से पददलित होकर अन्याय, अपहरण और दीनता का शिकार हुआ। यह समझना कि भारतवर्ष पर गत एक हजार वर्षों में केवल मुसलमानों और ईसाइयों के ही आक्रमण हुए हैं सही नहीं है। हम पौराणिक-साहित्य में जो दैत्यों राक्षसों और असुरों के संग्रामों की कथायें पढ़ते हैं, उनमें से कितने ही ऐसे विदेशी आक्रमणकारी ही थे।

फिलिस्तीन की यहूदी जाति, जिसमें ईसामसीह का जन्म हुआ था, एक ऐसी ही जाति है जिसका इतिहास सुख और दुःख, उन्नति और अवनति की घटनाओं से भरा हुआ है। इसमें प्राचीन समय से अनेक बड़े-बड़े नेता और शासक ऐसे होते आये हैं, जिन्होंने इस जाति को संगठित करके खूब आगे बढ़ाया और फिर अन्य आक्रमणकारियों ने इसकी खूब दुर्गति भी की। महात्मा ईसा के जन्म से पहले इनका निवास स्थान पश्चिमी एशिया के पैलेस्टाइन देश में था और वे वहाँ स्वतन्त्र रूप से स्वतन्त्र और सुखी जीवन व्यतीत कर रहे थे। पर अकस्मात् रोम के एक सेनापति ने उन पर आक्रमण किया और पैलेस्टाइन को विजित करके यहूदियों के प्रधान धर्म-मन्दिर को, जो येरूसलम में था नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इससे वहाँ की जनता में बड़ा रोष और असन्तोष फैला, पर रोम की विशाल शक्ति के सामने वे कुछ कर सकने में असमर्थ थे। पैलेस्टाइन के शासक रोम के अधीन हो गये और उनको कर (टैक्स) देने लगे। पर जनता ने रोम वालों का विरोध करना न छोड़ा और लोग षड्यन्त्र, बलवा, सविनय कानून-भंग के रूप में अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता को प्राप्त करने का प्रयत्न करते ही रहे। इस प्रकार समस्त देश में हलचल और उथल-पुथल मच गई। सामाजिक एकता नष्ट हो गई और लोग विभिन्न दलों में बँटकर आपस में ही लड़ने-झगड़ने लगे। उस समय की परिस्थिति पर कुछ प्रकाश ईसा की माता 'मरियम' के उन उद्गारों से पड़ता है जो उसने गर्भ का पता लगने पर ईश्वर की स्तुति करते हुए प्रकट किये थे—

"उस सर्वशक्तिमान ने अहंकारियों का दर्प भंग कर दिया। उसने शक्ति सम्पन्नों को अपने आसन से गिरा दिया और दीन-दुःखियों को महत्त्व प्रदान किया। दरिद्रों को उसने आशीर्वाद दिया और धनवानों को खाली हाथ लौटा दिया।"

उस समय भीतर और बाहर सब तरफ से पैलेस्टाइन में अशान्ति की ज्वाला प्रज्वलित थी और लोगों में राष्ट्रीय तथा जातीय समस्याओं के विषय में बड़ा विवाद चल रहा था। ऐसे समय जबकि विदेशी और देशी शासक मिलकर जनता का शोषण और अत्याचार कर रहे हों, राजनीतिक क्षेत्र में हलचल मची रहती हो, यहूदी विचारकों का ध्यान स्वभावतः अपने धर्म-ग्रन्थों की 'भविष्यवाणियों' की तरफ जाने लगा और वे सोचने लगे कि अब 'ईश्वरीय राज्य' का समय पास आ चुका है और धार्मिक लोगों के उद्धार के लिये भगवान की तरफ से कोई महापुरुष (मसीहा) प्रकट होने ही वाला

है । उनकी स्थिति अनेक अंशों में भारतीय जनता से मिलती-जुलती-सी थी जो किसी अन्यायी शासन में कष्ट पाने पर भजन-कीर्तन के रूप में 'भगवान से पुकार' करने लगती है और आशा करती है कि शीघ्र ही भगवान की शक्ति 'अवतार' लेकर उनके दुःखों को दूर करेगी ।

ऐसे संकट-काल में ईसा का आविर्भाव हुआ । उसने उत्तरी पैलेस्टाइन के 'नजरेथ' नामक स्थान में एक सामान्य स्थिति के बढ़ई के घर मे जन्म लिया था । उसके माता-पिता धार्मिक विचारो के थे और उसे भी आरम्भिक अवस्था मे एक यहूदी धर्म की पाठशाला मे ही भरती कराया गया था । वह नियमित रूप से यहूदियो के धर्म-मन्दिरों के प्रवचन सुनने जाता और प्रतिवर्ष 'पासोवर' के पर्व के अवसर पर येरूशलम की यात्रा करता था । छोटी आयु मे ही उसमें विशुद्धता, सत्यता और तेजस्विता के चिन्ह देखने मे आते थे । उसे बाइबिल के 'इसाहिया' के लेख बहुत पसन्द थे और उनमे से वह प्रायः निम्नलिखित वाक्य पढ़ा करता था—

"मेरे भीतर ईश्वरीय ज्योति प्रविष्ट हुई है । उसने मुझे गरीब लोगो को उपदेश देने के लिये मसीहा बनाया है । उसने मुझे भग्न-हृदयों को सुखी करने, कैदियों को बन्धन-मुक्त करने, अन्धों को दृष्टि-शक्ति और घायलों को सशक्त बनाने के लिये भेजा है ।"

शीघ्र ही ईसा के व्यक्तित्व ने अनेक व्यक्तियों को आकर्षित कर लिया । उसके विवाद करने और विषय प्रतिपादन करने का ढग ऐसा जोरदार था कि लोग सहज ही उसके कथन की सच्चाई को स्वीकार कर लेते थे जो लोग रोमन-साम्राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र रचते रहते थे । उन्होने उसे एक 'भाव-नेता' अनुभव करके अपने दल में मिलाना चाहा । आरम्भ में ईसा का झुकाव उनकी तरफ कुछ हुआ भी, पर कुछ ही समय बाद उसका भाव पलट गया और वह कहने लगा—"शक्ति से नहीं, बल से नहीं वरन् आध्यात्मिक मार्ग द्वारा ही सच्ची सफलता प्राप्त हो सकती है ।" भौतिक शक्ति कुछ समय के लिये प्रधानता प्राप्त कर भी ले, पर ज्यादा दिन तक टिक नहीं सकती, क्योंकि उसका आधार प्रायः स्वार्थपरता पर होता है ।

"उसने विचार किया कि यदि रोमनों को हरा कर उनके वैभव का स्वामी पैलेस्टाइन हो जाये तो इससे क्या लाभ होगा ? क्या रोमनों के स्थान पर 'सडूसीज' (यहूदी पूँजीपति) और 'फरीसीज' (मध्यम वर्ग वाले) का शासन स्थापित हो जाने और पुरोहितों के बनाये कानून (धार्मिक आदेश) जारी होने से साधारण जनता का विशेष कल्याण हो सकता है ? मनुष्य का कल्याण तो 'ईश्वर-राज्य' की स्थापना से ही सम्भव है । 'ईश्वरीय-राज्य' क्या है ? 'ईश्वरीय-राज्य' वह है जिसमें अन्यायपूर्ण सामाजिक भेदभाव न हो, गरीबों के कष्ट मिटाये जायें, धन-सम्पत्ति को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाये, सब प्रकार के दमनकारी और पाशविक शक्ति पर आधार रखने वाले शासन का अन्त हो जाये और लोग परस्पर प्रेम-भाव रखने लगें ।"

इस प्रकार के नये विचारो को सुनकर राजनीतिक षड्यन्त्रकारी तो अप्रसन्न होकर ईसा से पृथक हो गये पर साधारण जनता उसकी तरफ आकर्षित होने लगी । कितने ही लोग उसके अनुयायी बन गये । जब सर्व साधारण का एक बड़ा समुदाय उसका उपदेश सुनने को एकत्रित हुआ तो उसने एक पहाड़ी टीले पर चढ़कर कहना आरम्भ किया—

"धन्य हैं वे लोग जो गरीब है, जो दुःख सहते और पश्चात्ताप करते हैं । जो नम्र, दयालु और शान्ति के प्रचारक है और जो न्याय की खातिर दण्ड सहते है । धन्य है वे, जो बुराई के बदले भलाई करते हैं । धन्य हैं वे, जिनके यहाँ अदालतें नहीं हैं, जो दण्ड-विधान से अनभिज्ञ हैं, अपने शत्रुओं से भी प्रेम करते है और अपने दण्ड वालों के कल्याण के लिये भी प्रार्थना करते है क्योंकि समस्त मनुष्य एक ही पिता की सन्तान हैं ।"

महात्मा ईसा की यह दिव्य-वाणी आज तक संसार में गूँज रही है और यद्यपि अभी तक मनुष्य उसका पालन नहीं करने लगे है, तो भी करोड़ों व्यक्ति उससे मानसिक और आत्मिक शान्ति प्राप्त कर चुके है और संसार के उपकार के लिये प्रयत्नशील हो चुके हैं । ईसा का व्यक्तित्व और उपदेश कितना कल्याणकारी और ईश्वरीय आदेशों के अनुकूल था इसकी विवेचना करते हुए आधुनिक युग के महामानव और हिन्दू-धर्म के सुदृढ़ स्तम्भ स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है—

"महापुरुष ईसा के उपदेश और कर्म-वीरता की सब गाथायें लिपिबद्ध हो जाने पर सारा विश्व उनसे व्याप्त हो जायेगा । उनको धर्म-प्रचार के लिये केवल

तीन वर्ष का ही समय मिला, पर मानों उसी में एक सम्पूर्ण युग की घटनायें और इतिहास सूक्ष्म रूप मे समाया हुआ है । उसको स्थूल रूप धारण करते हुए उन्नीस शताब्दियों व्यतीत हो गईं और न जाने कितनी व्यतीत होंगी । हम साधारण लोग तो क्षुद्र शक्ति वाले होते है । हमारी शक्ति के पूर्ण प्रसारित होकर व्यय हो जाने में थोड़ा ही समय—कुछ वर्ष पर्याप्त होते हैं । उसके बाद हम पुनः अनन्त शक्ति-स्रोत में लीन हो जाते हैं । पर इस विशाल शक्ति पुंज को देखिये । शताब्दियों और सहस्राब्दियों व्यतीत हो जाने पर भी, उसकी महान शक्ति पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हो पाई है, उसका पूर्ण प्रसार व विकास नहीं हो पाया है । जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा है उसमें नूतन शक्ति का संचार होता जा रहा है—वह प्रबल से प्रबलतर होती जा रही है ।"

संसार के मनुष्यों की प्रवृत्ति सामान्यतः भौतिकता की ओर होती है । मनुष्य सदा से सुख-सामग्री की खोज करता आया है और यह सत्य है कि जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनो के बिना किसी का काम नहीं चल सकता । क्या भौतिकवादी और क्या अध्यात्मवादी, 'रोटी' की आवश्यकता सबको होती है । पर दोनों में इतना अन्तर है कि केवल भौतिक लाभ पर ही दृष्टि रखने वाले अपने लिये सुख-सामग्री प्राप्त करने में भले-बुरे का ध्यान नहीं रखता । वह दूसरे के मुख का ग्रास भी छीन लेता है और असहाय स्त्री, बच्चों का अधिकार भी हड़प कर जाता है । ऐसी प्रवृत्ति पाशविकता का निम्न स्वरूप है और ऐसे व्यक्ति को मनुष्य की आकृति और वेशभूषा में देखने पर भी हम उसे अमानव ही मानेंगे । हमारे शास्त्रों में ऐसे लोगों को तामसी प्रकृति का कहा गया है, विदेशी धर्म वाले उन्हें 'शैतान' का अनुयायी मानते है ।

संसार में समय-समय पर प्रकट होने वाली महान आत्माओ का यही कार्य होता है कि वे संसार के मनुष्यों की भौतिकता की निम्न प्रवृत्तियों को त्यागकर आध्यात्मिकता की प्रवृत्तियो को ग्रहण करने का उपदेश दे क्योंकि इसके बिना समाज की उन्नति नहीं हो सकती और मनुष्य एक दृष्टि से पशुओं की अवस्था में ही पडा रहता है । यह ख्याल करना गलत है कि बहुत सा सोना-चाँदी इकट्ठा कर लेने से या खाने-पीने की बढ़िया वस्तुयें प्राप्त कर लेने से कोई व्यक्ति ऊँचा अथवा सभ्य और संस्कारयुक्त बन सकता है । आप प्राचीन और नवीन युद्धप्रिय राजाओं, सरदारों और दुर्दमनीय लुटेरों, डाकुओं, हत्याकारियों के ऐसे चित्र देख सकते हैं, जिनकी भाव भंगिमा देखते ही भय लगता है, यद्यपि उनके पास धन-सम्पत्ति की कमी नहीं होती । आप उनको राक्षस या दानव के सिवाय और कुछ नहीं कह सकते । दैवी प्रेरणा से सम्पन्न महान आत्माओं का कार्य ऐसे दानवों को मानव रूप में परिवर्तित करना होता है । महात्मा ईसा ने इसी उद्देश्य से अपने शरीर और आत्मा की आहुति दे दी । इसी से आज दो हजार वर्ष बीत जाने पर भी हम उनको बड़े सम्मान के साथ स्मरण करते हैं और करोड़ो व्यक्ति उनके उपदेशों से प्रेरणा ग्रहण करके अपने जीवन को उच्च मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करते हैं । इस तथ्य की यथार्थता का समर्थन स्वामी विवेकानन्द के इस कथन से होता है—

"यह सच है कि मै और तुम—हम में से निर्धन से भी निर्धन और हीन से भी हीन व्यक्ति में भी परमेश्वर विद्यमान है उनका प्रतिबिम्ब मौजूद है । प्रकाश की गति सर्वत्र है, उसका स्पन्दन सर्वव्यापी है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव—उसका दर्शन दीपक मे होता है । जगत का सर्वव्यापी ईश भी तब तक दृष्टिगोचर नहीं होता तब तक ये शक्तिशाली दीपक—ये ईशदूत—ये उसके सन्देशवाहक (पैगम्बर) और अवतार—ये नर-नारायण—उसे अपने में प्रतिबिम्बित नहीं करते ।"

## ईसा मसीह एशिया निवासी थे

"आज के युग मे एक बड़ा अद्भुत दृश्य यह देखने मे आ रहा है कि एक तरफ तो यूरोप, अमेरिका तथा अफ्रीका में भी बसने वाले समस्त गोरे लोग ईसा मसीह के अनुयायी है । उनको ईश्वर मानकर प्रार्थना, उपासना करते है और दूसरी तरफ वे एशिया निवासियों को 'अश्वेत' अथवा काला कहकर हीन कोटि का मानते हैं । सभी गोरी जाति वालो के देशो में एशिया निवासियों के प्रवेश पर कुछ न कुछ प्रतिबन्ध लगे हैं और उसके निवासी गोरे तो उनको अपमानपूर्वक अपने यहाँ से निकालते रहते हैं । इस दृश्य को देखकर एक बार किसी समाचार पत्र में व्यंग करते हुए लिखा था कि "आज यदि ईसामसीह प्रकट होकर अफ्रीका मे जाये तो एशिया निवासी होने के कारण गोरे लोग

उनको भी यहाँ न आने देंगे और निकाल बाहर करेंगे।" यद्यपि वे उनको चित्रों मे नीली आँखें और भूरे बाल चित्रित करके उनको अपनी जाति का प्रकट करने की चेष्टा करते हैं, पर बाइबिल में स्पष्ट कहा गया है कि वे पैलेस्टाइन के निवासी थे जो सदा से एशिया का ही देश है। इसके अतिरिक्त बाइबिल में ही उस युग की घटनाओं का जो वातावरण दिखाया है, जैसे सूर्य की तीव्र गर्मी की अधिकता, प्यास से व्याकुल होते नर-नारी, कुओं से पानी खींचती हुई स्त्रियाँ आदि, ये सब दृश्य भी एशिया मात्र में ही दिखाई पड़ते हैं।

"गोरे लोगों ने कभी इस बात पर ध्यान नहीं दिया की ईसा ने उनको प्रेम-धर्म का जो उपदेश दिया है और मनुष्य-मात्र को परमात्मा का पुत्र बतलाकर परस्पर परोपकार और उदारता के व्यवहार की जो शिक्षायें दी हैं, वे सब एशियाई धर्मों से ही ग्रहण की गई हैं। यूरोपीय दर्शन और विचारधारा का मूल उद्‌गम यूनान (ग्रीस) रहा है। वहाँ के निवासी अपनी सभ्यता को सर्वोच्च मानते रहे हैं। अन्य देशवासी उनकी निगाह में अर्द्ध-सभ्य अथवा बर्बर थे। उनके मतानुसार यूनानी जो कुछ करते थे वही श्रेष्ठ कर्तव्य था। संसार में और जो कुछ है वह गलत है और उसको नष्ट कर देना चाहिये। इसलिये मानवता के प्रति उनकी सहानुभूति एक दम सीमाबद्ध है। उनकी सभ्यता कला-कौशलमय है। यूनानी मस्तिष्क पूर्णतया इहलोक का चिन्तन करता है। उसे पारलौकिक भावनाओं से प्रेम नही। उनका काव्य भी व्यावहारिक-जगत से प्रेरणा पाता है। उसके देवता भी मानव-प्रकृति वाले, मानवों की तरह साधारण सुख-दु:ख का अनुभव करने वाले हैं। वे सौन्दर्य को प्यार करते हैं, पर उनकी सौन्दर्योपासना, प्राकृतिक शोभा, मनुष्य के बाह्य अवयवों की सुडौलता आदि तक सीमित है। यही यूनान परवर्ती यूरोप का आचार्य था, और इसलिये आज भी यूरोप में उठने वाले नित नये दार्शनिक सिद्धान्त व विचार—आज में यूरोप की वाणी यूनान के अतीत की एक प्रतिध्वनि मात्र है।"

पर एशिया की स्थिति इससे बहुत भिन्न है। यहाँ के भूखण्ड, पर्वत, नदी, जंगल, रेगिस्तान आदि विविधता के भण्डार है। इस विविधता के दर्शन करते और उसमे एकता का दर्शन करते हुए यहाँ के निवासी आन्तरिक भावापन्न हो गये हैं। उनमे भी सौन्दर्योपासना, प्रकृति से प्रेम, अपनी सभ्यता की श्रेष्ठता का भाव आदि बातें पाई जाती हैं, पर वे इनका सम्बन्ध भौतिकता तथा राजनीति से न करके अध्यात्म और धर्म से कर देते है। इसके प्रभाव मे स्थूल जगत की अपेक्षा सूक्ष्म जगत की चिन्ता अधिक करते हैं—इहलोक की अपेक्षा परलोक का ध्यान ज्यादा रखते हैं। यद्यपि वर्तमान सभ्यता के कितने ही उपासक इस प्रवृत्ति को हानिकारक बतलाते है और आक्षेप करते हैं कि इस दुनिया की अपेक्षा परलोक और स्वर्ग की चिन्ता करने से ही भारतवासी और अन्य एशियाई देशों के निवासी भी उन्नति की दौड़ में पिछड़ गये और उनको अल्प संख्यक यूरोपियनों ने अपने अधीन कर लिया।

यह आक्षेप कुछ अंशो में सत्य हो सकता है। पारलौकिक विचारों में विकृति आ जाने पर मनुष्य में भाग्यवाद, उद्योग की कमी, निष्क्रियता का दोष आदि किसी मात्रा मे उत्पन्न हो सकते हैं, पर भौतिकवाद के दोष इससे कहीं अधिक घातक होते हैं। उसमें जब विकृति आती है तो मनुष्य स्वार्थ में डूबकर नर-पशु बन जाता है और उसकी सद्‌प्रवृत्तियाँ, परोपकार, उदारता आदि के गुण नष्ट होकर वह दूसरों को मारने खाने में ही बड़प्पन अनुभव करता है। पहले तो वह गैर लोगों की दूरवर्ती देशो की अपनी दुर्दमनीय लालसा का शिकार बनाता है, पर जब संसार में अधिक पैर फैलाने की गुंजायश नही रहती तो आपस में मरने-कटने लगता है।

यही दृश्य आज यूरोप, अमेरिका के विभिन्न देशों में दिखाई पड़ रहा है और वे 'महाभारत' की तरह पारस्परिक संघर्ष द्वारा ही अपना अन्त कर लेने की तैयारी में लगे हुए हैं। भौतिकता, आध्यात्मिकता की अपेक्षा निश्चय ही अधिक परिवर्तनशील और क्षणिक होती है। इसलिये जहाँ भौतिकवादी अपने उद्योग में असफल होकर प्रायः ससार से विदा ही हो जाते हैं, वहाँ आध्यात्मिक भावापन्न व्यक्ति गिरकर फिर उठते हैं और अपने दूरवर्ती लक्ष्य की ओर बढ़ने लगते हैं। महात्मा ईसा भी इन तथ्यों और सत्य सिद्धान्तों को खूब जानते थे और अपनी जाति मे इन्हीं के प्रचार के निमित्त उन्होंने आत्म बलिदान कर दिया।

## ईसा की अध्यात्म-साधना

यद्यपि ईसा की रुचि बाल्यावस्था मे ही धर्म और अध्यात्म की तरफ थी, तो भी जब तक नियमित रूप

से साधना न की जाये तब तक आध्यात्मिक शक्ति का समुचित विकास नहीं हो सकता । 'बाइबिल' में ईसा की इस साधना का हाल बहुत संक्षेप में ही मिलता है । उसमें कहा गया है कि जब ईसा बारह वर्ष के थे तो अपने माता-पिता के साथ वर्ष का सबसे बड़ा धार्मिक पर्व मनाने के लिये येरूशलम नगर में गये और वहाँ उन्होंने कुछ विद्वानों से धार्मिक प्रश्नों पर बातचीत भी की थी । इस घटना का वर्णन करते हुए एक ईसाई लेखक की पुस्तक 'देहधारी ईश्वर' में लिखा है—

"पर्व के समय पवित्र नगर येरूशलम यात्रियों से भर गया और जब पर्व समाप्त हुआ तो यात्री अपने-अपने गाँव तथा शहरों की ओर जाने के लिये लौटे । मार्ग में बहुत भीड थी और उसी मे ईसा के माता-पिता यूसुफ और मरियम भी थे । उन्होंने यह सोचकर कि यीशुजी अन्य बालकों के साथ होंगे यह जानने की चेष्टा नहीं की कि वे वास्तव में भीड़ में हैं भी या नहीं । पर जब रात्रि का समय आ पहुँचा तो वे उनको इधर-उधर ढूँढ़ने लगे । जब कहीं उनको न पाया तो वे घबरा उठे और यीशुजी को ढूँढ़ते हुए येरूशलम की तरफ लौटे । वे एक-दूसरे को दोष दे रहे थे । यह सब अपनी ही लापरवाही के कारण हुआ था, यह सोचकर उनके हृदय भय तथा वेदना से काँप उठते थे ।

"येरूशलम पहुँच कर उन्होने गली-कूचों में सब जगह खोज की, पर कहीं उन्हे यीशुजी नहीं मिले । अन्त में कुछ धुँधली-सी आशा रखते हुए वे मन्दिर के समीप आ पहुँचे । मन्दिर में प्रवेश करते ही उन्होंने देखा कि बड़े-बडे विद्वानों के साथ उनका पुत्र भी बातें कर रहा है । उन्होंने देखा कि बालक यीशु उन विद्वानों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर ही नही दे रहे बल्कि स्वयं उन विद्वानो से प्रश्न पूछ रहे हैं और ये समस्त प्रश्न पवित्र-शास्त्र तथा धार्मिक व्यवस्था के सम्बन्ध मे हैं । यह दृश्य देखकर माता मरियम का हृदय उमडने लगा और उससे रहा नही गया । वह आगे जाकर यीशु से पूछने लगी—"बेटा तुमने हमारे साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया ? देख, तेरे पिताजी और मै तुम्हे ढूँढ़ते हुए यहाँ तक आये हैं ।" यीशु जी ने अपनी माता की ओर शान्त, निश्चल भाव से देखा और कहा—"आप मुझे क्यो ढूँढ़ रहे थे ? क्या आपको यह मालूम नही था कि मुझे अपने 'पिता' के भवन में ही होना है ।"

"परन्तु उन्होंने देखा कि उनकी बात का रहस्य मरियम की समझ में नहीं आया । वह यही समझ रही है कि उनका पिता यूसुफ ही है और यह भूल गई है कि उनका वास्तविक पिता परमेश्वर है । उस अवसर पर उन्होंने बात को बढ़ाना ठीक न समझा और एक आज्ञाकारी बालक के समान अपने गाँव नजेरथ को लौट आये ।"

इस वर्णन से यह प्रकट होता है कि अनेक महापुरुषों की तरह ईसा का झुकाव आरम्भ से ही धर्म और आध्यात्मिक विषयो की तरफ था और वे उसकी जिज्ञासा करते रहते थे । पर आगे चलकर उन्होंने किस प्रकार ज्ञान को विकसित किया जिससे तीस वर्ष की आयु मे वे एक महान धर्मोपदेशक के रूप में अपनी जाति वालों के सम्मुख प्रकट हुए और कुछ ही समय मे सर्वत्र एक धार्मिक विप्लव उत्पन्न कर दिया, इसका कोई वर्णन 'बाइबिल' में नही मिलता । उसमें एकाध जगह केवल इतना ही जिक्र किया है कि 'आगामी अठारह वर्ष तक वे सामान्य जीवन बिताते रहे और आसपास की पहाड़ियो मे एकान्त में बैठकर भगवान की उपासना करते रहे ।'

## क्या ईसा भारतवर्ष आये थे ?

पर ईसा जैसे तेजपुंज व्यक्ति का इतने समय तक छिपा हुआ पड़ा रहना सम्भव था । वे ऐसे सत्यान्वेषी थे कि जहाँ रहते वहीं सब लोगों का ध्यान आकर्षित कर लेते । उनमे उसी आयु में परमात्मा के स्वरूप और अन्य आध्यात्मिक विषयो को पूर्ण रूप से जानने की प्रवृत्ति जागृत हो गई थी और उसके लिये वे इस विषय के ज्ञाताओं से वार्तालाप करते रहते थे । इस सम्बन्ध में आर्थर लिली नामक अंग्रेज विद्वान ने अपनी 'इण्डिया इन प्रिमटिव क्रिस्चियनिटी" (प्राचीन ईसाई-धर्म मे भारत का स्थान) नामक पुस्तक में लिखा है "ईसा 'एसेन' सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गये थे । ये 'एसेन' भारतीय योगियो की तरह परमात्मा का सान्निध्य और आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने को साधना किया करते थे और इसके लिये एकान्त स्थानों में बैठकर ध्यान-मग्न हो जाते थे ।"

(पृष्ठ २००)

एक अन्य प्रसिद्ध लेखक आर्थर रेमन ने भी लिखा है—"भाषाशास्त्र की विवेचना करने वालों ने 'एसेन' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे कोई ठीक मत प्रकट

नहीं किया है। जिस प्रकार 'एसेन' सम्प्रदाय की उत्पत्ति का कोई पता नहीं लगता उसी प्रकार 'एसेन' शब्द का मूल स्वरूप भी ज्ञात नहीं हो सका। पर ये 'एसेन' गुरु लोगों (भारत के आध्यात्मिक ब्राह्मण आत्म-ज्ञानी) मिलते हुए होते थे। पर एक भारतीय विद्वान ने खोज करके बतलाया है कि 'एसेन' शब्द संस्कृत के 'ईशान' से निकला है जो भगवान शिव का नाम है। शिवजी के उपासक को 'ईशानी' कहा जाता है और उसी से 'एसेन' की उत्पत्ति हुई है।

पर ईसा की आध्यात्मिक साधना के विषय पर अधिक प्रकाश डॉ. नोटोविच की प्रसिद्ध पुस्तक "अननौन लाइफ ऑफ जैसस" (ईसामसीह का अज्ञात जीवन चरित्र) से पडता है, जिसके प्रकाशित होते ही अमेरिका के ईसाइयों मे हलचल मच गई थी और अन्त मे जिसे अमेरिकन सरकार ने जब्त कर लिया था। यह पुस्तक डॉ. नोटोविच को तिब्बत के एक मठ में प्राप्त हुई थी और उसी का उन्होने अंग्रेजी अनुवाद करके अमेरिका में प्रकाशित कराया था। यद्यपि इस पुस्तक का विषय बहुत विवादास्पद है, क्योंकि ससार भर में प्रचलित और शक्तिशाली ईसाई मजहब के नेता इस बात को कैसे मान सकते हैं कि उनके आराध्य ईसा मसीह 'भारतीय गुरुओं' के शिष्य थे। फिर भी तिब्बत में इस पुस्तक का होना सत्य ही है और 'श्रीराम कृष्ण वेदान्त सोसाइटी' के सदस्य तथा स्वामी विवेकानन्द जी के सहकारी स्वामी अभेदानन्द जी ने स्वयं इसको तिब्बत के मठ में देखा है। स्वामी अभेदानन्द तथा तिब्बती लामाओं (धर्म गुरुओं) की सम्मति मे यह पुस्तक ईसा को सूली दिये जाने के ३-४ वर्ष बाद ही लिखी गई थी।

## भारतीय योगियों से सम्पर्क

उपरोक्त पुस्तक की बाते कहाँ तक सच है यह बात तो हम नहीं कह सकते, पर यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि बौद्ध धर्म का उदय होने पर महाराज अशोक ने समस्त एशिया में बौद्ध-प्रचारक भेज कर उसका सन्देश प्रसारित कराया था। उस समय तक ईसाई और मुसलमान धर्मों की उत्पत्ति नहीं हुई थी और बौद्ध धर्मोपदेश अफगानिस्तान, ईरान, अरब होते हुए एशिया की अन्तिम पश्चिमी सीमा तक पहुँच गये थे, जहाँ कि पैलेस्टाइन का देश अवस्थित है। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर वहाँ के कुछ साधक भी भारतवर्ष आने लगे थे और बौद्ध तथा ब्राह्मण गुरुओं से आध्यात्मिक साधना की जानकारी प्राप्त करने लगे थे। सम्भवतः 'एसेन' सम्प्रदाय ऐसे ही साधकों ने स्थापित किया था जो कि ईसा के समय में कुछ अप्रकट रूप से अपना काम कर रहा था, क्योंकि यहूदी जाति अपने धार्मिक सिद्धान्तो में सदा से कट्टर होती आ- है और वह अपने मजहब पर किसी बाहरी धर्म व प्रभाव पड़ना सहन नहीं कर सकती।

ईसा मसीह भी अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा की पूर्ति के लिये हिन्दी 'एसेन' लोगों से परिचित हो गये थे और उनकी साधना में भाग लेने लगे थे। यह स्वयं उपरोक्त अंग्रेज लेखकों ने कहा—वे यहूदी समाज की कट्टरता के कारण ऐसा अप्रकट रूप से ही करते थे। इसलिये यह असम्भव नहीं कि अपनी इस जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिये उन्होने विदेशों की यात्रा की हो और उसी प्रयत्न में वे भारतीय योगियों के सम्पर्क मे आये हो। कुछ भी हो डॉ. नोटो विच की पुस्तकों का साराश अत्यन्त संक्षेप मे हम नीचे दे रहे है, जिससे पाठक उसकी वास्तविकता के सम्बन्ध में स्वय ही कुछ अनुमान लगा सकेंगे—

"ईसा जब तेरह वर्ष के हो गये तो उनके ज्ञान और विद्या से प्रभावित होकर उस स्थान के कितने ही धनवान व्यक्ति उनके साथ अपनी कन्याओ का विवाह करने के अभिलाषी हो गये। पर ईसा का ध्यान विवाह की तरफ बिल्कुल न था। इसलिये जब विवाह चर्चा ने जोर पकड़ा तो वे अपने पिता के घर से भाग खड़े हुए। उनकी इच्छा हुई कि वे उस समस्त आत्म-ज्ञान और शक्ति को प्राप्त करें जिसे प्राचीन 'बुद्ध' 'ज्ञानी' प्राप्त कर चुके है। वे चौदह वर्ष की आयु मे सौदागरो के एक दल के साथ सिन्ध मे आ पहुँचे। वहाँ के जैन अनुयायी उनकी सौम्य आकृति से बड़े आकर्षित हुए और उनसे अपने यहाँ रहने की प्रार्थना की। पर ईसा ने इसे स्वीकार न किया और आगे बढते हुए जगन्नाथ पुरी तक पहुँच गये। वहाँ उन्होने कई वर्ष तक ब्राह्मण गुरुओं से वेद और शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की। उसके पश्चात् उन्होने राजगृह, बनारस आदि पवित्र स्थानों की यात्रा करने मे ६ वर्ष व्यतीत किये और कपिलवस्तु तक पहुँच गये। बौद्ध साधुओं के साथ उन्होंने बौद्ध-शास्त्रों का अध्ययन भी किया।

उसके पश्चात् वे नेपाल और हिमालय होते हुए ईरान पहुँच गये । वहाँ से अपने देश में वापस आये और अपने जाति भाइयो मे उस आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार करने लगे जो उन्होने इतने वर्ष के अध्ययन और स्वानुभव मे प्राप्त किया था ।"

ईसा की भारत यात्रा और यहाँ रहकर योग की शिक्षा प्राप्त करने के सम्बन्ध में और भी कितनी बातें कही जाती हैं । कुछ वर्ष पूर्व कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र 'स्टेट्समैन' मे श्री सुरथ कुमार सरकार ने एक लेख छपाया था जिसमें बताया गया था कि विन्ध्याचल के किसी मठ में रहने वाले नाथ योगियों के पास 'नाथ नामावली' नाम की प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक है, जिसमें 'ईशनाथ' के नाम से ईसा की समस्त जीवनी, सूली का दण्ड होने तक की, वर्णित है । इसी प्रकार काश्मीर और अफ़गानिस्तान की सीमा पर एक 'ईसा-तलावा' नाम का तीर्थ स्थान है जहाँ अब भी प्रतिवर्ष एक मेला लगता है और यात्री महात्मा ईसा की स्मृति मे दान पुण्य करते हैं । हिन्दी में भी 'भारतीय शिष्य ईसा' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है जिसमे डॉ. नोटोविच की पुस्तक का अनुवाद तथा अन्य बातें दी गई हैं ।

ईसा की आध्यात्मिक साधना के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसमे हमारा आशय यही है कि इससे पाठक ईसा के उद्देश्य की महानता का कुछ अनुमान कर सकें । हमको तो उपरोक्त घटनाओं से यही प्रतीत होता है कि ईसा के जीवन का लक्ष्य सच्चे ज्ञान और धर्म का अन्वेषण करना ही था और अपने देश—काल के अनुसार वे इसी ज्ञान का जनता मे प्रचार करते थे । उन्होंने जान लिया था कि उनकी भौतिकता-प्रधान जाति में जब तक आध्यात्मिक भावों का समावेश नही किया जायेगा तब तक वह उच्च जीवन को प्राप्त नही कर सकती । यद्यपि वे स्वयं जन्म से ही आध्यात्मिक शक्ति के भण्डार थे तो भी उन्होंने उसको नियमित और विधिवत् रूप देने के लिये योग्य गुरुओ से शिक्षा प्राप्त की थी यद्यपि ईसा की भारत यात्रा की बात पर अधिकाश विद्वान अब भी विश्वास करने को तैयार नही तो भी यदि उन्होने पूर्वीय देशो का भ्रमण करके आध्यात्मिक-विद्या का अनुभव प्राप्त किया हो तो इसमे न तो कुछ असम्भव है और न ईसाइयों की निगाह से कोई हीनता की बात है । भगवान कृष्ण पूर्ण अवतार और शक्ति के भण्डार होते हुए भी वंश की प्रथानुसार बहुत कम प्रसिद्ध 'सन्दीप ऋषि' के शिष्य बने थे । ऐसी दशा मे ईसा ने यदि सत्य की खोज के लिये बौद्ध साधुओ से, जो उस समय समस्त एशिया में फैले हुए थे, ज्ञान-चर्चा की हो और भारतीय योग-विधि से साधना की हो तो यह उनके महान आत्मा होने का ही प्रमाण हो सकता है ।

## क्या सचमुच ईसा कभी भारत आये थे ?

आदिकाल से ही देवभूमि भारत विशेषकर देवात्मा हिमालय ऋषि, मुनियों, योगियों एवं अवतारी महापुरुषो की तपस्थली रहा है । भगीरथी से लेकर पाण्डवों तक की कठिन तपस्याये तथा उनके स्वर्गारोहण की कहानी यहीं सम्पन्न हुई थी । वेदव्यास से लेकर आचार्य शंकर ने इसी हिमालय की गोद मे बैठकर ज्ञान-साधना की थी । गुरुनानक, कबीर, समर्थ गुरु रामदास, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ आदि महामानवों ने सनातन धर्म को विश्वव्यापी बनाने की विचारणा तपोभूमि हिमालय की गोद मे बैठकर ही बनाई थी । अशोक, चन्द्रगुप्त, कालीदास, रवीन्द्रनाथ टैगोर, सुभाष चन्द्र बोस, महात्मा गाँधी, दयानन्द, राजा राममोहन राय, देशबंधु चितरंजन दास आदि महापुरुषों ने भी इस तुषार मंडित हिमक्षेत्र में कहीं न कहीं अपना आसन जमाया था । राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा जैसे अवतारी महापुरुषों ने देवात्मा हिमालय मे ही कभी तपस्या की थी और समस्त संसार का मार्ग दर्शन किया था ।

हजरत ईसा के बारे मे भी ऐसे अनेकों प्रमाण विद्यमान हैं कि उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग 'धरती का स्वर्ग' कहे जाने वाले हिमालय की घाटी-कश्मीर मे व्यतीत किया और तपस्यारत रहते हुए यही से स्वर्गारोहण किया ।

भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व द्वितीय-अध्याय के श्लोक १७ से ३२ तक ऐसा ही उल्लेख है जिसमे ईसा मसीह के लम्बे समय तक भारत के उत्तराखण्ड मे निवास करने और तपस्यारत रहने का वर्णन है। उस समय उत्तरी भारत में शालिवाहन का शासन था । एक दिन वे हिमालय गये जहाँ लद्दाख की ऊँची पहाड़ियों पर उन्होंने एक गौरवर्ण दिव्य पुरुष को ध्यान अवस्था मे तपस्या करते हुए देखा । समीप जाकर उन्होंने

उनसे पूछा—आपका नाम क्या है और आप कहाँ से आये हैं ? उस दिव्य पुरुष ने उत्तर दिया—"मेरा नाम ईसा मसीह है । कुँवारी माँ के गर्भ से उत्पन्न हुआ हूँ । आस्थाहीनों में आस्था तथा आशा का संचार करने वाला तथा निरन्तर सत्य की खोज मे रत ईश्वर का पुत्र हूँ और विदेश से आया हूँ जहाँ बुराइयो का अन्त नहीं है । उन आस्थाहीनों के बीच मैं मसीहा के रूप में प्रकट हुआ हूँ । जैसे कि—

'म्लेच्छदेशे मसीहोऽहं समागत ॥२५॥
...ईसा मसीह इति च ममनाम प्रतिष्ठतम्' ॥३१॥

इस श्लोक से स्पष्ट है । इस तरह ईसा ने अपने जीवन के उद्देश्य, आविर्भाव एवं इसराइल से भारत आगमन का विवरण दिया ।

इस सन्दर्भ में आधुनिक खोजकर्ताओं ने जो तथ्यपूर्ण प्रामाणिक विवरण खोज निकाले हैं उनसे भी उक्त पौराणिक कथन की पुष्टि होती है । म्यूनिख—जर्मनी के सुविख्यात धर्मशास्त्री रॉबर्ट क्लाइट ने अपना सम्पूर्ण जीवन ईसाई धर्म के अनुसंधान में व्यतीत किया है । उनके अनुसार बाइबिल के न्यू टेस्टाइमेण्ट में ईसा के जीवन का जो वृत्तान्त मिलता है उसमें ईसा के १३ से ३० वर्ष की अवस्था का वर्णन रिक्त है । ३० वर्ष की उम्र में जब उन्होंने सन्त जॉन द्वारा बपतिस्मा ग्रहण किया तभी से उल्लेख मिलता है । लूका २/५२ में उनकी बौद्धिक क्षमता एवं महानता का यही से वर्णन मिलता है । इसी अध्याय में ईसा और उनकी माता मरियम का एक संवाद आता है कि ईसा कही गायब हो गये थे और तीस वर्ष तक उनका कुछ पता न लगा । क्लाइट के अनुसार १३ वर्ष की अवस्था में वे भारत आ गये थे तथा ब्राह्मण और बौद्धों से धार्मिक ज्ञान प्राप्त किया । ईसा पर वेद एवं उपनिषद की शिक्षाओं का गहरा प्रभाव पड़ा । यही कारण है कि जब वे भारत में संव्याप्त वर्ण व्यवस्था पर आधारित जाति-पाँति व्यवस्था पर प्रहार करने लगे तो ब्राह्मणों-पुरोहितों से उनका मतभेद हो गया । वे वहाँ से चलकर हिमालय के उत्तरी भाग नेपाल आ गये और वही उन्होंने बौद्ध-दर्शन का अध्ययन किया और तन्त्र साधनायें सीखी ३० वर्ष तक वह यही रहे, तत्पश्चात् वापस इसराइल लौट गये और वहाँ अपनी शिक्षाओ का प्रचार शुरू किया। जिसे बाद मे उनके शिष्यों—मैथ्यू, मार्क, ल्यूक और जॉन ने लिपिबद्ध किया जो 'न्यू टेस्टामेण्ट' मे वर्णित है ।

दसवीं शताब्दी के प्रख्यात इतिहासवेत्ता शैक-अल-सईद-अस सादिक ने अपनी ऐतिहासिक कृति "इकमाल-उद्-दीन" में लिखा है कि ईसामसीह ने दो बार भारत की यात्रायें कीं । पहली बार वे १२-१३ वर्ष की उम्र में भारत आये थे और लगभग १८ वर्ष रहे । दूसरी बार सूली पर चढ़ाये जाने और तत्पश्चात् पुनर्जीवित होने के बाद वे युजाआशफ के नाम से लम्बे समय तक कश्मीर में रहे थे और वही पर शरीर त्यागा था । उनकी यह पुस्तक दुबारा ईरान से प्रकाशित हुई थी । विश्वविख्यात मनीषी मैक्समूलर ने भी "इकमाल-उद्-दीन" नामक इस पुस्तक का जर्मन भाषा मे अनुवाद किया और उसे प्रकाशित कराया था ।

कश्मीर के सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता प्रोफेसर फिदाहुसैन ने इस सम्बन्ध में गहन खोजबीन की है । अपनी पुस्तक "फिफ्थ गॉस्पल" में उन्होंने लिखा है कि बचपन में जब प्रथम बार ईसा भारत आये थे तब यहाँ के हिन्दू तथा बौद्धधर्म का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया था और उनसे सम्बन्धित तीर्थस्थलों की यात्रायें की थीं, साथ ही लद्दाख एव कश्मीर की घाटी में कठोर साधनायें की थीं । इस समय उत्तरी भारत में राजा शालिवाहन का राज्य था । फिलीस्तीन (इसराइल) की दुखद घटनाओं के कारण दुबारा जब वे भारत आये तब यहीं कश्मीर मे बस गये और मृत्युपर्यन्त यहीं रहे । अपनी उक्त कृति मे हुसैन ने ईसा के कश्मीर आने, नाम बदल कर मृत्युपर्यन्त ठहरने तथा उनके मकबरे आदि के बारे में विस्तारपूर्वक लिखा है । इसी तरह सुप्रसिद्ध पादरी एलिजाबेथ क्लार ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि ईसा भारत आये थे और तिब्बत में रहकर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया और तन्त्र साधनायें सीखीं । एक अन्य पाश्चात्य विद्वान ब्रायन एलबर्न ने अनेकों प्रमाण प्रस्तुत करते हुए बताया है कि ईसा ने कश्मीर मे रहकर आयुर्वेद का विधिवत् अध्ययन किया था । ईसा के समकालीन प्रथम सदी के एक रोमन विद्वान द्वारा लिखी एक पुस्तक का उदाहरण देते हुए उन्होंने लिखा है कि उस पुस्तक में ईसा के भारत आने, आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण करने एवं हिमालय मे तप साधना करने का स्पष्ट उल्लेख है ।

"द अननोन लाइफ ऑफ दी जीसस क्राइस्ट" नामक अपनी अनुसंधानपूर्ण कृति में रूस के ख्याति प्राप्त इतिहासवेत्ता निकोलाय अलेक्साद्रोविच नोतोविच ने ईसा के भारत-आगमन, यहाँ के विभिन्न स्थानो के भ्रमण तथा हिमालय में तप एवं ज्ञान साधना सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्यों की प्रामाणिक जानकारी दी है । उन्होने लगातार चालीस वर्षों तक खोज करके उन प्रमाणों को संकलित किया है जो ईसा-मसीह के अज्ञातवास के दिनों का विवरण प्रस्तुत करते हैं । सन् १८८७ मे अपने भारत यात्रा के समय उन्होंने लद्दाख एवं तिब्वत की राजधानी ल्हासा की यात्रा की । ल्हासा के सबसे बड़े बौद्ध मठ-'हेमिन' में उन्हें ताड़ पत्र पर पाली भाषा मे लिपिवद्ध प्राचीन दुर्लभ ग्रन्थ पढ़ने को मिले । दुभाषियों की सहायता से उन्होंने उन पुस्तको का अध्ययन किया और पाया कि वह ईसा के जीवन से सम्बन्धित हैं । उनमे उल्लेख है कि सुदूर देश इसराइल में ईसा नामक एक दिव्य बच्चे का जन्म हुआ । १३-१४ वर्ष की उम्र में वह कुछ व्यापारियों के साथ भारत के सिन्ध प्रान्त में पहुँचा और पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने की बुद्ध की शिक्षाओं का अध्ययन करता रहा । इसके बाद उसने पाँच नदियों के प्रान्त-पंजाब की यात्रा की और कुछ दिन वहाँ जैन सतों के साथ व्यतीत किया । तदुपरान्त वह जगन्नाथपुरी पहुँचे, जहाँ पुरोहितों ने उनका भव्य स्वागत किया । वहीं रहकर ईसा ने वेद-उपनिषद और मनुस्मृति का अध्ययन किया और अपनी भाषा मे उनका अनुवाद किया और वहीं पिछड़ी जातियो एवं शूद्रों का प्रशिक्षण करने लगे । इस प्रकार उन्हें उन पुरोहितों को कोप भाजन बनना पड़ा जो यह समझते थे कि उनकी स्थिति और शक्ति का अतिक्रमण किया जा रहा है । ६ वर्ष जगन्नाथपुरी में व्यतीत करने के बाद वे राजगिरि, बनारस तथा अन्य कई पवित्र तीर्थस्थलों का भ्रमण करते हुए हिमालय चले गये । नेपाल में वह ६ वर्ष तक रहे और बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करते रहे अन्त में कई देशो की यात्रा करते हुए जगह-जगह उपदेश देते हुए पश्चिम की ओर चले गये और अन्ततः पर्शिया होते हुए फिलिस्तीन-इसराइल पहुँच गये ।

सन् १६२२ में रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी अभेदानन्द भी तिब्वत के उस 'हेमिस मठ' में गये थे जहाँ ईसा के जीवन वृत्तान्त से सम्बन्धित पाण्डुलिपियाँ रखी हुई हैं । उन्होंने उसे विवरण का अनुवाद भी किया था जो बाद में बँगला भाषा में 'कश्मीरी ओ-तिव्वती' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई थी । इसके वाद रूस के सुप्रसिद्ध मनीषी निकोलस रोरिख ने सन् १६२५ में तिव्वत की यात्रा की और हेमिस के मठ में रखी उन पाण्डुलिपियों का अध्ययन किया जो ईसा के जीवन के अज्ञातवास से सम्बन्धित हैं । अपने अध्ययन एवं खोज को उन्होने 'द हर्ट ऑफ एशिया' नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया । अमेरिकी विद्वान लेवी ने भी अपनी पुस्तक "दी एक्वैरियन गॉस्पल ऑफ जीसस क्राइस्ट" के छठे एवं सातवें भाग में ईसा मसीह की दो बार की भारत यात्रा का वर्णन् किया है । इसमें ईसा द्वारा दुर्गम हिमालय के कुमाऊँ क्षेत्र से लेकर तिब्बत तक की यात्राओं का नर्णन है जहाँ उन्होंने ल्हासा के बौद्ध मन्दिरों मे रखे आध्यात्मिक गुरुओं की रचनाओं, पाण्डुलिपियों का अध्ययन किया । इसके बाद वे लाहौर होते हुए सिंध प्रान्त पहुँचे और वहाँ से ३० वर्ष की आयु में वापस फिलिस्तीन चले गये । डॉ. स्पेन्सर कृत "मिस्टीकल लाइफ ऑफ जीसस" में ऐसे अनेको प्रमाणों का संकलन है जिसमे ईसा के भारत आने, वैदिक एवं बौद्ध साहित्य का अध्ययन करने, उच्चस्तरीय साधना सीखने एवं हिमालय में तपस्या करने का उल्लेख है । ईसा की "सरमन आन दी माउण्ट" नामक धर्मनीति भी इस बात का परिचायक है कि उन्होने हिन्दू और बौद्ध धर्मों का गहन अध्ययन किया था ।

बाइविल के 'न्यू टेस्टामेण्ट' के मत्ती, मरकुस, लूका, जॉन, यूहन्ना आदि अंजीलों के अन्तिम काण्डों मे ईसा के सूली पर चढ़ाये जाने, दफनाये जाने के बाद कब्र से गायब होने तथा पुनर्जीवित होने का वर्णन है । उनमे उल्लेख है कि पुनर्जीवन के बाद सबसे पहले उनमें मरियम मगदलीनीनी एवं मरियम को दर्शन दिया और उनसे अपने शिष्यों को गलीलिया नामक पर्वत पर मिलने को कहा । येरूशलम से सात मील दूर (१ मील = १.६१ किलोमीटर) इम्माऊस में भी वे कुछ व्यक्तियों से मिले थे । गलीलिया पर्वत पर ग्यारह प्रमुख शिष्यो से मिलने के पश्चात् वे उन्हें वैतनिय्याह तक ले गये और हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया तथा

अलग हो गये । शिष्य तो उन्हें प्रणाम करके वापस येरूशलम लौट गये, पर ईसा कहीं अन्तर्ध्यान हो गये ।

अनुसन्धानकर्त्ता मनीषियों ने उन लुप्त प्रायः कड़ियों को अब खोज निकाला है जिनमे प्रमाणित होता है कि पुनर्जीवित होने और शिष्यों से मिलकर उन्हें कर्मक्षेत्र मे उतरने का आदेश देने के पश्चात् ईसा कई देशो की यात्रा करते हुए दूसरी बार भारत आ गये थे और कश्मीर को अपना स्थायी निवास बनाया था । लोगों की उन पर श्रद्धा थी । ८० वर्ष से अधिक की परिपक्व अवस्था मे वही पर उन्होंने अपना पंचभौतिक शरीर त्यागा था, जिसके अनेकों प्रमाण अभी भी वहाँ विद्यमान हैं ।

जर्मनी के मूर्धन्य मनीषी होल्गर केस्टर्न ने इस सन्दर्भ मे गहराई से खोजबीन की है। इसराइल, मध्य पूर्व देशों, अफगानिस्तान और भारत सहित उन सभी ऐतिहासिक स्थलों की उन्होंने यात्रा की जो किसी न किसी रूप में ईसा से सम्बन्धित हैं । उन्होने अपनी और अपने पूर्ववर्ती खोजकर्ताओं द्वारा इस सम्बन्ध में की गई प्रामाणिक खोजों को "जीसस लिव्ड इन इण्डिया" नामक पुस्तक मे सविस्तार प्रकाशित किया है, जिसमें ईसा के सूली पर चढ़ाये जाने से पहले एवं बाद के अज्ञात जीवन की सम्पूर्ण जानकारी सग्रहीत है । उसके अनुसार सन् ६ मे लगभग १३ वर्ष की उम्र में ईसा व्यापारियों के एक वर्ग के साथ पहली बार भारत आये थे और लगभग १६-१७ वर्ष तक पुरी एवं तिब्बत के बौद्ध विहारों में अध्ययनरत रहे । वैदिक साहित्य एवं बौद्ध दर्शन के अध्ययन के साथ-साथ उन्होंने उच्चस्तरीय तप साधनायें भी की थी । यही कारण था कि जब सन् ३० से ३० वर्ष की आयु में वापस येरूशलम पहुँचे तो भौतिक सिद्धियों और आत्मिक विभूतियों से सम्पन्न महामानव बनकर पहुँचे । उनकी इस क्षमता से प्रभावित होकर लोगों की भारी भीड़ सदैव उन्हें रहती थी । अपने मिशन का प्रचार करते हुए तीन वर्ष से कुछ अधिक ही दिन बीते थे कि विरोधियों ने उन पर ईश निन्दा का अभियोग लगाकर सूली पर चढ़ा दिया और घोषणा कर दी गई कि ईसा की मृत्यु हो गई ।

ईसा को जिस कब्र में दफनाया गया था, देखने पर वह खाली मिली चमत्कार स्वरूप वे जीवित होकर गलीलिया (गलीली, पर्वत पर चले गये थे जैसा कि बाइबिल में उल्लेख है कि वहाँ पर शिष्यों से मिलने के बाद वे लुप्त हो गये । सन् ३४ में उनकी भेट डैमस्कस (दमिश्क) में पॉल से हुई और वह उनका शिष्य बन गया । इसके बाद वे कुछ दिन निसबिस-तुर्की में ठहरे और ईरान सहित आसपास के देशों में उपदेश करते रहे, तदुपरान्त तक्षशिला होते हुए कश्मीर आ गये और वहीं पर ८० वर्ष की उम्र में शरीर त्यागा, ऐसा केस्टर्न का मत है ।

सुप्रसिद्ध कानूनविद् अलहज ख्वाजा नजीर अहमद ने भी अपनी पुस्तक "जीसस इन हेवन आन अर्थ" में लिखा है कि ईसा ने भारत में न केवल अपने यौवन के १७-१८ वर्ष अध्ययन एव साधना में बिताये थे, वरन् सूली पर चढ़ाये जाने के बाद पुनर्जीवित होकर दूसरी बार भारत आ गये थे और कश्मीर में रहने लगे थे । वृद्धावस्था में यहीं पर उनका स्वर्गवास हुआ था । उनके अनुसार स्वयं मूसा भी कभी कश्मीर आये थे ।

पर्शिया के सुविख्यात इतिहासवेत्ता मीरकावन्द ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि पुनर्जीवन के बाद ईसा डैमस्कस चले गये । जिस स्थान पर वे लोगों को उपदेश दिया करते थे । वह "मायौम-इ-ईसा" के नाम से जाना जाता है और डैमस्कस से ५ कि. मी. दूर स्थित है । ईसा को वहाँ ठहरे हुए कुछ ही दिन बीते थे कि तुर्की में निसबिस के प्रशासक ने उन्हे अपनी चिकित्सा के लिये बुला लिया । ईसा ने पहले तो अपने एक शिष्य-थॉमस को उसके पास भेजा जिसके उपचार से ही बादशाह ठीक हो गया । पीछे वे भी निसबिस पहुँच गये । इमा-बू-जफर मोहम्मद ने अपनी कृति "तफसीर-इब्न जरीर एत-तबरी" मे लिखा है कि यह घटना सन् ३५ के बाद की है । इसके पश्चात् वे जगह-जगह घूमते और उपदेश करते रहे ।

सूली पर चढ़ाये जाने एवं पुनर्जीवित होकर अन्यत्र चले जाने के बाद उनका उपचार जड़ी-बूटी द्वारा किये जाने का उल्लेख तिब्बत हेमिस मठ में रखे दस्तावेजों में सुरक्षित है । इसकी पुष्टि करते हुए नोतोविच ने अपनी कृति "द अननोन लाइफ ऑफ दी जीसस क्राइस्ट" में कहा है कि स्वस्थ होने के पश्चात् ईसामसीह ने तक्षशिला होते हुए दूसरी बार भारत मे प्रवेश किया । उन दिनों बृहत्तर भारत की सीमायें ईरान और अफगानिस्तान तक फैली हुई थीं । तुर्की और सीरिया के मध्य 'निसबिस' (नुमायबिन) को छोड़कर वे सन् ४९-५० में तक्षशिला पहुँचे थे वहीं इनकी भेंट

इण्डो-पर्शियन बादशाह गुन्दाफर से हुई । इससे पूर्व उन्होंने ईरान, पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान की यात्रायें की थीं और जगह-जगह उपदेश दिये थे । ईसा के पट्टशिष्य थॉमस ने अपने संस्मरण में इस बात की पुष्टि की है कि वह ईसा के साथ तक्षशिला में राजा गुन्दाफर के यहाँ ठहरा था । इससे पहले ईसा ने उसे भारत जाने का आदेश दिया था, पर थॉमस के इन्कार करने और यह कहने पर कि वह यहूदी है और भारतवासियों को सत्य की शिक्षा कैसे दे सकता है ? ईसा ने उसे इब्बन नामक एक दक्षिण भारतीय व्यापारी के हाथों इसलिये बेच दिया ताकि इसी बहाने वह भारत पहुँच जाये । वस्तुतः इब्बन राजदा गुन्दाफर का एक कर्मचारी था जिसे एक वास्तुशिल्पी ढूँढ़ लाने के लिये नियुक्त किया गया था । इस तरह थॉमस राजदरबार में पहुँच गया । वहाँ उसे एक भव्य महल बनवाने के लिये एक बड़ी धनराशि दी गई जिसे उसने जरूरतमंद गरीबो में खर्च कर दिया । बाद में यही राजा अपने भाई के साथ ईसा का शिष्य बन गया और थॉमस को दक्षिण भारत में मिशन के प्रचार प्रसार के लिये भेज दिया गया । मद्रास में उसने अनेको अनुयायी भी तैयार किये चौथी सदी के आरम्भ में उसकी हड्डियो के अवशेष को मायलापोर मद्रास से उनके पैतृक नगर इडेसा सीरिया ले जाया गया था । थॉमस की मद्रास मे कब्र होने की पुष्टि मार्कोपोलो ने भी की थी ।

प्रख्यात् विद्वान हजरत मिर्जा गुलाम अहमद ने भी अपनी कृति में इस बात की पुष्टि की है कि ईसा ने अपने जीवन के अन्तिम ४० वर्ष 'युज आशफ' के नाम से कश्मीर मे बिताये थे । "शत्रुओं से बचने के लिये ही उन्होंने एक छद्म नाम रखा था । अग मुस्तफा ने अपने ग्रन्थ—"अवली अहलिऊ-परस" मे कहा है कि ईसा ही युजआशफ थे । तक्षशिला के पश्चात् उन्होने उससे ७० मील दूर कश्मीर की सीमा पर स्थित मुरी नामक एक छोटे से गांव मे निवास किया था वही पर उनकी माता का स्वर्गवास हुआ । आज भी वहाँ सदियों पुराना "मरियम मेरी का एक मकबरा बना हुआ है जिसे "मरियम मेरी का स्थान" कहा जाता है ।

सुविख्यात इतिहासवेत्ता मुल्ला नादिरी ने अपनी कृति "तवारीख-ए-कश्मीर" (कश्मीर का इतिहास) में ईसा के कश्मीर मे निवास करने का सुविस्तृत वर्णन किया है । उन्होंने लिखा है कि जिन दिनों ईसा-युजआशफ के नाम से यहूदियों के एक बड़े समुदाय के साथ कश्मीर आये थे, उन दिनों वहाँ राजागोपदत्त-जिन्हें गोपानन्द भी कहा जाता था, का शासन था । यह घटना प्रथम शताब्दी के मध्य की है । येरूशलम से दुबारा भारत आने के बाद ईसा ने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी घाटी में व्यतीत किया । घाटी के लोगों की उन पर अगाध श्रद्धा थी । वे प्रायः एक संन्यासी की तरह एक-स्थान से दूसरे स्थान तक उपदेश करते हुए घूमते रहते थे, पर प्रायः कश्मीर अवश्य लौट आते थे । कश्मीर से ईसा का विशेष लगाव था । तब भारत का वह भू-भाग हर दृष्टि से इतना समृद्ध और खुशहाल था कि उसे धरती के स्वर्ग की संज्ञा दी गयी थी । अनेक आदिम जातियाँ पहले से ही वहाँ निवास कर रही थीं । बाद में ईसा के साथ भी अनेक यहूदी परिवार आकर वहीं रहने लगे थे । नादिरी के अनुसार श्रीनगर से कोई ७० मील दूर एक गुफा है जहाँ ईसा मसीह ध्यान किया करते थे । इस गुफा के द्वार पर एक सुन्दर भवन निर्मित है जिसे 'ऐश-मुकाम' कहते है । यहीं पर मूसा का बहुमूल्य दण्ड (छड़ी) जो परम्परा से ईसा को मिला था, स्थापित था । यही दण्ड १५ वी शताब्दी में प्रसिद्ध सत शेष नूरुदीन को प्राप्त हुआ था ।

ईसा को जिस स्थान पर दफनाया गया था, वहीं पर ख्याति प्राप्ति इतिहासवेत्ता एवं कश्मीर रिसर्च सेन्टर फार बुद्धिस्ट स्टडीज' के निदेशक प्रोफेसर फिदा हुसैन को पत्थर पर खुदे हुए ईसा के पद चिह्न मिले थे जिसके एक तरफ पद चिह्न और दूसरी तरफ क्रूस के चिह्न बने हैं । यह इस बात का सुनिश्चित प्रमाण है कि वह-ईसा की ही समाधि है । उनके अनुसार जब दूसरी बार ईसा ने भारत में प्रवेश किया था उन दिनों उत्तरी भारत में राजा शालिवाहन (सन् ३६ से ५० ई.) का शासन था । राजा गोपानन्द का (सन् ४६ से ८२) एवं कुशान राजा-कनिष्क का (सन् १८ से १०३ ई. तक) शासन था । कनिष्क के शासनकाल मे कश्मीर इण्डो-सीथिन राजवंशों की राजधानी थी । वहाँ अनेक धार्मिक, सांस्कृतिक बौद्धिक और राजनीतिक संस्थायें थीं। ग्रीक और भारतीय दर्शन अपने चरम उत्कर्ष पर थे । उन्हीं दिनों लगभग सन् ८० मे

महाराजा कनिष्क ने श्रीनगर से १२ कि. मी. दूर हारान में विविध धर्मावलम्बियों की एक महासभा बुलाई थी, जिसे 'कौंउन्सिल ऑफ हारान' के नाम से जाना जाता है । उस महासभा में विख्यात मनीषी एवं आयुर्वेद के ज्ञाता नागार्जुन के साथ ईसा मसीह भी उपस्थित थे । तब उनकी उम्र ८० वर्ष से अधिक थी । इस तथ्य की पुष्टि बाणभट्ट ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कादम्बरी' में की है ।

वस्तुतः ईसा की जीवन यात्रा देवसंस्कृति के बहुरंगी प्रवाह का एक अंग है । जो रहस्योद्घाटन हुए हैं, वे सभी मत सम्प्रदायों को समीप लाकर देवसंस्कृति की श्रेष्ठता का तथा "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" की ऋषि मान्यता का समर्थन ही करते हैं ।

## ईसा का कफन

महाप्रभु ईसा को हुए प्रायः दो हजार वर्ष बीतते हैं । इतने पुराने समय की इमारतों के ध्वंशावशेष रह सकते हैं । पर कपड़े जैसी स्मृति वस्तुओं का इतने समय तक स्थिर रह सकना असम्भव प्रतीत होता है । क्योंकि इतने पतले ताने-बाने इतने मजबूत नही होते है कि इतने लम्बे समय के ऋतु प्रभाव को वे सहन कर सकें और अपनी सत्ता बनाये रह सकें ।

पर इस सम्बन्ध में एक चमत्कार स्तर का प्रभाव यह पाया गया है कि ईसा को क्रूस पर से उतार कर जिस कफन में लपेटा गया था वह अभी तक सुरक्षित है । इतना ही नहीं उनके शरीर मे कीले ठोकने और कोड़े मारने से जहाँ-जहाँ रक्त निकला था वहाँ-वहाँ उस कपड़े पर रक्त के धब्बे भी मौजूद हैं । रंगों का रंग उतना गहरा नहीं होता और टिकाऊ भी नही फिर किस तरह यह माना जाये कि यह बहुचर्चित कफन ईसा का है या नहीं ?

यह प्रसंग बहुत समय से चर्चा का विषय बना रहा है । श्रद्धालु लोग उसकी प्रमाणिकता को निष्कपट भाव से मानते हैं, वहीं यह कहने वालों की भी कमी नही है कि यह नकली हो सकता है और कौतूहलवर्धन के लिये किसी ने इसे मनगढ़ंत के रूप मे खड़ा किया होगा ।

विवाद बहुत दिनो तक चलता रहा । अन्तिम निर्णय यह हुआ कि आस्तिकता, नास्तिकता के फेर मे न पड़कर वैज्ञानिकों को इसकी जाँच पड़ताल का काम सौंपा जाये और इस पर्यवेक्षण के लिये जिन बहुमूल्य यंत्र उपकरणों की आवश्यकता पड़े उसे जुटाया जाये । साथ ही वैज्ञानिकों की मण्डली में प्रायः सभी प्रमुखों से जाँच कराई जाये । यह प्रयत्न भी किया गया । चूँकि विषय महत्त्वपूर्ण था और करोड़ों की श्रद्धा उसके साथ जुड़ी होने का सवाल था इसलिये उसमे कहीं कोई ऐसा छिद्र न रहने दिया जाये ताकि पीछे सन्देह करने और उँगली उठाने का मौका किसी को मिल सके ।

यह कफन चार मीटर लम्बा और एक मीटर चौड़ा है । इसे इस प्रकार लपेटा गया है कि लम्बाई में पूरा शरीर ढक जाये और पीठ की तरफ से उसे आगे लाकर छाती पर पुनः दुहरा कर दिया गया । रक्त के निशान इस प्रकार बने हैं कि एक व्यक्ति को सीधा लिटाकर इस कपड़े को लपेटा जाये तो निशान ठीक वैसे ही लगेंगे जैसे कि उस पर इन दिनों बने हुए है ।

डॉ. जॉन. एच. टेलर ने इस शोधकार्य का पूरा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया । वैसे उनकी सहायता के इस सन्दर्भ से सम्बन्ध रखने वाले ३६ वैज्ञानिक और भी थे । इन सभी को यह भली-भाँति जाँच परख लिया गया था कि वे किसी धार्मिक पक्षपात से ग्रस्त तो नहीं है ।

फिर इसके बाद ऐसे यंत्र, उपकरणों का प्रयोग किया गया जो सामान्य रासायनिक क्रियाओं से नहीं, वरन् किरणों के आधार पर रंग और रक्त का नये और पुराने का अन्तर करती थीं ।

यह कफन पादरियों, गिरजाघर, शाही खानदानों के कब्जे में इस प्रकार बना रहा जिससे उसमें कोई चोरी या जालसाजी न बन सके । तब से अब तक उसे वैसे ही पवित्र भाव से माना और सुरक्षित रखा जाता रहा है । पर अब जबकि हर तथ्य को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है और वैज्ञानिक परीक्षणों के बिना किसी का समाधान नही होता । इस कफन को भी जाँच पड़ताल के लिये प्रस्तुत होना पड़ा ।

इस सन्दर्भ में कोई ६० प्रयोग हुए और वे संसार के मूर्धन्य समझे जाने वाली विभिन्न विषयो के प्रवीण पारंगतो के हाथ से गुजरे । पर सच्चाई एक ही रही । ईसा जैसे दृढ़ और सत्यपरायण थे, उनका प्रमाण चिन्ह भी उतना ही प्रामाणिक निकला । यह हाथ का बुना हुआ कपड़ा अभी और एक हजार वर्ष सुरक्षित रह

सकता है । अब तक इतनी लम्बी आयु किसी कपड़े को नहीं मिली । रक्त के दाग भी ऐसे ही हैं मानो उन्हें लगे कुछ दशाब्दियाँ ही बीती हो । सत्य के स्थायित्व की यह अद्‌भुत प्रामाणिकता है ।

## दीनबन्धु ईसा

हम महात्मा ईसा के जिस गुण को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं और उनको वास्तविक रूप से एक महान दिव्य-आत्मा मानते हैं, वह है उनका दीन-हीन, गरीब लोगों के प्रति प्रेम और हार्दिक सहानुभूति, वैभवशालियों और शक्ति सम्पन्न लोगों से तो सभी मेल-जोल रखते हैं । हमारे यहाँ के अधिकांश साधु-सन्यासी और 'महायोगी' कहलाने वाले भी आजकल अधिकतर सेठों और राजाओं के सम्पर्क में ही रहते हैं । पर महात्मा ईसा ने आदि से अन्त तक अपना जीवन अन्याय पीड़ित और कष्ट सहन करने वाली अति सामान्य जनता के लिये ही अर्पित किया । यद्यपि 'बाइबिल' में इस बात को बहुत स्पष्ट नहीं किया गया है, पर उसकी विभिन्न घटनाओं का विश्लेषण करने से यही सिद्ध होता है कि ईसा अपने समय के एक समाजवादी आदर्श का प्रचार करने वाले 'महान नेता' थे, और उनका विरोध करने वाले तथा प्राणदण्ड दिलाने वाले उस समय के 'पूँजीपति' थे । यद्यपि वह 'धर्म-प्रधान' युग था, इसलिये प्रचार का ढंग और उपदेशो की शैली आजकल से भिन्न प्रकार की थी, तो भी जब हम ईसा द्वारा धनवानों के विरुद्ध प्रकट किये गये तीव्र उद्‌गारों को पढ़ते हैं तथा उनके अन्य अनुयायियों को भी सम्पत्ति के स्वामियों पर अभिशापों की वर्षा करते देखते हैं, तो हमको विश्वास हो जाता है कि ईसा का आन्दोलन और प्रचार कार्य वास्तव में धनवानों के अन्याय से गरीबों को बचाने और उन्हें स्वतन्त्र, स्वावलम्बी बनने की प्रेरणा देने के लिये ही था ।

ईसा ने अपने अनुयायियों को जो शिक्षा दी थी उसका सारांश यही था कि संसार में सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त करने का मार्ग परिश्रम करके अपनी 'रोटी' कमाना और किसी का सत्व अपहरण न करना ही है । राजनीतिक विग्रह, अन्य देशो पर आक्रमण, दूसरे लोगों को दास बनाकर उनका शोषण करना आदि कार्यों से 'ईश्वरीय-राज्य' की स्थापना नहीं की जा सकती । यदि हम सैन्य बल से अनेक देशो पर अधिकार कर लें और उनकी सम्पत्ति लूटकर स्वयं धनवान और वैभवशाली बन जायें तो इससे समस्त समाज का किसी प्रकार भला नहीं हो सकता । इसी प्रकार मन्दिर में पूजा-पाठ करना, धर्म-सभा में कथा सुनना, शास्त्र-विधि से तरह-तरह के कर्म-काण्ड करना आदि ईश्वरीय राज्य के चिह्न नहीं हैं । इसके विपरीत ईश्वरीय-राज्य के चिह्न तो यही हैं—मनुष्य मात्र के प्रति अनन्त प्रेम के आधार पर जीवन का पुनर्निर्माण, निर्बलों और भूले-भटकों के प्रति दया, समस्त मनुष्यों के प्रति अनन्त सहानुभूति, समाज में से समस्त भेद-भावों का निराकरण, और सब लोगों के लिये अनिवार्य रूप से परिश्रम करने का नियम ।

ईसा का यह उपदेश स्पष्टतः रोमन विजेताओं, यहूदी सैडयूसीज और फरीसीज (पूँजीपति) और धर्म-पुरोहित आदि के विरुद्ध था । इस कारण जैसे ही उन्होंने जनता को इन उपदेशों से प्रभावित होते देखा ईसा को अपने मार्ग से हटाने का निश्चय कर लिया और धार्मिक मतभेद के नाम पर दो-चार झूठे-सच्चे बहाने बनाकर उन्हें प्राणदण्ड दे दिया ।

ईसा ने अपने जीवन-काल में सदैव धनवानों को धर्म की दृष्टि से गिरा हुआ बतलाया । एक बार कोई धनवान व्यक्ति उनके उपदेशों से प्रभावित होकर उनकी शरण आया और अपने को शिष्य बना लेने की प्रार्थना की । ईसा ने कहा—"तुम्हारा विचार तो उत्तम है, पर तुम में एक बड़ा अभाव है । अब तुम अपने घर लौट जाओ तथा अपनी समस्त सम्पत्ति और जायदाद को बेचकर गरीबों को बाँट दो, तब तुम खुशी से मेरे शिष्य बन कर साथ रहना ।" उस व्यक्ति में इतना त्याग और साहस न था, इसलिये चुपचाप घर में आकर अपना पुराना जीवन बिताने लगा । इतना ही नहीं धनवानो के अन्यायों का प्रश्न उठने पर उन्होंने खुले शब्दों में यह घोषणा की—

"चाहे सुई के नाके (छेद) में होकर ऊँट निकल जाये पर धनवान व्यक्ति स्वर्ग के द्वार में प्रविष्ट नहीं हो सकता ।"

महात्मा ईसा का आशय यही था कि अधिक धन का संग्रह बिना अन्याय शोषण बेईमानी के नहीं हो सकता । धनवान मनुष्य चाहे जैसी बातें करे और उदारता का भाव दर्शावे, पर उसकी दृष्टि सदैव निजी

स्वार्थ पर ही रहती है । धनवान लोग यही चाहते हैं कि समाज के अधिकांश व्यक्ति अभाव, दुःख, निर्बलता की दशा में ही बने रहे, जिससे वे उनके आज्ञावर्ती बने रहकर उनकी सम्पत्ति की वृद्धि में सहायक बने रहे । इस प्रकार का आचरण साफ तौर पर ईश्वरीय नियमों के विपरीत और मानवता का अपमान करने वाला है । भगवान ने जो पंचभूत से संयुक्त इस संसार की रचना की है वह विशेष रूप से इन धनवानों के लिये नहीं की है । उसने जो खेती के योग्य भूमि, जलाशय, नदियाँ, पहाड़, जंगल आदि उत्पन्न किये हे वे किसी एक व्यक्ति या एक विशेष समुदाय के स्वामित्व के लिये नहीं वरन् सार्वजनिक उपयोग की दृष्टि से ही बनाये हैं । यदि कोई आदमी शक्ति या चालबाजी से उन पर अपना अधिकार जमाकर दूसरों को उनमे लाभ उठाने से वंचित करता है, तो यह निश्चय ही ईश्वरीय—सत्ता और नियम, का विरोध करना होगा । ईसा का सबसे बड़ा उपदेश यही था कि जब सब मनुष्य एक ही परमात्मा ने बनाये है, वही एक मात्र पिता है, तो एक मनुष्य को दूसरे का दास बनकर रहना, एक व्यक्ति के द्वारा दूसरों का शोषण किस प्रकार धर्मसम्मत हो सकता है ?

## ईसाई धर्म में समाजवाद के सिद्धान्त

ईसा के आत्म-बलिदान के पश्चात लोग उसके सिद्धान्तों को भूलने लग गये । उसे अपने प्रचार कार्य करने के लिये बहुत कम—केवल तीन वर्ष का समय मिला था, और उसके शिष्यों में से कोई योग्य न था जो अपने गुरु के कार्यक्रम को बदस्तूर जारी रख सकता । वे लोग स्वयं ही ईसा के उपदेशों के वास्तविक आशय से अपरिचित थे, इस कारण उन्होंने उसे गरीबों के उद्धार आन्दोलन के बजाय एक बाह्य आडम्बरयुक्त धर्म का रूप दे दिया । ईसाई धर्म के वर्तमान रूप का निर्माण ईसा के बहुत समय पश्चात् सेण्टपाल ने किया था । यद्यपि वह एक विद्वान और विमल चरित्र वाला सज्जन व्यक्ति था, पर स्वयं लक फरीसीज (मध्य श्रेणी का धनवान) होने के कारण गरीबों और श्रमजीवियों की परिस्थिति और मनोभावों से अनजान था । सेण्टपाल के मतानुसार पार्थिव सफलता या असफलता का कोई मूल्य न था । आत्मिक-कल्याण ही एक मात्र महत्त्व का विषय था और उसका सबसे सीधा और पक्का रास्ता ईसा में विश्वास रखना था । इस मत के फैलने से गरीबों की आर्थिक स्थिति को सुधारने और उन पर होने वाले अन्यायों को दूर करने का उद्देश्य पीछे पड़ गया और लोग पारलौकिक सुख की अभिलाषा में ही अधिकतर धर्म-कर्म करने लग गये ।

फिर भी ईसा की शिक्षा और आदर्श के प्रभाव से कितने ही यहूदी श्रमजीवी और स्वतन्त्र समितियाँ बनाकर भाई-चारे का जीवन व्यतीत करते रहे । पर जब ईसाइयों की अधिक वृद्धि हो गई और साथ ही सेण्टपाल का प्रचार कार्य जोर पकड़ता गया तो ईसाई धर्म में से समानता का भाव क्षीण होता चला गया । तब उसने दान, भिक्षा तथा उदारतापूर्वक गरीब भाई-बहिनों की सहायता का स्वरूप धारण कर लिया । नतीजा यह हुआ कि कुछ ही समय बाद ईसाइयों में भी श्रेणी-भेद हो गया, उनमे भी अमीर तथा गरीब, मालिक तथा मजदूर दिखलाई पड़ने लगे । इससे पुरानी भ्रातृभाव वाली भावना नष्ट हो गई । धार्मिक क्षेत्र में यह विवाद 'श्रद्धा' और 'कर्म' के रूप में प्रकट हुआ । इस कलह में गरीबों का पक्ष समर्थन करने वाला 'जेम्स' था, जिसने अपने लेखों में ईसा और पाल की शिक्षाओं का अन्तर दिखाया है—

"यदि कोई व्यक्ति कहता है कि वह श्रद्धा रखता है, पर परिश्रम नहीं करता है तो इससे क्या लाभ ? अमीर लोग केवल श्रद्धा के नाम पर धर्मसभा में विशेष सम्मान चाहते हैं और अपने अन्य सहधर्मियों को छोटा समझ कर उन पर अनुग्रह दिखलाते है । पर सच यह है कि बिना काम के श्रद्धा प्राणहीन है । अमीर लोग याद रक्खे कि भगवान गरीबों से ही प्रसन्न रहता है, जिनका धनी व्यक्ति अब भी शोषण करते है और जिनको अदालतों में घसीटा जाता है ।"

कितने ही अन्य पादरी भी ऐसे ही होते रहे जो ईसा का अनुकरण करते हुए निरन्तर गरीबी और निर्धनता के जीवन की प्रशंसा करते हैं । इनमें से 'बर्नबास' सबसे पहला था । उसका समय ईसा की द्वितीय शताब्दी माना जाता है । उसने अपने धार्मिक लेखों में ईसाइयों को आदेश दिया है—

"समस्त वस्तुओं का अपने पड़ौसियों के साथ मिलकर उपभोग करो ।" तुम इन वस्तुओं को अपनी मत बतलाओ क्योंकि जब तुम अविनाशी वस्तुओं का

लें, तो हमारे पास की कितनी ही चीजें फालतू सिद्ध होंगी । सोचो कि परमात्मा ने तुमको कितना दिया है और उसमें से तुमको कितने की आवश्यकता है । जो चीजें अनावश्यक जान पड़े वे दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हैं । तुम उतनी ही चीज पास में रखो, जिससे परमात्मा प्रसन्न रहे और तुम्हारी तृष्णा की भी पूर्ति हो जाये ।''

वास्तव में परिग्रह की अधिकता और ममता अधिकांश पापों की जड़ है और मनुष्य को सांसारिक बन्धनों में अधिकाधिक जकड़ने वाली है । इससे मनुष्य के हृदय में घोर स्वार्थपरता का उदय होता है और उसका दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित हो जाता है । अपने और निजी परिवार के सिवाय और किसी के हित का ध्यान रख ही नहीं सकता । उसमें अपने-पराये का भाव बहुत अधिक बढ़ जाता है । ऐसा व्यक्ति चाहे आरम्भ में बेईमान न भी हो तो भी "जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई" के अनुसार समाज की सब चीजों में से अपने लिये अधिक से अधिक हिस्सा चाहता है और इस प्रकार तरह-तरह के उपायों और चालाकी से भी अपने भण्डार को बढ़ाने की कोशिश करने लग जाता है । जैसा किसी कवि ने कहा है "लोभ पाप का मूल" परिग्रह को बढ़ाने वाला व्यक्ति हानिकारक मनोवृत्तियों का शिकार हो जाता है और समाज का उपयोगी सदस्य होने के बजाय उसे पीछे धकेलने वाला, नीचे गिराने वाला बन जाता है । इस प्रकार एक व्यक्ति को देखकर दूसरे को भी वही धुन सवार होती है और फिर बहुसंख्यक व्यक्ति अपने-अपने लिये अधिक सामग्री इकट्ठा कर रखने की चेष्टा करने लगते हैं । इससे आपा-धापी और ईर्ष्या-द्वेष की वृत्तियों को बढ़ावा मिलता है, परस्पर संघर्ष और हिंसा की भावनाओं को उदय होता है और इस प्रकार समाज, सगठन और शक्तिशाली बनने के बजाय विशृंखलता और पतन के मार्ग पर चल पड़ता है ।

इसीलिये सच्चे महापुरुष और सन्त सदा से लोगों के सामने त्याग और अपरिग्रह का आदर्श रखते आये है । चाहे आज के युग में धार्मिक भावनाओं के शिथिल हो जाने से 'साम्यवाद' अथवा 'समाजवाद' का आन्दोलन केवल आर्थिक—आधार पर चलाया जा रहा है पर इसमें वह स्थिरता और वास्तविकता नहीं जो धर्म और आध्यात्मिकता के आधार पर स्थित 'अपरिग्रह' और 'त्याग' के आदर्श में थी । कारण यही है कि आर्थिक स्थिति और सम्बन्ध नित्य बदलने वाले हैं जबकि धार्मिक आदर्श शाश्वत और टिकाऊ होते हैं । कहने वाले कह सकते हैं कि एक कम्बल में गुजारा करने वाले ईसा के प्रतिनिधि 'पोप' भी सोने के सिंहासन और रत्न जड़ित मुकुट रखने वाले नहीं बन गये हैं । क्या यह सत्य नहीं, लंगोटी धारण करने वाले सच्चे संन्यासी शंकराचार्य के उत्तराधिकारी सोने की पालकी और घोड़े, हाथियों के जुलूस के सिवाय कभी बाहर नहीं निकलते ? उपर्युक्त आक्षेपों की सच्चाई से हमको इन्कार नहीं तो भी इस प्रकार के परिवर्तन में एकाध हजार वर्ष का समय लगा और तब भी अनेक धर्मानुयायियों और साधुओं के सामने त्याग का प्राचीन आदर्श अक्षुण्य रहा और वे परिस्थिति के अनुसार उसका न्यूनाधिक पालन करते रहे । पर जिस समाज में मानव सम्बन्धों के बजाय धन को प्रधानता दे दी जायेगी और 'सर्वे गुण कांचनमाश्रयन्ति' के सिद्धान्त को हृदयंगम कर लिया जायेगा, वह तो निश्चय ही स्वार्थपरता और हानिकारक संघर्ष का अखाड़ा बन जायगा, और उसका अन्तिम परिणाम हिंसा की निरन्तर वृद्धि और नाश के सिवाय और कुछ नहीं निकलेगा ।

हम जानते हैं कि मनुष्य-प्रकृति जैसी कि वह इस समय तक दिखाई पड़ रही है निम्नगामी है । वह त्याग और अपरिग्रह के सिद्धान्त को बड़ी कठिनता से स्वीकार करती है—उसका ठीक-ठीक पालन करना तो दूर की बात है—पर संग्रह और जमीन-जायदाद पर अधिकार जमाने की बात पर दौड़कर आगे बढ़ती है और उसके लिये प्राणपण से उद्योग करने लगती है । इसलिये महापुरुषों और धर्म प्रचारकों ने सदा 'त्याग' और 'दान' के उपदेश पर जोर दिया है । वे जानते है कि मनुष्यों को धन संग्रह अथवा भोग के पदार्थों को जमा करने के सम्बन्ध में कुछ समझाने या प्रेरणा देने की कोई आवश्यकता नहीं । ये 'गुण' तो उसमें निसर्गजात हैं और जरा-सा दूसरों का उदाहरण देखकर तुरन्त ही प्रस्फुटित हो जाते हैं पर 'त्याग', 'अपरिग्रह' 'दान', 'उदारता' आदि का मार्ग बड़ा कंटकाकीर्ण और संकीर्ण है । उस पर चलने के लिये प्रथम तो कोई तैयार ही नहीं होता और यदि होता भी है तो पचास

तरकीबें निकालकर केवल 'चिह्न पूजा' से ही काम चलाने की चेष्टा करता है। हमारे देश में इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण महावीर स्वामी का प्रचारित जैन-धर्म है। धर्माचार्यों में शायद वे सबसे बड़े त्यागी हुए हैं जिन्होंने एक बालिश्त वस्त्र की लंगोटी को भी फेंक दिया और अपने अनुयायियों को अधिकाधिक अपरिग्रह का उपदेश दिया। नतीजा यह है कि दिखलाने के लिये महावीर स्वामी के उपदेशों की 'चिह्न पूजा' करते हुए भी 'जैन धर्म' सेठों का धर्म बन गया है।

ईसाई धर्म की भी ऐसी ही अवस्था देखने में आती है। यदि हम कहें कि महात्मा ईसा "सच्चे साम्यवादी" थे तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। उन्होंने सब लोगों को मिलकर एक परिवार की तरह रहने और एक चूल्हे पर रोटी खाने की आज्ञा दी और अपने अनुयायियों की "सहयोग समितियाँ" बनाकर इस प्रथा को कार्यरूप में परिणत करा दिया। ये समितियाँ कई सौ वर्ष तक उनके सिद्धान्तानुसार चलती भी रहीं। पर धीरे-धीरे उस धर्म में भी धनवानों, अमीरों, राजाओं का प्रवेश होता गया और जिस धर्म कोई सा ने 'दया', 'क्षमा' और 'सहयोग' के नाम पर स्थापित किया था उसी के अनुयायी ईसाई कहलाने वाले 'हिंसा' के सबसे बड़े पुजारी हो रहे हैं और एक के बाद एक घातक अस्त्र तैयार करते हुए आज समस्त संसार को एक ही घण्टे मे भस्मीभूत करने की शक्ति को हाथ मे लेकर कटने-मरने को प्रस्तुत है।

पर इसमें ईसा का महत्त्व कम नहीं होता। काँटो का ताज पहने और 'क्रूस' पर टँगे हुए उसका चित्र तो आज भी मनुष्यो को यही उपदेश दे रहा है कि यदि 'मनुष्य' नाम को सार्थक करना चाहते हो तो भौतिकता के मोह को यथाशक्ति कम करो और ईश्वरीय राज्य मे प्रवेश करके 'त्याग', 'सेवा' और 'परोपकार' के मार्ग को अपनाओ। इसी में मानव-जीवन का उद्धार और सच्चे सुख तथा शान्ति की प्राप्ति सम्भव है। भौतिक पदार्थों और जीवन-निर्वाह की सामग्री भी आवश्यक है, पर उसके लिये अनुचित लोभ और ममता मत रखो। उसका उतना ही भाग लो जितना न्यायानुसार तुम्हारे हिस्से मे आता है। अपने साथ दूसरों के हित और कल्याण का भी ध्यान रखो। यही सच्चा धर्म और आध्यात्मिकता का सारांश है। दूसरों को लूट कर अपना घर भरने वाला पूँजीपति और दूसरों की लाश पर अपना साम्राज्य स्थापित करने वाला सम्राट कभी प्रभु ईसा को अनुयायी नहीं कहा जा सकता। उनके ये शब्द सदा अमर रहेंगे कि—'धन्य हैं वे जो गरीब, दयालु और शान्ति-प्रचारक है और जो न्याय की खातिर दण्ड सहते हैं क्योंकि सब मनुष्य एक ही पिता की सन्तान हैं।'

हम अपने देशवासियों से यही प्रार्थना करेंगे कि वे धर्म के बाहरी दिखावे को कम करके उसके इन्हीं मूल तत्त्वों पर आचरण करने के लिये प्रयत्नशील हों। ये ही सिद्धान्त भारतीय ऋषि-महर्षियों ने हजारों वर्ष पहले उच्चारित किये थे और महात्मा ईसा ने उन्हीं से प्रेरणा लेकर उनके प्रचारार्थ अपने प्राणों की आहुति दे दी। सच्चे धर्म का संसार में एक ही रूप है और सच्चे धर्मोपदेशक भी एक-दूसरों के विरोधी नही हो सकते। यदि जैसा हम कहते है कि "भारतवर्ष ही धर्म" की जन्म भूमि है और यही से शिक्षा तथा उपदेश, ग्रहण करके संसार के लोग धर्माचरण और शुद्धाचरण करना सीखे हैं।" यह सत्य है, और हम इस पर विश्वास करते है तो उसका प्रमाण यही हो सकता है कि हम अपने स्वार्थ भाव को कम करें। अपनी शक्ति, योग्यता और धन का अधिकाधिक उपयोग अपने अन्य भाइयों के हितार्थ करते रहे। वर्तमान युग में पददलित अवस्था को प्राप्त हिन्दू-धर्म का फिर से देश-विदेशों में डंका बजा देने वाले और उसकी पताका को अमेरिका के 'सर्व-धर्म सम्मेलन' मे सबसे उच्च स्थान पर पहरा देने वाले स्वामी विवेकानन्द ने भी महापुरुष ईसा की इसी महानता की मुक्त कण्ठ से सराहना की है—

"स्वार्थशून्यता, निस्पृहता, त्याग, यही एक आदर्श है जिसकी ईसा मसीह ने शिक्षा दी है—जिसका दुनिया के पैगम्बरों ने प्रचार किया है। त्याग का मर्म केवल यही है कि नैतिकता का उच्चतम आदर्श निस्पृहता तथा निःस्वार्थता को स्वीकार किया जाये। अहशून्य बनो। पूर्ण निःस्वार्थपरता, पूर्ण अहंशून्यता ही हमारा आदर्श है और इसका दृष्टान्त है ईसा का यह वाक्य—'यदि किसी ने तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मार दिया तो दूसरा गाल भी उसकी ओर कर दो। यदि किसी ने तुम्हारा कोट छीन लिया है तो तुम उसे अपना चोगा

भी दे दो ।' इस आदर्श को अपने उच्च-धरातल से नीचा न करते हुए हमे उसे प्राप्त करने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये । ऐसी अवस्था को प्राप्त कर सकने वाले व्यक्ति के अन्तर में स्वयं ईश्वर निवास करते है । यह हमारा आदर्श है यद्यपि इस आदर्शावस्था को हम अभी प्राप्त नही कर सकते तो भी हमें स्खलित पदो मे ही क्यों न हो, उस ओर शनैः-शनैः अग्रसर होते रहना चाहिये । आजकल या आज से सहस्रों वर्ष बाद भी हमें उस आदर्श को प्राप्त करना है ।

## 'सत्य' पर किसी का एकाधिपत्य नहीं

पर कठिनाई यही है कि मनुष्य व्यावहारिक जगत में आने पर इन उच्च आदर्शों और सिद्धान्तों को भूल जाता है, और 'धर्म' को भी अपने व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय लाभ का साधन बना लेता है । अब से दो-चार सौ वर्ष पहले यूरोप के ईसाई देशों ने हथियारों की ताकत के साथ ही 'ईसाइयत' को भी अपना राज्य दूर-दूर तक फैलाने का साधन बनाया था । उन्होंने केवल ईसा के उपदेशों की श्रेष्ठता दिखाकर ही लोगों को उसका अनुयायी बनने की प्रेरणा नही दी, वरन् शक्ति का भय और धन का लोभ दिखाकर भी उनको धर्म-परिवर्तन के लिये बाध्य किया । गोवा आदि स्थानो में तो पोर्तुगीजों के घोर अत्याचारों की बात इतिहास के सभी पाठक जानते हैं और अभी तक अनेक ईसाई प्रचारक उस मार्ग का अनुकरण करते रहते हैं । यह कार्य-प्रणाली महापुरुष ईसा के आदर्श के सर्वथा प्रतिकूल है । इसकी विवेचना करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है—

"मानवता के सभी आचार्य अहंशून्य होते है । कल्पना कीजिये कि नाजरथ के ईसा उपदेश दे रहे है और बीच में ही कोई *व्यक्ति उठकर कहने लगता* है—"आपका उपदेश बहुत सुन्दर है । मेरा विश्वास है कि पूर्णत्व-प्राप्ति का वही एक मार्ग है ओर मैं उसका अनुसरण करने को तैयार हूँ, किन्तु मैं आपकी ईश्वर के एकमात्र उत्पन्न पुत्र के रूप में उपासना नही कर सकता । ईसा मसीह इसका क्या उत्तर देंगे—जरा सोचिये । शायद ईसा उस व्यक्ति से कहते—"अच्छा, भाई आदर्श का अनुसरण कर अपनी इच्छानुसार उसकी तरफ प्रगति करो । तुम मुझे मेरे उपदेशों के लिये कोई श्रेय दो या न दो, मुझे इसकी चिंता नही । मैं कोई दुकानदार या बनिया नही हूँ, मैं धर्म का व्यवसाय नहीं करता । मैं केवल सत्य की शिक्षा देता हूँ और सत्य किसी की बपौती, किसी की जायदाद नहीं है । सत्य स्वयं ईश्वर है । तुम अपने मार्ग पर अग्रसर होते जाओ । पर आज ईसा के अनुयायी उसी प्रश्न का क्या जवाब देते हैं ? वे कहते हैं—"तुम इन उपदेशों पर, *इन उसूलों पर अमल करो या न करो,* इससे हमे कोई मतलब नहीं । पर तुम 'उपदेशक' (ईसा) का सम्मान तो करते हो न ? यदि तुम उपदेशक का सम्मान करते हो तो अवश्य ही तुम्हारा उद्धार हो जायगा, यदि नही तो तुम्हारी मुक्ति की कोई आशा नहीं ।" इस प्रकार महापुरुष की समस्त शिक्षाओं को विकृत रूप दे दिया गया ।"

वास्तव मे एक त्यागी और अहंशून्य 'उपदेशक' को लेकर इस प्रकार के झगड़े खड़े करना अपने को और स्वयं उस उपदेशक को भी अपमानित और लज्जित करना है । जो व्यक्ति संसार के समस्त व्यक्तियों को एक भगवान का ही अंश मानकर सबके साथ आत्मीय-भावना रखता है, प्रत्येक की सेवा करने को प्रस्तुत है, उसे 'आत्मश्लाघा' अथवा 'नामवरी' का इतना लालची बतलाना, कि बिना उसको गुरु बनाये, बिना उसे स्मरण किये किसी का उद्धार हो ही नहीं सकता, अपनी बुद्धि और आध्यात्मिकता को झूठा अथवा निस्सार सिद्ध करना है । ऐसा महापुरुष इस बात की कब परवाह कर सकता है कि दुनिया के लोग उसे याद करते है या नहीं ? ऐसा महापुरुष कभी यह नहीं कहेगा कि यदि तुम मेरा नाम लेकर, मेरे उपदेशों को स्वीकार करोगे तो तुम्हारा उद्धार होगा नहीं तो तुम नरक मे ही जाओगे । यद्यपि संसार के अन्य धर्मों में भी ऐसे कट्टरता के भाव, 'दुराग्रह' पाये जाते है, पर वे *प्रायः धर्म के नाम पर अपना पेट-पालन करने वाले* और स्वार्थी व्यक्तियों के दिमाग की उपज होते हैं । कोई निष्पक्ष और सत्य-धर्म का अनुयायी तो ऐसी बातें सोच ही नहीं सकता । 'गीता' में भगवान कृष्ण ने यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है—

> यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
> तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
> स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
> लभते च ततः कामान् मयैव विहितान्हि तान् ॥
>
> (७—२१, २२)

अर्थात्—"जो मनुष्य जिस-जिस स्वरूप मे देव पूजन करना चाहता है, मैं उस भक्त की उसी देवता के प्रति श्रद्धा को स्थिर रखता हूँ। वह भक्त श्रद्धा से उस देवता का पूजन करता है और उसका यही फल प्राप्त करता है जिसे मैंने नियत किया है।"

उतना ही नहीं आगे चलकर इस बात को और भी स्पष्ट किया गया है—

येऽप्यन्देवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

*(गीता ६—२३)*

अर्थात्—"जो मनुष्य श्रद्धायुक्त भाव से अन्य देवों के भक्त बनकर उपासना करते हैं वे भी विधिपूर्वक न हों तो भी (पर्याय मे) मेरा ही भजन (पूजन) करते है।" (लोकमान्य तिलक कृत गीता रहस्य)

भगवान कृष्ण के कथन का आशय यही है कि धर्म के विषय में मनुष्य को उदार होना चाहिये किसी धर्म या उसके जन्मदाता के प्रति अवज्ञा का भाव प्रदर्शित नहीं करना चाहिये क्योकि ऐसे सभी महापुरुष ईश्वरीय विधान की पूर्ति के लिये ही जगत में प्रकट होते हैं। यद्यपि अपने देश और काल के अनुसार उनको जिस शैली में काम करना पड़ता है उसमें वाह्य रूप में अन्तर अवश्य होता है और इसी कारण अल्प-बुद्धि के लोग इसे विभिन्न धर्म प्रचारकों में मतभेद और विरोध की कल्पना भी कर लेते हैं, पर इसमें न तो सच्चाई है ओर न किसी प्रकार का लाभ। ऐसा करने मे मनुष्य 'दुराग्रही' होकर सत्य-मार्ग से च्युत हो जाता है। यदि वह सत्य—सिद्धान्त को समझ लेता है तो किसी महान धर्माचार्य पर सन्देह ही नहीं कर सकता था।

पर साथ ही 'गीता' मे यह भी आदेश दिया गया है कि सब धर्मों और आचार्यों के प्रति सम्मान का भाव रखते हुए भी मनुष्य सदैव इधर-उधर जाते रहने अथवा धर्म-परिवर्तन की आवश्यकता नही है क्योंकि जब सभी धर्म सच्चे और ईश्वर को प्रसन्न करने वाले हो सकते हैं तो जिस धर्मानुसार आचरण करने का अपने को अभ्यास हो चुका है उसी का सच्चाई के साथ क्यो न पालन किया जाये? इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभाव नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥

अर्थात्—"चाहे परधर्म का आचरण करना अच्छा जान पड़े तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म किसी दृष्टि से कम होने पर भी अधिक कल्याणकारी होता है, क्योंकि स्वभाव के अनुकूल होने से उसके पालन करने मे किसी प्रकार पाप की सम्भावना नहीं रहती।"

'गीता' का यह सिद्धान्त कितना ऊँचा और सर्वव्यापी है, यह बात इस विवेचन से सहज ही में समझी जा सकती है। किसी धर्म की प्रशंसा इसमें नहीं है कि वह दूसरे धर्मों की निन्दा करके उसके अनुयायियों को अपनी श्रद्धा से विचलित न करे। वरन् सच्चा धार्मिक वही है जो प्रत्येक मनुष्य को वह चाहे जिस स्थान में रहे और चाहे जिस धर्माचार्य के सम्मुख रहे, सदैव सच्चाई, ईमानदारी और मनुष्यता के साथ व्यवहार करने की शिक्षा दे। धर्म सम्बन्धी उपासना पद्धति तथा अन्य कर्मकाण्ड धर्म की जड़ नहीं माने जा सकते। वे तो केवल मनुष्य को धार्मिक-जीवन का अभ्यास कराने और धर्म की सदैव याद कराते रहने के लिये प्रचलित किये गये है। धर्म का मूल तत्त्व तो वही है जिससे मनुय को अपने आध्यात्मिक स्वरूप (ईश्वर पुत्र होने) का ध्यान बना रहे और वह भौतिकता में एक दम ग्रस्त न होकर अपनी शक्तियो का उपयोग ईश्वर के अन्य पुत्रों (मनुष्य मात्र) के साथ उपकार, सहायता और प्रेम प्रदान करने में करता रहे। महात्मा ईसा का भी मुख्य सिद्धान्त यही था और इसीलिये उन्होने उपदेश करते हुए सदैव 'ईश्वर के पिता' होने की घोषणा की है। यह तो स्पष्ट है कि ईश्वर किसी एक व्यक्ति व जाति का पिता नहीं हो सकता। अगर वह जगत-पिता है तो सभी मनुष्य उसके पुत्र और परस्पर मे भाई-भाई है। यही सच्ची और व्यावहारिक आध्यात्मिकता है।

## अन्ध-विश्वास और उसके कुफल

महात्मा ईसा ने पश्चिमीय दुनिया को जो आध्यात्मिक ज्ञान दिया, मनुष्य को ईश्वर का एक अंश और अविनासी आत्मा मानने की प्रेरणा दी, वह धर्म और मानव-सभ्यता की सबसे अमूल्य थाती है। यदि यूरोप वाले उसे ईमानदारी के साथ सुनते-समझते और तदनुसार मानव-मात्र को आत्मबन्धु मानकर उसकी प्रगति में सहयोग देते तो आज शायद ससार का इतिहास कुछ और ही होता। पर हुआ इससे उल्टा। कितने ही स्वार्थी और सत्ता के भूखे धर्माचार्यों ने ईसा के

आध्यात्मिक और समतावादी सिद्धान्तों पर पर्दा डालकर उनके चमत्कारों और दैवी घटनाओं की कथाओं को खूब बढ़ाया। इससे जनता में अन्ध-विश्वास का भाव फैल गया और वह उन धर्माचार्यों और उनके शिष्यों के चंगुल में फँसकर फिर पुराने ढर्रे पर ही चलने लग गई। इस प्रकार के परिवर्तन से चाहे गिर्जाघरों के विशपों (महन्तों) का लाभ हो गया हो और 'पोप' की सत्ता तथा वैभव एक सम्राट के दर्जे पर पहुँच गया हो, पर ईसाई-धर्म को इसके कारण अपार हानि ही सहन करनी पड़ी। इस सम्बन्ध मे अमेरिका के 'लकाम्तेदनाय' नामक वैज्ञानिक ने जो ईसाई धर्म में आस्था रखते थे, एक प्रसिद्ध लेखक हैं 'ह्यूमैन डेस्टनी' (मनुष्य का भाग्य) पुस्तक में लिखा है—

"अन्य दूसरे धर्मों की भाँति ईसाई मत को भी इससे धक्का लगा है। स्पेन में 'पवित्र कैथलिक नरमेध' का हा-हाकार मचा था। यूरोप के अन्य देशों तथा अमेरिका में भी 'जादू मन्त्र' के लिये मुकदमे चलाये जाते थे। मूर्खता और अज्ञानता के कारण यह सब उसी एक ईश्वर के नाम पर उसी एक पुस्तक (बाइबिल) के नाम पर होता था। आज उस पुस्तक की व्याख्या अन्य प्रकार से की गई है, फिर भी असहनशीलता और धर्मान्धता का अन्त नहीं हो पाया है। तनिक मतभेद के कारण हजारों निर्दोषों की जानें चली जाती हैं।"

किसी भी ज्ञान सम्पन्न और धर्म का मर्म समझने वाले व्यक्ति को इस प्रकार के अन्ध-विश्वासों का प्रचलन दु:खदायी ही प्रतीत होगा। ईश्वर और धर्म के विश्वास के नाम पर यदि ऐसे पाशविक कृत्य किये जायें तो उनके सम्बन्ध में अनास्था के भाव उत्पन्न होने अवश्यम्भावी है। धर्म का उद्देश्य तो मनुष्य की अन्तरात्मा को जागृत करके उसे सब प्रकार के दोष और कल्मषों से मुक्त करना ही हो सकता है। किसी सच्चे धर्म प्रेमी की, धर्म गुरु की, चाहे वह ईसाई हो या अन्य हो, प्रेरणादायक आवाज यही हो सकती है कि "जीवन, भोजन और सन्तानोत्पादन ही तेरे मुख्य उद्देश्य नही हो सकते। मृत्यु, भूख, दासता, तेरे उच्चतर उद्देश्य के कारण बनने चाहिये। तू श्रेष्ठ मानव बन—यह तेरे अन्दर एक नये प्राणी की आवाज है। जिसे पथ प्रदर्शक के रूप में स्वीकार कर, चाहे इसके लिये अपनी कुछ इच्छाओं को भी समाप्त करना पड़े।"

## ईसा का आविर्भाव और उसका विकास क्रम

ऊपर हम धार्मिक दृष्टि से इस बात पर विचार कर चुके हैं कि ईसा जैसी दिव्य-आत्मायें ऐसे युग-परिवर्तन के अवसरों पर ही प्रकट हुआ करती हैं जब मानवता विकास क्रम की एक मंजिल से दूसरी मंजिल पर कदम रखती है और आगामी परिस्थितियों की जानकारी न होने के कारण शंकाकुल होने लगती है। उसी समय मानवता का मार्ग प्रदर्शन करने के लिये दैवी आत्माओं का अवतरण हुआ करता है। पर 'मनुष्य का भाग्य' के लेखक ने यह सिद्ध किया है कि वैज्ञानिक विकास क्रम के अनुसार भी उस समय भूमध्य सागर के आस-पास के देशों में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी कि कोई महामानव आकर लोगों का पथ प्रदर्शन करे। ये देश किसी समय संसार में बड़े सभ्य और प्रभावशाली माने जाते थे। वहाँ महान सभ्यताओं जैसे यूनानी और रोमन सभ्यताओं—का उत्थान और पतन हुआ। लेकिन वे बिल्कुल ही समाप्त हो गये। उनकी अर्थ व्यवस्था और सैनिक सत्ता समाप्त हो गई। पर अनेक उच्च परम्परायें, जो मानवीय आवश्यकताओं और धार्मिक भावनाओं को अभिव्यक्त करती थीं, और जो जन-साधारण में अपनी जड़ जमा चुकी थी, शेष रह गई। इस प्रकार वहाँ एक ऐसा क्षेत्र बन चुका था कि उसमें किसी उच्चतर धार्मिक भावनाओं का बीज बोया जाये और मानवता को एक नये युग की ओर अग्रसर किया जाये। उस परिस्थिति में वहाँ किसी ऐसे महामानव की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी और वह ईसा के रूप में ही फलीभूत हुई इस सम्बन्ध से 'मनुष्य के भाग्य' का लेखक कहता है—

"ईसा तुरन्त नहीं आ गये। मनुष्यों को सच्चा मार्ग बतलाने के लिये एक ऐसे ही उदाहरण की आवश्यकता थी जो अन्तहीन पूर्णता और बलिदान का एक महान आदर्श उपस्थित कर सके। ईसा द्वारा ही प्रस्तुत चिनगारी कुछ काल तक प्रकाश दे सकती थी। अपनी उत्कर्षावस्था में वह संसार को प्रकाश दे सकेगी। प्रारम्भ में उनके समर्थकों ने किसी प्रकार ज्योति को जीवित रखा और समय की प्रतीक्षा की। आज दो हजार वर्ष बाद उनके सरल उपदेश तेजी से चमक रहे हैं।"

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

"जहाँ कहीं किसी असाधारण शक्ति सम्पन्न व पवित्र आत्मा को मानवता के उत्थान के लिये यत्नशील देखो, तो यह जान लो कि वह मेरे ही तेज मे उत्पन्न हुई है, मैं ही उसके माध्यम से कार्य कर रहा हूँ ।"

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि महापुरुष ईसा मानव-सभ्यता की प्रगति के मार्ग में एक प्रमुख प्रकाश स्तम्भ थे । उनका जीवन—उदाहरण और कार्य गत दो हजार में सैकड़ों, करोड़ों व्यक्तियों को उच्च जीवन का मार्ग-दर्शन करा चुका है और कितने ही भूखण्डों को जो घोर अन्धकार में पृथक पड़े थे, उसने काया पलट कर दी । ईसा के उदाहरण से ही अनुप्राणित होकर आज भी हजारो महापुरुष गिरे-पड़े लोगों के उद्धार के लिये आत्म-त्याग का उच्चतम आदर्श दिखलाकर मानवता को अग्रसर कर रहे हैं । इसलिये यदि हम यह कहें कि ईसा के एक 'अवतार' के प्रभाव से आज हजारों 'अंशावतार' संसार का भार अपने कन्धों पर उठा कर चल रहे हैं तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं । जैसा ऊपर 'गीता' के श्लोक मे कहा गया है जो व्यक्ति प्राणों का समस्त मोह त्यागकर अफ्रीका के भयकर जंगलों और प्रशान्त महासागर के अदम्य टापुओं के नर माँसाहारी लोगों के बीच जाकर उनको मानवता की शिक्षा देते हैं, साथ ही रोग, शोक अभावों को दूर करने का भी प्रयत्न करते हैं, और इसके बदले में स्वयं वहाँ अस्वस्थ होकर अपना बलिदान कर देते हैं, ऐसे 'देवदूत' का कार्य करने वालों को यदि 'अवतार' कहा जाये तो क्या अनुचित है ? हम तो ऐसे निःस्वार्थी महामानवों के लिये स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में यही कह सकते हैं—

"विभिन्न देशीय, विभिन्न जातीय, विभिन्न मतावलम्बी भूतकाल के उन सब महापुरुषों को हम प्रणाम करते हैं—जिनका उपदेश और चरित्र हमने उत्तराधिकार में पाये हैं । विभिन्न जातियों, देशों व धर्मों में जो देव तुल्य नर-नारीगण, इस समय मानवता के कल्याण मे संलग्न है उन सबको प्रणाम है । जीवन्त ईश्वर रूप, जो महापुरुष भविष्य में हमारी सन्तान के लिये निस्पृहता से कार्य करने के लिये अवतार धारण करेंगे, उन सबको प्रणाम है ।"

# वैदिक-धर्म के पुनरुद्धारक : जगद्गुरु शंकराचार्य

माँ, वात्सल्य-वश छोड़ नही सकती, उसे इस बात का मोह है कि बच्चा बड़ा होकर घर-गृहस्थी चलायेगा, धन कमायेगा, नाती-पोतों का सुख मिलेगा और मेरे अन्तःकरण मे धर्म, जाति और संस्कृति की रक्षा का सवाल घूमता है । उसके लिये स्वाधीन होने की आवश्यकता है । "समाज-सेवा के लिये यदि अब भी कोई ज्वलन्त ज्ञान-ज्योति लेकर सामने नही आता तो हमारी वैदिक संस्कृति की रक्षा कैसे होगी । हे प्रभो ! हे परमात्मन् ! मुझे बल दो, बुद्धि दो, शक्ति दो, ज्ञान दो और दिशा दो, ताकि पीडित मानवता और उत्पीड़ित सद्धर्म को विनाश से बचा सकूँ, प्रकाश दे सकूँ ।"

यह प्रश्न एक बालक के मन में आज कई दिन से प्रखर वेग के साथ घूम रहा है । बच्चे ने कई बार माँ से आज्ञा माँगी—माँ मुझे समाज-सेवा के लिये उन्मुक्त कर दो । माँ ने उत्तर दिया—कि बेटा अभी तो तू छोटा है । अज्ञानी है । अभी तेरी उम्र ही क्या हुई है । ब्याह-शादी हो, फिर बच्चे हों, मेरी तरह बुड्ढा हो तब समाज-सेवा भी कर लेना ।

"नहीं माँ ! बुड्ढे हो जाने पर शक्ति थक जाती है, उत्साह मन्द पड जाता है तब सेवा कार्य नही, आत्म-कल्याण की साधना हो सकती है पर आज तो अपने धर्म, जातीय गौरव और पितामह ऋषियों के ज्ञान की सुरक्षा का प्रश्न है, माँ वह कार्य अभी पूरा हो सकता है । तू मुझे उन्मुक्त कर सैकड़ों, लाखों माताओं की रक्षा, बालकों को अज्ञान और आडम्बर के महापाप से बचाने के लिये यदि तुझे अपने बेटे का बलिदान करना पड़े तो क्या तुझे प्रसन्नता नहीं होगी ?"

बालक माँ के पास पहुँचा—"माँ आज सोमवती अमावस्या है । हमारी इच्छा है आज पवित्र अलवाई मे स्नान कर आये ?" हाँ-हाँ बेटा चल मैं [illegible]

रही हूँ ऐसा पुण्य सुयोग जाने कब बन पड़े । माँ-बेटे नदी की ओर चल पड़े । माँ इसलिये खुश थी कि बच्चे की हठ दूर हुई, बच्चा इसलिये खुश था कि अब अपने उद्देश्य की पूर्ति, समाज-सेवा के व्रत के लिये उन्मुक्त वातावरण मिल जायेगा । माँ उस रहस्यपूर्ण मुस्कान में भी अपनी विजय को निहार रही थी ।

दोनो स्नान करने लगे । माँ किनारे पर थी पर बच्चा बीच बहाव की ओर तैर गया । दो क्षण ही गुजरे थे कि बालक चिल्लाया—'माँ मुझे मगर ने पकड़ लिया ।' कभी वह डुबकी लगा जाते, कभी उछल कर ऊपर आते और फिर चिल्लाते माँ मुझे मगर घसीट कर लिये जा रहा है । जल्दी से कोई प्रयत्न करो अन्यथा अब जीवन असम्भव है ।

माँ रोने, चिल्लाने के अतिरिक्त क्या कर सकती थी । बचाने वाला कोई भी तो न था । बच्चे ने फिर पुकारा—माँ अब तो मेरी रक्षा भगवान शंकर ही कर सकते हैं, वह आशुतोष है तू जल्दी ही मुझे उनको समर्पित कर दे तभी जीवन सुरक्षा हो सकती है अन्यथा मैं तो चला और यह कहकर जैसे ही वह पुन. डुबकी लगाने को हुए—माँ ने आँसू बहाते हुए कहा—"मैं इस बालक को शंकर भगवान को अर्पण करती हूँ । अब यह मेरा नहीं, शंकर भगवान का होकर रहेगा । भगवान इसके जीवन की रक्षा करे ।"

हाँफते हुए बालक किनारे की ओर चल पडा । "माँ भगवान ने मुझे बचा लिया । यह सब तेरी ही कृपा है । माँ, तूने मुझे नहीं मेरी आत्मा को बचा लिया, अब मैं तेरा ही नही शंकर भगवान का भी हो गया हूँ सो तेरी ही नहीं उनकी भी, उनके ससार की भी सेवा करूँगा ।"

बच्चे ने कपड़े पहने और माँ से विदा माँगी—माँ रो पड़ी, बेटे ! क्या आज ही चला जायेगा ?

हाँ, माँ अब तो मै भगवान का हो गया । अब मुझे गृहस्थ मे नही जाना चाहिये । मोह त्यागकर प्रसन्नता अनुभव कर, तेरा बच्चा महान कार्य के लिये जा रहा है । धर्म और जाति के उद्धार का व्रत लिया है मैने, माँ क्या उससे तुझे शान्ति और सन्तोष न होगा ?

"अवश्य होगा बेटा ।" माँ ने वात्सल्य भाव से बच्चे की पीठ थपथपाई और आशीर्वाद का हाथ फेरा । पर एक बात याद रखना—तात, मेरी मृत्यु हो तो दाह संस्कार तू अपने ही हाथ से करना । 'बेटे ने क... दिया—माँ कहीं भी रहूँगा तेरी अन्तिम इच्छा अव... पूर्ण करूँगा । सारे ससार की सेवा में तेरी सेवा भ... तो है ।" स्नान करने साथ-साथ आये थे पर मॉ... अकेली घर लौटी और बालक साधना, ज्ञान, सयम... और धर्मोद्धार के लिये दूसरी ओर चल पड़ा ।

## संक्षिप्त जीवन परिचय

जिस बालक के मन में भारतीय सस्कृति, धर्म और दर्शन के प्रति किशोरावस्था से ही इतना स्वाभिमान और त्याग भावना थी । वह और कोई नहीं जगद्गुरु शंकराचार्य थे । जिन्होंने तत्कालीन अनाचार और अन्धविश्वासो से राष्ट्र जननी का उद्धार ही नहीं किया सारे देश को एक सास्कृतिक सूत्र में पिरोने का गुरुतापूर्ण कार्य भी सम्पन्न किया । भारत ही नहीं सारा विश्व उनके त्याग और बलिदान का ऋणी है ।

भोज प्रबन्ध आदि के घटना-प्रसंगों से अनुमान लगाया जाता है कि जगद्गुरु शंकराचार्य का जन्म सन् ७८८ के लगभग आज से १२०० वर्ष पूर्व केरल प्रान्त के एक छोटे से ग्राम कालड़ी में हुआ इनके पिता शिवगुरु ग्राम मन्दिर के राज-नियुक्त पुरोहित थे साथ ही भगवान के प्रति उनकी श्रद्धा और विश्वास अविचलित थे । शंकराचार्य की माता कामाक्षी भी वैसी ही सरल और धर्म परायणा थी । असम्भव सम्भव हो सकता था, किन्तु शिवगुरु की ईश्वर निष्ठा इतनी प्रगाढ थी कि उसे आज तक कोई हिला न पाया था । वे नियमपूर्वक ईश्वर-उपासना करते थे । ग्राम-वधुयें शिवगुरु की पूजा-समाप्ति के बाद जब शंखध्वनि होती तो फिर बिना विलम्ब किये अपने कार्यों के प्रबन्ध मे चली जाती । उनका विश्वास था घड़ी फेल हो सकती है, पर शिवगुरु की उपासना के समय में कभी अन्तर नही आ सकता ।

शिवगुरु को कोई अभाव न था पर उनके कोई सन्तान न थी । ४० वर्ष की आयु बीत जाने पर भी जब कोई सन्तान न हुई तो देवी कामाक्षी बहुत दु:खी रहने लगी । वह अपना दु:ख अपने पति से भी व्यक्त करती तो शिवगुरु हँसते हुए उत्तर देते—पगली हुई हो कामाक्षी, गाँव के सारे बच्चे अपने ही तो है, इनकी खुशी में क्या परमात्मा की मुस्कान नही दिखाई देती । सब तेरे ही बच्चे है, जिसकी सेवा करो वही अपना

है । फिर कमी किस बात की, जब सारा संसार ही अपना है । सब बच्चे अपने ही तो है ।

नारी हृदय तो आखिर नारी हृदय ही ठहरा, कामाक्षी को सन्तोष न हुआ पर शिवगुरु को तो भगवान के विधान पर आस्था थी । वह जब कभी भगवान शिव की प्रतिमा के सामने जाते और नि.सन्तान होने की बात उनके मन में आती तो वह यही कहते—भगवान ! यदि देना हो तो कोई ऐसी सन्तान देना जो संस्कारवान् हो, लोक मंगल के लिये जो आत्म सुखों को बलिदान दे सके जिसके अन्तःकरण में धर्म और मानवता के प्रति सच्ची आस्था हो जो नि.स्वार्थ भाव से लोक-सेवा कर सके । यदि ऐसा सम्भव न हो तो मुझे निःसन्तान ही रखना ।

सच्ची और नि स्वार्थ आकांक्षायें कभी-कभी अधूरी नहीं रहतीं । बालक शंकर का जन्म इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है । शिवगुरु की जैसी आकांक्षा थी वैसा ही उनका शुद्ध और पवित्र व्यक्तित्व जीवन भी था । संस्कारयुक्त वातावरण मे ही सस्कारवान् एवं प्रतिभाशाली आत्मायें जन्म लेती है, फिर यदि शिवगुरु का मनोरथ भी इसी तरह पूर्ण हुआ तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं ।

## शिक्षा-दीक्षा

बाल्यावस्था से ही शिवगुरु ने अपने बच्चे मे श्रेष्ठ संस्कार डालना आरम्भ किया । उसे भूत-प्रेत की कहानियाँ सुनाने की अपेक्षा शिवगुरु उन्हें तत्कालीन समाज में छाई हुई दुर्व्यवस्था की रोमांचकारी घटनाये सुनाया करते और बच्चे के धार्मिक संस्कार परिपुष्ट हों इसके लिये ईश्वर उपासना, आत्मा, धर्म, दर्शन की जानकारी भी दिया करते थे । सदाचार और सद्गुणों की ओर प्रेरित करने के लिये रामायण, महाभारत की कथाये और महापुरुषो के जीवन चरित्र सुनाया करते । पिता की दीक्षा पुत्र में बलवान आध्यात्मिक संस्कारों के रूप मे दिखने लगी ।

इसी बीच शिवगुरु का देहावसान हो गया । माँ कामाक्षी उसकी देख-रेख करने लगी । शिवगुरु के एक मित्र थे—विष्णु स्वामी । एक दिन उन्होंने कामाक्षी से जाकर कहा—भाभी जी ! भाई श्री शिवगुरु बच्चे मे उच्च सस्कारो का प्रकाश डाल गये है, उसकी शिक्षा भी उसी के अनुरूप होनी चाहिये । अलवाई के तट पर आचार्य ब्रह्मस्वामी का गुरुकुल है । वे स्वयं भी बड़े तेजस्वी, विद्वान हैं और समाज में नैतिक सदाचरण की समुन्नति के लिये एकाकी भाव से लगे रहते हैं । इस गुरुकुल में शिक्षा पाये हुए छात्र बड़े मेधावी और प्रतापी निकलते हैं बालक शंकर को वहीं पर शिक्षा ग्रहण कराने के लिये भेजना चाहिये ।

कामाक्षी ने अपना मोह व्यक्त करते हुए कहा—"भैया, आपका कहना तो ठीक है पर मेरे एक ही बच्चा है इसे यहीं अपने पास रखूँगी । जो थोड़ा बहुत पढ़ लेगा वही उसको काफी है, मन्दिर है इसी मे पुरोहित हो जाना है और मुझे कोई लालसा नहीं । मुझे बच्चे को बड़ा नहीं बनाना । यहीं सुख से रहेगा, वहाँ कौन इसकी देखभाल करेगा ?"

विष्णु स्वामी ने हँसकर कहा—भाभी जी ! यह आप कह रही हैं, आज भैया होते तो ऐसा न कहते । वे बच्चे को उच्च गुणो से ओत-प्रोत देखना चाहते थे । इसके लिये गुरुकुल जैसा संस्कारवान् वातावरण ही उपयुक्त हो सकता है । वहाँ नित्य अग्निहोत्र होता है, अक्षर अभ्यास ही नहीं कराया जाता बच्चो में सच्चाई, ईमानदारी, चरित्र, कर्मठता, साहस, श्रम, स्वावलम्बन आदि महान गुणो का विकास भी किया जाता है । यदि कुछ कठिनाइयाँ और अभाव वहाँ होंगे तो उनसे भी बच्चों का जीवन निर्माण ही होता है । कठिनाइयों में बच्चे के विचार करने की और उचित-अनुचित का निष्कर्ष निकालने की क्षमता जागृत होती है । लौकिक परिस्थितियों का ज्ञान विस्तीर्ण होता है, इनका बच्चों के भावी जीवन पर असर पड़ता है । वे यदि गृहस्थ होते तो कुशल गृहस्थ, पुरोहित होते तो तेजस्वी और विद्वान, मार्गद्रष्टा और यदि राज-कर्मचारी हुए तो सच्चाई, ईमानदारी और सेवा-भावना से काम करते हुए प्रजापालन करते हैं, विश्व, समाज और आत्म-कल्याण सभी दृष्टियो से इस प्रकार की शिक्षा सार्थक ही होती है । इसलिये आप अपने बच्चे को संकुचित मोह की सीमा में बाँधकर उसका अकल्याण न कीजिये ।

बालक ने भी विष्णु स्वामी की ही बात का समर्थन किया—हाँ, माँ मुझे तू गुरुकुल भेज । मैं वहाँ खूब मेहनत से पढ़ूँगा और तेरा मुख उज्ज्वल करूँगा ।

माँ ने भी अनुभव किया कि बच्चों को गुण सम्पन्न और प्रतिभाशाली बनाने के लिये गुरुकुल ही उचित

स्थान है, इसलिये वह भी विष्णु स्वामी के कथन पर सहमत हो गई । विष्णु स्वामी ने बालक को गुरुकुल पहुँचाया । बालक शंकर वहाँ परिश्रम और अनुशासन के साथ विद्याध्ययन करने लगा ।

## देश की तत्कालीन सामाजिक व धार्मिक स्थिति

जिस समय इस देश मे जगद्गुरु शंकराचार्य का आविर्भाव हुआ आज से मिलती-जुलती परिस्थितियाँ थीं । जो वैदिक धर्म में उच्च गुणों—प्रेम, दया, करुणा, उदारता, तप, त्याग आदि के द्वारा लौकिक जीवन को भव्य बनाने की प्रेरणा देता है और पारलौकिक सुख-स्वर्ग की प्राप्ति के लिये श्रद्धा, विश्वास, आत्म-चिन्तन, स्वाध्याय, सत्संग, समाज-सेवा आदि के द्वारा आत्म-विकास और ईश्वर प्राप्ति की शिक्षा देता है, उसी धर्म को प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने अनीति, शोषण, भ्रम तथा अनाचार का माध्यम बना डाला । उस समय धर्म के नाम पर वामाचार का बोलबाला था । विभिन्न प्रयोजनों के लिये विभिन्न देवी-देवताओं के तान्त्रिक प्रयोग खूब प्रचलित थे और उनके द्वारा लोगो के धन, सम्पत्ति, शील, सौन्दर्य और स्वास्थ्य का मनमाना शोषण किया जाता है ।

चरित्र और नैतिकता का बुरी तरह अन्त हो चुका था, लोक लिप्सा, धन-लिप्सा और वासना-लिप्सा से आक्रान्त धार्मिक वर्ग ही जब भ्रष्ट हो चुका था तब साधारण प्रजा का तो कहना ही क्या था । राजा और सामन्त भी इन्हीं पाखण्डों में सहयोगी बने हुए थे । यज्ञो में खूब हिंसायें की जाती थी । उस अधर्माचार पर पर्दा डालने के लिये "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" का सूत्र ढूँढ़ निकाला था । इससे समाज का एक वर्ग तो स्वार्थ साधनों में कर्कशपन से जुटा था और एक वर्ग ऐसा था जो उसमें बुरी तरह पिस रहा था ।

## बौद्ध धर्म

इसकी प्रतिक्रिया ही बुद्ध धर्म के रूप मे अवतीर्ण हुई । बुद्ध और उनके अनुयायी ध्यान, उपासना आदि तो करते थे । संस्कृत भाषा का अधिक ज्ञान न होने के कारण वे धर्म शास्त्रों का असली रहस्य जानकर इस अनाचार का शास्त्रीय खण्डन कर सकने मे समर्थ न थे । अतएव जब-जब पंडितों ने हिंसा को "वैदिकी" बताया और यज्ञों में हिंसा को धर्म बताया तो—उन्होंने यज्ञ और वेद दोनों का खण्डन करना आरम्भ कर दिया । वेद का खण्डन करने के साथ-साथ बौद्ध भी शून्य हो गये । उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को मानने से ही इन्कार कर दिया और बुद्धि तथा विवेक को प्रतिष्ठा दी, जिससे लोग आत्मकल्याण का लक्ष्य पूरा करते रह सकें ।

भगवान बुद्ध ने अपने समय में प्रचलित कर्मकाण्ड की बुराइयों को समाप्त करने के लिये वैदिक मान्यताओं—यज्ञ-त्याग, ईश्वरवाद, हिंसा आदि का विरोध किया था किन्तु उसके शिष्यों ने उसका उल्टा ही अर्थ लगाया । कर्मवाद को इन्होंने मिथ्या बताकर गृहस्थ धर्म की मर्यादायें तोड़ दीं । बौद्ध विहारो में रहने वाले तरुण भिक्षु और भिक्षुणियाँ आत्म संयम न रख सके । उन सबने नैतिक जीवन की रीति-नीति को तिलांजलि दे दी । स्वच्छन्द विहार उनका प्रमुख धर्म हो गया । बौद्धों का वज्रयान सम्प्रदाय तो उस समय अश्लीलता का नग्न नृत्य ही बन चुका था ।

## चार्वाक मत

वैदिक धर्म की विकृतियों की प्रतिक्रियास्वरूप बुद्ध का उदय हुआ था वैसे ही उसकी एक और प्रतिक्रिया—चार्वाक दर्शन के रूप में सामने आई । बौद्धों में उपासना, आत्म-चिंतन, अहिंसा आदि सिद्धान्त तो भी थे, इस दूसरे चार्वाक कौल सम्प्रदाय ने तो इन सबको भी उठाकर ताक में रखकर कहा—संसार में न तो कहीं ईश्वर है न कोई आत्मा । यह शरीर ही सब कुछ है । यही स्वर्ग है और यही स्वर्ग का साधन । जितना बन बड़े सुखोपभोग कर लेना ही मनुष्य का असली कर्त्तव्य है । चार्वाक का मत था—

यावद्ज्जीवेत् सुखं जीवेत् ।
ऋणं कृत्वा घृतं पीवेत् ॥

जब तक जियो सुख से जियो । ऋण करके भी यदि घृत पीने को मिले तो कुछ बुरा नही ।

इस सम्प्रदाय का मत था—"न स्वर्ग है न मुक्ति, ब्रह्म है न परलोक पुनर्जन्म । जो है सब इसी जन्म मे है । कंचन और कामिनी का मनमाना उपभोग कर जीवित अवस्था मे ही स्वर्गीय सुखों का आनन्द करे ।" मद्य, माँस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन सुखी जीवन के यह 'पंच

मकार' ही स्वर्ग सुख के पाथेय बने और इन्द्रिय सुखों के इस क्षणिक प्रलोभन ने तरुण-तरुणियों को आकर्षित भी खूब किया । गाँव के गाँव, राज्य के राज्य नास्तिकवाद में दीक्षित होते चले गये । धर्म खिचड़ी बन गया । वैदिक स्वरूप तो पहले ही नष्ट हो चुका था, अब न बौद्ध धर्म ही रहा और न चार्वाक प्रचलित कौल धर्म । जो कुछ था अनैतिक, अनाचार, पापाचार ही था । वही सर्वत्र देश में व्याप्त हो रहा था ।

## विषम परिस्थितियों की पहली झलक

गुरुकुल का नियम था कि प्रत्येक बालक को भिक्षार्जन के लिये जाना पड़ता था । बच्चे आस-पास के गाँवो से जो कुछ लाते गुरु-चरणों में चढा देते । गुरु ब्रह्मास्वामी उससे छात्रों के पालन-पोषण की व्यवस्था करते । नियमानुसार बालक शंकर को भी जाना पडता । एक दिन शंकर अस्वस्थ थे । भिक्षार्जन के लिये गुरुकुल की सीमा से काफी दूर एक गाँव में पहुँच गये । ज्वर की तीव्रता से बेहोशी आ गई । शकर लौट न सके, वहीं एक मन्दिर था उसी मे विश्राम के लिये लेटे और सो गये ।

प्रहर रात बीते निद्रा टूटी तो उन्होंने देखा मन्दिर में कोई आयोजन हो रहा है । अनेक तरुण-तरुणियाँ वस्त्राभूषणों से सुसज्जित आमोद-प्रमोद कर रहे है । यह सब कौल मत के अनुयायी थे और नियमानुसार प्रतिदिन इसी मन्दिर में आकर भोग-विलास किया करते थे । माँस-मदिरा का सेवन खुलकर किया जा रहा था । वेद, उपनिषदों की निन्दा करते और उद्धत होकर मदिरा के नशे मे चूर वैवाहिक पवित्रता को भी उतार कर फेक देते । व्यभिचार का बोलवाला था ।

धर्म की यह अवमानना और विकृति देखकर बालक शंकर का हृदय काँप उठा । उसने वही प्रतिज्ञा की, कि जब तक देश की इन अनास्थाओ और अन्धविश्वासों को समाप्त न कर लूँगा चैन से न बैठूँगा । अपने सुख को राष्ट्र के धर्मोद्धार के लिये तिलांजलि देता हूँ, अपने श्रम और ज्ञान की शक्ति से राष्ट्र की आध्यात्मिक शक्तियों को जागृत करूँगा भले ही सारा जीवन साधना मे लग जाये, घर छोड़ना पडे, घोर से घोर कष्ट सहने पडे । रुग्ण शकर आश्रम को इन्ही संकल्पों को लेकर लौटा, उस दिन ।

शंकर चिन्तित थे कि वह अकेले कैसे इतने विशाल राष्ट्र की प्रसुप्त आध्यात्मिक चेतना को जगा पायेंगे ? उन्हें कौन सहयोग देगा ? किस तरह समाज मे व्याप्त बुराइयों का अन्त किया जा सकेगा ? कई दिन इस चिंतन के कारण नीद भी नहीं आई । एक दिन उन्हें पुनः भिक्षार्जन के लिये जाना पड़ा । उस दिन वे एक ऐसे दरवाजे पर पहुँचे जिसकी स्वामिनी बहुत निर्धन थी । उसे कई दिन से पूरा पेट आहार भी न मिला था । शकर ने उसी दरवाजे पर भीख के लिये पुकार लगाई ।

स्वामी ने बच्चे की आवाज सुनी तो उसकी आँखें छलछला आईं । मेरे देश में ऐसे विद्यालय चलते हैं जो बच्चो में श्रद्धा, विश्वास और उच्च मानवीय संस्कारों की जागृति करते हैं मैं कितनी अभागिन हूँ जो ऐसे समाज सेवी-और प्रजा को प्रकाश देने वालों की सहायता भी नही कर सकती । उस दिन खाने के लिये उनके पास एक ही आँवला बचा था । स्त्री का हृदय उमड़ आया । मुझे दान देना ही चाहिये । नेक कार्य के लिये मुझे देने की जितनी भी सामर्थ्य है उससे विमुख क्यो होऊँ । उस स्त्री ने वह आँवला उठाया और गर्व मिश्रित सजल नेत्रों से शंकर की झोली की ओर बढ़ाया । बालक ने आँवले को देखा और अपनी तेजस्वी दृष्टि दाता के आनन पर दौड़ाई—उन्हें विचार आया—धर्म के प्रति हमारी आस्था कितनी बलवती है, लोगो मे अभी भी त्याग, सेवा, सहिष्णुता की कितनी महान भावना विद्यमान है । सम्भवतः इसके घर में आज यह आँवला ही शेष रहा होगा तभी तो देवी उसे ही लेकर आई है । बालक ने झोली फैला दी । उसने सादर जननी के पैर छुये और कहा—माँ जिस देश में तुम्हारी जैसी पवित्र, त्याग मूर्ति नारियाँ हैं, जिस देश मे धर्म के प्रति लोगों मे इतना उदार भाव है उसकी धर्म-निष्ठा की काली घटायें देर तक छिपाये नही रह सकती । आज का समय कैसा ही विषम क्यों न हो, भविष्य उसका निश्चित रूप से उज्ज्वल है ।

"कौन साथ देगा और कैसे देश का उद्धार होगा" शंकर को इन सवालों का जवाब मिल गया । इस देश वासियो के रक्त, माँस में समाई हुई धर्मनिष्ठा अपने आप समझ आते ही प्रकाशमान होगी । अब उन्होंने आगे चलने को कदम बढ़ाया ।"

## साधना के लिये प्रस्थान

माँ से विदा लेकर शंकर आगे बढ़े उन्होंने विचार किया कि सर्वप्रथम मुझे ज्ञान संचय और आत्म-दर्शन की साधना द्वारा वह शक्ति अर्जित करनी चाहिये जो लोगों को प्रभावित कर सके और संघर्षों में सहिष्णु एवं धैर्यपूर्वक काम करने की शक्ति देती रहे । इसके लिये किसी योग्य मार्ग-दर्शक की तलाश करनी चाहिये । आत्म-शक्तियों को प्रबुद्ध किये बिना राष्ट्र की विशाल आध्यात्मिक मान्यताओं को व्यवस्थित करना सम्भव न होगा ।

शंकर के घर छोड़ देने का समाचार सारे केरल राज्य में हवा की तरह फैल गया । राज-नरेश राजशेखर को उनकी बौद्धिक प्रतिभा का पता पहले ही चल चुका था । वे स्वयं आकर शंकराचार्य से मिले और उन्हें राज-पंडित नियुक्त करने का प्रस्ताव किया । शंकराचार्य ने प्रलोभन ठुकराते हुए कहा—"राजन् ! संसार में जो बुद्धिमान लोग हैं उन्हें अपनी आवश्यकतायें सीमित करके समाज-सेवा के ब्राह्मण-व्रत का भी पालन करना चाहिये । विद्या, ज्ञान, सदाचार, न्याय, नैतिकता तथा धर्मनिष्ठा से सामाजिक जीवन ओत-प्रोत रहे स्वार्थ, कलह, कुटिलता, कुविचार से लोग बचे रहें यह उत्तरदायित्व राजा का नहीं, उन व्यक्तियों का है जो प्रबुद्ध हैं । जिन्हें सांसारिक परिस्थितियों और विश्व-वैचित्र्य का यथेष्ट ज्ञान हो उन्हें समाज का नैतिक मार्ग-दर्शन करना चाहिये । जिन राज्यों में, देशों में, समाजों में यह परम्परा चलती रहती है । राजन् ! उस देश और समाज के लोग परस्पर एक-दूसरे की उन्नति करते हुए अपने मनुष्य-जीवन का लक्ष्य पूरा कर लेते हैं ।

उन्होंने आगे कहा—"राजन् ! अपने देश की तो सारी उन्नति ही इस व्यवस्था पर ठहरी है । वैश्य का कर्त्तव्य है कि वह उपार्जन का एक अंश लोक कल्याण के लिये निकालता रहे । जिनके पास धन है उन्हें उसे अपना ही न मानना चाहिये । जिस समाज से खिंचकर पैसा उनके पास गया है यदि वह उसकी भलाई में काम नहीं आता तो पैसे वाले बेईमानी करते हैं । शिक्षा सम्वर्द्धन के पुस्तकालय, विद्यादान करने वाली पाठशालाओं, मन्दिरों, गौ-शालाओं आदि की सुरक्षा और प्रबन्ध के लिये उनको अपनी आय का एक अंश निकालते रहना चाहिये ।"

"क्षत्रिय शारीरिक शक्ति-शौर्य और संगठन से राष्ट्र की बाह्य और आन्तरिक आक्रमणों से रक्षा करें । बदमाशों को दण्ड देना सज्जनों की रक्षा करना यह राज-कर्तव्य है । राजाओं और क्षत्रियों का दुर्व्यसन, भोग, अत्याचार, उत्पीड़न शक्ति प्रदर्शन नहीं, प्रजा पालन और दुष्टों से शक्तिपूर्वक समाज की रक्षा करनी चाहिये ।"

किन्तु ब्राह्मण का कर्तव्य इन सबसे सर्वोपरि है । वह समाज की आत्मिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं, सत्परम्पराओं को जीवित और जागृत रखता है । भूले भटके, अज्ञानी, दलित, पथ-भ्रष्ट लोग हैं उन्हें राह पर लाने और सामान्य लोगों का आध्यात्मिक मार्गदर्शन जहाँ होता रहता है वहाँ के लोग खुशहाल और सम्पन्न होते हैं यह सारी जिम्मेदारियाँ तो ब्राह्मणों की होती हैं ।

ब्राह्मण निर्लोभ और निष्काम भाव से जब तक इस देश की सेवा करते रहे हैं, देश विद्या, बल, ज्ञान, गुण और धन सम्पत्ति से पूर्ण सुखी रहा आज प्रबुद्ध व्यक्ति भी अपने स्वार्थों, विलास सामग्रियों के सचय, ज्ञान साधना से पथ-भ्रष्ट हो रहे हैं । राजन् ! उसका प्रमाद सारे देश में देख रहे हैं । मैं सारे देश को अपना घर, अपना कार्य-क्षेत्र मानता हूँ । इसलिये आपका प्रस्ताव स्वीकार करने में असमर्थ हूँ मुझे अपनी सुविधा की अपेक्षा देश के आध्यात्मिक उत्थान का ज्यादा ध्यान है ।

यही बात है तो आप जिस देवालय में रहना चाहें वहाँ आपके लिये समुचित व्यवस्था करा दूँ अथवा किसी विशेष स्थान पर ही सुविधा हो तो वहाँ आपके निवास आदि का प्रबन्ध करा दें—राजा ने अभ्यर्थना की ।

श्री शंकराचार्य ने उसी दृढ़ता किन्तु विनीत और अविचलित भाव से कहा—"महाराजा आज मेरी सुविधा का सवाल नहीं, मुख्य प्रश्न सारे राष्ट्र के अध्यात्म, सामाजिक व्यवस्थाओं में सुधार का है । सर्वत्र धर्माडम्बर, नास्तिकता, अन्ध-विश्वास, मूढ़-प्रथायें प्रचलित हैं, जन-जीवन गर्हित हो रहा है मैं एक स्थान पर बैठा नहीं रह सकता । मैं सारे भारतवर्ष को एक सांस्कृतिक सूत्र एक-सी वैदिक मान्यताओं में बाँधने का रचनात्मक प्रयास करूँगा उसके लिये मुझे सर्वत्र भ्रमण करना चाहिये, ज्ञान ज्योति की पिपासाओं को तृप्त करना चाहिये ।

## साधना और विद्याध्यन

राजा ने अपना प्रस्ताव वापस ले लिया । शकराचार्य सादर विदा हुए । नर्मदा तट पर स्वामी विवेकानन्द भगवत्पाद का आश्रम था वहाँ रहकर और भगवत्पाद से दीक्षा लेकर शंकराचार्य ने वेद शास्त्रो का गहन अध्ययन कर अपने ज्ञान को परिपक्व किया । उतनी ही उन्होंने साधना भी की, जिससे उनकी आत्मशक्तियाँ भी विकसित और प्रखर प्रकीर्ण हो उठी ।

शिष्यों की श्रद्धा, लगन, तत्परता, अनुशासन और सेवा भावना के अनुरूप ही गुरुजनो का स्नेह आशीर्वाद मिला करता है । शंकराचार्य ने शिष्य की आध्यात्मिक परम्परा को पूर्ण भावना के साथ निभाया उसके फलस्वरूप ही गोविन्द स्वामी ने भी अपने पास जो कुछ भी तप, ज्ञान और साधना की संचित पूँजी थी उसे लोक कल्याणार्थ उन पर उड़ेल दिया । उन्होंने शंकराचार्य को अद्वैतवाद का गम्भीर अध्ययन कराया । वेदांग के कुछ अंश बाद मे उन्होंने गुरुदेव की आज्ञा से काशी में जाकर पढे, इस तरह उन्होंने सर्वप्रथम अपने आप को ज्ञान और तप की शक्ति से निष्णात बना लिया । इस साधना ने ही शंकराचार्य को सामान्य-जन मे जगद्गुरु की गौरवशाली भूमिका में पहुँचा दिया ।

उनका प्रथम प्रवचन अद्वैत और वेदान्त पर वाराणसी मे हुआ । एक विशाल जन समुदाय को सम्बोधित करते हुए उन्होने कहा—'वेदान्त विशुद्ध रूप से मनुष्य की आत्मा के आध्यात्मिक उत्थान की प्रशस्ति करता है । वह व्यक्तियो के बीच विलगाव की नही प्रेम, दया, करुणा, उदारता, तप, त्याग, सेवा, सगठन शक्ति सम्वर्द्धन और निष्काम भावना से धर्म कर्त्तव्यो के पालन की शिक्षा देता है । हम लोग क्रिया परक अध्यात्म को भूलकर कामना-मूलक अध्यात्म की ओर खिंच गये हैं । धर्म के नाम पर वर्ग, सम्प्रदाय और विभिन्न मत खडे किये हैं हिन्दू-जाति के पतन का यही कारण है । आत्म-कल्याण और विश्व के आध्यात्मिक पुनरुत्थान के लिये हमें उन मानवीय गुणो पर ही लौटना पड़ेगा जिसमें चींटी से लेकर हाथी तक को अपने अस्तित्व की सुरक्षा का अधिकार है ।'

जगद्गुरु शकराचार्य के भाषण से जनता की श्रद्धा उन पर उमड पड़ी । गुरुदेव ने शिष्य को हृदय से लगा लिया और आशीर्वाद दिया—'वत्स, जाओ अब तुम सारे देश में वेदान्त का प्रचार करो । देश की वर्तमान दलित परिस्थितियों को विगलित कर नये अध्यात्म का पावन प्रकाश करो ।'

## आध्यात्मिक अनास्थाओं का उन्मूलन

उन दिनों यातायात के साधन नही थे । केवल बैलगाड़ियाँ ही उसके लिये प्रयुक्त होती थीं । घने जंगलों के बीच चलने वाले यात्रियों के सामने जंगली जानवरो के मार कर खा जाने का संकट हर घड़ी बना रहता था । कुएँ, विश्रामालय, औषधालयों की भी इतनी सुविधायें न थी । दस्युओं तथा तस्करो की कमी न थी । दिन में भी चलते राहगीर लूट लिये जाते थे । इन सब कष्टो के होते हुए भी शंकराचार्य ने वही मार्ग अपनाया जो महापुरुष अपनाया करते हैं । उन्हें अपने धर्म, कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व, एव पूर्वजो के ज्ञान गौरव का इतना आत्माभिमान था कि उन्होंने अनेक संकटों को भी तृणवत् माना । सच तो यह है कि कठिनाइयाँ ही सच्चे सेवा भावी पुरुषो की कसौटी है जो कष्ट नहीं सह सकता, कठिनाइयों मे भी धैर्य और आत्म सन्तोष पूर्वक अपने ध्येय मे नहीं जुट रह सकता, वह सच्चा सेवाभावी और आदर्श-प्रेमी नही हो सकता । व्यक्तित्व संघर्षो मे निखरता है । शंकराचार्य ही तो क्या राम, कृष्ण, बुद्ध जैसे अवतारी पुरुष भी कठिनाइयो से अछूते नही हो सकते । हर धर्म-प्रेमी और समाज-सेवी ने उत्पीड़न सहे हैं, शकराचार्य उससे कैसे बच पाते ।

उन्होने अनेक संकट सहते हुए धर्म प्रचार का कार्य शुरू किया । पैदल चलते थे । कभी भोजन ही नसीब नही होता था तो कभी दिन-दिन भर प्यासे रह जाते थे । पहाड थकाकर चकनाचूर कर देते, पथ की लावा-सी तपती धूप से पैरों मे छाले पड़ जाते । भगन्दर का फोडा था, फिर भी जगद्गुरु शंकराचार्य सब सहन करते हुए वेदान्त का, धर्म के यथार्थ स्वरूप का प्रसार करते रहे । एक बार तो उन्हे एक ईर्ष्यालु प्रतिद्वन्द्वी ने विष दे दिया, कई बार उन पर मर्मान्तक प्रहार किये गये फिर भी बजरंगी हनुमान की तरह सारे के सारे आघात दुर्बल शरीर में सहन करते हुए वे परिभ्रमण ही करते रहे । गांधार, कम्बोज, कश्मीर, तक्षशिला, बंगाल, बिहार, राजगृह, नालन्दा, गया, कामरूप नेपाल, उत्तर गुजरात, काठियावाड, मध्य-प्रदेश,

दक्षिण भारत—देश का कोई भी कोना ऐसा न बचा था जिस जगह उन्होंने शुद्ध अध्यात्म का सन्देश न पहुँचाया हो ।

## संगठन और सांस्कृतिक एकता के प्रयास

सारे देश का विस्तृत भ्रमण करने के साथ-साथ शंकराचार्य ने सारे प्रान्तों की विभिन्न परिस्थितियों का भी गहन अध्ययन किया । उन्होंने अनुभव किया कि देश मे व्यापक स्तर पर फैले धार्मिक भ्रष्टाचार एकाकी प्रयत्नों से दूर किये जाने सम्भव नहीं है । जहाँ भी लोगों ने उनके प्रवचन सुने और धर्म के नये स्वरूप की झाँकी पाई वहाँ लोगों ने अपनी मनोवृत्तियाँ भी बदलीं पर प्रतिक्रिया वादी तत्त्व भी उग्र हो उठे । कई धर्माचार्यों एवं पाखण्डियों ने तो उन्हें मरवा डालने तक के षड्यन्त्र किये । शंकराचार्य के प्रस्थान कर जाने के बाद प्रतिक्रियावादी लोग अपना कुचक्र रचते और लोगों को विभ्रमित करते । शंकराचार्य ने अनुभव किया ऐसा न हो इस तरह सारे देश मे धर्म के प्रति थोड़ी रही-सही आस्थाये भी समाप्त हो जायेंगी इसलिये उन्होने संगठित प्रयत्नों और सामूहिक रचनात्मक कार्यों की तीव्र आवश्यकता अनुभव की । उन्होंने दूसरी बार का भ्रमण संगठन की दृष्टि से किया ।

जिस समय वे प्रयाग में थे एक दिन इन्हीं विचारो में डूबे जगद्गुरु शंकराचार्य चले जा रहे थे कि सामने से आ रहे चाण्डाल ने उन्हें छू लिया । शंकराचार्य ब्राह्मण कुल में जन्मे थे और छुआछूत की परम्परागत परिस्थितियों में पले थे । धर्म प्रचार करने और लोगों के कल्याण की बाते करने पर भी वह पुराने संस्कार क्रियाशील थे । उन्हें अछूत के स्पर्श से बड़ा क्रोध आया । उसे वही फटकारने लगे तो उस चाण्डाल ने हँसकर कहा—साधु प्रवर, आप तो कहते हैं वह ब्रह्म ही सर्वभूत-प्राणियों में समाया हुआ है, वह अलग-अलग रूप मे क्रियाशील होने पर भी एक है, उसके गुण, कर्म और स्वभाव में अन्तर नहीं आता फिर भी आप मनुष्य-मनुष्य मे भेद करते हैं, छूत-अछूत मानते हैं क्या यही आपका धर्म है ?

शंकराचार्य ने चाण्डाल की बातों पर ध्यान से विचार किया तो उन्हें अपनी भूल मालूम हुई । उन्होंने उससे क्षमा माँगी ।

जगद्गुरु को उस दिन व्यावहारिक अद्वैत का बोध हुआ । "मनीषा पंचकम्" इस घटना के बाद ही लिखा था जिसमें उन्होंने ब्रह्म के विराट् स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है और लिखा है—यह विराट् विश्व ही परमात्मा का स्वरूप है । वही सम्पूर्ण जीवधारियों, वृक्ष, वनस्पति, जल, थल में भावना रूप में विद्यमान है । उसी की चेतना वायु में प्राण बनकर इधर से उधर घूमती है, अग्नि में दाहकता बनकर जलाती है, जल में विद्युत बनकर प्रकाश और जीवन देती है । अनन्तर ग्रह-नक्षत्रों और लोक-लोकान्तरों में वही चेतना सर्वत्र व्याप्त, सत् और चेतनशील है । उस निराकार विराट् ब्रह्म का ध्यान करने से मनुष्य की अन्तवृत्तियाँ विकसित होती हैं और विशाल बनती हैं । उसी ब्रह्म की ज्ञान आराधना करने से मनुष्य के कष्ट दूर होते है और जीवन लक्ष्य की पूर्ति होती है ।

## शरीरमाद्यंखलु धर्मसाधनम्

प्रयाग भी उस समय नास्तिकता और अत्याचार के अभाव से अछूता न रह पाया था । सेहिराज का पुत्र रत्नभद्र भी उसमे फँसकर चारित्रिक दुर्बलता के कारण अपना स्वास्थ्य गँवा बैठा था । असयमित जीवन ने उसके शरीर का सारा तेज और सत्व पी लिया था । निर्बल शरीर कष्टों का घर होता है और दुश्चरित्रता पतन और अशान्ति का कारण भी । रत्नभद्र इन सब बातो से इतना क्षुब्ध हो चुका था कि उसने आत्म-हत्या करने की योजना बना डाली । संयोगवश शंकराचार्य की उससे भेंट हो गई । शंकराचार्य भगवान ने इसके लिये बहुत धिक्कारा । उन्होंने कहा—यह शरीर आत्मा का वाहन है । पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के लिये इस शरीर मे जीवात्मा का अवतरण हुआ है जो लोग बुद्धि और विवेक द्वारा इस शरीर की शक्तियों का उपयोग करते है वे लौकिक धर्म अर्थ कामनाओ की पूर्ति करते हुए भी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् यह शरीर ही निवृत्ति का माध्यम भी है । अब तक जो बुराइयाँ हुईं रत्नभद्र ! उन्हें दूर करो, सयमित जीवन विताओ, स्वास्थ्य और समर्थता बढ़ाओ । मनोनिग्रह से यह सम्भव है । अभी तक विषयों में आसक्त रहे हो अब मनुष्य जीवन का सदुपयोग करना सीखो । उसमें लिप्त न होकर जिस दिन जीवन को एक कुशल नाट्यकार की तरह खेलोगे उस दिन तुम्हारे आनन्द का पारावार न रहेगा ।

शोकग्रस्त रत्नभद्र ने शरीर की उपयोगिता और मनुष्य जीवन का उद्देश्य समझा । उस दिन से वह शंकराचार्य का शिष्य बन गया और अपने शेष जीवन को कल्याण में लगाया ।

## सरस्वती मन्दिर का उद्धार

वेदान्त और धर्माचरण का प्रसार करते हुए जगद्गुरु शंकराचार्य काश्मीर की ओर चल पड़े । उनके प्रशिक्षण का उद्देश्य मनुष्य को हृदय, बुद्धि और आत्मा से सच्चा मनुष्य बनाना होता था । भक्ति का उन्होंने खण्डन नहीं किया पर उन्होंने कर्म से पलायन करने वाले गृहत्यागी-बौद्धों की तीव्र भर्त्सना की, ठीक भी है । यदि मन की उच्छृंखल प्रवृत्तियों को वशवर्ती न बनाया जा सके तो मनुष्य घर ही क्या जंगल में भी कुकर्म कर सकता है । भिक्षु उसके जीवित प्रमाण थे । वासना, मोह, आचरण भ्रष्टता के द्वारा मानसिक अशान्ति के कारण बुद्ध ने गृह-परित्याग किया था । वे इन्द्रिय-जयी थे पर यह बात उनके शिष्यों में न आ पाई इसलिये उन्होंने बौद्ध विहारों को घृणित वासनालयों में परिवर्तित कर दिया ।

शंकराचार्य ने ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित की और कहा—"यह ज्ञान ही मनुष्य की जीवात्मा को पवित्र करेगा । भक्ति और कर्म मे समन्वय के लिये ज्ञान आवश्यक है । ज्ञान से बन्धन-मुक्ति मिलती है, ज्ञान ही वर्तमान जीवन को क्लेश और कष्टों से बचाने में समर्थ होता है 'वे कहा करते थे—मनुष्य परमात्मा का ज्येष्ठ पुत्र है, उसको परमात्मा ने विचार, वाणी, ज्ञान, बुद्धि, संकल्प, सुनने, देखने, बातचीत करने के ऐसे सर्वांगपूर्ण साधन दिये जिनका समुचित सदुपयोग करके मनुष्य अपने आप ब्राह्मी स्थिति तक पहुँच सकता है ।"

मनुष्य पाप, कामना और वासना की नियन्त्रित मर्यादा के कारण लक्ष्य-भ्रष्ट हुआ और मनुष्य जीवन जैसे ईश्वरीय उपहार को उसने नारकीय यन्त्रणापूर्ण बना डाला । उसे दुष्कर्मों से ऊपर उठकर अपनी आत्मा का विकास करना चाहिये । आध्यात्म के नाम पर लोगों को परावलम्बी नही होना चाहिये । अपनी आत्मा का उद्धार आप करना चाहिये ।

इस तरह अमृतोपम उपदेशो से जन-जीवन को प्रकाश की नई दिशा देते हुए जगद्गुरु काश्मीर पहुँचे । काश्मीर में भगवती सरस्वती का एक अद्वितीय हस्तकला का प्रतीक विशाल मन्दिर था, जिसे प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने, अज्ञानी और प्रमादियो ने बन्द करा दिया था ।

शंकराचार्य ने लोगों को एकत्रित किया और समझाया कि संसार का ज्ञान पवित्रतम विभूति है । सद्ज्ञान से बढ़कर आत्म-कल्याण का और कोई मार्ग नही । सरस्वती के यह दिव्य मन्दिर ही भगवान के सर्वश्रेष्ठ निवास स्थान हैं जिन्हें बन्द करना धर्म की भारी कुसेवा है ।

श्रद्धालु जनता उमड़ पड़ी । चिरकाल से दबी पड़ी जन-भावनायें उमड पड़ीं । पुजारी ने द्वार खोल दिये । मन्दिर की साज, सफाई और टूट-फूट की मरम्मत कराने के बाद वहाँ एक विशाल आयोजन रखा गया ।

जगद्गुरु के आह्वान पर सैकडो नर-नारियों ने दान दिया, पुस्तके दी, साधन जुटाये और सरस्वती मन्दिर के रूप मे विशाल पुस्तकालय की प्रतिष्ठा की गई । इस पुस्तकालय मे प्राचीन ग्रन्थों की दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ भी संग्रहीत थी, जिनका अध्ययन करने के लिये अनेक देशों के विद्वान पडित यहाँ आया करते थे । शंकराचार्य के प्रयत्नों के यह सरस्वती पुस्तकालय नालन्दा और तक्षशिला के पुस्तकालयो से भी समुन्नत और विशाल बना । उसमे कई लाख पुस्तके थी और प्रतिदिन सैकड़ों लोग उसमें विद्याध्ययन किया करते थे ।

## सहयोगियों की तलाश

जगद्गुरु बद्रिकाश्रम में बैठे विचार कर रहे थे कि एक अध्यात्मवादी व्यक्ति की शक्ति बहुत बड़ी होती है, पर आज सारे देश में अज्ञानान्धकार इतना व्यापक हो उठा है कि उसे एकाकी प्रयत्नों से समेटना कभी सम्भव नही । राम को भी हनुमान और सुग्रीव की सेना का सहारा लेना पड़ा था । कृष्ण के भाई बलराम प्रत्येक युद्ध में उनके साथ रहे थे, बुद्ध ने अनेक शिष्यों का सहयोग लिया था । योग्य, समर्थ और प्रभावशाली व्यक्तियो का सहयोग प्राप्त करना चाहिये । उन दिनों माहिष्मती के आचार्य मण्डन मिश्र सारे उत्तरी भारत मे विद्वता के लिये सुविख्यात थे । शंकराचार्य उन्हे प्रभावित कर अपना सहचर बनाने के लिये उधर ही चल पड़े ।

आचार्य प्रवर ने शंकराचार्य का स्वागत किया और उसके बाद आने का कारण पूछा । शकराचार्य ने कहा—आचार्यवर, आज देश की जैसी स्थिति है हम

आप सब देख रहे हैं । मैंने अपना सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र जननी की सेवा में समर्पित कर दिया है तथापि अन्धकार इतनी प्रगाढ़ है कि और अनेक प्रकाशवान, प्रखर, प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों की आवश्यकता है और यह योग्यता मुझे आप में दिखाई दे रही है ।

ब्राह्मण श्रेष्ठ ! हम ब्राह्मणों का कर्त्तव्य है समाज को सुसंस्कृत और सुव्यवस्थित रखना । इसलिये हमें आत्म-कल्याण तक ही सीमित न रहकर सम्पूर्ण पीड़ित मानवता की सेवा के लिये उत्सर्ग करना चाहिये । यह सारा समाज ही परमात्मा है उसकी निष्काम सेवा से क्या आत्म-कल्याण का लक्ष्य पूरा नहीं कर सकते ?

मण्डन मिश्र ने कहा—आप ठीक कहते हैं, महामहिम आचार्य ! किन्तु परमात्मा ने यहाँ सबको अलग-अलग पैदा किया है । मनुष्य का उत्तरदायित्व अपने आप तक सीमित है । दूसरों के झगड़ों में कौन पड़े ? जो जैसा करता है वैसा भरता है, इसमें हम और आप क्या कर सकते हैं ?

"समाज-सेवा ही परमात्मा की सेवा है"—यह गुरु शंकराचार्य का कथन था । विराट् ब्रह्माण्ड ही परमात्मा है, प्रत्यक्ष की उपासना उपयोगी ही नहीं अनिवार्य भी है और मण्डन मिश्र का तर्क यह था कि "व्यक्ति दूसरे के कल्याण का जवाबदार नहीं ।" इसी विषय पर उनमें काफी देर तक विवाद होता रहा । आखिर मध्यस्थता कराने का दोनों ने निश्चय किया । निर्णय के लिये मण्डन मिश्र की विदुषी धर्मपत्नी देवी भारती चुनी गईं ।

विशाल जन-समुदाय, राज्य कर्मचारी और विद्वान व्यक्तियों की भरी सभा में मण्डन मिश्र और शंकराचार्य में विचार-विनिमय प्रारम्भ हुआ । यह कोई शास्त्रार्थ नहीं था । केवल शर्त यह थी कि यदि मण्डन मिश्र शंकराचार्य के विचारों से सहमत हो जाते हैं तो वे उनका अनुचरत्व स्वीकार कर लेंगे और उन्हीं की तरह अपना जीवन-क्रम बना लेंगे ।

विचार-विमर्श कई दिन तक चला । अन्त में देवी भारती ने शंकराचार्य के पक्ष का समर्थन कर उन्हें विजयी घोषित कर दिया । उन्होंने भी अपने देश के लिये आत्म त्याग किया और अपना शेष जीवन देश की व्याप्त बुराइयों के उन्मूलन और वेदान्त के प्रचार में लगाया ।

## चार पीठों की स्थापना

मण्डन मिश्र शंकराचार्य के सच्चे शिष्य और अनुयायी बन गये । एक दिन दोनों ने मिलकर मन्त्रणा की कि सारे देश को उत्तर से दक्षिण तक एक सांस्कृतिक सूत्र में कैसे बाँधा जा सकता है ? सबसे बड़ी बाधा यह थी कि उत्तर के निवासी दक्षिण के निवासियों के सम्पर्क में न आ पाते थे और दक्षिण के निवासी उत्तरी लोगों के विचार सम्पर्क से वंचित रह जाते थे । शासन तन्त्र भी अनेक सत्तों में विभक्त थे, यातायात के साधन थे नहीं । ऐसी अवस्था में भारतवर्ष को एक संस्कृति के धागे में किस तरह बाँधा जा सकता है, यह प्रश्न वस्तुतः बड़ा गम्भीर था ।

मण्डन मिश्र ने, जिनका नाम अब सर्वेश्वराचार्य हो गया था, अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहा—"गुरुदेव उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम को एक धागे में बाँधने के लिये चार धर्म-पीठों की स्थापना करनी चाहिये । समस्त भारतीय जनता को इस बात के लिये प्रेरित किया जाये कि वे धर्म और आत्मकल्याण की भावना से इनका तीर्थाटन किया करें । इस तरह ये लोग प्रान्तीयता के भेद-भाव से ऊपर उठकर परस्पर मिलेंगे जुलेंगे और इन तीर्थ स्थानों से मिलने वाली साधना, ज्ञान और धर्मनिष्ठा की प्रेरणा उनके व्यक्तिगत जीवनों का भी सुधार करेगी, आत्म-कल्याण का उद्देश्य भी पूरा होगा । इस प्रकार देश संगठित बना रहेगा । लोगों में भ्रातृ-भाव मजबूत होता रहेगा ।

शंकराचार्य इस विचार से बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने इसी उद्देश्य से घोषणा की कि जो लोग बद्रिकाश्रम से जल लेकर रामेश्वरम् में चढ़ाया करेंगे वे मुक्ति के अधिकारी हुआ करेंगे । इस भावना के पीछे सांस्कृतिक एकता के प्रयत्न और संकल्प पूर्ति की भावना का विस्तार छुपा था, जो आज तक यथावत् चलता आ रहा है और उत्तर-दक्षिण में एक धार्मिक मेखला का काम कर रहा है । पूर्व में जगन्नाथ पुरी और पश्चिम में द्वारका के समीप भी शंकर मठ है । यह चारों धाम आज भी धार्मिक जनता के लिये श्रद्धा-केन्द्र बने हुए है और राष्ट्रीय संगठन की आधार शिला बने हुए हैं ।

## बड़े कार्यों के लिये बड़े प्रयत्न

कंस की दुष्प्रवृत्तियों का नाश करने के लिये भगवान कृष्ण ने अक्रूर का सहयोग लिया था । धर्म के नाम

पर फैले अनाचार को रोकने के लिये बौद्ध धर्म खड़ा हुआ तो उसके पाँव महाराज अशोक ने मजबूत किये। यवन आक्रमणकारियो से भारतीय संस्कृति की रक्षा की समस्या आई तब समर्थ गुरु रामदास को छत्रपति शिवाजी ने साथ दिया। महाराणा प्रताप देश के लिये सर्वस्व न्यौछावर करके भी जब स्वतन्त्रता की रक्षा न कर सके तब भामाशाह ने उन्हें धन, जन और आजादी की प्रेरणा दी। महान कार्यों के लिये महान प्रयत्नो और सहयोगों की सदैव आवश्यकता हुई है।

जगद्गुरु शंकराचार्य द्वारा चार मठो की स्थापना और वैदिक धर्म के प्रसार के लिये ब्रह्म विद्यालय, गुरुकुल, ज्ञान-दीक्षा के पुस्तकालय, साहित्य-सृजन और ज्योति पीठों की स्थापना यह ऐसे बड़े काम थे जो स्वयं उनकी आध्यात्मिक शक्ति से भी परे थे। उधर प्रतिक्रियावादियों के आघात भी हो रहे थे, वैदिक धर्म को गिराने का भी पूरा प्रयत्न किया जा रहा था। ऐसे समय में एक बार तो शंकराचार्य भी निराश हो उठे कि यह आवश्यकतायें कैसे सम्पन्न होंगी ? देश के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की यह योजनाये कैसे पूरी होगी ?

भगवान शंकराचार्य का महान कार्य फिर भला अधूरा कैसे रहता है। उन महापुरुष के संकल्पों की पूर्ति के लिये दक्षिण के महाराज 'मान्धाता' भामाशाह की तरह आगे आये। उन्होने जगद्गुरु शंकराचार्य का शिष्यत्व ग्रहण किया और धर्म के लिये अपना राजकोष, जनबल और निजी व्यक्तित्व सब कुछ उनके चरणो में सौंप दिया। फिर क्या था रुके हुए काम चल पड़े। जगद्गुरु के आध्यात्मिक तथा रचनात्मक कार्यक्रम सभी योजनाबद्ध रूप से बड़ी सफलतापूर्वक चलने लगे। शंकराचार्य के प्रचार अभियान में मान्धाता की सेना बहुत सहायक सिद्ध हुई। सुरक्षा के लिये सेना, यात्रा के लिये धन, रचनात्मक कार्यों के लिये कुशल विशेषज्ञ मिल जाने से सारी व्यवस्था सरल बन गई। जो कार्य वर्षो की प्रतीक्षा के बाद सम्पन्न हो सकता था वह इन साधनो के जुट जाने से बहुत सरल हो गया। राजा मान्धाता की इस उदारता ने जगद्गुरु के महान कार्य में चार चाँद लगा दिये और वह पुण्य सहयोगी अपनी इस उदारता के कारण यशःशरीर से अमर हो गया। भारतीय सस्कृति शंकराचार्य की तरह उदारमना मान्धाता की चिर कृतज्ञ रहेगी।

## साहित्य सृजन

स्थूल निर्माणो की अपेक्षा विचार निर्माण का महत्त्व असंख्य गुना अधिक है। जनता का उच्चस्तरीय आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक और आर्थिक आदि सभी क्षेत्रो का मार्गदर्शन वेद-उपनिषदों में है किन्तु उनकी भाषा और व्याकरण काफी कठिन, गूढ़ रहस्यपूर्ण और जटिल भी है। कुछ अंश तो ऐसे है जो साधना की उच्च स्थिति तक पहुँचे बिना जाने नही जा सकते। इन कार्यों के लिये ही कभी-कभी आत्मा को कठोर तप करना पड़ जाता है। ऐसी महान आत्मायें इस धरती पर सदैव जन्म लेती रही हैं, लेती रहेगी।

जगद्गुरु शंकराचार्य ने शास्त्र का अवगाहन किया पर उसे लोकोपयोगी बनाना उससे भी अधिक आवश्यक था। धर्म जब तक सही अर्थों में लोक व्यवहार में नही उतर आता तब तक भ्रमवादी प्रपंचियों के षड्यन्त्र सफल होते रहते हैं। इसलिये उन्होने धर्म को सरल बनाकर उसे लोक-व्यवहार में उतारने की आवश्यकता अनुभव की।

इसके लिये उन्होंने कठिन ग्रन्थों की सरल भाषा में टीकायें लिखनी शुरू कीं। इन ग्रन्थों में ब्रह्मसूत्र भाष्य, ईश, केन, कठ आदि १२ उपनिषदों के प्रामाणिक भाष्य, गीताभाष्य, विवेक चूड़ामणि, प्रबोध सुधाकर, सर्व वेदान्त, सिद्धान्त संग्रह आदि प्रमुख हैं। शंकराचार्य ने साधना, ज्ञान-संचय के लिये स्वाध्याय एवं संगठन के कार्यों को पूरा किया, आजीवन भ्रमण करते रहे फिर भी इतने सारे ग्रन्थों की रचना की, यह सब उनके व्यवस्थित जीवन-क्रम, दिनचर्या और एक-एक क्षण के सदुपयोग से सम्भव हुआ। उन्होंने अपना एक भी मिनट व्यर्थ नहीं गँवाया। यह तो आध्यात्मिक उन्नति की बात है। आर्थिक और औद्योगिक सफलताओं के लिये भी समय का सदुपयोग बहुत आवश्यक है। महान संकल्पों की पूर्ति के साथ व्यवस्थित जीवन और एक-एक क्षण का उपयोग सदैव आवश्यक है।

शकराचार्य के भाष्य पढ़कर आध्यात्मिक जीवन के आदर्शों, शिक्षाओं को सरलता से आज भी हृदयंगम किया जा सकता है।

"पंचदशी" मे आपने वेदान्त के ब्रह्मसूत्र का भाष्य किया है, वह बड़ा ही प्रामाणिक, पठनीय एवं हृदयंगम

आप सब देख रहे हैं । मैंने अपना सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र जननी की सेवा में समर्पित कर दिया है तथापि अन्धकार इतनी प्रगाढ है कि और अनेक प्रकाशवान, प्रखर, प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों की आवश्यकता है और यह योग्यता मुझे आप में दिखाई दे रही है ।

ब्राह्मण श्रेष्ठ ! हम ब्राह्मणों का कर्तव्य है समाज को सुसंस्कृत और सुव्यवस्थित रखना । इसलिये हमें आत्म-कल्याण तक ही सीमित न रहकर सम्पूर्ण पीड़ित मानवता की सेवा के लिये उत्सर्ग करना चाहिये । यह सारा समाज ही परमात्मा है उसकी निष्काम सेवा से क्या आत्म-कल्याण का लक्ष्य पूरा नहीं कर सकते ?

मण्डन मिश्र ने कहा—आप ठीक कहते हैं, महामहिम आचार्य ! किन्तु परमात्मा ने यहाँ सबको अलग-अलग पैदा किया है । मनुष्य का उत्तरदायित्व अपने आप तक सीमित है । दूसरों के झगड़ों में कौन पड़े ? जो जैसा करता है वैसा भरता है, इसमें हम और आप क्या कर सकते हैं ?

"समाज-सेवा ही परमात्मा की सेवा है"—यह गुरु शंकराचार्य का कथन था । विराट् ब्रह्माण्ड ही परमात्मा है, प्रत्यक्ष की उपासना उपयोगी ही नहीं अनिवार्य भी है और मण्डन मिश्र का तर्क यह था कि "व्यक्ति दूसरे के कल्याण का जवाबदार नहीं ।" इस विषय पर उनमें काफी देर तक विवाद होता रहा आखिर मध्यस्थता कराने का दोनों ने निश्चय किया निर्णय के लिये मण्डन मिश्र की विदुषी धर्मपत्नी दे भारती चुनी गईं ।

विशाल जन-समुदाय, राज्य कर्मचारी और विद्व व्यक्तियों की भरी सभा में मण्डन मिश्र और शंकराच मे विचार-विनिमय प्रारम्भ हुआ । यह कोई शास्त्र नहीं था । केवल शर्त यह थी कि यदि मण्डन मि शंकराचार्य के विचारों से सहमत हो जाते हैं तो उनका अनुचरत्व स्वीकार कर लेंगे और उन्हीं की तर अपना जीवन-क्रम बना लेंगे ।

विचार-विमर्श कई दिन तक चला । अन्त में देवि भारती ने शंकराचार्य के पक्ष का समर्थन कर उन्हें विजयी घोषित कर दिया । उन्होंने भी अपने देश के लिये आत्म त्याग किया और अपना शेष जीवन देश की व्याप्त बुराइयों के उन्मूलन और वेदान्त के प्रचार मे लगाया ।

से बने शरीर को उसमें रखकर वहीं जला दिया। उनकी निष्ठा का ही प्रभाव और प्रतिफल बाद में परम्परा बनी और आज तक केरल के नम्बूदरी पाद ब्राह्मण अपने मृतकों की चितायें दरवाजे पर ही जलाते हैं। महापुरुष जिस कार्य को हाथ में लेते है वे ही कालान्तर में परम्परा बन जाती है।

युग-निर्माता शंकराचार्य ने सत्य, अहिंसा, उच्च विचारों और मानवीय मूल्यों को उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित कर विरोधियों पर विजय प्राप्त की। शान्ति, एकता तथा सच्चे ज्ञान का साम्राज्य स्थापित किया। विघटनकारी प्रवृत्तियों से सतत संघर्ष करने की उन्होंने प्रेरणा दी। समाज सेवा का आदर्श स्थापित किया। कठोर से कठोर कष्ट सहकर भी उन्होंने हिन्दू धर्म को नवजीवन दिया। आज उनके कदमों पर चलने का समय आ गया है। उनका अध्यात्म वैदिक अध्यात्म था, आज उसमें विघटन उत्पन्न हो रहा है। उन अनास्थाओं को, सामाजिक बुराइयों को, धार्मिक आडम्बरों को, रूढ़िवादी मान्यताओं को, अधार्मिक परम्पराओं को मिटाकर धार्मिक संस्कारों के प्रत्यावर्तन द्वारा ही उन महापुरुषों के प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त कर सकते हैं।

## संघर्षों के बीच अनवरत धर्म-सेवा

तत्कालीन पौण्ड्र चोल, द्रविड़ आदि देशों में धर्म के सनातन तत्त्वों—प्रेम, स्नेह, आदर, सगठन-शक्ति, ईश-उपासना, सात्विक-जीवन, लोक-सेवा और आत्म-कल्याण का पाठ पढ़ाते हुए जगद्गुरु शंकराचार्य विदर्भ (बरार पहुँचे) अत्यधिक श्रम और सघर्ष के कारण थकावट बढ़ती जाती थी। मन विश्राम पाने को उत्कंठित होता था पर आत्मा कहती थी देश की सांस्कृतिक सम्पत्ति, धार्मिक सेवा और अपने पूर्वजो के आदर्शों का महत्त्व शरीर की अपेक्षा सैकडो गुना अधिक है। जो शरीर अपने ही भोग, उदरपूर्ति और स्वार्थ वासना में डूबा रहे वैसा तो सारा संसार ही है। साधना शक्ति, आत्मिक शक्तियों के अर्जन का उद्देश्य ही क्या हल हुआ यदि वे धर्म, देश और जाति के उद्धार के काम न आईं। यह प्रेरणा आचार्य के अन्तर्मन में सदैव प्रबल झकोरे मारा करती थी। तभी तो कठिन संघर्षों में भी धर्म की सेवा का महान लक्ष्य पूरा कर सके।

यह कठिनाइयाँ अन्तिम समय तो असाधारण बन कर आईं। वे उन दिनों कर्नाटक में थे। सुधन्वा वहाँ के राजा थे। सुधन्वा विद्वान थे, विचारवान थे उन्होंने वैदिक धर्म की शिक्षाओं को विवेक की कसौटी पर कस करके देखा था अतएव उनकी उपयोगिता भी अच्छी तरह जानता था। उन्होंने आचार्य को संरक्षण दिया और उनको हर सम्भव सहयोग पहुँचाने का भी प्रयास किया था।

किन्तु कर्नाटक उस समय कापालिकों का गढ़ था। उनका महन्त कुचक्र नामक महाभयंकर व्यक्ति था। वह भैरव का उपासक ही था वरन् तान्त्रिक उपासनाओं का उसने सर्वत्र जाल फैला रखा था। उसके सैकड़ो शिष्य थे। वे जब शराब पीकर आवेश धारण करते तो साक्षात् भैरव जैसे प्रचण्ड दिखाई देते, जनता उनसे बहुत घबराई हुई थी। ऐसे समय शकराचार्य का वहाँ पर पहुँचना ऐसा ही था जैसे ग्रीष्म से तपे लोग वर्षा ऋतु का स्वागत करते हैं। लोकतन्त्र की अनिष्टकारी साधना पद्धति और कापालिकों द्वारा प्रसारित दुर्गुणों को छोड़ने लगे और शुद्ध, सरल और सात्विक जीवन की ओर आकृष्ट होने लगे। सच्चाई में यही तो शक्ति है कि वह विरोधियों को भी परास्त होने को भी विवश कर देती है। सैकडो कापालिक भी वह धर्म छोड़कर शंकराचार्य के शिष्य बन गये।

इस पर कुचक्र घबराया उसने शंकराचार्य के पास जाकर उनका अपशब्दों से बड़ा अपमान किया, गालियाँ दी और वहाँ से भाग जाने की धमकी दी। पारमार्थिक लक्ष्य ऐसे कमजोर नहीं होते कि वे दुष्टता से डरकर बैठ जाया करें। दुष्टता से लड़ने की वास्तविक शक्ति है ही अध्यात्म के पास। शंकराचार्य ने उसके विरोध की कोई परवाह नहीं की और अपने मत का प्रसार निष्ठापूर्वक करते रहे। इस पर कापालिक ने उन्हे तान्त्रिक अभिचार द्वारा मार डालने की धमकी दी। उसने बहुत से दुष्ट शिष्यों को शराब पिलाकर शंकराचार्य को मारने भेजा पर राजा सुधन्वा की सेना ने उनकी रक्षा की। अन्ततः बहुत से कापालिक मारे गये और स्वयं उनका सरदार भी परास्त होकर भाग गया।

इस तरह कामरूप, कौशल, चम्पारण आदि स्थानों पर प्रचार करते हुए शकराचार्य गंगा किनारे पहुँचे और कुछ दिन वहाँ पर विश्राम करके नई शक्ति अर्जित की।

करने योग्य है । उन्होंने यह सावित किया है कि व्यक्ति अपने आप मे इतना समर्थ है कि वह अपनी इच्छानुसार कोई भी सफलता प्राप्त कर सकता है । सुख और दु.ख के कारण भी व्यक्ति के संकल्प है, अपने आपकी आत्मिक शक्ति का उद्‌वोधन कर व्यक्ति इतना समर्थ वन सकता है कि वह सामर्थ्य सामान्य लोगों के लिये चमत्कार जैसी प्रतीत होने लगे । मनोनिग्रह के द्वारा अष्ट सिद्धियो, नव सिद्धियो की प्राप्ति, दूर दर्शन, दूर श्रवण यह सब आत्म-संकल्प और मनोनिग्रह के ही चमत्कार है वेदान्त के चार सूत्र हैं—

१—सोऽहस्मि ।

२—तत्त्वमस्मि ।

३—अयमात्मा ब्रह्म ।

४—ॐ प्रज्ञानम् ब्रह्म ।

इनकी भाषा टीका कर आपने अध्यात्म का प्रकाश सर्व सुलभ वना ही दिया । उन्होने वताया—यह मै हूँ । मैं तत्त्व रूप हूँ, यह आत्मा ही ब्रह्म है । उसे प्राप्त करने के लिये किसी के आश्रय, वाह्याडम्वर की आवश्यकता नही । मनुष्य को अपने अन्त.करण में ही प्रकाश स्वरूप परमात्मा की तलाश करनी चाहिये । व्यक्ति जितना आत्मशक्तियों का चिन्तन, अध्ययन और विश्लेषण करता चला जायेगा उसकी आत्म-शक्तियाँ और वौद्धिक प्रतिभायें उतनी ही विकसित होती चली जायेगी ।

शरीर तो वाहन मात्र है । इन्द्रियाँ मनुष्य के आत्मविकास की सहयोगिनी है । शरीर और इन्द्रियो को ही 'अह' न मानकर भीतर जो अदृश्य चेतना भरी हुई है लोग उस पर ध्यान केन्द्रित किया करें, उन आध्यात्मिक गुणो यथा प्रेम, दया, करुणा, उदारता, क्षमा, सहिष्णुता, सर्वात्मीयता आदि जो आत्मा को सन्तोष, सुख, पुलक, प्रफुल्लता और शान्ति प्रदान करते है, का विकास करने का प्रयत्न किया करें तो इसी जीवन मे मनुष्य द्वारा शरीर धारण करने का उद्देश्य और परमानन्द की प्राप्ति की जा सकती है ।

३२ वर्ष की आयु मे ही उन्होने इतने सारे कार्य क्या पूर्ण कर लिये हमें इस वात की शिक्षा दे गये कि महान कार्यों के लिये कोई आयु निर्धारित नहीं । वृद्धावस्था में ही आत्म-कल्याण और ज्ञान-सचय की साधना करनी चाहिये यह गलत है मनुष्य अपने आप मे इतना सर्व समर्थ है कि वह अल्पायु मे ही महान संकल्पों की पूर्ति कर सकता है ।

## धर्म पथ पर अडिग शंकराचार्य

समाज सेवा के लिये गृह-परित्याग करते समय शंकराचार्य ने अपनी माँ को वचन दिया था कि वह उनका अन्तिम दाह संस्कार अपने ही हाथों से करेंगे इन दिनों वे दक्षिण में ही थे उनको पता चला, कि माँ वीमार है तो वे कालड़ी की ओर अकेले ही चल पड़े । माँ वेटे की प्रतीक्षा में ही थी । शंकराचार्य ने वहाँ पहुँचकर माँ को शीश झुकाया । पुत्र-दर्शन से तृप्त हुई माँ ने आशीर्वाद दिया—"शंकर तूने धर्म-सेवा का महाव्रत निभाकर मेरी कोख पवित्र कर दी । जब तक तेरा नाम रहेगा तब तक इस देश के वड़े, वूढ़े, नवयुवक सबकी धर्म में आस्था वनी रहेगी । धर्म और संस्कृति के लिये तव तक आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा मिलती रहेगी ।"

माँ ने नश्वर संसार से सम्वन्ध तोड़ लिया । शंकराचार्य ने परिवार वालों को वुलाया और दाह-संस्कार में सहयोग देने की प्रार्थना की । कुटुम्वियों ने कहा—संन्यासी को दाह सस्कार करने का अधिकार नही । आप यह कार्य न करे अन्यथा हम सहयोग न देंगे ।

शंकराचार्य ने कहा—कर्मकाण्ड और तत्सम्वन्धी विधि-विधान केवल मानवीय सुविधा सुव्यवस्था के लिये वनाये गये है । सन्यासी प्रायः परिव्राजक रहते है । इसलिये उन्हें अपने कुटुम्वियो के संस्कार आदि करने की सुविधा नहीं रहती । इसी से इस प्रकार व्यवस्था वनाई गई कि संन्यासी पारिवारिक कार्यों से मुक्त रहे । पर यह केवल लोकाचार मात्र है । भावना उससे ऊपर है । मेरी माता की आकांक्षा थी कि मैं ही उसका अग्नि संस्कार करूँ । मैने वचन भी दिया था । माता की आज्ञा तथा आकांक्षा का मै उल्लघन नही कर सकता । रीति-रिवाजो की व्यवस्था, भावनात्मक आदर्शों से ऊँची नहीं हो सकती और न उसे इस तरह के प्रसंगो में वाधक ही बनने दिया जा सकता है । मै अग्नि संस्कार अपने वचनानुसार स्वयं ही करूँगा ।

कुटुम्वियों के सहयोग न देने पर उनके द्वारा अकेले ही माँ के शव को कन्धे पर उठाकर श्मशान तक ले जाना उन अकेले के लिये कठिन था । उन्होंने घर के दरवाजे पर ही माँ की चिता जलाई और पाँच तत्वों

से बने शरीर को उसमें रखकर वहीं जला दिया। उनकी निष्ठा का ही प्रभाव और प्रतिफल बाद मे परम्परा बनी और आज तक केरल के नम्बूदरी पाद ब्राह्मण अपने मृतको की चितायें दरवाजे पर ही जलाते है। महापुरुष जिस कार्य को हाथ मे लेते है वे ही कालान्तर में परम्परा बन जाती हैं।

युग-निर्माता शंकराचार्य ने सत्य, अहिंसा, उच्च विचारो और मानवीय मूल्यों को उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित कर विरोधियों पर विजय प्राप्त की। शान्ति, एकता तथा सच्चे ज्ञान का साम्राज्य स्थापित किया। विघटनकारी प्रवृत्तियों से सतत संघर्ष करने की उन्होंने प्रेरणा दी। समाज सेवा का आदर्श स्थापित किया। कठोर से कठोर कष्ट सहकर भी उन्होंने हिन्दू धर्म को नवजीवन दिया। आज उनके कदमों पर चलने का समय आ गया है। उनका अध्यात्म वैदिक अध्यात्म था, आज उसमें विघटन उत्पन्न हो रहा है। उन अनास्थाओ को, सामाजिक बुराइयों को, धार्मिक आडम्बरों को, रूढ़िवादी मान्यताओं को, अधार्मिक परम्पराओं को मिटाकर धार्मिक संस्कारो के प्रत्यावर्तन द्वारा ही उन महापुरुषों के प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त कर सकते है।

## संघर्षो के बीच अनवरत धर्म-सेवा

तत्कालीन पौण्ड्र चोल, द्रविड़ आदि देशों मे धर्म के सनातन तत्त्वों—प्रेम, स्नेह, आदर, संगठन-शक्ति, ईश-उपासना, सात्विक-जीवन, लोक-सेवा और आत्म-कल्याण का पाठ पढ़ाते हुए जगद्गुरु शकराचार्य विदर्भ (बरार पहुँचे) अत्यधिक श्रम और सघर्ष के कारण थकावट बढ़ती जाती थी। मन विश्राम पाने को उत्कंठित होता था पर आत्मा कहती थी देश की सांस्कृतिक सम्पत्ति, धार्मिक सेवा और अपने पूर्वजो के आदर्शों का महत्त्व शरीर की अपेक्षा सैकड़ो गुना अधिक हैं। जो शरीर अपने ही भोग, उदरपूर्ति और स्वार्थ वासना में डूबा रहे वैसा तो सारा संसार ही है। साधना शक्ति, आत्मिक शक्तियों के अर्जन का उद्देश्य ही क्या हल हुआ यदि वे धर्म, देश और जाति के उद्धार के काम न आईं। यह प्रेरणा आचार्य के अन्तर्मन मे सदैव प्रबल झकोरे मारा करती थी। तभी तो कठिन संघर्षों में भी धर्म की सेवा का महान लक्ष्य पूरा कर सके।

यह कठिनाइयाँ अन्तिम समय तो असाधारण बन कर आईं। वे उन दिनों कर्नाटक में थे। सुधन्वा वहाँ के राजा थे। सुधन्वा विद्वान थे, विचारवान थे उन्होंने वैदिक धर्म की शिक्षाओं को विवेक की कसौटी पर कस करके देखा था अतएव उनकी उपयोगिता भी अच्छी तरह जानता था। उन्होंने आचार्य को संरक्षण दिया और उनको हर सम्भव सहयोग पहुँचाने का भी प्रयास किया था।

किन्तु कर्नाटक उस समय कापालिकों का गढ़ था। उनका महन्त कुचक्र नामक महाभयंकर व्यक्ति था। वह भैरव का उपासक ही था वरन् तान्त्रिक उपासनाओ का उसने सर्वत्र जाल फैला रखा था। उसके सैकड़ो शिष्य थे। वे जब शराब पीकर आवेश धारण करते तो साक्षात् भैरव जैसे प्रचण्ड दिखाई देते, जनता उनसे बहुत घबराई हुई थी। ऐसे समय शंकराचार्य का वहाँ पर पहुँचना ऐसा ही था जैसे ग्रीष्म से तपे लोग वर्षा ऋतु का स्वागत करते है। लोकतन्त्र की अनिष्टकारी साधना पद्धति और कापालिको द्वारा प्रसारित दुर्गुणो को छोड़ने लगे और शुद्ध, सरल और सात्विक जीवन की ओर आकृष्ट होने लगे। सच्चाई में यही तो शक्ति है कि वह विरोधियों को भी परास्त होने को भी विवश कर देती है। सैकड़ों कापालिक भी वह धर्म छोड़कर शंकराचार्य के शिष्य बन गये।

इस पर कुचक्र घबराया उसने शंकराचार्य के पास जाकर उनका अपशब्दो से बड़ा अपमान किया, गालियाँ दी और वहाँ से भाग जाने की धमकी दी। पारमार्थिक लक्ष्य ऐसे कमजोर नही होते कि वे दुष्टता से डरकर बैठ जाया करें। दुष्टता से लड़ने की वास्तविक शक्ति है ही अध्यात्म के पास। शंकराचार्य ने उसके विरोध की कोई परवाह नही की और अपने मत का प्रसार निष्ठापूर्वक करते रहे। इस पर कापालिक ने उन्हे तान्त्रिक अभिचार द्वारा मार डालने की धमकी दी। उसने बहुत से दुष्ट शिष्यों को शराब पिलाकर शंकराचार्य को मारने भेजा पर राजा सुधन्वा की सेना ने उनकी रक्षा की। अन्ततः बहुत से कापालिक मारे गये और स्वय उनका सरदार भी परास्त होकर भाग गया।

इस तरह कामरूप, कौशल, चम्पारण आदि स्थानो पर प्रचार करते हुए शंकराचार्य गंगा किनारे पहुँचे और कुछ दिन वहाँ पर विश्राम करके नई शक्ति अर्जित की।

## युग बदलते नहीं, बदले जाते हैं

एक समय था जब सारा देश बौद्ध धर्म के विभ्रान्त-साधनों, तन्त्र और मन्त्र चार्वाक के भोगवाद से बुरी तरह झुलस रहा था । सच्चाई, प्रेम, ईमानदारी, नैतिकता, आदर्श, कुटुम्ब, परम्परा, आस्तिकता आदि व्यक्तिगत और सामाजिक निष्ठाओं का लगभग वैसा ही लोप हो चुका था जैसा आज देखने मे आता है । जब मनुष्य की आकांक्षायें और वासनायें अनियन्त्रित हो जाती है तो मनुष्य मे स्वार्थवादी, कुटिलतापूर्ण कुविचार जन्म लेते, कुकर्म होते है और सारा समाज नरक की विभीषिका में जलने लगता है । जगद्गुरु शंकराचार्य का जन्म इसी संक्रान्ति काल में हुआ था ।

वैदिक-धर्म के प्रति आस्थायें जीवित थी पर वह नाम मात्र को बिखरी हुई थीं । प्रेम आत्मीयता के सम्बन्ध छूट रहे थे, आस्तिकता आखिरी दम तोड़ रही थी उसे पुनर्जीवन देने के लिये महौषधि की आवश्यकता थी । ऐसे लोगों की आवश्यकता थी जो धर्म और संस्कृति के आदर्शों की स्थापना के लिये अपनी सुख-सुविधाओं का परित्याग कर एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ते रहते हैं और उस पथ पर जितनी भी बाधायें आती उन्हे सच्चे योद्धा की तरह सहन करते रहते हैं । उन लोगों को संगठित कर शक्ति देना एक बड़ा काम था, जिसे शंकराचार्य ने एक व्रत की तरह आजीवन निबाहा ।

उन्होंने अपने आपको तपाया विपरीत परिस्थितियों में जीवन जीने का अभ्यास किया जिससे उनके मन के लौकिक आकर्षण नष्ट हुए और अध्यात्म का विशुद्ध स्वरूप जिसे मोक्ष या मुक्ति भी कहा जा सकता है साफ निखर आया । पर उससे भी बड़ा काम यह हुआ कि जो थोडी बिखरी हुई लोक-निर्माणकारी शक्तियाँ थी उन्हें बल मिला । ऐसे लोगों की आत्मशक्तियाँ भी जागृत हुईं । जिससे कमजोर दिखाई देने वाले सत्प्रवृत्ति वाले लोग सशक्त और बलवान जान पड़ने लगे । इससे बुराइयों के विरुद्ध एक संगठित मोर्चा स्थापित हुआ । जब-जब विचारवान व्यक्तियो ने ऐसे संगठन किये है संसार को नव-जीवन मिला है और युगों का प्रत्यावर्तन हुआ है ।

शैल पर्वत से उतरकर आचार्य श्री ने अपना सम्पूर्ण समय संसार को प्रवचन और साहित्य के माध्यम से प्रौढ़ विचार देने और संगठन सजीव करने का काम किया था । गोकर्ण, हरीशंकर और श्रीवलि आदि स्थानों से उन्होंने कुछ संस्कारवान् व्यक्तियो को ढूँढा और उन्हे अपने समीप रखकर आध्यात्मिक जीवन के साँचे मे ढालकर उन्हे लोक शिक्षण के लिये नेतृत्व की क्षमता प्रदान की ।

हस्तामलक, गिरि, पद्मपादमण्डन सुरेश्वर, तोटकाचार्य, समित्पाणि, चिद्‌विलास, ज्ञानचन्द, विष्णुगुप्त, शुद्धकीर्ति, भानुमारीचि, कृष्ण दर्शन, बुद्धि विरिंचि, पादशुद्धान्त, आनन्दगिरि आदि अनेक प्रबुद्ध और विचारशील व्यक्तियों को एकत्रित किया । इनमे से कई अल्प-क्षमता वाले भी थे पर जब वे आचार्य के सम्पर्क में आये और उन्होंने आत्म-साधना द्वारा अपनी सुप्त शक्तियो को जगाया तो वही छोटे व्यक्ति बड़े काम के बन गये । इन्हीं से योगी, ज्ञानी, भक्त, सन्त और विद्वान निकल पड़े जिन्होंने शंकराचार्य के वैदिक धर्म और अद्वैत विचारों को देश-देशान्तरों तक पहुँचाया । इन शिष्यो ने बाद मे कई मार्ग-दर्शक ग्रन्थ भी लिखे जिनमे से नैष्कर्म्य-सिद्धि, सुरेश्वर-वैशिक, तैत्तिरीय-उपनिषद् भाष्य और कण्व शाखा के उपनिषद् परवार्तिक बहुत प्रसिद्ध हुए ।

इन व्यक्तियों का आत्म-दान भी कम प्रशंसनीय न था । जब सारा ससार स्वार्थ, लोभ, मोह और कामनाओं की पूर्ति मे ही आकण्ठ डूबा हो और समाज की पतन अवस्था तेजी से बढ़ रही हो तब अपने स्वार्थ और आत्म कल्याण का परित्याग कर लोक-सेवा, जन-मार्गदर्शन के लिये तत्पर होने का पुण्य किन्हीं जागृत आत्माओ द्वारा ही हो सकता है । ये आत्मायें ऐसी ही थीं । जब-जब ऐसी उत्कृष्ट अन्त.करण वाली आत्माओं का अवतरण होता है धर्म, जाति और संस्कृति को नव जीवन मिलता है ।

इन लोगों के त्याग, तप और निष्ठाओ को देखकर राजाओ, सामन्तो और साधन सम्पन्न व्यक्तियो की आत्माओ ने भी उन्हे कचोटा, वे भी आगे-आगे आये और इस तरह जगद्गुरु शंकराचार्य के साथ सुधार और सत्प्रवृत्तियों का बादल उमड पडा, उसने समाज के कुसंस्कारो को मल-मलकर धोया । कही संघर्ष हुए, कही विध्वंस, वैर और विरोध भी खूब उठकर हुए पर आखिर प्रकाश, प्रकाश है और अँधेरा, अँधेरा ही । धर्म सनातन सत्य है, ईमानदारी, प्रेम, सद्भाव,

सद्व्यवहार आत्मा की स्वाभाविक और सनातन आकांक्षायें हैं । दुर्जन लोग इन्हें थोड़े दिन तक ही दबाये रह सकते हैं । सच्चे अध्यात्म का प्रकाश जहाँ फैलने लगता है, वहाँ अन्धकार देर तक नही टिक पाता ।

जगद्‌गुरु शंकराचार्य ने धार्मिक पुनरुत्थान का जो व्रत लिया था वे आजीवन उसी के लिये सोचते-विचारते और काम करते रहे । अन्तिम समय उन्होंने इस मिशन का भार कुछ ऐसे ही निष्ठावान व्यक्तियों के हाथ सौंपने का निश्चय किया किन्तु जिन दिनो वे इसकी योजना बना रहे थे, उन्होंने देखा कि सभी शिष्यों में अपने आपको प्रभुत्व, विद्वता व्यक्त करने की लोकैषणा तेजी पकड़ रही है । ससार में अभिमान बड़ा कठिन और पतनकारी गुण है । वह जब मस्तिष्क में आता है तो लोक-सेवा का उद्देश्य भी स्वार्थ और प्रवंचना का घर बन जाता है । पद्मपाद, गिरि आदि शिष्यों मे इस तरह के प्राथमिक अंकुर निकलते जगद्‌गुरु ने पूर्व में ही देख लिये इसलिये उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्यों का भार उन लोगों को दिया जिनमें विद्वता की ठेस की अपेक्षा भावुकता और कर्तव्यनिष्ठ का भाव अधिक था । इससे दूसरे शिष्यों ने भी अनुभव किया कि अहंकार और लोकैषणा का भाव न केवल जन-नेतृत्व के लिये विषवत् है वरन् उससे अपना आपा भी दलित होता है । इस तरह सँभले हुए शिष्यों ने जब पूरी तरह मिशन को फैलाते रहने का भार कन्धों पर उतार लिया तब जगद्‌गुरु शंकराचार्य को बहुत सन्तोष हुआ ।

शिष्यों को कई बार ऐसे भी अवसर आये जब उन्हें उनके सगे-सम्बन्धियों ने ही धोखा दिया । पद्मपाद जब दक्षिण की यात्रा कर रहे थे तो वे एक दिन अपने मामा के यहाँ ठहरे । उनके पास शंकराचार्य के महत्त्वपूर्ण भाष्यों की पाण्डुलिपियाँ थीं । मामा बौद्ध मत को मानता था इसलिये उसने उन ग्रन्थों को नष्ट करने का कुचक्र रचा । मामा ने वह ग्रन्थ अपने यहाँ ही छोड जाने का आग्रह किया जिससे वे यात्रा मे बोझ न बने और एक दिन उसने अपने घर में आग लगाकर इन ग्रन्थों का सर्वनाश कर ही डाला । यह तो भला था कि उसके अध्याय शिष्यो को रटे हुए थे, उससे उन्होंने उन ग्रन्थों को फिर से तैयार कर लिया पर इससे उन्हें एक शिक्षा मिली कि महत्त्वपूर्ण कार्यो मे संलग्न होते समय सावधानी और सतर्कता न रखी जाये तो धूर्त लोग कभी भी अनिष्ट कर सकते है । धर्म प्रवेश में निष्ठा की परीक्षा और कष्टमय जीवन का उद्देश्य भी यही होता है कि व्यक्ति के अन्तःकरण में बैठा हुआ दुष्प्रवृत्ति वाला नाग कहीं क्रियाशील न हो पड़े ।

इस तरह भगवान शंकराचार्य ने आजीवन परिश्रम और तप कर युग को एक नई उषा प्रदान की जिससे बाद मे सारे देश में प्रकाश की तरह फैलाया गया । जगद्‌गुरु इसीलिये वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक कहे जाते है । उन्होंने उस युग की मान्यताओं को ही बदलकर रख दिया था और सारे विश्व को यह दिखा दिया था कि धर्म की शक्ति ज्ञान, प्रज्ञा, निष्ठा और संगठन की शक्ति इतनी बलवान होती है कि वह थोड़ी भी हो तो भी संसार के कठोर विप्लव और विभीषिकाओं से टक्कर लेकर समाज को एक नई दिशा दे सकती है ।

यह कार्य उस युग के लिये वरदान था तो इस युग की जनक्रांति के लिये मार्गदर्शन, जिस पर आरूढ होकर नये युग का प्रत्यावर्तन किया जाना है ।

## महापुरुष का महाप्रयाण

उन्मुक्त आत्माओं ने स्वयं आकर भारतवर्ष की अधार्मिकता को समय-समय पर नष्ट किया और सत्य धर्म की प्रतिष्ठा की उन्होंने अपने प्रयाण से पूर्व वह व्यवस्था भी की जिससे उनके न रहने पर भी धार्मिक शक्तियो का प्रभाव और प्रसार बढ़ता रहे ।

चार मठों की स्थापना हो चुकी थी पर वे अपने आप में अपूर्ण थे । जब तक उनमे जन-जागरण का मन्त्र फूँकने वाली जीवित प्रतिमायें न प्रतिष्ठित की जाती । जगद्‌गुरु ने सारी जिन्दगी लोगों की मानसिक समीक्षा में बिताई थी । संसार में बुरे लोग है पर भलो की सख्या उनसे अधिक है । उन्होंने कुछ ऐसे उत्कृष्ट, निष्ठावान और त्यागपूर्ण शिष्य भी ढूँढ निकाले जो उनके न रहने पर वैदिक धर्म की पताका फहराये रहते और फिर इस परम्परा को बहुत काल तक जीवित बनाये रहते । तोटकाचार्य को उत्तर दिशा मे शारदामठ और सुरेश्वर को दक्षिण दिशा में शृंगेरी मठ का भार सौंपकर उन्होंने एक दीर्घ निश्चिन्तता अनुभव की । जगद्‌गुरु के त्याग, तपस्या और साधना का ही प्रभाव है कि यह परम्परा आज भी चली आ रही है । ज्योति-पीठों में अभी तक उन्ही लोगो को उत्तरदायी नियुक्त किया जाता है जिनमे धार्मिक तत्त्व,

विश्व-कल्याण की प्रतिभा समासीन होती है। यह पीठ वैसी प्रेरणायें भले ही प्रसारित न कर पाते हों, पर उन्होंने भारतीयों की आध्यात्मिक आस्थाओं, श्रद्धा और निष्ठा को जीवित रखने में बड़ा योगदान दिया है।

सारी व्यवस्थायें सम्पन्न कर जगद्गुरु बद्रिकाश्रम चले गये। जीवन के अन्तिम दिनों में भी अद्वैत धर्म का उपदेश देते रहे और मनुष्यों के कल्याण की योजनायें बनाते रहे। इसके बाद कुछ समय केदारनाथ में व्यतीत किया और यहीं अपने ३२ वर्ष की अल्पायु आयु में समाधि लेकर इस नश्वर शरीर का परित्याग कर दिया। संसार को ज्ञानामृत पिलाने के कारण उन्हें जगद्गुरु की उपाधि से स्मरण किया गया। मानवता और मानव धर्म उनके अटूट तप की चिरकाल तक ऋणी रहेगी।

# व्यावहारिक, आध्यात्म के शिल्पी : सन्त कबीर

अपने समय के क्रांतिकारी सन्त कबीर का कार्यकाल अब से प्रायः साढ़े पाँच सौ वर्ष पूर्व का है। वे ई. सन् १३९८ में जन्मे और सन् १५१८ में १२० वर्ष की आयु में दिवंगत हो गये। उनके प्रत्यक्ष जीवन के सर्वविदित घटनाक्रम बहुत थोड़े हैं। अविज्ञात और अप्रकट प्रयास ही अधिक हैं।

एक विधवा समाज भय से अपने नवजात शिशु को काशी के अगरतला तालाब के किनारे पगडण्डी पर रख गई थी ताकि उसे कोई दयालु राहगीर उठा कर पाल ले। बच्चे को एक मुसलमान जुलाहे ने उठाया और पाल लिया। यही उनके विज्ञात माता-पिता थे। माता का नाम नीमा एवं पिता नीरू जुलाहा थे। इसी परिवार में वे पले और बड़े हुए।

अपने बारे में उन्होंने लिखा है—

काशी का मैं बासी ब्राह्मण, नाम मेरा परबीना।
एक बार हर नाम बिसारा, पकरि जुलाहा कीन्हा॥
भई मेरा न बुनेगा ताना॥

उन दिनों विधवाओं की दुर्दशा अब से कहीं अधिक थी। उन्हें या तो डरा-धमका कर पति की लाश के साथ जला दिया जाता था या छोटी-बड़ी भूल के कारण उन्हें विधर्मियों के सुपुर्द कर दिया जाता था। इस मूढ़ मान्यता के कारण हिन्दू सम्प्रदाय किस प्रकार क्षीण एवं उपहासास्पद बनता है, इस ओर समाज का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करने के लिये ही सम्भवतः विधाता की मर्जी के अनुसार उनका जन्म ऐसी परिस्थितियों में हुआ। उन्होंने इस बात को कभी छुपाया नहीं। वरन् हिन्दू समाज की संकीर्णता और मुसलमान जुलाहे की उदारता की ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया। यह इस कारण कि समाज के कर्णधार विधवाओं की समस्याओं पर नये सिरे से विचार करें और सोचें कि जब विधुरों को दूसरे विवाह की पूर्ण स्वतन्त्रता है तो विधवाओं के लिये रोक क्यों हो? कबीर की गाथा तत्कालीन-धर्माचार्यों को रुची न होगी, किन्तु समझदारों को सदा झकझोरती, कचोटती रही और इस सन्दर्भ में कुछ कदम उठाने के लिये प्रेरित करती रही। कुछ करने लायक उस समय भले न हो पाया हो, पर यह सूक्ष्म प्रेरणा कुछ शताब्दी बाद अन्य महामानवों के द्वारा चलाये गये आन्दोलनों के रूप में उभरी।

कबीर कुछ समझदार हुए तो उन दिनों के प्रख्यात सन्त रामानन्द के सत्संग में जाने लगे। उनकी विचारधारा से वे प्रभावित हुए। गुरु तत्त्व की गरिमा अपने संस्कारों के कारण भली-भाँति जानते थे। उन्होंने उन्हीं को अपना गुरु बनाना चाहा पर समाजगत प्रचलन के प्रतिकूल श्री रामानन्द एक जुलाहे को शिष्य बनाने के लिये सहमत न दीखे। कबीर ने तब एकलव्य का रास्ता अपनाया, जिसने द्रोणाचार्य की मिट्टी की प्रतिमा को गुरु बनाकर अपनी श्रद्धा के बलबूते पर प्रवीणता प्राप्त कर ली थी।

एक दिन ब्रह्ममुहूर्त में रामानन्द जी गंगा स्नान को जा रहे थे। कबीर रास्ते में लेट गये। अँधेरे में स्वामीजी का पैर कबीर के सीने पर पड़ा। वे चौंके और राम-राम कहते हुए पीछे हट गये। कबीर की गुरु दीक्षा इतने में ही सम्पन्न हो गई। इसमें गुरु

का अनुग्रह नहीं, शिष्य का श्रद्धा विश्वास ही निमित्त कारण था, जो आगे चलकर फला-फूला। सत्संग के दिनों में ही कबीर ने कुछ पढ़ना, लिखना, कवितायें बनाना और एकाकी बजाये जा सकने वाले वाद्य-यन्त्रों को बजाना सीख लिया था। वे सायंकाल सत्संग में जाते। दिन भर पिता के साथ बुनने का काम करते।

पन्द्रह वर्ष की आयु में उनके अन्तराल में नई प्रेरणा उठी--"तेरा जीवन महान प्रयोजनों के लिये है।" क्या करें, सोचा-विचारा और निश्चय किया कि भ्रान्त जनमानस को बदला जाये। वे प्रातःकाल जल्दी उठकर पिता का काम निपटाते और अपना पेट भरने जितना काम करके बाहर निकल पड़ते। घर-घर, गली-गली, गाँव-गाँव अलख जगाते। उनके विचारों को जिन्होंने भी सुना, हिल गये। थोड़े ही दिनो मे हजारों प्रशंसक, समर्थक एवं सहायक बन गये। वे सन्त के रूप में प्रख्यात हो गये किन्तु परिश्रम की रोटी से पेट भरने का काम न छोड़ा।

कबीर का धर्म प्रचार आचरण शुद्धि, लोक कल्याण, साम्प्रदायिक सद्भाव तथा दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन पर अवलम्बित था। निहित स्वार्थों ने अपने व्यवसाय को जब धक्का लगते देखा तो वे बौखलाने लगे। वेश और वंश के आधार पर जो मालामाल हो रहे थे और पुज रहे थे, वे उनके प्राणों के गाहक हो गये। कई बार धर्मावलम्बियों के भयंकर आक्रमण हुए। उनसे लहूलुहान होते रहकर भी कबीर बिना डरे, बिना रुके अपना काम करते रहे। न उन्हें प्रशंसकों से राग था, न निन्दकों से द्वेष। उनकी पूरी दृष्टि अपने लक्ष्य पर टिकी थी और वे इस पर एकाकी चलते रहे।

जब उनका सम्पर्क क्षेत्र बढ़ गया तो आवश्यक समझा कि घर पर आने वालों की सुविधा की खातिर विवाह कर लिया जाये। ठीक उनके ही जैसे स्वभाव की युवती लोई मिल गई। गृहस्थी बस गई। गृहस्थ रहते हुए अपने परिश्रम की कमाई खाते हुए सन्त का जीवनक्रम और भी अच्छी तरह सध सकता है, यही उन्हें प्रत्यक्ष कर दिखाना था। घर पर दूर-दूर से लोग आते। धर्म पत्नी उनके भोजन निवास का ही नहीं, सत्संग समाधान का भी प्रयोजन पूरा करती रही। अब कबीर सुदूर क्षेत्रों में धर्म प्रचार के लिये जाने लगे। यही उनकी तीर्थ यात्रा थी।

कट्टर मुसलमानों को भी यह बुरा लगा कि मुस्लिम जुलाहे का लड़का हिन्दू धर्म के अनुरूप प्रचार करे। उनकी सल्तनत होने के कारण यह उन्हें राजद्रोह जैसा मार्य लगा। जब रोकथाम अपने स्तर पर कारगर न हुई तो उन दिनों के बादशाह सिकन्दर लोदी के कान भरे। कबीर को मृत्यु दण्ड सुनाया गया। लोहे को हथकड़ी बेड़ी से कसकर गंगा के गहरे भाग में डुबो देने का आदेश हुआ। कबीर अपनी कार्य पद्धति बदलने को राजी न हुए और दण्ड सहर्ष स्वीकारते हुए डूबने को तैयार हो गये।

कबीर डूबे पर मरे नहीं। चमत्कार यह हुआ कि अन्दर जाते ही उनकी जंजीरें स्वतः टूट गई और वे बहते-बहते किनारे जा लगे। इस प्रकार जीवित निकलने के बाद कबीर ने एक पद गाया।

**गंगा माता गहरि गम्भीर। पटके कबीर बाँधि जंजीर।**
**लहरनि तोड़ी सब जंजीर। बैठि किनारे हँसे कबीर॥**

बादशाह ने यह चमत्कार सुना तो वह चकित रह गया। क्षमा माँगी और अपना सर्व धर्म समभाव प्रचार करने की छूट दे दी।

अनुयायियों ने उनकी जीवनचर्या देखी। रात को कपड़ा बुनना, सबेरे से प्रचार सत्संग मे जुट जाना भजन वे कब करते होंगे? भजन किये बिना सन्त कैसे? कबीर कपड़ा बुनते-बुनते ही रामनाम रटते थे, पर लोगो पर उन्होंने यथार्थतावादी व्यंग्य कसते हुए कहा—

**कबीर मन निर्मल भया जैसे गंगा नीर।**
**पीछे लगे हरि फिरैं कहत कबीर कबीर॥**
**कबीर माला न जपों, जिह्वा कहौ न राम।**
**सुमिरन मेरा हरि करें मैं पाऊ विश्राम॥**

उनके कथन का तात्पर्य यही था कि राम के नाम से राम का काम करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। नाम तो काम करते-करते भी मन ही मन लिया जा सकता है।

कबीर ने अपनी प्रचार यात्राओं मे अनेकों विचारशील लोगो से सम्पर्क किया और जाति-पाँति के नाम पर जो ऊँच-नीच की भावना चरम सीमा तक पहुँची हुई थी, उसके उन्मूलन का प्रयत्न करने के लिये सहमत कर लिया। उस प्रकार वे अकेले ही नहीं रहे उन्होंने अनेकों सन्त सुधारक पैदा किये।

उन दिनों काशी धर्म के नाम पर भावुक भक्तजनों को बुरी तरह ठगा जा रहा था और कर्म की अपेक्षा स्थान विशेष को, औंधे-सीधे कर्मकाण्डों को महत्त्व दिया जा रहा था । उन्हीं दिनों यह भी मान्यता थी कि गोरखपुर बस्ती की सीमा पर मगहर नामक स्थान पर मरने से नरक जाना पड़ता है । अन्तिम दिनों में कबीर वहीं चले गये । उनका अभिप्राय स्थान की महत्ता सम्बन्धी अन्धविश्वास को दूर करना था । अन्तिम समय में भी राम के स्मरण में ही तत्पर रहे—"मुआ कबीर रमत श्रीराम ।"

मृत्यु की पूर्व सूचना थी । हजारों भक्त जन उपस्थित थे । उनमें हिन्दू भी थे और मुसलमान भी । हिन्दू वैष्णव कहकर जलाना व मुस्लिम जुलाहा बताकर दफन करना चाहते थे । कबीर की आत्मा ने देखा कि जिस साम्प्रदायिक एकता के लिये उन्होंने जीवन भर काम किया, वह नष्ट हो रही है तो उनकी लाश ही अदृश्य हो गई । झगड़ा करने वालों ने उस स्थान पर मात्र फूल पड़े पाये । सभी इस सिद्धि पर चकित थे । आधे फूलों को हिन्दुओं ने जलाया और उस स्थान पर समाधि बनाई जबकि आधे फूलों को मुसलमानों ने दफनाया और उस स्थान पर मकबरा बनाया ।

अभी भी देश भर में उनके अनुयायी हैं । कबीर जाति-पाँति, ऊँच-नीच के विरुद्ध थे । वे मनुष्य मात्र को समान अधिकार और सम्मान देखना चाहते थे, इसलिये उनके पंथ में सभी वर्ग के लोग सम्मिलित होते थे, पर पिछड़ी जातियों को उन्होंने विशेष रूप से उत्साहित किया कि आत्म सम्मान जगाये बिना उन्हें उचित न्याय न मिलेगा । इसी प्रकार उन्होंने वंश और वेश के नाम पर लूटमार करने वालों की पोल खोलने में कोई कमी न रखी । कबीर निर्भीक थे, आदर्शवादी, चरित्रवान और लोकसेवी । एकाकी चलने पर विश्वास करते थे । उन्होंने अपने समय की कुरीतियों के उन्मूलन और सत्प्रवृत्तियों के प्रचलन में कोई कमी न रखी । इसके प्रमाण में अनेकों घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है, पर सबके पीछे उद्देश्य उपरोक्त ही थे ।

सूक्ष्म गतिविधियाँ—सन्त कबीर का जन्म पिछड़े लोगों को ऊँचा उठाने और साम्प्रदायिक सद्भाव बढ़ाने, पाखण्डों का खण्डन करने के निमित्त हुआ था । यह कार्य वे जीवनकाल में सूक्ष्म शरीर से भी करते रहे । अपने प्रचण्ड आत्मबल के दबाव से अगणितों के विचार बदले । साथ ही जो घनिष्ठ आत्मायें सम्पर्क में आईं, उन्हें अपने वर्चस्व से अधिक ऊँचा उठाते रहे और अधिक सफलतायें उपलब्ध कराते रहे ।

कबीर के समकालीन प्रतिभाओं में रैदास और नामदेव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । रैदास एक चमार कुल में काशी में ही जन्मे । उनका कार्यकाल सन् १३५० से १४३६ ईस्वी का है । काशी क्षेत्र कबीर के लिये छोड़कर वे राजस्थान में अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति में लगे रहे । मीरा उनकी शिष्या बनी व राजदरबार के षड्यन्त्रों से बचकर प्रभु भक्ति में लगने का सत्परामर्श उन्हीं से पाती रही । कितनी ही सिद्धियों और चमत्कारों के लिये वे प्रख्यात थे । गंगा का उनकी कठौती में प्रकट होना, उनके भेजे दो पैसे गंगाजी द्वारा हाथ निकाल कर ग्रहण करना, जलाशय में से निकाले सभी पत्थरों को पारस बना देना उनकी सिद्धियों से प्रसिद्ध हैं ।

कबीर के दूसरे समकालीन थे—सन्त नामदेव, जो जाति के दर्जी थे । उन्होंने भी वही कार्य पद्धति अपनायी जो कबीर की थी । वे महाराष्ट्र में जन्मे थे । दक्षिण भारत में उनका प्रचार कार्य बड़ी सफलतापूर्वक चला । प्रसिद्ध है कि अलावली महाराष्ट्र मन्दिर में वे कीर्तन कर रहे थे, तो पंडितों ने उन्हें शूद्र कहकर बाहर निकाल दिया, तब वे मन्दिर के पीछे बैठ कर कीर्तन करने लगे । कहते हैं कि मन्दिर का दरवाजा और प्रतिमा का मुख पीछे की तरफ उलट गया और लोगों ने सच्चे भक्त का सच्चा मार्ग पहचाना और उनका विरोध छोड़कर उनके साथ हो गये ।

मरने के बाद कबीर की आत्मा चैतन्य महाप्रभु, जगद् बन्धु, एकनाथ, सन्त दादू जैसे लोगों के घनिष्ठ सम्पर्क में रही । इन लोगों ने भारत में फैले जातिगत ऊँच-नीच के कलंक को धोने के प्रयत्न किये । इनके अतिरिक्त उस मध्यान्तर काल में अनेकों समाज सुधारक, भक्तजन ऐसे जन्मे जिन्होंने अन्धकार युग के अन्धविश्वास को दूर करने में असाधारण प्रयत्न किये और वातावरण बदला । इन कार्यों के पीछे कबीर की शाश्वत आत्मा की सूक्ष्म प्रेरणा का परोक्ष विशिष्ट सहयोग था ।

## सन्त कबीर के जीवन की प्रख्यात घटनायें

कबीर बचपन से ही सत्य की खोज में लग गये थे। जीवन का एक भी दिन उन्होंने ऐसा न जाने दिया जिसमें सत्यान्वेषण, भ्रान्तियो का निवारण और सत्परम्पराओं के प्रतिपादन में प्राणपण से प्रयत्न न किया हो। वे सोचते थे कि अगले जन्म को किसने देखा है? जब इसी जन्म में 'भव-सागर' से तरने की कोई तैयारी न की तो अगले जन्मों की क्या आशा की जाये? जो जन्म मिला है उसका उपयोग तो अपने हाथ में है, अगले की राम जाने। मुझे तो इसी जन्म में बेड़ा पार करना है। अगला जन्म कौन जाने कहाँ किस योनि में मिले?

लेकिन ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं, और गुरु के बिना ज्ञान। योग्य गुरु मिले तो कुछ बात बने—कबीर ने आगे सोचा—स्वामी रामानन्द-सा ज्ञानी, भक्त और वेद-वेदान्त का पंडित कौन मिलेगा, वे पूरे महात्मा है। जीवन-मृत्यु, लोक-परलोक, ज्ञान-विज्ञान सब उन्हें हस्तगत हैं। वे मानवता की जीती-जागती मूर्ति है। किसी का दुःख नहीं देख सकते। कोई किसी जाति-वर्ग का क्यों न हो, दुःखी देखकर उसकी सहायता के लिये दौड़ पड़ते हैं। अपने इन्हीं गुणो के कारण ही तो समाज मे देवता मानकर पूजे जाते है। उनकी शरण मिले तो बनाव बने।

लेकिन यह बनाव बने कैसे? मै नीचे जाति का जो हूँ। जुलाहा हूँ। मुझे अपना शिष्य बनाने को तैयार जो नही होंगे। ऐसी उनके शास्त्र की आज्ञा है। शास्त्र के वचनो पर चलना वे अपना परम धर्म मानते है, लेकिन, यह श्रद्धा सच्ची है, मन मे ज्ञान की पूरी जिज्ञासा है तो एक दिन उन्हें मेरा निवेदन मानना ही पड़ेगा। मुझे उनकी शरण मिलेगी। प्रयत्न करना मेरा काम है आगे राम की इच्छा! कबीर जब तक योंही बैठा सोचा करता था।

कबीर के पिता का नाम नीरू था। वह जुलाहा था। कपडा बुना करता था। उससे जो कुछ मिल जाता था उसी से गुजर-बसर चलती थी। गरीबी का यह हाल कि न पेट भर खाना मिल पाता था और न तन भर कपड़ा। ऐसे निर्धन माँ-बाप का बेटा कबीर अपने समय का एक महान समाज सुधारक हुआ। समाज मे व्याप्त कुरीतियों और धर्म के नाम पर चलते हुए आडम्बर और पाखण्डों को देखकर कबीर को बड़ा दुःख होता था। उन दिनों भारत पर सिकन्दर लोदी का शासन था। वह बड़ा अत्याचारी बादशाह था। तलवार के बल पर हिन्दुओं को मुसलमान बनाना वह अपने धर्म की एक बड़ी सेवा समझता था। उसकी इस अनीति से प्रोत्साहित होकर काजियों, मुल्लाओं और मौलवियो की बन पड़ी थी। ये सभी बादशाह को खुश करने के लिये गरीब और निर्बल हिन्दुओं को बहका कर या डरा धमका कर मुसलमान बनाते और इनाम इकराम पाते रहते थे। कबीर की मनुष्यता इस अत्याचार को नहीं देख पाती थी। उसने इस अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई और सैकड़ों हिन्दुओ को मुसलमान बनने से रोका। इसके लिये उसे सिकन्दर लोदी के सामने पेश होना पड़ा। पर कबीर के सत्य, उसकी निर्भीकता, साहस और दृढ़ता के सम्मुख उसकी एक न चली और कबीर को मान्यता देनी पड़ी। इस सत्कर्म के लिये उसे मुसलमानों का कोप भाजन बनना पड़ा, काफिर और धर्म विरोधी कहलाना पड़ा। मुसलमान समाज ने उसका न केवल बहिष्कार ही किया बल्कि तरह-तरह की यातनाये दीं।

मुसलमानो ने उसे हिन्दू माना और हिन्दुओं ने उसे मुसलमान कहकर, जुलाहा मानकर नीच और अस्पृश्य माना अपने पास बैठाने और छूने तक मे परहेज किया। राम का नाम लेने पर मारा और तरह-तरह से सताया धमकाया लेकिन कबीर ने न कट्टर पंथी मुसलमानों की परवाह की और न ढोंगी तथा आडम्बरी हिन्दुओ की। उसने उन सबकी कुरीतियो तथा अज्ञानपूर्ण मान्यताओं की आलोचना की और सबको प्रकाश पथ पर लाने का प्रयत्न किया। उसने हिन्दू और मुसलमान दोनों समाजों के नीच कहे जाने वाले लोगों को गले लगाया। उन्हें भक्ति का मार्ग बतलाया और आत्म-अस्तित्व का बोध कराया।

कबीर अभी बालक ही था। दस-ग्यारह साल का ही। वह गली, बाजारों मे मस्ती के साथ राम का भजन करता फिरता था। लोग उसे बाल साधु समझकर आटा-दाल, रोटी, पैसा देना चाहते थे पर वह सबसे कह देता मै न भिक्षुक हूँ और न साधु। मैं तो राम नाम का प्रचारक हूँ। राम का सेवक हूँ। उनके नाम का बेचने वाला नही। लोग कबीर

को देखते ही घेर लेते और श्रद्धा से उसकी बातें और भजन सुनते थे ।

एक बार काशी के प्रमुख पण्डा काशीनाथ से कबीर की मुठभेड़ हो गई । कबीर अपने स्वभावानुसार एक गली में खड़ा लोगों को रामनाम की महिमा बतला रहा था और संड-मुसंड बने सन्तो, महन्तों और पंडा-पुजारियों का स्वरूप बतला रहा था । तभी काशीनाथ अपने एक नौकर के साथ उधर से निकला । लड़के की बातें, धर्म पर उसकी टिप्पणी और सबसे बड़ी बात, उसकी लोकप्रियता देखकर जल-भुन गया । उसने उसके कन्धे पर हाथ रखकर परिचय पूछा । कबीर ने बड़े गर्व से बताया वह नीरू जुलाहे का लड़का कबीर है ।

काशीनाथ का पारा आसमान पर चढ़ गया उसने कहा—"एक नीच जुलाहे का लड़का होकर तू किस अधिकार से धर्म सम्बन्धी बातें लोगों को बतलाता है ? मुसलमान होकर रामनाम की महिमा बखानता है । बड़ा पंडित बनता है नीच कहीं का ।"

कबीर ने तुरन्त निर्भयता के साथ कहा—'महाराज जबान सँभाल कर बात करो'—नीच वह होता है जो दूसरों को नीच कहता और मानता है । भगवान ने सबको बराबर बनाया है । उसकी दृष्टि में कोई ऊँच-नीच नही है । रामनाम की महिमा कहने का किसी के पास ठेका नहीं है । जो राम का भक्त है वह उसके नाम का जाप कर सकता है और महिमा का बखान भी । राम का नाम लेने का अधिकार मुझे मेरी आत्मा ने दिया है । मेरे रोम-रोम मे राम का निवास है । मैं उसका भक्त हूँ, प्रेमी हूँ । न मैं मुसलमान हूँ और न हिन्दू । मै तो परमात्मा का बनाया एक इन्सान बन्दा हूँ । आज से न मुझे मुसलमान कहना और न हिन्दू मानना—समझे महाराज !

काशीनाथ कबीर की चुटीली बाते सुनकर तड़प उठा । यद्यपि उसकी अन्तरात्मा स्वीकार कर उठी कि कबीर कहता तो ठीक है । तथापि धर्म की ठेकेदारी और जनता में अपनी श्रेष्ठता की रक्षा करने के लिये उसने अन्तरात्मा की आवाज को अनसुनी कर दिया और पशुता पर उतर आया । वह क्रोध से बोला—नीच जुलाहे के बच्चे बड़ा पंडित बन कर मुझे सीख देता है—इतना कहकर काशीनाथ ने एक जोर का थप्पड़ उसके गाल पर मारा । बालक कबीर लड़खड़ा गया । उसका सिर झनझना उठा लेकिन वह भयभीत तब भी नहीं हुआ—बोला—महाराज ! धर्मात्मा और पंडित तो बड़े बनते हो लेकिन गरीब पर हाथ उठाते लज्जा नहीं आई । गरीब को सताना अच्छा नही होता । उसकी हाय सात सरग तक जाती है ।

काशीनाथ फिर बिलबिलाया और अपने नौकर से बोला—'अभी इस छोकरे का दिमाग ठीक नहीं हुआ है जरा सँभाल कर मरम्मत कर तो दे । इतना सुनना था कि नौकर ने बुरी तरह कबीर पर लाठियाँ बरसाना शुरू कर दिया । कबीर के सिर, मुँह और नाक से खून बहने लगा और वह बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ा । काशीनाथ ने घृणा से उसकी तरफ थूका और यह कहता हुआ चल दिया—'नीच जुलाहा कहीं का ! मुझे छू लिया, फिर जाकर गंगा स्नान करना पड़ेगा ।' यह सब देखती खड़ी भीड़ की इच्छा हुई कि काशीनाथ को धिक्कारे और कहे कि छुआ तो कसाई तूने ही उसे और मार भी डाला । तेरी यह हत्या माँ जन्म भी गंगा नहाने से न छूटेगी । तूने राम के एक सच्चे भक्त बालक पर अत्याचार किया है लेकिन किसी की हिम्मत बोलते न हुई । काशीनाथ काशी के सरकश पण्डों का सरदार और कई मन्दिरो का मालिक था । नगर में लोग उसके आतंक से डरते थे ।

काशीनाथ के चले जाने पर लोगो ने कबीर की परिचर्या की । उसके घाव धोकर दवा लगाई और पट्टी बाँध दी । थोड़ी देर में कबीर को होश आ गया । वह हँसता हुआ खड़ा हो गया और धन्यवाद देता हुआ कहने लगा, आप लोगों ने मेरे लिये नाहक इतना कष्ट किया । राम नाम पर मर जाता तो सीधा उसकी गोद मे चला जाता । अब आप लोगो ने बचा लिया है तो आप सबकी सेवा करूँगा ।

भीड़ मे खडी कई महिलाओ ने दया पूर्वक कहा—"बेटा ! इनके मुँह मत लगा करो । साँड की तरह खाते और सड-मुसड बने फिरते है । कोई सच्ची बात कह दे तो उसे मारते है । नाश जाये इन पापी पाखण्डियो का ।"

काशीनाथ का अत्याचार सह कर कबीर की भक्ति भावना तीव्र हो उठी । अब वह स्वामी रामानन्द से दीक्षा पाने के लिये छटपटाने लगा । पर ज्यों ही उसे

यह याद आ जाता कि उसे मुसलमान जुलाहा समझ कर इसके अयोग्य समझा जाता है वह हताश होकर सोचने लगता क्या मनुष्य की बनाई व्यवस्था इतनी अनिवार्य हो सकती है कि उसकी तुलना मे सच्चे प्रेम, सच्ची भक्ति, सच्ची श्रद्धा और जिज्ञासा की अवहेलना की जा सकती है । स्वामी रामानन्द जी तो एक ज्ञानी तथा निर्मुक्त मानवतावादी है । तो क्या उनका यह मानवतावाद एव प्रवंचना है अथवा अभी मेरे धैर्य और मेरी जिज्ञासा की परीक्षा ली जा रही है ।

स्वामी रामानन्द जी नित्य प्रातःकाल ब्रह्ममहूर्त में गंगा स्नान करने आते थे और सूर्योदय से पूर्व ही स्नान करके अपने कुटीर में वापस चले जाते थे । कबीर डेढ़ प्रहर रात रहे घाट की सीढ़ियों पर जाकर बैठ जाता । स्वामी जी आते वह उन्हें प्रणाम करता और तब तक बैठा रहता जब तक उनसे स्नान करके लौटने पर प्रणाम न कर लेता । यह क्रम चला तो चलता ही चला गया । स्वामी रामानन्द जी उसे नित्य देखते उसका प्रणाम स्वीकार करते और बिना कुछ बोले चुप-चाप राम नाम जपते हुए आते और चले जाते ।

कबीर पर किया गया काशीनाथ का अत्याचार कुछ ही समय मे नगर भर में आग की तरह फैल गया था और वह घटना जनगण का विषय बन गई थी । लोग जगह-जगह लगभग नित्य ही कबीर और काशीनाथ को मिटा देने का उपाय सोचने लगे । किन्तु

**जिसको राखै साइयाँ मारि सकै नहिं कोइ ।**
**बाल न बाँका करि सके जो जग बैरी होइ ॥**

इस सिद्धान्त के अनुसार राम भक्त कबीर का कुछ भी न बिगड़ा और एक दिन वह भारत का प्रामाणिक सन्त कबीर बनकर समाज में प्रतिष्ठित हुआ ।

स्वामी रामानन्द को यह देखते महीनों गुजर गये कि एक किशोर उनके रास्ते में गगा की सीढ़ियो पर नित्य प्रातः बैठा मिलता है । उन्हे चुपचाप आते-जाते समय प्रणाम करता है, पर कभी बोलता कुछ भी नहीं । हाँ प्रणाम करते समय उसकी आँखे जरूर भरी होती है और ओठ काँपते होते हैं । उन्होने यह भी देखा कि जब तक वे स्नान करते रहते वह एकटक उन्ही की ओर देखता और जाते समय भी प्रणाम करके उन्ही की ओर टकटकी लगाये रहता है । न किसी के साथ आता न जाता और न घाट पर ही कभी किसी से बात करता दीख पड़ता ।

इन सब लक्षणों से मर्मज्ञ सन्त को विश्वास हो गया कि यह किशोर केवल उनके लिये ही यहाँ बैठता है । उसका कोई अन्य उद्देश्य नहीं है और उसके हिलते हुए ओंठ और भरी हुई आँखें प्रकट करती हैं कि वह कुछ कहना चाहता है पर साहस नहीं कर पाता ।

स्वामी रामानन्द की मानवता तड़प उठी और उन्होंने गंगास्नान से लौटते समय, जब कबीर ने दण्डवत् की तो उससे पूछ ही लिया हे 'किशोर' ! मैं कई माह से देख रहा हूँ कि तुम इसी स्थान पर बैठे मिलते हो । मुझे प्रणाम करते हो । क्या मुझसे कुछ प्रयोजन है या कुछ कहना चाहते हो ? कबीर ने कहा—गुरुदेव ! उसका गला रुँध गया और वह फफक-फफक कर रोने लगा । उसकी आँखों से गंगा-जमुना की धारायें बह उठीं । उसकी हिचकी बँध गई । वह बड़ी देर तक रोता रहा । स्वामी रामानन्द जी कबीर की दशा देखकर द्रवित हो उठे । उन्होंने अपने अचले से उसकी आँखें पोंछी और प्यार से कहा—रोओ मत बेटे ! अपना कष्ट मुझे बताओ, कदाचित मैं कुछ सहायता कर सकूँ ! बड़े दुःखी मालूम पड़ते हो ।

कबीर को ढाढ़स हुआ । सिसकते हुए कहा—गुरुदेव ! दुःखी नहीं, बहुत दुःखी, जन्म-जन्म का दुःखी हूँ मुझ पर कृपा करिये मेरा उद्धार करिये । मेरी आत्मा भवसागर में तड़प-तड़प कर आपके आश्रम, आपकी शरण की पुकार कर रही है ।

स्वामी रामानन्द जी ने धैर्यपूर्वक कहा बालक ! तुम तो दार्शनिक मालूम होते हो । निश्चय ही तुम्हारी आत्मा में—अध्यात्म भावना की तरंग निवास करती है । तुम अपनी बात साफ-साफ कहो तो समझूँ कि तुमको किस प्रकार की सहायता की आवश्यकता है और उसमें कहाँ तक सहायक हो सकता हूँ ?

'गुरुदेव !' कबीर ने कहा—"मुझे दीक्षित करिये और गुरुमन्त्र देकर मेरा उद्धार करिये । मै आपका शिष्य होकर आपकी शरण आना चाहता हूँ । मेरी आत्मा ज्ञानामृत के लिये तड़प रही है उसकी शान्ति आपके ही अधीन है ।"

किशोर ! तुम्हारा परिचय ? मैं एक शरणागत जिज्ञासु हूँ, क्या इतना परिचय पर्याप्त नही है गुरुदेव !

कबीर ने उत्तर दिया। तुम्हारी जिज्ञासा, तुम्हारी पात्रता प्रकट करती है; किन्तु शास्त्रों के नियमानुसार यह भी देखना आवश्यक होता है कि कौन दीक्षा का अधिकारी है और कौन नहीं।" स्वामी रामानन्द ने समझाया।

"तब तो गुरुदेव !" कबीर के स्वर में निराशा थी, शायद मेरी पात्रता न आये। मेरा परिचय पाते ही आप मुझे ठुकरा देंगे और अभी तुरन्त जाकर गंगा स्नान करेंगे।"

'तब भी'—स्वामी रामानन्द ने फिर पूछा।

'तो फिर निवेदन है' कबीर ने बतलाया, कि "मैं नीरू जुलाहे का पुत्र कबीर हूँ।"

स्वामी रामानन्द जी को सहसा एक धक्का सा लगा। उनके संस्कार कठोर हो उठे। उन्होंने कहा, "तब तो विवशता है।" निश्चय ही मुझे अभी दुबारा गंगा स्नान करना होगा।

'हाँ, गुरुदेव'—कबीर ने टूटे हृदय से कहा—आपकी पवित्रता मुझे पावन न बना सकी किन्तु मेरी अपावनता ने आपको पुनः स्नान के लिये बाध्य कर दिया। सुना था देवता के स्पर्श से पापी तक पावन हो जाते है किन्तु आज एक देवता मनुष्य को छू कर अपावन हो गया।"

स्वामी रामानन्द ने कबीर के कथन में निहित जिस ज्वार को अनुभव किया, उसी में सत्य का अभ्यास भी पाया। वे क्षण भर रुके, फिर बोले, 'वत्स ! नियम, नियम हैं। उनके पालन में भावुकता की अपेक्षा कठोरता अधिक अपेक्षित है। संसार में समुचित कार्य विभाजन के लिये वर्ण-व्यवस्था बनाई गई है। यदि अपने वर्ण के लिये निर्धारित छोड़ कर मनुष्य अन्य क्षेत्रों में प्रवेश करने लगे तो न कर्म-कौशल का निवास हो सके और न काम में दक्षता ही आने पावे। परम्परा से जातिगत कार्य करते रहने से किसी भी शिल्प में निपुणता और पूर्णता दोनों गुण आ जाते हैं। यदि सभी वर्णों के लोग अपना-अपना कर्म छोड़ दें तो संसार में अव्यवस्था फैल जाये और जीवन में न जाने कितनी कठिनाइयाँ आ खड़ी हों। तुम तन्तुवाय हो। तुम्हारा कर्म वस्त्र बनाना है। अपना कर्म करो उसी से तुम्हारा उद्धार होगा।"

"आपकी शिक्षा शिरोधार्य है गुरुदेव ! किन्तु यदि अज्ञान क्षमा हो तो कतिपय समाधानों की याचना करूँ।" कबीर ने फिर निवेदन किया। "हाँ, हाँ, अवश्य वत्स ! मस्तिष्क में शंकाओं को नहीं रहने देना चाहिये। शंकायें सर्पिणी के समान होती हैं जो मनुष्य के विवेक को डस कर अचेत कर दिया करती हैं," स्वामी रामानन्द ने अनुमति दी।

कबीर बोला, "किन्तु गुरुदेव ! समाज में जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी अपना जातिगत कर्म छोड़ कर और-और काम करने लग गये हैं और यदि आगे भी करने लग जायें तो उनके लिये क्या नियम व्यवस्था है ? और इस परिवर्तन से शिल्पों में ह्रास हुआ है या विकास ?

बालक ! न तो मैं शिल्पी हूँ, न कलाकार और न अर्थशास्त्री। मेरा क्षेत्र अध्यात्म है। जिन्होंने शास्त्र के नियमों का उल्लंघन किया है उन्होंने गलती की है। उसी गलती को सब लोग भी दोहराते रहें इस बात का मैं विरोधी हूँ। शास्त्र के नियमों का पालन करना मनुष्य का धर्म है।" स्वामी रामानन्द जी चुप हो गये।

'और गुरुदेव !' कबीर ने आगे शंका की, "जातिगत कर्मों की व्यवस्था से जो एकाधिपत्य की भावना जन्म लेकर समाज में विकृतियों और अपलोभों का विस्तार करती है उसके परिशोधन के लिये कौन से उपाय विहित हैं ?"

कबीर की शंका सुनकर स्वामी रामानन्दजी को कुछ हँसी आ गई। बोले, "कबीर ! तेरे विषय में जैसा सुना था तू वैसा ही निकला लेकिन यह तो बता कि तू मेरे समीप गुरु दीक्षा के मन्तव्य से आया है या शिक्षा देने ?

गुरु दीक्षा की जिज्ञासा से गुरुदेव ! कबीर ने व्यग्रता के साथ कहा—मैं तो आपका जन्म-जन्म का सेवक हूँ। दास हूँ। आप तो मेरे जन्म-जन्म के गुरु हैं, इस जन्म के भी। तो क्या मेरी प्रार्थना स्वीकार हो गई। मैं अपने को कृतार्थ समझूँ।

रामानन्द जी ने कहा—कबीर जल्दी न कर ! भगवान मनु की बनाई वर्ण-व्यवस्था में अपवाद करना सरल नहीं। किसी नियम का अपवाद करने के लिये भी तो किसी नियम का ही आधार लेना होगा। देखूँगा कहाँ तक अधिकार है ? शास्त्रों के पुनरावलोकन की बात है सो कर देखूँगा वैसे जहाँ तक मेरा विचार

है निराशा ही रहेगी।" स्वामी रामानन्द ने वार्तालाप बन्द कर दिया और गंगा स्नान के लिये चल दिये।

भगवन्! आप स्वयं ही व्यवस्थापक हैं, समर्थ हैं किसी भी नियम का अपवाद कर सकने के अधिकारी है। कबीर ने चलते-चलते प्रार्थना की। उस दिन कबीर स्वामी रामानन्द के फिर नहा कर वापस आने तक न रुका। उसने सोचा कदाचित उसका अब रुकना दुराग्रह का सूचक होगा जो उसके प्रति उनकी आधुनिक मनोभूमि में अन्यथा भाव का कारण बन सकता है। उसने दूर से ही उन्हें दण्डवत् की और एक आशा-निराशा की सम्मिलित अनुभूति के साथ घर चल पड़ा।

काशीनाथ के सिर तो कबीर हर समय सवार ही रहता था। उसके गुप्तचर छूटे रहते और नित्य ही वह उसका समाचार जानने को उत्सुक रहता। उसे कबीर और स्वामी रामानन्द की बात-चीत का समाचार भी मिला। वह बौखला उठा और दूसरे दिन, पौ फटने से पहले ही अपने सूनी नौकर को लेकर घाट पर जा पहुँचा। कबीर बैठा हुआ था। काशीनाथ ने क्रोधपूर्वक पूछा—"कैसे बैठा है वे, इस समय इस पवित्र घाट पर? कबीर ने नमस्कार किया और कहा—"स्वामी रामानन्द जी के दर्शन करने के लिये बैठा हूँ महाराज!" तो यह बात है, मेरे विरुद्ध खड़ा करने के लिये स्वामी रामानन्द जी पर डोरे डाल रहा है। नीच-म्लेछ।"

"कैसी बातें करते हैं महाराज! मैं आपका विरोध करूँगा?" कबीर ने ग्लानि पूर्वक कहा। किन्तु काशीनाथ तो क्रोध और द्वेष की भावना से पागल हो रहा था—बोला—'और नहीं तो क्या मेरा यश गायेगा?' फिर नौकर की ओर देखकर कहा—"क्या देखता है रे, निपटा दे शैतान की आँत को।"

आदेश पाना था कि नौकर ने लाठी छोड़ दी। कबीर घायल होकर गिर पड़ा और नौकर ने मारना शुरू किया। तभी काशीनाथ को दूर पर पादुकाओं की आवाज सुनाई पड़ी। बोला—"कोई आ रहा है। दोनों भाग खड़े हुए।"

धीरे-धीरे कबीर की चेतना जा रही थी कि तब तक उस पर किसी का पैर पड़ गया। कबीर कराहा। स्वामी रामानन्द 'राम कह बच्चा राम कह' कहकर उसकी ओर झुके और देखने लगे कि इस समय अँधेरे में घाट की सीढ़ियों पर कौन पड़ा है? आवाज पहचान कर कबीर की चेतना रुक गई। उसने स्वामी रामानन्द के चरणों पर सरक कर प्रणाम किया और धीरे से कहा—"गुरुदेव! मैं कबीर हूँ। मुझे गुरु मन्त्र मिल गया। मैं कृतार्थ हुआ। 'राम-राम-राम', कहता हुआ कबीर अचेत हो गया।"

अरे इसे किसने मारा? स्वामी रामानन्द व्याकुल हो उठे। उन्होंने तुरन्त उसे गोद में उठा लिया। जल के पास लाये। उसका रक्त धोया। अँचला फाड़ कर पट्टी बाँधी। मुँह पर जल के छींटे मारे और गंगाजल के कुछ बिन्दु पिला कर कहा—माता जान्हवी इस बालक भक्त की रक्षा करना। कबीर एक क्षण फिर कराहा और राम ..म.. कहकर फिर बेहोश हो गया। स्वामी रामानन्द को आशा बँध गई। उन्होंने उसे अच्छी तरह लिटा कर गंगा स्नान किया।

जब वे लौटे तो कबीर को होश आ गया था। पर शिथिलता के कारण आँखे बन्द किये पड़ा था। किसी का स्पर्श पाकर उसने आँखे खोली। देखा स्वामी रामानन्द उसे गोद में उठा रहे हैं। वह निषेध करता हुआ जल्दी से बोला—गुरुदेव! मुझ अस्पृश्य नीच को न छुये नहीं तो आपको फिर गंगा स्नान करना होगा। मैं चल लूँगा। आप कष्ट न करें। नहीं-नहीं बहुत कमजोर है। चल न सकेगा। मैं अंक में लिये चलता हूँ। नहीं-नहीं। ऐसा अनर्थ न करें। मैं तो आपका दासानुदास हूँ, शिष्य हूँ। मुझे गोद लेकर चलना आपके लिये शोभनीय नहीं हैं। मुझे पाप लगेगा गुरुदेव! बावला कहीं का पाप कैसा? तू मेरा शिष्य ही नहीं मेरा पुत्र भी है—कहकर स्वामी रामानन्द ने बलात् उसे गोद लेकर कन्धे लगा लिया। गंगा घाट से कुटीर तक स्वामी रामानन्द का स्कन्ध और पीठ भीगती चली गई। कबीर बराबर रोता रहा।

कुटिया पर आकर स्वामी रामानन्द ने एक आदमी को घर भेज कर कहला दिया कि कबीर स्वामी जी के पास है। आज कुछ देर से आयेगा। कोई चिन्ता न करे।

नीमा ने सन्देश सुना और सन्देश-वाहक से पूछा, 'महाराज'! कबीर स्वामी जी के पास कैसे पहुँच गया? सन्देश-वाहक ने सारी घटना बतला दी और आश्वासन दिया कि कबीर अब बिल्कुल ठीक है। स्वामी जी ने

बढ़ा—तभी सुनाई पड़ा—"काशीनाथ ठहरो !" स्वामी रामानन्द भीड़ को चीरते हुए आगे बढ़े । काशीनाथ ठिठक गया । स्वामी रामानन्द बोले—"काशीनाथ ! कबीर निरपराध है । उसे दीक्षा देकर धर्म तो मैंने भ्रष्ट किया है । मुझे मारो ।"

स्वामी रामानन्द की सौम्य किन्तु तेजस्वी मूर्ति देखकर सारे पंडित शिथिल पड़ गये किन्तु काशीनाथ ने धृष्टता की । बोला—"स्वामी रामानन्द जी ! आप हिन्दू धर्म के अगुआ माने जाते हैं । आपने एक नीच विद्यार्थी को दीक्षा देकर हिन्दू धर्म पर आघात किया है । हम सब यह सहन नहीं कर सकते ।" कहकर काशीनाथ ने अनुमोदन की आशा से पीछे भीड़ की तरफ देखा किन्तु कोई सहमति न दिखलाई दी । काशीनाथ हतोत्साह होकर अकेला पड़ गया । तब भी उसने आगे कहा—"जब आप जैसे धर्मज्ञ भी ऐसा अनर्थ करने लगेंगे तब तो धर्म जल्दी नष्ट हो जायेगा और कबीर जैसे नीच लोग भी ब्राह्मणों के बराबर होने का दम्भ करने लगेंगे । आपका यह अन्याय सहनीय नहीं है ।"

स्वामी रामानन्द ने गम्भीरता से कहा—"धर्म क्या है और अधर्म क्या है ? इसको मैं भी जानता हूँ । केवल किसी नवीनता का विरोध करना और किसी निरपराध की हत्या करने का प्रयास करने से धर्म लाभ नही होता । "काशीनाथ ! कबीर शरीर से भले ही जुलाहा हो पर आत्मा से वह ब्राह्मणो से ऊपर है । मैंने दीक्षा उसके शरीर को नही, उसकी उस पवित्र आत्मा को दी है जिसमें राम भक्ति का निवास है । धर्म न नष्ट होने वाली वस्तु है और न भ्रष्ट । किसी धर्म के दुष्ट धंधक ही उसे अपने अपकर्मों द्वारा भ्रष्टता का आरोप दिलाया करते हैं और तुम जैसे सकीर्ण कार्यकर्ता ही धर्म का द्वार दूसरों के लिये बन्द कर उसके विनाश, के बीज बोया करते हैं । जिसके मन मे सच्ची जिज्ञासा है, जो उसके नियमों का आदरपूर्वक पालन कर सकता है, मेरी व्यवस्था है कि वह इस आर्य धर्म को ग्रहण कर सकने का सर्वथा अधिकारी है ।" "तो आप आनादिकाल से चली आ रही, भगवान मनु की बनाई कार्य व्यवस्था मे संशोधन करने का अधिकार रखते है ।" काशीनाथ ने तीखे स्वर मे कहा—"हाँ काशीनाथ !" स्वामी रामानन्द बोले, "धर्म वृद्धि एवं धर्म रक्षा के लिये भगवान का कोई भी योग्य उत्तराधिकारी, समयानुकूल पूर्वकालीन व्यवस्था मे सुधार एवं संशोधन करने का अधिकारी है । मैं भी हूँ और तुम भी, यदि धर्म के शाश्वत प्रकाश से तुम्हारी आत्मा आलोकित है और तुमने उस आलोक को अपने सद्विवेक मे अवलोकन किया है ।" कबीर निर्दोष है । दीक्षा मैंने उसे दी है । तुम यदि इसे धर्म-द्रोह समझते हो तो आगे बढ़ो और मेरा वध करके धर्म रक्षा का श्रेय लो ।"

काशीनाथ का अस्तित्व हिल गया और भीड़ को तो काठ मार गया । धीरे-धीरे सब खिसकने लगे । चलते-चलते काशीनाथ फिर कहता गया—"पर स्वामी रामानन्द जी अब आप काशी की पंडित सभा के प्रधान न रह पायेंगे ।" मैंने उसे अभी इसलिये त्याग दिया—जाकर उसकी घोषणा कर दो । स्वामी रामानन्द ने निर्णय दे दिया ।

भीड़ चली गई । कबीर स्वामी रामानन्द के चरणो पर लोट कर रो उठा—बोला—प्रभु ! आप मेरे लिये यह सब आपत्ति अपने ऊपर न लें । मै बड़ा अभागा हूँ । मेरे कारण ही काशी में हलचल उठ खडी हुई है । मैं संसार के किसी कोने मे चला जाऊँगा जहाँ मुझे कोई भी राम नाम लेते न देखे और न सुने ।"

स्वामी रामानन्द ने कबीर को उठाकर प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरा और कहा—कबीर क्या हिम्मत हार गया ? धर्म के सच्चे मार्ग मे आडम्बरी इसी प्रकार आपत्तियाँ खड़ी करते रहे हैं और आगे भी करते रहेगे । पर क्या सच्चे धार्मिक उनके डर से अपना मार्ग छोड़कर गुप्त वास किया करते हैं ? यदि ऐसा होने लगे तो ये धर्म धन्धक भेड़िये धर्म सहित सारी जनता की आत्मा ही खाकर हजम कर जायें और संसार मे एक स्थायी असुर युग की स्थापना हो जाये । तुझे जाना कहीं नही । मेरे बाद मेरा प्रकाश आगे बढ़ाना है । मैं तुझे अपना उत्तराधिकारी बनाऊँगा । किन्तु तब, जब तू अपनी पात्रता बनाये रहेगा और सत्य के लिये हर कष्ट सहन करने को तत्पर रहेगा ।" स्वामी रामानन्द जी चल दिये । कबीर उनके पीछे-पीछे चलने लगा । उसे रोककर स्वामी रामानन्द ने कहा—नहीं, जाओ अपना काम करो । सायकाल सत्सग में आना । चलते हुए नीमा को भी निर्भय रहने के लिये कहते गये ।

उसको अपनी शरण में ले लिया है । अब उसे किसी बात का भय नहीं है । कबीर के हृदय में परमात्मा की भक्ति है । वह आगे चल कर बड़ा भारी सन्त होगा । नीमा तू बड़ी भाग्यवान है ।

सन्देश वाहक चला गया । पर नीमा की चिन्ता दूर न हुई । वह सोचने लगी, तो क्या कबीर साधू हो जाने को है । उसके तो लक्ष्य पहले से ही ऐसे थे । अब तो वह स्वामी जी के पास चला गया है । कहीं ऐसा न हो कि लड़का हाथ से चला जाये । उसने बड़ी कोशिश करके कबीर का विवाह लफी नामक एक जुलाहे की लड़की लोई से तय कर दिया ।

अब कबीर पहले से अधिक काम करने लगा था । उसका जी भी पहले से ज्यादा लगने लगा था । वह प्रातःकाल नित्य प्रति स्वामी रामानन्द जी की कुटिया पर सत्संग में सम्मिलित होने जाता ओर वहाँ से वापस आकर सायंकाल तक करघे पर बैठा कपड़ा बुना करता । काम में उसकी रुचि पहले से कहीं अधिक बढ़ गई थी । कपड़ा भी पहले से ज्यादा अच्छा और अधिक होने लगा था । इसका कारण था वह यह कि अब वह अपने काम को अपना नहीं समझता था । बल्कि राम का काम समझता था और बड़ी श्रद्धापूर्वक किया करता था ।

इसके अतिरिक्त जितनी देर वह काम करता था उतनी देर कुछ न कुछ गुनगुनाता रहता था । उसकी तल्लीनतापूर्ण गुनगुनाना एक भजन के रूप में बदल जाता था । अपने उसी नवनिर्मित भजन को वह नित्य ही स्वामी रामानन्द जी की सत्संग गोष्ठी में सुनाया करता था । यद्यपि कबीर कुछ पढ़ा-लिखा न था । तथापि उसके हृदय से निकले हुए और भक्ति रस में डूबे भजन इतने मार्मिक तथा भावपूर्ण होते थे कि लोग सुनकर भाव-विभोर हो जाते थे । धीरे-धीरे कबीर एक कवि के रूप में भी प्रसिद्ध हो गया । निश्चय ही सत्सग का प्रभाव मनुष्य की आत्मा पर पड़ता और आत्मा का प्रकाश मन, बुद्धि विवेक आकर मनुष्य की गुणात्मक प्रतिमाओं को जागृत कर देता है । इसी से शास्त्रों में सत्संग की महिमा का वखान किया गया है । अशिक्षित व्यक्ति भी सत्संग में आकर योग्य और मूढ़जन पंडित बन जाते हैं ।

स्वामी रामानन्द जी द्वारा कबीर को दीक्षा दी जाना एक अभूतपूर्व घटना थी । इससे काशी के पंडितों में खलबली मच गई । सभी लोग स्वामी रामानन्द के इस कार्य को अधार्मिक कह कर आलोचना करने लगे । काशीनाथ ने इस आलोचना का नेतृत्व किया । उसने शास्त्रों तथा वर्ण-व्यवस्था की दुहाई देते हुए काशी के पंडितों को इस कदर भड़काया कि वे स्वामी रामानन्द के विरोधी बन गये ।

कुछ की राय हुई कि स्वामी रामानन्द को धर्मद्रोही कहकर उनके विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया जाये और उन्हें काशी के विद्वानों की सभा के प्रधानत्व से अपदस्थ कर दिया जाये पर काशीनाथ इतना बड़ा कदम सहसा उठाने को तैयार न हुआ । उसका सारा क्रोध कबीर पर था । वह इस घटना का सहारा लेकर कबीर को मिटा देना चाहता था । उसने पुनः लोगों को कबीर की ही दुरभि सन्धि बतलाई और उनमें साम्प्रदायिक द्वेष की भावना भड़काई जब लोग कबीर पर क्रुद्ध हो उठे तो वह उस उत्तेजित मण्डली को लेकर कबीर के घर की ओर चल दिया । वहाँ जाकर उसने कबीर को बाहर आने के लिये पुकारा । कबीर उस समय करघे पर बैठा कपड़ा बुन रहा था और साथ ही बड़ी तन्मयता से गुनगुना भी रहा था ।

शोर सुनकर कबीर बाहर निकल आया और बोला—"कहिये कैसे कष्ट किया—मैं हाजिर हूँ ।" कबीर की निर्भीकता देखकर पंडितों की उत्तेजना शिथिल पड़ गई । फिर भी काशीनाथ आवेश करता हुआ बोला—"तूने हमारा धर्म भ्रष्ट कर दिया है, हम तुझे आज मार डालेंगे ।

कबीर को हँसी आ गई—बोला—"मौत जिन्दगी तो एक उस परमात्मा के अधिकार में है । मनुष्य न किसी को मार सकता है और न जला सकता है । फिर आप मारेंगे किसे ? आत्मा तो अमर है । उसे क्षति पहुँचाई ही नहीं जा सकती । आप लोग तो पंडित हैं जानते ही होंगे—नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणी ... काशीनाथ गरज उठा—"चुप रह म्लेक्ष हमें गीता का पाठ पढ़ाता है । मैं आज तेरी हत्या कर दूँगा ।"

कबीर वैसे ही हँसता हुआ बोला—"तो फिर आगे बढ़िये । अगर आपके हाथों ही मरना है तो डर किस बात का ?" काशीनाथ दाँत पीसता हुआ आगे

बढ़ा—तभी सुनाई पड़ा—"काशीनाथ ठहरो !" स्वामी रामानन्द भीड़ को चीरते हुए आगे बढ़े । काशीनाथ ठिठक गया । स्वामी रामानन्द बोले—"काशीनाथ ! कबीर निरपराध है । उसे दीक्षा देकर धर्म तो मैंने भ्रष्ट किया है । मुझे मारो ।"

स्वामी रामानन्द की सौम्य किन्तु तेजस्वी मूर्ति देखकर सारे पंडित शिथिल पड़ गये किन्तु काशीनाथ ने धृष्टता की । बोला—"स्वामी रामानन्द जी ! आप हिन्दू धर्म के अगुआ माने जाते हैं । आपने एक नीच विद्यार्थी को दीक्षा देकर हिन्दू धर्म पर आघात किया है । हम सब यह सहन नहीं कर सकते ।" कहकर काशीनाथ ने अनुमोदन की आशा से पीछे भीड़ की तरफ देखा किन्तु कोई सहमति न दिखलाई दी । काशीनाथ हतोत्साह होकर अकेला पड़ गया । तब भी उसने आगे कहा—"जब आप जैसे धर्मज्ञ भी ऐसा अनर्थ करने लगेंगे तब तो धर्म जल्दी नष्ट हो जायेगा और कबीर जैसे नीच लोग भी ब्राह्मणों के बराबर होने का दम्भ करने लगेंगे । आपका यह अन्याय सहनीय नहीं है ।"

स्वामी रामानन्द ने गम्भीरता से कहा—"धर्म क्या है और अधर्म क्या है ? इसको मैं भी जानता हूँ । केवल किसी नवीनता का विरोध करना और किसी निरपराध की हत्या करने का प्रयास करने से धर्म लाभ नहीं होता । "काशीनाथ ! कबीर शरीर से भले ही जुलाहा हो पर आत्मा से वह ब्राह्मणों से ऊपर है । मैंने दीक्षा उसके शरीर को नहीं, उसकी उस पवित्र आत्मा को दी है जिसमें राम भक्ति का निवास है । धर्म न नष्ट होने वाली वस्तु है और न भ्रष्ट । किसी धर्म के दुष्ट धंधक ही उसे अपने अपकर्मों द्वारा भ्रष्टता का आरोप दिलाया करते हैं और तुम जैसे संकीर्ण कार्यकर्ता ही धर्म का द्वार दूसरों के लिये बन्द कर उसके विनाश, के बीज बोया करते है । जिसके मन मे सच्ची जिज्ञासा है, जो उसके नियमों का आदरपूर्वक पालन कर सकता है, मेरी व्यवस्था है कि वह इस आर्य धर्म को ग्रहण कर सकने का सर्वथा अधिकारी है ।"

"तो आप आनादिकाल से चली आ रही, भगवान मनु की बनाई कार्य व्यवस्था में संशोधन करने का अधिकार रखते हैं ।" काशीनाथ ने तीखे स्वर में कहा—"हाँ काशीनाथ !" स्वामी रामानन्द बोले, "धर्म वृद्धि एव धर्म रक्षा के लिये भगवान का कोई भी योग्य उत्तराधिकारी, समयानुकूल पूर्वकालीन व्यवस्था में सुधार एवं संशोधन करने का अधिकारी है । मैं भी हूँ और तुम भी, यदि धर्म के शाश्वत प्रकाश से तुम्हारी आत्मा आलोकित है और तुमने उस आलोक को अपने सद्विवेक में अवलोकन किया है ।" कबीर निर्दोष है । दीक्षा मैंने उसे दी है । तुम यदि इसे धर्म-द्रोह समझते हो तो आगे बढ़ो और मेरा वध करके धर्म रक्षा का श्रेय लो ।"

काशीनाथ का अस्तित्व हिल गया और भीड़ को तो काठ मार गया । धीरे-धीरे सब खिसकने लगे । चलते-चलते काशीनाथ फिर कहता गया—"पर स्वामी रामानन्द जी अब आप काशी की पंडित सभा के प्रधान न रह पायेंगे ।" मैंने उसे अभी इसलिये त्याग दिया—जाकर उसकी घोषणा कर दो । स्वामी रामानन्द ने निर्णय दे दिया ।

भीड़ चली गई । कबीर स्वामी रामानन्द के चरणों पर लोट कर रो उठा—बोला—प्रभु ! आप मेरे लिये यह सब आपत्ति अपने ऊपर न लें । मै बड़ा अभागा हूँ । मेरे कारण ही काशी में हलचल उठ खड़ी हुई है । मैं संसार के किसी कोने मे चला जाऊँगा जहाँ मुझे कोई भी राम नाम लेते न देखे और न सुने ।"

स्वामी रामानन्द ने कबीर को उठाकर प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरा और कहा—कबीर क्या हिम्मत हार गया ? धर्म के सच्चे मार्ग मे आडम्बरी इसी प्रकार आपत्तियाँ खड़ी करते रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे । पर क्या सच्चे धार्मिक उनके डर से अपना मार्ग छोड़कर गुप्त वास किया करते हैं ? यदि ऐसा होने लगे तो ये धर्म धन्धक भेड़िये धर्म सहित सारी जनता की आत्मा ही खाकर हजम कर जायें और संसार मे एक स्थायी असुर युग की स्थापना हो जाये । तुझे जाना कहीं नहीं । मेरे बाद मेरा प्रकाश आगे बढ़ाना है । मैं तुझे अपना उत्तराधिकारी बनाऊँगा । किन्तु तब, जब तू अपनी पात्रता बनाये रहेगा और सत्य के लिये हर कष्ट सहन करने को तत्पर रहेगा ।"

स्वामी रामानन्द जी चल दिये । कबीर उनके पीछे-पीछे चलने लगा । उसे रोककर स्वामी रामानन्द ने कहा—नहीं, जाओ अपना काम करो । सायकाल सत्संग में आना । चलते हुए नीमा को भी निर्भय रहने के लिये कहते गये ।

कबीर का ब्याह हो गया उनकी पत्नी का नाम लोई था अपने विवाह में कबीर ने न मुल्ला-काजी को पूछा और न बिरादरी को भोज दिया । इससे उनमें खलबली मच गई । बड़ी-बड़ी बातें होने लगी । किसी ने कहा वह तो बेशर्म हो गया है । किसी ने कहा वह तो पहले से ही काफिर है । यह कोई नई बात उसने थोड़े की है । किसी ने राय दी कि उसके घर चलकर उसे लताड़ा जाये और साफ कह दिया जाये कि उसे जाति से बाहर कर दिया गया है । कोई बोला—कबीर तो लौंडा है । उसकी माँ नीमा की अक्ल पर क्या पत्थर पड़ गये थे ? एक बोला—कबीर ही क्यों तकी को भी बिरादरी से निकाला जाये ।

बहुत-सी हाय तौबा होने के बाद बहुत से लोग कबीर के घर की तरफ चल दिये ।

कबीर उस समय बड़ी तन्मयता से बैठा करघे पर काम करता हुआ सायंकालिक सत्संग के लिये गुनगुना कर भजन रच रहा था । लोई पास ही बैठी उसे मदद कर रही थी । भीड़ पहुँची । बाहर से आवाज आई—क्या काफिर कबीरा घर में है ?

लोई चौंक उठी । घबरा कर बाहर की तरफ झाँकने लगी—बोली—"मालूम होता है बिरादरी के लोग आये हैं ।" आवाज फिर आई—क्या काफिर कबीरा घर पर है या नहीं ? कबीर ने काम रोका और बाहर आकर पूछा—क्या काम है आप लोगों को काफिर कबीरा से ? मैं हाजिर हूँ । फरमाइये क्या हुक्म है ? लोई और नीमा दरवाजे की आड़ में खड़ी हो गई ।

भीड़ से दो-तीन की आवाज एक साथ आई—'तुम्हें इस तरह हाथ पकड़ाऊ विवाह कर लेने का क्या हक था ? न काजी बुलाया और न भाई बन्दों को । हम लोग इस निकाह को नाजायज करार देते हैं ।

कबीर ने शान्तिपूर्वक कहा—"ब्याह तो मैंने लोई से और लोई ने मुझसे किया है और पूरी राजी रजामंदी से । फिर इसमें काजी को बुलाने की क्या जरूरत थी ? काजी की जरूरत तब पड़ती है जब विवाह में किन्हीं शर्तों को तय करने की जरूरत होती है और उन शर्तों को कानूनी समास देने के लिये किसी बिचवइये की गवाह की । विवाह के बीच काजी का यही काम है । हमारे और लोई के बीच न कोई शर्तें तय होनी थी और न आगे चल कर हममें से किसी को झगड़े या तलाक का अंदेशा था । तब काजी की जरूरत मेरी समझ में जरा भी नहीं आती । विवाह की मंजूरी ना मंजूरी का सवाल तो हम दोनों से मतलब रखता है, आप लोगों को उसे जायज या नाजायज ठहराने का कोई हक नहीं है । रही भाई-बन्दों की खातिर-तवाजे की बात उसके लिये साफ बात यह है कि मैं गरीब आदमी हूँ । मेरे पास बेकार खाने उड़ाने के लिये पैसा न था और न है । कर्ज लेकर फिजूल खर्ची करना एक ऐसा गुनाह है जो पूरी जिन्दगी तबाह कर देता है । मेरा ख्याल है कि अगर आप लोगों को दावत देकर खुश कर दिया होता तो शायद मेरा विवाह नाजायज भी होता तो जायज करार दे दिया जाता । पर मेरा विवाह तो सोलह आना साफ और बेलाग है मुझे दावत की रिश्वत देकर उसके जायज होने की सनद लेने की क्या जरूरत थी ? आप लोगों के समाज की यही तो कमजोरी है कि आप लोग पुराने सड़े-गले रीतिरिवाजों को अपनाये हुए चले आ रहे हैं, उनको पूरा करने के लिये कर्ज पर कर्ज लेते हैं जिन्दगी भर सूद-ब्याज के चक्कर में पड़े हुए गरीबी और भुखमरी का सामना करते रहते हैं । न रोजगार में तरक्की कर पाते हैं और न बाल-बच्चों को पढ़ा-लिखा पाते हैं । दिन-रात मेहनत करते हैं तब न पेट को रोटी और न तन को कपड़ा । अब आप लोग नई रोशनी में आँख खोलिये । अक्लमन्दी से काम लीजिये और बेकार के रीतिरिवाज छोड़कर अपना सुधार कीजिये ।"

बातें सुनकर लोगों ने देखा—उन्हें लगा कि कबीर अब काफी बड़ा हो गया है । उसकी अक्ल बढ़ गई है और उसकी बात में एक प्रभाव और चेहरे पर जलाल आ गया है । तब भी एक आध कहने लगे—कुछ भी सही—मगर तुमने निकाह की मात तोड़ कर नाएतलाली बरती है । तुमको जाति से बाहर कर दिया गया है । तुम काफिर हो गये हो । यही बतलाने हम लोग यहाँ आये थे ।

कबीर ने कहा—शुक्रिया, मेरी कोई जात ही नहीं है फिर आप मुझे अलग किससे करेंगे ? मेरी जात तो इन्सानियत है, मेरा मजहब, प्रेम और मोहब्बत है । अपना ईमान छोड़ देने वाले मुसलमान ही काफिर हुआ करते हैं । न तो मैं मुसलमान हूँ और न मैंने अपना ईमान खोया है । मेरा ईमान साबित है, मेरी राह

नेक है तब मैं काफिर कैसा ? वैसे आप लोग जो समझें । अब आप लोग यहाँ कष्ट न करें । कहकर कबीर ने दरवाजे में खड़ी नीमा और लोई से कहा चलो अन्दर चलो ।

भीड़ में लोग एक-दूसरे का मुँह देखते हुए और संस्कारों पर एक गहरा प्रभाव लिये हुए चल दिये । जहाँ बहुतों के मुँह से निकला-बकता है वहाँ बहुतों ने कहा बात तो ठीक और पते की कहता है । साधू-सन्तों का साथ करता है । बड़ा सयाना हो गया है । भीड़ चली गई और उसके बाद विवाह के बाबत कोई हंगामा नहीं हुआ ।

काशीनाथ के अन्याचार, स्वामी रामानन्द की कृपा, जुलाहों की घटना और भक्ति-भावना से ओत-प्रोत भजनों ने कबीर की लोकप्रियता में श्रद्धा का समावेश कर दिया । अब लोग कबीर के स्थान पर महात्मा कबीरदास कहने लगे ।

सड़कों, गलियों और बाजारों मे लोग जहाँ भी कबीरदास को पा जाते घेर कर रोक लेते । कबीर को भी संकोच न होना और वह यथास्थान ही लोगों को धर्म का तत्त्व बतलाने या भजन सुनाने लगते । कबीर के भजनों तथा प्रवचनों का विषय मुख्यत. अन्ध-विश्वास आडम्बर तथा धर्म विक्रय का विरोध ही होता था । इसके अतिरिक्त वे जनता को समता, समानता तथा अभेद भाव की शिक्षा दिया करते थे । जातिवाद, सम्प्रदायवाद और छुआ-छूत का विरोध करने मे कबीर को कभी संकोच न होता था । सीधी सच्ची बात कह देने का कबीर मे अनुकरणीय साहस था । सीधे आत्मा से निकली और जनहित की भावना से ओत-प्रोत महात्मा कबीर की वाणी मे बड़ा प्रभाव था । जो भी उनको सुनता श्रद्धा से नत हो जाता । दम्भ तथा अहंकार मे दूषित लोगों की कोई बडी संख्या भले ही अपने को कबीर के प्रति आस्थावान होने से वंचित रख सकी हो किन्तु समाज का पिछड़ा और उपेक्षित वर्ग तो तन-मन से उनका अनुयायी बन गया ।

जब से लोई आई कबीर और भी अधिक काम करने लगे । वे पहले से दो गुना कपडा बनाने लगे । जितना कपड़ा बनाते हाथो हाथ बिक जाता, कबीरदास के भक्त, अनुयायी और समर्थक उनके कपड़े का अधिक मूल्य देने का प्रयत्न करते । पर कबीर कभी भी एक पाई ज्यादा नहीं लेते । तब भी उनकी आय पहले से बहुत बढ गई ।

आय की वृद्धि के साथ कबीर की उदारता भी बढ गई । उनका रहन-सहन और भोजन, वस्त्र उसी प्रकार का साधारणतम बना रहा । घर के अत्यावश्यक खर्च के बाद जो भी शेष रहता था कबीरदास वह सब धर्म तथा परोपकार मे लगा देते थे । उन्होंने न तो अपने लिये मकान बनवाया और न सुख अथवा आराम के साधन बढ़ाये और न कोई पैसा बचा कर ही रक्खा । उनका सुख तो अपना कर्त्तव्य करने, भजन बनाने, गाने और लोगों को सत्यता की शिक्षा देने मे था ।

जो भी गरीब अथवा आवश्यकता ग्रस्त उनके सम्पर्क मे आता उसकी भोजन, वस्त्र तथा आवश्यक धन से सहायता करते थे । उन्होंने न जाने कितनी अनाथ विधवाओं तथा बच्चों को अवलम्ब दिया । बहुत-से होनहार बालकों को पढाया और काम-धन्धे से लगा दिया । उन्होंने स्थान-स्थान पर कुँओं, वृक्षों,गोशालाओं की व्यवस्था की । अतिथि, सन्तों का तो उनके यहाँ आवागमन ही लगा रहता था । अतिथि सत्कार को कबीर सबसे बडा कर्त्तव्य ही नहीं सत्कर्म भी मानते थे उनकी यह उदारता और जन-सेवा देखकर उनके बहुत से भाई-बन्द उन्हें परोपकार रोक कर धन बचाने का परामर्श दिया करते थे । पर कबीरदास सदैव यही उत्तर दिया करते थे कि धन-दौलत, जमीन-जायदाद सब चीजें एक दिन यहीं इसी स्थान पर छूट जायेंगी । यदि मनुष्य के साथ कुछ जायेगा तो उसका सत्य और सत्कर्म ही जायेगा ।

कबीरदास का यह प्रसन्नतापूर्ण परोपकारी जीवन ही चल रहा था कि कुछ ही समय के अन्तर से दो अप्रिय घटनायें घटित हो गई । एक तो उनकी प्राणप्रिय माता का स्वर्गवास हो गया और दूसरे उनकी आत्मा के प्रियतम स्वामी रामानन्द जी दिवंगत हो गये । इन घटनाओं से कबीरदास का अनासक्त हृदय भी विचलित हो गया । उन्हें संसार से सहसा विराग हो गया और उनका यह विराग उनका नवजात शिशु कमाल भी नहीं रोक पाया । कबीर आत्म-शान्ति की खोज मे भगवान तथागत की तरह घर छोडकर चल दिये । लोई ने उनकी मनोदशा का आभास पा लिया था । विरोध

न किया । उसे कबीर की मूलवृत्तियों से परिचय था । उसे विश्वास था कि कबीर एक दिन फिर वापस आयेंगे ।

लगभग वर्ष भर कबीर साधु-संतों, महात्माओं और महन्तों के बीच देशाटन करते रहे । पर उन्हें कहीं भी शान्ति न मिली । साधुओं का आडम्बर और समाज का अज्ञान देख कर उनकी अशांति और बढ़ गई । एक बार वे जोगी होकर साधुओं की मण्डली में भी मिल गये । किन्तु जब उनमें गहराई के साथ बैठकर देखा तो पोल ही पोल पाई । उन्होंने देखा कि साधुओं का जीवन तो लोभ, तृष्णा और माया-मोह में साधारण गृहस्थों से भी गया-बीता है । अपने अनुभवों के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि घर रह कर अपना कर्त्तव्य करते हुए भगवान का भजन करते रहने से अच्छी साधना दूसरी नहीं है । निदान वे घर वापस आ गये और फिर गृहस्थ भोग के साथ अपने कर्त्तव्य और आध्यात्मिकता साधना में लग गये ।

कबीर का आगमन सुनकर काशी नरेश ने उन्हें बुलाया और स्वामी रामानन्द की वसीयत के अनुसार उनके आश्रम का सारा कार्य-भार उन्हें सौंप दिया । कबीर ने अपने गुरु के पद चिन्हों पर चलकर स्वामी रामानन्द जी की कुटिया में उन्हीं की तरह प्रातः-सांय सत्संग करना प्रारम्भ कर दिया और वह पवित्र स्थल, जो कि स्वामी रामानन्द के चले जाने से मौन हो गया था पुनः प्रखर हो उठा । अब वहाँ कबीर के उपदेश तथा भजन सुनने के लिये सैकड़ों की भीड़ एकत्र होने लगी । कबीर की रचनाओं तथा वचनों में सत्य प्रकाश रहता था जिसे पाकर समाज से जल्दी-जल्दी अन्ध-विश्वास, अन्ध-परम्परायें और अन्ध-मान्यतायें दूर होने लगी । लोगों के हृदय से छुआछूत, जाति-पाँति और ऊँच-नीच का भेद पूर्ण भाव दूर होने लगा और जनता आध्यात्मिक दृष्टि से अपने को एक दूसरे के समान समझने लगे । उस समय के समाज में यह एक सर्वथा नई क्रांति थी जो कि रूढ़िवादी, पुरातनवादी, और श्रेष्ठतावादी आडम्बरों को सहन न हो रही थी । किन्तु तब तक कबीर का प्रभाव और लोकप्रियता एक बड़ी ऊँचाई और लगभग सारे देश में फैल चुकी थी । काशी नरेश तक उनका आदर करने लगे थे । अस्तु विरोधियों को सीधे-सीधे कुछ करते नहीं बनता था । तब भी वे कबीर को हानि पहुँचाने के लिये षड्यन्त्र तथा दुरभिसन्धियों में लगे रहते थे ।

कबीर को देशाटन से वापस आये अभी कुछ ही दिन हुए थे कि एक दिन साधुओं की एक बड़ी भीड़ ने आकर उनका घर घेर लिया । उन सबके हाथों में चीमटे, तवल और भाला, बरछों के साथ जलती हुई मशालें थीं । साधुओं का पूरा गिरोह क्रोध से पागल हो रहा था । वह जोर-जोर से कबीर को अपशब्द कह-कहकर नारे लगा रहे थे कि कबीर ने फिर माया को स्वीकार कर हम साधुओं का अपमान किया है । हम उसे मार डालेंगे और उसका घर जला कर भस्म कर देंगे । कबीर ने वह शोरगुल सुना और बाहर आकर साधुओं की उस भीड़ को देखा । उन्हें उनका वह अस्वाभाविक रूप देखकर हँसी आ गई । वे बोले—आप लोग क्या चाहते हैं और यहाँ किसलिये आये हैं ? भीड़ में एक साथ बहुत-से साधु बोल उठे ।

"कबीर तूने अखाड़े से भागकर हमारा सबका विश्वासघात और फिर से माया के चक्कर में पड़ कर साधुओं का अपमान किया है । अब या तो तू मेरे साथ चल नहीं तो हम तुझे मार डालेंगे और तेरा घर जला देंगे ।"

कबीर ने उनकी बुद्धि पर तरस खाते हुए कहा—"यही साधुता है तुम्हारी कि तुम एक भले आदमी के घर पर हमला करने आये हो । मार डालने और घर जला डालने का विचार रखते हो । ऐसा है तो क्या आप लोग बता सकते हैं कि आपकी इस हथियार बन्द भीड़ और डाकुओं, अपराधियों के गिरोह में क्या अन्तर है ? आप लोगों के बीच रह कर किसी को क्या आध्यात्मिक लाभ हो सकता है ? आप लोगों से तो साधारण गृहस्थ अच्छे है । वे यदि मूड मुड़ाकर साधुता का ढोंग नहीं करते तो अपनी गृहस्थी चलाकर संसार की परम्परा तो चलाते हैं । अच्छा होता कि आप लोग इस प्रकार के साधु होने के बजाय साधारण गृहस्थ रहते और जब साधु हो ही गये थे तो अपना तथा जनता का मंगल करने के लिये कुछ आध्यात्मिक साधना करते । परमार्थ और परोपकार करते, दीन-दुःखियों तथा निराश्रितों की सेवा करते ।"

भीड़ गरज उठी—"हम तेरा उपदेश सुनने नहीं आये हैं । तुझे लेने आये है । या तो तू हमारे साथ

चल नहीं तो हम तेरा घर तेरे साथ जला कर राख कर देंगे ।"

तभी एक ओर से गर्जन सुनाई पड़ी—"किसकी हिम्मत जो महात्मा कबीर का बाल भी बाँका कर सके । जिसमें साहस हो वह बढ़े और उनके घर को आँच दिखाये ।" साधुओं ने देखा कि जनता की एक विशाल भीड़ लाठियाँ लिये जमा हो गई है और सब तरफ से लोग बराबर चले आ रहे हैं । जनसमूह को देखकर साधुओं के होश उड़ गये और वे धीरे से बोले हम तो उसे माया-मोह से निकालने आये थे । अब उसकी मर्जी नही है तो उसमे पड़ा रहे । हमको क्या लेना ? जनता ने तुरन्त कहा—"पहले आप लोग अपना माया मोह दूर कीजिये अज्ञान के नरक मे निकलिये फिर दूसरे को निकालने की इच्छा करना ।" साधुओं की भीड़ धीरे-धीरे खिसक गई ।

कबीर ने उसी स्थान पर भीड़ को शान्ति, मानसिक सन्तुलन और क्षमा तथा अहिंसा का उपदेश दिया और लोगों को समझाया कि सहसा उत्तेजित होकर कोई काम नहीं करना चाहिये । कोई कदम उठाने से पहले अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिये और फिर मेरे लिये तो किसी से कभी विवाद करो ही नहीं । मै तो जन-जन में प्रेम-भाव स्थापित करना चाहता हूँ न कि विरोध और विद्वेष ।

कबीर के चले जाने के बाद लोई को बड़ी तकलीफ रही थी । वह दुःख के कारण अधिक काम न कर पाती थी । जो कपडा बुन भी लेती थी उसे पैठ मे जाकर बेच न पाती थी । फलस्वरूप उस पर कुछ कर्ज हो गया था । वह कर्ज कबीर के आने के बाद भी न चुक सका । बल्कि अतिथियों के आने और आदर सत्कार करते रहने के कारण और भी बढ़ गया था ।

काशीनाथ ने महाजनों को भड़का कर काशी नरेश के दरबार मे दावा करा दिया । कबीर को, निर्णय मे कर्ज चुका देने के लिये तीन माह की अवधि मिली । काशी नरेश कबीर का आदर करते थे । यदि वे चाहते तो कबीर का कर्ज अपने पास से दे सकते थे, पर उन्होने ऐसा किया नहीं । उसका कारण यह था कि काशीनाथ ने काशी के और बहुत से पंडित लेकर काशी नरेश को यह बतलाया था कि कबीर के पास पैसे की कमी नहीं है । उसका कपड़ा खूब बिकता है और स्वामी रामानन्द की बहुत-सी सम्पत्ति उसके हाथ लगी है ।

अवधि समाप्त होने को आई पर कर्ज न पट सका । कबीर बहुत चिन्तित रहने लगे । उनकी यह चिन्ता यदा-कदा सत्संग मे भी प्रकट हो जाती थी । साथ ही उनके बहुत से भक्तों को भी इस चिन्ता का कारण पता था । किन्तु उनके भक्तों में गरीब वर्ग ही अधिक था । सम्पन्न वर्ग का साहस उन्हें रुपया देने का नही होता था । तभी एक दिन उनका एक भक्त पाँच सौ रुपये की थैली लेकर उनके पास आया और बोला यह रुपये मेरे मामा ने मुझे दिये हैं । आप इन्हें जमा करके कर्ज मे छुटकारा पा लें । कबीर ने रुपया लेने से इन्कार कर दिया और बोले—मुझे दान नही लेना है । या तो कर्ज अपनी मेहनत के पैसे मे चुकाऊँगा या फिर उसके बदले मे जेल काटूँगा । भक्त ने बहुत अधिक अनुरोध किया । तब कबीर ने वह रुपया नये कर्ज के रूप में इस शर्त पर स्वीकार करके लिया कि उसके मामा को यह रुपया थोड़ा-थोड़ा करके वापस देते रहेंगे जिसे उसे लेना होगा ।

रुपया जमा करने के दिन कबीर काशी नरेश के दरबार में गये कर्ज अदा कर दिया । अभी दरबार में उसकी लिखा-पढी ही हो रही थी कि तब तक काशीनाथ आ पहुँचा । उसने कहा—"महाराज यह रुपया चोरी का है । कल रात कबीर ने मेरे घर मे सेंध काटकर यह रुपया चुराया है ।" उसने अपने कथन की पुष्टि मे अनेक गवाह भी पेश किये ।

कबीर ने काशी नरेश से कहा—"महाराज ! काशीनाथ झूठ कहते है । मैने चोरी नहीं की है ।"

काशी नरेश ने पूछा—"तो फिर इतना रुपया कहाँ से मिल गया ?" महाराज ! मुझे यह रुपया एक राम भक्त ने कर्ज के रूप मे दिया है । जिसको मैं धीरे-धीरे चुकता कर दूँगा ।"

"आपका वह भक्त कौन है ? उसे पेश करिये ।" काशी नरेश ने आदेश दिया ! कबीर भक्त को लाने के लिये छुट्टी माँग ही रहे थे कि तब वह स्वयं आ पहुँचा । पूछे जाने पर उसने बतलाया कि वह रुपया उसको काशीनाथ ने दिया था कि कबीर दास को दे देना लेकिन मेरा नाम न बतलाना नही तो वह स्वीकार

तुम्हें सजाये मौत मिलनी चाहिये । मैं अभी तुम्हें गिरफ्तार करवाता हूँ । ऐसा कहकर उसने अपने नौकरों से कबीर को पकड़ लेने के लिये कहा । नौकर बढ़े तभी हिन्दुओं की भीड़ गरज उठी, "खबरदार जो महात्मा कबीर को हाथ भी लगाया । अभी खून की नदी वह जायेगी ।" देखते-देखते ही हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न खड़ा हो गया और दंगा होने की नौबत आ गई ।

कबीर सबको समझाते हुए फिर बोले—भाइयो मैं न हिन्दू हूँ और न मुसलमान मैं तो सबका हित चाहने वाला एक खुदा का बन्दा हूँ । यह बात काजी जी को जान लेना चाहिये । मैं तो हिन्दू और मुसलमान दोनों से कहता हूँ कि राम और रहीम में कोई फर्क नहीं है । इसलिये दोनों जातियाँ अपने-अपने धर्म पर डटी रहें । इन मुल्ला-काजियों और पण्डा-पुजारियो के बहकाने में मत आओ । हाँ यदि किसी को कोई धर्म विवेक पूर्वक अच्छा लगे तो वह खुशी से उसमें जा सकता है । दाब-धौंस अथवा लालच से नहीं । इन हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाया जा रहा है जो मैं किसी प्रकार भी नहीं होने दूँगा । भीड़ शान्त हो गई । काजी घबरा कर अपने घर भाग गया और लोग धीरे-धीरे कबीर के पीछे चल दिये । इस घटना ने कबीर को हिन्दुओं के बीच पूज्य बना दिया ।

दिन रात के परिश्रम, जनता की सेवा और सामाजिक कुरीतियों से संघर्ष करते-करते कबीर अब काफी क्षीण हो गये थे । अब आयु भी उनकी ढल चुकी थी । लोई की मृत्यु ने उन्हे और भी जीर्ण बना दिया था । कमाल सयाना हो गया था । अब दोनो बाप बेटे मिलकर काम करते । करघे, भजन, उपदेश और सत्संग के सारे कार्यक्रम यथावत चलते रहते ।

कबीर के अनुयायियों की संख्या बहुत बढ़ गई थी । हिन्दू, मुसलमान, सवर्ण, अवर्ण और अछूत सभी उनमें शामिल थे । कबीर के अनुयायियों ने कबीर के मना करने पर भी कबीर-पन्थ के नाम से एक सम्प्रदाय ही चला दिया । कबीर को इस सकीर्णता-पूर्ण महत्त्व का गहरा धक्का लगा और उनका स्वास्थ्य चौपट हो गया । कबीर का विराग दिन-दिन बढ़ता गया और उन्होंने जल्दी ही संसार छोड़ देने का निश्चय कर लिया ।

कबीर पन्थ के विस्तार से पुरातनपन्थी हिन्दू और मुसलमान बहुत नाराज थे । वे अब भी कबीर को मिटा डालना चाहते थे पर उनकी जनप्रियता के कारण कुछ करते न बनता था । काशीनाथ जो कि अपने को हिन्दू धर्म का ठेकेदार समझता था कोड़ों की सजा पाकर ठण्डा पड गया था । पर काजी का दिमाग अभी नीचे न उतरा था । वह कबीर को मिटा डालने की घात में लगा रहता था । वह बादशाह सिकन्दर लोदी से कबीर की शिकायत का इरादा बनाये बैठा ही था कि तब तक उसे एक अवसर मिल गया । एक यात्रा के सम्बन्ध में सिकन्दर लोदी काशी की सीमा पर आया हुआ था ।

काजी उससे मिलने गया और खूब झूठ-सच मिलाकर उसने उससे कबीर की इस तरह शिकायत की कि सिकन्दर लोदी ने यह विचार बना लिया कि कबीर हिन्दुस्तान से इस्लाम धर्म और इस्लामी राज्य का खात्मा करना चाहता है । वह कबीर के खून का प्यासा बन गया । तुरन्त ही उसने काशी नरेश के पास फरमान भेज कर कबीर को पकड़ कर उसके हवाले कर देने का आदेश दिया ।

काशी नरेश का फरमान मिला और वे विचार में पड़ गये । उन्होंने सोचा हो, न हो काजी ने बादशाह को कबीर के विरुद्ध भड़काया है । वह अवश्य ही उन्हें पाकर अपमान और अत्याचार करेगा । स्वामी रामानन्द के निर्देश और अपनी श्रद्धा के साथ कबीर की महानता के कारण वे उनकी रक्षा करना चाहते थे । उन्होंने फरमान के जवाब में कबीर को सिकन्दर लोदी के पास भेजने के बजाय युद्ध की तैयारी करने का आदेश दे दिया । क्योंकि वे जानते थे कि अनाचारी बादशाह फरमान का पालन न होते देखकर निश्चय ही पशुता पर उतर आयेगा ।

कबीर को इस बात का पता चला तो वे तुरन्त ही काशी नरेश के पास पहुँचे और कहा—"आप मेरे कारण युद्ध का सूत्रपात न करें । मैं स्वयं बादशाह से मिलूँगा और मालूम करूँगा कि उसने मुझे क्यों बुलाया है ? काशी नरेश ने सारी सम्भावनाये बतलाते हुए कबीर को बादशाह के पास जाने से रोका । पर कबीर आग्रहपूर्वक चल ही दिये ।"

नहीं करेंगे। मैंने वैसा ही किया। पर अब काशीनाथ कबीर जी को फँसाने के लिये आपके सम्मुख झूठ बोल रहे हैं।"

काशीनाथ के मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। फिर भी वह बोला—महाराज यह आदमी झूठ बोलता है। मैं कबीर को रुपया क्यों देता उससे तो मेरी दुश्मनी चल रही है। कौन ऐसा होगा जो दुश्मन को फँसाने की बजाय आपत्ति से छुड़ाने का उपाय करेगा?"

काशी नरेश काशीनाथ की दशा और उसका कथन सुनकर मुस्कराये और बोले—"तो कबीर से तुम्हारी दुश्मनी है और हर आदमी अपने दुश्मन को फँसाने का उपाय करता है। बचाने का नहीं। वही तुम भी कर रहे हो—है न यही बात।"

क्रोध, आवेश, विद्वेष तथा असत्य के कारण काशीनाथ की बुद्धि भ्रष्ट हो चुकी थी, उसकी जागरूकता समाप्त हो गई थी। सहसा उसके मुख से निकल गया, "हाँ महाराज।" और फिर तत्क्षण ही अपनी भूल समझ कर परिमार्जन करता हुआ जल्दी-जल्दी कहने लगा, "नहीं, नहीं महाराज मैं कबीर को फँसाना नहीं चाहता—उसने मेरे घर चोरी की है। उसे दण्ड मिलना चाहिये। यह आदमी कबीर पर अन्ध श्रद्धा के कारण झूठ बोल रहा है। मैंने उसे रुपये नहीं दिये थे।"

काशी नरेश फिर मुस्कराये और फिर सहसा ही कठोर होकर ऊँची आवाज में बोले—"काशीनाथ। असलियत तुम्हारे मुँह से ही खुल गई है। तुमने कबीर को फँसाने के लिये यह सब जाल रचा है। इसके लिये तुम सख्त सजा के भागी बनोगे।"

काशीनाथ की रही सही हिम्मत टूट गई। अपराध उसके सिर चढ़ कर बोल उठा—वह काशी नरेश के पैरों पर गिरकर बोला—"महाराज! मुझे क्षमा किया जाये। मैं अपना प्रसंग वापस लेता हूँ।"

सत्य सिद्ध हो चुका था। काशी नरेश ने कबीर को मुक्त करने और काशीनाथ को दो सौ कोड़े लगाये जाने का निर्णय दे दिया। कबीर को दरबार के बाहर खड़ी भीड़ आदरपूर्वक अपने कन्धों पर चढ़ा कर जय-जयकार के साथ ले चली, और काशीनाथ को सिपाही कोड़े मारने के लिये पकड़ ले गये। इस घटना ने कबीर की लोकप्रियता और बढ़ा दी।

उन्हीं दिनों काशी के काजी ने कुछ हिन्दू अछूत जातियों को भय और लालच के आधार पर मुसलमान बनाने की आयोजना बनाई। उसके लिये जुमे का दिन निश्चित कर दिया गया। जुमा आया और अछूतों की भीड़ कलमा पढ़ने के लिये जामा मस्जिद में जमा होने लगी। कबीर को इस बात का पता लगा तो वे तुरन्त मस्जिद में पहुँचे और लोगों को समझाने लगे।

"भाइयो! हिन्दू से मुसलमान होकर आप लोग क्या लाभ उठायेंगे? अपना धर्म छोड़कर कभी किसी को सद्‌गति नहीं मिलती। राम और रहीम में कोई अन्तर नहीं है। तब आप लोग राम को छोड़कर रहीम को क्यों पकड़ रहे हैं। यदि आप लालच के वश होकर अपना धर्म परिवर्तन कर रहे हैं तो भूल कर रहे हैं और यदि भय से ऐसा कर रहे हैं तो पाप करते हैं। आप लोगों को मुसलमान बना कर, अपने धर्म से भ्रष्ट करके ये काजी और मुल्ला आपको कुछ भी न देंगे। इन्होंने ऐसे ही झूठा लालच देकर न जाने, कितने लोगों का धर्म परिवर्तन किया है और बाद में अपना कोई भी वायदा पूरा नहीं किया। इन सबको न तो इस्लाम से कोई प्रेम होता है और न अनुयायियों की वृद्धि से कोई अभिरुचि। यह तो अपनी कारगुजारी दिखा कर बादशाह को खुश करके अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। आप सबका धर्म भ्रष्ट करके फिर कोई बात भी न पूछेंगे। आप लोग न इधर के रहेंगे और न उधर के। इसलिये अपने धर्म पर दृढ़ रहो। इन धोखेबाज मुल्ला-काजियों के चक्कर में पड़ कर अपना परलोक मत बिगाड़ो। और यदि डर कर आप लोग मुसलमान हो रहे हैं तब तो महा पाप कर रहे हैं। डर तो अपना धर्म छोड़ने में है उस पर डटे रहने में नहीं। आप तो अपने धर्म पर श्रद्धा पूर्वक डटे रहिये धर्म खुद आपकी रक्षा करेगा। और यदि एक बार अपने धर्म की रक्षा करने में बलिदान हो जाओगे तो सीधे स्वर्ग जाओगे। राम रहीम में कुछ अन्तर नहीं है फिर अपना धर्म छोड़ने की क्या जरूरत है? बोलो भाई राम रम्मैया की जय।"

पथ-भ्रष्ट हिन्दुओं को प्रकाश मिला और वे सब एक साथ राम रम्मैया की जय बोल उठे। काजी की स्थिति विषम हो गई। वह कबीर पर बरस पड़ा और बोला। तुम मुसलमान होकर हिन्दुओं का समर्थन और इस्लाम की खिलाफत करते हो। शरियत के मातहत

तुम्हें सजाये मौत मिलनी चाहिये । मैं अभी तुम्हें गिरफ्तार करवाता हूँ । ऐसा कहकर उसने अपने नौकरों से कबीर को पकड़ लेने के लिये कहा । नौकर बढ़े तभी हिन्दुओं की भीड़ गरज उठी, "खबरदार जो महात्मा कबीर को हाथ भी लगाया । अभी खून की नदी बह जायेगी ।" देखते-देखते ही हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न खड़ा हो गया और दंगा होने की नौबत आ गई ।

कबीर सबको समझाते हुए फिर बोले—भाइयो मैं न हिन्दू हूँ और न मुसलमान मैं तो सबका हित चाहने वाला एक खुदा का बन्दा हूँ । यह बात काजी जी को जान लेना चाहिये । मैं तो हिन्दू और मुसलमान दोनों से कहता हूँ कि राम और रहीम में कोई फर्क नहीं है । इसलिये दोनों जातियाँ अपने-अपने धर्म पर डटी रहें । इन मुल्ला-काजियों और पण्डा-पुजारियों के बहकाने में मत आओ । हाँ यदि किसी को कोई धर्म विवेक पूर्वक अच्छा लगे तो वह खुशी से उसमें जा सकता है । दाव-धौंस अथवा लालच से नहीं । इन हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाया जा रहा है जो मैं किसी प्रकार भी नहीं होने दूँगा । भीड़ शान्त हो गई । काजी घबरा कर अपने घर भाग गया और लोग धीरे-धीरे कबीर के पीछे चल दिये । इस घटना ने कबीर को हिन्दुओं के बीच पूज्य बना दिया ।

दिन रात के परिश्रम, जनता की सेवा और सामाजिक कुरीतियों से संघर्ष करते-करते कबीर अब काफी क्षीण हो गये थे । अब आयु भी उनकी ढल चुकी थी । लोई की मृत्यु ने उन्हें और भी जीर्ण बना दिया था । कमाल सयाना हो गया था । अब दोनो बाप बेटे मिलकर काम करते । करघे, भजन, उपदेश और सत्संग के सारे कार्यक्रम यथावत चलते रहते ।

कबीर के अनुयायियों की संख्या बहुत बढ़ गई थी । हिन्दू, मुसलमान, सवर्ण, अवर्ण और अछूत सभी उनमें शामिल थे । कबीर के अनुयायियों ने कबीर के मना करने पर भी कबीर-पन्थ के नाम से एक सम्प्रदाय ही चला दिया । कबीर को इस संकीर्णता-पूर्ण महत्त्व का गहरा धक्का लगा और उनका स्वास्थ्य चौपट हो गया । कबीर का विराग दिन-दिन बढता गया और उन्होंने जल्दी ही संसार छोड़ देने का निश्चय कर लिया ।

कबीर पन्थ के विस्तार से पुरातनपन्थी हिन्दू और मुसलमान बहुत नाराज थे । वे अब भी कबीर को मिटा डालना चाहते थे पर उनकी जनप्रियता के कारण कुछ करते न बनता था । काशीनाथ जो कि अपने को हिन्दू धर्म का ठेकेदार समझता था कोड़ों की सजा पाकर ठण्डा पड़ गया था । पर काजी का दिमाग अभी नीचे न उतरा था । वह कबीर को मिटा डालने की घात में लगा रहता था । वह बादशाह सिकन्दर लोदी से कबीर की शिकायत का इरादा बनाये बैठा ही था कि तब तक उसे एक अवसर मिल गया । एक यात्रा के सम्बन्ध में सिकन्दर लोदी काशी की सीमा पर आया हुआ था ।

काजी उससे मिलने गया और खूब झूठ-सच मिलाकर उसने उससे कबीर की इस तरह शिकायत की कि सिकन्दर लोदी ने यह विचार बना लिया कि कबीर हिन्दुस्तान से इस्लाम धर्म और इस्लामी राज्य का खात्मा करना चाहता है । वह कबीर के खून का प्यासा बन गया । तुरन्त ही उसने काशी नरेश के पास फरमान भेज कर कबीर को पकड़ कर उसके हवाले कर देने का आदेश दिया ।

काशी नरेश का फरमान मिला और वे विचार में पड़ गये । उन्होंने सोचा हो, न हो काजी ने बादशाह को कबीर के विरुद्ध भड़काया है । वह अवश्य ही उन्हे पाकर अपमान और अत्याचार करेगा । स्वामी रामानन्द के निर्देश और अपनी श्रद्धा के साथ कबीर की महानता के कारण वे उनकी रक्षा करना चाहते थे । उन्होंने फरमान के जबाव में कबीर को सिकन्दर लोदी के पास भेजने के बजाय युद्ध की तैयारी करने का आदेश दे दिया । क्योंकि वे जानते थे कि अनाचारी बादशाह फरमान का पालन न होते देखकर निश्चय ही पशुता पर उतर आयेगा ।

कबीर को इस बात का पता चला तो वे तुरन्त ही काशी नरेश के पास पहुँचे और कहा—"आप मेरे कारण युद्ध का सूत्रपात न करे । मै स्वयं बादशाह से मिलूँगा और मालूम करूँगा कि उसने मुझे क्यों बुलाया है ? काशी नरेश ने सारी सम्भावनायें बतलाते हुए कबीर को बादशाह के पास जाने से रोका । पर कबीर आग्रहपूर्वक चल ही दिये ।"

जल्दी ही काशी भर में और उसके आस-पास यह समाचार फैल गया । हजारों की तादाद में जनता कबीर के साथ चल दी । कबीर ने समझाना चाहा पर किसी ने न सुना ।

कबीर बादशाह की छावनी में गये । सैनिको ने उन्हें बादशाह के पास पेश किया । काजी वहाँ बैठा हुआ था । बादशाह के अंगरक्षकों के मुखिया ने कहा—"कबीर ! हिन्दुस्तान के मालिक, आकये वक्त और परवरे मखलूक, बादशाह सिकन्दर लोदी का आदाब बजाओ, उन्हें सलाम अदा करो ।

कबीर ने निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया—"एक परमात्मा के सिवाय मालिके मखलूक और कोई नहीं हो सकता । मैं उसी एक मालिक का बन्दा हूँ और उसी को सलाम करता हूँ । मिट्टी से बने किसी इन्सान को सलाम करना मेरा काम नहीं है ।" कबीर का उत्तर सुनकर सिकन्दर लोदी की आँखें लाल हो गईं । फिर भी वह अपने को सँभाले रहा । बोला—

"कबीर ! सुना है तुम इस्लाम और आज की इस्लामी हुकूमत की खिलाफत करते हो । हिन्दुओं को सल्तनत के खिलाफ बगावत के लिये भड़काते हो । तुम्हारी यह हरकत कानून और मजहब दोनों की नजर मे नाजायज और नाकाबिले बरदाश्त हैं । इसकी सजा मौत है । फिर भी मैं तुम्हें इस बार माफ करता हूँ । तुम मुसलमान हो इसलिये मौका दिया जाता है कि तुम हिन्दुस्तान में मुसलमानों और मुसलमान हुकूमत की बहबूदी के लिये काम करो । हिन्दुओं में ताजो तख्त के लिये अकीदा पैदा करो और मिल्लत को बढ़ाने में हमारी मदद करो । इसके सिले में तुम्हें जागीर बख्श दी जायेगी । दरबार में ओहदा अता किया जायेगा । हमारी मेहरबानियों का फायदा उठाओ । जाओ तुम्हें रिहा किया जाता है ।

कबीर ने सब सुना और बोले—"बादशाह सिकन्दर लोदी ! आपने कबीर को गलत समझा है । मेरा काम न तो किसी को भड़काना है और न किसी खास मिल्लत को बढ़ाना है। न मैं मुसलमान हूँ और न हिन्दू । मैं तो उस खुदा का एक बन्दा हूँ और भूले-भटके इन्सानों को ठीक रास्ता बतलाना मेरा काम है । आप भी रास्ता भूले हुए हैं । इसलिये कहता हूँ तलवार के जोर पर हिन्दुओं को मुसलमान बनाना छोड़कर उन्हें भी मुसलमानों के बराबर समझो और अपने नेक कामों से कोशिश करो कि उनके दिलों में आपके लिये मुहब्बत पैदा हो । अपने को मालिक समझने से पहले सारी रिआया का खिदमतगार मानो । मैं जागीर या ओहदा नहीं आपकी भलाई चाहता हूँ । अच्छा हो आप रहम, इन्साफ और ईमानदारी का नेक रास्ता अपनायें जिससे आपकी यह जिन्दगी और आकबत दोनों सँभल जाये ।"

सिकन्दर लोदी कबीर की स्वरोक्ति सुनकर क्रोध से पागल हो उठा—गरज कर बोला—"तो तू पूरा काफिर हो गया है । तुझे जिन्दा रहने का कोई हक नहीं है । इतना कहकर सिकन्दर लोदी ने आदेश दिया कि इस गुनहगार मुजरिम पर खूनी हाथ छोड़ दिया जाये ।"

मीर वजीर ने, जो कि सारी परिस्थिति का अध्ययन कर चुका था, समझाया—हुजूर सोच-समझकर कोई कदम उठाना है । लाखों रिआया छावनी के चारों तरफ इकट्ठी हो गई है । काशी के राजा ने जंग की तैयारी कर दी है और आस-पास के सरहदी राजाओं के पास पैगाम भेज दिया है । खबर मिली है वे सब भी जंग की तैयारी के साथ चल पड़े है । कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों के अजीज हैं । कोई भी सजा मिलते ही जंग की आग फूट पड़ेगी और बात की बात में खून का दरिया बह निकलेगा । सल्तनत में बगावत उठ खड़ी होगी ।

तब तक सिकन्दर लोदी के हुक्म की खबर छावनी के बाहर खड़ी जनता को मिल गई । एक साथ सहस्रों कण्ठ गूँज उठे । यह अन्याय है, जुल्म है । भक्त कबीर का बाल भी बाँका हुआ तो विद्रोह हो जायेगा । हम बादशाह को मिट्टी मे मिला देंगे । सिकन्दर लोदी ने वह घोर कठोर आवाज सुनी, उसका कलेजा दहल उठा । अतः उसने वजीर के परामर्श पर क्षण भर विचार करके कबीर को मुक्त कर दिया । सत्य और सद्भावना की विजय हुई । वह अपार जन-समूह कबीर को—भक्त कबीर की जय-जयकार करता हुआ आदरपूर्वक ले गया ।

इस घटना से कबीर का यश सारे भारत में फैल गया । लोग दूर-दूर से उनके दर्शन करने और उपदेश सुनने आने लगे । इसी प्रकार एक दिन आत्मा-परमात्मा का रहस्य बतलाते हुए कबीर ने सबसे कहा कि अब

हंसा अपने देश जाने वाला है । मेरा वक्त और काम दोनों पूरे हो गये हैं । आप सब लोग, दिलों से हिन्दू, मुसलमान, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब और छोटे-बड़े का भेद-भाव निकाल देवें । सब एक ही राम-रहीम के बन्दे हैं । आपस मे मिल-जुलकर प्रेम से रहें । एक-दूसरे की सहायता करें और भगवान की भक्ति करते हुए नेक जिन्दगी जियें । यही मेरा सन्देश है और यही मेरा मजहब ।

बाद में उन्होंने अपने पुत्र कमाल को जीवन के कर्तव्य समझाकर कहा "कि मुझे मगहर पहुँचा दो । मैं काशी में नहीं मरना चाहता ।" कमाल ने बड़े आश्चर्य के साथ कहा—"अब्बा ! लोग तो दूर-दूर से मरने के लिये काशी आते हैं और आप काशी छोड़कर मगहर जाना चाहते हैं । सुना है काशी मे मरने पर स्वर्ग मिलता है और मगहर में मरने पर नरक ।"

कबीर हँसे और बोले—हाँ बेटा ! मैं काशी और मगहर के विषय में इस भ्रान्ति को दूर करना चाहता हूँ । स्वर्ग-नरक आदमी को अपने अच्छे-बुरे कामों के आधार पर मिलता है । मुझे अपने कामों की पवित्रता पर पूरा विश्वास है । मै मगहर में मर कर भी स्वर्ग ले लूँगा ।

> का काशी का मगहर असर,
> हृदय राम बस मोरा ।
> जो काशी तन तजइ कबीरा,
> रामहिं कौन निहोरा ॥

वैसे मैं न स्वर्ग मे विश्वास करता हूँ और न नरक में । स्वर्ग और नरक मनुष्य की मानसिक स्थिति मे निवास करते है । संसार में सत्कर्मों से मिलने वाली आत्म-शान्ति स्वर्ग है और पाप कर्मो से मिलने वाली यातना नरक ।

कमाल ने उनकी इच्छानुसार उन्हें मगहर पहुँचा दिया । जहाँ भक्तजनों को उपदेश देते-देते उन्होंने सुखपूर्वक एक दिन अपना पार्थिव शरीर छोड़ दिया । उनके हिन्दू और मुसलमान दोनों अनुयायियों ने आदरपूर्वक अपने-अपने नियमानुसार उनकी अन्त्येष्टि करके श्रद्धांजलि प्रदान की ।

महात्मा कबीरदास के पार्थिव शरीर का अन्त हुए यद्यपि पाँच सौ वर्ष हो चुके पर उन्होने जो ज्ञान धारा बहाई उससे आज भी करोड़ों व्यक्ति अपनी आत्मा को सन्तोष और शान्ति प्रदान कर रहे हैं । उनका मत वेदान्त से मिलता है या सांख्य से, अथवा उन्होंने अपने उपदेशों में योगशास्त्र का सार समाविष्ट कर दिया है इस पर ज्यादा बहस करना बेकार है । हम इतना ही कह सकते हैं कि हिन्दू-शास्त्रों के आध्यात्मिक ज्ञान को उन्होने ऐसे सीधे-सादे ढंग से प्रकट किया है कि सर्वथा अनपढ़, अशिक्षित व्यक्ति भी उसे हृदयंगम कर सकता है और सर्वव्यापी परमात्म-शक्ति के तत्त्व को समझकर अपना कल्याण कर सकता है । कबीर धार्मिक अन्ध-विश्वास के बहुत बड़े विरोधी थे और धर्म-गुरुओं द्वारा भोली जनता का शोषण किया जाना उनको बहुत बुरा जान पड़ता था । इसलिये उन्होंने हिन्दू-मुसलमान दोनों मजहबों के पेशेवर धर्म-गुरुओं की कड़ी आलोचना की और जनता को उनकी ठगी से बचने की चेतावनी दी । इससे हिन्दू और मुसलमान दोनों मजहबों के कितने ही 'धर्म के ठेकेदार' उनसे नाराज हो गये और तरह-तरह से हानि पहुँचाने की चेष्टा की ।

पर कबीर सच्चे परमार्थी थे, वे अपने हानि-लाभ या सुख-दु:ख की परवाह न करके मनुष्यमात्र के लिये स्वाभाविक धार्मिक सिद्धान्तो का प्रचार करते रहे । परिणाम यह हुआ कि छोटी कहलाने वाली जातियो के व्यक्ति भी आत्मा के शाश्वत् स्वरूप और परमात्मा की निर्लेप सत्ता की वास्तविकता को समझने लगे और उन्होंने अनेक प्रकार के धार्मिक ढोंग तथा प्रपंचो से छुटकारा पा लिया ।

कबीर स्वयं दिखावटी धर्म-कर्म, पूजा-पाठ और कर्मकाण्ड के विरोधी थे और लोगों को सच्चरित्रता तथा नैतिकता का उपदेश देते थे । मुसलमानो से वे कहते थे कि तुम ऊँची मीनार पर चढ़ कर जो जोर से 'आवाज' देते हो तो क्या 'खुदा' बहरा हो गया हैं जो इतना चिल्लाये बिना तुम्हारी प्रार्थना को सुन न सकेगा ? हिन्दुओ से कहते थे कि माला जपते हुए तो तुमको अनेक युग बीत चुके, पर परमात्मा का ज्ञान अभी तक नही हो सका इसलिये अब लकड़ी की माला के दाने फेरने के बजाय मन की माला के दाने फेरने लगे तो तुमको अवश्य भगवान की प्राप्ति हो जायेगी, क्योंकि भगवान अन्तर्यामी हैं वह दिखावटी और वास्तविक भक्ति का भेद समझता है ।

कबीर पक्के अहिंसावादी थे । किसी भी प्राणी का वध करना, उसे कष्ट पहुँचाना वे घोर पाप बतलाते थे । अपनी एक रचना में उन्होंने स्पष्ट कहा है—"वे हलाल वे झटका मारें आग दुहुन घर लागी ।" इस दृष्टि से वे हिन्दू-मुसलमान दोनों को समान रूप से दोषी मानते थे क्योंकि जहाँ मुसलमान ईद पर भगवान के नाम पर गाय, बकरी आदि को काटते हैं वहाँ हिन्दू भी देवी के सामने प्रतिवर्ष करोड़ों बकरों, भैंसों की हत्या कर डालते हैं । एक सुधारक की निगाह में 'धर्म' का नाम लेते हुए इस प्रकार गर्हित कर्म करना सदैव निन्दनीय ही माना जायेगा । कबीर के उपदेशों का असर समय पाकर देश में सर्वत्र फैल गया और उसके प्रभाव से अनेक सम्प्रदायों ने 'धर्म' के नाम पर की जाने वाली हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग कर दिया ।

महात्मा कबीर के नाम पर चला हुआ उनका कबीर-पन्थ अब तक चला आ रहा है और उनके बनाये भजन, गीत और उलटबासियों को जनता बड़ी श्रद्धा से गाती और ज्ञान पाती है । महात्मा कबीर का रचा साहित्य बीजक, साखी तथा उलटबासियों नामक संग्रहों में उपलब्ध है । जिसकी भाषा ठेठ जनभाषा है किन्तु उसमें भरा अध्यात्मिक रहस्य किसी भी धर्म-ग्रन्थ से कम नहीं है ।

# प्राणीमात्र को समदृष्टि से देखने वाले : सन्त नामदेव

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त नामदेव एक दिन तालाब के किनारे रोटी बना रहे थे । वे थोड़ा पानी लाने के लिये चौका से उठकर घाट तक गये, इतने में एक कुत्ता उनकी रोटी मुँह में दबा कर भागा । नामदेव जी ने जब यह देखा तो वे घी की कटोरी उठाकर उसके पीछे दौड़े । वे कहते जाते थे—"प्रभु ! रूखी रोटी क्यों खाते हो ? मै उसमें घी चुपड़ दूँ तब खा लेना ।

एक दूसरी घटना जो नामदेव जी के सम्बन्ध मे बहुत अधिक प्रसिद्ध है और जिसके लिये भक्त-मण्डली मे उनको ऊँचा स्थान दिया जाता है, यह है कि जब वे छोटे बालक ही थे, उनके पिता दो-चार दिन के लिये किसी व्यापार सम्बन्धी कार्य से अन्य नगर को गये । जाते समय नामदेव को कह गये कि मेरे पीछे से तू मन्दिर में जाकर भगवान को भोग लगा आया करना । पाँच-छः वर्ष का नामदेव यह नहीं जानता था कि लोग भगवान को दिखाने के लिये ही भोग लगाते हैं और फिर उस पदार्थ को स्वयं ही 'भोग' लगा लेते हैं । अपने बाल सुलभ ज्ञान द्वारा वह यही समझता था कि ठाकुर जी मनुष्यों की तरह ही उस पदार्थ को खा लेते होंगे । इसलिये जब उसने प्रथम बार भोग की दूध भरी कटोरी मूर्ति के सामने रखी तो वह भी अपने पिता की तरह आँखें बन्द करके खड़ा हो गया कि भगवान थोड़ी देर में उसे पी लेंगे । पर जब दो-तीन बार आँख खोलने पर कटोरी को ज्यों का त्यों दूध से भरा हुआ रखा देखा, तो उसे बड़ी निराशा हुई और वह कहने लगा—"भगवान ! क्या आप मुझे छोटा बालक समझकर भोग ग्रहण नहीं करते । अगर आप भोग ग्रहण नहीं करेंगे तो मेरी माता मुझ से नाराज होगी ।" इतने पर भी जब उसने मूर्ति में अपनी प्रार्थना स्वीकार करने का कोई लक्षण न देखा तो व्याकुल होकर रोने लगा । उसने कहा—"भगवान ! अगर आप अब भी भोग ग्रहण नहीं करेंगे तो मैं पत्थर से अपना सिर फोड़ कर मर जाऊँगा ।" कहते हैं कि इसके पश्चात् वह ज्यों ही पत्थर पर सिर मारने को तैयार हुआ मूर्ति ने आगे बढ़कर कटोरी का दूध पी लिया ।

ये दो जनश्रुतियाँ प्रकट करती है कि नामदेव में आत्म-ज्ञान के सस्कार जन्मजात थे और वे स्वभाव से ही सब पदार्थों और तमाम प्राणियों में एक ही आत्मा को व्याप्त समझते थे । यद्यपि उनके सम्प्रदाय के अनुयायी इन बातों को 'चमत्कार' मानते हैं, जैसा महाराष्ट्र के ही ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि सन्तो और अन्य प्रान्तों के कबीर, नानक, गोस्वामी तुलसीदास, रामकृष्ण परमहंस आदि के सम्बन्ध में अनेक घटनाये उनके भक्तों ने लिखी हैं और सामान्य जनता में भी प्रसिद्ध है ।

नामदेव जी की उपर्युक्त घटनाओं के सम्बन्ध में भी उनके अनुयायियों का कथन है कि रोटी ले जाने वाले कुत्ते के रूप मे भगवान पाण्डुरंग स्वयं ही परीक्षा लेने आये थे और भगवान की मूर्ति तो उनके साथ हमेशा ही प्रत्यक्ष होकर वार्तालाप करती थी और उनके साथ बैठकर भोजन भी करती थी । भक्तों की दृष्टि से इन घटनाओं में कोई आश्चर्य की अथवा असम्भव बात है ही नहीं, क्योंकि हमारे देश में इस प्रकार के चमत्कार प्रत्येक बड़े सन्त और योगी के सम्बन्ध में प्रसिद्ध हैं । पर यदि हम तर्क और बुद्धि की दृष्टि से भी इन पर विचार करते हैं तो इनको असत्य या काल्पनिक कहने का कोई कारण नहीं देखते । संसार में विचारों की—भावना की शक्ति बड़ी प्रबल है और इसके आधार पर ऐसी अनेक बातें दिखाई पड़ जाती है जो सामान्यतः अनहोनी प्रतीत होती हैं ।

नामदेव जी तो बहुत प्राचीन सन्त हैं, जिनके समकालीन और सहयोगी सन्त ज्ञानेश्वर के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वे एक दीवार पर बैठकर एक-दो मील तक उसे चला कर ले गये । पर हमारे वर्तमान युग में ही परमहंस रामकृष्णदेव के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे अपनी उपास्य 'काली माता' से प्रत्यक्ष वार्तालाप किया करते थे और जब कोई विशेष कार्य करना होता था तो पहले उसकी आज्ञा प्राप्त कर लेते थे । इसका आशय यही है कि काली के प्रति उनकी भक्ति-भावना इतनी अधिक प्रबल थी कि वे अपने भाव-क्षेत्र में उसे जीवन्त कर लेते थे और अपने प्रश्नों का सही उत्तर भी पा जाते थे । हमारे देश के ही नहीं यूरोप, अमेरिका के भी कितने ही साधक इस प्रकार की दैवीशक्ति उपलब्ध करके उसकी सच्चाई का प्रमाण दे चुके है ।

नामदेव में इन संस्कारों की वृद्धि होने का एक कारण यह भी था कि इनके पिता दामाजी सेठ और माता गोणाई भी दृढ़ ईश्वर भक्त थे और सदैव भजन कीर्तन में रुचि रखते थे । वे वंशानुक्रम से पंढरपुर के विट्ठल भगवान के उपासक थे, और जब गोणाई को बड़ी उम्र तक सन्तान नहीं हुई तो वे भगवान की भक्ति और पूजा-उपासना में बहुत अधिक तल्लीन हो गये । उनको अपनी हार्दिक श्रद्धा-भक्ति का फल प्राप्त हुआ और कार्तिक सुदी ११ (देवोत्थान एकादशी) सम्वत् १३२७ के दिन उनके यहाँ एक परम सौभाग्यशाली पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम 'नामदेव' रखा गया ।

घर में सदैव भजन कीर्तन का वातावरण रहने से नामदेव को छोटी अवस्था से ही भगवान की भक्ति में रुचि हो गई थी । गाँव में जो साधु-सन्त आते उनके उपदेश वह बड़े प्रेम से सुनता और कथा-कीर्तन मे भी बड़ी प्रसन्नता से बैठा रहता । कुछ बड़ा होने पर उसे पाठशाला भेजा गया, जहाँ साधारण हिसाब-किताब और लिखना सिखाया जाता था । नामदेव की बुद्धि तीव्र थी, इसलिये पाठशाला की पढ़ाई उसने शीघ्र ही पूरी कर ली । आठ वर्ष की आयु मे उसका विवाह भी कर दिया गया । उसकी पत्नी राजबाई एक धनी व्यक्ति की पुत्री थी । वह सुन्दर और बुद्धिमान भी थी । इस विवाह-सम्बन्ध से उनके माता-पिता को बड़ी प्रसन्नता हुई ।

## नामदेव का कुसंगत में पड़ना

दामाजी सेठ अपने गाँव 'नरसी-ब्राह्मणी' के एक सम्मानित व्यक्ति थे । यद्यपि वे जाति के दर्जी थे, पर कपड़े का व्यापार करने से उनकी आर्थिक स्थिति बहुत सन्तोषजनक थी । वे इस बात का बहुत ध्यान रखते थे कि नामदेव किसी प्रकार कुसंगत में पड़कर अपने वंश की प्रतिष्ठा को बट्टा लगाने वाला कोई नाम न करे । पर प्रारब्धवश वही हुआ जिससे बचाने की वे चेष्टा करते थे । बड़े होने पर नामदेव का परिचय कुछ दुष्ट लोगों से हो गया और उनकी बातों में आकर उसने चोरी तथा लूटमार का काम आरम्भ कर दिया । वह अपने मित्रों के साथ जंगल में छिपकर बैठ जाता और आने-जाने वालो पर आक्रमण करके उनका मालमत्ता छीन लेता । अपने इन लुटेरे मित्रों में नामदेव का बड़ा सम्मान और दबदबा था । वे उसे अपने सरदार की तरह मानते थे । पिता ने नामदेव को बहुत समझाया कि वह इस कुमार्ग को त्याग दे, पर उसने इन बातों पर ध्यान न दिया ।

कुछ समय बाद उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई और एक बार उसने अपने विरुद्ध भेजी गई सरकारी सेना के अनेक सवारों को मार दिया । इस विजय की खुशी मे वह अपने पूज्य नागनाथ के मन्दिर मे गया और वहाँ ब्राह्मणो को दक्षिणा देकर रुद्री करने को कहा । उसी अवसर पर एक गरीब स्त्री मन्दिर में आई ।

उसका छोटा बालक वहाँ रखी हुई मिठाई को खाने के लिये हठ करने लगा । जब वह न मिल सकी तो खूब रोने लगा । नामदेव को बालक की दयनीय दशा देखकर दुःख हुआ और स्त्री से बोला—"बालक को क्यो मारती हो ? वह जो चीज माँगता हो घर जाकर उसके लिये बना दो ।"

स्त्री ने कहा—"हम गरीब आदमी हैं, ऐसी मिठाई कहाँ पा सकते है । मेरा पति जीता होता तो कही से भी ला देता । पर परसों के दिन "नाम्या" के साथ लड़ाई-झगड़े में वह मारा गया । अब इस बालक को कौन लाकर मिठाई दे ।" यह कहते-कहते वह फूट-फूट कर रोने लगी ।

उस स्त्री की बातें सुनकर और रोना देखकर नामदेव को बड़ी व्यथा हुई और उसकी आँखें खुल गईं । वह मन में सोचना लगा कि "मैने जब से लूट मार का धन्धा किया है तब से न जाने कितने लोगों को जान से मारा होगा । इससे कितनी ही स्त्रियाँ विधवा हुई होगी और बहुसंख्यक बालक अनाथ और निराश्रित होकर मारे-मारे फिरते होंगे । हाय, हाय ! मै कैसा महापापी हूँ ! 'क्या भगवान अब मुझे इस पाप से बचा सकेंगे !' मेरे जैसे मनुष्य तो दुनिया में न रहें तो अच्छा है । मै अभी इस मन्दिर मे अपने प्राण दे डालूँगा ।"

यह कह कर नामदेव मन्दिर से बाहर आया और अपने पास जो भी था घोड़ी, कपड़ा, रुपया-पैसा सब कुछ गरीब लोगो को बाँट दिया । फिर वह छुरी लेकर शिवजी की मूर्ति के पास गया और अपने मस्तिक मे एक जोर का हाथ मारा । उससे खून की धारा बहने लगी और उसी से उसने शिवजी का अभिषेक किया । इतने में पुजारी ने मन्दिर के भीतर आकर यह दृश्य देखा तो वह घबड़ा गया और उसने आस-पास के लोगों को बुलाया । अधिक खून निकल जाने से नामदेव बेहोश हो गया था । लोग उसे उठा कर बाहर ले आये और मल्हम-पट्टी की । जब वह होश में आया और लोगों ने ऐसा काम करने का कारण पूछा तो उसने सच्ची बात प्रकट कर दी । वहाँ कितने ही पंढरपुर के यात्री भी उपस्थित थे । उनमें से किसी ने सम्मति दी कि तुम पंढरपुर जाकर भगवान की पूजा-उपासना करो तो तुम्हारे सब पाप मिट जायेंगे ।

नामदेव के जीवन का यह अंश इस बात का प्रमाण है कि जिस व्यक्ति के भीतर आध्यात्मिकता के संस्कार होते है वह यदि परिस्थितिवश गलत रास्ते पर भी चला जाता है तो छोटा-सा निमित्त पाते ही फिर सावधान हो जाता है । इसका सबसे बड़ा उदाहरण महर्षि वाल्मीकि का उपाख्यान है । वे बरसों तक इसी प्रकार जंगल में लूट-मार का धन्धा करते रहे, पर जब एक दिन नारद जी ने उनको समझा दिया कि तुम्हारे पापो मे तुम्हारा कोई कुटुम्बी साथी नहीं है, इन करनी का फल तुमको ही भोगना पड़ेगा, उसी समय से उनकी जीवनधारा बदल गई और वे परमभक्त तथा रामायण जैसे अमर ग्रन्थ के रचयिता बन गये । नामदेव के हृदय मे भी बाल्यावस्था से ही भगवद्भक्ति और आत्मा की सर्वव्यापकता का बीज मौजूद था । कुसंगत मे जाने से कुछ समय के लिये वे संस्कार धूमिल अ[illegible] निष्क्रिय हो गये थे । पर जैसे ही एक सामान्य घट[illegible] द्वारा उनको पुन. जागृत होने का अवसर मिला कि नामदेव एक क्षण मे दुष्ट से महात्मा बन गया । सच पूछा जाये तो जो व्यक्ति इस प्रकार पाप-पुण्य के उतार-चढ़ाव को स्वानुभव द्वारा समझ जाता है, उसका आत्मज्ञान दृढ़ हो जाता है कि वह फिर किसी तरह डिग नहीं पाता और वह जितना नीचे गिरता है उतना ही ऊँचा उठ जाता है ।

## पंढरपुर में निवास

मस्तक मे घाव होने से पीडा होती थी, उस पर मक्खियाँ इकट्ठी होकर काटती थीं, पर इस तरफ नामदेव का कुछ ध्यान न था । उसे तो एक यही लगन लगी थी कि कब पंढरपुर पहुँच कर विट्ठल भगवान का दर्शन और अपने पापो का प्रायश्चित करूँ । इस प्रकार चलते-चलते कई दिन बाद वे पंढरपुर के समीप जा पहुँचे । उस समय वहाँ की चन्द्रभागा नदी मे बड़ी बाढ़ आई हुई थी और यात्रीगण नाव मे बैठकर उस पार जा रहे थे । नामदेव भी नाव मे बैठने वाले थे कि दैवी प्रेरणावश उसे ये शब्द सुनाई पड़े—"नामदेव बड़ा पापी है, उसे पंढरपुर मे मत घुसने देना ।" इससे वह बड़ा खिन्न हुआ और कहने लगा—"क्या मै ऐसा पापी हूँ कि मेरे पाप से भगवान भी भयभीत हो गये !" वह चन्द्रभागा के इसी पार ठहर गया और एक पत्र लिखकर पाण्डुरंग की सेवा

में भेजा कि "हे पंढरीनाथ ! तुम्हारे पतितपावन नाम को सच्चा सिद्ध करने के लिये मैं ही उपयुक्त पात्र हूँ । हे प्रभु ! अब तुम मेरे गुण-दोषों पर विचार मत करो और मुझे अपना सच्चा सेवक जानकर शरण दो, तुमने तो गणिका और अजामिल जैसे पापियों को वैकुण्ठ दिया, तो क्या मैं उनसे बढ़कर पापी हूँ । इसलिये आप मुझसे दूर नहीं भागो वरन् दर्शन देकर मुझे कृतार्थ करो ।" इस पत्र को उन्होंने अन्य सन्तों द्वारा पाण्डुरंग की सेवा में भेज दिया । सन्तों के मुख से उसे सुनकर पाण्डुरंग को दया आई और उन्होंने नामदेव को अपनी शरण में ले लिया । उस दिन से नामदेव ने विठ्ठल भगवान को कभी नहीं छोड़ा ।

अब नामदेव पंढरपुर में रह कर ही भगवान की भक्ति करने लगे । वे उसमें ऐसे तल्लीन हो गये कि भूख-प्यास का भी कुछ ध्यान नहीं रहता था । माँ-बाप, स्त्री-पुत्र सब कुछ वे भूल गये और रात दिन विठ्ठल के नाम की ही रट रहने लगी । उनके लिये समस्त जगत विठ्ठलमय बन गया । ऐसी एकनिष्ठ भक्ति से उनके मन को शान्ति मिलने लगी, पिछले दिनों की कलुषित भावनायें दूर होने लगीं और विश्वास हो गया कि अब भगवान मेरे पापों को अवश्य धो डालेंगे ।

## माँ-बाप से पुनः भेंट

इधर अपने पुत्र का बहुत दिन से कोई समाचार न पाकर दामाजी सेठ को चिन्ता होने लगी । खोज करने पर पता लगा कि वह तो सब लोक-धन्धे छोड़ कर पंढरपुर में भगवान की भक्ति कर रहा है । वे उसी समय पंढरपुर गये और नामदेव के परिवर्तन को देखकर सन्तुष्ट हुए । उन्होंने कहा—"नाम्या ! जो कुछ भगवान ने किया अच्छा ही किया । अब तू घर चल और गृहस्थी के भार से मुझे मुक्त कर, जिससे मैं भी कुछ समय तक भगवान की सेवा कर सकूँ ।"

पर अब पुराने नामदेव तो रहे नहीं थे । उन्होंने घर जाने की स्पष्ट मनाही कर दी और पिता निराश होकर घर वापस चले गये । तब उनकी माँ गोणाई उन्हें समझाने पंढरपुर आई और उसने कहा—"नाम्या ! अब तू घर चल और व्यापार-धन्धे में लगकर कुटुम्ब का पालन कर । इस मन्दिर में व्यर्थ में झाँझ बजाते रहने से क्या फ़ायदा ? तू विठ्ठल की भक्ति करेगा तो वे तुझे राजा थोड़े ही बना देंगे ! विठ्ठल ने आज तक अपने किसी भक्त को धनवान नहीं बनाया, उल्टा उसे पागल बनाकर गाँठ का पैसा भी छीन लेते हैं । अब तू इस पागलपन को छोड़कर दुनियादारी से रहना सीख, इसी से तेरा भला हो सकेगा ।"

नामदेव ने माता को समझाया—माँ ! अब मुझे दुनिया में कोई आकर्षण नहीं जान पड़ता । संसार में जितने भी सुख हैं उन सबसे अधिक सुख मुझे विठ्ठल की भक्ति में जान पड़ता है । तूने मुझे अपने उदर से उत्पन्न किया है, इसलिये तेरी चिन्ता को मैं समझता हूँ । पर अब मैंने अपने को पूरी तरह विठ्ठल के अधीन कर दिया है अतएव मेरी जरा भी चिन्ता तू मत कर । मैं विठ्ठल के चरणों की शपथ खाकर कहता हूँ कि अब दुनिया के प्रपंच में हर्गिज नहीं पड़ूँगा ।"

इस पर गोंणाई ने नामदेव को बहुत डाँटा-फटकारा और उसे हाथ पकड़कर जबर्दस्ती घर ले चली । पर देवमाया से वह ऐसी भ्रान्त हो गई कि जब उसने पीछे फिर कर देखा तो ऐसा जान पड़ा कि नामदेव के बजाय वह विठ्ठल को ही खींचे लिये जाती है । गोंणाई ने घबराकर कहा—"अरे तू कौन है ? मुझे तेरी जरूरत नहीं, मुझे तो अपना नामदेव ही चाहिये ।" इतना कहकर फिर देखा तो नामदेव ही दिखाई पड़े । यह लीला देखकर वह और भी मतिभ्रान्त हो गई और उसे निश्चय हो गया कि अब नामदेव को घर ले जाना व्यर्थ है, और विठ्ठल को भला-बुरा कहती अपने गाँव को लौट गई ।

जब पति-पत्नी दोनों नामदेव को घर वापस लाने में सफल न हुए तो उन्होंने 'नरसी ब्राह्मणी' में अपना घर, खेत आदि सब बेच दिये और पंढरपुर में आकर ही रहने लग गये ।

## नामदेव का व्यापार करना

अब दामाजी सेठ बहुत वृद्ध हो चुके थे, उनसे व्यापार-धन्धा कुछ नहीं हो सकता था । पास में जितना पैसा था उसी से घर का खर्च चलने लगा । पर इस तरह बैठे-बैठे खाते रहना कब तक सम्भव था । इसलिये पंढरपुर में घर की व्यवस्था ठीक हो जाने पर उन्होंने नामदेव को घर आकर रहने को कहा । पर नामदेव ने यही उत्तर दिया कि "अब मैं श्री विठ्ठल की भक्ति छोड़कर दुनियादारी के जंजाल में नहीं फँस सकता ।" पर जब पिता निरन्तर आग्रह

करते ही रहे और उन्होंने कहा कि "मेरी इस अवस्था में कुटुम्ब की देख-भाल करना तुम्हारा कर्त्तव्य है" तो नामदेव ने थोड़े समय तक घर मे और थोड़े समय मन्दिर में रहना स्वीकार किया । घर वालों को रोटी मिल सके इस दृष्टि से कपड़े का व्यवसाय भी छोटे रूप में आरम्भ किया । वह पूरी ईमानदारी से व्यापार करते थे और जो थोड़ा-सा लाभ मिल जाता उसी में सन्तोष कर लेते थे । गरीब लोगों को कपड़ा उधार भी दे देते और विट्ठल का नाम लेते हुए दुकान पर बैठे रहते । एक दिन पिता ने व्यापार की जाँच करने की ख्याल से पूछा—"अरे नामदेव, तूने किसी को उधार कपड़ा दिया है ।"

नामदेव—हाँ, गणोवा का नायक मुझसे कपड़ा उधार ले गया है । वेचारा इतना गरीव है कि उसके शरीर पर वस्त्र ही न था । घर में लड़के भी नंगे फिरते हैं । मुझे दया आ गई और कपड़ा उधार दे दिया । एक सप्ताह में दाम देने को कह गया था ।

दामाजी—"कुछ हिसाब लिखकर रखा है ?"

नामदेव—"हाँ, लिखकर रखा है । इसके सिवा वह "धोंडावा" को जमानत के रूप में रखा गया है ।"

दामा सेठ ने वही को देखा और फिर पूछा—"नामदेव ! गणोवा कब पैसा देने को कह गया था ?"

"एक सप्ताह मे ।"

"अव उस वात को कितना समय हो गया ?"

"कम से कम एक महीना हो गया ।"

दामा सेठ ने हँसकर कहा—"अरे वाह रे वाह, व्यापार तो बहुत अच्छा करना सीखा है । जा, गणोवा के यहाँ जाकर पैसा माँग ला ।"

"अच्छा" कहकर नामदेव गणोवा के घर को चल दिया और वहाँ पहुँच कर अपना पैसा माँगा । पर गणोवा के पास पैसा हो तो वह दे । इस पर नामदेव उसके 'धोंडावा' (देवता की मूर्ति) को अपने घर ले गया और उसे कोठरी में वन्द कर दिया ।

जब दामा सेठ ने पैसा मिलने के विषय में पूछा तो नामदेव ने कहा—"मैंने उसके 'धोंडावा' को घर मे वन्द कर दिया है और जव तक पैसा नहीं चुकायेगा उसे वन्द ही रखूँगा । यह कहकर नामदेव ने 'धोंडावा' को बाहर निकाल कर दिखाया, वह एक काले पत्थर की मूर्ति थी ।

नामदेव के भोलेपन को देखकर पिता को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे कहने लगे—"अरे पागल ! कहीं पत्थर की मूर्ति भी पैसा चुकाती है, जा उसे चन्द्रभागा में पधरा दे ।"

*'नामदेव चरित्र'* के अनुसार उसी समय कुछ ऐसी दैवी लीला हुई कि उस मूर्ति का रंग वदल गया और वह सोने की दिखाई पड़ने लगी । अव तो घर वाले वड़े चकित हुए और इतना सोना एक साथ मिल जाने के ख्याल से प्रसन्नता से उछलने लगे । खास कर नामदेव की माँ गोंणाई और उसकी स्त्री राजवाई कहने लगीं कि वे इस सोने के गहने वनवाकर अपनी अभिलाषा पूरी करेंगी ।

पर नामदेव इसके लिये तैयार नही हुआ । उसने कहा—"इस सोने पर हमारा कोई अधिकार नहीं । हमारा जितना पैसा उधार है उतने का सोना हम निकाल लेंगे और वाकी गणोवा को वापिस कर देंगे ।"

इस पर सव घर वालो मे खूव कहा-सुनी होने लगी और इस चर्चा को सुनकर कितने ही पड़ोसी भी आ गये । पत्थर की मूर्ति के सोना हो जाने की अफवाह चारों ओर फैल गई और गणोवा भी दौड़ा हुआ वहाँ आ पहुँचा । वहाँ जो मनुष्य इकट्ठे थे उनमें से एक लालची मनुष्य के मन मे विचार आया कि यह सोना मुझे मिल जाये तो बड़ा काम बने । उसने गणोवा को पास बुलाकर कान मे कहा—"तेरे ऊपर जितना पैसा उधार है वह मैं चुका दूँगा और कुछ रुपया भी दूँगा । तू नामदेव से लेकर इस मूर्ति को मुझे दे दे ।"

गणोवा इस पर राजी हो गया और उसने नामदेव से कहा—"मैं तुम्हारा उधार का पैसा चुका देता हूँ, मेरी मूर्ति वापस कर दो । अगर तुम नहीं दोगे तो मैं जाकर ग्राम के अधिकारी (कुलकर्णी) से तुम्हारी शिकायत कर दूँगा ।"

नामदेव ने कहा—"पहले पैसा चुका दे और तव अपनी मूर्ति को ले जा ।"

गणोवा ने उस लालची से उधार को चुकाने का रुपया और थोड़ा रुपया अलग ले लिया । उधार का पैसा नामदेव को देकर मूर्ति ले ली और उसके हवाले कर दी । यह घटना देखकर अन्य लोग भी अपने-अपने

घरो को चल दिये और नामदेव की ईमानदारी की प्रशंसा करने लगे ।

इधर वह लालची व्यक्ति भी थोड़े रुपये में इतना सोना पा जाने पर घर वालों को यह शुभ सम्वाद सुनाने के लिये बड़ी जल्दी-जल्दी चलकर अपने मकान पर पहुँचा । पर वहाँ जब उसने कपड़े में से मूर्ति को निकाला तो वह पूर्ववत् काले पत्थर की ही दिखाई पड़ने लगी । यह माया देखकर उसने अपना सर पीट लिया और दौड़ता हुआ गणोवा के पास गया । उसने अपना रुपया वापस माँगा तो गणोवा ने कुछ भी देने से साफ इन्कार कर दिया और कहा कि तुमने लोगों के सामने अपनी राजी से मूर्ति खरीदी है । अब लालची क्या करता है ? किस मुँह से गणोवा के विरुद्ध दावा या नालिश करता ? वह चुपचाप घर लौट गया ।

## घर की भयंकर गरीवी

एक दिन नामदेव के दो साले उसके यहाँ आये । वहुत दिन वाद भाइयों से भेंट हुई इससे राजवाई को वड़ी प्रसन्नता हुई । भाई-वहिन सुख-दु.ख की वातें करते हुए वैठे थे कि नामदेव भी आ गया । पर वह उस समय विट्ठल भगवान के ध्यान में ऐसा मग्न हो रहा था कि उसको ख्याल भी न आया कि यहाँ कोई बैठा है । उसने सालो के नमस्कार का उत्तर भी नहीं दिया और सीधा भीतर चला गया । यह वात उसकी पत्नी को वहुत वुरी लगी और वह उसके पास जाकर कहने लगी कि "मेरे भाई इतने दिन वाद तुमसे मिलने आये हैं, पर तुम न तो उनसे एक भी शब्द वोले, न उनका नमस्कार लिया, और सीधे घर के भीतर आकर वैठ गये, यह कैसी भक्ति है ? मेहमान दूर से चल कर आये है, वे थक गये होगे, भूख भी लगी होगी, इसलिये कुछ खिलाना भी चाहिये । पर आज घर मे एक मुट्ठी अन्न भी नहीं है, इसलिये जाकर कहीं से अनाज ले आओ ।"

नामदेव ने कहा—"आज तो दशमी है, इसलिये एक वार आहार किया जाता है । कल एकादशी को समस्त दिन उपवास रहना होगा । परसों द्वादशी के दिन पारना होगा । तभी मेहमानों को भी भोजन कराया जायेगा ।

नामदेव की वात से पत्नी को वड़ा गुस्सा आया, पर ज्यादा कहने से कोई लाभ न देखकर चुप ही रही. और जैसे-तैसे स्वयं ही कुछ व्यवस्था की । ग्यारस को प्रातःकाल ही नामदेव तो स्नान करके मन्दिर को चले गये । पर भगवान को अपने भक्त की चिन्ता हुई । उन्होंने सोचा कि नामदेव ने तो भक्ति का प्रण लेकर दुनियादारी की सब बातों को भुला दिया है, पर उसके यहाँ मेहमान भूखे रहेंगे तो इससे मेरी आवरू में भी वट्टा लगेगा । इसलिये भगवान की प्रेरणा से कोई व्यक्ति नामदेव के घर जाकर रुपयों की एक थैली दे गया और कहा मेरा नाम 'केशव सेठ' है और मैं नामदेव का मित्र हूँ । पर जब नामदेव ने घर आकर यह वृत्तान्त सुना तो उसने कहा कि यह तो भगवान का ही काम है । उनका धन उनके काम में लगना चाहिये । यह कहकर उसने वह रुपया गरीवों को वाँट दिया और अपना निर्वाह सदा की तरह कठिनाई सहकर किया ।

नामदेव की पत्नी राजवाई एक वार अपनी कंगाली से वहुत व्यथित होकर मरने के लिये दो वालकों सहित चन्द्रभागा नदी में कूद पड़ी । पर भगवान ने वहाँ भी उनकी रक्षा की । यह देखकर कि भगवान उसको मरने भी नहीं देता । उसने भगवान को भी खूब खरी-खोटी सुनाई । वहाँ से घर लौटते समय उसे मार्ग में पड़ा कुछ द्रव्य मिल गया, पर नामदेव ने ऐसा मुफ्त का माल घर में रखना उचित नहीं समझा और उसे भी गरीवों को ही वाँट दिया ।

इन जन श्रुतियो में चाहे कितनी भी कम या ज्यादा सच्चाई हो, पर इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि नामदेव पूर्णतः निस्पृह स्वभाव के सन्त थे और अपना जीवन घोर गरीवी में विताना सौभाग्य की वात समझते थे । अनेक भक्तों ने भगवान से कष्टों और कठिनाइयो से भरे जीवन की याचना की है, क्योंकि कष्ट के समय तो भगवान की याद वरावर आया करती है, पर सुख और भोग विलास के बीच मनुष्य उसे प्रायः भूल जाता है । इसलिये ऊपर वर्णन की गई घटनाओं में कोई वात असम्भव अथवा अस्वाभाविक नहीं माननी चाहिये, यह वात दूसरी है कि नामदेव जी के भक्तों ने उनको वढा-चढ़ा कर लिख दिया हो, कुछ भी हो इन घटनाओ के आधार पर हम इतना तो कह ही सकते है कि नामदेव जी सच्चे त्यागी और तपस्वी थे । उनकी महिमा इसलिये और भी वढ जाती

है कि उन्होंने इस प्रकार के त्याग और ईमानदारी का पालन गृहस्थी में रहकर, स्त्री-बच्चों के अभावग्रस्त जीवन को देखते हुए किया । इसके मुकाबले जंगल का एकान्त में भस्म रमा कर बैठ जाने वाले त्यागी तपस्वियों का महत्त्व बहुत कम ही समझा जाना चाहिये । क्योंकि ऐसा व्यक्ति कुछ समय में उसी प्रकार के जीवन का अभ्यस्त हो जाता है और उसे जंगली फलों या पत्तों पर निर्वाह करने में भी कोई कठिनाई नहीं होती । पर स्त्री-बच्चे प्रत्येक चीज के लिये किस प्रकार पीछे पड़ते हैं और उसके न मिलने पर किस प्रकार रोना-पीटना करके मनुष्य को परेशान कर देते हैं, यह सभी भुक्तभोगी जानते हैं । नामदेव ने ऐसी ही स्थिति में अपना समस्त जीवन व्यतीत कर दिया । हमारी सम्मति में तो यही बात एक बहुत बड़ा चमत्कार है । जो लोग घर-गृहस्थी के नाम पर परमार्थ के कामों की उपेक्षा करते रहते हैं, वे इस बात से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं ।

## नामदेव की परीक्षा

नामदेव के ऊपर विट्ठल भगवान की पूर्ण कृपा थी । सामान्य जनता का विश्वास था कि भगवान उसके साथ वार्तालाप करते हैं और उसकी सहायता के लिये तरह-तरह के चमत्कार दिखलाते रहते हैं । इससे उसकी कीर्ति चारों तरफ फैल गई थी और सब कोई उसे पूज्य दृष्टि से देखने लगे थे । इससे नामदेव को कुछ अभिमान भी हो गया और वह अपने को अन्य सन्तों से कुछ अधिक मानने लगा । भगवान को भक्त का इस प्रकार अहंकार ग्रस्त होना हानिकारक जान पड़ा उन्होंने उसको सुधार के लिये एक अवसर उपस्थित कर दिया ।

एक दिन निवृत्तदेव, ज्ञानदेव, चांगोवा, सावता माली, गोरा कुम्हार आदि सब एक स्थान पर बैठे थे । नामदेव भी वहाँ पहुँच गये । उन सबमें गोरा अधिक आयु का था और उसे सब 'काका' कहकर पुकारते थे । अकस्मात ज्ञानदेव ने कहा—"काका ! आज यहाँ [illegible] से सन्त बैठे हैं । इनमें से कौन पक्का है और कौन कच्चा है, इसकी एक बार परीक्षा तो करो ।"

ज्ञानेश्वर की बात सुनकर [illegible]
औ[illegible] जाँच करने [illegible]
एक-एक [illegible] आरम्भ [illegible]
[illegible] को [illegible] कर दिया.

गुस्सा हो आया । वह कहने लगा—"काका ! तुम सबको घर बुलाकर इस प्रकार मोगरी से मार रहे हो, इसमें कौन-सी बुद्धिमानी है ? तुम इतने बड़े हो गये पर कुछ भी समझ नहीं आई ।"

नामदेव की बात सुनकर सब सन्त हँस पड़े और गोरा ने कहा—"ज्ञानदेव ! यही एक बर्तन अभी कच्चा है ।" यह बात नामदेव को अपमानजनक जान पड़ी और उसी समय वे वहाँ से उठकर चले गये । उन्होंने जाकर विट्ठल भगवान से अपने अपमान की बात कही तो उन्होंने समझाया—"भाई, गोरा की बात तो सच्ची है । तू मेरा प्रिय भक्त अवश्य है, पर अभी कच्चा है । तुझे पक्का बनने के लिये कोई गुरु करना पड़ेगा और तभी तू मुझे वास्तव में पहचान सकेगा ।"

नामदेव ने कहा—"नहीं प्रभु, मैं तो हृदय से आपका सेवक हूँ और आपको अच्छी तरह पहचानता हूँ ।"

## एक अद्भुत दृश्य

इस घटना के दूसरे दिन नामदेव पद्म सरोवर के निकट बैठे थे । एकाएक स्वप्न की तरह उनको एक दृश्य दिखाई पड़ा कि एक भिखारी और भिखारिन तालाब की तरफ चले आ रहे हैं । उनका सामान एक बैल पर लदा था । साथ में दो तीन बालक भी थे । उन्होंने अपना सामान उसी जगह उतार कर रखा जहाँ नामदेव बैठे हुए थे । इन गन्दे लोगों को देखकर नामदेव को बड़ी विरक्ति हुई वे कहने लगे—"तुम लोग किसी और जगह जाकर डेरा डालो ।"

भिखारी ने कहा—"अब हम कहाँ जायें ? चलते-चलते बड़ी देर हो गई है । इस तालाब के किनारे जरा सुस्ता लें और भोजन बना लें, तब पंढरपुर को जायें ।"

[illegible] बनाने के लिए बहुत-सा आटा
—"आज दान दिया चीज [illegible]

[illegible]

कहीं यह भिखारी कोई राक्षस तो नहीं है । इस भय से वे भगवान का भजन करना भी भूल गये और प्राण बचाने के लिये भागने लगे । इतने में भिखारिन ने कहा—"अभी तक पतीली तो अधूरी ही है, अब इसमें क्या डालूँ ?" भिखारी ने नामदेव की तरफ उँगली उठाकर कहा—"यह मनुष्य अच्छा मोटा-ताजा जान पड़ता है, इसी को पतीली मे डाल दो तो वह भर जायेगी । उसको शीघ्र पकड़ो नहीं तो वह भाग जायेगा ।"

भिखारी की बात सुनकर नामदेव चौंक पड़े और जान बचाने के लिये उठकर दौड़े इधर भिखारिन भी उठकर उनके पीछे भागी । नामदेव ने भागते-भागते विट्ठल के मन्दिर में ही दम लिया । उसकी यह दशा देखकर भगवान भी हँस पड़े । नामदेव ने उनको सब घटना सुनाई तो वे कहने लगे—"वह भिखारी क्या मुझ से भिन्न था । तू अभी मेरे सब रूपों को नहीं जानता और तुझे कोई अच्छा गुरु करना चाहिये ।"

## कोढ़ी को गुरु बनाना

नामदेव को अपनी अयोग्यता स्वीकार करनी पड़ी और भगवान के आदेशानुसार गुरु ढूँढ़ने वह नागनाथ के मन्दिर मे पहुँचे वहाँ उन्होंने देखा कि एक बुड्ढा आदमी सोया हुआ है, उसके तमाम शरीर में से कोढ़ का रक्त और पीव निकल रहा है । सोते हुए उस व्यक्ति ने अपने दोनों पैर शिवलिंग पर रखे हुए थे । नामदेव यह देखकर कहने लगे—"अरे महाराज, शिवजी पर से पैर तो हटा लो ।"

बुड्ढे ने कहा—"बेटा, मैं बहुत अशक्त हो गया हूँ । कृपा करके तू ही मेरे पैर शिवलिंग पर से हटा कर अलग कर दे ।"

कहा गया है कि वह बुड्ढा व्यक्ति बिसोबा खेचर नाम का एक महायोगी था, जो योगबल से नामदेव के आने की बात जानकर उसकी परीक्षा लेने के लिये ऐसा रूप अपनाकर लेट गया था । जब नामदेव ने उसके पैर हटाकर दूसरी जगह पर किये तो वहाँ एक शिवलिंग दिखाई देने लगा । तीसरी जगह पर पैर किये तो वहाँ भी वही बात हुई । जब बुड्ढे के पैर के नीचे हर जगह शिवलिंग दिखाई दिया तो नामदेव को विश्वास हो गया कि यह कोई बहुत बड़ा भक्त और योगी है । उसने बिसोबा के चरणों पर मस्तक रखकर शिष्य बनाने की विनय की । बिसोबा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और उसे उपदेश दिया कि "यह समस्त संसार प्रभुमय है । कोई स्थान उससे खाली नहीं हो सकता । प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तु उसी का अंश है ।" नामदेव ने कुछ समय तक गुरु के पास रह कर उनकी भली प्रकार सेवा की और उनसे आत्मज्ञान प्राप्त करके तथा आशीर्वाद लेकर पंढरपुर आये । इस घटना से नामदेव के हृदय से ऊँच-नीच का भाव जाता रहा और वह समझ गया कि भगवत्-शक्ति का प्राकट्य हर प्राणी में सम्भव है, इसलिये मनुष्य को कभी अभिमान करना उचित नहीं है ।

## तीन प्रसिद्ध चमत्कार

सन्तो और महात्माओ के प्रति भारतीय जनता बहुत अधिक श्रद्धा रखती है और उनको दैवी शक्तियो का भण्डार मानती है । इसका परिणाम यह होता है कि वह उनके तत्त्वज्ञान और दार्शनिक विचारो पर उतना ध्यान नही देती जितना कि उनके नाम से प्रसिद्ध चमत्कारों पर । कारण यही है कि ज्ञान की बातो को समझने में तो समय लगता है, परिश्रम भी करना पड़ता है, पर चमत्कार की बात आकर्षक और मनोरंजक होने के कारण शीघ्र ही समझ ली जाती है और सर्वत्र फैल भी जाती है । भारतवर्ष में धार्मिक सम्प्रदायो में से तो कोई ऐसा मिल ही नही सकता जिसके संस्थापक के नाम से थोड़े-बहुत चमत्कार उसके अनुयायियों में प्रसिद्ध न हों, पर अन्य देशों मे भी इस तरह के चमत्कारों का अभाव नही है । पश्चिम के तीन मुख्य धर्म यहूदी, ईसाई और मुसलमान है । यहूदी धर्म के पैगम्बर मूसा ने मिस्र के जादूगरो को ऐसे चमत्कार दिखाये कि उन सबने हार मान ली । ईसा मसीह ने मुर्दों को जिन्दा कर दिया, अन्धों को दृष्टि प्रदान कर दी और हजारों रोगियो को छूकर ही आरोग्य कर दिया । मुसलमानो के मुहम्मद साहब तथा अन्य फकीरों के नाम से भी बहुसख्य ऐसे चमत्कार प्रसिद्ध हैं ।

इससे हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि सामान्य जनता की धार्मिक भावना को स्थिर रखने के लिये इस प्रकार के 'चमत्कार' भी एक आवश्यक बात है । जिस प्रकार किसी महापुरुष की तरफ विद्वानों और ज्ञानियों का झुकाव उसके उच्च धार्मिक सिद्धान्तो और आध्यात्मिक तथ्यों के कारण होता है, वैसे ही सामान्य कम पढ़ी-

अथवा अशिक्षित जनता अद्भुत चमत्कारों से प्रेरित होकर उनकी भक्त और अनुयायी बनती है । हम यह भी नहीं कहते कि ये चमत्कार सर्वथा असत्य होते हैं, क्योंकि आध्यात्मिक शक्ति से बहुत से ऐसे कार्य किये जा सकते है जो भौतिक शक्ति से सम्भव नहीं होते । फिर भी विभिन्न सन्तों के नाम से जिन चमत्कारों को लोग सैकड़ों वर्षों से कहते सुनते आये हैं उनका स्वरूप धीरे-धीरे बहुत कुछ बदल जाता है और अन्त में ऐसी स्थिति आ जाती है कि उनमें कितना सत्य है और कितनी कल्पना है, इसका पता लगाना कठिन हो जाता है ।

नामदेव जी के सम्बन्ध में भी ऐसे अनेक चमत्कार उनके अनुयायियों में प्रसिद्ध हैं और 'नामदेव चरित्र' में लिखे मिलते हैं । उनके ऊपर भगवान की कितनी कृपा थी और उनकी प्रेरणा से उनको कैसी दैवी सहायता मिलती रहती थी इस सम्बन्ध में कई चमत्कार तो पीछे लिखे जा चुके हैं । अब हम उनके द्वारा किये गये तीन चमत्कारो का, जो जनता में बहुत अधिक प्रसिद्ध हैं, संक्षेप में वर्णन करते हैं—

## (१) मरी गौ को जीवित करना

पंढरपुर के समीप 'बेदर' नाम का एक बड़ा शहर था जहाँ एक मुसलमान 'सुल्तान' शासन करता था । वहाँ के एक ब्राह्मण ने 'मानता' मानी थी कि अगर मेरा अमुक कार्य पूरा हो जायेगा तो मैं नामदेव को अपने यहाँ बुलाकर एक बड़ा धर्मोत्सव करूँगा । जब उसकी अभिलाषा पूरी हो गई तो उसने पंढरपुर आकर नामदेव से 'बेदर' चलने की प्रार्थना की । धर्म प्रचार की इच्छा से नामदेव कुछ ब्राह्मणों को साथ लेकर उसके साथ चल दिये । वे रास्ते के हर एक गाँव में भजन-कीर्तन करते जाते और आगे बढते जाते थे । हिन्दुओं की ऐसी धार्मिक धूमधाम मुसलमान शासक को अच्छी नहीं लगी । उसने शान्ति रक्षा के नाम पर नामदेव और उसके तमाम साथियों को पकड़ मँगाया और कहा कि अगर तुम वास्तव में भगवान के सच्चे भक्त और सिद्ध पुरुष हो तो कोई चमत्कार दिखाओ । उसने एक मरी गाय मँगाई और नामदेव से उसे जीवित कर देने को कहा । यदि वह ऐसा न कर सके तो तमाम साथियों के सहित उसे मुसलमान बना लेने का आदेश दिया । यह सुनकर सब ब्राह्मण तो रोने लगे, पर नामदेव ने कहा कि धर्म के नाम पर मृत्यु आती हो तो उसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं । इसका वर्णन करते हुए 'नामदेवाचा गाथा' में नामदेव जी का ही लिखा निम्न पद्य मिलता है—

> रुदनु करै नामे की माई ।
> छोड़ि राम कीन भजन खुदाई ॥
> न हउ तोर पूंगड़ा न तू मेरी माई ।
> पिण्डु पड़ै तउ हरिगुन गाई ॥

अर्थात्—"नामदेव की माता रोकर कहती है कि प्राण रक्षा के लिये राम को छोड़कर खुदा को मानने लग जा ।" पर नामदेव विश्वास पूर्वक उत्तर देते हैं कि "अगर तू ऐसी धर्म विरुद्ध बात कहेगी तो मैं तेरा पुत्र नहीं और तू मेरी माता नहीं । चाहे मेरा शरीर नष्ट हो जाये पर तो भी मैं हरि का गुणगान ही करूँगा ।"

वहाँ पर नामदेव भगवान् की प्रार्थना करने लगे—"हे देवादिदेव पाण्डुरंग ! मैंने तेरा कोई अपराध नहीं किया है, तो भी मेरे ऊपर यह महान संकट आ पड़ा है । जो यह गौ फिर जीवित न होगी तो सुल्तान मुझे और इन सब ब्राह्मणो को मुसलमान बना देगा । यह केवल मेरी ही नहीं तेरी भी परीक्षा है । जो मैं तेरा सच्चा भक्त होऊँ और तुझे अपने भक्त का पूरी तरह ध्यान हो, तो यह गाय जीवित होकर खड़ी हो जाये । तूने तो समस्त सृष्टि को रचा है, फिर इस मरी हुई गाय को पुनर्जीवित कर देना तेरे लिये कौन बड़ी बात है ।"

कहते हैं कि इतनी प्रार्थना करके जैसे ही नामदेव ने गाय के ऊपर हाथ फेरा, वैसे ही वह उठकर खड़ी हो गई । सब हिन्दू "पुण्डरीक वरदा हरि विट्ठल" का आकाशभेदी जयघोष करने लगे और सुल्तान तथा उसके साथी अवाक् रह गये ।

## (२) कमलाकर के पुत्र को जीवनदान

पंढरपुर में कमलाकर नाम का एक बड़ा प्रेमी और सज्जन ब्राह्मण रहता था । उसकी पत्नी का नाम सुमति और पुत्र का पद्माकर था । वह भिक्षा द्वारा अपना निर्वाह करता था । एक दिन उसने सन्त मण्डली को भजन करते देखा तो उसके मन में अभिलाषा हुई कि एक दिन उनको निमन्त्रित करके भोजन कराया जाये । उसने सन्तों के पास जाकर उनसे निमन्त्रण

स्वीकार करने की प्रार्थना की और उन्होंने उसका अत्यन्त आग्रह देखकर स्वीकार कर लिया ।

नियत दिन जब कमलाकर की पत्नी भोजन बना रही थी तो उसने पुत्र से कहा कि बाहर जाकर थोड़े से उपला (कण्डा) उठा ला । पर कण्डों में एक विषधर साँप बैठा था जिसने पद्माकर को काट लिया । सुमति पहले तो अत्यन्त दुःखी हुई, पर यह सोचकर कि यह हाल प्रकट होने से सन्तों का भोजन रुक जायेगा उसने पुत्र को घर के भीतर सुलाकर ऊपर से ढक दिया । जब सब लोग खाने को बैठे तो किसी ने पूछा कि तुम्हारा पुत्र कहाँ है, उसे भी भोजन करने बैठा दो । इस पर सुमति कोई बहाना करने लगी । पर नामदेव ने कहा कि "जब तक तेरा पुत्र यहाँ आकर भोजन न करेगा तब तक हम एक दाना भी ग्रहण न करेंगे । अन्य साधु तो विलम्ब हो जाने से भोजन की शीघ्रता करने लगे, पर नामदेव हाथ में करताल लेकर विट्ठल भगवान का कीर्तन करने लगे—"हे भगवान ! कमलाकर और उसकी पत्नी बड़ी उच्चकोटि के भक्त है, फिर भी तूने सर्प होकर उनके एक मात्र बालक को डस लिया । यह बात अच्छी नहीं है । ऐसा होगा तो फिर तुम्हारी भक्ति कौन करेगा ? इसलिये हे भगवान ! तुम तुरन्त पद्माकर को जीवित करो, नहीं तो मैं आज से तुम्हारा नाम भी नही लूँगा ।" भगवान ने भक्त की आवाज को सुना और पद्माकर उसी समय उठकर बैठ गया । कमलाकर, जो अभी तक स्वयं पुत्र की मृत्यु के सम्बन्ध में अनजान था, नामदेव के चरणों मे गिर पड़ा ।

## (३) परिसा भागवत का पारस पत्थर

पंढरपुर मे परिसा भागवत नाम का एक ब्राह्मण रहता था, जिसके विषय में यह प्रसिद्ध था कि उसके पास पारस पत्थर है, जिससे वह इच्छानुसार सोना बनाकर सुखपूर्वक जीवन निर्वाह करता है । एक दिन परिसा की पत्नी कमलजा चन्द्रभागा से पानी लेकर लौटते हुए मार्ग में नामदेव की पत्नी राजबाई से मिल गई । दोनों में सुख-दुःख की बातें होने लगीं । कमलजा के पूछने पर राजबाई ने कहा—"बहिन तुमसे क्या कहूँ, अपनी गरीबी की बात अपने मुँह से निकालना अच्छा नही लगता । मेरे पति तो दुनिया को भूलकर पाण्डुरंग की भक्ति में लगे है । घर में क्या है और क्या नहीं इसकी उनको कोई चिन्ता नहीं । ऐसी स्थिति में कुटुम्ब का निर्वाह ठीक तरह किस प्रकार हो सकता है ।" कमलजा ने कहा "जो देवता तुम्हारी गरीबी को दूर न कर सके उसका भजन करने से क्या फायदा ? इसलिये मेरे पति ने तो लक्ष्मी का अवतार समझ कर रुक्मिणी की आराधना की थी । उन्होंने एक पारसमणि दे दी, जिससे सोना बनाकर हम सुख से रहते हैं ।"

कमलजा की बात सुनकर गरीब राजबाई कहने लगी, "पारस कैसा होता है, मैंने तो देखा ही नहीं ।" इस पर दूसरे दिन कमलजा ने उसे अपने घर बुलाया और पारसमणि दिखाई । फिर कमलजा ने उसकी दीनावस्था पर तरस खाकर कहा—"तुम इस मणि को घर ले जाओ और थोड़े से लोहे को सोना बना लो । पर इसका हाल किसी से कहना मत, नहीं तो हमारा बड़ा नुकसान होगा । राजबाई ने ऐसा ही किया और सोना बेचकर रसोई का सब सामान खरीद लाई ।

भोजन बनाने की जल्दी मे राजबाई उसी समय पारसमणि को वापस न कर सकी । कुछ समय बाद नामदेव घर आया और घर में उत्तम भोज्य सामग्री की सुगन्ध आने से उसे आश्चर्य हुआ । उसने पत्नी से पूछा—"अरे यह भोजन-सामग्री कहाँ से ले आई ?" राजबाई के पेट में तो इस समय पाप था, इसलिये वह कहने लगी—"तुमको यह पूछने से क्या काम ? अब तक कभी पूछा है कि घर में कौन चीज है जो आज ही पूछने लगे ? अब तुम घर के विषय में बात मत करना अपना इन्तजाम मैं स्वयं कर लूँगी ।"

राजबाई की दबदबे की बाते सुनकर और घर के ठाठ को देखकर नामदेव ने कहा—"जब तक तू यह न बतायेगी कि यह सब कहाँ से आया है, तब तक मैं एक दाना भी मुँह में न डालूँगा ।" अब राजबाई बड़ी दुविधा में पड़ी । कमलजा ने उससे यह भेद न खोलने की प्रतिज्ञा करा ली थी, और इधर नामदेव बात जानने की हठ कर रहा था । अन्त में उसे सब हाल कहना ही पड़ा । यह जानकर कि अन्य किसी के धन से हमारा घर अपवित्र हुआ है, नामदेव को बड़ा दुःख हुआ । पर प्रकट में कुछ न कहकर उसने पत्नी से कहा—"मैंने तो पारसमणि आज तक नहीं देखी, बताओ तो कैसी है ?" मणि हाथ मे आते ही

अथवा अशिक्षित जनता अद्भुत चमत्कारों से प्रेरित होकर उनकी भक्त और अनुयायी बनती है । हम यह भी नहीं कहते कि ये चमत्कार सर्वथा असत्य होते हैं, क्योंकि आध्यात्मिक शक्ति से बहुत से ऐसे कार्य किये जा सकते हैं जो भौतिक शक्ति से सम्भव नहीं होते । फिर भी विभिन्न सन्तों के नाम से जिन चमत्कारों को लोग सैकड़ों वर्षों से कहते सुनते आये हैं उनका स्वरूप धीरे-धीरे बहुत कुछ बदल जाता है और अन्त में ऐसी स्थिति आ जाती है कि उनमें कितना सत्य है और कितनी कल्पना है, इसका पता लगाना कठिन हो जाता है ।

नामदेव जी के सम्बन्ध में भी ऐसे अनेक चमत्कार उनके अनुयायियों में प्रसिद्ध हैं और 'नामदेव चरित्र' में लिखे मिलते है । उनके ऊपर भगवान की कितनी कृपा थी और उनकी प्रेरणा से उनको कैसी दैवी सहायता मिलती रहती थी इस सम्बन्ध में कई चमत्कार तो पीछे लिखे जा चुके है । अब हम उनके द्वारा किये गये तीन चमत्कारों का, जो जनता में बहुत अधिक प्रसिद्ध हैं, संक्षेप में वर्णन करते हैं—

## (१) मरी गौ को जीवित करना

पंढरपुर के समीप 'वेदर' नाम का एक बड़ा शहर था जहाँ एक मुसलमान 'सुल्तान' शासन करता था । वहाँ के एक ब्राह्मण ने 'मानता' मानी थी कि अगर मेरा अमुक कार्य पूरा हो जायेगा तो मै नामदेव को अपने यहाँ बुलाकर एक बड़ा धर्मोत्सव करूँगा । जब उसकी अभिलाषा पूरी हो गई तो उसने पंढरपुर आकर नामदेव से 'वेदर' चलने की प्रार्थना की । धर्म प्रचार की इच्छा से नामदेव कुछ ब्राह्मणों को साथ लेकर उसके साथ चल दिये । वे रास्ते के हर एक गाँव में भजन-कीर्तन करते जाते और आगे बढ़ते जाते थे । हिन्दुओं की ऐसी धार्मिक धूमधाम मुसलमान शासक को अच्छी नहीं लगी । उसने शान्ति रक्षा के नाम पर नामदेव और उसके तमाम साथियों को पकड़ मँगाया और कहा कि अगर तुम वास्तव में भगवान के सच्चे भक्त और सिद्ध पुरुष हो तो कोई चमत्कार दिखाओ । उसने एक मरी गाय मँगाई और नामदेव से उसे जीवित कर देने को कहा । यदि वह ऐसा न कर सके तो तमाम साथियों के सहित उसे मुसलमान बना लेने का आदेश दिया । यह सुनकर सब ब्राह्मण तो रोने लगे, पर नामदेव ने कहा कि धर्म के नाम पर मृत्यु आती हो तो उसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं । इसका वर्णन करते हुए 'नामदेवाचा गाथा' में नामदेव जी का ही लिखा निम्न पद्य मिलता है—

रुदनु करै नामे की माई ।
छोड़ि राम कीन भजन खुदाई ॥
न हउ तोर पूंगड़ा न तू मेरी माई ।
पिण्डु पड़ै तउ हरिगुन गाई ॥

अर्थात्—"नामदेव की माता रोकर कहती है कि प्राण रक्षा के लिये राम को छोड़कर खुदा को मानने लग जा ।" पर नामदेव विश्वास पूर्वक उत्तर देते हैं कि "अगर तू ऐसी धर्म विरुद्ध बात कहेगी तो मै तेरा पुत्र नहीं और तू मेरी माता नहीं । चाहे मेरा शरीर नष्ट हो जाये पर तो भी मैं हरि का गुणगान ही करूँगा ।"

वहाँ पर नामदेव भगवान् की प्रार्थना करने लगे—"हे देवादिदेव पाण्डुरंग ! मैने तेरा कोई अपराध नहीं किया है, तो भी मेरे ऊपर यह महान संकट आ पड़ा है । जो यह गौ फिर जीवित न होगी तो सुल्तान मुझे और इन सब ब्राह्मणों को मुसलमान बना देगा । यह केवल मेरी ही नहीं तेरी भी परीक्षा है । जो मै तेरा सच्चा भक्त होऊँ और तुझे अपने भक्त का पूरी तरह ध्यान हो, तो यह गाय जीवित होकर खड़ी हो जाये । तूने तो समस्त सृष्टि को रचा है, फिर इस मरी हुई गाय को पुनर्जीवित कर देना तेरे लिये कौन बड़ी बात है ।"

कहते है कि इतनी प्रार्थना करके जैसे ही नामदेव ने गाय के ऊपर हाथ फेरा, वैसे ही वह उठकर खड़ी हो गई । सब हिन्दू "पुण्डरीक वरदा हरि विठ्ठल" का आकाशभेदी जयघोष करने लगे और सुल्तान तथा उसके साथी अवाक् रह गये ।

## (२) कमलाकर के पुत्र को जीवनदान

पंढरपुर में कमलाकर नाम का एक बड़ा प्रेमी और सज्जन ब्राह्मण रहता था । उसकी पत्नी का नाम सुमति और पुत्र का पद्माकर था । वह भिक्षा द्वारा अपना निर्वाह करता था । एक दिन उसने सन्त मण्डली को भजन करते देखा तो उसके मन मे अभिलाषा हुई कि एक दिन उनको निमन्त्रित करके भोजन कराया जाये । उसने सन्तों के पास जाकर उनसे निमन्त्रण

स्वीकार करने की प्रार्थना की और उन्होने उसका अत्यन्त आग्रह देखकर स्वीकार कर लिया ।

नियत दिन जब कमलाकर की पत्नी भोजन बना रही थी तो उसने पुत्र से कहा कि बाहर जाकर थोड़े से उपला (कण्डा) उठा ला । पर कण्डों में एक विषधर साँप बैठा था जिसने पद्माकर को काट लिया । सुमति पहले तो अत्यन्त दुःखी हुई, पर यह सोचकर कि यह हाल प्रकट होने से सन्तों का भोजन रुक जायेगा उसने पुत्र को घर के भीतर सुलाकर ऊपर से ढक दिया । जब सब लोग खाने को बैठे तो किसी ने पूछा कि तुम्हारा पुत्र कहाँ है, उसे भी भोजन करने बैठा दो । इस पर सुमति कोई बहाना करने लगी । पर नामदेव ने कहा कि "जब तक तेरा पुत्र यहाँ आकर भोजन न करेगा तब तक हम एक दाना भी ग्रहण न करेंगे । अन्य साधु तो विलम्ब हो जाने से भोजन की शीघ्रता करने लगे, पर नामदेव हाथ में करताल लेकर विट्ठल भगवान का कीर्तन करने लगे—"हे भगवान ! कमलाकर और उसकी पत्नी बड़ी उच्चकोटि के भक्त है, फिर भी तूने सर्प होकर उनके एक मात्र बालक को डस लिया । यह बात अच्छी नहीं है । ऐसा होगा तो फिर तुम्हारी भक्ति कौन करेगा ? इसलिये हे भगवान ! तुम तुरन्त पद्माकर को जीवित करो, नहीं तो मैं आज से तुम्हारा नाम भी नही लूँगा ।" भगवान ने भक्त की आवाज को सुना और पद्माकर उसी समय उठकर बैठ गया । कमलाकर, जो अभी तक स्वयं पुत्र की मृत्यु के सम्बन्ध में अनजान था, नामदेव के चरणों में गिर पड़ा ।

## (३) परिसा भागवत का पारस पत्थर

पढरपुर मे परिसा भागवत नाम का एक ब्राह्मण रहता था, जिसके विषय मे यह प्रसिद्ध था कि उसके पास पारस पत्थर है, जिससे वह इच्छानुसार सोना बनाकर सुखपूर्वक जीवन निर्वाह करता है । एक दिन परिसा की पत्नी कमलजा चन्द्रभागा से पानी लेकर लौटते हुए मार्ग में नामदेव की पत्नी राजबाई से मिल गई । दोनों में सुख-दुःख की बातें होने लगीं । कमलजा के पूछने पर राजबाई ने कहा—"बहिन तुमसे क्या कहूँ, अपनी गरीबी की बात अपने मुँह से निकालना अच्छा नहीं लगता । मेरे पति तो दुनिया को भूलकर पाण्डुरंग की भक्ति में लगे हैं । घर में क्या है और क्या नहीं इसकी उनको कोई चिन्ता नहीं । ऐसी स्थिति में कुटुम्ब का निर्वाह ठीक तरह किस प्रकार हो सकता है ।" कमलजा ने कहा "जो देवता तुम्हारी गरीबी को दूर न कर सके उसका भजन करने से क्या फायदा ? इसलिये मेरे पति ने तो लक्ष्मी का अवतार समझ कर रुक्मिणी की आराधना की थी । उन्होंने एक पारसमणि दे दी, जिससे सोना बनाकर हम सुख से रहते है ।"

कमलजा की बात सुनकर गरीब राजबाई कहने लगी, "पारस कैसा होता है, मैंने तो देखा ही नहीं ।" इस पर दूसरे दिन कमलजा ने उसे अपने घर बुलाया और पारसमणि दिखाई । फिर कमलजा ने उसकी दीनावस्था पर तरस खाकर कहा—"तुम इस मणि को घर ले जाओ और थोड़े से लोहे को सोना बना लो । पर इसका हाल किसी मे कहना मत, नहीं तो हमारा बड़ा नुकसान होगा । राजबाई ने ऐसा ही किया और सोना बेचकर रसोई का सब सामान खरीद लाई ।

भोजन बनाने की जल्दी में राजबाई उसी समय पारसमणि को वापस न कर सकी । कुछ समय बाद नामदेव घर आया और घर में उत्तम भोज्य सामग्री की सुगन्ध आने से उसे आश्चर्य हुआ । उसने पत्नी से पूछा—"अरे यह भोजन-सामग्री कहाँ से ले आई ?" राजबाई के पेट में तो इस समय पाप था, इसलिये वह कहने लगी—"तुमको यह पूछने से क्या काम ? अब तक कभी पूछा है कि घर में कौन चीज है जो आज ही पूछने लगे ? अब तुम घर के विषय में बात मत करना अपना इन्तजाम मै स्वयं कर लूँगी ।"

राजबाई की दबदबे की बाते सुनकर और घर के ठाठ को देखकर नामदेव ने कहा—"जब तक तू यह न बतायेगी कि यह सब कहाँ से आया है, तब तक मैं एक दाना भी मुँह में न डालूँगा ।" अब राजबाई बड़ी दुविधा में पड़ी । कमलजा ने उससे यह भेद न खोलने की प्रतिज्ञा करा ली थी, और इधर नामदेव बात जानने की हठ कर रहा था । अन्त में उसे सब हाल कहना ही पड़ा । यह जानकर कि अन्य किसी के धन से हमारा घर अपवित्र हुआ है, नामदेव को बड़ा दुःख हुआ । पर प्रकट में कुछ न कहकर उसने पत्नी से कहा—"मैंने तो पारसमणि आज तक नहीं देखी, बताओ तो कैसी है ?" मणि हाथ में आते ही

नामदेव सीधा चन्द्रभागा के किनारे पहुँचा और उस मणि को नदी में फेंक कर भजन करने बैठ गया ।

इधर जब परिसा भागवत ने पूजा करते समय उस मणि को न देखा तो अपनी स्त्री से पूछा । उसे राजबाई को देने की बात सुनकर वह बड़ा रुष्ट हुआ और पता लगाता हुआ चन्द्रभागा के किनारे जा पहुँचा जहाँ नामदेव भजन कर रहा था । जब उसमे मणि को नदी में फेंकने की बात कही गई तो वह क्रोध मे भर कर बोला—"इसी हरामखोर नाम्या ने चालाकी से मणि मँगवाई होगी और अब नदी में फेंकने का बहाना कर रहा है ।" जब नामदेव चुप रहा तो वह फिर कहने लगा—"तू और तेरा भगवान दोनो चोर के भाई घंटी चोर हो । साधुता का बड़ा रूप बनाकर, गले में तुलसी की माला डालकर लोगों का गला क्यो काटते हो ?" नामदेव ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया—"तेरी मणि की मुझे क्या आवश्यकता थी ? इसी से मैने उसे चन्द्रभागा मे पधरा दिया । विश्वास न हो तो चन्द्रभागा में डुबकी मार कर निश्चय कर सकते हो ।"

नामदेव की बात सुनकर आस-पास खड़े लोग हँसकर कहने लगे—"नामदेव भी विचित्र बात कहता है । अरे ! नदी के तले में हजारों-लाखों पत्थर पड़े हैं, उनमें पारसमणि कौन है इसका पता कैसे लग सकता है ?" नामदेव ने कहा—"यह कौन कठिन बात है ?" इतना कहकर उसने नदी मे डुबकी लगाई और दोनों हाथो में बहुत से कंकड़-पत्थर निकाल कर ले आया ।" उसने परिसा से कहा—"इनमें से तू अपना पारसमणि ढूँढ़ ले ।" यह सुनकर लोग फिर हँसने लगे । पर जब एक व्यक्ति ने लोहे का टुकडा एक कंकड़ से छुआया तो वह सोने का हो गया । यह देखकर भक्त जनों को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे नामदेव की जय बोलने लगे । परिसा भागवत ने भी विचार किया कि जिस व्यक्ति के छूने से कंकड़ भी पारसमणि बन जाता है वह दूसरे की मणि लेकर क्या करेगा ? वह नामदेव के चरणों में गिर कर कहने लगा—"महाराज ! आपकी सच्ची योग्यता मेरी समझ में आज ही आई । रुक्मिणी माता की कृपा से मुझे एक पारसमणि मिली थी । उसके खो जाने से मैंने आपका अपमान किया और न कहने योग्य बात कह डाली । पर आप में तो हाथ में छूकर ककड़ पत्थरो को पारसमणि बना देने की शक्ति है । इसलिये मेरा अपराध क्षमा करो और मेरे ऊपर कृपा करो ।" तब नामदेव ने परिसा को अपना शिष्य बना लिया और उसे उद्धार का सच्चा मार्ग बतलाया । इस घटना द्वारा उसने दिखला दिया कि भगवान का नाम ही सबसे बड़ी पारसमणि है जो निष्काम भाव से उसका स्मरण करेगा और उसके आदेशों पर चलेगा वह मिट्टी को भी छूकर सोना बना सकेगा ।

## नामदेव की तीर्थयात्रा

एक दिन आणांदी से सन्त ज्ञानेश्वर नामदेव के पास आये और उससे तीर्थयात्रा का प्रस्ताव किया । उन्होंने कहा—"नामदेव ! तुमने पाण्डुरंग की एकनिष्ठ से भक्ति करके भागवत धर्म का झण्डा फहरा दिया है । पर अब इसके देशव्यापी प्रचार के लिये कुछ विशेष प्रयास आवश्यक हैं । मेरा विचार है कि हम सब एक बार भारत के मुख्य-मुख्य तीर्थो की यात्रा करके इसका परिचय अन्य प्रान्तो के भक्तों को भी दें । साथ ही देश की परिस्थिति का निरीक्षण करके धर्म-प्रचार का मार्ग भी सोचें ।"

नामदेव—"महाराज ! मै तो पढरीनाथ का गुलाम हूँ । इसलिये यात्रा के विषय मे मुझमें पूछने की अपेक्षा पाण्डुरंग से ही पूछना आवश्यक है ।"

वे दोनो मन्दिर के भीतर पहुँचे । एक महान योगीश्वर थे और दूसरे भक्ति शिरोमणि थे । यद्यपि ज्ञानदेव गोरखनाथ की सम्प्रदाय के निराकार ब्रह्म के मानने वाले थे पर विदेशी शासन में जनता के धर्म-भाव को स्थिर रखने के लिये उन्होने नामदेव के भक्ति प्रधान 'वारकरी" मत को भी अंगीकार कर लिया था । ऐसे आत्मशक्ति वालों को भगवान मे वार्तालाप करने में क्या देर लगती थी । वे तो वास्तविक रूप से परमात्म-जगत में ही निवास करते थे । तीर्थयात्रा की योजना सुनकर पाण्डुरंग ने कहा—"ज्ञानदेव ! तेरा विचार बहुत ठीक है । पर मेरी कृपा से महान बनने वाला यह नामदेव मुझे अत्यन्त प्रिय है । उसकी तू अपने जीवन के समान चौकसी रखना ।" यह कहकर पाण्डुरंग ने दोनों को आशीर्वाद देकर विदा किया । सब मण्डली ने चन्द्रभागा मे स्नान करके प्रस्थान किया । ज्ञानदेव के बड़े भाई निवृत्तनाथ, सोपानदेव और बहिन मुक्ताबाई के अतिरिक्त विसोबा चाटी, नरहरि सोनी, चोखामेला, गोरा कुंभार आदि महाराष्ट्र के अग्रगण्य सन्त भी उस

मण्डली में सम्मिलित थे । अनेक तीर्थों में भ्रमण करते हुए ये लोग द्वारका जी पहुँचे और वहाँ से प्रभास पाटण आदि होते हुए बीकानेर के पास मारवाड़ में निकल आये ।

मारवाड़ में पानी की सदा ही कमी रहती है, इतने पर भी उस समय वहाँ घोर अकाल पड़ रहा था । इससे इन लोगों को भी जल के अभाव से बहुत कठिनाई सहन करनी पड़ी । बीकानेर के प्रसिद्ध तीर्थ कोलायत जी के पास मैदान मे सबको बड़ी प्यास लगी । बहुत देर तक ढूँढ़ने पर एक कुआँ दिखाई दिया जिसके तले मे थोड़ा-सा पानी था । ज्ञानदेव ने अपनी योगशक्ति से उसमें से पानी निकाल लिया और सबको पिलाया । उधर नामदेव भी आँखें बन्द करके विट्ठल भगवान की प्रार्थना करने लगे—"हे विट्ठल ! मेरा भाई-बन्धु, मित्र, जो कुछ कहो वह तू ही है । पानी न मिलने से प्राण कण्ठ में आ गये है । मै योगी नही हूँ कि ज्ञानेश्वर की तरह कुएँ में उतरकर जल ले आऊँ । मै तो केवल तेरा भक्त हूँ, मेरी चिन्ता तुझको ही करनी है ।" लोगों की मान्यता है कि भगवान की कृपा से कुये का जल स्वय ऊपर तक आ गया और नामदेव ने अपनी प्यास बुझाई ।

रामेश्वर, काशी, प्रयाग, मथुरा आदि की यात्रा करते हुए यह मण्डली पुनः महाराष्ट्र के "नागनाथ" तीर्थ में आ पहुँची । भगवान शिव का दर्शन करने के पश्चात् मन्दिर के सभा मण्डप में कीर्तन करना प्रारम्भ किया । मन्दिर का पुजारी ब्राह्मण था, उसे नामदेव जैसे अब्राह्मण का शिवजी के सामने कीर्तन करना पसन्द नहीं आया । पर नामदेव तो कीर्तन मे ऐसे तल्लीन हो गये थे कि उन्होंने पुजारी की बात सुनी ही नहीं । इतने में स्नान करके पवित्र बने, शरीर में भस्म लगाये, गले में मोटे रुद्राक्षों की माला पहने कुछ ब्राह्मण 'साब शिवम्' 'सांब शिवम्' का उच्चारण करते वहाँ आ पहुँचे । उनको महादेव का अभिषेक करने मन्दिर के भीतर जाना था, पर सभामण्डप में एकत्रित भीड़ के कारण बिना किसी को छुये भीतर पहुँचना सम्भव नही था । इसलिये वे गुस्सा होकर नामदेव और उसके श्रोताओं से कहने लगे—"अरे यहाँ कैसी धाँधली मचा रखी है ? यहाँ बैठे-बैठे झांझ क्यों पीट रहे हो ? यह पंढरपुर नही है । हम लोग नाग नाथ मे यह सब तमाशा नहीं होने देते । फिर शंकर के स्थान में तुमको विष्णु का कीर्तन करते हुए शर्म भी नहीं आती ।"

श्रोताओं में से कोई बोल उठा—"क्यों महाराज ! शास्त्र में तो कहा है कि शिव और विष्णु के बीच कोई भेद नहीं, दोनों एक ही परमेश्वर के रूप हैं । क्या यह बात आपको मान्य नही है ?" यह सुनकर वे और भी नाराज होकर बोले—"शास्त्रों में क्या कहा गया है और क्या नही कहा गया है, इसकी चर्चा ब्राह्मणों के सिवाय और कोई नहीं कर सकता । तुमको तो हम जो कुछ कहे उसे मान लेना चाहिये । हमारी आज्ञा है कि तुम यहाँ से हट कर अन्यत्र जाकर बैठो, नहीं तो हमको धक्का मार कर निकालना पड़ेगा ।"

नामदेव ब्राह्मणों को नमस्कार करके मन्दिर के पीछे की तरफ जाकर कीर्तन करने लगे । उनकी आँखों से प्रेमाश्रु बहने लगे और कहने लगे—"हमारे आज के कीर्तन मे एक कमी यही है कि भगवान नागनाथ ने हमारी तरफ पीठ कर रखी है । न जाने मैने भगवान का क्या अपराध किया है जो आज वे मेरे ऊपर कृपा नही करते ।"

'नामदेव चरित्र' मे कहा गया है कि भक्त की अन्तरात्मा से निकली हुई इस दीनतापूर्ण वाणी को भगवान शिव कैसे अनसुनी करते ? उन्होंने मन्दिर का मुख नामदेव की तरफ फेर दिया । मन्दिर के भीतर पूजा करने वाले ब्राह्मणों को इसका पता भी न लगा । पर प्रातःकाल जब वे मन्दिर से बाहर निकले तो नामदेव को सामने ही कीर्तन करते देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा ।

## ब्राह्मण और अब्राह्मणों का मतभेद

यह घटना यद्यपि छः सौ वर्ष पुरानी है, पर इससे हिन्दू-समाज की एक गम्भीर समस्या पर प्रकाश पड़ता है । चार वर्णों का विभाजन किसी समय इस दृष्टि से किया गया था कि समाज की प्रगति यथोचित रूप मे होती रहे । इसके अनुसार जो व्यक्ति जिस योग्यता और मनोवृत्ति का होता उसे वैसा ही काम मिल जाता था, जिसमे समाज का सब प्रकार से हित था । उस समय वर्ण-व्यवस्था कर्मानुसार थी, और जिन लोगों के सस्कारो और रुचि में अन्तर पड़ जाता था वे एक-वर्ण के काम को छोड़कर दूसरे वर्ण का कार्य करने लगते थे । पर जैसे-जैसे समय बीतता गया उच्च वर्ण के माने जाने वाले लोग अपने स्वार्थ और अहंकार के

कारण वर्ण-व्यवस्था को अपरिवर्तनशील बनाने की चेष्टा करने लगे। इनमें ब्राह्मण ही प्रमुख और सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे इसलिये होते-होते समाज में ब्राह्मण और अब्राह्मणों के बीच मत-भेद की एक खाई बन गई जिसने दक्षिण भारत में भयंकर रूप धारण कर लिया। नामदेव यद्यपि दर्जी थे, जिनके काम में किसी तरह की गन्दगी या अशुद्धता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, पर ब्राह्मणों ने उनकी भी गणना शूद्रों में ही की और सदैव वैसा ही व्यवहार करते रहे। यह नागनाथ के मन्दिर वाली घटना कोई नई बात नहीं थी। अन्य अनेक अवसरों पर भी उनके साथ ऐसा ही अपमानपूर्ण व्यवहार किया गया था। अपनी रचनाओं में वे एक स्थान पर लिखते हैं— अपनी माता की मृत्यु के पश्चात् मैं मन्दिर में गया। ईश्वर के पास जाने की आशा से मैं दरवाजे के पास खड़ा था, पर लोगों ने मुझे दुतकारा और कहा—

जाति नाहीं त्यासी कायसी पंगती।
नेणोनी एकांती बैसा बीलें॥
*(नामदेव गाथा १५०२)*

अर्थात् "जो श्रेष्ठ जाति का नहीं है वह हमारे साथ कैसे बैठ सकता है—यह कहकर मुझे उन्होंने मन्दिर के एक कोने में बिठाया।"

पर छोटी जाति के माने जाने वाले लोग ब्राह्मणों के इस व्यवहार को अन्यायपूर्ण ही मानते थे। नामदेव ने स्वयं कहा है—

कुश्चल भूमी वरी उगवली तुळसी।
अपवित्र तियेसीं म्हणो नये।
नामा म्हणे तैसा जातीचा मी शिंपी।
उपमा जातीची देऊं नये।
*(ना. गा. ११७८)*

नामदेव ने अपनी हिन्दी रचना में भी ऐसे ही भाव प्रकट किये हैं—

देवा मेरी हीन जाती हो।
काहू पै सहीयन जाती हो।
हीन दीन जात मेरी पंढरी के राया।
ऐसा तुमने नामा दरजी कायकू बनाया॥
टाल विना लेकर नामा राउल में आया।
पूजा करते बम्हन उन्ने बाहरे ढकाया॥
*(ना. गा. १८६८)*

उस समय की इस भेदभावपूर्ण अवस्था के सम्बन्ध में विचार करते हुए डॉ. कोनते नामक महाराष्ट्रीय विद्वान ने लिखा है—"महाराष्ट्र में उस समय ऐसा ही हृदयद्रावक दृश्य दिखाई देता था। शूद्र जाति के अनेक लोग उच्चवर्णीयों के कारण विषमता की बलि बन रहे थे और उद्धार के लिये तड़प रहे थे। अपनी निकृष्ट हीन जाति में जन्म होने के कारण वे अत्यन्त दुःखी थे और उस दुःख को मिटाने के लिये ईश्वर की आराधना करने लगे थे।'

नामदेव भी ब्राह्मणों के इस अन्याय और अनधिकार चेष्टा को अच्छी तरह समझते थे और उन्होंने इसका विरोध व आलोचना करते हुए ऐसे ब्राह्मणों की पोल भी अच्छी तरह खोली है—

तत्त्व पुसावया गेलों वेदज्ञांसी।
तंव भरले त्यापाशीं विधि निषेध॥
तया समाधान नुमजे कोणे काळी।
अहंकार बळि झाला तेथे॥
स्वरूप पुसावया गेलों शास्त्रज्ञांसी।
तंव भरले तया पाशीं भेदाभेद॥
ऐसें विचारिता बहुत भागलों।
म्हणोनि शरण आलों पाण्डुरंगा॥

अर्थात्—"धर्म का तत्त्व पूछने मैं वेदज्ञ ब्राह्मणों के पास गया, पर वे सब विधि निषेध के जाल में जकड़े हुए थे। वे धर्म की समस्या का समाधान तो क्या करेंगे जब स्वयं ही अहंकार से उन्मत्त हो रहे हैं। मैं आत्मा के स्वरूप को समझने पौराणिकों के पास गया, पर उनमें भेदभाव, ऊँच-नीच की बातों के सिवाय कुछ न जान पड़ा। यह दशा देखकर मैं बहुत खिन्न हो गया हूँ और हे पाण्डुरंग! तुम्हारी ही शरण में आया हूँ।"

पर इन बातों का धर्म-व्यवसायी ब्राह्मणों पर क्या असर होता। वे तो इसी ढोंग के आधार पर सब वर्णों से मुफ्त का धन पाते थे और सेवा भी कराते थे। वे अपने इस स्वार्थ-साधन को कैसे छोड़ते? पर नामदेव जैसे प्रचारकों का यह प्रभाव अवश्य हुआ कि जनता के बहुसख्यक व्यक्ति ऐसे ब्राह्मणों के भ्रष्टाचार और स्वार्थपरता को समझने लग गये और तीन सौ वर्ष पश्चात् महाराष्ट्र के सबसे महान अब्राह्मण सन्त

तुकाराम ने ब्राह्मणों की आलोचना नामदेव की अपेक्षा कहीं अधिक कटु शब्दों में की—

जयासी नावडे हरिनाम कीर्तन, आणीक वर्तन वैष्णवांचे ।
सत्य त्याचे वेळे घडला व्यभिचार, मातेसी वेव्हार अंत्यजाचा॥
ब्राह्मण तो याती अंत्यज असतां, मानावा तत्त्वता निश्चयेसीं।
रामकृष्णनामें उच्चारी सरळें, आठवी सांवळे रूप मनीं ॥

*(तुकाराम अभंग १२३४-३५)*

अर्थात् "जिस ब्राह्मण को ईश्वर का नाम कीर्तन प्रिय नहीं जान पड़ता तो वह ब्राह्मण ही नहीं है । उसे तो व्यभिचार मे उत्पन्न सन्तान के समान नीच ही समझना चाहिये और जो अन्त्यज (शूद्र) सदैव रामकृष्ण का नाम स्मरण करता रहता है वह वास्तव मे ब्राह्मण है ।"

एक विशेष ध्यान देने की बात यह है कि महाराष्ट्र के भक्त गण सन्त तुकाराम को नामदेव का ही अवतार मानते है । तुकाराम ने अपनी रचनाओं में यह भी कहा है कि "मुझे कविता रचना की प्रेरणा स्वप्न मे नामदेव और विट्ठल भगवान से ही प्राप्त हुई है ।"

बड़े खेद का विषय है कि इतना समय बीत जाने और देश-काल की परिस्थितियों में जमीन-आसमान का अन्तर पड़ जाने पर भी अभी तक महाराष्ट्र के ब्राह्मणो की भेदभाव वाली मनोवृत्ति में अधिक अन्तर नहीं पड़ा है । परिणाम यह हुआ कि वहाँ पर अम्बेडकर जैसे प्रचारक पैदा हुए जिन्होंने समस्त अछूतों को हिन्दू-धर्म से अलग करने की ही योजना बनाई और अन्त में कई लाख व्यक्तियों को हिन्दू-जाति से पृथक होकर अपने को 'बौद्ध' कहने वाला बना ही दिया । अपनी इसी जातीय फूट के कारण हिन्दुओं ने सात-आठ सौ वर्ष मुसलमानों के और दो सौ वर्ष अंग्रेजों के अन्याय और अपमानपूर्ण व्यवहार सहन किये पर अब भी ये होश मे नहीं आते । नामदेव जैसे सन्तों का चरित्र हमको प्रेरणा देता है कि अब इस हानिकारक भेदभाव की जड़ काट ही डालनी चाहिये । शूद्र वर्ण वालों को अन्यायपूर्वक दवाकर रखने, उनको सदा 'नीच' कहकर उनके मनोभावो को कुचलते रहने से न मालूम अब तक कितने 'नामदेव' और 'तुकाराम' विना खिले हुए ही मुरझा कर नष्ट हो चुके होंगे । छ. सौ वर्ष से अधिक बीत जाने पर भी करोडों लोगो पर नामदेव का प्रभाव मौजूद है और वे उन्हे एक दैवी विभूति मान कर पूज रहे हैं । इसी प्रकार तुकाराम का यश भी दिन पर दिन बढता जाता है और लोकमान्य तिलक ने अपने 'गीता रहस्य' जैसे अमर ग्रन्थ का श्री गणेश तुकाराम के 'अभंग' से ही किया है । यदि ऐसे थोड़े से भी अन्य प्रतिभाशाली व्यक्तियों को हिन्दू जाति से सच्चे धर्म-तत्त्व के प्रचार का अवसर मिलता तो इसकी अब तक कितनी प्रगति हो सकती थी ।

प्राचीन काल में ब्राह्मणों को समाज का नेतृत्व दिया गया था । वेदों के 'राष्ट्रगीत में स्पष्ट कहा गया कि "हम पुरोहित ही राष्ट्र के अगुआ और उसे प्रगति मार्ग पर चलाने वाले है ।" पर गत हजार वर्षों में तो अधिकांश ब्राह्मणों ने देश और समाज को डुवाने के सिवाय धर्मरक्षा की दृष्टि से कोई महत्त्वपूर्ण काम किया नही । जिस समय आततायी मुसलमान आक्रमणकारी छाती पर चढ़ आये तब भी वे होश में नहीं आये । उन वर्बर लोगों ने बड़े-बड़े मन्दिरों और भगवान की मूर्तियों का विध्वंस कर दिया, पर वहाँ के पंडा-पुजारियों ने अन्तिम समय तक यह नहीं कहा कि जो लोग भगवान मे श्रद्धा रखते है, रामकृष्ण, शिव, दुर्गा का नाम लेते हैं, वे सब एक होकर धर्मस्थानों की रक्षा करे । इसके विपरीत उच्च वर्ण के कहलाने वाले कितने ही स्वार्थियों ने तो अपने लाभ की दृष्टि से विधर्मियों को तरह-तरह से सहयोग भी दिया । ऐसी दशा में हम नामदेव जैसे महापुरुषो की प्रशसा क्यों न करें जिन्होने जनता को जागृत, संगठित और उत्साहित करके धर्मरक्षा का प्रयत्न किया । अहंकारी और स्वार्थी पण्डे-पुजारियों ने तो उनको अपने स्वार्थ-साधन मे बाधक समझकर हर तरह से गिराने, नीचा दिखाने की चेष्टा की पर वे सब तरह के अपमान, कष्ट और हानि सहकर भी धर्म-प्रचार में लगे रहे । नामदेव और उनका विरोध करने वाले ब्राह्मणों की तुलना करने पर हम महाराष्ट्र के महान सन्त एकनाथ के शब्दों में यही कहेंगे—

हो का वर्णामाजी अग्रणी । जो विमुख हरिचरणीं ।
त्याहूनि श्वपच श्रेष्ठ मानी । जो भगवद्भजनी प्रेमळु ।

*(एकनाथी-भागवत ५-६०)*

अर्थात्—"चाहे कोई व्यक्ति सबसे ऊँचे वर्ण का क्यो न हो, पर वह भगवान से विमुख हो तो उसकी अपेक्षा भगवत् भजन करने वाला चाण्डाल भी श्रेष्ठ है ।"

## पंजाब में धर्म प्रचार

पूर्व-पश्चिम भारतवर्ष की यात्रा करके और हिन्दू जनता की दशा का निरीक्षण करके नामदेव के विचारों में बड़ा परिवर्तन हो गया । उस समय उत्तर भारत में मुसलमानों का काफी दौर-दौरा हो गया था । वे हिन्दुओं के धर्म स्थानों को तोड़ रहे थे और लाखों लोगों को तलवार के जोर से मुसलमान बना रहे थे । इन बातों को नामदेव ने अपनी आँखों से देखा और तब लिखा—

देव दगडाचा-एसे—देव तेही फोडिले तुरकीं ।
घातले उदकीं बोभातीना । ऐसी दैवतें नको दावू देवा ॥
*(नाम. गा. १३८६)*

अर्थात्—"पत्थर के देवताओं को मुसलमानों ने तोडा-फोड़ा और पानी में डुबो दिया । तब भी वे उन पर क्रोध नहीं करते । हे भगवान ! मैं ऐसे देवताओं के दर्शन नहीं करना चाहता ।"

इस स्थिति को देखकर नामदेव ने धर्म-प्रचार का कार्य उस जगह करना ज्यादा आवश्यक समझा जहाँ धर्म पर आघात हो रहा था और जनता त्रस्त तथा भयभीत होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गई थी । अतएव तीर्थयात्रा से वापस आकर और ज्ञानदेव के समाधि ले लेने पर नामदेव फिर उत्तर भारत में चले आये । उस समय तक दक्षिण भारत में मुसलमान बहुत कम पहुँचे थे, इसलिये वहाँ नामदेव के प्रचार कार्य का ढंग अलग था । पर पंजाब मे उस समय मुसलमानों का अधिक प्रावल्य था और हिन्दू उनसे पूरी तरह हार कर उनके मजहब की तरफ आकर्षित हो रहे थे । इस कारण नामदेव वहाँ सगुण के बजाय निर्गुण सिद्धान्त का प्रतिपादन करने लगे । उन्होंने कहा—

हिन्दू पूजै देहुरा मुसलमान मसीत ।
नामे सोई सेविया जह देहुरा न मसीत ॥

पंजाब में नामदेव को अच्छी सफलता मिली । पंजाब की जनता आरम्भ से ही कुछ स्वतन्त्र विचारों की और जात-पाँत तथा छुआछूत को कम महत्त्व देने वाली थी, इसलिये वह शीघ्र ही नामदेव की अनुयायी बनने लग गई । पन्द्रह वर्ष पजाब में रहकर और लाखों व्यक्तियों को अपने पथ में दीक्षित करके नामदेव तब पंढरपुर लौटे जब वे बहुत अधिक वृद्ध हो गये थे । पर पजाब मे उन्होंने जो काम किया उसका परिणाम स्थायी हुआ और वहाँ अब भी उनके बहुसंख्यक अनुयायी पाये जाते हैं । सम्भवतः गुरु नानक ने भी उनकी 'वाणियों' से प्रेरणा लेकर जात-पाँत और ब्राह्मणों के आधिपत्य से मुक्त एक नये समाज की स्थापना का विचार किया हो । इस सम्भावना का आधार यह है कि सिखों के 'गुरुग्रन्थ साहब' में नामदेव की बहुत-सी 'वाणियाँ' दी गई हैं, जिनमे 'राम नाम' भजने का उपदेश दिया गया है—

"गुरुमति राम नाम रहु मीता ।
प्रणवै नामा इउ कहे गीता ।"

पंजाब की जिन छोटी और हीन मानी जाने वाली जातियों ने नामदेव के उपदेशों को स्वीकार किया उनमें बहुत से क्षुद्र देवताओं की मान्यता प्रचलित थी । इसलिये नामदेव ने अपनी रचनाओं में 'भैरव, भूत, सीतला, भवानी' आदि का नामोल्लेख तो किया है, पर अन्त मे निष्कर्ष यही निकाला कि, "मन छोडि छोड़ि सगल भेद । सिमरि सिमरि गोविन्द । भजु नामा तरसि भवसिधं ।" श्री शंकर पुरुषोत्तम जोशी नामक विद्वान ने इस सम्बन्ध मे बहुत खोज करके मराठी भाषा में 'पजाबाँतील नामदेव' नामक जिस ग्रन्थ की रचना की है उसके 'ग्रन्थ-साहेबातील नामदेवाची वाणी' शीर्षक अध्याय मे इस विषय पर प्रकाश डाला गया है ।

इस सब बातों पर विचार करके हम कह सकते हैं कि नामदेव जी केवल एक 'झाँझ बजाने वाले' कीर्तनकार ही नही थे वरन् एक सच्चे समाज सुधारक भी थे । जब उन्होंने महाराष्ट्र की भूमि को पुराण पन्थी कट्टर ब्राह्मणों के प्रभाव के कारण अपने सुधार कार्य के लिये अनुपयुक्त समझा तो वे पंजाब चले गये और वहाँ वह बीज बोया जिसने आगे चलकर समाज मे एक नई क्रांति उत्पन्न कर दी । देश की वर्तमान अवस्था को देखकर यही कहा जा सकता है कि पंजाब ही एक ऐसा प्रान्त है जहाँ 'जात-पाँत' और 'ब्राह्मणवाद' को सबसे अधिक धक्का लगा है और उसकी जड़ प्राय: उखाड़ दी गई है । गुरु नानक और गुरु गोविन्द सिंह के अतिरिक्त इसका श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वे श्रीनामदेव जी ही हैं । भारतवर्ष के सामाजिक विकास मे रोड़े की तरह सिद्ध होने वाली इन प्रवृत्तियों के निराकरण करने का प्रयत्न करना

निःसन्देह देश और समाज की एक बहुत बड़ी सेवा है जिसके लिये नामदेव जी हमारी श्रद्धा और पूजा के अधिकारी हैं ।

अब नामदेव महाराज ८० वर्ष के हो चुके थे । जन्म भर परमार्थ मार्ग में अनेक कष्ट सहने से देह भी अधिक जीर्ण हो गई थी । इसलिये उन्होंने जीवित ही समाधि लेने का निश्चय किया और आषाढ़ वदी १३ सम्वत् १४०७ के दिन हजारों भक्तों के सम्मुख बड़े समारोह के साथ पाण्डुरंग के मन्दिर-द्वार पर ही समाधि लेकर भगवान से जाकर मिल गये ।

# नीच और दलितों को अपनाने वाले : गुरु नानक

गुरु नानक के सम्बन्ध मे एक बहुत मशहूर किस्सा यह है कि जब वे हरिद्वार में हरि की पौड़ी पर स्नान करने गये तो उन्होने देखा कि अनेक व्यक्ति पूर्व की तरफ मुँह करके सूर्य को जल चढ़ा रहे हैं । यह देखकर नानक जी ने अपना मुँह पश्चिम की तरफ कर लिया और उसी तरफ लोटे मे जल भर कर डालने लगे । लोगों ने समझा कि यह साधु दिशा का ज्ञान न होने से उल्टी तरफ जल दे रहा है, इसलिये कहने लगे "साधु बाबा ! पूर्व तो इधर है, आप पश्चिम में जल क्यों दे रहे हैं ?" नानक जी ने पूछा "आप लोग पूर्व मे जल क्यों देते हैं ?" किसी ने बतलाया कि हम तो सूर्य भगवान तथा अपने पितरो को जल दे रहे है । नानक बोले "मेरा गाँव पश्चिम की तरफ है और वहीं पर मेरे खेत है । इसलिये मैं इसी तरफ मुँह करके अपने खेतो मे जल दे रहा हूँ ।" लोग उनकी ना समझी पर हँसने लगे कि "वाह ! इतनी दूर से आप अपने खेतो को सींचना चाहते है ।" नानक बोले "भाइयो अगर आपका दिया हुआ जल आकाश में करोडो मील दूर स्थित सूर्य और पितृ-लोक तक पहुँच सकता है तो मै आशा करता हूँ कि मेरा दिया हुआ जल भी मेरे खेतों में पहुँच जायेगा क्योकि वह तो यहाँ से दो सौ कोस से भी कम है ।" सूर्य को जल देने वालो को अपनी गल्ती कुछ अनुभव तो हुई, पर परम्परा को इतने सहज मे कौन तोड़ सकता है ?

दूसरी घटना लोग यह बतलाते है कि जब गुरु नानक पश्चिमी देशों की सैर करते-करते मक्का जा पहुँचे तो रात के समय एक मस्जिद मे सो गये । जानकर या अनजान में उनके पैर उस दिशा में हो गये जिधर मुसलमानो का पवित्र कावा था । यह देखकर किसी मुल्ला ने उनको डाँट कर कहा—"तू तो बड़ा काफिर जान पड़ता है, जो खुदा की तरफ पैर करके सो रहा है ।" नानक जी ने बड़ी नम्रता से कहा—"मुल्ला साहब ! मैं परदेशी बुड्ढा आदमी हूँ, इसलिये दिशा का ज्ञान न होने से ऐसी भूल कर बैठा । अब आप ही महरवानी करके मेरे पैरो को उस दिशा में कर दे जिधर खुदा का घर न हो ।" नानक के इन मर्म वचनो को सुनकर मुल्ला बडे चक्कर मे पड़ गया, क्योकि "संसार में कौन-सी दिशा और स्थान ऐसा है जहाँ ईश्वर न हो । वह सिर नीचा करके वहाँ से चला गया ।"

ये दोनो घटनायें बतलाती है कि नानक उन पहुँचे हुए सन्तो में से थे जो केवल सत्य के सम्मुख ही नतमस्तक होते हैं । उन्होंने धर्म और परमात्मा के वास्तविक तत्त्व को समझ लिया था और वे किसी भी प्रकार के अन्धविश्वास को स्वीकार करने को तैयार न थे । यद्यपि वे हिन्दू परिवार में उत्पन्न हुए थे और आजन्म घर से उनका सम्बन्ध बना रहा, पर वे बहुत खुले विचारो के थे । उनको हिन्दुओं और मुसलमानो में जो दोष दिखाई दिये उनका निर्भयतापूर्वक वर्णन किया । वे बहुसंख्यक देवी-देवताओं को मानना लाभदायक नही मानते थे वरन् वेद के 'एकोऽहम् बहुस्यामि' सिद्धान्त के मानने वाले थे । उन्होने इस सम्बन्ध में कहा है—

> एक दू जीभऊ लख होय, लख होय लख बीस ।
> लख लख गेड़ा आखियै एक नाम जगदीस ॥

अर्थात्—"वह एक ही भगवान एक से दो हो जाता है, दो से लाख, लाख से बीस लाख और फिर

अरवों और खरबो हो जाता है । पर अन्त मे एक जगदीश ही सत्य है ।"

मक्का की यात्रा के समय जब मुसलमानों ने उनसे भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध मे प्रश्न किया तब भी उन्होंने ऐसा ही उत्तर दिया—

अव्वल अल्ला नूर उपाया कुदरत दे सब बन्दे ।
एक नूर ते सब जग उपजे कौन भले को मन्दे ॥

अर्थात्—"सबसे पहले परमात्मा ने एक प्रकाश उत्पन्न किया और फिर उसी प्रकाश से संसार के सब पदार्थ उत्पन्न हुए । इस दृष्टि से सब कोई एक ही परमात्मा के बन्दे हैं, उनमे किसी को छोटा बड़ा कहना व्यर्थ है ।"

साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया कि भगवान का पूरा रहस्य तो वह स्वयं ही जानता है । दूसरा कोई उसका ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर सकता—

तुमरी उस्तुति तुमते होई ।
नानक अवर न जानसि कोई ॥

## जन्म और बाल्यकाल

गुरु नानक का जन्म लाहौर के पास तलबंडी गाँव मे सन् १४६९ में हुआ था । उनके पिता कालूराम पटवारी एक सामान्य गृहस्थ थे और सरकारी कार्य के सिवाय कुछ खेती-बारी भी करते थे । नानक के जन्म और बाल्यकाल की कई चमत्कारी कथायें प्रसिद्ध है । जैसे गर्भ से बाहर आते ही वे अन्य बालकों की तरह रोने के बजाय हँसने लगे थे और जगल मे सोते हुए एक सर्प ने उनको धूप से बचाने के लिये अपना फन फैलाकर छाया कर दी थी । हम इन बातों को अधिक महत्त्व नहीं देते, क्योंकि हमारी दृष्टि में इन चमत्कारों की अपेक्षा वे सिद्धान्त कही उच्च है जिनका प्रचार उन्होंने अपने जीवन-काल मे किया और करोडो व्यक्तियों को एक ऊँचा और व्यावहारिक जीवन-मार्ग दिखाया ।

कुछ भी हो नानक जी की जीवन-साखियो के आधार पर उनका जो वृत्तान्त ज्ञात होता है उससे यही जान पड़ता है कि वे एक विशेष सस्कारी व्यक्ति थे, जिनको अन्य बालको के समान खेलने-कूदने को शौक न होकर भगवान तथा आध्यात्मिक विषयों की ही अधिक रुचि थी । श्रीरामकृष्ण परमहस की तरह वे पढे-लिखे तो बहुत सामान्य ही थे पर उनका आन्तरिक ज्ञान छोटी अवस्था से ही प्रकट होने लग गया था । जब एक पंडित ने उनको अक्षराभ्यास आरम्भ कराया तभी उन्होंने कहा कि ये 'क' 'ख' 'ग' आदि केवल अक्षर नही है बरन् इनमें परमात्मा की एकता तथा उसके स्वरूप का रहस्य समाया हुआ है । इसी प्रकार जब किसी मौलवी ने फारसी, अरबी पढ़ाने की चेष्टा की और इस्लाम की खूबियाँ समझाईं तब उनको भी ऐसा ही उत्तर दिया । वास्तव में उनका ध्यान पुस्तकों की तरफ बहुत कम जाता था, अधिकांश में वे भजन, चिन्तन, ध्यान की तरफ ही आकृष्ट रहते थे । उसी छोटी आयु में चाहे जब पास वाले जगल मे चले जाते और वहाँ के एकान्त वातावरण मे प्रभु का ध्यान करते रहते । कहा जाता है कि उस जंगल मे कभी-कभी उनकी भेंट ऐसे महात्माओ से हो जाती थी जो उनको आध्यात्मिक रहस्य समझाते थे और इस मार्ग में आगे बढ़ने का उपदेश देते थे ।

जब ये नौ वर्ष के हो गये तो पिता ने एक पंडित को बुलाकर कुल की परम्परा के अनुसार इनका यज्ञोपवीत संस्कार कराया । उस समय जनेऊ धारण करते समय उन्होंने पंडित से जो कुछ कहा उसका सारांश 'आसा दी वार' पुस्तक मे इस प्रकार दिया है—

दया कपाह संतोष सूत, जत गंढी सत बट्ट,
एह जनेऊ जीय का, है तो पांडे घत्त ।
न एह टूटे न मल लग्गे, न एह जले न जाई,
धन्य सु माणस नानक, जो गल चल्ले पाई ॥

अर्थात्—"दया को कपास बनाकर सन्तोष रूपी सूत काते, उस सूत को सत्य रूपी लपेट चढाकर संयम से सस्कार कर उसे पहने । पंडित जी ! मै तो ऐसा जनेऊ पहनना चाहता हूँ, जो न टूटे, न मैला हो, न जले, न अन्य प्रकार से नष्ट हो, जिसने इस रहस्य को जान लिया है वही इस संसार में धन्य है ।"

जब नानक जी का भजन-भाव बहुत बढ गया, यहाँ तक कि उनको प्रायः खाने-पीने का भी ध्यान नहीं रहता था, तब उनके माता-पिता को चिन्ता हुई । उन्होंने समझा कि पुत्र को कोई रोग हो गया है । इसलिये उन्होंने एक वैद्य से इनकी परीक्षा करके दवा देने को कहा । वैद्य जब नाड़ी देखने लगा तो नानकजी ने इस आशय का वचन कहा—

वैद बुलाया वैदगी पकड़ ढंढोले बाँह ।
भोला वैद न जानइ, करक कलेजे माँह ॥

अर्थात्—"मेरा इलाज करने के लिये वैद्य बुलाया है और वह हाथ पकड़ कर जाँच कर रहा है पर भोला वैद्य यह नहीं जानता कि पीड़ा तो हृदय मे है ।

## गुरु नानक का सच्चा दृष्टिकोण

इस प्रकार बाल्यावस्था से ही इनमें सत्य, अहिंसा, संयम आदि सद्गुण भरपूर मात्रा में पाये जाते थे और सांसारिक प्रपंचों से बहुत दूर रहते थे । पर साथ ही इनकी एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि अन्य "साधु महात्माओं" की तरह न तो इन्होंने संसार को छोड़ा और न उसकी निन्दा की । वर्तमान भारतीय समाज में 'बड़े महात्मा' का लक्षण यही समझ लिया गया है कि घर गृहस्थी को त्याग कर समाज से दूर वन या पर्वत में जा बैठे और संसार से कोई मतलब न रखे । पर यह विचार किसी प्रकार प्रशंसनीय या अनुकरणीय नहीं कहा जा सकता । मनुष्य को जो कुछ गुण या शक्ति प्राप्त होती है उसका श्रेय मुख्यतः समाज को ही होता है । बिना समाज की सहायता तथा सहयोग के न तो कोई जीवित रह सकता है, न ज्ञान प्राप्त कर सकता है । अगर मनुष्य शास्त्रों और ग्रन्थो द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, तो वे भी समाज की देन हैं और यदि विद्वान तथा ज्ञानियों के सत्संग से उन्नति करता है तो वे भी समाज के ही अंग हैं । इसलिये किसी प्रकार की सामर्थ्य या शक्ति प्राप्त करके एकान्त मे जा बैठना और उसका उपयोग समाज के हित के लिये न करना स्पष्टतः अपने कर्त्तव्यपालन से विमुख होना ही है । नानक जी ने अपनी वाणियों में इस तथ्य को अनेक स्थानो पर स्पष्ट किया है—

जोग न खिंथा जोग न डण्डे जोग न भसम चढ़ाइये ।
जोग न मुँदी मुंड़ाइये जोग न सिंगी वाइये ॥
अंजन माहि निरंजन रहीये जोग जुगति तउ पाइये ।

अर्थात्—"भगवा कपड़ा पहन लेने, दण्ड धारण कर लेने, भस्म लपेट लेने, मूँड़ मुड़ा लेने, शख बजाने से जोग नहीं हो सकता । ये सब योग के बाह्य उपकरण है । सच्चा योग तो वह है जब मनुष्य माया मे सम्पर्क में रह कर भी उससे अलग—अप्रभावित रह सके ।" घर-बार छोड़ के सुनसान वन मे जा बैठने से योगी की निर्लिप्तता का कोई प्रमाण नही मिलता । क्योंकि जब किसी प्रकार की प्रलोभन की सामग्री ही सम्मुख न हो तब त्यागी और संयमी रह सकने का अधिक महत्त्व नहीं माना जा सकता ।

इस सम्बन्ध मे परमहंस देव श्री रामकृष्ण का उदाहरण बड़ा प्रभावशाली है । जब वे २३ वर्ष के थे तब माता-पिता के कहने से उन्होंने एक छोटी कन्या से विवाह कर लिया । बाल्यावस्था में वह प्रायः अपने माता-पिता के यहाँ ही रहती थी । पर जब वह १८ वर्ष की हुई और उसने अनेक लोगों को यह कहते सुना कि रामकृष्ण तो पागल हो गये हैं, तो वह घर से कलकत्ता चली आई और परमहंस जी के साथ दक्षिणेश्वर के बगीचे में ही रहने लगी । वह पत्नी की तरह उनके साथ ही सोती थी, पर परमहंस देव के मन में एक दिन भी विकार उत्पन्न न हुआ । परमहंस देव का स्वर्गवास हो जाने पर जब कुछ शिष्य उनका अनुकरण करने की चर्चा कर रहे थे तो स्वामी विवेकानन्द ने उनसे कहा—"तुम गुरुजी का अनुकरण क्या कर सकोगे ?' न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी । अरे ऐसा कौन है जो नवयुवती पत्नी के साथ वर्षो तक एक शय्या पर शयन करता रहे और फिर भी काम-विकार से बचा रहे । यह सांसारिक मनोवृत्ति रखने वाले साधकों के बस की बात नही है ।"

यही बात गुरु नानक की नारी सम्बन्धी युक्तियों से प्रकट होती है । भारतीय सन्तों मे से अधिकांश ने नारी की निन्दा ही की है और उसको परमार्थ का विरोधी और नरक का द्वार बतलाया है । कबीर जैसे स्वतन्त्र चिन्तक ने भी "कामिनि काली नागनी तीनों लोक मँझारि" कह कर उसे सर्पिणी के समान बतलाया है । यह भी कहा कि "नारी सेती नेह, बुधि विवेक सब ही हरे" अर्थात् नारी का सम्पर्क बुद्धि विवेक का नष्ट करने वाला है । गोस्वामी तुलसीदास जैसे महान भक्त ने भी कहा है—

सुनि मुनि कह पुराण श्रुति सन्ता ।
मोह विपिन कह नारि बसन्ता ॥
जप तप नेम जलश्रय झारी ।
होई ग्रीषम सोखइ सब वारी ॥

इस प्रकार उन्होने स्त्री को पुरुष के धर्म-कर्म, आध्यात्मिक साधन को नष्ट करने वाली बतलाया है । मध्यकाल की यह विपरीत परम्परा अभी तक चली आ रही है और अधिकांश 'साधु सन्त' कहने वाली स्त्री

को संसार का बन्धन बतला कर अपमानित और लांछित ही करते रहते हैं ।

उस घोर नारी-निन्दक युग में रहते हुए भी गुरु नानक ने नारी के सम्बन्ध में इस प्रकार की बात कभी नहीं कही, वरन् जगह-जगह महत्त्व को ही स्वीकार किया है—

"सो किउँ मन्दा आखीऐ जिस जम्मे राजान ।"

अर्थात्—'उस नारी को किस लिये बुरा कहा जा सकता है जो बड़े-बड़े राजाओं (महान पुरुषों) को जन्म देती है ।' आगे चलकर भी उन्होंने मिष्ट-भाषिणी, सदैव पति का ध्यान रखने वाली, विनम्रता पूर्वक व्यवहार करने वाली सुहागिन स्त्री को धन्य बतलाया है । उन्होंने कहीं भी 'योग और वैराग्य' के नाम पर स्त्री पुरुषों को गृहस्थ धर्म छोड़ने का उपदेश नहीं दिया, वरन् प्रत्येक व्यक्ति को कर्म-वीर और उद्योगी बनने की प्रेरणा दी है । उन्होंने कहा कि आदर्श व्यक्ति वही है जो परिश्रम करके धन उपार्जन करता है और फिर उसे जरूरतमन्दों की सहायता में खर्च करता है—

घाल खाय किछु हत्थहुँ देहि ।
नानक राह पिछानहि सेई ॥

इसलिये लिये अठारह वर्ष की आयु में जब परिवार वालों ने आग्रह किया तो उन्होंने विवाह कर लिया । पर फिर भी उनका आध्यात्मिक जीवन ज्यो की त्यो रहा । वे प्रायः कई-कई दिन तक साधु सन्तों की संगत में रहकर घर भी नहीं जाते थे । इससे उनकी पत्नी को दुःख होता था । यह देखकर एक दिन उनकी बड़ी बहिन नानकी ने उनको बड़े प्रेम से समझाया कि "भाई, अब तुम घर-गृहस्थी वाले हो गये हो, इससे तुम्हें अब घर पर ही रहना चाहिये और वंश की वृद्धि करके बहू को सन्तोष देना चाहिये । नानक जी इस बात को मानकर घर पर रहने लगे और कुछ वर्षों में उनके दो पुत्र—श्रीचन्द्र और लक्ष्मीचन्द्र हुए । इनमें श्रीचन्द्र ने सिख-धर्म के 'उदासी' सम्प्रदाय की स्थापना की और लक्ष्मीचन्द्र ने घर की व्यवस्था को सँभाल कर समृद्धि को बढ़ाया । अपने पिता के मरने पर नानक जी ने पूर्वजों की सब सम्पत्ति दोनों पुत्रों में बाँट दी और स्वयं सांसारिक प्रपंच से दूर ही बने रहे ।

यही बात और भी सन्तों के सम्बन्ध में देखने में आती है । तुकाराम ने पिता की सब सम्पत्ति किसी न किसी प्रकार दूसरों को दे डाली, जिससे उन्हें बहुत वर्षों तक आर्थिक कष्ट और कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ीं । अन्य महापुरुषों के सम्बन्ध में भी प्रायः देखने में आता है कि उनको जब कोई व्यापार व्यवसाय करना पड़ा तो उसमें असफलता ही मिली । वास्तव में ऐसे लोगों का लक्ष्य संसारी लोगों से भिन्न ही रहता है, इसलिये या तो और लोग उनको ठग लेते हैं या वे स्वयं ठग जाते हैं । इसलिये नानक के पिता ने उनको जिस किसी काम में लगाना चाहा, उसी में कोई न कोई अड़चन उपस्थित हो गई । जब उसने उनको खेत की रखवाली करने को कहा तो उन्होंने स्वयं ही यह कर पक्षियों को खाने के लिये बुला लिया—

राम दी चिड़िया राम दा खेत ।
छक्को चिड़ियो भर-भर पेट ॥

बात तो सच्ची थी और यही सच्चे, प्राकृतिक साम्यवाद का सिद्धान्त है । प्रकृति ने संसार में जो कुछ उत्पन्न किया है वह बिना किसी भेद-भाव के सब प्राणियों उपयोग के लिये ही है । पर इस सीधी-सादी सच्चाई को मनुष्य स्वीकार कब करता है ? वह तो प्रत्येक स्थान में दीवारें खड़ी करता, फाटक लगाता और ताला बन्द करता है । इसलिये अगर देखने वालों को उनका यह कार्य मूर्खतापूर्ण जान पड़ा हो तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ।

अतएव पिता ने उन्हें खेतो पर जाने से मना कर दिया । कुछ समय बाद कुछ रुपया देकर व्यापार करने को भेजा तो उन्होंने सब रुपया भूखे लोगों को खिला दिया क्योंकि उनकी दृष्टि में सबसे लाभदायक व्यापार यही था । पर पिता तो इस मूर्खता पर इतना रुष्ट हुए कि उन्होंने नानक जी की अच्छी तरह पिटाई की । यह देखकर बहन नानकी ने उनका भार अपने ऊपर लिया और अपनी ससुराल ले जाकर स्थानीय नवाब के मोदी-खाने में नौकर रखवा दिया ।

पर वहाँ भी नानक जी का निराला स्वभाव कायम रहा । वे दीन-दुःखी साधु-सन्तों की सहायता के लिये सदा प्रस्तुत रहते थे और उनके घर पर सदाव्रत-सा लगा रहता था । यह देखकर कुछ लोगों ने नवाब को सूचित किया कि नानक मोदी-खाने को लुटाये दे रहा है । पर जब किसी अधिकारी द्वारा जाँच की गई तब सौभाग्य से या दैवी-कृपा से हिसाब ठीक

निकला। इस पर नवाब कुछ शर्मिन्दा हुआ और नानक जी से नौकरी करने को कहता रहा। पर अब इन्होंने सांसारिक झंझट मोल लेना व्यर्थ समझा और गृह त्याग कर भटकती हुई मानवता को सत्यमार्ग का सन्देश देने को निकल पड़े।

गुरु नानक की जीवनी का यह अंश महाराष्ट्र के महान सन्त तुकाराम से बिल्कुल मिलता हुआ है। उन्होंने संसार में जितने व्यापार किये सब में अपनी परोपकारी मनोवृत्ति के कारण घाटा ही उठाना पड़ा। उनके घर मे लेन-देन का कार्य होता था। लेने को तो सब तैयार थे पर चुकाने को कोई न था। इसलिये अन्त मे उनका दिवाला ही निकल गया। और भी छोटे-मोटे अनेक रोजगार किये पर सब जगह कोई न कोई महायता माँगने वाला आ पहुँचा और उनकी समस्त जमा-पूँजी परोपकार में ही लगती चली गई। तुकाराम के माता-पिता तो छोटी अवस्था में ही गुजर गये थे, पर उनकी पत्नी जोरदार स्वभाव की थी और वह ऐसे कार्यों के लिये डाँटती-डपटती थी। पर वे अपना 'सुधार' न कर सके। अन्त में उन्होंने कर्जदारों द्वारा लिखे सब रुक्के पुर्जे और हिसाब-किताब के कागज नदी में बहा दिये और सदा के लिये रोजगार धन्धे से छुट्टी पा ली।

## गुरु नानक का भारत-भ्रमण

नानक जी लगभग तीस वर्ष की आयु मे सांसारिक बन्धन से मुक्त होकर भटकती हुई मानवता को सत्य-मार्ग का उपदेश देने निकल पड़े। उनका साथ दिया मरदाना नायक एक मुसलमान मीरासी ने जो उनके भजन गाते समय 'रबाब' बजाता था। इन दोनों से मिलकर ऐसा समा बँध जाता था कि राह चलते भी मुग्ध होकर सुनने लग जाते थे। एक तो हृदय से निकलने हुए सच्चे उपदेश और वे भी ऐसे आकर्षक रूप में रचे गये, बस नानक जी जहाँ गये वहीं बहुसंख्यक व्यक्ति उनके भक्त और अनुयायी बनते चले गये। नानक जी का वैराग्य दुनिया दिखाने का न था कि जटा, तिलक, माला आदि लगाकर किसी मन्दिर में बैठ जाते या किसी गुफा में बैठकर योगाभ्यास करने लगते है वे साधु हो जाने पर भी जन-समाज मे ही रहे और उनके सुख-दुःख में भाग लेकर उनका-सा ही जीवन बिताते रहे। वे जानते थे कि बहुत-सा बाह्य आडम्बर बना कर 'बड़े महात्मा' या 'सिद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हो जायें तो उससे कोई उद्देश्य पूरा न हो सकेगा। सामान्य जनता चाहे, उनको बहुत 'ऊँचा' अथवा "अलौकिक" समझने लगे पर तो भी वह उनका अनुकरण करने को तैयार नहीं हो सकते। इसके बजाय जब मनुष्य सब लोगों के साथ मिल-जुलकर रहता है, तो लोग धीरे-धीरे उसके जीवन से स्वयं ही सच्चाई की शिक्षा ग्रहण करते रहते हैं और उसके उपदेशो पर अमल करने को भी तैयार हो जाते है।

गुरु नानक ने देश और विदेशों की जितनी व्यापक यात्रायें की थी। उतनी अन्य किसी सन्त ने नहीं कीं। उन्होंने १५ वर्ष तक भारतवर्ष की चारों दिशाओं में सभी प्रमुख स्थानों की यात्रायें की और अन्त में अफगानिस्तान, ईरान, अरब और इराक तक हो आये। इससे उनको भारतीय समाज की गहरी जानकारी पैदा हो गई और जिन देशों के आक्रमण भारत पर हो रहे थे उनकी सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति को भी उन्होंने समझ लिया। इसी अनुभव के आधार पर वे सिख-समुदाय का ऐसा संगठन कर सके जो समयानुकूल था। हिन्दुओ में घुसे हुए जिन दोषों ने समाज को अस्त-व्यस्त और निर्बल बना रखा था, जैसे अछूत प्रथा, हजारों प्रकार की जातियाँ, हजारों ही प्रकार के देवी-देवता, दान के नाम पर निकम्मे लोगों का पालन, अनगिनती हानिकारक रस्म रिवाजें तथा रुढ़ियाँ, परस्पर विरोधी धर्मग्रन्थों, सम्प्रदायों तथा पूजा-उपासना पद्धतियो की भरमार आदि, इन सबको उन्होंने दूर हटा दिया। साथ ही एकेश्वरवाद को इतने स्पष्ट रूप में अपनाया कि कुछ लोगों को इस्लाम में जो विशेषता जान पड़ती थी उसकी भी पूर्ति हो गई।

इस प्रकार गुरु नानक ने एक ऐसे सुसंगठित, सुदृढ़ और परस्पर में समता तथा भाईचारे का भाव रखने वाले पंथ की नीव डाली जिसने हिन्दू समाज के सम्मुख उद्धार का प्रभावशाली उदाहरण उपस्थित कर दिया। उन्होंने स्वयं इन सब सिद्धान्तों का पालन किया और अपने संगठन के सब नियम इतने सरल और सर्वोपयोगी बनाये कि उनका अनुसरण कर सकना किसी के लिये कठिन न जान पड़े। आगे चलकर जब मुसलमानों का दौरात्म्य बढ़ा और औरंगजेब ने विशेष रूप से हिन्दू-धर्म को ध्वस्त करके इस्लाम को सर्वव्यापी बनाने

की चेष्टा की तो दशम गुरु गोविन्द सिंह जी ने उसे सैनिक-समुदाय के रूप में परिवर्तन कर दिया और उसने इस्लाम की बढ़ती हुई सर्वग्रासी लहर को रोकने में एक बहुत मजबूत बाँध का काम किया । इसका बीज नानक देव ही संगठन करके बो गये थे ।

## गुरु नानक की देशभक्ति और राजनीतिज्ञता

वैसे सामान्य दृष्टि से नानक देव एक ईश्वर प्रेमी और भक्ति-मार्ग के पथिक थे । उनके रचे हुए अधिकांश भजन और वाणियाँ भगवान की महानता को प्रकट करने वाली स्तुति और प्रार्थना के रूप में है । पर जब हम उन पर सूक्ष्म भाव से विचार करते हैं तो उनमें तथा मध्यकाल के अन्य भक्त कवियों में एक बड़ा अन्तर पाते हैं जहाँ उन सब कवियों की रचनाओं में हद दर्जे की हीनता, आत्म तिरस्कार और अपने इष्ट देव की कृपादृष्टि प्राप्त करने का ही भाव प्रकट होता है, वहाँ नानक जी ने अवसर मिलने पर ऐसी रचनायें भी की हैं जिनसे देश तथा समाज को तत्कालीन समस्याओं के प्रति उनकी जागरूकता प्रकट होती है । गत 'नानक जयन्ती' पर डॉ. महीप सिंह ने उनकी रचनाओं की जो जाँच पड़ताल की उससे विदित होता है कि वे केवल आध्यात्म-जगत अथवा वैकुण्ठ में बैठ कर आत्म सुख की अभिलाषा रखने वाले सन्त नहीं थे, वरन् अपने समाज की त्रुटियों और दोषों के एक निर्भीक और प्रबल समीक्षक थे । उस समय इस देश के हिन्दू राजाओं में हद दर्जे की भोग-लिप्सा तथा मातृभूमि के प्रति अकर्मण्यता का भाव आ गया था । विदेशियों और विधर्मियों का प्रतिरोध करने के बजाय वे अपनी स्वार्थ पूर्ति और रंगरेलियों में लगे रहते थे । यह देखकर गुरु नानक ने उनको बड़े रोषपूर्वक फटकारा—

राजा सिंह मुकद्दम कुत्ते—जाइ जगाइ बैठे सुत्ते ।
चाकर नहन्दा पाईन्ह घाउ—रत पितु कुतिहां चटि जाहु ।
जिथै जीआं होसी सार—नकी बड़ी लाइन वार ॥

अर्थात्—"वर्तमान समय के राजा शेर चीतों की तरह हिंसक हैं और उनके अधिकारी कुत्तों की तरह लालची है और निर्दोष जनता को अकारण ही पीड़ित करते रहते हैं । राजकर्मचारी अपने नाखूनों से जनता को घायल करते रहते हैं और उसका खून कुत्तों की तरह ही चाट जाते हैं । परलोक में जब इनकी जाँच की जायेगी तो उनकी नाक काटी जायेगी ।"

जब नानक जी विदेश यात्रा से लौटकर आये तो उसके कुछ ही समय पश्चात् भारत पर मुगलों का आक्रमण हुआ । बाबर के सैनिकों ने चारों तरफ तबाही पैदा कर दी और लोगों के धन, मान तथा इज्जत को मिट्टी में मिला दिया । उस भयंकर काल में भारतीय नारियों की दुर्दशा का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है—

जिन सिरि सोहनि पटियाँ माँगी पाई सन्धूर ।
से सिर काती मुनीअन्हि गल विच आवे धूड़ि ॥
महला अंदरि होदीआ हुणि बहणिन मिलन्ह हदूरि ॥१॥
जदहु सीआ बिआहीआ लाड़े सोहनि पासि ।
हीडोली चढ़ि आईया दंद खण्ड दीदे रासि ।
उपरहु पाणी वीरीऐ झले झनकनि पासि ॥२॥
इक लखु लहन्हि बहिठीआ लखु लहन्हि खडी आ ।
गरी छुहारे खाँदीआ माणन्हि से जडीआ ।
तिन्ह गलि सिलका पाईया तुरीन्ह मोत सरी आ ॥३॥
धनु जोवनु दुइ वैरी होए जिन्ही रखे रंगु लाइ ।
दूता नो फुरमाइया लै चले पति गवाई ॥

अर्थात्—"जिन स्त्रियों के सिर में सुन्दर पट्टियाँ शोभित होती थीं, जिनकी माँग में सिन्दूर भरा हुआ था, अत्याचारियों ने उनके केश काट डाले और उन्हें भूमि पर इस तरह घसीटा कि गले तक धूल भर गई । जो महलों में निवास करती थीं उनको अब बाहर बैठने को भी जगह नहीं मिलती । विवाहित स्त्रियाँ जो अपने पतियों के पास सुशोभित थीं, जो पालकियों में बैठकर आई थी, जिन पर जल न्यौछावर करते थे, जड़ावदार पंखों से हवा करते थे, जिन पर लाखों रुपये लुटाये जाते थे, जो मेवा मिठाई खाती थीं, सेजों पर सुख भोगती थीं, अब अत्याचारी उनको गले में रस्सी डालकर खींच रहे हैं और उनके गले की मोतियों की मालायें टूट गई है । अभी तक धन और यौवन ने उन्हें अपने रंग में रंग रखा था, अब वे ही दोनों उनके वैरी हो गये । सिपाहियों को आज्ञा मिली और वे उनकी इज्जत को लूट कर चले गये ।"

अपने देश के सम्पन्न वर्ग की उस कठिन समय में कैसी दुर्गति हुई उसकी एक झलक इस कविता में मिलती है । जब मनुष्य इस प्रकार विवश हो जाता है और अत्याचार का कुछ प्रतिकार नहीं कर सकता तो वह भगवान को उलाहना देने लगता है कि तुम

कैसे न्यायकारी और करुणासिन्धु हो जो संसार में ऐसा अन्धेरखाता मचवा रहे हो । इस भाव से प्रेरित होकर नानक जी ने लिखा—

> गुरासान खसमान कीआ हिन्दुस्तानु डराइआ ।
> आपै दोसु न देई करता जमु का मुगल चढ़ाइआ ।
> एती मार पई कर लणे तैं की दरदुन आइआ ।
> करता तू समना का सोई ।
> जो सकता सकते कउ मारे ता मनि रोसु न होई ।
> सकता सीहू मारे पै वर्ग खसमै सा पुरसाई ॥

अर्थात्—"हे भगवान ! बाबर ने खुरासान को बर्बाद किया पर तुमने उसकी रक्षा न की और अब हिन्दुस्तान को भी उसके आक्रमण से भयभीत कर दिया है । तुम स्वयं ही ऐसी घटनायें कराते हो, परन्तु तुम्हें कोई दोष न दे इसलिये तुमने मुगलों को यमदूत बनाकर यहाँ भेज दिया । सर्वत्र इतनी अधिक मारकाट हो रही है कि लोग त्राहि-त्राहि पुकार रहे हैं । पर तुम्हारे मन में इन निरीह लोगों के प्रति तनिक भी दर्द पैदा नहीं होता । हे भगवान ! तुम तो सभी प्राणियों के समान रूप से पालनकर्ता कहलाते हो फिर यदि एक शक्तिशाली दूसरे शक्तिशाली को मारे तो मन में रोष पैदा नहीं होता, परन्तु यदि शक्तिशाली सिंह, निरपराध पशुओं के झुण्ड पर आक्रमण करे, तो उनके स्वामी को कुछ तो पुरुषार्थ दिखाना चाहिये ।"

इस तरह परमात्मा को जोरदार उलाहना देकर नानक जी ने इस देश के प्रमुख शासकों तथा बड़े लोगों को भी फटकारा है कि तुमने अपने कर्त्तव्य को बिसरा दिया और भोग विलास में डूब गये उसी का नतीजा इस तरह भोग रहे हो—

> रतन विगाड़ विगोये कुतीं मुइआ सार न काई ।
> आगो देजे चेतीए तो काइतु मिलै सजाइ ।
> शाहां सुरति गवाईआ रगि तमासै चाइ ।
> बाबर वाणी फिरि गई कुइरा न रोटी खाई ।
> इकना वखत खुआई अहि इकन्हा पूजा खाई ।
> चउके विणु हिंदवाणीआ किउ टिके कढहि नाइ ।
> राम न कबहू चेतिओ हुणि कहणि न मिलै खुदाई ।

अर्थात्—"इन नीच कुत्तो (विलासी शासकों) ने रतन के समान इस देश को बिगाड़ कर रख दिया । इनके मरने के बाद कोई इनकी बात भी न पूछेगा । अगर ये पहले से ही सावधान हो जाते तो हमको ऐसी सजा क्यों मिलती ? पर यहाँ के शासक तो सदा रंग-तमाशों में ही डूबे रहे, उन्हें अपने कर्त्तव्य का ध्यान ही न था । नतीजा यह हुआ कि इस समय चारों ओर बाबर की दुहाई फिर गई है, किसी को रोटी तक खाने को नहीं मिलती । मुसलमानों (पठानों) की नमाज का समय जाता रहा और हिन्दुओं की पूजा छूट गई । अब चौके के बिना हिन्दू स्त्रियाँ किस प्रकार अपनी पवित्रता की रक्षा करेंगी ? जिन्हे कभी राम शब्द भी याद नही आया था अब वे आक्रमणकारियो के भय से खुदा को याद करना चाहते है, परन्तु जालिम लोग उनको खुदा भी नही कहने देते ।"

खेद का विषय है कि इस प्रकार की जिल्लत उठा कर और अमानुषी दण्ड सहन करके भी हिन्दुओं की आँखें नहीं खुलीं । उसके पश्चात् भी मानसिंह, जयसिंह, यशवन्तसिंह आदि प्रमुख राजपूत नरेश मुगल बादशाहों के अनुचर बनकर अपने ही भाइयों को पराधीन बनाने का पाप-कर्म करते रहे । उसके बाद जब अंग्रेज आये तब भी हिन्दुओं ने ही उनके सहायक बनकर शासन-कार्य में हर तरह से सहयोग दिया और आज के दिन इस जाति की पारस्परिक फूट, मत-विरोध, कर्त्तव्यहीनता स्पष्ट दिखाई पड़ी है । वह तो इस समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति बदल गई है, नही तो हमारे कर्म तो अब भी ऐसे ही हैं कि कोई भी बड़ी विदेशी शक्ति हम पर आक्रमण करके पठानों और मुगलों की तरह ही चोटी पकड़कर जमीन पर घसीटे और मनमाने ढंग से बेइज्जत करे और आश्चर्य तब होता है जब इतनी नालायकी पर भी लोग बेशर्मी से अपने को महान, श्रेष्ठ, पुण्यात्मा, धर्मात्मा कहने में संकोच नहीं करते । हिन्दू-जाति की इसी हेय मनोवृत्ति को देखकर अब से लगभग आठ-नौ सौ वर्ष पहले विदेशी इतिहासकार 'अलबरूनी' ने भारत भ्रमण करके अपना अनुभव इस प्रकार लिखा था—

"हिन्दू लोग समझते है कि उनके देश जैसा दूसरा देश नही, उनके राजा जैसा दूसरा राजा नही, उनके धर्म जैसा दूसरा धर्म नहीं । यदि तुम खुरासान तथा ईरान के शास्त्रों तथा विद्वानो के सम्बन्ध में उनसे बात-चीत करोगे, तो वे तुमको मूर्ख ही नही मिथ्यावादी भी समझेंगे । यदि वे विदेशों की यात्रायें करे, दूसरों

से मिलें-जुलें तो उनकी यह प्रवृत्ति नहीं रहेगी, क्योंकि उनके पूर्वज ऐसे नहीं थे ।"

क्या हम आशा करें कि समझदार हिन्दू अब भी अपनी इस त्रुटि को समझेंगे और जब तक दोषों को त्याग कर अपने को वास्तव में एक जीती जागती जाति न बना लेंगे तब तक पूर्वजों की कीर्ति के आधार पर व्यर्थ गाल बजाना छोड़ देंगे ? गुरु नानक ने उसी समय इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लिया था । यद्यपि सम्राट-बाबर स्वयं उनमें श्रद्धा रखता था और उनसे आशीर्वाद माँगता था, पर फिर भी उन्होंने इस देश के शासकों को उनकी नामर्दी और स्वार्थपरता के लिये बहुत फटकारा—

> कहा सु खेल तवेले घोड़े कहा भेरी सहनाई ।
> कहा सु तेगबंद गाडेरड़ि सु लाल कवाई ।
> कहा सु आरसीआ मुँह बके ऐ थ दिसहि नाही ।
> रहा सु घर दर मंडप महला रहा सुबंक सराई ।
> कहा सु सेज सुखाली कामणि जिसु वेखु नींद पाई ।
> कहा सु पान तंबोली हरया होइओ छाई याई ।

अर्थात्—"तुम्हारे वे खेल तमाशे, घोड़ों से भरे तवेले, वे भेरियाँ और शहनाइयाँ कहाँ चली गईं । वे तलवारें, रथ और चमकीले वस्त्र कहाँ गये ? तुम्हारे दर्पण और उनमें दिखाई पड़ने वाले बाँके चेहरे अब क्यों नही दिखाई पड़ते ? तुम्हारे वे सुन्दर घर, दरवाजे, मण्डप, महल, सुख देने वाली सेज और वह कामिनी जिसे देखकर रात में नींद भी नहीं आती थी वे सब किस तरफ चले गये ? पान, ताम्बूल देने वाली हरम (जनाना महल) में भरी तमाम औरतें अब कहाँ है ?"

नानक देव की वह विशेषता बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने राष्ट्र तथा समाज की त्रुटियों को गहरी नजर से देखा और उनके सम्बन्ध में इतने आवेश के साथ अपने देशवासियों को ललकारा । अन्य सन्तों ने अगर कहीं लोगों की दुर्दशा की चर्चा भी की है तो उसे भाग्य या भगवान की अप्रसन्नता का परिणाम कह कर लोगों को केवल भगवद्भक्ति की प्रेरणा दी है । पर नानक जी ने इस समस्या के प्रत्यक्ष कारणों पर विचार किया और इसके लिये अपने भाइयों को ही दोषी ठहराया । उन्होंने कहा कि जब तुम अपने कर्त्तव्य का पालन, पीड़ितों की सेवा, जनता के लिये न्याय का व्यवहार आदि ईश्वरीय आदेशों की अवहेलना करके ही राग-रंग में ही जीवन बिताने लगे तो उसका दण्ड तुमको भोगना ही पड़ेगा । ईश्वर भी तुमको इसके लिये क्षमा नहीं कर सकता क्योंकि वह न्यायकारी है । इसलिये धन, जन, महल, किला, रूप, यौवन आदि का कभी अभिमान न करो, ये चाहे जब देखते-देखते नष्ट-भ्रष्ट हो सकते हैं, जैसे इस समय बाबर के सिपाही ऊँची पदवी धारी नर-नारियों की दुर्गति कर रहे हैं । इसलिये सँभलो, होश में आओ और कुमार्ग से हटकर ईश्वरीय सत्मार्ग का अवलम्बन करो । ईश्वर की राह पर चलने वाले को न कभी रोना पड़ता है न पश्चात्ताप करना पड़ता है ।

## गुरु नानक की दार्शनिक विचारधारा

गुरु नानक का जन्म हिन्दू परिवार में हुआ था और आरम्भ में उन्होंने सन्त महात्माओं से जो उपदेश सुने थे वे हिन्दू शास्त्रों, वेद, पुराणों आदि पर ही आधारित थे । इसलिये अपने आगामी जीवन में भी उन्होंने जो कुछ उपदेश दिये, ईश्वर, सृष्टि, जीवन, मृत्यु के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त बतलाये वे भारतीय धर्म के ही अनुकूल थे । पर वे कबीर तथा सूफी शेख फरीद के एकेश्वर के प्रतिपादन से भी काफी प्रभावित हुए थे । इसके अतिरिक्त गुरु गोरखनाथ के हठयोग का साधन करने वाले अनुयायियों तथा जैन और बौद्ध धर्म के आचार्यों के सम्पर्क में भी वे रहे । इसलिये उनके धार्मिक सिद्धान्तों का आधार मुख्य रूप से वेदान्त दर्शन रहने पर भी उसमें जैन, बौद्ध, हठयोग, इस्लाम की विचारधारायें भी न्यूनाधिक रूप में शामिल हो गई । खास कर उस पठान-शासन के युग मे पंजाब में मुसलमानी सिद्धान्तों का प्रभाव काफी बढ़ गया था । मुस्लिम शासकों ने तलवार के जोर से तो अपना धर्म फैलाया ही था, पर अनेक मुसलमान विद्वानों तथा सन्तों ने हिन्दुओं के बहुदेववाद के मुकाबले में अपने एकेश्वरवाद की श्रेष्ठता भी सिद्ध की थी, जिसका असर जनता के एक भाग पर पड़ रहा था । नानक जी की भेंट जब पंजाब के सूफी-सन्त शेख इब्राहीम से हुई तो उन्होंने इनका आधा हिन्दू और आधा मुसलमान जैसा वेश देखकर—"महाराज ! एक तरफ हो जाओ, दो किश्तियों पर क्यों पैर रखते हो ?" नानक जी ने फर्माया—"इसमें क्या हर्ज है, मनुष्य को दोनों नावों पर सवार होकर सन्तुलन बनाये रखना आना चाहिये ।

दीन और दुनिया दोनों एक साथ निभाई जा सकती है यदि हृदय में सच्चाई हो ।"

गुरु नानक सत्य के पुजारी थे और उन्होंने धर्म का विवेचन करने के लिये जो कुछ कहा है वह आडम्बर युक्त वचनों और वाक्छल से रहित है । उन्होने स्पष्ट कहा है कि धर्म के विषय में लम्बी-चौडी बातें करने से कोई लाभ नही । सिद्धान्त वही सच्चा और ठीक माना जा सकता है जो व्यवहार मे लाया जाये । उन्होंने कहा—

सोचइ सोचन होवइ जे सोची लख वार ।
चुप्पे चुप्पे न होवई जो लाये रवां लिवतार ।
भुखयां भुख्खन न उतरी जे बन्नां पुरियां भार ।
किव सचयारा होवियी किव कूड़े तुट्टे पाल ।
हुकम रजाई चल्लना नानक लिखया नाल ॥

अर्थात्—"केवल विचार करने से कोई बात पूरी नहीं हो सकती चाहे लाख बार सोचते रहो । इसी प्रकार प्रकट मे जैसे शान्ति रहने से भीतरी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती । केवल 'भूख-भूख' मुख से कहने से भूख नहीं मिट सकती चाहे पास पूरियों से भरे टोकरे क्यों न रखे रहें । इसी प्रकार तुम यदि सत्यधर्मी बनना और असत्य से बचना चाहते हो तो उसका एक मात्र उपाय यही है कि निरन्तर ईश्वर के आदेश का पालन करते रहो—उसी के दिखाये मार्ग पर सदा चलो ।"

चाहे कोई पूजा-पाठ, जप-तप, योग आदि कितनी भी करिये पर नानक जी की दृष्टि में यदि वह लोगों का उपकार—पीड़ितों की सेवा नहीं करता तो वह सब महत्वहीन है । वे तिब्बत तक गये थे और हिमालय के दुर्गम प्रदेशों में पहुँचकर सिद्ध योगियो से भेंट की थी । उन सिद्धों से भी उन्होने यही कहा कि—"आप तो यहाँ मोक्ष की साधना मे लीन हैं, और वहाँ संसार की दशा यह है कि समय के समान घातक हो रहा है । शासक गण कसाई बन गये है । धर्म पख लगाकर उड़ गया है, चारो तरफ झूठ की काली रात छाई हुई है, उसमें सच्चाई का चन्द्रमा कहीं दिखाई नहीं देता है ।"

नानक जी भगवान के विराट रूप के उपासक थे इसलिये उन्हें संसार के सब पदार्थ और प्राणी भगवान के रूप में ही दिखाई पड़ते थे । जब हम सब उसी एक अनादि-तत्त्व के अंश है तो आपस मे लड़ाई-झगड़ा, ईर्ष्या-द्वेष कैसा ? जगन्नाथ जी पहुँचने पर उन्होंने मन्दिर के सम्मुख भगवान की जो आरती उतारी थी वह देखिये कैसी सच्ची प्रेरणादायक है—

गगन में थाल रविचन्द दीपक बने
तारिका-मंडल जनक मोती ।
धूप मलिआनलो पउणु चवरो करे
सगल बनराइ फूलंत जोती ।
कैसी आरती होई भवखण्डना तेरी आरती
अनहता सबद बाजंत भेरी ॥

अर्थात्—"उस भगवान की आरती के लिये इस अवकाश रूपी थाल में सूर्य और चन्द्रमा दो दीपकों की तरह प्रकाशित हैं । तारागण मोती के समान चमक रहे है । मलयदानल सुगन्ध फैला रहा है और वायु चँवर कर रही है । वनों में फूले हुए समस्त फूल उसके भेंट स्वरूप है और अनह नाद शंख अथवा भेरी की तरह बज रहा है । यही उस भगवान की सच्ची आरती है ।"

## गुरु नानक का व्यावहारिक अध्यात्मवाद

गुरु नानक ने जब समाज को अनेक भागों में बँटा देखा तो अनुभव किया कि इसके कारण ही हिन्दू जाति निर्बल होकर दूसरो की ठोकरें खा रही है । उन्होने यह भी देखा कि पुजारी-पंडित वर्ग ने धर्म पर एकाधिकार किया हुआ है और वे धार्मिक संस्कारों का कराना अपनी बपौती समझकर मुफ्त का माल उड़ा रहे हैं । इसी वर्ग ने अपने स्वार्थ साधन के लिये जनता को राजनैतिक और सामाजिक चेतना से हीन बना दिया था जिससे वह देशी और विदेशियो के तरह-तरह के अन्यायों को मूक बनकर सहन कर रही थी ।

इस तरह नानक जी ने जब समाज के रोग को पहिचान लिया तो उन्होंने एक ऐसा संगठन बनाने का निश्चय किया जिसमें धर्म को व्यापार की चीज न बनाया जाये और जिसमे धार्मिक और जातीयता की दृष्टि से किसी को छोटा बड़ा न माना जाये । इसलिये उन्होने पृथक-पृथक पूजा-उपासना के स्थान पर सामुदायिक उपासना का प्रचलन किया । इसमें सब कोई एक जगह एकत्रित होकर सृष्टिकर्ता भगवान की स्तुति और गुणगान करते थे । इस उपासना मे भेट-पूजा,

चढ़ावे या किसी एक व्यक्ति के लाभ का कोई सवाल न था। इसमें जाति की दृष्टि से ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष, तथा विभिन्न धर्मों का भी भेद नही किया जाता था। सब कोई मिलकर एक जगह बैठते थे और गुरु जी के सत्य-धर्म उपदेशों को सुनते थे।

उन्होंने अपने इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने का दूसरा कार्य यह किया कि सब लोगो का खाना एक साथ बने और सब एक ही पंगत में बैठकर भोजन करे। चौके-चूल्हे की पृथकता ने भी हिन्दुओं में भेदभाव की अनेक दीवारें खड़ी कर दी थीं। कौन किसके हाथ का खा सकता है और किसके हाथ का नहीं खा सकता इसका जंजाल इतना अधिक बढ़ा दिया था कि हिन्दुओं में प्रायः 'आठ कनौजिया नौ चूल्हे' वाली कहावत चरितार्थ होने लगी थी। गुरु नानक ने अपने यहाँ लंगर-प्रथा प्रचलित करके इसकी जड़ ही काट दी। वे इस सम्बन्ध में कहाँ तक दृढ़ रहते थे, इसकी एक घटना इस प्रकार बतलाई जाती है—

एक बार किसी उत्सव के उपलक्ष्य मे भोज था। जब सब संगत मे उपस्थित जनो की पंगत बैठ गई और भोजन परोसा गया तो शिष्यों ने कहा "महाराज आरम्भ कीजिये।" गुरु जी ने चारों तरफ नजर दौड़ाई और बोले "अभी नहीं, रोटी बनाने वाले तो आये ही नही।" जब वे आ गये, तब भी गुरु जी ने खाना शुरू नही किया और आँगन में झाड़ू देने वालो को दूर खड़ा देखकर कहा—उन्हे भी तो बुलाओ।"

यह घटना कर्तारपुर की है जहाँ वे अपनी अन्तिम अवस्था में निवास करते थे। उस समय का जिक्र करते हुए कहा गया है कि—"यही पर वे गुरु कहलाये और यहीं पर अपनी मान्यताओं को उन्होंने मूर्त रूप दिया। गुरु तो बन गये पर अहंकार, आडम्बर का नाम नहीं। बस, समझिये बड़े भाई की तरह रहने लगे। चढ़ावा-चढ़ने लगा सम्पदा एकत्रित होने लगी, पर नानक जी के लिये इसमे से एक पाई भी हराम थी। उन्होंने अपनी गुजर खेती-बाड़ी और मूँज की रस्सी बट कर की। कबीर, रैदास, गाँधी, नानक के अतिरिक्त बहुत थोडे ऐसे सन्त फकीर हुए है जो सिद्धि-सिद्धियुक्त होते हुए भी अपने दस नाखूनों की कमाई पर गुजर करना पसन्द करते थे और एक खास बात यह हुई कि अपनी वानप्रस्थ अवस्था में जब वे गुरु के समान पूजे जाने लगे तो नानक जी ने साधु के बजाय गृहस्थों का सा वेश धारण कर लिया। वे नहीं चाहते थे कि वे या उनके उत्तराधिकारी अन्य गुरु, साधुओं की वेशभूषा के कारण पूजनीय समझे जायें। वे गेरुआ वस्त्र और कंठी-माला, तिलक के आधार पर हिन्दू साधुओं की मान्यता होने का कुपरिणाम अच्छी तरह देख चुके थे।

यह है सच्चे अध्यात्म की कसौटी। दिन-रात जीवन, ब्रह्म, माया की गुत्थियों सुलझाते रहना, जगत को असत्य बतलाना, सबसे निराला वेश और रहन-सहन रखना, पर किसी का रत्तीभर भी उपकार न करके समाज के सिर पर अपने निर्वाह का भार डाल देना अध्यात्म का लक्षण नहीं है। इतना ही नहीं साधु-संन्यासी होकर आध्यात्मज्ञानी बनना और स्वयं निकम्मे रह कर गैर लोगों की कमाई पर आराम की, ठाट-बाट की जिन्दगी बिताने में भी ऐसे लोगो को लज्जा नही आती। गुरुनानक ने समझ लिया था कि यह नकली अध्यात्मवाद समाज के लिये अभिशाप सिद्ध हो रहा है और लोगों में अन्धविश्वास तथा झूठी श्रद्धा का एक बड़ा कारण बना हुआ है। इसलिये उन्होने अपने यहाँ पुजारी और झाड़ू देने वाले को पंथ में समानता का दर्जा देकर इस 'ठग विद्या' की जड़ ही काट दी।

इस सिद्धान्त की यथार्थता का एक उदाहरण हमको महात्मा गाँधी द्वारा प्रकट किये गये विचारो मे भी मिलता है। उनके साबरमती आश्रम मे एक सन्यासी कुछ देखने-सुनने को आये। उनको वहाँ की कार्य-प्रणाली और सिद्धान्त पसन्द आये और वे कहने लगे कि मेरी इच्छा है कि आपके आश्रम मे रह कर ही कुछ जन-सेवा का कार्य करूँ। गाँधी जी ने उत्तर दिया कि आपका विचार वैसे तो ठीक है, पर अगर आप आश्रम मे रहना चाहें तो आपको अपना यह गेरुआ वेश त्याग देना होगा। यह सुनकर संन्यासी जी चकराये और कुछ असन्तुष्ट भाव से कहने लगे—"मै गेरुआ वस्त्र कैसे त्याग सकता हूँ? मैने विधिवत् संन्यास ग्रहण करके इनको धारण किया है?" गाँधी जी ने उन्हें समझाया कि "आप इस वेश को धारण करके जन-सेवा का कोई कार्य नहीं कर सकते। इसे देखकर कोई आपसे सेवा कराने को तैयार नहीं होगा वरन् वह आपकी सेवा करना ही अपना धर्म मानेगा।" गाँधी

जी की बात उनकी समझ में आ गई और उन्होंने गेरुआ त्याग कर खादी के वस्त्र धारण कर लिये ।

वास्तव में आध्यात्मिकता न वेश से सम्बन्ध रखती है, न पूजा-पाठ से, न जप-तप से । इन सबको करते हुए मनुष्य एक नम्बर का पाखण्डी, आडम्बरी और स्वार्थ परायण हो सकता है । हमने निर्जन जंगलों और दुरूह पर्वतों में रहने वाले लगभग नंगे साधुओं को भी सामान्य बातों पर दूसरों से लड़ते देखा है । एकाध बार तो धूनी की लकड़ियों के सम्बन्ध में तकरार होकर ऐसे साधुओं में खून खराबी तक की नौबत आ गई । इसके विपरीत अन्य अनेक व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में रहते हुए, स्वयं अभाव सहन करके भी दूसरों की सहायता करते हैं । अवसर पड़ने पर प्राण तक देकर दूसरों की सेवा, बचाव करते हैं ।

नानक जी मानते थे कि भलाई, सज्जनता आदि का गुण मनुष्य में स्वभावतः होता है । पर वह अनुकूल स्थिति न पाने के कारण छिपा रहता है । सच्चे सन्तों, सद्गुरु का कर्तव्य है कि वह इस भलाई के तत्त्व से मनुष्य को परिचित कराये और उसके बढ़ाने में मदद करे । यही गुरु का सबसे बड़ा उपकार शिष्य पर होता है, जिसके लिये वह गुरु को भगवान के तुल्य समझकर पूजता है । पर यह कार्य सच्चे अध्यात्मवादी, निःस्वार्थी, निस्पृह गुरु ही कर सकते हैं और इसी में उनके अध्यात्मवादी का सच्चे या झूठे होने की परीक्षा हो सकती है ।

गुरु नानक के प्रचार का प्रभाव हिन्दू-समाज पर पड़ा, पर उसका प्रत्यक्ष परिणाम अधिकांश में पंजाब में ही देखने को मिला । हम कह सकते हैं कि जात-पाँत के बन्धनों, खान-पान में चौका-चूल्हे के नियमों और छुआछूत की बीमारी को सबसे अधिक पंजाब में ही त्यागा गया है । दक्षिण भारत में तो छूत-अछूत का प्रश्न आज भी एक समस्या के रूप में मौजूद है और वहाँ अब भी सामाजिक कारणों से अछूतों के मारे जाने के समाचार आते रहते हैं । उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, राजस्थान आदि हिन्दी भाषी प्रान्तों में स्वामी दयानन्द और महात्मा गाँधी के प्रचार कार्य के फलस्वरूप इस प्रकार के भेद-भाव की तीव्रता कम हो गई है, और यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार तो नहीं किया जाता, पर व्यवहार में अछूतों को बहुत कुछ सुविधायें मिल गई हैं । बंगाल में सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ब्रह्म-समाज के प्रचार ने परिस्थिति को बहुत कुछ बदल दिया है । इस प्रकार समाज में से विषमता को मिटा कर समता तथा एकीकरण का जो महान कार्य गुरु नानक ने उठाया था, वह आज फलता-फूलता नजर आ रहा है, यह कम सन्तोष की बात नहीं है ।

## जन-भाषा का प्रयोग

गुरु नानक ने अपने प्रचार कार्य में उसी भाषा का प्रयोग किया है जो उस समय पंजाब में बोली जाती थी और जिसे शिक्षित अशिक्षित, छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष सब सहज में बोल सकते थे । फिर उन्होंने शास्त्रों के गम्भीर सिद्धान्तों का सरल ढंग से प्रतिपादन किया है जिससे उनका आशय ग्रहण करने में कोई कठिनाई न हो । देखिये मनुष्य मात्र की समानता को हिन्दू-शास्त्रों के सिद्धान्तों के आधार पर उन्होंने किस तरह समझाया है—

जाति का गरब न कर मूरख गावारा ।
इस गरब ते चलहिं बहुत विकारा ॥
माटी एक सगल संसारा ।
बहुविधि भाँडे घड़ें कुंभारा ॥
पंच तत्तु मिल देही का आकारा ।
घट वध को करें विचारा ॥

अर्थात्—"हे मूर्ख, गँवार ! जाति का घमण्ड करना छोड़ दे क्योंकि इससे बहुत बुराइयाँ पैदा होती हैं । समस्त संसार में एक ही मिट्टी है और कुम्हार उसे लेकर तरह-तरह के बर्तन बनाता है । इस प्रकार पाँच-तत्त्व मिल जाने से यह मनुष्य शरीर का ढाँचा बनकर खड़ा हो जाता है । इसमें छोटे-बड़े का विचार करना व्यर्थ ही है ।"

जीवन मरण की पुनर्जन्म की समस्या को उन्होंने कुएँ में पानी खींचने वाली रहट का उदाहरण देकर बहुत अच्छी तरह समझाया है,

जैसे हरहट की माला टिण्ड लगत है,
इक सखनी होर फेरि फरीयत है,
तैसो ही एह खेल खसम का जिऊ उसकी वाडियाई ।

अर्थात्—"जैसे पानी खींचने के रहट की ढोकलियाँ नीचे जाती है, पानी से भरी हुई ऊपर निकलती है

और खाली होकर फिर नीचे चली जाती हैं, ऐसा ही हमारा यह जीवन कर्तार के एक खेल के समान है ।"

गुरु नानक ने अपनी बाल्यावस्था में घर में कृषिकार्य होते देखा था और अपनी अन्तिम अवस्था में भी उन्होंने खेती-किसानी करके ही जीवन-निर्वाह किया । साथ ही जिन लोगों में वे प्रचार कार्य करते थे उनमें भी बहुसंख्य व्यक्ति उसी ग्रामीण जनता के थे जिसका जीवनाधार खेती ही है । इसलिये नानकजी ने आध्यात्मिक सिद्धान्तों को खेती-किसानी के रूपक में भी बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है—

सावण रात अहाड़ दिहु काम करोध दोई खेत ।
लब वत्तर दरोग बीउ हाली राह कुहेत ॥
हल विचार विकार मन हुकमी खट्टे खाइ ।
नानक लेखे मंगी रो आउत जणेता जाई ॥

अर्थात्—"सावन रूपी रात और अषाढ़ रूपी दिनों में, काम-क्रोध रूपी खेतों मे, लोभ रूपी जल द्वारा मनुष्य सदा झूठ का बीज बोता रहता है । सांसारिक विषय-भोग की अभिलाषा ही उसका हल है, विकार युक्त मन की आज्ञा से वह कमाता-खाता है, परन्तु जब हिसाब का समय आता है (देह त्याग करके परम पिता के सम्मुख पहुँचता है) तब उसके पास कुछ भी नहीं होता, खाली हाथ ही वहाँ जाता है ।"

कुबुद्धि वाले किसान का चित्रण करके उन्होंने फिर सुबुद्धि युक्त किसान का वर्णन इस प्रकार किया है—

भउ भुइं पवित्त पापी सन्तोख मलीद ।
हल हलीमी चित्त चेता वत्तर वखत संजोग ।
नाउ बीज बखशिश बोहल दुनिया सगल दरोग ।
नानक नदरी करम होवे जानसि सकल विजोग ॥

अर्थात्—"दूसरा किसान भाव रूपी पवित्र भूमि पर सत्य और सन्तोष रूपी बैलों द्वारा शान्ति का हल चलाता है । स्थिति प्रज्ञता की खाद देकर वह काम रूपी बीज बोता है । ऐसे ही चतुर किसान को फल की प्राप्ति होती है ।"

इस बात को और भी स्पष्ट करने के लिये उन्होंने आगे चलकर कहा है—

मनुहाली किसाणी करणी सरमु पाणी तन खेत ।
नाम बीज सन्तोख सुहाग रखु गरीबी वेश ॥

अर्थात्—"मन को हल-वाहा बनाओ, कार्य करने को हल चलाना समझो, श्रम को पानी और शरीर को खेत बनाओ । उसमें नाम रूपी बीज बोओ, सन्तोष रूपी खाद डालो और गरीबी का वेश धारण करो ।"

इस प्रकार बहुत सरल बोलचाल मे नानक जी ने सामान्य जनता को धर्म के गूढ़ तत्त्व समझाये । इस प्रकार के शिक्षण में जन-भाषा का प्रयोग बड़ा महत्त्वपूर्ण है यद्यपि संस्कृताभिमानी पंडित इसे एक घटिया बात मानते हैं । स्वामी दयानन्द जी ने भी सिख मत की आलोचना करते हुए यही लिखा है कि "नानक जी बहुत कम पढ़े-लिखे थे, वेद, उपनिषद आदि का अध्ययन उन्होंने कभी किया नहीं था, इसलिये उनके धार्मिक उपदेश बहुत सामान्य कोटि के है ।" पर संस्कृत के बहुत अधिक बढ़े-चढ़े पक्षपाती हमें क्षमा करें, हम यह स्पष्ट कहना चाहते हैं कि जिस बात को वे एक बड़ा गुण समझते हैं, वह हमारी दृष्टि मे एक बड़ी त्रुटि की तरह है । वेद, उपनिषद, पुराणों में जो जीवनोपयोगी बातें मिलती हैं, आत्मोन्नति का जो मार्ग बतलाया है उसकी प्रशंसा हम भी करते है और उसका यथाशक्ति प्रचार भी करते हैं, यह आग्रह करना कि उन बातों को पूर्वकाल की भाषा में ही पढ़ा और समझा जाये उचित नही कहा जा सकता । करोड़ों की संख्या वाली सामान्य जनता जिसमें से एक बड़े भाग को अभी अक्षर-ज्ञान का अवसर भी प्राप्त नही हो सका है, कभी संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकेगी, यह एक दुराशामात्र ही है । तब क्या उसको धर्मज्ञान से शून्य ही रहने दिया जाये ?

हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दुओं के धार्मिक संस्कारो तथा अन्य जातीय-कृत्यों को संस्कृत भाषा में ही किये जाने का आग्रह, एक वर्ग विशेष के स्वार्थों की निगाह से ही किया जाता है । वे चाहते थे कि धर्मकृत्य सदैव एक ऐसी भाषा मे कराये जायें जिसका ज्ञान अन्य लोगों को बहुत कम है, उससे वे हमारे ऊपर ही निर्भर रहेंगे और हमको सहज मे ही सुखपूर्वक निर्वाह करने का अवसर प्राप्त हो सकेगा । पर उनकी इसी स्वार्थ-पूर्ण नीति का यह नतीजा हुआ कि इस देश मे अन्य मतमतान्तरो को फैलाने का अवसर मिला और हिन्दुओं की शक्ति घटती गई । एक तरफ तो हम आजकल ईसाई धर्म प्रचारकों को देखते हैं

जिन्होंने अपने धर्मग्रन्थों को दो-चार नही दो-तीन सौ भाषाओं मे भाषान्तर करके संसार के कोने-कोने मे पहुँचाने का प्रयत्न किया है, और दूसरी तरफ हमारे वे धर्म के ठेकेदार सज्जन थे जो अपने धर्मग्रन्थों को सन्दूक में ही बन्द रखना चाहते थे और कहते थे कि अगर इसकी एक पंक्ति भी अन्य लोगों ने सुन ली तो महान पापकर्म हो जायेगा ।

ब्राह्मण-वर्ग की इस कमजोरी को बौद्ध और जैन धर्मवालो ने पहचाना और अपना धार्मिक साहित्य जन-भाषा में प्रस्तुत किया ! आज भी बौद्धों के समस्त मूल धर्मग्रन्थ पाली भाषा में और जैनियों के प्राकृत भाषा में मिलते हैं जो उनके युग और क्षेत्र की जन-भाषायें थीं । इसका फल यह हुआ कि इस देश में रहने वाले हिन्दुओं मे से करोड़ों ही उन धर्मों मे दीक्षित हो गये । आज परिस्थिति कुछ बदली अवश्य है, तो भी उच्च वर्ण वालों की संकीर्णता और स्वार्थपरता बहुत कुछ शेष है । इसका परिणाम हम यह देख रहे है कि पिछले साठ-सत्तर वर्ष के भीतर ही ईसाइयों की संख्या दुगुनी से अधिक होकर डेढ़ अरब से ऊपर पहुँच गई और मुसलमान भी ड्यौढ़े से दुगुने हो गये । इनके मुकाबले में हिन्दुओं की वृद्धि नाम मात्र को हुई है । यदि हम बौद्ध धर्म की स्थिति को संदिग्ध समझकर उसे छोड़ दे तो अब हिन्दू जनसंख्या की दृष्टि से तीसरे नम्बर पर है, जबकि सन् १९१० की ही मर्दुमशुमारी में हमने हिसाब लगाकर देखा था कि वे संसार भर की मुस्लिम आबादी से काफी अधिक थे । इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है । धार्मिक विषयो में संकीर्णता और स्वार्थ साधन की नीति इसके सिवा अन्य कोई परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकती ।

इसलिये गुरु नानक ने यदि इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लिया और अपने धार्मिक उपदेश तथा धार्मिक ग्रन्थ में ठेठ पंजाबी भाषा का प्रयोग किया तो यह कोई हीनता ही नही वरन् प्रशंसा की ही बात थी । इससे उनका समुदाय जितना फला-फूला और अपने धर्म पर सुदृढ रहने वाला बना उसका प्रमाण हम बराबर अपनी आँखों से आज भी देखते रहते है । रह गई वेद और शास्त्रो के ज्ञान की बात, उसके लिये, उन्हे मूल रूप मे पढ़ना ही आवश्यक नही है । पुराने समय मे तो पुस्तकीय शिक्षा का प्रचार बहुत कम था और कागज उस समय एक दुर्लभ पदार्थ था । इसलिये अधिकांश ज्ञान का आदान-प्रदान मौखिक रूप से ही हुआ करता था । सन्त-महात्मा इस प्रकार की चर्चा देश-भाषा में ही करते थे, इसलिये वह ज्ञान शिक्षित-अशिक्षित सभी को सहज में प्राप्त होना सम्भव था ।

गुरु नानक ही नहीं सन्त तुकाराम और श्रीरामकृष्ण परमहंस भी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं । ये सब नाम मात्र को पढ़े थे या अपढ़ ही थे, पर उनके उपदेशों तथा धार्मिक प्रतिपादन को पढ़ कर वर्तमान समय में उच्चकोटि के विद्वान भी अपने को धन्य समझते हैं । सन्त कबीर ने स्वयं कहा है "मसि कागद छूऔ नहीं कलम गही नहि हाथ ।" तुकाराम भी कहते थे—"सन्तों की उच्छिठ उक्ति है मेरी बानी ।" राम कृष्ण परमहंस ने पाठशाला भेजे जाने पर पहले ही दिन कह दिया था कि-"मुझे पढ़-लिख कर क्या करना है, मुझे जीवन-निर्वाह के लिये कथा तो बाँचनी नही है, हमारे खेत में खाने लायक अनाज हो ही जाता है ।" इसलिये वेद शास्त्रो के सिद्धान्तो को बिना पुस्तकीय ज्ञान के भी अच्छी तरह ग्रहण किया जा सकता है । वास्तव में जो उनके अनुसार आचरण करेगा वही उनका असली मर्म समझ सकेगा । ग्रन्थो को अच्छी तरह पढ़ लेना पर तदनुसार आचरण न करना तो तोते की तरह रटने से अधिक महत्त्व नहीं रखता ।

## सर्वभूत हितेरता

सन्तो का एक मुख्य कारण सब प्राणियों का हित चिन्तन करना है । जब वे कहते हैं कि समस्त जीव एक ही परमात्मा ने उत्पन्न किये है तब यह कैसे सम्भव है कि किसी के प्रति द्वेष भाव रखें या छल करें या बुरा करें या बुरा चीतें । इसमें सन्देह नही कि संसार मे बुरे लोगो की कमी नही, और कितने ही तो इतने दुष्ट होते हैं कि सन्तो को ही सताने लगते हैं । पर सन्त की कसौटी यही है कि वह अपने अपकारकर्ता, शत्रु भाव रखने वाले को भी क्षमा करके उसके साथ भलाई करते है । कबीर, तुलसीदास, तुकाराम आदि को द्वेष भाव रखने वाले व्यक्तियों ने काफी तंग किया, पर उन्होंने बदले में उनके प्रति सद्व्यवहार ही किया । नानक जी के भी सामने दो-चार बार ऐसी समस्यायें आईं पर उन्होंने सदा विरोधियों को क्षमा करके सत्मार्ग का ही उपदेश दिया ।

नानक जी की एक विशेषता यह थी कि वे बड़े लोगों के बजाय दीन दुःखी, निर्धन, पीड़ित जनों के सम्पर्क में अधिक रहते थे और उनको उद्धार का मार्ग दिखलाते थे। इस सम्बन्ध में लालो और मलिक भागो वाली घटना बहुत प्रसिद्ध है। जब वे साधुवेश में भ्रमण करते-करते सैयदपुर (जि. गुजरांवाला) में पहुँचे तो गाँव के किनारे पर बसे एक सन्तों के भक्त लालो बढ़ई के यहाँ ठहर गये। इससे कस्बे में यह समाचार फैल गया कि एक उच्च जाति (खत्री) में उत्पन्न सन्त अछूत लालो के घर में ठहर गये हैं और उसी के हाथ का खाते-पीते हैं। यह खबर उस गाँव के मुखिया मलिक भागो ने भी सुनी। उस दिन उसके यहाँ एक भोज भी होने वाला था, इसलिये नानक जी के पास भी निमन्त्रण भेज दिया। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ जब उन्होंने उसके बढ़िया भोजन से इन्कार करके लालो को सूखी रोटियों को ही श्रेष्ठ बतलाया। उसने दुबारा नौकर भेजकर नानक जी को बुलवाया और उनसे निमन्त्रण अस्वीकार करके लालो की रोटियों को ही श्रेष्ठ बतलाने का कारण पूछा। उन्होंने कहा कि "तुम्हारा भोजन मुझे खून से सना जैसे लगता है और लालो की रोटियो में दूध और शहद का-सा स्वाद आता है।"

ऐसा क्यों होता है, यह पूछने पर उन्होंने बताया कि "लालो परिश्रम करके जो कमाई करता है उसी में से कुछ बचाकर अपनी शक्ति के अनुसार साधु सन्त और राहगीरों की सेवा करता है। पर तुम स्वयं कुछ परिश्रम नही करते, वरन् घूस, अत्याचार और हकूमत का डर दिखाकर जनता से धन ऐंठते हो।" गुरुजी की सच्ची बाते सुनकर मलिक भागो लज्जित हो गया और आस-पास के सब लोग उनकी निस्पृहता तथा न्यायशीलता देखकर उनके भक्त बन गये। अन्य एक अवसर पर उन्होंने अपना सिद्धान्त इन शब्दो में प्रकट किया था—

नीचा अन्दर नीच जाति नीच हो अति नीच।
नानक तिनके संग साथ बढ़िया के ऊँका रीस॥

अर्थात्—"नीचो में भी जो नीच जाति के हैं, उनमे भी जो सबसे नीचे हैं, मै उनके साथ हूँ। अपने आपको बड़ा मानने वालो मे मेरा कोई सम्बन्ध नही।"

यही सच्चे सन्त और सत्पुरुषो के लक्षण है। बड़ो के साथी तो अधिकाश लोग स्वार्थ के लिये बनते है। उनका सच्चा साथी कोई नहीं होता, खुशामदी, जी हजूर कहने वाले उनको इसीलिये घेरे रहते हैं कि उनसे अपना कोई मतलब सिद्ध करें। सच्चे व्यक्तियों और परोपकार का व्रत लेने वालो को ऐसे वातावरण में रहने की क्या आवश्यकता? वे तो अपना स्थान वहीं पर समझते हैं जहाँ संसार द्वारा उपेक्षित, ठुकराये हुए, पीड़ित लोग रहते हैं। वे ही लोग दुःखों में पड़कर भगवान का स्मरण करते है और भगवान सन्तों के रूप में सान्त्वना देने उनके पास पहुँच जाते हैं। बड़े कहलाने वाले तो सदैव राग-रंग या स्वार्थपूर्ति में लगे रहते हैं, उनको कभी भगवान की भी याद नहीं आती फिर सन्त उनके पास किसलिये जाये?

## मैं सन्तों की जाति का हूँ

किसी अवसर पर एक व्यक्ति ने नानक जी से प्रश्न किया "आपकी जाति कौन-सी है!" उन्होंने उत्तर दिया—"मै सन्तो के समुदाय का हूँ। मेरी जाति वही है जो वायु और अग्नि की है। मै वृक्षों और पृथ्वी की तरह जीवन यापन करता हूँ और उन्हीं की तरह काटे जाने और खोदे जाने को तैयार रहता हूँ। नदी की तरह मुझे इस बात की कोई चिन्ता नहीं कि कोई मेरे ऊपर फूल चढ़ाता है या गन्दगी फेंकता है। चन्दन की तरह उसी को जीवित समझता हूँ, जिससे सुगन्ध निकलती रहती हो।"

मक्का की यात्रा के अवसर पर किसी ने पूछा कि "हिन्दू और मुसलमान में कौन बड़ा है?" तो नानक जी ने जवाब दिया—"बड़ा वह है जो भलाई का काम करता रहता है और जिसका ध्यान परमात्मा की तरफ रहता है। बिना अच्छे कर्मों के हिन्दू हो या मुसलमान दोनो को रोना पड़ेगा।" जब यह पूछा गया कि जागृत कौन है? तो उन्होंने कहा—"जो परमात्मा को अपने चारो ओर देखता है और माया मे नही फँसता उसको जगा हुआ समझो। ऐसे व्यक्ति की पहचान यह है कि उसका हृदय सदा दया और सहानुभूति से ओत-प्रोत रहता है।"

यह सत्य है कि गुरु नानक के निकट हिन्दू-मुसलमान का अन्तर नही था [illegible] ने इन दोनो को ही नही, मनुष्य मात्र को [illegible] किसी धर्म, वर्ण या जाति [illegible] थे। इसका परिणाम [illegible] उस [illegible] के जमाने [illegible]

हिन्दू जाति की बुरी हालत की जा रही थी, मुसलमान भी उनका आदर करते थे । स्वयं बाबर बादशाह उनके परोपकारी जीवन से प्रभावित होकर दर्शन करने आया था और अन्य भी सैकड़ों मुसलमान उनके शिष्य बनकर उपदेश सुनने आया करते थे । वे सब अपने घरों में अपने सम्प्रदाय के अनुसार ही चलते थे, पर गुरु नानक से ईश्वर भक्ति; सेवा, परोपकार की शिक्षा ग्रहण करके अपने जीवन को पवित्र बनाते थे । यही कारण है कि वे हिन्दू होने पर भी नानक जी को अपना भी सच्चा हितैषी और प्रेम करने वाला समझते थे और जब आश्विन शुक्ल १० संवत् १५६५ (सन् १५३८) को गुरुजी का अन्त समय आया तो उन्होंने जोरों से नारा लगाया—

नानक शाह फकीर ।
हिन्दू का गुरु मुसलमान का पीर ।

पर इतना होने पर भी नानक जी को अपने धार्मिक सिद्धान्तों की प्रेरणा हिन्दू-शास्त्रों से ही मिली, जैसा उनकी अधिकांश वाणियों और गुरु ग्रन्थ साहब से विदित होता है । इसका एक कारण यह भी था कि अन्य मजहबों ने धर्मशास्त्रों में ईश्वर, जीव-प्रकृति, सृष्टि रचना, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि की समस्याओं पर इतनी गहराई से विचार भी नहीं किया गया है । हिन्दू शास्त्रकारों ने तो इस सम्बन्ध में अनेक पहलुओं से इतने विस्तार के साथ विचार किया है कि एक बड़े विद्वान से लेकर मामूली अनपढ़ ग्रामीण तक को उसमें अपने योग्य सामग्री मिल जाती है । नानक जी ने ईश्वर को समस्त सम्राटों का भी सम्राट बतलाते हुए उसकी प्रशंसा में कहा—

सो दरु केहा सो घर केहा जित बहि सरब समाले ।
बाजे नाद अनेक असंखा . केते गावण हारे ॥
गावहि तुहिनो, पवणु,पाणी बैसंतरु गावैराजा धरम दुआरे।
गावहि चित्तगुपुत लिखि जाणहि लिख-लिख धरम विचारे॥
गावहि ईसरु बरमा देवी सोहनि सदा सँवारे ।
गावहि इन्दु इन्द्रासणि बैठे देवतिया दरि नाले ।
गावहि सिद्ध समाधी अन्दरि गावनि साध विचारे ॥

अर्थात्—"वह स्थान किसका है, वह घर किसका है जिसमें सब समा जाते है । जहाँ असंख्य प्रकार के वाद्य बज रहे है और सब कोई स्तुति कर रहे है ।' आकाश, वायु, जल, अग्नि आदि पंचतत्त्व उसी की महिमा गाते हैं । धर्मराज, उनके पाप-पुण्य लेखक चित्रगुप्त; ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि समस्त देवता भी उसी का गुणगान कर रहे हैं । समाधि अवस्था में रहने वाले सिद्धगण तथा सब सन्त उसी का गुणगान कर रहे हैं ।"

## एक महान समाज सुधारक

गुरु नानक के उपर्युक्त जीवन वृत्तान्त पर अच्छी तरह विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने समय के एक महान समाज-सुधारक थे । उस समय आवागमन के साधनों के अभाव से यह तो सम्भव न था कि कोई प्रचारक अपने विचारों को समस्त भारतवर्ष में फैला सके । इतना ही क्यों हम कह सकते हैं कि उन दिनों पंजाब और बंगाल जैसे दो प्रान्त व्यवहार में एक दूसरे के लिये विदेश की तरह ही जान पड़ते थे । इसलिये गुरु नानक की सुधार योजना यद्यपि पंजाब से आगे अधिक न बढ़ सकी, तो भी उन्होंने हिन्दू समाज के सम्मुख एक ऐसा आदर्श रखा, जिसने उसकी आँखें खोल दीं और जगह-जगह अपने ढंग से सामाजिक अन्यायों को मिटाने का प्रयत्न अपने-अपने ढंग से किया जाने लगा । इस कार्य को चैतन्य देव और कबीर ने भी लगभग उसी समय किया था । अन्य वैष्णव आचार्यों ने भी भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन कुछ अंशों में सामाजिक समता लाने की चेष्टा की, पर उसका परिणाम थोड़ा-सा ही हुआ और वह भी कुछ समय पश्चात् बहुत हल्का पड़ गया । इसके विपरीत नानक जी का लगाया पौधा दिन पर दिन जड़ पकड़ता गया और गुरु गोविन्द सिंह के समय में उसने इतना शक्तिशाली और विशाल रूप ग्रहण कर लिया कि पंजाब तथा आस-पास के कितने ही स्थानों के हिन्दुओं की एक प्रकार से कायापलट सी हो गई ।

इस दृष्टि से हम नानक जी को हिन्दू समाज के एक उद्धारकर्ता का दर्जा दे सकते हैं । हिन्दुओं में जो अनगिनती देवी-देवताओं की पूजा और छुआछूत का जंजाल बढ़ गया था उसी का खण्डन उन्होंने वाणी और कर्म रूप में किया है और वास्तव में ये ही दो बातें हिन्दू-समाज को निर्बल तथा अन्य लोगों का भक्ष्य—शिकार बनाने वाली हैं । इनका त्याग जितना जल्दी किया जाये उतना ही इस जाति का हित है, अभी हाल मे गुरु नानक की

५००वीं जयन्ती मनाई गई तो भारत के प्रधानमन्त्री से लेकर छोटे-बड़े सभी नेताओं तक ने उनके महत्त्व को स्वीकार करके उन्हें धर्म तथा समाज का सच्चा संशोधक स्वीकार किया। सभी सामयिक पत्रों ने भी उनके सम्बन्ध में विद्वानो के लेख प्रकाशित किये। उससे यह अच्छी तरह विदित हो जाता है कि जिस समय विदेशियों के आक्रमणों के कारण इस देश में तथा विशेष रूप से पंजाब में धर्म डूबने लगा था तो गुरु नानक ने अपने सच्चे और निर्भीक उपदेशो द्वारा उसकी रक्षा की। उन्होंने लोगो को समझाया कि ईश्वर एक है। सब धर्म अपने-अपने मार्ग से मनुष्य को उसी के समीप पहुँचाते हैं। धर्म का असली सार बाह्यपूजा, कर्मकाण्ड और परम्परायें नहीं है, वरन्, उसका वास्तविक तत्त्व है अपने आप को जीतना, इन्द्रियो को वश में रखना, सुख-दुःख, हानि-लाभ में एक-सा भाव रखना धर्म का सबसे बड़ा लक्षण है सबके साथ सेवा, नेकी और सच्चाई का व्यवहार करना और इन सबके साथ-साथ भगवान को याद करते रहना। हम नहीं समझते कि कोई भी धर्म इसे अमान्य कर सकता है। गुरु नानक के उपदेशों का ही नही वरन् सभी शास्त्रों का यही सार है।

# धार्मिक नव-चेतना के अवतार : महाप्रभु चैतन्य

नदिया (बंगाल) के काजी चाँदखाँ ने हरि कीर्तन को बन्द करने की आज्ञा निकाली। उसने एकाध स्थान पर कीर्तन को बन्द कराके लोगों को जेल भेजने की धमकी भी दी। भक्तो ने इससे डरकर कीर्तन करने वाली वैष्णव मण्डली के लोक-प्रिय नेता 'निमाई पंडित' (बाद में थी चैतन्य प्रभु) के पास जाकर कहा—"ऐसा अत्याचार होगा तो हम हरि-कीर्तन कैसे कर सकेंगे। इससे तो अच्छा है कि हम किसी ऐसे स्थान पर चले चलें जहाँ निर्विघ्न भगवान का नाम ले सके।"

निमाई ने रोषपूर्वक कहा—"तुम तनिक भी भयभीत न होओ—हरि नाम का लेना कोई नहीं रोक सकता। तुमको नगर छोड़ने की आवश्यकता नहीं पडेगी और न हरि-कीर्तन रोकना पडेगा।"

दूसरे दिन उन्होंने अपने परम सहकारी 'निताई' (नित्यानन्द) तथा हरिदास से कहा कि सम्पूर्ण नगर में यह घोषणा कर दो कि 'आज संध्या को हम कीर्तन करते हुए समस्त नगर का भ्रमण करेंगे और काजी साहब के मकान पर भी कीर्तन करेंगे। सब लोग नियत समय पर हमारे घर एकत्रित हों और प्रकाश के लिये एक मशाल भी लेते आवें।' निताई यह सुनकर प्रसन्न हो उठे और उन्होंने हरिदास को साथ लेकर मुहल्ले-मुहल्ले मे यह सम्वाद फैला दिया और लोगों को प्रेरणा दी कि वे जुलूस का स्वागत करने के लिये सजावट और अन्य तैयारियाँ करें।

नदिया के निवासी इस घोषणा को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। अब तक अधिकांश लोगों ने 'निमाई—निताई' को कीर्तन करते अपनी आँखो से नहीं देखा था, क्योंकि वे प्रायः श्रीवास पंडित के घर पर ही कीर्तन किया करते थे। इसलिये वे कीर्तन के अभूतपूर्व दृश्य को देखने के लिये बड़े उत्सुक हुए और उन्होंने समस्त शहर को खूब सजा डाला। जगह-जगह केले के स्तम्भ और ध्वज-पताका लगाये गये। सड़कों पर पानी का छिडकाव कराया गया और धूप, गूगल आदि सुगन्धित पदार्थ अग्नि मे डाले गये। भक्तजनो ने अपने द्वारों के आगे पानी भरकर मंगल-कलश रख दिये।

सध्या होने के कुछ पहले ही चैतन्य महाप्रभु कीर्तन मण्डली के साथ 'हरिबोल' की ध्वनि करते नगर-भ्रमण करने लगे। वे ऊँचा हाथ करके लोगो को कीर्तन मे सम्मिलित होने का आमन्त्रण दे रहे थे। उनको देखकर बालक, वृद्ध, प्रौढ़ सब नाच उठते थे और कीर्तन मण्डली के साथ चलने लगते थे। भक्तजन प्रेम मे नृत्य करने लगे। सबके पैर एक साथ उठते थे। साथ मे ढोल, मृदग, करताल, मजीरा आदि बज रहे थे। कीर्तन करने वालों की कितनी ही मण्डलियाँ अलग-अलग हो गई थीं। चैतन्य की मण्डली सबके अन्त मे चल रही थी। वे भावावेश में मस्तक पर हाथ डुलाकर अलौकिक भाव से नृत्य कर रहे थे।

इस प्रकार जुलूस में क्रमशः कई हजार जन समुदाय एकत्रित हो गया। अब इस विशाल समूह को लेकर

चैतन्य काजी के मकान की तरफ चले । जलूस के आगे जो व्यक्ति चल रहे थे उनमें से कुछ अनसमझ लोगों ने जोश में आकर कह दिया—"काजी को मार दो—उसका घर लूट लो ।" जब इस बात को चैतन्य ने सुना तो उन्होंने तुरन्त सबको शान्त रहने का आदेश दिया । इधर इस भारी प्रदर्शन को देखकर और उसकी तुमुल जयध्वनि सुनकर काजी भयभीत होकर घर के भीतर जा छुपा । चैतन्य अपने भक्तों को लेकर उसके चौक में पहुँचे और 'हरिबोल' की मधुर ध्वनि से कीर्तन करने लगे । थोड़ी देर इस प्रकार काजी के घर मे कीर्तन करके उन्होंने काजी के सेवको से कहा—"काजी साहब को बाहर बुलाओ । उनसे कोई कुछ नहीं कहेगा, इसका विश्वास मैं दिलाता हूँ ।"

यह सुनकर काजी बाहर आया और चैतन्य ने उनको बड़े प्रेमपूर्वक भेंट करके बगल में बैठाया और फिर कहा—"काजी साहब, यह कहाँ की रीति है कि हम तो आपके घर आवे और आप घर के भीतर बैठे रहें ।"

काजी ने शर्माते हुए कहा—"भाइयो, आप मेरे घर पर आये यह मेरा सौभाग्य है परन्तु मैंने समझा आप नाराज होगे, इससे मुझे डर लगने लगा ।"

हँसते हुए चैतन्य ने कहा—"आप तो यहाँ के राज्य-कर्ता हो । आपसे हम किस तरह नाराज हो सकते है ? मैं तो केवल यही मालूम करने आया था कि आपने कीर्तन को बन्द करने का हुक्म क्यों दिया है ?"

काजी भला आदमी था । उसने सरल भाव से उत्तर दिया—"नगर के कितने ही हिन्दू-मुसलमानों ने मेरे पास आकर फरियाद की कि आपके कीर्तन से उनको तकलीफ होती है, इसलिये कानून की दृष्टि से मुझे वैसी आज्ञा देनी पड़ी परन्तु अब आपका सच्चा-भक्ति-भाव और जनता का सहयोग देखकर मुझे विश्वास हो गया है कि आपके कार्य में कोई हानिकारक बात नही है । अब आपके कीर्तन को कोई नही रोकेगा ।"

काजी का कथन सुनकर भक्त जनो को बडा आनन्द हुआ । चैतन्य देव ने कुछ देर तक वहीं कीर्तन किया और फिर सब मण्डली को लेकर श्रीवास पंडित के स्थान पर पहुँचे । इस अवसर पर कितने ही डरपोक मनुष्य लड़ाई-झगड़े का अन्देशा करके घरो में घुस गये थे, उधर काजी के नौकर भी हथियार लेकर लड़ने को तैयार थे परन्तु चैतन्य देव ने अपनी नीतिज्ञता से एक कठिन समस्या को सुलझा दिया और जन-पक्ष को विजय दिला दी ।

चैतन्य देव (जन्म सन् १५४२) का आविर्भाव उस समय में हुआ था जब हमारा देश एक प्रकार से 'क्रांति-युग' मे होकर गुजर रहा था । विदेशी शासन को भारतवर्ष मे स्थापित हुए साढ़े तीन-सौ वर्ष हो चुके थे । इस बीच मे पठानों के कई खानदान दिल्ली के शासक बन चुके थे । ये लोग स्वभाव से ही कुछ कठोर और केवल पाशविक शक्ति में ही विश्वास रखने वाले थे, इसलिये उनके शासन काल में कभी स्थाई शान्ति के दर्शन न हो सके । उनका वास्तविक अधिकार तो दिल्ली और आस-पास के सौ-पचास कोस के क्षेत्र तक सीमित था । शेष भागों पर सूबेदार या राजा लोगो का अधिकार था जो नाम-मात्र के लिये दिल्ली की सल्तनत में शामिल थे । जब कोई बादशाह सुयोग्य और वीर होता है तो ये सूबेदार दबकर उसे खिराज (टैक्स) अदा कर देते थे और जब देखते कि बादशाह दुर्बल या अयोग्य है तो अपने प्रदेश के सोलह आने मालिक बन बैठते थे । ये प्रादेशिक शासक आपस में भी ईर्ष्या-द्वेष रखते थे और जब कभी मौका लगता तो अपने से कमजोर सूबेदार के राज्य पर आक्रमण करके उसे हड़प जाने की चेष्टा किया करते थे । इस कारण उस युग मे देश के एक बड़े हिस्से में मारकाट और अशान्ति का साम्राज्य बना रहता था और फलस्वरूप जनता को तरह-तरह के कष्ट उठाने पड़ते थे ।

इन कष्ट पीडितों मे अधिक संख्या हिन्दुओं की थी । मुसलमान एक तो शासक दल के थे और दूसरे उनकी सख्या भी सीमित थी । इसलिये लूटमार, अन्याय-अत्याचार के शिकार गरीब या धनी हिन्दुओं को ही होना पड़ता था । जो शासक अधिक क्रूर और अत्याचारी थे वे केवल हिन्दुओं के धन व मान को ही नहीं लूट रहे थे वरन् उनके धर्म पर भी आघात करते रहते थे । जहाँ कहीं ये आक्रमणकारी जाते थे, वहीं पर मन्दिरों को तोड़ते, धर्मग्रन्थों को जलाते और धार्मिक जनो को जबर्दस्ती भ्रष्ट करके अपने धर्म में शामिल कर लेते थे । लगातार कई सौ वर्ष से ऐसे अत्याचारों को सहते रहने से हिन्दू-जाति निस्तेज और निराश हो चली थी, स्वधर्म के महत्त्व को भुला बैठी थी और अपनी रक्षा तथा लाभ की आकांक्षा से कितने ही हिन्दू

स्वेच्छापूर्वक भी विदेशी और विधर्मी शासक-जाति के अनुयायी बनने लग गये थे ।

धर्म और समाज की ऐसी दुरावस्था देखकर कितने ही देश और समाज हितैषियों का हृदय व्यथित होने लगा । भगवान की लीलाभूमि, धर्म का मूल स्रोत, जगत की चरित्र नीति, न्याय की शिक्षा देने वाली इस भूमि की ऐसी पतित और कष्टपूर्ण अवस्था उनको असहनीय प्रतीत हुई यद्यपि उस समय परिस्थिति सर्वथा विपरीत थी, दूसरे आपस की फूट के कारण सर्वथा विशृंखलित हो गये थे और इसलिये अल्पसंख्यक मुसलमानों से सभी बातों में दबते रहते थे । इन सुधारकों ने देखा कि इस समय हिन्दुओं की राजनीतिक शक्ति तो पूर्ण रूप से नष्ट हो चुकी, अगर कहीं कोई शक्तिशाली हिन्दू शासक है भी तो संगठन और एक्य-भाव के अभाव से सब लोग उसके झण्डे के नीचे इकट्ठे नहीं हो सकते । इसलिये उस समय अपने-अपने क्षेत्र में धर्म के नाम पर जनता को एक सूत्र मे संगठित करना और इसी आधार पर उसे विधर्मियो के मुकाबले खड़ा होने का साहस प्रदान करना यही एक मात्र मार्ग था । आरम्भ में लिखी गई काजी की आज्ञा उल्लंघन करके कीर्तन करने की घटना इसी मनोवृत्ति की एक अभिव्यक्ति थी । विद्या, यश, गृह-सुख, सौन्दर्य आदि से परिपूर्ण होने पर भी उन्होंने इस ध्येय की पूर्ति के लिये सब कुछ त्याग दिया और अपनी समस्त शक्तियो को ही नहीं प्राणों तक को धर्म और समाज की रक्षार्थ अर्पण कर दिया ।

## बाल्यावस्था और विद्याभ्यास

चैतन्य के पिता पंडित जगन्नाथ मिश्र तथा माता शचीदेवी धार्मिक प्रवृत्ति के थे और उनके प्रभाव से चैतन्य में भी इस भावना का बीजांकुर था । तो भी बाल्यावस्था में यह अपनी चंचलता के लिये प्रसिद्ध थे और पढ लिख कर एक पाठशाला मे अध्यापक हो जाने पर भी वे सदैव लड़को की तरह हास्य-विनोद में संलग्न रहते थे । कभी-कभी विनोद की मात्रा इतनी बढ जाती थी कि लोग उनसे घबड़ाने लगते थे ।

प्रकृति ने उनको रूपराशि भी अपूर्व प्रदान की थी । उनका रंग इतना गोरा था कि उनका एक नाम ही 'गौरांग' पड गया था । चेहरा अत्यन्त आकर्षक, कण्ठ स्वर बहुत ही मधुर, केशराशि भौंरों की तरह काली चमकीली, वेश-भूषा अत्यन्त मनोरम—उनका समस्त व्यक्तित्व ऐसा था कि देखने वाला देखता ही रह जाता था । उनकी पत्नी 'विष्णुप्रिया' भी परम सुन्दर और उच्चकोटि की पतिपरायण थी । उन दोनों मे प्रगाढ प्रेम था और इससे सभी परिचित जन उनको 'रसिक शिरोमणि' की उपाधि दिया करते । पर इस प्रकार का आनन्दयुक्त जीवन व्यतीत करते हुए भी जब चौबीस वर्ष की भरपूर युवावस्था में उन्होंने संन्यास ग्रहण करके तन, मन, धन को समाज और धर्म के उद्धार के लिये अर्पण कर दिया तो दुनिया चकित रह गई ।

## विद्या के साथ निरभिमानता

उन्होंने विद्या के क्षेत्र में बड़ी ख्याति प्राप्त की थी । जब उनकी अवस्था थोड़ी ही थी और उन्होंने परिवार के निर्वाहार्थ अध्यापन कार्य आरम्भ ही किया था, उसी समय केशव काश्मीरी नाम का एक पंडित शास्त्रार्थ के लिये नदिया आया । वह उस जमाने की प्रथा के अनुसार दिग्विजय करने निकला था और संस्कृत के बड़े-बड़े विद्या केन्द्रों मे अपनी जीत का झण्डा फहरा कर नदिया आया था, क्योंकि यह उस समय बंगाल के संस्कृत पंडितों का केन्द्र था । 'केशव काश्मीरी' के साथ हाथी, घोड़ा पालकी, नौकर-चाकर आदि पूरा दरबारी ठाठ था । कितने ही पंडित भी उसके साथ रहते थे । नदिया के पंडित तो उसका नाम सुनकर ही डर गये । कुछ लोगों ने आकर निमाई पंडित (चैतन्य) को भी यह सब समाचार सुनाया पर उन्होंने न तो कोई भय का भाव प्रकट किया और न शास्त्रार्थ की आतुरता दिखाई । वे शास्त्रचर्चा को इस तरह किसी को हराने का साधन बनाने के विचार को ठीक नहीं समझते थे ।

एक दिन संयोगवश गंगा किनारे इन दोनो विद्वानों की भेंट हो गई । चैतन्य तथा बहुसख्यक अन्य विद्यार्थियों के अनुरोध पर केशव काश्मीरी ने अपने तत्काल रचित कुछ संस्कृत पद्य सुनाये । चैतन्य ने कहा—पंडित जी ! यदि आप इनमे से कुछ पद्यो की आलोचना करके उनके गुण-दोष बतलाये तो इन विद्यार्थियों का उपकार होगा । केशव काश्मीरी जैसा अहम्मन्य विद्वान अपनी रचना मे दोषो का होना कैसे मान सकता था । इससे उसने बात टालने के अभिप्राय से कहा कि आप लोग

जिस पद्य की आलोचना कहें उसी की सुनाई जायें। वह समझता था कि मैंने जो पद्य तत्काल रचकर सुनाये हैं वे किसी को याद तो हो नहीं सकते इसलिये बात यहीं खत्म हो जायेगी। पर चैतन्य की स्मृति शक्ति बड़ी तीव्र थी और उन्होंने उसी समय एक पद्य ज्यों का त्यों सुनाकर कहा इसकी आलोचना कीजिये। अपने पद्य को दूसरे किसी के मुख से ज्यों का त्यों सुनकर केशव का मुँह फक्क हो गया और उसका विद्वता का अहंकार चूर-चूर हो गया। उसने जैसे-तैसे कुछ आलोचना की पर उत्साह भंग हो जाने से उसका रंग जम न सका। तब चैतन्य ने ही उसके पाँच गुण और पाँच दोष आलोचना करते हुए बताये यद्यपि चैतन्य ने बड़ी नम्रता से बात-चीत की, पर केशव को स्वयं ही अपनी हार का अनुभव हो गया और वह मुँह लटकाये वहाँ से चला गया।

रात में उसने इस घटना पर बहुत विचार किया और अन्त में चैतन्य की महत्ता उसकी समझ में आ गई। इस पर सवेरा होते ही वह चैतन्य के पास पहुँचा और उनकी श्रेष्ठता मुक्त कण्ठ से स्वीकार की। चैतन्य ने फिर भी विनयपूर्वक बातें करके उसे हर तरह से आश्वस्त किया और विद्या का प्रयोग शास्त्रार्थ जैसे प्रदर्शनों में करने की वजाय लोकोपकारार्थ करने की ही सम्मति दी।

## उदारता की पराकाष्ठा

इससे पूर्व की एक और घटना भी ऐसी थी जिससे चैतन्य की निरभिमानिता और परोपकारमय मनोवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। चैतन्य के सहपाठी मित्रों मे से एक रघुनाथ थे जो न्यायशास्त्र के विद्यार्थी थे और इस विषय में वर्षों तक परिश्रम करके उन्होंने अद्वितीय योग्यता उपलब्ध की थी। उसने न्याय-शास्त्र की व्याख्या सम्बन्धी एक ग्रन्थ रचा था और उसे आशा थी कि इसके कारण उसका नाम भविष्य में बहुत समय तक स्थिर रह सकेगा। पर एक दिन उसने सुना कि चैतन्य ने भी न्यायशास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखा है। इससे उसके मन में ईर्ष्या का भाव जागृत हो गया और वह सोचने लगा कि चैतन्य जैसे प्रतिभाशाली विद्वान के लिखे ग्रन्थ के सामने उसकी कभी पूछ नहीं हो सकती।

कुछ समय पश्चात् अवसर मिलने पर उसने चैतन्य से पूछ ही लिया कि 'तुमने न्यायशास्त्र' की व्याख्या सम्बन्धी कोई ग्रन्थ लिखा है? "चैतन्य ने हँसकर उत्तर दिया—अजी पंडितराज! आप कैसी बातें करते हैं? न्याय जैसे जटिल विषय पर मैं क्या लिख सकता हूँ? केवल मनोविनोद के लिये यों ही कुछ लिख डाला है।"

रघुनाथ ने आग्रहपूर्वक कहा—"अगर आपको किसी प्रकार की बाधा न हो तो वह ग्रन्थ मुझे जरूर सुनाना।"

चैतन्य पुस्तक लेकर नदी की तरफ चल दिये और एक नाव में बैठकर रघुनाथ को सुनाने लगे। रघुनाथ जैसे-जैसे सुनता जाता था, उसकी उत्कृष्टता देखकर उनकी मनोवेदना बढ़ती जाती थी। अन्त में वह फूट-फूटकर रोने लगा। निर्मल हृदय चैतन्य इस प्रकार रोने का कारण कुछ भी न समझ पाये। उन्होंने पढना बन्द करके रोने का कारण पूछा। पंडित रघुनाथ के हृदय में जो ईर्ष्या भरी हुई थी अब वह अधिक समय तक छिपी न रह सकी। उसने स्पष्ट शब्दो मे कह दिया—"भाई चैतन्य! तुम तो सरल स्वभाव के हो, पर मेरे मन में तो ईर्ष्या भरी है। तुम्हारी इस रचना के आगे मेरे ग्रन्थ को कोई नहीं पूछ सकता। मेरी अभिलाषा मन की मन में रह गई।"

पवित्र स्वभाव के चैतन्य ने अब रघुनाथ के मनोभाव को समझा। उसका नैराश्य देखकर उनके हृदय को भी व्यथा होने लगी। उन्होंने अपने ग्रन्थ का एक-एक पन्ना फाड़कर नदी मे फेंकना शुरू किया। रघुनाथ यह देखकर चौंक पड़ा और रोकने लगा। पर चैतन्य ने कहा—"पंडितराज, तुम्हारी ईर्ष्या को शान्त करने का केवल यही एक उपाय है कि मैं अपना ग्रन्थ भागीरथी को भेंट कर दूँ।"

जो लोग छोटी-मोटी सफलताओं को लेकर परस्पर वैमनस्य का बीज बो लेते हैं और कलह को बढ़ाकर अपनी और दूसरों की बड़ी-बड़ी हानियाँ कर डालते हैं, वे इस घटना से शिक्षा ग्रहण कर सकते है। रघुनाथ के जिस ग्रन्थ की रक्षा के लिये चैतन्य ने अपनी रचना नदी मे फेंक दी थी, वह रघुनाथ का 'दीधिति' नामक ग्रन्थ बगाल में आज तक न्याय की सर्वोत्तम कृति माना जाता है और उसी के आधार पर रघुनाथ को नैयायिक शिरोमणि की उपाधि मिली हुई है। यह देखकर सहज में यह अनुमान किया जा सकता है कि चैतन्य का ग्रन्थ कितनी उच्च कोटि का

होगा और यदि वह आज उपलब्ध होता तो कितना सम्मान किया जाता ।

## चैतन्य की गुणग्राहकता

तीसरी घटना जगन्नाथपुरी के प्रसिद्ध सन्त माधवेन्द्रपुरी के शिष्य ईश्वरपुरी की है । एक बार वे भ्रमण करते हुए नदिया आये और अद्वैताचार्य के यहाँ ठहरे । एक दिन चैतन्य वहाँ गये तो संन्यासी को देखकर प्रणाम किया । ईश्वरपुरी भी इनको देख बड़े प्रसन्न हुए । चैतन्य उन्हे अपने घर भोजन कराने ले गये और तब से दोनों में प्रेम-भाव उत्पन्न हो गया ।

ईश्वरपुरी ने 'श्रीकृष्णलीलामृत' नाम का ग्रन्थ उन्ही दिनो लिखा था, चैतन्य जब कभी मिलने आते तो ईश्वरपुरी कोई प्रसग उठाकर अपनी पुस्तक के श्लोक इनको सुनाया करते थे । उनको सुनकर चैतन्य बड़े प्रसन्न होते । एक दिन ईश्वरपुरी ने कहा—"मैं अपनी विद्वता प्रकट करने के लिये आपको श्लोक नहीं सुनाता । आप सुप्रसिद्ध विद्वान हैं, इसलिये जहाँ कहीं अशुद्धि हो वहाँ मुझे बताते चलें ।"

चैतन्य ने नम्रता से कहा—"श्रीकृष्ण-कथा में शुद्धि अथवा अशुद्धि कैसी ? अपने भक्तिभाव में भक्तजन जो कुछ कहते हैं, वह शुद्ध ही माना जाता है । जिस पद में भगवत्-भक्ति है, जिस छन्द में परमात्मा की महिमा का वर्णन है, वह यदि अशुद्ध है तो भी उसे शुद्ध समझना चाहिये । हाँ, जिसमें भगवान की ओर प्रेरणा न हो, उसकी भाषा चाहे जैसी परिमार्जित क्यों न हो वह व्यर्थ ही है । आप तो सच्चे भक्त है, इसलिये अशुद्धियों का प्रश्न ही नही उठता—

> मूर्खो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे ।
> उभयोस्तु शुभं पुण्यं भावग्राही जनार्दनः ॥

व्याकरण के नाम जानने वाले व्यक्ति 'विष्णवे नमः' के स्थान पर 'विष्णाय नमः' बोल जाते हैं, जबकि विद्वान शुद्ध उच्चारण ही करते है । इस तरह भाषा की दृष्टि से अन्तर रहने पर भी नाम लेने का शुभ फल दोनों को समान ही मिलता है, क्योंकि भगवान हृदय के भाव को देखते हैं, भाषा और व्याकरण के नियमों की जाँच करते फिरना उनका काम नही है ।

चैतन्य के इस उत्तर से उनकी महत्ता ईश्वरपुरी के हृदय में अंकित हो गई और वे सदा उनके शुभाकांक्षी बने रहे यद्यपि चैतन्य की प्रतिभा और मेधाशक्ति उच्च कोटि की थी और उन्होंने संलग्नता के साथ विद्याभ्यास करके अपने ज्ञान भण्डार को बहुत बढ़ा लिया था, पर उनकी प्रशंसा विद्वान होने के नाते नहीं की जाती । उपर्युक्त घटना से उनकी जो सहृदयता प्रकट होती है वही उनकी वास्तविक महानता है । जो विद्वान सब तरह से सुयोग्य होने पर भी अपने बजाय दूसरों को ही बढ़ावा देते रहते हैं, सामान्य श्रेणी के व्यक्तियों को प्रोत्साहन देकर आगे लाना चाहते हैं, वे ही सच्चे और महान पुरुष हैं ।

चैतन्य देव अपने इसी गुण के कारण छोटी आयु में ही लोकप्रिय बन गये थे और वे जहाँ कहीं गये उनको जनता का तथा सज्जन पुरुषों का सहयोग मिलता रहा । इसके विपरीत ऐसे भी व्यक्ति होते है जो विद्या और ज्ञान अथवा किसी अन्य कला के क्षेत्र में प्रशंसनीय उन्नति कर लेने पर भी स्वभाव की संकीर्णता, ईर्ष्याभाव को नही छोड़ पाते और इस कारण वे कुछ धन और पदवी पा जाने पर भी सर्वसाधारण के हार्दिक सम्मान के पात्र नहीं बन पाते । दुनिया तो उसी को प्यार करेगी जो उसका हितैषी हो, अपना स्वार्थभाव छोड़कर दूसरों की भलाई के लिये उद्यत रहता हो, जिसकी विद्या-बुद्धि केवल अपने ही काम आती है, वह तो एक प्रकार से उसका भार ही ढोता है । अन्य लोग काम पड़ने पर ऊपर से उसकी प्रशंसा, स्वागत-सम्मान भले ही कर ले भीतर मन मे उसके प्रति श्रद्धा ही रखते हैं और प्रायः पीछे निन्दा ही करते रहते हैं ।

चैतन्य देव में यह उदारता तथा दूसरों का आदर करने की प्रवृत्ति पूर्ण रूप से विद्यमान थी और इस कारण किसी प्रकार का मतभेद अथवा विवाद उत्पन्न हो जाने पर भी वह कटुता अथवा शत्रुता का रूप ग्रहण नही करती थी । उसका यही मनोभाव पंडित केशव काश्मीरी से विवाद होने के समय प्रकट हुआ था और इसके कारण वह शास्त्रार्थ का व्यवसायी शीघ्र ही इनका प्रेमी और प्रशंसक बन गया । जब वह इनके गुण को पहचान गया तो उसका आन्तरिक भाव भी बदल गया और उसने इनके मार्गानुयायी होने में ही वास्तविक कल्याण समझा । उसके अत्यन्त आग्रह करने पर इन्होंने यह कहा—"महाराज, आप तो शास्त्र

के परम मर्मज्ञ हैं ही । मेरी समझ में उसका सार यही है कि मनुष्य सांसारिक सफलता को सर्वोपरि मानने की बजाय भगवान के सच्चे स्वरूप को समझे और वही आचरण करे जिससे वे प्रसन्न हों । भगवान की कृपा सांसारिक वैभव अथवा विद्या से नहीं मिल सकती । उसका एकमात्र मार्ग परमार्थ ही है । मैं इसे आपका परम सौभाग्य समझता हूँ कि इतनी बड़ी प्रतिष्ठा पाकर भी आपको सहज ही वैराग्य हो गया और आप भगवान की कृपा पाने के लिये सब कुछ त्यागने को उद्यत हो गये । इस दृष्टि से मैं तो इस सिद्धान्त को ही जीवन का मार्ग-दर्शक समझता हूँ—

धर्मं भजस्व सततं त्यज लोक धर्मान् ।
सेवस्व साधु पुरुषाञ्जहि काम तृष्णाम् ॥
अन्यस्य दोषगुण चिन्तनमाशुत्यक्त्वा ।
सेवा कथा रसमहों नितरां पिवत्वम् ॥

"धर्म का आचरण करो और विषय-वासना रूपी जो स्वार्थ-भाव है उसे त्यागते रहो । सत्संग करके भोगों और लौकिकता की इच्छा को बाहर निकाल दो । दूसरों की आलोचना, गुण-दोषों की चर्चा को त्यागकर भगवान की सेवा और चर्चा मे जीवन अर्पण कर दो ।"

जो लोग केवल धार्मिक ग्रन्थ पढ़ लेने अथवा थोड़े-सा पूजा-पाठ कर लेने को धर्मात्मा का लक्षण मान बैठते हैं वे चैतन्य देव के मतानुसार धार्मिक नहीं माने जा सकते । जब तक मनुष्य नैतिक, चारित्रिक, व्यावहारिक दृष्टि से अपना सुधार नहीं करेगा तब तक वह धर्मात्मा कहलाने का अधिकारी नही हो सकता । पडित केशव काश्मीरी शास्त्रो का बहुत बड़ा ज्ञाता था और धर्म की व्याख्या भी वह खूब कर सकता था, पर वास्तव मे उसके हृदय में धर्म की कोई भावना न थी । उसका शास्त्राध्ययन मुख्यतः दूसरों को हराने की दृष्टि से था और शास्त्रार्थ में वह धर्म शास्त्रो के वाक्यों का जो अर्थ करता था वह भी अवसर के अनुकूल होता था, जिससे उसकी विजय हो । इस प्रकार का आचरण वास्तव में धर्मानुकूल नहीं माना जा सकता । धर्म का पालन करने वाला वही हो सकता है जो अन्य मनुष्यों का हित-साधन करे, किसी को शारीरिक ही नहीं मानसिक पीड़ा भी न पहुँचाये । भगवान की सेवा, अर्चना का आशय यही है कि मनुष्य अपने निकटवर्ती व्यक्तियो की भलाई, कष्ट निवारण का प्रयत्न करता रहे अन्यथा भगवान तो स्वयं किसी के पास सेवा-पूजा कराने आयेंगे नहीं । धर्मात्मा व्यक्ति भगवान के बनाये प्राणियों में ही उसका दर्शन करता है और अवसर मिलने पर सदैव ही उनकी सेवा को उद्यत रहता है ।

## त्याग व तपस्या का जीवन

चैतन्य का जीवन आरम्भ से ही परोपकारमय और उदारतापूर्ण रहा था । दूसरों की सहायता से उन्होंने कभी मुँह नहीं मोड़ा । पर इसके साथ उनमें हास्य, विनोद और रसिकता की मात्रा भी कम नहीं थी । बचपन मे तो वे प्रायः अपने घर वालो और पड़ौसियो को ऊधम मचाकर तंग करते ही रहते थे, बडे होकर भी उनका हँसी-मजाक का स्वभाव नहीं बदला और वे अपनी विद्यार्थी मण्डली को लेकर तरह-तरह के कौतुक और कौतूहल करते रहते थे । कितने ही सीधे-साधे व्यक्ति उनकी छेड़खानी से बहुत घबराते भी थे । पर उनके इस व्यवहार में किसी प्रकार का दुर्भाव कभी नहीं रहता था और वे केवल कौतुकप्रियता के भाव से ही ऐसा करते थे ।

नदिया के पडितो में से कितने ही जो छोटी आयु में ही इतना सम्मान प्राप्त कर लेने के कारण मन मे उनके प्रति ईर्ष्या रखते थे, उन्हें 'रसिक शिरोमणि' कहकर पुकारते थे यद्यपि चैतन्य के चरित्र मे किसी प्रकार के दोष की बात कभी सुनने में नहीं आई पर वेशभूषा और रहन-सहन में वे बड़े सौन्दर्य-प्रिय थे और अपनी पत्नी से उनका व्यवहार बड़े प्रेम और अनुरक्तता का था । वे स्वभाव से ही प्रेमी जीव थे और उनको बदले में सर्वत्र प्रेम-युक्त व्यवहार प्राप्त होता भी था । इस प्रकार उस समय वे एक बाहरी व्यक्ति को विनोदी और शृंगारप्रिय सांसारिक विषयों में अनुरक्त श्रेणी के मनुष्य ही प्रतीत होते थे ।

आरम्भ मे वैष्णव-धर्म की भक्ति-भावना का भी उनमे प्रत्यक्ष रूप में दर्शन नहीं होता था यद्यपि उनके पिता एक प्रसिद्ध वैष्णव थे और उनके घर में सदा से भक्ति-भाव का जोर रहा था, पर उस अवस्था में चैतन्य उस तरफ कुछ ध्यान नही देते थे और अपना अधिकांश समय मनोविनोद की बातों में ही निकाल देते थे । इससे उनके अनेक शुभ-चिन्तकों को कभी-कभी खेद भी होता था । ऐसे व्यक्तियो में एक पं. श्रीवास भी थे जो उनके पिता के घनिष्ठ मित्र थे और इनके

परिवार के प्रति सदा सद्भाव रखते थे । एक दिन जब चैतन्य गंगा-स्नान करके आ रहे थे, मार्ग में उनसे भेंट हो गई । उनको देखते ही चैतन्य ने प्रणाम किया । श्रीवास ने उनसे किंचित, उलाहने के स्वर में कहा—

"निमाई, अब तुम बालक नहीं हो, अब कुछ गम्भीर बनो । तुम्हारे पिता तो परम वैष्णव थे ।"

चैतन्य ने सरल भाव से उत्तर दिया—"महाराज ! थोड़े दिन ठहरिये मै भी पूर्ण रूप से वैष्णव बन जाऊँगा ।"

ठीक अवसर समझकर श्रीवास ने कहा—"इसमें राह देखने की क्या बात है ? अभी से भक्ति-भाव जागृत करना चाहिये । देखो, तुम्हारे समान विद्वान और लोकप्रिय पंडित वैष्णव बन जायेगा तो समस्त देश में वैष्णव धर्म की ध्वजा फहराने लगेगी ।"

चैतन्य ने मुस्कराकर इतना ही कहा—"जैसी प्रभु की इच्छा ! आप सब गुरुजनों का आशीर्वाद अवश्य सफल होगा ।"

वास्तव में चैतन्य का व्यक्तित्व और जीवन उस उच्च और साथ ही गूढ़ श्रेणी का था जिसे साधारण लोग शीघ्र समझ नहीं पाते । उनको नदिया का सर्वश्रेष्ठ पंडित और विद्वान होने की प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी, पर उनमें किसी प्रकार का अभिमान या अहंकार का भाव न था । लोग उनको 'रसिक-शिरोमणि' कहते थे और वे गृहस्थ-धर्म का एक सच्चे प्रेमी की भाँति पालन करते थे, पर उनमें आसक्ति अथवा वासना न थी । उनके जीवन में कर्म, ज्ञान और वैराग्य का उचित समन्वय हुआ था । उनके हृदय के गूढ़ प्रदेश में भक्ति-सरिता भी वह रही थी, जिसे वे निराकार परमात्मा या साकार देव-मूर्तियों के बजाय भगवान के जीवित स्वरूपों—मनुष्य मात्र की सेवा और उपकार की ओर उन्मुख करना चाहते थे । धीरे-धीरे इस भाव के प्रकट होने का समय पास आता जाता था ।

चैतन्य अपने कितने ही परिचित और मित्रों के साथ पिता का श्राद्ध करने गया क्षेत्र मे पहुँचे । सन्ध्या-वन्दन करके गदाधर भगवान के दर्शनों को गये । मन्दिर में गदाधारी भगवान की मूर्ति विराजमान थी । भक्तजन मधुर कंठ से भगवान के चरणों की महिमा का स्रोत गा रहे थे । इस वर्णन को सुनते-सुनते चैतन्य ध्यानस्थ हो गये और उनका मन सांसारिक बातों से हट कर भगवान के समीप जा पहुँचा । उनके कानों में भक्तों के इस आशय के शब्द आ रहे थे—

"प्रभु के चरण-कमलों को ब्रह्माजी ने अपने कमण्डल के जल से धोया । भगवान के पैर के अंगूठों से जो जल बहा, वही गंगा है । कैलाशवासी महादेव ने उसे शीश पर चढाया, भागीरथ तप करके उसे हिमालय पर से पृथ्वी पर लाये । इसी से गंगा पतितों को तारने वाली बनी है ।"

"हे पुण्यशाली जनो ! भगवान के चरण-कमलों में मन को लगाओ । वे पाप, ताप, संताप के हरने वाले हैं । आओ—आओ, हे भक्तजनो ! ऐसे दयालु प्रभु की शरण लो ।"

चैतन्य इन श्लोकों के गूढ़ार्थ को अमृत की तरह पी रहे थे यद्यपि शब्दावली प्रचलित धार्मिक विश्वासों के अनुसार ईश्वर की साकार उपासना की परिचायक थी, पर चैतन्य को उसमे प्रभु के विराट् स्वरूप का अनुभव होने लगा । उनको प्रतीत हो रहा था मानो यह सम्पूर्ण विश्व ही भगवान की देह है, प्रत्येक प्राणी उसी विराट्-देह का एक अणु है और इस कारण वे सब परस्पर भाई-भाई या एक ही महावृक्ष के छोटे-छोटे पत्ते हैं । इस भावना को करते-करते वे ऐसे भावावेश में आ गये कि उनका शरीर काँपने लगा, वाणी रुक गई और वे बेसुध-से हो गये । संयोग से उसी समय उनके पूर्वपरिचित ईश्वरी पुरी भी उस समय वहाँ दर्शनार्थ उपस्थित थे । उन्होंने उनको सँभाला और बाहर लाकर उनको सावधान किया । चैतन्य ने स्वामीजी के पैर पकड़ लिये और बोले—"महाराज ! अब मेरी गया-धाम की यात्रा सफल हुई । श्राद्ध करने से तो थोड़े ही पितरों का उद्धार होता है, परन्तु आप जैसे महापुरुषों के दर्शन से तो करोड़ों का उद्धार हो जाता है । मेरा बड़ा भाग्य है कि आपके फिर दर्शन हो सके । अब मेरा हाथ पकड़ कर मुझे सांसारिक मोह-जाल से निकालिये । आप ही मेरे गुरु हो ।"

इसके पश्चात् जब चैतन्य शास्त्र-विधि के अनुसार पिण्डदान आदि से निवृत्त होकर अपना भोजन बनाने लगे और दाल-शाक बनाकर भात को अग्नि पर रख दिया तो उसी समय ईश्वरपुरी आ पहुँचे । चैतन्य दौड़कर उनके पैरों पर गिरने लगे तो उन्होंने पहले

उनको उठाकर हृदय से लगा लिया । ईश्वरपुरी ने हँसते हुए कहा—"हम आश्रम से शुभ मुहूर्त देखकर ही चले थे, इससे ठीक भोजन तैयार होने के समय आ पहुँचे ।"

चैतन्य ने कहा—"महाराज ! जब भाग्य उदय होता है तभी आप जैसे सन्तों की सेवा का अवसर मिलता है । आपके लिये आहार प्रस्तुत है । हाथ-पैर धोकर भिक्षा ग्रहण कीजिये ।"

ईश्वरपुरी ने हँसते हुए कहा—"यह रसोई हमें खिला दोगे तो फिर आपके लिये क्या बचेगा ?"

चैतन्य ने उत्तर दिया—"महाराज, अन्न तो आपका ही है, मैं तो सिर्फ पकाने वाला हूँ, आज्ञा होगी तो फिर रसोई बन जायेगी ।"

पुरी जी ने फिर से रसोई बनाने के झंझट का ख्याल करके कहा—"फिर से बनाने की क्या जरूरत है ? जो कुछ बन गया है, उसी में से आधा-आधा बाँट लेंगे । क्यों ऐसा ठीक रहेगा ? पर हम तो ठहरे संन्यासी और तुम गृहस्थ । हम भिक्षा लें और तुम भोजन करो—ऐसा कब तक चलेगा ?"

चैतन्य ने इस बात का यह आशय ग्रहण किया कि ईश्वरपुरी हमको सांसारिक बन्धन हटा देने का संकेत दे रहे हैं । पर इस समय इस बात को बढ़ाना ठीक न समझकर उन्होंने सरल भाव से उत्तर दिया—"महाराज को जैसे प्रसन्नता होगी वैसा ही किया जायेगा । आप हाथ-पैर धो लें, यह आसन बिछा है ।"

चैतन्य ने उठकर स्वयं स्वामी जी के पैर धोये और अपने रेशमी वस्त्र से उनको पौछा । वे भिक्षा लेने बैठे और चैतन्य परसने लगे । आग्रह करके वे खिलाते गये और ईश्वरपुरी खाते गये । जब सब भोजन चुक गया तो स्वामी जी खिलखिलाकर हँस पड़े और कहने लगे—"तुमने तो सब भोजन सामग्री हमको खिला दी, अब तुम क्या खाओगे, महाराज !"

चैतन्य ने भी हँसकर उत्तर दिया—"जिसे कला आती है उसे किसी बात में कठिनाई नहीं होती । आप देखते रहें, अभी रसोई बन जाती है ।"

दूसरे दिन प्रातःकाल स्नान, संध्या-वन्दन करके चैतन्य ईश्वरपुरी के आश्रम मे पहुँचे और अत्यन्त नम्रतापूर्वक प्रार्थना की—"महाराज ! लोक व्यवहार के कार्यों में यह जीवन समाप्त हुआ जा रहा है अब आप मुझे अपनी शरण में लीजिये और भगवद्भक्ति का सच्चा मार्ग दिखाइये ।"

चैतन्य के ऐसे वचन सुनकर ईश्वरपुरी ने कहा—"मैं तो आपका ही हूँ, आपके कहने से प्राण भी दे सकता हूँ, परन्तु आपको शिष्य बनाकर मन्त्र देने की योग्यता मुझमें नहीं है । मैं अधम हूँ, फिर आप जैसे उत्तम, कुलीन और विद्वान ब्राह्मण को मन्त्रदान कैसे कर सकता हूँ ?"

पर जब चैतन्य किसी प्रकार न माने तो उन्होंने उनके कान में मन्त्र पढ़ कर दीक्षा दी । इससे उनका भावावेश बहुत बढ़ गया और पागल की-सी अवस्था हो गई । उन्होंने अपने साथियों से कहा—"तुम सब घर जाओ, मैं तो वृन्दावन जाऊँगा । मेरी माता से कह देना कि उसका निमाई पागल हो गया है ।" साथी लोग उनका ऐसा भाव देखकर घबड़ाने लगे । फिर ईश्वरपुरी ने उनको समझाकर सबके साथ नदिया भेजा । वे यथा समय घर पहुँच गये पर अब उनकी अवस्था बदल गई थी । अब वे 'निमाई पंडित' नहीं रहे थे और न किसी से पढ़ने-लिखने के सम्बन्ध में चर्चा ही करते थे । उनके हृदय में भक्ति-भाव छलक रहा था और भक्ति भी वह सर्वग्राही जो प्राणीमात्र के भीतर अपनी ही आत्मा का प्रतिबिम्ब देखती है । इस समय उनके हृदय में यही भाव उठ रहा था कि देश भर मे भक्ति की ऐसी धारा बहाई जाये जिससे हिन्दू-धर्म की डूबती नैया फिर से ऊपर उठकर तैरने लगे । विदेशी और विधर्मी शासन के कारण जनता के हृदय में से धर्म का भाव जो निर्बल पड़ता जाता था, वह चैतन्य को बहुत खटकने लगा था और उसी ने उनको घर-बार के भार से मुक्त होकर अपने को पूर्णरूप से नव-जागरण के कार्य के लिये अर्पित कर देने की अन्तःप्रेरणा दी थी ।

घर पहुँचने पर जब अन्य परिचित जन उनसे मिलने आये और गया-यात्रा का समाचार पूछने लगे तो उन्होंने कहा—"वहाँ का क्या वर्णन करूँ, मै तो पागल हो गया । यहाँ मुझे प्रभु के विराट् स्वरूप की झाँकी होने लगी और मुझे दिखाई पड़ने लगा कि मै और अन्य सभी जीव भगवान से अभिन्न है । यह समस्त विश्व भगवान के ही भीतर अवस्थित है और

हम सब उन्हीं के एक-एक अंश है । प्रभु के इस रहस्य को समझ जाने से मैं कृतकृत्य हो गया और मुझे विश्वास हो गया कि अपने अस्तित्व को इस विराट्-विश्व मे अन्तर्हित कर देने में ही इस जीवन की सार्थकता है ।"

पर संसार का नियम है कि जैसे ही कोई व्यक्ति इसके बन्धनों को काटने, निष्काम और अनासक्त जीवन बिताने का विचार करता है, वैसे ही यह उसे अधिकाधिक बाँधे रखने का प्रयत्न करने लगता है । जब चैतन्य अपने शिक्षा-गुरु गंगादास से मिलने गये तो उनको इसी प्रकार का उपदेश सुनने में आया । गंगादास स्वय पुस्तकीय ज्ञान वाले पडित थे । शास्त्र को पढ़ना और पढ़ाना ही उनका जीवन व्यवसाय था । चैतन्य पर उनका बड़ा स्नेह था, क्योंकि इनकी विद्वता के कारण उनकी ख्याति बहुत बढ़ गई थी । चैतन्य ने गुरु के चरणों में प्रणाम किया और उन्होंने बडे प्रेम से भेंट करके उनके मस्तक पर हाथ फेरा । उन्होंने कुशल समाचार पूछने के उपरान्त कहा—

"बेटा चैतन्य ! तुम मेरे प्रिय विद्यार्थी हो । तुम्हारे जैसे योग्य विद्यार्थी को पढ़ाने से मैं अपने परिश्रम को सफल मानता हूँ । तुमने समर्थ विद्वान बनकर मेरे नाम को भी प्रसिद्ध किया है । तुम्हारा स्वभाव बड़ा सरल है, पर तुम किसी के कहने में आकर अध्यापन कार्य को छोड़ना मत । जो पढ़े-लिखे नहीं होते जिनकी बुद्धि कुशाग्र नहीं होती, वे ही भक्ति के नाम पर नाचते-कूदते फिरते हैं । तुम तो प्रसिद्ध विद्वान हो, मेधावी हो, तुमको ऐसे 'भाव' में पड़ना उचित नहीं है ।"

चैतन्य गुरु की सीख को सुनते रहे । वे नम्रता और विनय के अवतार थे । वे स्वयं नहीं जानते थे कि मेरा जीवन इस प्रकार कैसे बदल गया । उन्होंने सरल भाव से उत्तर दिया—

"गुरुदेव ! आपकी आज्ञा पालन करने का मै पूरा यत्न करूँगा । पर मै क्या करूँ ? मेरा मन वश में नहीं है । देश और धर्म की दशा देखकर मेरे लिये शान्त होकर बैठना कठिन लगता है । आप आशीर्वाद दें कि मै मन को स्थिर करके कर्त्तव्य पालन में संलग्न हो सकूँ ।"

गुरु ने उनके मस्तक पर प्रेमपूर्वक हाथ रखकर कहा—"बेटा, सब ठीक हो जायेगा । चित्त को ठिकाने रखना चाहिये । अब अपने को सँभाल कर पाठ पढ़ाने लगें । सैकड़ों विद्यार्थी निराश होकर फिर रहे हैं, ऐसा व्यवहार उचित नही ।"

चैतन्य उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके दूसरे दिन पाठशाला पहुँचे । सब विद्यार्थी भी पाठ पढने को आकर बैठ गये । पिछले तीन महीने से उनकी पढ़ाई बन्द रही थी । अन्य स्थान में पढ़ने से उनको ऐसा आनन्द नहीं आता था । इधर-उधर की कुछ बातें होने के पश्चात विद्यार्थियों ने पढ़ाने की बात चलाई । पर चैतन्य की दशा इस समय पढ़ा सकने की नहीं थी । उनके हृदय मे तो इस समय जनता को धर्म के सच्चे स्वरूप का सन्देश देने की आग भड़क रही थी । उन्होने विद्यार्थियो से कहा—

"हम बहुत समय से शास्त्रो के इस पचड़े मे पड़े हैं । उनसे कुछ ज्ञान वृद्धि अवश्य होती है, पर जीवन की सार्थकता इसे नहीं कह सकते । वास्तविक पढ़ाई तो यह है कि उस ज्ञान को किस प्रकार काम मे लाया जाये ? उसके द्वारा किस प्रकार अन्य जीवों का हित-साधन किया जाये ? भगवान का नाम सबसे मधुर और कल्याण करने वाला है । हमारा सच्चा हित इसी मे है कि हम उस नाम के महत्त्व को स्वयं समझें और दूसरों को समझायें । भगवान का ज्ञान ही सच्ची विद्या है ।"

चैतन्य देव का आशय यही था कि मनुष्य को विद्या तो प्राप्त करनी चाहिये, पर उसका प्रयोग अन्य मनुष्यों, समस्त समाज के हितार्थ करना चाहिये । जो अपनी विद्या के लाभ को अपने तक ही सीमित रखना चाहता है, वह स्वार्थी है और उसका पढ़ना, न पढना बराबर है । इतना ही नही प्राय: पढ़े-लिखे व्यक्ति जब स्वार्थग्रस्त होते है तो वे अनपढ़ों की अपेक्षा समाज के लिये अधिक हानिकारक—खतरनाक सिद्ध होते है । तब उनकी विद्या-बुद्धि का उपयोग दूसरो को नये-नये उपायों से ठगकर या बहलाकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करना होता है । विद्या-बद्धि से हीन अनपढ़ यदि स्वार्थ-साधन में प्रवृ[illegible] है तो वह थोड़ा ही [illegible] ही भेद [illegible] जा[illegible] पर [illegible]

और बुद्धिमान व्यक्ति स्वार्थ साधन करने पर भी उसे छुपाने और देर तक कायम रखने में सफल हो जाते हैं।

इस प्रकार चैतन्य प्रभु ने पाठशाला और अध्यापकी के व्यवसाय से विदा ली और समस्त जनता में नाम-कीर्तन द्वारा जागृति उत्पन्न करना, संगठन को दृढ़ करना अपना मुख्य कार्यक्रम निश्चित किया। वे प्रायः गंगा किनारे अपनी भक्त मण्डली को एकत्रित करके मृदंग, मंजीरा, खंजरी, ढोल आदि बाजों के साथ मधुर कण्ठ से कीर्तन किया करते थे। जैसे-जैसे इसका समाचार देश में फैलता गया उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी। थोड़े समय में समस्त नदिया नगर और आस-पास के स्थानों में कीर्तन का प्रचार हो गया और वहाँ से देश के अन्य भागों में भी उसका प्रभाव पड़ने लगा।

अब कीर्तन का केन्द्र नगर के भीतर पं. श्रीवास के घर पर ही स्थापित हो गया और सदैव रात्रि के समय कई घण्टे तक भगवद्-भक्तों की मण्डली इकट्ठी होकर भगवान के नाम और तरह-तरह के भजनों द्वारा वातावरण को पवित्र बनाती रहती थी। चैतन्य इस कीर्तन-प्रचार के प्राण थे यद्यपि यह कीर्तन की प्रथा पहले भी अनेक वर्षों से प्रचलित थी, पर तब तक दो-चार या दस-पाँच भक्त निजी तौर पर कुछ समय मिलकर भजन गा बजा लेते थे।

पर चैतन्य के व्यक्तित्व और अपूर्व विद्या-बुद्धि का इस कार्य में समावेश हो जाने से उसकी दिन दूनी प्रगति होने लगी और कुछ ही समय में उसने नगरव्यापी ही नहीं, देशव्यापी संगठन का रूप धारण कर लिया। मुसलमान बादशाहों और नवाबों के निरंकुश शासन में हिन्दुओं को किसी प्रकार का राजनैतिक अधिकार तो था नहीं, अगर किसी को सरकारी पद दिया भी जाता तो उसे शासकों की हाँ में हाँ मिलानी पड़ती थी और सरकारी आदेशों का पालन करने के लिये अपने ही भाइयों का दमन करना पड़ता था। इससे हिन्दू लोग और भी विशृंखलित होते जाते थे और विधर्मियों के अन्याय, अत्याचारों का विरोध करने की उनकी शक्ति निरन्तर लुप्त होती जाती थी। अब चैतन्य देव के प्रचार कार्य से उनको संगठित होने का एक मार्ग मिला और कुछ ही दिनों में कीर्तन के माध्यम से ही जन-जागृति की एक नई लहर सर्वत्र फैल गई।

इस नवीन परिवर्तन को देखकर मुसलमान शासक मन में कुछ चिन्तित हुए और उनको भय हुआ कि यह धर्म के नाम पर किया गया कीर्तन किसी दिन हमारी सत्ता के लिये रोड़ा सिद्ध हो सकता है। उन्होंने अपने अनुयायियों द्वारा इसका विरोध और शिकायतें करना शुरू किया। मुसलमान नागरिक तो ऐसी बातों को पसन्द ही क्यों करने लगे, कुछ हिन्दू भी जो सरकारी कृपा प्राप्त करने के लिये लालायित रहते थे और जिनकी निगाह में धर्म-कर्म के बजाय धन का महत्त्व सर्वाधिक था उनके साथ मिल गये। ये लोग बार-बार अधिकारियों के पास जाकर फरियाद करने लगे कि चैतन्य द्वारा प्रचारित कीर्तन केन्द्रों की शाखायें अब नगर में जगह-जगह फैलती जा रही हैं और उनके कारण रात्रि में प्रायः सोने में भी कठिनाई पड़ जाती है। इस पर वहाँ के प्रधान अधिकारी (काजी) ने कीर्तन को नियन्त्रित रूप में करने का आदेश दे दिया।

इधर चैतन्य भी इस परिस्थिति को समझ रहे थे और इसलिये अपने संगठन में दो-चार पक्के कार्यकर्ता शामिल करने का प्रयत्न करने लगे जो इस कार्य में उन्हीं की तरह प्राणपण से भाग लेने को तैयार हों और कैसी भी आपत्ति आने पर पीछे हटने का नाम न लें। वैसे कीर्तन में भाग लेने वाले सभी भक्त सच्चे हृदय से धर्म के लिये कष्ट सहन करने को तैयार थे, पर गृहस्थी होने के कारण सरकारी दबाव के सामने वे अन्त तक नहीं टिक सकते थे।

### निताई और हरिदास

चैतन्य को शीघ्र ही एक बहुत पक्का सहयोगी 'निताई' अथवा नित्यानन्द के रूप में मिल गया। वे नदिया के पास ही राढ़ प्रदेश के निवासी थे और बाल्यावस्था में ही एक संन्यासी के शिष्य हो गये थे। उसके साथ इन्होंने चारों धामों तथा काशी, प्रयाग, मथुरा, नासिक आदि समस्त तीर्थों की यात्रा की। इससे इनको देश की अवस्था का अच्छा अनुभव हो गया और यह भी देख लिया कि अनैक्य और असंगठन के कारण इतनी बड़ी हिन्दू-जाति अल्पसंख्यक मुसलमानों के आधीन बनी है। जब पूरा भारत भ्रमण करके ये कुछ समय के लिये व्रजभूमि में विश्राम कर रहे थे तब इन्होंने नदिया में 'चैतन्य' द्वारा कीर्तन-प्रचार का

क्षण तक अपनी समस्त शक्ति को इसी उद्देश्य की पूर्ति में लगाते रहे ।

## जगाई-मधाई का उद्धार

इधर नित्यानन्द और हरिदास जैसे नाम-कीर्तन के प्रचारार्थ प्राणदान करने को प्रस्तुत दो सहकारियो के आ जाने से नदिया नगर मे कीर्तन का कार्यक्रम अधिकाधिक जोर पकड़ने लगा । उधर सरकारी अधिकारियों का रुख देखकर उनके कुछ पिट्ठू इसमें बाधा डालने लगे । उस समय शहरों के इन्तजाम के लिये आजकल की तरह नियमित पुलिस नहीं थी, वरन् कोई जबर्दस्त व्यक्ति सरकारी कर्मचारियों से मिलकर स्वयं ही व्यवस्थापक बन बैठता था और इसी की कमाई से खाता-पीता और मौज करता था । चैतन्य के समय में नदिया में दो भाई जिनका नाम 'जगाई-मधाई' मशहूर था, अपनी मर्जी से ही शहर के 'कोतवाल' बने हुए थे । इनका असली नाम तो जगन्नाथ और माधव था और ये एक ब्राह्मण के पुत्र थे । परन्तु उनका आचार-विचार ऐसा भ्रष्ट था कि दुनिया का कोई कुकर्म उनसे नहीं बचा था । वे चोरी, लूट-मार, खून, आतंक द्वारा नदिया निवासियों को बहुत तंग करते थे । शराब पीकर वे जिस मुहल्ले में पहुँच जाते उस मुहल्ले वालों की शामत आ जाती थी । एक तो वे स्वयं ही बड़े क्रूर और दुर्दमनीय थे, फिर उन्होंने काजी, सरकारी अफसर, अदालत वाले सबको मिला रखा था । लूटमार द्वारा प्राप्त धन मे से वे उनको भी हिस्सा देते थे । इसलिये नदिया में किसी का साहस उनके विरुद्ध जबान खोलने का नहीं होता था ।

अब ये दोनों भाई कीर्तन के विरोधी बन गये ओर चाहे जब किसी भक्त को मारने-पीटने लगते । एकाध बार उन्होंने कीर्तन करने वालो के पखावज, ढोल आदि भी तोड़-फोड़ डाले थे । एक दिन मार्ग मे उनकी भेंट हरिदास और नित्यानन्द से हो गई । हरिदास कितने ही भक्तों के साथ कीर्तन करते चले जाते थे । जगाई-मधाई ने कीर्तन बन्द करने को कहा—भक्त तो डरकर चुप हो गये, पर हरिदास ने कीर्तन बराबर जारी रखा । इससे जगाई-मधाई क्रोधान्ध हो उनको लाठियों से पीटने लगे । पर हरिदास कही लाठी के भय से कीर्तन बन्द करने वाले थे ? वे जोश में आकर दुगने वेग से कीर्तन करने लगे । इतने मे दो-चार भक्तों ने दौड़कर चैतन्य प्रभु को यह खबर दी । उन्होने वहाँ आकर देखा कि हरिदास के मस्तक से खून की धार बह रही है । यह देखकर चैतन्य क्रोधित हो गये और उनका स्वरूप महा भयानक जान पड़ने लगा, जिसे देखकर वे दुष्ट भी डर गये । हरिदास ने उनके चरण पकड़ लिये और उन दुष्टों पर दया करने की प्रार्थना की । इस पर चैतन्य ने क्रोध त्यागकर उन दुष्टों को हृदय से लगा लिया । प्रभु के शरीर का स्पर्श होते ही उनका मनोभाव बदल गया और वे अपनी नीचता तथा चैतन्य की उदारता देखकर अपनी करनी पर पश्चाताप करने लगे और आगे चलकर वे स्वयं भी कीर्तन के बड़े प्रचारक बन गये ।

## चैतन्य का संन्यास और महा अभियान

इस घटना के थोड़े ही दिन बाद काजी के घर में जाकर कीर्तन करने की वह घटना घटी जिसका वर्णन आरम्भ में किया जा चुका है । इस प्रकार चैतन्य प्रभु ने नदिया में तो कीर्तन की धारा स्थायी रूप से बहा दी और उसका मार्ग निष्कंटक कर दिया पर अब उनके चित्त मे आने लगा कि केवल एक या दो नगरो में इस प्रकार कीर्तन द्वारा धर्मभाव को जागृत कर दिया गया और वहाँ के हिन्दू धर्म रक्षार्थ कटिबद्ध हो गये तो इससे क्या बनता है ? यह समस्या तो देशव्यापी है । इस समय मुसलमान शासको के अन्याय, अत्याचारों से हिन्दू-धर्म चारों दिशाओं में विपदाग्रस्त हो रहा है, उसके उद्धार के लिये जब तक किसी महा अभियान का शख न फूँका जायेगा तब तक उसकी रक्षा होना कठिन ही है । इसके लिये मुझे आत्म-त्याग करके लोगो के सामने एक आदर्श रखना ही चाहिये और साथ ही जन्म समुदाय का मार्ग-दर्शन भी करना चाहिये ।

पर उस समय देश की जैसी राजनैतिक और सामाजिक अवस्था थी और आवागमन के साधन जैसे अल्प थे, साधारण गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए इतना गुरुतर कार्य पूरा कर सकना असम्भव था । उस समय रेल और मोटर तो क्या अधिकाश भागो मे घोड़ागाड़ी की व्यवस्था नहीं थी, अधिकांश मार्ग कच्चे ही थे जिन पर केवल बैलगाड़ियाँ चल सकती थीं । बीच-बीच में ऐसे भू-भाग ही थे जहाँ केवल जंगल ही थे और मनुष्य केवल पैदल ही यात्रा कर सकते थे । फिर मार्ग में हर जगह डाकू, लुटेरों का भी भय था जिसके

समाचार सुना । सुनते ही इन्होंने जान लिया कि यह भक्ति और कर्म का समन्वय ही इस समय वेसुध हिन्दु-जाति को पुनः जागृत और धर्म-कर्त्तव्य पर कटिबद्ध कर सकेगा । वे उसी समय ब्रज से चल दिये और नदिया आकर चैतन्य के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर कीर्तन-आन्दोलन को सफल बनाने में जुट गये ।

दूसरे सहयोगी हरिदास का चरित्र और भी अद्भुत था । यह जन्म से मुसलमान थे और यशोहर जिले के एक छोटे से ग्राम में उनका जन्म हुआ था । वचपन में ही माता-पिता के मर जाने से वे अनाथ हो गये और भिक्षा माँगकर जीवन-यापन करने लगे । पर उसी समय सत्संग के प्रभाव से उनको कृष्ण भक्ति का चस्का लग गया और भिक्षा से पेट भरने के उपरान्त वे दिन-रात गाँव के बाहर एक कुटी में बैठकर भगवन्नाम का जाप करते रहते । इस प्रकार की तपस्या और पवित्र जीवन के कारण उनका नाम चारों तरफ फैलने लगा और ग्रामीण जनता उनको श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगी ।

यह देखकर समीप ही के एक अन्य गाँव के जमींदार 'रामचन्द्र खाँ' को उनसे बड़ी ईर्ष्या होने लगी और उसने इनको चरित्र-भ्रष्ट करके नीचा दिखाने का विचार किया । इसलिये उसने एक रूपवती को बहुत से पुरस्कार का लालच देकर इनके पास भेजा । उसने सोचा जब यह अपूर्व सुन्दरी रात्रि के समय उनकी एकान्त कुटी में जाकर प्रेम प्रदर्शित करेगी तो उनका आसक्त हो जाना स्वाभाविक ही है । पर हरिदास पर भगवद्-भक्ति का गहरा रंग चढ़ चुका था । वह वेश्या चार दिन तक उनकी कुटी के द्वार पर कई-कई घण्टे बैठी रही, पर उनके अखण्ड नाम-जप के आगे उसे कुछ कहने का अवसर ही न मिल सका । अन्त में भगवान का नाम सुनते-सुनते उसकी मति स्वयं ही बदल गई और इनके चरणों पर गिर कर धर्म-साधन का मार्ग पूछने लगी । उन्होंने वेश्या को भगवान कृष्ण का भजन करने का उपदेश दिया और वह भी अपना सर्वस्व त्याग भिक्षुणी बनकर भक्ति-मार्ग की पथिक हो गई । हरिदास ने अपनी कुटी उसके रहने के लिये दे दी और स्वयं अन्यत्र निवास करने लगे ।

कुछ मुसलमानों को यह बात बहुत खटकी कि उनका एक सहधर्मी इस प्रकार 'काफिरों' के साथ मिलकर इस्लाम की बदनामी कर रहा है । उन्होंने इसकी शिकायत उस प्रदेश के शासक से की । उसने इनको पकड़वा मँगाया । इनका शील स्वभाव और उच्चकोटि की साधुता देखकर शासक ने इनको समझाया कि "जब तुम्हारा जन्म मुसलमान के घर में हुआ है तो अपने मजहब पर ईमान रखकर उसके अनुसार आचरण क्यों नहीं करते ? इसके विपरीत चलने वाले को दण्ड सहन करना पड़ता है ।"

हरिदास ने कहा—"श्रीमान् आपका कहना ठीक है, पर हृदय पर किसी का वश नहीं चलता । जिसके जैसे पूर्व के संस्कार होते हैं वैसा ही उसका विश्वास बन जाता है । रही दण्ड की बात तो जब आप हिन्दू से मुसलमान बनने वालों को किसी प्रकार का दण्ड नहीं देते तो मुसलमान से हिन्दू बनने वाले को सजा देने का क्या कारण हो सकता है ?" यह तर्क शासक की समझ में तो आ गया पर काजी तथा अन्य मुसलमान अधिकारियों के दवाव के कारण उसे, हरिदास को प्राण दण्ड की आज्ञा देनी पड़ी और वह भी कोड़े मार-मार कर । इस आज्ञा के अनुसार जल्लाद कोड़े मारते हुए सब बाजारों में घुमाने लगे । कोड़े खाते-खाते उनकी तमाम देह लहू-लुहान हो गई पर हरिनाम की ध्वनि बराबर मुँह से निकलती रही और उसी में पूरी तरह ध्यान लगे रहने के कारण उन्हे कोड़ों की पीड़ा भी नहीं जान पड़ी । यह देखकर जल्लाद घबड़ाये और हरिदास से कहने लगे कि अगर आप इतनी मार पर भी जीवित रहेंगे तो हमारी नौकरी चली जायेगी । इस पर हरिदास ने मौन ग्रहण कर लिया और उनको मूर्छा आ गई । जल्लाद उनको गंगाजी में फेंक कर चले आये । वहाँ गंगाजल के प्रभाव से उनको कुछ समय में होश आ गया और उनके घाव भी धीरे-धीरे ठीक हो गये । यह खबर जब शासक के पास पहुँची तो उसको पश्चाताप हुआ और काजी को साथ लेकर वह स्वयं हरिदास के पास पहुँचा और उनसे अपने अपराध को क्षमा कराया ।

इसके पश्चात् हरिदास नदिया में आकर अद्वैताचार्य के घर रहने लगे और वे भी पुत्रवत् उनका पालन करने लगे । कुछ ही समय मे वे चैतन्य की कीर्तन मण्डली के पक्के सदस्य बन गये और जीवन के अन्तिम

क्षण तक अपनी समस्त शक्ति को इसी उद्देश्य की पूर्ति में लगाते रहे ।

## जगाई-मधाई का उद्धार

इधर नित्यानन्द और हरिदास जैसे नाम-कीर्तन के प्रचारार्थ प्राणदान करने को प्रस्तुत दो सहकारियों के आ जाने से नदिया नगर में कीर्तन का कार्यक्रम अधिकाधिक जोर पकड़ने लगा । उधर सरकारी अधिकारियों का रुख देखकर उनके कुछ पिट्ठू इसमें बाधा डालने लगे । उस समय शहरों के इन्तजाम के लिये आजकल की तरह नियमित पुलिस नहीं थी, वरन् कोई जबर्दस्त व्यक्ति सरकारी कर्मचारियों से मिलकर स्वयं ही व्यवस्थापक बन बैठता था और इसी की कमाई मे खाता-पीता और मौज करता था । चैतन्य के समय में नदिया मे दो भाई जिनका नाम 'जगाई-मधाई' मशहूर था, अपनी मर्जी से ही शहर के 'कोतवाल' बने हुए थे । इनका असली नाम तो जगन्नाथ और माधव था और ये एक ब्राह्मण के पुत्र थे । परन्तु उनका आचार-विचार ऐसा भ्रष्ट था कि दुनिया का कोई कुकर्म उनसे नहीं बचा था । वे चोरी, लूट-मार, खून, आतंक द्वारा नदिया निवासियो को बहुत तंग करते थे । शराब पीकर वे जिस मुहल्ले में पहुँच जाते उस मुहल्ले वालों की शामत आ जाती थी । एक तो वे स्वयं ही बडे क्रूर और दुर्दमनीय थे, फिर उन्होंने काजी, सरकारी अफसर, अदालत वाले सबको मिला रखा था । लूटमार द्वारा प्राप्त धन मे से वे उनको भी हिस्सा देते थे । इसलिये नदिया में किसी का साहस उनके विरुद्ध जबान खोलने का नहीं होता था ।

अब ये दोनों भाई कीर्तन के विरोधी बन गये और चाहे जब किसी भक्त को मारने-पीटने लगते । एकाध बार उन्होंने कीर्तन करने वालो के पखावज, ढोल आदि भी तोड़-फोड़ डाले थे । एक दिन मार्ग में उनकी भेंट हरिदास और नित्यानन्द से हो गई । हरिदास कितने ही भक्तों के साथ कीर्तन करते चले जाते थे । जगाई-मधाई ने कीर्तन बन्द करने को कहा—भक्त तो डरकर चुप हो गये, पर हरिदास ने कीर्तन बराबर जारी रखा । इससे जगाई-मधाई क्रोधान्ध हो उनको लाठियो से पीटने लगे । पर हरिदास कहीं लाठी के भय से कीर्तन बन्द करने वाले थे ? वे जोश मे आकर दुगने वेग से कीर्तन करने लगे । इतने में दो-चार भक्तों ने दौड़कर चैतन्य प्रभु को यह खबर दी । उन्होंने वहाँ आकर देखा कि हरिदास के मस्तक से खून की धार बह रही है । यह देखकर चैतन्य क्रोधित हो गये और उनका स्वरूप महा भयानक जान पड़ने लगा, जिसे देखकर वे दुष्ट भी डर गये । हरिदास ने उनके चरण पकड़ लिये और उन दुष्टों पर दया करने की प्रार्थना की । इस पर चैतन्य ने क्रोध त्यागकर उन दुष्टों को हृदय से लगा लिया । प्रभु के शरीर का स्पर्श होते ही उनका मनोभाव बदल गया और वे अपनी नीचता तथा चैतन्य की उदारता देखकर अपनी करनी पर पश्चाताप करने लगे और आगे चलकर वे स्वयं भी कीर्तन के बड़े प्रचारक बन गये ।

## चैतन्य का संन्यास और महा अभियान

इस घटना के थोड़े ही दिन बाद काजी के घर में जाकर कीर्तन करने की वह घटना घटी जिसका वर्णन आरम्भ में किया जा चुका है । इस प्रकार चैतन्य प्रभु ने नदिया में तो कीर्तन की धारा स्थायी रूप से बहा दी और उसका मार्ग निष्कंटक कर दिया पर अब उनके चित्त में आने लगा कि केवल एक या दो नगरों में इस प्रकार कीर्तन द्वारा धर्मभाव को जागृत कर दिया गया और वहाँ के हिन्दू धर्म रक्षार्थ कटिबद्ध हो गये तो इससे क्या बनता है ? यह समस्या तो देशव्यापी है । इस समय मुसलमान शासकों के अन्याय, अत्याचारों से हिन्दू-धर्म चारों दिशाओं में विपदाग्रस्त हो रहा है, उसके उद्धार के लिये जब तक किसी महा अभियान का शंख न फूँका जायेगा तब तक उसकी रक्षा होना कठिन ही है । इसके लिये मुझे आत्म-त्याग करके लोगों के सामने एक आदर्श रखना ही चाहिये और साथ ही जन्म समुदाय का मार्ग-दर्शन भी करना चाहिये ।

पर उस समय देश की जैसी राजनैतिक और सामाजिक अवस्था थी और आवागमन के साधन जैसे अल्प थे, साधारण गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए इतना गुरुतर कार्य पूरा कर सकना असम्भव था । उस समय रेल और मोटर तो क्या अधिकाश भागो में घोड़ागाड़ी की व्यवस्था नही थी, अधिकांश मार्ग कच्चे ही थे जिन पर केवल बैलगाड़ियाँ चल सकती थी । बीच-बीच में ऐसे भू-भाग ही थे जहाँ केवल जंगल ही थे और मनुष्य केवल पैदल ही यात्रा कर सकते थे । फिर मार्ग में हर जगह डाकू, लुटेरो का भी भय था जिसके

समाचार सुना। सुनते ही इन्होंने जान लिया कि यह भक्ति और कर्म का समन्वय ही इस समय बेसुध हिन्दु-जाति को पुनः जागृत और धर्म-कर्तव्य पर कटिबद्ध कर सकेगा। वे उसी समय ब्रज से चल दिये और नदिया आकर चैतन्य के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर कीर्तन-आन्दोलन को सफल बनाने में जुट गये।

दूसरे सहयोगी हरिदास का चरित्र और भी अद्भुत था। यह जन्म से मुसलमान थे और यशोहर जिले के एक छोटे से ग्राम मे उनका जन्म हुआ था। बचपन में ही माता-पिता के मर जाने से वे अनाथ हो गये और भिक्षा माँगकर जीवन-यापन करने लगे। पर उसी समय सत्संग के प्रभाव से उनको कृष्ण भक्ति का चस्का लग गया और भिक्षा से पेट भरने के उपरान्त वे दिन-रात गाँव के बाहर एक कुटी में बैठकर भगवन्नाम का जाप करते रहते। इस प्रकार की तपस्या और पवित्र जीवन के कारण उनका नाम चारों तरफ फैलने लगा और ग्रामीण जनता उनको श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगी।

यह देखकर समीप ही के एक अन्य गाँव के जमींदार 'रामचन्द्र खाँ' को उनसे बड़ी ईर्ष्या होने लगी और उसने इनको चरित्र-भ्रष्ट करके नीचा दिखाने का विचार किया। इसलिये उसने एक रूपवती को बहुत से पुरस्कार का लालच देकर इनके पास भेजा। उसने सोचा जब यह अपूर्व सुन्दरी रात्रि के समय उनकी एकान्त कुटी मे जाकर प्रेम प्रदर्शित करेगी तो उनका आसक्त हो जाना स्वाभाविक ही है। पर हरिदास पर भगवद्-भक्ति का गहरा रंग चढ़ चुका था। वह वेश्या चार दिन तक उनकी कुटी के द्वार पर कई-कई घण्टे बैठी रही, पर उनके अखण्ड नाम-जप के आगे उसे कुछ कहने का अवसर ही न मिल सका। अन्त में भगवान का नाम सुनते-सुनते उसकी मति स्वय ही बदल गई और इनके चरणों पर गिर कर धर्म-साधन का मार्ग पूछने लगी। उन्होने वेश्या को भगवान कृष्ण का भजन करने का उपदेश दिया और वह भी अपना सर्वस्व त्याग भिक्षुणी बनकर भक्ति-मार्ग की पथिक हो गई। हरिदास ने अपनी कुटी उसके रहने के लिये दे दी और स्वय अन्यत्र निवास करने लगे।

कुछ मुसलमानों को यह बात बहुत खटकी कि उनका एक सहधर्मी इस प्रकार 'काफिरों' के साथ मिलकर इस्लाम की बदनामी कर रहा है। उन्होंने इसकी शिकायत उस प्रदेश के शासक से की। उसने इनको पकड़वा मँगाया। इनका शील स्वभाव और उच्चकोटि की साधुता देखकर शासक ने इनको समझाया कि "जब तुम्हारा जन्म मुसलमान के घर में हुआ है तो अपने मजहब पर ईमान रखकर उसके अनुसार आचरण क्यों नहीं करते ? इसके विपरीत चलने वाले को दण्ड सहन करना पड़ता है।"

हरिदास ने कहा—"श्रीमान् आपका कहना ठीक है, पर हृदय पर किसी का वश नहीं चलता। जिसके जैसे पूर्व के संस्कार होते हैं वैसा ही उसका विश्वास बन जाता है। रही दण्ड की बात तो जब आप हिन्दू से मुसलमान बनने वालो को किसी प्रकार का दण्ड नहीं देते तो मुसलमान से हिन्दू बनने वाले को सजा देने का क्या कारण हो सकता है ?" यह तर्क शासक की समझ में तो आ गया पर काजी तथा अन्य मुसलमान अधिकारियों के दबाव के कारण उसे, हरिदास को प्राण दण्ड की आज्ञा देनी पड़ी और वह भी कोड़े मार-मार कर। इस आज्ञा के अनुसार जल्लाद कोड़े मारते हुए सब बाजारों में घुमाने लगे। कोड़े खाते-खाते उनकी तमाम देह लहू-लुहान हो गई पर हरिनाम की ध्वनि बराबर मुँह से निकलती रही और उसी में पूरी तरह ध्यान लगे रहने के कारण उन्हे कोड़ों की पीड़ा भी नहीं जान पड़ी। यह देखकर जल्लाद घबड़ाये और हरिदास से कहने लगे कि अगर आप इतनी मार पर भी जीवित रहेंगे तो हमारी नौकरी चली जायेगी। इस पर हरिदास ने मौन ग्रहण कर लिया और उनको मूर्छा आ गई। जल्लाद उनको गंगाजी मे फेंक कर चले आये। वहाँ गंगाजल के प्रभाव से उनको कुछ समय में होश आ गया और उनके घाव भी धीरे-धीरे ठीक हो गये। यह खबर जब शासक के पास पहुँची तो उसको पश्चाताप हुआ और काजी को साथ लेकर वह स्वयं हरिदास के पास पहुँचा और उनसे अपने अपराध को क्षमा कराया।

इसके पश्चात् हरिदास नदिया में आकर अद्वैताचार्य के घर रहने लगे और वे भी पुत्रवत् उनका पालन करने लगे। कुछ ही समय में वे चैतन्य की कीर्तन मण्डली के पक्के सदस्य बन गये और जीवन के अन्तिम

क्षण तक अपनी समस्त शक्ति को इसी उद्देश्य की पूर्ति में लगाते रहे ।

## जगाई-मधाई का उद्धार

इधर नित्यानन्द और हरिदास जैसे नाम-कीर्तन के प्रचारार्थ प्राणदान करने को प्रस्तुत दो सहकारियों के आ जाने से नदिया नगर में कीर्तन का कार्यक्रम अधिकाधिक जोर पकड़ने लगा । उधर सरकारी अधिकारियों का रुख देखकर उनके कुछ पिट्ठू इसमे बाधा डालने लगे । उस समय शहरों के इन्तजाम के लिये आजकल की तरह नियमित पुलिस नही थी, वरन् कोई जबर्दस्त व्यक्ति सरकारी कर्मचारियों से मिलकर स्वयं ही व्यवस्थापक बन बैठता था और इसी की कमाई मे खाता-पीता और मौज करता था । चैतन्य के समय में नदिया में दो भाई जिनका नाम 'जगाई-मधाई' मशहूर था, अपनी मर्जी से ही शहर के 'कोतवाल' बने हुए थे । इनका असली नाम तो जगन्नाथ और माधव था और ये एक ब्राह्मण के पुत्र थे । परन्तु उनका आचार-विचार ऐसा भ्रष्ट था कि दुनिया का कोई कुकर्म उनसे नहीं बचा था । वे चोरी, लूट-मार, खून, आतंक द्वारा नदिया निवासियों को बहुत तंग करते थे । शराब पीकर वे जिस मुहल्ले में पहुँच जाते उस मुहल्ले वालों की शामत आ जाती थी । एक तो वे स्वयं ही बड़े क्रूर और दुर्दमनीय थे, फिर उन्होंने काजी, सरकारी अफसर, अदालत वाले सबको मिला रखा था । लूटमार द्वारा प्राप्त धन में से वे उनको भी हिस्सा देते थे । इसलिये नदिया में किसी का साहस उनके विरुद्ध जबान खोलने का नहीं होता था ।

अब ये दोनों भाई कीर्तन के विरोधी बन गये और चाहे जब किसी भक्त को मारने-पीटने लगते । एकाध बार उन्होंने कीर्तन करने वालो के पखावज, ढोल आदि भी तोड़-फोड़ डाले थे । एक दिन मार्ग में उनकी भेंट हरिदास और नित्यानन्द से हो गई । हरिदास कितने ही भक्तों के साथ कीर्तन करते चले जाते थे । जगाई-मधाई ने कीर्तन बन्द करने को कहा—भक्त तो डरकर चुप हो गये, पर हरिदास ने कीर्तन बराबर जारी रखा । इससे जगाई-मधाई क्रोधान्ध हो उनको लाठियों से पीटने लगे । पर हरिदास कहीं लाठी के भय से कीर्तन बन्द करने वाले थे ? वे जोश मे आकर दुगने वेग से कीर्तन करने लगे । इतने में दो-चार भक्तों ने दौड़कर चैतन्य प्रभु को यह खबर दी । उन्होंने वहाँ आकर देखा कि हरिदास के मस्तक से खून की धार बह रही है । यह देखकर चैतन्य क्रोधित हो गये और उनका स्वरूप महा भयानक जान पड़ने लगा, जिसे देखकर वे दुष्ट भी डर गये । हरिदास ने उनके चरण पकड़ लिये और उन दुष्टों पर दया करने की प्रार्थना की । इस पर चैतन्य ने क्रोध त्यागकर उन दुष्टों को हृदय से लगा लिया । प्रभु के शरीर का स्पर्श होते ही उनका मनोभाव बदल गया और वे अपनी नीचता तथा चैतन्य की उदारता देखकर अपनी करनी पर पश्चाताप करने लगे और आगे चलकर वे स्वयं भी कीर्तन के बड़े प्रचारक बन गये ।

## चैतन्य का संन्यास और महा अभियान

इस घटना के थोड़े ही दिन बाद काजी के घर में जाकर कीर्तन करने की वह घटना घटी जिसका वर्णन आरम्भ में किया जा चुका है । इस प्रकार चैतन्य प्रभु ने नदिया में तो कीर्तन की धारा स्थायी रूप से बहा दी और उसका मार्ग निष्कंटक कर दिया पर अब उनके चित्त में आने लगा कि केवल एक या दो नगरों में इस प्रकार कीर्तन द्वारा धर्मभाव को जागृत कर दिया गया और वहाँ के हिन्दू धर्म रक्षार्थ कटिबद्ध हो गये तो इससे क्या बनता है ? यह समस्या तो देशव्यापी है । इस समय मुसलमान शासकों के अन्याय, अत्याचारों से हिन्दू-धर्म चारो दिशाओं मे विपदाग्रस्त हो रहा है, उसके उद्धार के लिये जब तक किसी महा अभियान का शंख न फूँका जायेगा तब तक उसकी रक्षा होना कठिन ही है । इसके लिये मुझे आत्म-त्याग करके लोगो के सामने एक आदर्श रखना ही चाहिये और साथ ही जन्म समुदाय का मार्ग-दर्शन भी करना चाहिये ।

पर उस समय देश की जैसी राजनैतिक और सामाजिक अवस्था थी और आवागमन के साधन जैसे अल्प थे, साधारण गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए इतना गुरुतर कार्य पूरा कर सकना असम्भव था । उस समय रेल और मोटर तो क्या अधिकाश भागो में घोड़ागाड़ी की व्यवस्था नही थी, अधिकांश मार्ग कच्चे ही थे जिन पर केवल बैलगाड़ियाँ चल सकती थीं । बीच-बीच मे ऐसे भू-भाग ही थे जहाँ केवल जगल ही थे और मनुष्य केवल पैदल ही यात्रा कर सकते थे । फिर मार्ग में हर जगह डाकू, लुटेरो का भी भय था जिसके

कारण वहुत से लोग मिलकर ही यात्रा करते थे, अकेले यात्रा करना जानवूझ कर खतरे में पड़ना माना जाता था ।

ऐसे देश काल मे जव चैतन्य ने हिन्दू-जनता मे जागृति उत्पन्न करने का निश्चय किया तो उन्होंने समझ लिया कि यह कार्य संन्यास ग्रहण किये विना नहीं हो सकता । संन्यासी होकर ही विना कौड़ी पैसा पास रखे देश-भ्रमण करना सम्भव है और उसी वेश में सभी प्रान्तों की हिन्दू जनता उनकी वातों को आदर-पूर्वक सुन सकती है । इसके सिवाय जव तक वे स्वयं कोई वड़ा त्याग करके न दिखायें तव तक दूसरों से देश और जाति के हित के लिये त्याग करने के लिये कहना और उसका कुछ प्रभाव होना सम्भव नहीं है ।

यह सोचकर चैतन्य ने विना अधिक विलम्ब लगाये इस विचार को कार्य रूप में परिणित करने का निश्चय कर लिया और एक दिन रात्रि के समय बिना किसी से कुछ कहे-सुने घर से निकल पडे । उस समय उनकी आयु चौवीस वर्ष की थी और अव तक का जीवन घर मे बड़े सुखपूर्वक वीता था । ऐसी पूर्ण युवावस्था में समस्त सांसारिक सुखों, पत्नी के मधुर-प्रेम तथा माता की हार्दिक ममता को विसरा कर संन्यास के शून्य मार्ग को ग्रहण कर सकना एक असाधारण साहस था जो मनुष्य को युगो के लिये अमर बना देता है । निःसन्देह चैतन्य का यह त्याग बुद्धदेव के समकक्ष ही था । उन्होंने फिर भी एक पुत्र के उत्पन्न होने पर गृहत्याग किया था, पर चैतन्य ने तो उसकी भी कुछ चिन्ता न की ।

पर चैतन्य का निश्चय इतना दृढ़ था कि उनको घर वापस भेज सकना किसी प्रकार सम्भव न था । यह देखकर केशवभारती अन्त में उनको दीक्षा देने को तैयार हुए । उनके रेशम के लच्छों के समान घुँघराले वालो को उतारने का काम जिस हरिदास नामक नाई ने किया उसने बड़ी विनती के पश्चात काँपते हुए हाथों से चैतन्य प्रभु के मस्तक पर उस्तरा फेरा । इसके पश्चात् उसने हजामत वनाने का सव सामान गंगाजी मे फेंक दिया और वह भी उनका सेवक बन गया ।

केशव भारती ने चैतन्य के कान में नारायण मन्त्र फूँका तो वे भावावेश मे वेसुध हो गये । नित्यानन्द ने, जो उनके साथ नदिया से आये थे 'हरि वोल' मन्त्र का उच्चारण करके उनको जागृत किया । 'कृष्ण-कृष्ण' जपते चैतन्य ने भगवा वस्त्र धारण किया और एक हाथ से कमण्डल और दूसरे दण्ड धारण किया । इस वेश में जव वे गुरु के सम्मुख आकर खड़े हुए तो उन्होंने उनका भक्ति भाव देखकर उनका सन्यास का नाम 'कृष्ण-चैतन्य' रखा ।

कुछ समय तक आस-पास के स्थानों में भ्रमण करके चैतन्य प्रभु फिर नदिया में आये और अद्वैताचार्य के घर ठहरे । उनके आगमन का समाचार सुनकर विभिन्न मुहल्लो के भक्त कीर्तन करते हुए उनके दर्शनार्थ आने लगे । उनका भगवा वेश और मुड़ा हुआ मस्तक देखकर अनेक प्रेमी आँसू वहाने लगे । नित्यानन्द उनके घर जाकर शचीमाता को वुला लाये । माता को देखते ही चैतन्य चरणों में गिर पड़े और आशीर्वाद माँगा । पुत्र के वियोग से माता के हृदय में वडा आघात लगा था, पर वे महान पुत्र की माता थीं, इससे धैर्य धारण करके कहने लगीं—"चैतन्य ! तेरा मार्ग मंगलमय हो । तू अव हमारा न रहकर सम्पूर्ण विश्व का बन गया है । तेरे द्वारा अनेकों का कल्याण होगा । हमारी रक्षा तो भगवान करेंगे ही, वे विश्वम्भर हैं । इसलिये तू निश्चिन्त रहना ।"

माता की ऐसी धैर्य और ज्ञानपूर्ण वाणी सुनकर चैतन्य प्रभु बहुत सन्तुष्ट हुए और सबको आश्वासन देकर नित्यानन्द के साथ जगन्नाथ पुरी की तरफ रवाना हो गये । अव वे उड़ीसा की सीमा पर पहुँचे तो उनकी भेंट सीमारक्षकों से हुई । वगाल के शासक तथा उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र के बीच उस समय झगडा चल रहा था, इसलिये सीमा-रक्षक बंगाल से आने वालों को वहुत तंग किया करते थे । पर चैतन्य देव के समदर्शी मनोभाव को देखकर वहाँ का प्रधान अधिकारी बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने विना जरा भी आपत्ति के चैतन्य देव की पूरी मण्डली को उडीसा में प्रवेश करने दिया ।

पुरी मे कुछ समय तक प्रचार करने के पश्चात् चैतन्य देव ने अपने मुख्य कार्य की तरफ ध्यान दिया और वे भारतीय जनता को जागृति का सन्देश सुनाने के लिये अकेले ही चल दिये । उनके साथ केवल एक सेवक था जिसका नाम कृष्णदास था । गोदावरी के तटवर्ती विद्यानगर में वहाँ के राजा रामानन्द ने, जो

स्वयं भी बड़ा विद्वान था, इनकी बड़ी सेवा-पूजा की और कई दिन तक शास्त्र चर्चा करता रहा । वहाँ से चलकर कृष्णा, कावेरी, ताम्रपर्णी नदियो के तट पर अवस्थित अनेक तीर्थो मे भ्रमण करते और वहाँ पर एकत्रित जनसमुदाय को धर्म और देश की रक्षा की प्रेरणा देते हुए सेतुबन्ध और रामेश्वरम् तक जा पहुँचे, फिर पश्चिमी घाट की तरफ जाकर उन्होंने त्रिवेन्द्रम, मैसूर, कर्नाटक, नासिक मंढरपुर आदि की यात्रा की । वहाँ से द्वारिका पहुँचे और फिर दक्षिण भारत के विनयनगर राज्य होकर जगन्नाथपुरी वापस आ गये । इस यात्रा मे उनको दो वर्ष से अधिक समय लगा ।

दक्षिण भारत की इस यात्रा में कई उल्लेखनीय घटनायें हुईं । चैतन्य प्रभु जब 'सिद्धवट' नामक स्थान मे पहुँचे तो वहाँ एक ब्राह्मण को पेड के नीचे गीतापाठ करते देखा । उसे गीता पर बहुत अधिक श्रद्धा थी, पर वह श्लोको का शुद्ध उच्चारण नही कर सकता था । इससे उसे बड़ा खेद होता, वह गीता पढ़ता जाता और आँखों से बराबर आँसू बहते रहते । चैतन्य बडे प्रेम से उसका पाठ सुनने लगे । पाठ पूरा होने पर उन्होंने उसे हृदय से लगाकर बड़े अनुराग पूर्वक भेंट की । ब्राह्मण ने उनको अपने अज्ञान के विषय मे बतलाया, इस पर चैतन्य ने कहा—

"भूदेव ! तुम धन्य हो । भगवान तो भावना को देखते हैं । अगर आपका मनोभाव सच्चा और शुद्ध होगा तो उसका शुभ फल अवश्य प्राप्त होगा । भाव-शुद्धि के साथ अगर पाठ भी शुद्ध हो तो वह सोने मे सुगन्ध के समान है । तुम अगर प्रयत्न करोगे तो शुद्ध पाठ करना भी आ जायेगा ।" इसके पश्चात् चैतन्य ने उसे शुद्ध पाठ की विधि भी समझा दी, जिससे उसे बड़ा सन्तोष हुआ ।

रास्ते में एक बार बड़ा भयंकर वन मिला जिसमे नौरोजी नाम का प्रसिद्ध लुटेरा रहता था । लोग उसके नाम से थर-थर काँपते थे । चैतन्य ने उसी वन मे एक वृक्ष के नीचे आसन लगाया और मीठे स्वर से हरिनाम लेने लगे । नौरोजी का पड़ाव भी पास मे ही था । जब उसके कानो मे हरिनाम की ध्वनि पड़ी तो उसका मनोभाव बदल गया और वह चैतन्य के दर्शन करने आया । उनके उपदेश सुनने पर उसकी काया पलट हो गई और उसने कहा—

"प्रभु ! आपने आज मेरे ऊपर जादू कर दिया । आप मुझे इस पापमय जीवन से छुड़ाओ । हिंसा, चोरी, लूट-मार करके मैंने बहुत पाप इकट्ठा किया है, आप मेरा उद्धार कीजिये ।"

चैतन्य ने कहा—"नौरोजी ! सच्चे मन से भगवान की शरण मे जाने वाले को कभी भय नही रहता । भगवान ने गीता में कहा है कि कोई व्यक्ति चाहे कैसा भी दुराचारी क्यो न हो, पर जो हृदय से पश्चाताप करके अनन्य भाव से मेरा ध्यान करने लग जाता है, उसे साधु ही समझना चाहिये । तुम्हारे ऊपर भगवान की दया हो गई है, इसी से तुमको यह सद्बुद्धि आई है । तुमने अब तक जिस प्रकार लोगों को कष्ट पहुँचाया है अब उनकी सेवा, उपकार करने का व्रत धारण करो । यह भगवान का सच्चा व्रत है ।"

चैतन्य जब वहाँ से आगे चलने लगे तो नौरोजी भी अपना सर्वस्व त्याग कर उनके साथ हो लिया और सन्तों की सेवा में मन लगाने लगा । बड़ोदा पहुँचने पर किसी आकस्मिक बीमारी से उसका देहावसान हो गया और चैतन्य ने एक आत्मिक जन के समान उसकी नश्वर देह को समाधि दी ।

एक बड़े तीर्थ मे पहुँचकर चैतन्य किसी शिवालय मे ठहर गये । कुछ समय पश्चात् वहाँ तीर्थराम नाम का एक धनवान और विलासी युवा पुरुष आया । उसके साथ सत्याबाई और लक्ष्मीबाई नाम की दो वेश्याये भी थीं । चैतन्य को वहाँ टिका देखकर उसे उनकी परीक्षा करने की सूझी और उसने दोनो वेश्याओ को उनके पास इसी उद्देश्य से भेजा । वे उस समय हरिनाम कीर्तन में आनन्द मग्न थे, नेत्र बन्द करके अत्यन्त मधुर स्वर से भगवान का नाम ले रहे थे । थोड़ी देर बाद उन्होंने आँखें खोलीं तो दोनो स्त्रियों को सामने बैठी देखा । वे हाथ जोड़कर उनसे कहने लगे—"माताजी ! इस दीन सन्तान के पास आप कैसे पधारीं ? मै आपकी क्या सेवा करूँ ?" वेश्याये उनके इस भाव को देखकर अत्यन्त लज्जित हो गईं और चरणो में गिरकर क्षमा माँगने लगी । उसी समय तीर्थराम भी वहाँ आ गया । चैतन्य के उपदेश से वे शुद्ध वैष्णव बन गये और परोपकारमय जीवन व्यतीत करने का निश्चय करके अपने घर चले गये ।

दक्षिण भारत की यात्रा करते हुए कूर्माचल स्थान मे चैतन्य की भेंट वासुदेव नामक व्यक्ति से हुई जो प्रारब्धवश कोढ़ी हो गया था, पर उस दशा में भी भगवान पर पूर्ण विश्वास रखने वाला था। जब उसे चैतन्य के आने की खबर मिली तो किसी प्रकार चलकर उनके ठहरने के स्थान पर पहुँचा। पर उस समय तक वे आगे के लिये चल चुके थे। इस पर वह शोक करता हुआ वहीं बैठ गया और अपने आपको कोसने लगा। भगवान ने उसकी पुकार सुन ली और चैतन्य किसी कारणवश फिर वहाँ आ गये। उन्होंने वासुदेव को गले से लगा लिया, यद्यपि वह कहता ही रहा—"प्रभु आप मुझे स्पर्श न करें। मेरा यह अपवित्र पीव आपकी सुवर्ण जैसी सुन्दर देह में लग जायेगा।" चैतन्य ने कहा कुछ भी हो मैं तुम्हारे समान सच्चे भगवद्भक्त से कैसे पृथक् रह सकता हूँ ?

इसी प्रकार पुरी में चैतन्य ने श्री सनातन को कोढ़ी होने पर भी अपना शिष्य बनाया और साथ मे रखा। इनकी कृपा से वह कुष्ठ रोग फिर ठीक हो गया और श्री सनातन ने वृन्दावन मे रहकर चैतन्य के सिद्धान्तों का इतना अधिक प्रचार किया कि वह आज भी इनके अनुयायियों का सबसे बड़ा केन्द्र बना हुआ है।

जब चैतन्य प्रभु यात्रा से लौटकर जगन्नाथपुरी आ गये तो उड़ीसा के महाराज प्रतापरुद्र ने अपने गुरु सार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा प्रार्थना कराई कि वे एक दिन राजभवन में पधार कर मुझे दर्शन दें। यह सुनकर, चैतन्य कहने लगे—"भट्टाचार्य जी ! आप कैसी बात कह रहे है। अब संन्यास लेने पर राजभवन में मेरा क्या काम रहा ?

निष्किंचनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य।
पारे परं जिगमिषोर्भवसागरस्य॥
संदर्शनं विषयिणामथ योषितां च।
हा हन्त हन्त विषभक्षण तोऽप्य साधु॥

"जो मनुष्य अकिंचन है, भगवान के भजन मे संलग्न है, संसार-सागर से पार उतरना चाहता है, उसे विषयी लोगों और रमणियों का दर्शन विषभक्षण से भी अधिक अनिष्टकारक है।"

अन्त में महाराज एक दिन स्वयं सब प्रकार के राज्य चिन्हों को त्याग कर अत्यन्त साधारण वेश-भूषा में चैतन्य देव के पास पहुँचे और उनके चरणों को दबाते हुए भागवत् के श्लोक सुनाने लगे। तब चैतन्य ने अत्यन्त प्रेमपूर्वक उनसे भेंट की और कहा कि "मैं तो कंगाल हूँ आपको केवल यह प्रेमालिंगन ही दे सकता हूँ।"

कुछ समय पश्चात् चैतन्य देव वृन्दावन की यात्रा को गये। प्रयाग में उनकी भेंट बल्लभाचार्य से हुई। भक्तिमार्ग के इन दो महान प्रचारकों में परस्पर महत्वपूर्ण विषयों पर विचार-विनिमय हुआ। वृन्दावन में, जो उस समय साधुओं का ही स्थान था, उन्होंने भली प्रकार भ्रमण किया और वहाँ एक ऐसे सार्वजनिक तीर्थ की योजना बनाई, जहाँ जनता सदैव आती रहे और भगवद्-भक्ति के साथ ही धर्मनिष्ठा और जातीयता की रक्षा की प्रेरणा ग्रहण करती रहे।

वृन्दावन से पुरी आकर चैतन्य स्थायी रूप से वहीं निवास करते रहे। अब कीर्तन का कार्यक्रम तथा उनके उपदेशों का प्रभाव दूर-दूर तक फैल गया था और हिन्दुओं में चेतनयता आती जाती थी। इसलिये बाहर से सदैव अनेक धर्मानुरागी सज्जन दर्शनों को आते और उनसे धर्म-प्रचार की प्रेरणा लेकर अपने यहाँ वैसी ही कार्यारम्भ करते। जगन्नाथ जी की रथ यात्रा का उत्सव तो देशव्यापी था ही और उस अवसर पर अन्य प्रान्तों से आने वाले दर्शकों द्वारा चैतन्यदेव को अपने सिद्धान्तों का प्रचार समस्त देश में कर सकने का सुयोग प्राप्त हो जाता था।

इस प्रकार बीस-पच्चीस वर्ष तक—भक्ति-मार्ग द्वारा हिन्दू सगठन और नवजागरण का कार्य सम्पन्न करके चैतन्य-प्रभु ने अपने कार्यक्रम को सफल होते देख लिया। उस समय (सम्वत् १५६०) उनकी आयु यद्यपि ४८ वर्ष की ही थी, पर कोमल प्रकृति के होने के कारण अनेक प्रकार की असुविधाओ को सहन करने और लगातार श्रम करते रहने से वे दुर्बल हो गये और इसलिये उन्होने अपनी लीला को सम्वरण करना ही उचित समझा। एक बार तो वे भावावेश मे आकर समुद्र में कूद पड़े, पर कुछ मल्लाहो ने उन्हे बाहर निकाल लिया। उसके पश्चात एक दिन कथा सुनते-सुनते उठे और बड़ी शीघ्रता से जगन्नाथ जी की मूर्ति के सम्मुख प्रार्थना करते-करते कुछ ही क्षणों में प्राण-त्याग दिये।

चैतन्य प्रभु के इस प्रकार के आत्म-बलिदान से उनके अनुयायियों को जो आन्तरिक प्रेरणा प्राप्त हुई उसमे धर्मनिठा और जातीयता की एक देशव्यापी लहर फैली जिसने हिन्दू-जाति को ओत-प्रोत कर दिया। जो लोग कीर्तन के वाह्य रूप को ही देखते हैं, उनके लिये तो वह केवल 'राम-कृष्ण' आदि के नाम का संगीतमय उच्चारण और नाचना-गाना ही है। पर उसके भीतर जो समाज को जागृत, उद्यत और संगठित बनाने की महान सम्भावना निहित है, उसकी तरफ थोड़े ही लोग ध्यान देते हैं। चैतन्य महाप्रभु ने वास्तव में इसी उद्देश्य से कीर्तन का प्रचार किया था और उससे करोड़ों व्यक्तियों को जातीयता और एक्यता के भावों से अवगत कराया था। मुसलमानी शासन-काल में इसके प्रभाव से अनगिनती व्यक्ति देश और धर्म के लिये आत्म-त्याग करने को तैयार हुए थे। यह सच है कि वर्तमान समय में अनेक लोगों ने कीर्तन को एक पेशा बना लिया है। इसके द्वारा वे मौज-मजा की जिन्दगी ही नहीं गुजारते वरन् अनेक अवसरों पर चरित्र-भ्रष्टता के कृत्य भी कर डालते हैं। पर यह तो कीर्तन का वैसा ही दुरुपयोग है जैसा देश-सेवा और समाज-सेवा आदि के क्षेत्रों में भी प्रायः देखने मे आया करता है।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने कीर्तन का प्रचार सर्वथा भिन्न उद्देश्य से किया था। उनका उद्देश्य इसके द्वारा हिन्दू-जाति को जागृत और संगठित करना ही था जिससे वह विदेशी और विधर्मी आक्रमणकारियों का सामना अच्छी तरह कर सके। इधर बीस पच्चीस वर्ष से देश में फिर कीर्तन-प्रचार की एक लहर आई है, पर हमें खेद से कहना पड़ता है कि अधिकांश लोगों ने उसे केवल 'पुण्य और परलोक' का साधन ही समझा है। कितने ही लोग तो उसे मनोरंजन और मनोविनोद से बढ़कर और कुछ नहीं मानते। इसे हम हिन्दू-समाज और धर्म का दुर्भाग्य ही कहेंगे। यदि हम श्री चैतन्य के महान कार्य और उद्देश्य की तरफ ध्यान दे और कीर्तन मे 'राम-कृष्ण' का नाम लेने के साथ ही उनके आत्म-त्याग, समाज सेवा आदि गुणों को भी अपनाये तो इसके द्वारा आज भी हिन्दू-जाति मे एक ऐसी नवीन चेतना उत्पन्न की जा सकती है, जिससे यह अपनी निर्बलता को त्याग कर पुनः सशक्त और सबल बन सकती है।

# सेवा और सहिष्णुता के उपासक : सन्त तुकाराम

संसार में सभी मनुष्यों का लक्ष्य धन, सन्तान और यश बताया गया है। इन्हीं को विद्वानों ने वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा के नाम से पुकारा है। इन तीनों से विरक्त व्यक्ति ढूँढ़ने से भी कहीं नहीं मिल सकता। सम्भव है किसी मनुष्य को धन की लालसा कम हो, पर उसे भी परिवार और नामवरी की प्रबल आकांक्षा हो सकती है। इसी प्रकार अन्य व्यक्ति ऐसे भी मिल सकते हैं कि जिनको धन के मुकाबले मे सन्तान अथवा यश की अधिक चिन्ता न हो। पर इन तीनों ईषणाओ से मुक्त हो जाने वाला व्यक्ति किसी देश अथवा काल में बहुत ही कम मिल सकता है।

इसका यह भी आशय नही कि इस प्रकार की आकांक्षा रखने वाला मनुष्य निश्चय ही दूषित समझा जाये, संसार में रहते हुए इन वस्तुओ की आवश्यकता मनुष्य को पड़ा ही करती है और यदि इस आवश्यकता को न्यायानुकूल मार्ग से पूरा किया जाये तो उसमें बुराई अथवा निन्दा की कोई बात नहीं है, पर देखने में यह आता है कि बहुसंख्यक लोग इसके लिये गलत उपायों का अवलम्बन करते हैं, इनकी लालसा मे पड़कर अन्य उच्च श्रेणी के लक्ष्यों को त्याग देते हैं, इसलिये इन तीनों ईषणाओं की ज्ञानी व्यक्तियों ने निन्दा की है।

दूसरी बात यह भी है चाहे ये तीनों कामनायें सामान्य दृष्टि से बुरी या हानिकारक न हों, पर जब मनुष्य का ध्यान अधिकांश मे इनकी पूर्ति मे लग जाता है, तो वह परोपकार, सेवा आदि के अधिक श्रेष्ठ कार्यों की तरफ से प्रायः उदासीन हो जाता है। ऐसी दशा में यदि कोई व्यक्ति सांसारिक ईषणाओं की तरफ से

चित्तवृत्तियों को बिल्कुल हटाले और उनकी अपूर्ति में ही आनन्द का अनुभव करे तो उसको अवश्य ही सच्चा सन्त कहा जायेगा। तुकाराम इसी श्रेणी के मनुष्य थे। गृहस्थ-जीवन के आरम्भ में ही जब वे आकस्मिक विपत्तियों के फलस्वरूप सब सांसारिक वस्तुओं से वंचित हो गये, तो उन्होंने भगवान को धन्यवाद देते हुए कहा—

"भगवान ! अच्छा ही हुआ जो मेरा दिवाला निकल गया। अकाल पड़ा यह भी अच्छा ही हुआ, क्योंकि कष्ट पड़ने से ही तेरा ध्यान आया और सांसारिक लालसाओं से पीछा छूटा। स्त्री और पुत्र भोजन के अभाव से मर गये और मैं भी हर तरह से दुर्दशा भोग रहा हूँ, यह भी ठीक ही है। संसार में अपमानित हुआ यह भी अच्छा ही हुआ। गाय, बैल, द्रव्य सब चले गये यह भी अच्छा ही है। लोक-लाज भी जाती रही, यह भी ठीक ही है, क्योंकि इन्हीं बातों से अन्त में तुम्हारी शरण में आया।"

"सच तो यह है कि भगवान अपने सेवक को सासारिक सफलता मिलने ही नही देते, वे उसे सब जंजालों से मुक्त रखते है। अगर वे उसको वैभवशाली बना दे तो उसमे अभिमान उत्पन्न हो जाये। अगर वे उसे गुणवती स्त्री दे तो मन मे उसी की इच्छा लगी रहे। इसलिये वे उसके पीछे कर्कशा स्त्री लगा देते हैं। तुकाराम कहते हैं कि इन सबको मैंने प्रत्यक्ष देख लिया, अब मै संसारी लोगो से क्या कहूँ ?"

## बाल्यावस्था में गृहस्थ संचालन

सन्त तुकाराम का जन्म पूना के निकट देहू गाँव मे सम्वत् १६६५ वि. मे एक कुनबी परिवार में हुआ था। इस जाति वालो को महाराष्ट्र में शूद्र माना जाता है और वे खेती-किसानी का धन्धा करते है। पर तुकाराम के घर मे पुराने समय से लेन-देन का धन्धा होता चला आया था और उनके पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। इसलिये उनकी बाल्यावस्था सुखपूर्वक व्यतीत हुई। जब वे तेरह वर्ष के हुए तो उनके माता-पिता घर का भार उनको देकर स्वय तीर्थों मे भगवत-भजन करने के उद्देश्य से चले गये। तुकाराम उसी आयु मे दुकान का हिसाब-किताब करने में होशियार हो गये थे और पिता ने उनका विवाह भी कर दिया था, पर वे स्वभाव से अत्यन्त सरल, सेवाभावी और सत्यवादी थे। इसका परिणाम यह हुआ कि दुनियादार लोगों ने उनका कर्ज चुकाना तो बन्द कर दिया और जैसे बने ठगने की कोशिश करने लगे।

लोगों की ऐसी मनोवृत्ति देखकर उनका चित सासारिक व्यवहारों से विरक्त होने लगा। पर घर में कई प्राणियों स्त्री, भाई, बहिन आदि का निर्वाह करने का भार उनके ऊपर था, इसलिये फुटकर सामान की एक दुकान खोल ली। पर वे कभी झूठ नहीं बोलते थे, कभी किसी को ठगते नहीं थे, सबके प्रति उदारता का व्यवहार करते थे, इससे स्वार्थी लोग फिर उनके साथ धोखा और ठगी का व्यवहार करने लगे और दुकान में घाटा आ गया। जिन लोगों को उन्होंने उधार दिया था वे तो देने का नाम नहीं लेते थे पर जिनको लेना था वे फौरन नालिश करके घर पर 'जब्ती' का हुक्म ले आये। ससुराल वालों ने एकाध बार सहायता भी की, पर सरलता के कारण लोग उनको किसी न किसी प्रकार ठगते ही रहे और उनकी आर्थिक दशा गिरती ही रही।

कई बार उन्होंने माल ले जाकर बेचने का कार्य शुरू किया। एक बार मिर्च लेकर किसी दूर के स्थान में बेचने को गये। वहाँ जो रुपया मिला उसको लोगों ने नकली सोने के कड़े देकर ठग लिया। दूसरी बार स्त्री (द्वितीय पत्नी) ने दो सौ रुपया कर्ज दिलाकर व्यापार करने को भेजा। उसमे पचास रुपया लाभ भी हुआ। पर वहीं पर एक ब्राह्मण ने आकर अपना दुःख रोया और इतनी अधिक विनती की कि सब रुपया उसी को देकर चले आये। इस पर स्त्री ने उनको बहुत खरी-खोटी सुनाई और दण्ड दिया।

जब उस प्रदेश मे भयकर अकाल पड़ा तो एक बूँद पानी मिलना कठिन हो गया, वृक्ष सूख गये, पशु बिना चारे के मर गये। तुकाराम के घर मे अन्न का दाना भी न था। किसी के दरवाजे पर जाता तो वह खड़ा भी नहीं होने देता, क्योंकि दिवाला निकल जाने से उनकी 'साख' पहिले ही जाती रही थी। घर वाले भूखों मरने लगे। तुकाराम हद से ज्यादा परिश्रम करते पर तब भी पेट नहीं भरता। सब पशु और पहली स्त्री तथा बच्चा इसी में मर गये। इस प्रकार कष्ट सहन करते-करते तुकाराम का मन ससार से विरक्त होने लगा और वह अपना अधिकांश समय

परमात्मा के ध्यान और भजन में लगाने लगे । उसकी दूसरी पत्नी जीजाबाई का स्वभाव बड़ा झगडालू और लड़ाका था । इससे घर में रह सकना और भी कठिन हो जाता था । गाँव के लुच्चे-लफंगे व्यक्ति भी उनको अक्सर छेड़ते रहते थे । वे उनको देखकर कहने लगते—"और भगवान का भजन करो । हरि के नाम ने तुझे निहाल कर दिया ।"

## वैराग्य और एकान्तवास

ऐसी परिस्थिति में भी तुकाराम घर को छोड़कर साधु-सन्त नहीं बने, पर उन्होंने चित्त शुद्धि के उद्देश्य से कुछ समय एकान्तवास करने का निश्चय किया । इसलिये वह निकटवर्ती 'भामनाथ' पर्वत पर चले गये और वहाँ पन्द्रह दिन तक भगवान का ध्यान ही करते रहे । जब यह बात गाँव में फैली तो तुकाराम की पत्नी जीजाबाई बड़ी दुःखी हुई । स्वभाव से वह लड़ाका और झगड़ा करने वाली अवश्य थी, पर साथ ही पतिव्रता भी थी । उसने तुकाराम के छोटे भाई कान्हाजी को उन्हें ढूँढ़ लाने को भेजा । इधर-उधर फिरते-फिरते भामनाथ पर उसकी तुकाराम के साथ भेंट हुई । वह उन्हें समझा-बुझा कर घर ले आया ।

अब तुकाराम ने संसार के झगडों को सदा के लिये मिटाने का निश्चय किया । उन्होंने पिता के समय के वे सब दस्तावेज (ऋण-पत्र) निकाले जो कर्ज लेने वालों ने लिखकर दिये थे । उन सबको वह गाँव के पास वाली इन्द्रायणी नदी में डुबाने चला । यह देखकर छोटे भाई ने कहा—"आप तो 'साधु' हो गये । परन्तु मुझे तो बाल-बच्चों का पालन करना होगा । अगर आप इस सब रुपये को इस तरह डुबा दोगे तो मेरा काम कैसे चलेगा ?" तुकाराम ने उत्तर दिया—"ठीक है तुम इनमें से आधे दस्तावेज निकाल लो और अलग रहकर अपनी गृहस्थी चलाओ । मेरा सब भार तो विट्ठल भगवान पर है । अब मेरा जीवन-क्रम सदा ऐसा ही रहेगा और मेरा निर्वाह भगवान पाण्डुरंग ही करेंगे । पर मै यह नही चाहता कि मेरे कारण तुमको किसी तरह की हानि पहुँचे । इसलिये तुम अपना भाग लेकर अलग हो जाओ और मेरी चिन्ता न करो ।" यह कहकर उसने आधे ऋण-पत्र कान्हाजी को दे दिये और अपने हिस्से के उसी समय नदी में प्रवाहित कर दिये । इस घटना का वर्णन करते हुए कुछ समय पश्चात् सन्त तुकाराम के एक शिष्य ने लिखा था—

"जब तक अनुभव न हो तब तक पुस्तकों मे लिखा ज्ञान प्रायः निरर्थक रहता है, इसी प्रकार हमारा जो धन दूसरों के कब्जे में है वह भी व्यर्थ ही है । इससे मन में हमेशा खराबी पैदा होती रहती है । अमुक मनुष्य के पास से इतना लेना है, पर देगा या नही देगा ? न जाने क्या होगा ? इस प्रकार की तरह-तरह की चिन्तायें और दुराशा मन में लगी रहती है । इसलिये तुकाराम ने अपने सारे कागज-पत्र इन्द्रायणी नदी में डाल दिये । इसके पीछे उन्होंने कभी द्रव्य का स्पर्श नहीं किया । दरिद्रता के सब प्रकार के दुःख उन्होंने सहन कर लिये, माँग कर भी निर्वाह कर लिया, पर द्रव्य को कभी न छूने का निश्चय करके वे धन के फन्दे से सदा के लिये छुटकारा पा गये ।"

जीवन को सुखी बनाने के लिये ऐसे कार्यों से बचना आवश्यक है जिनमें अन्य लोगो से विवाद, झगड़ा और संघर्ष होने की विशेष रूप से सम्भावना रहती है । लेन-देन अथवा व्याज पर रुपया उधार देने का पेशा प्रशंसनीय नही है । इसमें प्रायः अभावग्रस्त व्यक्तियों के शोषण की भावना निहित रहती है और इसलिये इस पेशे को करने वाले व्यक्तियो में स्वार्थपरता की भावना बढ़ जाती है । साथ ही अन्य व्यक्तियो के प्रति उनमें सहानुभूति की भावना भी कम हो जाती है । तुकाराम की प्रकृति जन्म से ही इस कार्य के अनुकूल नहीं थी, इसलिये उनको इस पुश्तैनी पेशे मे आरम्भ से ही असफलता होने लगी और बाद में तो इसके कारण वे नई-नई कठिनाइयो में फँसते चले गये । इसलिये दस्तावेजो को नष्ट करके अपने मन को इस उलझन से मुक्त कर लेना उचित ही था । अध्यात्ममार्ग के पथिक को जीवन-निर्वाह का पेशा भी ऐसा चुनना चाहिये जो अपनी आन्तरिक प्रकृति के अनुकूल हो और जिसमे अन्य व्यक्तियो के अनहित की कोई सम्भावना न हो ।

इस प्रकार अपना जीवन-मार्ग सुनिश्चित करके तुकाराम अपने को आध्यात्मिक जीवन के उपयुक्त बनाने के लिये साधना करने लगे । प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर, विट्ठल भगवान की पूजा करके वे नदी के पार किसी पर्वत पर चले जाते और वहाँ 'ज्ञानेश्वरी'

अथवा 'एकनाथी भागवत' का पारायण करते । इसके बाद जो समय बचता उसमें नाम-जप करते । संध्या के समय गाँव में वापस आकर मन्दिर में कीर्तन सुनते और फिर स्वयं आधी रात तक कीर्तन करते । पिछली रात को थोड़ी देर सो लेते थे । फिर ब्रह्ममुहूर्त में उठकर नित्य कर्मों में लग जाते थे ।

इस प्रकार विरक्त अवस्था में रहकर उन्होंने भूख, प्यास, निद्रा, आलस्य को जीत लिया । गीता के अनुसार 'युक्ताहार विहार' होने से सब इन्द्रियाँ वश में आ गईं । समय-समय पर वे तीर्थयात्रा को भी जाते थे, पर वे तीर्थ आसपास के ही होते थे । अपने पूर्वजों के नियमानुसार आषाढ़ और कार्तिक की पूर्णिमा को पंढरपुर तो जाते ही थे । ज्ञानेश्वर की जन्मभूमि 'आणंदी' तथा एकनाथ का निवास स्थान 'पैठण' उनके गाँव से पास ही थे । फिर एकबार तेईस-चौबीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने समस्त भारत के तीर्थों की यात्रा करके भारतीय समाज की अवस्था और तत्कालीन समस्याओं की जानकारी प्राप्त की । पर तीर्थों की दशा उस समय भी बहुत त्रुटिपूर्ण हो गई थी और सब जगह धर्म-जीवियों ने उनको पेट भरने का साधन बना लिया था । इसलिये सब तीर्थों को देख लेने पर उन्होंने यही कहा—

वाराणसी गया पाहिली द्वारका ।
परि नये तुका पंढरी च्या ॥

अर्थात्—"काशी जी की यात्रा की और द्वारका भी देखी, पर हमको तो पंढरपुर ही सर्वोत्तम है ।"

## सेवा-मार्ग का पथिक

सांसारिक उलझनों और व्यवसाय सम्बन्धी कुटिलताओ के कारण तुकाराम का जीवन दुःखमय हो गया था और इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उनके मन मे वैराग्य की भावना सुदृढ़ हो गई । यो तो संसार में अनगिनती लोगों का जीवन अभावपूर्ण और दुःखी होता है, असह्य कष्ट आ पड़ने पर उनको वैराग्य भी हो जाता है, पर यह वैराग्य क्षणिक होता है । ऐसे वैराग्य को ज्ञानियों ने 'श्मशान-वैराग्य' कहा है । ऐसा वैराग्य-श्मशान भूमि से बाहर आते ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि वह ऊपरी होता है, चार आँसू गिरते ही ठण्डा पड़ जाता है । तुकाराम दुनिया की तिकड़मो से केवल व्यथित ही नहीं हुए, वरन् उन्होने इन झंझटो की वास्तविकता को समझकर उनकी जड़ ही काट दी । यद्यपि उन्होंने घर-गृहस्थी को नहीं छोड़ा क्योंकि कर्तव्यपालन से वे विमुख होना नहीं चाहते थे, पर सांसारिक कार्यों को गौण और अध्यात्म-साधन को प्रमुख मानकर 'जीवन-मुक्ति' के आदर्श को अपना लिया । सेवा-धर्म के मार्ग पर चलने वाले को इस प्रकार हानि-लाभ, प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख में समत्व-भावना उत्पन्न करना अनिवार्य है ।

स्वार्थ-भाव के स्थान पर परमार्थ-पथ के पथिक बनने पर उन्होंने सेवाधर्म को ही ईश्वर-भक्ति का माध्यम बनाया । उनका सबसे पहला सेवा-कार्य था पूर्वजों द्वारा स्थापित विट्ठल मन्दिर का जीर्णोद्धार । यह मन्दिर विश्वम्भर बुवा ने बनवाया था जो तुकाराम से आठ पीढ़ी पहले हुए थे । अब यह बहुत कुछ टूट फूट गया था । तुकाराम के पास धन तो था नहीं, उन्होंने श्रमदान द्वारा इस कार्य को पूरा किया और इसी को भगवान की 'कायिक-सेवा' मान लिया । अपने इस उदाहरण से उन्होंने प्रकट किया कि केवल कीर्तन और नाम-जप ही भगवान की भक्ति के चिन्ह नहीं हैं, वरन् किसी प्रकार की प्रत्यक्ष सेवा भी उसका एक आवश्यक अंग है ।

इसलिये तुकाराम ने स्वयं पहाड़ से पत्थर लाकर इकट्ठे किये, मिट्टी भिगोकर गारा तैयार किया और दीवारें बनाई । यह सब काम उसने अपना पसीना बहा कर किया । इस तरह मन्दिर का जीर्णोद्धार करने से स्वयं उसका भी जीर्णोद्धार हो गया । हृदय के अन्तःस्थल में दबे हुए भाव उभर कर ऊपर आ गये, भक्ति जागृत हुई और फिर इसी भक्ति ने उनको भगवान के विराट् रूप के दर्शन करा दिये । जिस मनोवृत्ति मे भगवान रहते हैं, जिस भाव से भगवान मिलते हैं, उसी भाव को उन्होने मन्दिर के जीर्णोद्धार द्वारा अपने सामने मूर्तिमान किया । चित्त में ऐसे भाव का उदय होने पर, गारे और मिट्टी का काम करते हुए भी भगवान की सेवा कैसे हो सकती है, इसे सच्चे भक्त ही जान सकते हैं । चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य, आरती, प्रभाती, दण्डवत, भजन, पूजन, कीर्तन—ये सब उपासना के बहिरंग हैं । इनके साथ अगर चित्त मे सच्चा भाव न हो तो ये बहिरंग बाहर के बाहर ही रह जाते है । चित्त मे सच्चा भक्ति-भाव होने पर

ही ये बहिरंग आध्यात्मिक-प्रदेश में पहुँचाने का साधन बनते हैं ।

## आत्मानुभव और शास्त्रीय सिद्धान्त

आरम्भिक जीवन में तुकाराम कुछ पढ़े-लिखे न थे और गृहस्थ हो जाने पर भी केवल दुकानदारी का बहीखाता कर सकने योग्य विद्या प्राप्त कर सके थे । पर उसके पश्चात जब उनका झुकाव अध्यात्म-मार्ग की तरफ हुआ और उन्होंने एकान्त में एकाग्र होकर दो-चार धार्मिक ग्रन्थों का पारायण तथा मनन किया तो अनेक प्रकार के धार्मिक और शास्त्रीय तत्त्व स्वमेव उन पर प्रकट हो गये । उनके अभंगों (मराठी कविताओं) में वेद, शास्त्र, पुराण, गीता, भागवत—सबके उपदेशों का आभास मिलता है । एक 'अभंग' में वे कहते है—

**विश्वीं विश्वम्भर बोले वेदांती चा सार ।**
**जगीं जगदीश शास्त्र बदती सावकाश ॥**
**व्यापि लें हें नारायणें ऐंसीं गर्जती पुराणें ।**
**जनीं जनार्दन संत बोलती वचन,**
**सूर्याचीया परी, तुका लोकी क्रीड़ा करी ॥**

अर्थात्—"वेदान्त का सार यही है कि समस्त विश्व में एक ही विश्वम्भर व्याप्त है । यह जगत् जगदीशमय है, यह बात शास्त्रों से धीरे-धीरे विदित होती है । पुराण गरज कर कह रहे हैं कि समस्त दृश्य जगत् नारायण का ही रूप है । जनता में जनार्दन समाया है, यह सन्तो की वाणी है । इस प्रकार, जिस प्रकार विचार किया जाये । "एक मात्र हरि ही समस्त लोक मे क्रीड़ा कर रहे हैं ।"

संकीर्ण विचारो के व्यक्ति विभिन्न शास्त्रों के सिद्धान्तों को लेकर जिस प्रकार दूसरों पर आक्षेप किया करते हैं, या अपने ही साम्प्रदायिक विचारों को सत्य और दूसरो को निराधार बतलाया करते हैं, वह धर्म-सम्बन्धी ज्ञान का नहीं वरन् अज्ञान का द्योतक है । धर्म मे सच्ची श्रद्धा, भक्ति रखने वाला व्यक्ति तो सब मे एक ही तत्त्व को व्याप्त देखेगा । वेद, शास्त्र, पुराण, सन्तों की वाणी—यह समस्त साहित्य केवल इसी उद्देश्य से रचा गया है कि मनुष्य परमात्मा का बोध करके संशय रहित हो और जीवन-मरण के चक्र से छुटकारा पावे । जल तो एक ही है—बावड़ी, कुआँ, तालाब, नदी आदि उसके विभिन्न नाम हैं । कोई नदी के किनारे रह कर उसी के जल से काम चला लेता है, कोई सरोवर के जल का व्यवहार करता है और कोई कुएँ के जल को सर्वोत्तम समझकर उसी को काम में लाता है । नदी, कुआँ, सरोवर—इन सबका उद्देश्य एक ही है कि प्यासे जीव उनके द्वारा अपनी पिपासा को शान्त करें । पर यदि कोई इस उद्देश्य की पूर्ति के बजाय इनके नामों (उपाधि) पर वाद-विवाद करने लगता है, तो यह प्यास लगना नहीं माना जायगा—इसे सच्ची जिज्ञासा नहीं कह सकेंगे । चोखामेला महार, रैदास चमार, सदन कसाई आदि बहुत नीच जाति के कहे जाते थे, पर वे सच्ची प्यास लगने से सत्संग द्वारा ज्ञानरूपी जल को पीकर कृतार्थ हो गये ।

तुकाराम को भी जन्म से शूद्र माना जाता था, इसलिये ब्राह्मण-धर्म की परम्परा के अनुसार उनको वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था । उन्होंने कई 'अभंगो' में स्पष्ट कहा है कि "मुझे अक्षरों के बाँचने का अधिकार नहीं है ।" पर उन्होंने उस सम्बन्ध में कभी ब्राह्मणों के साथ झगड़ा नहीं किया । उनका मन इतना क्षुद्र नहीं था कि मूलतत्त्व को त्यागकर ऐसी निरर्थक बातों पर अपनी शक्ति लगायें । वे जानते थे कि ब्राह्मणों को वेदाधिकार होने पर भी सब ब्राह्मण वेदाध्ययन नहीं करते और जो करते हैं वे सब संसार-सागर से पार नहीं हो जाते और अगर वे सब पार हो जाते हों तो भी इसमें हमारा क्या नुकसान है ? इससे दूसरे लोगों के लिये ऊँचे उठने का रास्ता तो बन्द नहीं हो जाता । भगवान ने तो गीता ९-३ में स्पष्ट कह दिया है—

**स्त्रियो वैश्या स्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।**

इस शास्त्र-वचन के अनुसार वैश्य, शूद्र, स्त्री—सबके लिये मोक्ष का द्वार खुला है । जिनको वेदों का अधिकारी बतलाया जाता है उनमे से थोड़े उनका अध्ययन करने वाले थे और उनके अनुसार आचरण करने वाले तो नाम मात्र को ही थे । इसके सिवाय वेदार्थ अत्यन्त गहन है, शास्त्र अपार है और मनुष्य का जीवन बहुत छोटा है । इसलिये धर्म और अध्यात्म का जो रहस्य-पुराणों और भाषाग्रन्थों में सुलभ रूप में मिलता है उसी से लाभ क्यों न उठाया जाय ? जिसके हृदय में सच्ची लगन है वह विवाद में नहीं पडता । उसको तो जो साधन समीप में और सुलभ रूप में मिल जायेगा, उसी का अवलम्बन लेकर अपना उद्देश्य सिद्ध

कर लेगा । इसलिये तुकाराम ने पुराणों और सन्त-वाणी को ही अपने अध्ययन के लिये पसन्द किया । उन्होंने पहले ही कह दिया है—

पुंढिलांचे सोयी माझ्या मना घाली ।
मातेचीं आणिली नाहीं युक्ति ॥

अर्थात्—पूर्व समय के सन्तों के मार्ग पर चलना, यही मेरी प्रवृत्ति है । मैंने अपनी बुद्धि से कोई नया मत ग्रहण नहीं किया है । "आगे चलकर अपनी विनयशीलता का परिचय देते हुए लिखा है—'मेरी वाणी तो मूर्ख की बकवास है, बालक की तोतली बातों के समान है । आप सन्तजनों का उच्छिष्ट सेवन करके, आपका आश्रय पाकर ही मेरे मुख से प्रसाद गुणयुक्त वाणी निकली है ।" तुकाराम के इन उद्‌गारों को पढ़कर हमको गोस्वामी तुलसीदास जी की निम्न उक्ति याद आ जाती है—

भाषा भनिति भोरि मन मोरी ।
हँसि वे जोग हँसे नहिं खोरी ॥
छमहहिं सज्जन मोर ढिठाई ।
सुनहहिं बाल वचन मन लाई ॥

इसमें सन्देह नहीं कि तुकाराम ज्ञान के सच्चे आराधक थे, जिन्होंने विना विशेष शिक्षा प्राप्त किये शास्त्र के मूलतत्त्व को ग्रहण कर लिया और उसे ऐसे लोकोपभोगी रूप में प्रकट किया, जिससे अभी तक लाखों व्यक्ति अध्यात्म मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्राप्त कर रहे हैं ।

## *गुरु-महिमा*

भारतवर्ष के साधको का विश्वास है कि सद्‌गुरु की कृपा विना किसी को अध्यात्म-मार्ग मे सफलता नहीं मिल सकती । अनेक लोग यही कहा करते हैं कि हमने ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया, अपनी बुद्धि से उनका रहस्य भी समझ लिया, अब गुरु की क्या आवश्यकता है ? जो लोग इस प्रकार का विचार रखते हैं वे अन्त में अहंकार के जाल मे ही फँमे दिखाई पड़ते हैं । विद्या प्राप्त कर लेने पर भी विना उपयुक्त मार्ग-दर्शन के उसे व्यवहार में लाना और पूरा लाभ उठा सकना बहुत कठिन होता है ।, श्रीमत् शकराचार्य जैसे महान मनीषी भी यही कह गये हैं—

पडंगादि वेदो मुखे शास्त्र विद्या ।
कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति ॥
गुरोरंघ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ।
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥

अर्थात्—"यदि तुमने छः अंग सहित वेद और शास्त्र कण्ठस्थ कर लिये और बढ़िया काव्य तथा गद्य रचना करने लगे, पर गुरु के चरणों में तुम्हारा मन संलग्न नहीं हुआ तो सब निरर्थक है—निरर्थक है ।"

तुकाराम अध्यात्म-मार्ग के साधारण पथिक नहीं थे । इसलिये उन्होंने जो कोई मिल गया, उसे यों ही सहज में गुरु नहीं बना लिया । अनेकों को कसौटी पर कस कर देखा और फिर दूर से ही प्रणाम करके विदा कर दिया । जहाँ-तहाँ ब्रह्मज्ञान की कोरी बातें सुनने में आईं, पर उसके प्रत्यक्ष लक्षण कहीं देखने को नहीं मिले । उन्होंने बार-बार दीनतापूर्वक सद्‌गुरु के लिये पुकार की पर उनको सर्वत्र "दिखावटी पहाड़ और नीव रहति दीवारें" ही दिखलाई पड़ीं । तुकाराम चारों तरफ पाखण्ड और दम्भ देखकर चिढ़ गये और उन्होंने ऐसे 'दम्भी सन्तो' की अपने 'अभंगों' मे खूब खबर ली—

काम क्रोध लोभ चित्तीं, वारि-वारि दाविती विरक्ती ।
तुका म्हणे शब्द-ज्ञानें, जग नाड़ियलें तेणें ॥१॥
रिद्धि-सिद्धि चे साधक, वाचा सिद्ध होती एक ।
त्यांचा आम्हासी कंटाला, पाहों नावड़ती डोळां ॥२
दावुनि वैराग्यची कला, भोगी विषयांचा सोहरणा ।
ज्ञान सांगतो जनांसो, अनुभव नाहीं आपणासी ॥३

अर्थात्—"चित्त मे तो काम, क्रोध, लोभ भरा हुआ है, पर ऊपर से विरक्त का-सा भाव प्रकट कर रहे हैं । ऐसे गुरु कोरे शब्द ज्ञान से दुनिया को धोखा देते हैं ॥ १॥ कोई ऋद्धि-सिद्धि के पेट मे पड़ा है, कोई वाक्-सिद्ध बनता है । इन सबसे मेरा मन उपराम हो गया है, उनको मै देखना भी नहीं चाहता ॥ २॥ वैराग्य की 'चमक' दिखलाते है, पर स्वयं विषयों मे लिप्त है । लोगों को ज्ञान सिखलाते हैं, पर स्वयं कुछ अनुभव नहीं रखते ॥ ३॥

ऐसे दम्भी, अधकचरे और गुरु बन कर पेट भरने वाले 'सन्त' जगह-जगह बहुत-से मिल गये, पर तुकाराम की शुद्ध और सूक्ष्म बुद्धि को सच्चे और झूठे की परख करते कितनी देर लगती थी । उन्होंने उसी समय कह दिया—"भजन और स्तुति रचने वाले सन्त नहीं है । सन्तों के परिवार वाले भी सन्त नही हैं । अपना घर

भर कर दूसरों को वैराग्य का उपदेश देने वाले सन्त नहीं है । केवल कथा वाँचने वाले, कीर्तन करने वाले, माला-मुद्रा धारण करने वाले, भस्म लपेटने वाले, जंगलों मे रहने वाले अथवा जप-तप करने वाले भी सन्त नहीं है । ये सब बाहरी लक्षण है, इनसे किसी की साधुता (आध्यात्मिकता) प्रकट नहीं होती ।" अन्त में तुकाराम ने किस प्रकार इस समस्या को हल किया, उस सम्बन्ध मे अपना अनुभव वे इस प्रकार प्रकट करते हैं—

"मैंने ज्ञानियों के यहाँ भगवान को ढूँढने की चेष्टा की, परन्तु देखा कि उनके पीछे तो अहंकार पडा हुआ है । शास्त्र-परायण पंडितो को देखा तो वे एक-दूसरे को नीचा दिखलाने में ही लगे थे । आत्म-निष्ठा देखने का प्रयत्न किया तो उनकी चेष्टायें उल्टी ही दिखाई पड़ी । योगियो को देखा तो उनमें भी शान्ति नहीं है, क्रोध के वशीभूत होकर एक-दूसरे को घुड़की देते रहते है । इसलिये हे भगवान ! अब मुझे किसी के सम्मुख विवश न कराओ । मैंने इन सब उपायों से थक कर अब दृढ़तापूर्वक आपके चरण ही पकड़ लिये हैं ।"

जब तुकाराम को ढूँढ़ने पर भी अपनी पसन्द के माफिक सच्चा गुरु न मिला और सम्भवतः ब्राह्मणो ने शूद्र मानकर उनको दीक्षा का पात्र भी न समझा तो उन्होंने विट्ठल भगवान से ही गुरु बतलाने की प्रार्थना की । भगवान ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके एक पुरातन सन्त 'बाबाजी चैतन्य' द्वारा स्वप्न में उनको 'मन्त्र-दीक्षा' दिलवाई । इस सम्बन्ध में एक अभंग में कहा गया है—

"गुरुदेव ने सचमुच मेरे ऊपर बड़ी कृपा की पर मुझसे तो उनकी कोई सेवा न बन पड़ी । स्वप्न में इन्द्रायणी की तरफ स्नान के लिये जाते हुए मार्ग मे वे मिले और मेरे मस्तक पर हाथ रख दिया । उन्होंने भोजन के लिये एक पाव घी माँगा, पर उसे लाना तो मैं भूल गया था । फिर कोई अनिवार्य आवश्यकता आ पड़ने से वे शीघ्र ही चले गये और मुझे गुरु परम्परा का नाम इस प्रकार बतला गये कि प्रथम गुरु, 'राघव चैतन्य' उनके शिष्य 'केशव चैतन्य' और फिर अपना नाम 'बाबाजी चैतन्य' बतलाया । मुझे 'रामकृष्ण हरि' मन्त्र दिया । माह सुदी दशमी, गुरुवार को गुरु का वार समझकर मुझे स्वीकार कर लिया ।"

तुकाराम ने 'स्वप्न-दीक्षा' देने वाले अपने गुरु का जो परिचय दिया था वह काल्पनिक नहीं था । मराठी के 'चैतन्य कथा कल्पतरु' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि 'राघव चैतन्य' एक बड़े तपस्वी हुए थे । उन्होंने माँडवी मे पुष्पावती नदी के तट पर वर्षों तक घोर तपस्या की थी । उनके शिष्य 'कृष्ण चैतन्य' हुए । एक बार किसी घटनावश इन्होंने हैदराबाद के निजाम को कुछ चमत्कार दिखाया जिससे वह इनका भक्त हो गया और इनके सम्मानार्थ दो स्मारक बनवाये । इन्हीं 'केशव चैतन्य' के शिष्य 'बाबाजी चैतन्य' हुए । जिन्होंने तुकाराम को स्वप्न में दीक्षा दी ।

## सिद्ध को भी साधन करने की आवश्यकता

कुछ लोग ऊपर लिखी घटना में यह शंका प्रकट करते हैं कि तुकाराम तो सिद्ध पुरुष थे और अपने अनुयायियों के मतानुसार संसार के कल्याणार्थ उनका आगमन वैकुण्ठ लोक से हुआ था, फिर उनको चित्त-शुद्धि और अन्य साधनों की क्या आवश्यकता थी ? उनके अभंगों में एकाध जगह कहा गया है कि "संसार को धर्म-नीति का मार्ग दिखलाने, भगवत्-भक्ति का डंका बजाने और सन्तों का रास्ता साफ करने के लिये मैं भगवान का संदेश लेकर आया हूँ ।" तो फिर सामान्यजनों की भाँति चित्त शुद्धि के उपाय ढूँढ़ना और उन साधनों को करके लोक-कल्याण का काम पूरा कर सकने का रहस्य क्या है ? संसार का उद्धार करने के लिये ही जिनका आविर्भाव हुआ है । उनका चित्त मलिन कैसे हो सकता है ?

इस शंका का समाधान यह है कि भगवान के अंश स्वरूप अवतारों के जो चरित्र वर्णन किये गये है वे सामान्य मनुष्यो के अनुरूप ही है । यदि वे अध्ययन, मनन, साधन, अभ्यास आदि के बिना ही महान कार्यों को करके दिखला दे तो उनका उदाहरण सामान्य मनुष्यो के किस काम का ? सम्भव है उनको कुछ विशेष दैवी विभूतियाँ बाद में प्राप्त हो जाती हों, पर मनुष्य देह धारण करने पर उनको मनुष्योचित व्यवहार ही करना चाहिये । महात्माओं के चरित्र के दो अंग होते हैं—एक दैवी और दूसरा, मानुषी । दैवी अंग द्वारा वे कुछ विशेष कार्यों की पूर्ति करते हैं जिनका कर सकना अन्य लोगों के लिये कठिन होता है, परन्तु अपना सामान्य जीवन-क्रम वे अन्य सब लोगो के समान ही रखते हैं,

जिससे उनका चरित्र हमारे लिये दृष्टान्त स्वरूप और अनुकरणीय हो सके । 'भगवत् गीता' के अनुसार भगवान ने आवश्यकता पड़ने पर अर्जुन को विराट् रूप का दर्शन कराया, पर साथ में यह भी कह दिया—

मम वर्त्मानु वर्तन्ते मनुष्यः पार्थ सर्वशः ।

इस कथन द्वारा उन्होंने वर्णाश्रम धर्म के पालन और लोक-संग्रह के आदर्श का अनुसरण करने का निर्देश किया है । तुकाराम के चरित्र में भी ये दोनों अंग दिखाई पड़ते हैं । उन्होंने बिना किसी विशेष प्रभाव के महाराज शिवाजी और ब्राह्मणत्व के अभिमानी, सुप्रसिद्ध पंडित रामेश्वर को अपना अनुयायी बनाकर अपनी दैवी शक्ति का परिचय दे दिया । पर वैसे सदा बिल्कुल सामान्य और गरीब गृहस्थ की तरह जीवन बिताया, शारीरिक परिश्रम करके उदर निर्वाह किया, आजन्म गृहस्थी की कठिनाइयों को सहन करते हुए स्त्री-बच्चों का भी पालन करते रहे । ये बातें उनकी बहुत बड़ी विशेषतायें और महानता हैं । यदि वे संसार को त्यागकर साधु अथवा चमत्कारी बाबा बन जाते तो उनका चरित्र जन-साधारण के लिये निरुपयोगी होता । लोग उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति रख सकते थे पर उनका अनुकरण करके कोई लाभ नहीं उठा सकते थे । पर उन्होंने अध्यात्म-मार्ग में उच्च कोटि की योग्यता प्राप्त करके भी अपना जीवन और रहन-सहन एक साधारण गृहस्थ के समान बनाये रखा, यही सबसे अधिक महत्त्व की बात है, जिससे सामान्य व्यक्ति भी शिक्षा ग्रहण कर सकता है ।

## मन को जीतना सबसे बड़ा पुरुषार्थ

तुकाराम ने अपने मन को वश में करने के लिये बड़ा प्रयत्न किया था और उन्होंने अन्य अध्यात्म प्रेमियो को यही उपदेश दिया है कि मनोजय के बिना आत्मजय की बात करना दम्भ मात्र है । पर मन का जीतना सहज नहीं और यही कारण है कि सार्वभोम सम्राटों की अपेक्षा भी अपने मन पर विजय प्राप्त करने वाले एक लँगोटीधारी साधु को संसार में अधिक महत्त्व दिया जाता है । इस तथ्य को समझाते हुए तुकाराम ने कहा—

मन करा रे प्रसन्न, सर्व सिद्धि में साधन ।
मोक्ष अथवा बन्धन, सुख समाधान इच्छातें ॥

अर्थात्—"भाइयो ! मन को प्रसन्न करो, जो कि सब सिद्धियों का मूल और बन्धन तथा मोक्ष का कारण है । उसको स्वायत्त करके ही सुख की इच्छा की जा सकती है ।"

आगे चलकर वे कहते हैं "मन पर अंकुश रखना चाहिये कि जिससे जागृति का नित्य नवीन दिवस उदय होता रहे ।" पर यह बात कहने में जितनी सहज है उतनी ही करने में कठिन है, इस बात को भी तुकाराम बहुत अच्छी तरह समझते थे । इसलिये उन्होंने भगवान से बार-बार यही प्रार्थना की है कि वे उन्हें मन को वश में करने की शक्ति दें । इस दृष्टि से वे निरंकुश मन की निन्दा करते हुए कहते हैं—"मन को रोकने की इच्छा करें तो भी यह स्वेच्छाचारी नहीं रुकता । मेरा मन मुझे ही हानि पहुँचाता है । इसके भीतर सांसारिक प्रपंच भरा है, भक्ति तो बाहर ही दिखलाई पड़ती है । इसलिये हे भगवान मैं बहुत ही दुखी हूँ । क्या मन के इन विकारों को आप भी नहीं रोक सकते ? इसने मेरे मार्ग में काम, क्रोध के पर्वत खड़े कर दिये हैं, जिससे भगवान दूसरी तरफ ही रह गये । मैं इन पहाड़ों को लाँघ नहीं सकता और कोई रास्ता भी दिखलाई नहीं पड़ता । अब नारायण मेरे सुहृद कहाँ रहे ? वे तो मुझे छोड़कर चल दिये । यह मन ऐसा चंचल है कि एक घड़ी या एक पल भी स्थिर नहीं रहता । इसको मैंने बहुत रोका, बाँध कर रखा, पर इससे यह और भी बिगड़ने लगता है और चाहे जहाँ भागता है । इसको न भजन प्रिय लगता है न शास्त्र-कथा रुचिकर जान पड़ती है । यह तो केवल विषयों की तरफ ही दौड़ता है ।"

## धन, कामवासना और मान

अध्यात्म-मार्ग में धन, कामवासना और मान तीन बड़ी खाइयाँ हैं । प्रथम तो इस मार्ग पर चलने वाले यात्री ही थोड़े होते हैं । फिर जो होते भी हैं वे पहली ही खाई अर्थात् अर्थ लिप्सा में ही गायब हो जाते हैं । जो बच रहते हैं वे दूसरी खाई—कामवासना में डूब जाते हैं । इससे भी बचकर जो आगे बढ़ते हैं वे तीसरी खाई—यश की लालसा में खप जाते हैं । जो इन तीनों खाइयों को पार कर जाते हैं वे ही अध्यात्म के शिखर पर पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं ।

तुकाराम का मनःसंयम बड़ा प्रचण्ड था, इससे पहली दो खाइयों को तो वह सहज ही पार कर गये। पर तीसरी के पार करने में उन्हें भी कुछ कठिनाई हुई, ऐसा जान पड़ता है। सबसे पहले धन की खाई आती है, परन्तु तुकाराम ने वैराग्य की प्रथम अवस्था मे ही 'धन को पत्थर के समान ही नहीं वरन् गौमाँस के समान' मानने का निश्चय कर लिया था। शिवाजी महाराज ने उनके उपदेशों से तृप्त होकर हीरा, मोती सुवर्ण मुद्रायें भेंट स्वरूप भेजे थे, पर तुकाराम ने उनको देखा भी नहीं, ज्यों का त्यों वापस कर दिया। वैराग्य होने के पश्चात् वे धन के सम्बन्ध में निर्लिप्त रहे।

दूसरा मोह काम-वासना का होता है यद्यपि तुकाराम अन्त तक गृहस्थ बने रहे, पर उन्होंने किसी स्त्री को वासना के भाव से कभी नहीं देखा। उनकी दिनचर्या भी ऐसी थी कि रात्रि के समय 'विट्ठल-मन्दिर' में कीर्तन समाप्त होते-होते बारह बज जाते थे और फिर वह कठिनता से तीन-चार घंटे सो सकते थे। वह भी कभी मन्दिर में ही सोते रहते, कभी घर आ जाते। फिर उषाकाल में ही उठकर स्नान करके श्री विट्ठल की पूजा करते और सूर्योदय होते ही किसी पर्वत के ऊपर जा बैठते और वहाँ से प्रायः सन्ध्या तक वापस आते। इस दिनचर्या में स्त्री से मिलने का अवसर कदाचित ही मिलता था। जिस पुरुष में ऐसी प्रखर वैराग्य-भावना हो वह अन्य स्त्रियों की कामना कैसे कर सकता है ? पर-पुरुष से प्रेम करने वाली स्त्रियाँ तो रीछनी के समान लगती थीं—

तुका मृणे तैसा दिसतील नारी।
रिसाचिय परि आम्ह पुढें॥

अर्थात्—"ऐसी चरित्रहीन स्त्रियाँ मेरे सम्मुख आयें तो मुझे वे रीछनी जैसी जान पड़ती हैं।" जिस प्रकार रीछनी खून चूस कर प्राण हर लेती है, उसी प्रकार इस तरह की स्त्रियों का सम्पर्क परमार्थी व्यक्ति के लिये हानिकारक होता है। इसलिये उन्होंने कहा कि "अध्यात्मवादी मनुष्य को प्राण जाने पर भी स्त्रियों के साथ वासनायुक्त वार्तालाप नही करना चाहिये।" जिस साधक में इतनी दृढ़ता होगी, उसी का वैराग्य टिक सकता है। इसकी कमी के फलस्वरूप ही अनेक 'गुरु' 'बाबाजी' और 'महात्मा' दया, परोपकार, नारी उद्धार की बाते करते-करते कही से कहीं जा पहुँचते हैं। तुकाराम और समर्थ गुरु रामदास जैसे सच्चे संयमी सत्पुरुषों का ही काम है कि वे स्त्री-जाति की उन्नति के उपाय करे, अधकचरे व्यक्तियों के बस की यह बात नहीं है। जिन्होंने अपना ही उद्धार नहीं किया वे दूसरों का उद्धार क्या करेंगे ? वे तो उन्नति और उद्धार के नाम पर अपनी और दूसरों की अधोगति ही करेंगे।

जिस समय तुकाराम भंडारा पर्वत पर ईश्वर-ध्यान में निमग्न रहते थे, उस समय एक रूपवती स्त्री अपने मन से या किसी अन्य के कहने से उनकी परीक्षा करने एकान्त में पहुँची। उस समय तुकाराम ने एक अभंग में उस स्त्री को अपने मन के भाव इस प्रकार बतलाये—

"पर-स्त्री मेरे लिये रुक्मिणी माता के समान है, यह मेरा सदा से निश्चय है। इसलिये हे माता ! तुम जाओ और मेरे लिये कुछ प्रयत्न मत करो। हम तो विष्णु के दास हैं। तुम्हारा यह पतन मुझसे सहन नही होता। तुम फिर कभी ऐसी खराब बात मुख से मत निकालना।" इस प्रकार तुकाराम ने उसे रुक्मिणी-माता बनाकर विदा कर दिया।

मनुष्य मात्र मान की इच्छा करते हैं। अन्य व्यक्ति हमको अच्छा कहे और हमारी बातों को सम्मानपूर्वक सुनें, यह कौन नही चाहता ? केवल दो तरह के व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जिन्हे मान की परवाह नहीं होती। एक तो दुर्व्यसनों और दुराचार में हद दर्जे तक फँसे हुए और दूसरे वे जो आत्मशुद्धि की दृष्टि से निन्दा और स्तुति को समान समझ लेते हैं। तुकाराम ने जन-समाज की सम्मति की परवाह न करके सत्यासत्य का निर्णय अपनी आत्मा द्वारा ही किया और उसी पर आगे बढ़ते चले गये। जन-समाज के त्यागने का अर्थ यह नहीं कि उन्होंने अन्य लोगों के प्रति दया, करुणा, परोपकार के भाव को छोड़ दिया हो, पर दुनियादार लोग जो विवेक शून्य बातें किया करते है और कोई मनुष्य परमार्थ के भाव से भी कार्य करे तो उसमें भी दोष ढूँढ़ने की ही चेष्टा करते हैं, उनकी बातों पर ध्यान देना उन्होने व्यर्थ समझ लिया। उन्होने इस विषय में कहा—

"मै केवल अपना ही विचार करूँ तो ठीक है, क्योकि अन्य लोगों के उद्धार की चर्चा करने पर भी, वे उदासीन ही रहते है। अगर उनकी इच्छा के विरुद्ध

उनसे हरिकीर्तन के लिये कहा जाये तो उनको बुरा लगता है । हरिकीर्तन को कोई सुने या न सुने, चाहे तो वह अपने घर जाकर सुख से सो जाय, पर मैं तो अपने लिये प्रभु से करुणा की प्रार्थना करूँगा ही । जिसकी जैसी वासना होगी उसे वैसा ही फल प्राप्त होगा ।"

## शुभ कर्म में बाधा डालने वाले

इस प्रकार जब तुकाराम आत्मशुद्धि और आन्तरिक शान्ति के लिये हरिकीर्तन करने लगे और जनता को भगवत्-भक्ति का उपदेश देना आरम्भ किया तो अनेक लोग उनके पास आकर तरह-तरह के तर्क-कुतर्क करने लगे । वे तरह-तरह के सिद्धान्त उपस्थित करके उनसे वाद-विवाद करने लगते, तरह-तरह की शंकायें उठाते इस पर उन्होंने कहा—

"मै किस आधार पर विचार करूँ ? मेरे चित्त को कौन धीरज बँधायेगा ? सन्तों के आदेशानुसार मैं भगवान के गुण गाता हूँ—सेवा धर्म पर चलता हूँ । मै शास्त्रवेत्ता नहीं हूँ, वेदवेत्ता नहीं हूँ, सामान्य क्षुद्र जीव हूँ । पर लोग आकर मुझे तंग करते हैं, मुझ में बुद्धिभेद उत्पन्न करना चाहते है और कहते हैं—"भगवान तो निराकार है—निर्गुण है ।" इसलिये हे भगवान ! अब तुम्ही बताओ "कि मैं तुम्हारा भजन करूँ या न करूँ ?"

"मैं किसी के घर भीख माँगने नही जाता, फिर भी कंटक मुझे दुःख देने को जबर्दस्ती आ जाते है । मै न तो किसी का कुछ खाता हूँ और न किसी का कुछ बिगाडता हूँ, फिर भी पाखण्डी लोग मेरे पीछे पड़े है । जिस बात को मैं नही जानता उसे वे मुझसे छलपूर्वक पूछते हैं । मै उनके चरणों में पड़ता हूँ तो भी वे नहीं छोड़ते । अपने अकेले जीव से मै किस-किस के साथ विवाद करूँ ? तेरे गुण बखानूँ—यथाशक्ति सेवा करूँ या कुतर्कीजनों के साथ बहस करूँ ? एक मुख से मै क्या-क्या करूँ ?"

तुकाराम सीधे, सरल स्वभाव के भक्त थे । उनके सेवा-भाव और हृदय से निकले हरिकीर्तन के प्रभाव से जनता के बहुसंख्यक व्यक्ति उनके पास सुनने को आते और उनका सम्मान करते । इससे पुराने ढंग के पडितो को ईर्ष्या होती थी । वे अपने को शास्त्रों का ठेकेदार और बहुत उच्च समझते थे, पर इस अहं-वृत्ति के कारण साधारण जनता के व्यक्ति उनके पास बहुत कम जाते थे । तुकाराम उनको अपने मे से ही एक जान पड़ते थे, उनकी बातें भी खूब समझ सकते थे, इसलिये उनके कीर्तन मे झुण्ड के झुण्ड लोग आ जाते थे । इससे पंडितों के मन में जलन होती थी और वे तरह-तरह के प्रश्न करके तुकाराम से बहस करना चाहते थे, जिससे उसे नीचा देखना पड़े, पर तुकाराम ने तो भक्ति और सेवा का सरल मार्ग अपनाया था, उन्हे शास्त्रो के शुष्क वितण्डावाद से क्या मतलब ? इसलिये अकारण समय नष्ट करने के व्यवहार मे वे दुःखी होते थे और उससे बचाने की भगवान से प्रार्थना करते थे ।

तुकाराम ने सैकडों अभंगों में अपने को हर प्रकार से नीच, कपटी, पापी, दोषी प्रकट किया है और भगवान से शरण देने की प्रार्थना की है । अनेक लोग इन बातों को निरर्थक मानते हैं, पर सन्त इनके द्वारा अपनी अहंकार वृत्ति पर विजय पाने की चेष्टा करते है । अहंकार मनुष्य का बहुत बड़ा शत्रु है और अनेक बार सज्जन, भले व्यक्तियों के भी पतन का कारण बन जाता है । दूसरा कारण यह भी था कि वे स्वयं ही अपने को दीन-हीन और दूषित मानते थे जिससे दूसरों के दोष ढूँढ़ने वाले आलोचकों और बड़े और बड़े बनने वाले अहंकारियो की निगाह से वे बचे रहे ।

## सत्संग की महिमा

तुकाराम ने पाखंडी, दम्भी, दिखावटी धर्मध्वजियों और अपने बड़प्पन के लिये शास्त्रार्थ, करते फिरने वाले 'पंडितो' की जिस प्रकार अवहेलना की है, उसी प्रकार स्थान-स्थान पर सतसंग की महिमा भी गाई है । उन्होंने कहा—

वैराग्याचे भाग्य सन्त-संग हाचि लाभ ।
सन्त कृपेचे हे दीप, करी साधका निष्पाप ॥

अर्थात्—"वैराग्य का सबसे बड़ा सौभाग्य सतसंग की प्राप्ति ही है । सन्त-कृपा का यह दीपक साधक को निष्पाप बना देता है ।"

जिसका जैसा स्वभाव होता है उसे वैसे ही व्यक्तियों की सगत मे आनन्द आता है । व्यसनों मे फँसे लोग अपने ही समान व्यसनी लोगों से सम्पर्क रखते है ।" धार्मिक तथा भक्तिभाव वाले भगवद्भक्तों को ढूँढ़ लेते

हैं । तुकाराम स्वयं परम सेवाभावी और पवित्र स्वभाव के थे और ऐसे ही व्यक्तियों से मिलना उनको अच्छा लगता था । यद्यपि सच्चे सन्त तो करोड़ों में एक भी होना कठिन है, पर जो स्वयं परोपकारी और निष्पाप है उसके पास आकर सामान्य श्रेणी के धर्म-कर्म वाले भी सन्त ही बन जाते हैं । इसी दृष्टिकोण से तुकाराम ने एक स्थान पर कहा था—

"अगर कोई हीन श्रेणी का व्यक्ति भी निरन्तर हरि का नाम लेता है तो मैं मन-वचन-कर्म से उसका दास हूँ । वह चाहे पवित्र कुल वाला हो या चाण्डाल हो पर अपने को हरि का दास कहता हो तो वह धन्य है ।"

तुकाराम का यह कथन सम्भवतः बहुत से लोगों को पक्षपात अथवा अतिश्योक्ति पूर्ण लगेगा पर उसका गूढ़ आशय यह है कि सब तरफ से मन हटाकर निरन्तर भगवान का नाम जपने मे इतनी शक्ति है कि अगर आचार-हीन व्यक्ति भी उसे लेगा तो वह सुधर कर सदाचारी बन जायेगा । 'गीता' में भी ऐसा ही मत व्यक्त किया गया है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजतेमामनन्य भाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्ववसितो हि सः ॥
(६/३०)

अर्थात्—"कोई मनुष्य पहले दुराचारी हो, पर फिर हरि भजन से सुमार्ग पर आ जाये, तो फिर उसे साधु समझना चाहिये । उसका निश्चय पवित्र हो तो उचित समय पर उसका उद्धार हो ही जायेगा ।" जबकि आंशिक रूप से भगवान के मार्ग पर चलने की इतनी महिमा है तो जो व्यक्ति हृदय से परमार्थ पथ पर चलने का उद्योग कर रहे हैं, उनकी तो प्रशंसा करनी ही चाहिये—

"सन्तों के चरणों की रज जहाँ पड़ती है वहाँ वासना का बीज सहज ही जल जाता है । तब राम-नाम मे रुचि होती है और सुख की वृद्धि होने लगती है । यह बड़ा सुलभ साधन है और पूर्व जन्मो के पुण्य से ही प्राप्त होता है ।"

सन्तों का स्वभाव दीन-दु.खियों के कष्टों पर द्रवित होना और उनके निवारण के लिये स्वयं कष्ट सहन करना ही रहा है । जो लोग 'सन्त' का अर्थ किसी पर्वत की गुफा में बैठकर ध्यान लगाना अथवा बड़े-बड़े तिलक छापे लगाकर 'हरे राम-हरे कृष्ण' की धुन लगाना ही मान लेते हैं, वे गलती पर हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी सन्तो का मुख्य लक्षण परोपकार और सेवा-धर्म का पालन ही बतलाया है—

पर उपकार बचन मन काया ।
सन्त सहज सुभाउ खगराया ॥
सन्त सहहिं दुःख पर हित लागी ।
पर दुख हेतु असंत अभागी ॥
साधु चरित सुम सरिस कपासू ।
निरस बिसद गुनमय फल जासू ॥
जो सहि दुख परिछिद्र दुरावा ।
बंदनीय जेहि जग. जस पावा ॥

तुकाराम ने स्वयं अपने उदाहरण से यह सिद्ध कर दिया कि बिना सेवा-धर्म को अपनाये कोई सन्त कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता । वे केवल भगवत् सेवा, हरिकीर्तन, धर्मोपदेश के रूप में ही सर्वसाधारण नहीं करते थे वरन् शरीर द्वारा भी जिसकी जो सेवा बन सकती थी, उसमें कभी इन्कार नहीं करते थे । जब वे किसी अन्य गाँव में लगने वाले बाजार में घर के लिये सौदा खरीदने जाते थे गाँव की अनेक स्त्रियाँ अपना सौदा भी लाने का काम उनके सुपुर्द कर देती थीं, जिससे उनको प्रायः बहुत अधिक बोझा लादकर कई मील तक चलना पड़ता था और भी कोई व्यक्ति अपने निजी काम मे सहायता देने को उन्हे बुलाता तो वे उसका काम खुशी से करवा देते थे । किसी भी दीन-दु.खी को देखकर उसकी सहायता को तत्पर हो जाना उनका स्वभाव ही था । इस प्रकार जहाँ तक उनसे बन पड़ता सेवा-धर्म का पालन करके अपने 'सन्त' नाम को चरितार्थ करते थे ।

## कर्मकाण्डी पंडितों द्वारा विघ्न-बाधायें

पूना से नौ मील दूर बाघोली मे रामेश्वर भट्ट नामक विद्वान कर्मकाण्डी पडित निवास करता था । तुकाराम की कीर्ति को समस्त प्रदेश में फैली हुई देखकर और प्रत्येक व्यक्ति के मुख से उसके रचे हुए अभंगो को सुनकर उसको बड़ा बुरा लगा । खासकर इसलिये कि तुकाराम शूद्र था और अब अनेक ब्राह्मण भी उसके पैर स्पर्श करने लगे थे । रामेश्वर के विचारानुसार यह शास्त्रों द्वारा निर्देशित वर्ण-धर्म का स्पष्ट उल्लंघन था । इन दिनों महाराष्ट्र में स्मृति धर्म के मानने वाले

ब्राह्मणों का विशेष रूप से बोलवाला था और वे शूद्रों को हर तरह से दबा कर रखने के पक्षपाती थे। कहा जाता है कि पेशवाई शासन में पूना के सार्वजनिक मार्गों पर चलते समस्त अछूतों को अपने साथ एक बर्तन रखना पड़ता था जिसमें यदि आवश्यकता पड़े तो थूका जा सके। जिस सड़क पर कुत्ता, गाय, भैंस, बकरी, घोड़े आदि मल-मूत्र करते रहते थे उस पर शूद्र केवल अपने वंश के कारण थूक भी नहीं सकते थे। ऐसी दशा में एक शूद्र वंशोत्पन्न व्यक्ति की प्रतिष्ठा और मान्यता देखकर ब्राह्मण का अभिमानी रामेश्वर भट्ट ईर्ष्या-भाव से भर जाये तो इसमें कोई आश्चर्य की बात न थी।

जब हम इस घटना की तह में घुसकर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि रामेश्वर पंडित का यह विरोध आकस्मिक या वैयक्तिक न था। जिस 'वारकरी सम्प्रदाय' (भागवत्-धर्म) के तुकाराम अनुयायी थे उसके साथ वैदिक कर्मकाण्डी लोगों का विरोध बड़ा पुराना था और वे उसे अपनी जड़ खोदने वाला समझते थे। स्मृतियों के नियमानुसार धार्मिक कृत्यो के कराने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही था और उसी से किसी व्यक्ति की सद्गति मानी जाती थी, पर भागवत्-धर्म मनुष्य मात्र को समान रूप से भगवत्-भक्ति का अधिकार देता था। इतना ही नही भागवत-धर्म के बहुसंख्यक प्रसिद्ध भक्त और सन्त ब्राह्मणो से भिन्न अन्य जातियों के व्यक्ति थे जिनमे से कितने ही शूद्र और अछूत भी थे। इस आधार पर कर्मकाण्डी पंडित भागवत्-धर्म को, वर्णाश्रम धर्म को नष्ट करने वाली एक विद्रोही-विचारधारा मानते थे।

पर पंडितों की यह धारणा सत्य नही वरन् उन्होंने स्वार्थभावना के कारण ही इसे गढ़ लिया था। भागवत्-धर्म वास्तव में अति प्राचीन भारतीय-ज्ञान-मार्ग का ही एक लोकोद्धारक रूप है। वैदिक कर्मकाण्ड और भागवत्-धर्म के बीच जो बाते विवादग्रस्त जान पड़ती है वे यही हैं कि भागवत्-धर्म के भक्तगण बिना जात-पाँत पूछे चरित्र के आधार पर ही चाहे जिसकी प्रतिष्ठा करते है, संस्कृत भाषा के शास्त्रीय ग्रन्थों का रहस्य प्रचलित देश-भाषा में प्रकट करते हैं, यज्ञ-योगादि को गौण बतला कर भगवत्-भक्ति (परमार्थ और सेवा) की महिमा को ही सर्वप्रधान मानते हैं। ये बातें अधिकांश धर्म-व्यवसायी पंडितों को अपने स्वार्थ पर आघात करने वाली जान पड़ती हैं और वे पहले ही इस भक्ति-मार्ग वालों का विरोध करते आये हैं। ऐसे ही पंडित नामधारियों ने सन्त ज्ञानेश्वर और एकनाथ को तरह-तरह से कष्ट दिया था, यद्यपि वे भी ब्राह्मण ही थे। गोस्वामी तुलसीदास का काशी के पंडितों द्वारा विरोध और उन पर तरह-तरह से आक्रमण करने का कारण भी भक्ति-मार्ग से द्वेष रखना ही था। अब तुकाराम को वैसे ही कष्ट देने को रामेश्वर भट्ट मिल गये।

रामेश्वर ने देखा कि तुकाराम प्राचीन रूढ़ियों के विपरीत ऐसी बातो का प्रचार कर रहा है जिनमे ब्राह्मणो के महत्त्व को धक्का लगता है। जब लोग भागवत्-धर्म के उपदेशानुसार सन्तों को ही श्रेष्ठ मानने लगेंगे तब ब्राह्मणो की मान्यता कहाँ रही? इस कारण रामेश्वर ने तुकाराम के कार्य मे बाधा डालने का निश्चय किया। पर उसने उसको प्रत्यक्ष रूप से न रोककर टेढ़े मार्ग से अपना उद्देश्य पूरा करना चाहा। उसने विचार किया कि यह व्यक्ति (तुकाराम) देहू में कीर्तन करके अपना प्रभाव जमा रहा है और वहीं पर उसका 'विट्ठल देव' का मन्दिर है अगर उसे देहू से हटा दिया जाये तो सब काम अपने आप सिद्ध हो जाये। इसके लिये उसने जो चाल चली उसका वर्णन एक प्राचीन पुस्तक 'भक्त-लीलामृत' में इस प्रकार किया गया है—

"मन में ऐसा विचार करके उसने देहू गाँव के अधिकारी को लिखा कि 'तुको' शूद्र जाति का है और शूद्र होकर वेद के रहस्यो को कहता रहता है। हरिकीर्तन करके इसने भोले लोगों के ऊपर जादू कर दिया है। ब्राह्मण भी उसे नमस्कार करने लगे हैं। यह बात हमारे लिये लज्जानजक है। सब धर्मों को इसने उड़ा दिया है और केवल कीर्तन की महिमा ही बतलाता फिरता है। इसने लोगों में ऐसा भक्ति-पन्थ चलाया है कि जिसमें भक्ति का ढोंग ही रहता है। वास्तव में वह पाखण्डी है और उसके प्रचार-कार्य को बन्द करा देना चाहिये।

देहू गाँव के पटेल ने रामेश्वर भट्ट का पत्र तुकाराम को पढ़कर सुना दिया। इससे तुकाराम को बड़ी चिन्ता हो गई। इस सम्बन्ध मे उसने एक अभंग कहा—

"अब मै क्या करूँ और कहाँ जाऊँ? किसके आधार पर गाँव में रहूँ? पटेल नाराज है, कहता है कि यह उच्छृंखल हो गया है। हाकिम ने भी ऐसा

ही निर्णय दिया है । इस भले आदमी (रामेश्वर भट्ट) ने जाकर फरियाद की और मुझ गरीब को ही मार दिया । तुकाराम कहते है कि ऐसे व्यक्ति का सम्पर्क अच्छा नही होता है । चलो, अब विट्ठल को ही चलकर ढूँढ़े ।"

तुकाराम अपने गाँव से चलकर सीधे बाघोली में रामेश्वर भट्ट के पास पहुँचे और उसे दण्डवत-प्रणाम करके बड़े प्रेम से हरिकीर्तन करने लगे । उनके मुख से धारा-प्रवाह 'अभंग' निकल रहे थे, जिनमें ऊँचे दर्जे का तत्त्व-ज्ञान भरा था । उनको सुनकर रामेश्वर ने कहा—"तुम बड़ा अनर्थ कर रहे हो । तुम्हारे 'अभंगो' में श्रुति का भाव प्रकट होता है । पर तुम शूद्र हो और ऐसी वाणी बोलने का तुमको अधिकार नहीं है । तुम्हारा यह कार्य शास्त्र विरुद्ध है, श्रोता वक्ता दोनों को नर्क ले जाने वाला है । ऐसी वाणी बोलना तुम छोड़ दो ।"

तुकाराम ने कहा—भगवान पाण्डुरंग की प्रेरणा से ही मैं ऐसी वाणी बोलता हूँ, अब वह निरर्थक हो जायेगी । आप ब्राह्मण ईश्वर स्वरूप है । आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके मैं कविता करना बन्द कर दूँगा । पर अब तक जो अभंग बन चुके है उनका क्या हो ?

रामेश्वर ने कहा—उन अभंगों की पोथी को तुम पानी में फेंक दो ।

तुकाराम—आपने जैसी आज्ञा दी है वैसा ही करूँगा ।

यह कहकर तुकाराम देहू वापस आये और समस्त पोथियो को पत्थर के साथ एक कपड़े में बाँधकर नदी में डाल दिया । अभंगों की पोथियों को इस प्रकार डुबा देने की बात चारों तरफ फैल गई । इससे भक्तजनों को बड़ा दुःख हुआ और कुटिल तथा-परनिन्दक बड़े खुश हुए ऐसे दुष्ट प्रकृति के लोग तुकाराम के पास आकर मजाक करने लगे—"पहले तो भाई के साथ झगड़ा करके तुमने कर्ज के सब कागज नदी मे फेक दिये । अब रामेश्वर भट्ट के साथ विवाद करके अभंगों की पोथियाँ डुबा दी । दोनो तरह से अपना ही फजीता कराया और कोई होता तो ऐसी हालत में अपना मुँह किसी को न दिखाता और चूल्लू भर पानी मे डूब मरता ।"

ऐसी बातें सुनकर तुकाराम के हृदय को बड़ी चोट लगी । वह विचार करने लगा—"लोग तो ठीक ही कहते हैं । अपनी घर गृहस्थी को मैंने ही आग लगाई और उससे विरक्त हो गया । उस कार्य के लिये मेरी जो हँसी उड़ाई गई, उसकी तो मुझे परवाह नहीं । वह तो चार दिन की चाँदनी है । पर यह सब करने पर भी जो भगवान नही मिले, मेरे ऊपर होने वाले आघातों का निवारण उन्होंने नहीं किया, तो फिर जीने से क्या लाभ ? ऐसी हालत में उचित यही है कि अन्न-जल त्याग कर भगवान के चरणों में पड़ जाऊँ, फिर उनको जो करना होगा वहीं करेंगे ।" यह सोचकर तुकाराम श्री विट्ठल मन्दिर के सामने तुलसी के थाँभला के पास एक शिला पर तेरह दिन तक अन्न-जल त्याग कर केवल भगवान का नाम लेते हुए पड़े रहे ।

## रामेश्वर भट्ट का पश्चाताप

इधर तुकाराम विट्ठल भगवान के सामने धरना देकर प्राण देने का संकल्प करके पड़े थे उधर बाछोली मे उनको कष्ट देने वाले रामेश्वर भट्ट पर आकस्मिक संकट आ गया । वह अपने निवास स्थान से कुछ मील दूर 'रामनाथ' के दर्शनों को जा रहा था । रास्ते में 'अनगड सिद्ध' नामक औलिया फकीर का स्थान था, जिसमें एक बावड़ी बनी हुई थी । रामेश्वर भट्ट ने जैसे ही इस बावड़ी में स्नान किया उसके शरीर में भयंकर खुजली और जलन-सी होने लगी । किसी ने कहा यह 'औलिया' का कोप है और किसी ने कहा यह तुकाराम से द्वेष करने का परिणाम है । खुजली को मिटाने के लिये बहुत-सी औषधियाँ की गईं पर किसी से कुछ लाभ न हुआ । जब कोई उपाय कारगर न हुआ तो वह ज्ञानेश्वर महाराज की शरण लेने के लिये 'आणन्दी' चला गया ।

देहू में तुकाराम अन्न-जल त्याग कर विट्ठल भगवान के सामने पड़े थे । तेरह दिन में उनकी दशा बहुत खराब हो गई । तुकाराम को स्वप्न आया कि तुम्हारी पोथियाँ नदी के समीप सुरक्षित पड़ी है, जाकर ले आयो । उस समय तुकाराम मरणासन्न लगते थे, श्वास मन्द चलने लगी थी, हिलना-डुलना बन्द था । यह देखकर कुटिल व्यक्ति विचार कर रहे थे कि 'बस, अब इनका खेल खत्म हो चला ।' पर भक्तो को उनके मुख पर एक अपूर्व तेज दिखाई पड़ रहा था और

नाम-स्मरण की मन्द ध्वनि आ रही थी । स्वप्न का हाल सुनकर भक्तगण प्रसन्न हो उठे और 'राम कृष्ण हरि' का जयघोष करते हुए पोथियों को नदी में से उठा लाये । हरिकीर्तन का प्रभाव देखकर जनता को पूरा विश्वास हो गया और तुकाराम भी चेतन होकर बैठ गये ।

इसी समय रामेश्वर भट्ट आणंदी में ज्ञानेश्वर महाराज के मन्दिर मे बैठा अपने कष्ट निवारण की प्रार्थना कर रहा था । उसको भी ध्यान में श्री ज्ञानेश्वर यह कहते प्रतीत हुए कि "तुमने महा वैष्णव तुकाराम के साथ झूठ-मूठ शत्रुता की है, इससे तुम्हारा पुण्य नष्ट हो गया है और यह व्याधि उत्पन्न हो गई है । अब तुम तुकाराम की ही शरण में जाओ । इससे तुम इस शारीरिक रोग से ही नहीं वरन् भव-रोग से भी छुटकारा पा जाओगे ।" ज्ञानेश्वर महाराज का आदेश सुनकर रामेश्वर को अपनी करनी पर बड़ा पश्चाताप् हुआ और उसने एक विनयपूर्ण पत्र लिखकर तुकाराम से अपने दोष की क्षमा माँगी । उसके उत्तर में तुकाराम ने यह 'अभंग' लिखकर भेज दिया—

**चित्त शुद्ध तरी शत्रु मित्र होती, व्याघ्र हेन खाती सर्प तया।**
**विष तें अमृत, आघात तें हित, अकर्त्तव्य नीत होय त्यासी॥**
**दुःख तें देहल सर्व सुख पल, होतील शीतल अग्नि ज्वाला ।**
**आ वलेल जीवां जीवाचियै परी, सकला अन्तरी एक भाव॥**
**तुका मणे कृपा केली नारायण, जाणिजेतें येरयें अनुभव ।**

अर्थात्—"अपना चित्त शुद्ध हो तो शत्रु भी मित्र हो जाते है । सिंह और सर्प भी अपने हिंसक स्वभाव को भूल जाते हैं, विष अमृत हो जाता है, आघात कल्याणकारी सिद्ध होने लगता है, दूसरो का दुर्व्यवहार अपने लिये नीति की शिक्षा वाला बन जाता है । दु:ख, सुख के रूप में बदल जाता है और अग्नि की ज्वाला शीतल हो जाती है । जिसका चित्त शुद्ध है उसे सब जीव प्रेम करते हैं । तुकाराम कहते हैं कि मेरे अनुभव मे यही आता है कि नारायण ने ही इस आपत्ति काल मे मेरे ऊपर कृपा की ।"

कहना न होगा कि तुकाराम की सहनशीलता और सज्जनता का रामेश्वर के ऊपर विलक्षण प्रभाव पड़ा और वह अपने पाण्डित्य का अभिमान त्याग कर उनका शिष्य बन गया । उस अजात शत्रु महात्मा ने भी उसे हृदय से क्षमा करके स्वीकार कर लिया । तुकाराम और उनके भागवत-धर्म का विरोध करने को कमर कसने वाला रामेश्वर भट्ट उनका पक्का अनुयायी और सहकारी बनकर जीवन-पर्यन्त इन्हीं के उपदेशों और सिद्धान्तों का प्रचार करता रहा ।

## मंवाजी बुवा की दुष्टता

तुकाराम का दूसरा कट्टर शत्रु गोस्वामी मवाजी बुवा था । इसका घर देहू गाँव में तुकाराम के विट्ठल मन्दिर के बगल मे ही था । वह तुकाराम का कीर्तन सुनने भी आ जाता था, पर उसके भीतर द्वेष-भावना भरी हुई थी । तुकाराम उसके मनोभाव को जानते थे, पर उन्होंने उससे प्रेम-भाव रखना कभी नहीं छोड़ा । अगर किसी दिन मंवाजी नही आता तो आदमी भेजकर उसे बुला लेते थे ।

तुकाराम के बच्चों को दूध पीने के लिये उसके ससुर आपाजी ने एक भैंस भेज दी थी । एक दिन वह घूमती-फिरती मवाजी के छोटे से बगीचे मे घुस गई और कुछ पौधो को खराब कर दिया । इसमें क्रोधान्ध होकर वह तुकाराम पर गालियों की वर्षा करने लगा । जब तुकाराम ने कुछ भी उत्तर न दिया तो वह एक कँटीली डाल लेकर उनको मारने लगा मुँह से गालियों का प्रवाह निकल रहा था और हाथों मे मारता जाता था, पर बहुत कुछ मारने पर भी तुकाराम शान्त बना रहा । यह उसकी परीक्षा का समय था और वह उसमें पूरी तरह उत्तीर्ण हुआ । उस दिन जब मंवाजी कीर्तन में नही आया तो वह स्वयं उसे बुलाने गया और उसके पैर दबाकर सब दोष अपना ही स्वीकार कर लिया । उसने कहा—"अगर भैंस ने आपके पौधो को खराब न किया होता तो आप इतना क्रोध क्यों करते ? मुझे इसका बड़ा दुःख है कि मेरे कारण आपके मुँह और हाथ को इतना कष्ट उठाना पड़ा ।"

तुकाराम की इस अनुपम साधुता को देखकर मवाजी मन में बड़ा लज्जित हुआ और उसके साथ कीर्तन में चला आया । पर उसके मन का नीचतापूर्ण भाव कभी पूर्णतः दूर नही हुआ । तुकाराम के पास आने वाले भक्तों और यात्रियों को यही समझाया करता था कि "तुकाराम तो शूद्र है, उसका कीर्तन सुनने क्यों जाते हो ? तुमको अगर उपदेश लेना है तो मेरे पास से ले लो । उसका समस्त जीवन इसी प्रकार द्वेष करते

हुए व्यतीत हुआ जबकि तुकाराम उसके देखते-देखते देशपूज्य बन गया ।

## शिवाजी महाराज को उपदेश

तुकाराम कोरे भजनानन्दी नहीं थे, वरन् नैतिक, सामाजिक कर्त्तव्यों का भी उनको पूरा ज्ञान था । वे सच्चे त्यागी और आत्मज्ञानी थे, इसलिये सभी विषयों में मूल तथ्य को समझ लेना उनका स्वभाव हो गया था, जब वे लोह गाँव में रहते थे तो महाराज शिवाजी ने उनके पास बहुत-सी बहुमूल्य भेट, घोड़ा आदि भेजे और उनसे पूना आने की प्रार्थना की । तुकाराम ने समस्त पदार्थों को लौटा दिया और नौ अभंग लिखकर भेज दिये ।

"मशाल, छत्र और घोड़ाओं को लेकर मैं क्या करूँगा ? ये पदार्थ मेरे उपयुक्त नहीं है । हे पढरीनाथ ! अब मुझे इसमें क्यों फँसाते हो ? मान और दम्भ का कोई काम मेरे लिये सर्वथा त्याज्य है । मेरा चित्त जिसकी इच्छा नही करता, वे ही पदार्थ तुम मुझे देते रहते हो । मैं तो संसार के माया-मोह से अलग रहना चाहता हूँ । मैं ऐसी इच्छा अवश्य करता हूँ, परन्तु करने कराने, वाले तुम्ही हो ।"

भगवान् मे इस प्रकार अपनी निष्ठा को प्रकट करके तुकाराम ने महाराज शिवाजी को उद्देश्य करके लिखा—"चीटी और राजा मेरे लिये एक समान जीव हैं । सोना और मिट्टी मेरे लिये बराबर है । मुझे तो सम्पूर्ण वैकुण्ठ घर बैठे मिल गया है, अब मेरे यहाँ कमी किस बात की है ?"

"आप मुझे दे ही क्या सकते हैं ? मै तो विट्ठल को चाहता हूँ । जो तुकाराम ने गौमाँस के समान त्याज्य मान लिया है, उसे क्यों देते हो ? अगर आप कुछ देना चाहते हैं तो एक ही दान से मैं सुखी हो सकता हूँ । वह यह कि मुख से सदैव 'विट्ठल' का उच्चारण करते रहो । आपका धन, सोना-चाँदी मेरे लिये मिट्टी के समान है ।"

तुकाराम के इस अलौकिक वैराग्य और त्याग को देखकर शिवाजी स्वयं उनके दर्शन करने लोह गाँव आये । उनके कीर्तन और उपदेशों से वे इतने प्रभावित हुए कि प्रतिदिन शाम को भोजन करने के उपरान्त घोड़े पर सवार होकर 'लोह गाँव' या 'देहू' जहाँ कहीं भी तुकाराम हो, आने लगे । तुकाराम के उपदेशो से उनके मन में भी वैराग्य व्याप्त हो गया और उन्होंने तुकाराम के सामने राज-पाठ और सांसारिक सम्बन्ध त्यागने की भावना भी प्रकट की । इससे शिवाजी की माता जीजाबाई को बड़ी शंका हो गई और उसने तुकाराम के पास जाकर शिवाजी को राजधर्म की शिक्षा देने की प्रार्थना की । तुकाराम ने कीर्तन करते-करते वर्णाश्रम धर्म पर प्रवचन करते हुए छात्रधर्म और राजधर्म का वर्णन किया और शिवाजी को स्वकर्त्तव्य पालन की प्रेरणा दी ।

इसके पश्चात् एक अन्य अवसर पर जब शिवाजी महाराज अपने अनेक सरदारों और सेनानायकों के साथ कीर्तन सुन रहे थे तो तुकाराम ने विचार किया कि इन लोगो को ऐसा उपदेश करना चाहिये जिससे हरि-भक्ति के साथ स्वराज्य-संस्थापन की भी प्रेरणा मिले । उन्होंने उसी समय 'सिपाहीपन' पर कुछ अभंग बनाकर सुनाये जिनमें कहा गया—

"सिपाहीपन के साथ उच्च सिद्धान्तो का पालन करते हुए वीर बनो, वीरो की गाथाओं को चित्त में धारण करो । सिपाही बने बिना प्रजा के कष्टो का अन्त नहीं हो सकता । प्राणदान देने वाले उदार सिपाही बनो । सिपाही के कुशल क्षेम का भार तो स्वामी पर रहता है । सिपाहीपन के सुख से जो सर्वथा वचित रहता है उसका जीवन धिक्कारने योग्य है ।"

"धड़ाधड़ गोली छूट रही हों, बाण के ऊपर बाण आकर गिर रहे हो, इन सबको सिपाही सह लेता है, फिर वह भी ऐसी मूसलाधार वर्षा करता है, जिसका कोई हिसाब नही । उसे केवल स्वामी और उसका कार्य ही दिखलाई पडता है । जो शूरवीर सिपाही है वह ऐसे युद्ध के बाहर और भीतर खूब सुख लूटता है ।"

"सिपाहियो को आत्म-रक्षा भी करनी चाहिये । विदेशी शत्रुओं को लूट ले, उसका सर्वस्व छीन ले, अपने ऊपर उसका वश न चलने दे, शत्रुओं को अपनी खबर भी न लगने दे । जो सिपाही ऐसा होता है, दुनिया उसको अपना नाथ मानती है । तुकाराम कहते है कि जिसके सिपाही ऐसे हों वह तीनो लोकों में सबसे प्रबल सेनानायक है ।"

"जो सिपाही शरीर को तिनके के समान और सोने को पत्थर के समान समझता है, वह अपने स्वामी

से अभिन्न है । विश्वास के बिना सिपाही का कोई मूल्य नहीं है ।"

"सच्चा सिपाही ही सिपाही को पहचानता है । उसमें एक ही स्वामी के लिये आदर और निष्ठा होती है । जो केवल पेट के लिये हथियार बाँधते हैं, वे तो मैले कपड़े ढोने वाले गधे हैं । जो सच्चा सिपाही है वह मारना और बचाना भी जानता है । वह क्या विदेशियों को अपना अस्तित्व सौंप देगा—उनके आधीन हो जायगा ? कभी नहीं तुकाराम कहते हैं कि जो ऐसे सच्चे वीर हैं उनको हम देवता मानकर वन्दना करेंगे ।"

इस प्रकार तुकाराम ने अपने अभंगों में सच्ची राष्ट्रीयता, निर्भयता और तेजस्विता का भाव प्रकट किया । भगवान को पुकारने में, सन्तों के गुण गाने में, नाम की महिमा प्रकट करने में, दम्भियों की पोल खोलने में उनकी वाणी का जो तेज प्रकट हुआ था, वैसा ही तेज उन्होंने राज्य की स्थापना और उसकी सुव्यवस्था के विषय में भी प्रकट किया । तुकाराम के अभंगों और उपदेशों का प्रचार विशेष रूप से पूना के आसपास 'मावला' कृषक समुदाय में था । इन्हीं लोगों में से शिवाजी को अजेय मावला-सेना प्राप्त हुई थी जिसने मुगल-साम्राज्य के छक्के छुड़ाकर हिन्दू-राज्य की स्थापना में अद्‌भुत शौर्य प्रदर्शित किया था ।

## सेवा-धर्म का स्वभाव

तुकाराम आरम्भ से ही परोपकारी और सेवा-भावी प्रकृति के थे । विशेष अवसरों पर ही नहीं, नित्य-प्रति की साधारण बातों में भी उनकी यह मनोवृत्ति प्रकट होती रहती थी । रास्ते में चलते हुए किसी माँजी के सर पर अधिक बोझा देखा तो थोड़ी देर के लिये उसे अपने ऊपर रख लिया, जिससे उसे कुछ विश्राम मिल जाये । कोई बरसात में भीग जाये तो उसे ओढ़ने-पहनने को अपने वस्त्र दे देते थे और ठहरने को सूखा स्थान देते । किसी यात्री का पैर चलते-चलते सूज जाये तो वे गरम पानी करके उसे सेक देते थे । जो गाय या बैल कमजोर हो जाने से काम लायक न रहता और उसका मालिक उसे निकाल देता तो वे उसे चारा-पानी देते रहते । वे मन में भी कभी किसी के प्रति हिंसा की भावना नहीं लाते थे और चलते-फिरते पैर के नीचे दबकर कोई कीड़ा-मकोड़ा न मर जाये इसका बहुत ध्यान रखते थे ।

जिस तरह भी सम्भव हो दूसरों को आराम पहुँचाना, आवश्यकता पड़ने पर सबकी सहायता के लिये तैयार रहना उसका जीवन-व्रत बन गया था । यों तो साधु पुरुषों का लक्षण परोपकार और दूसरों का कष्ट-निवारण बतलाया ही गया है, पर तुकाराम में यह विशेषता थी कि वे केवल मन और वचन से ही नहीं क्रिया रूप में शरीर से भी सबकी अधिक से अधिक सेवा करने को तैयार रहते थे । इससे हमारी दृष्टि में उनका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है ।

उनकी दूसरी बहुत बड़ी विशेषता यह जान पड़ती है कि सब प्रकार से त्यागी, विरक्त और भक्त हो जाने पर भी उन्होंने गृहस्थाश्रम का त्याग नहीं किया और स्त्री का स्वभाव झगड़ालू होने पर भी परिवार वालों का अन्तिम समय तक पालन करते रहे । यह एक ऐसा आदर्श है जिसकी हमारे समाज को बहुत आवश्यकता है । आजकल अधिकांश लोगों की विचारणा यह देखने में आती है कि जिसे अध्यात्म या भक्ति के मार्ग पर चलना हो उसे गृहस्थ का त्याग कर साधु-संन्यासी बन जाना चाहिये । यह विचारधारा व्यक्ति और समाज के लिये बड़ी हानिकारक है । समाज की प्रगति और सुस्थिरता के लिये गृहस्थ-आश्रम के पालन की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है । इसी प्रकार व्यक्ति के आत्म-विकास के लिये अध्यात्म अथवा भक्ति के सिद्धान्तों को व्यवहार में लाना भी अत्यावश्यक है । इसलिये जो लोग इन दोनों को परस्पर में विपरीत बतलाते हैं, वे समाज की एक कुसेवा ही करते हैं । समाज का आदर्श विकास तभी होना सम्भव है जब उसके सदस्य परोपकार और त्याग के महत्त्व को समझकर तदनुसार आचरण करते हुए गृहस्थी का पालन और संचालन करें ।

महान सन्त तुकाराम ऐसे ही सद्‌गृहस्थ के उदाहरण थे । उन्होंने सच्चाई, ईमानदारी, परोपकार, सेवा-धर्म, ईश्वर-भक्ति सबका पालन करते हुए अपने गृहस्थी के कर्त्तव्यों का भी उचित रीति से पालन किया । सवत् १७०६ में स्वर्गारोहण होते समय उनके दो पुत्र और तीन कन्यायें थी । सच पूछा जाये तो सांसारिक और आध्यात्मिक कर्त्तव्यों का इस उत्तमता के साथ समन्वय करने से ही उनको सन्त बना दिया ।

# भक्ति और शक्ति के समन्वयी : समर्थ गुरु रामदास

समर्थ गुरु रामदास का जन्म हैदराबाद प्रान्त के जाम्ब गाँव में रामनवमी के दिन सन् १६०८ में हुआ। उनका कार्यकाल सन् १६८२ तक रहा। उनके पिता का नाम सूर्याजी पन्त था। उन्होंने लगातार ३६ वर्ष सूर्य उपासना गायत्री मन्त्र के साथ की थी। पुत्र को भी उन्होने यही साधना बताई। समर्थ नित्य दो हजार सूर्य नमस्कार और गायत्री का मानसिक जप करते थे। हनुमानजी के प्रति उनकी सहज श्रद्धा थी। वे हनुमान की तरह ही राम-काज करना चाहते थे। वही किया भी।

संस्कारवान् माता-पिता ही अपनी गोदी मे उच्च आत्माओं को खिलाने का सौभाग्य प्राप्त कर पाते हैं। स्वयंभू—मनु, शतरूपा-रानी—कृष्ण-रुक्मिणी—अर्जुन-सुभद्रा जैसे अनेकों उदाहरण ऐसे हैं जिसमें पिता-माता के तपस्वी जीवन ने उन्हें सुसन्तति प्राप्त कराई। शकुन्तला, सीता, मदालसा के उदाहरण भी ऐसे ही हैं।

समर्थ बाल वैरागी थे। उन्होने परिवार के सम्मुख आरम्भ में ही जीवनोद्देश्य प्रकट कर दिया और विवाह नहीं किया। आत्मबल को अधिक प्रखर बनाने के लिये उन्होंने गोदावरी एवं नन्दिनी नदियों के संगम पर टीकली स्थान पर बारह वर्ष तक तपश्चर्या की।

इसके उपरान्त वे धर्म प्रचार की पदयात्रा पर निकल पड़े। इस अवधि में उन्होंने हिमालय के कई स्थानों पर निवास किया और देवात्माओं से सम्पर्क साधा।

समर्थ को देश से पराधीनता का कलंक मिटाने और स्वतन्त्रता आन्दोलन को गतिशील बनाने का काम ऋषि सत्ता द्वारा सौंपा गया। वे आजीवन उसी प्रयोजन हेतु विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम अपनाते हुए संलग्न रहे।

वस्तुतः हमारे देश में 'सन्त' का आशय धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन पर विचार और प्रचार करने वाले परमार्थी व्यक्तियों से समझा जाता है। इन सन्तों का रचा साहित्य भारत के प्रत्येक प्रदेश में बहुत बड़े परिमाण में पाया जाता है। उसका प्रचार विशेष रूप से उन संतों के अनुयायियो में ही पाया जाता है, जिन्होने काल-प्रभाव से अब छोटे-बड़े सम्प्रदायों का रूप धारण कर लिया है। इन सन्तों ने अपनी 'वाणियों' में प्रायः वेदान्त और अन्य दार्शनिक तत्त्वों को सर्वसाधारण द्वारा समझी जा सकने लायक भाषा और शैली में वर्णन किया है और इसमें सन्देह नही कि उनका दृष्टिकोण मुख्यतः अपने शिष्यो और अनुयायियों को धर्माचार का एक विशिष्ट दृष्टिकोण देना ही रहा है।

पर बहुत समय से भारतीय जनता धर्म के मूलस्वरूप को भूलकर उसे सामान्य-जीवन से कोई भिन्न बात मानने लग गई थी, जिससे लोग पूजा-पाठ, जप-तप करते हुए भी सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवहार में विपरीत आचरण करने लग गये थे। उदाहरण के लिये जिन लोगों ने अपने किसी स्वार्थ के कारण विदेशी आक्रमणकारियों को बुलाकर अथवा उनके साथ सहयोग करके देश को पराधीन कराया, जनता पर अत्याचार कराये, सम्पत्ति को लुटवाया, उनको किसी ने अधार्मिक नहीं कहा। कारण यह कि इन समाज-विरोधी कार्यों को करते हुए भी वे अच्छी तरह से पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा, दान-दक्षिणा आदि का जिनको लोग 'धर्म-कृत्य' के नाम से पुकारते हैं, पालन करते रहते थे।

समर्थ गुरु रामदास ने (सन् १६०८ से १६८२) धार्मिक भावना की इस त्रुटि को अनुभव किया और अपने प्रवचनों तथा वाणियों मे यह प्रतिपादित किया कि केवल धर्म और अध्यात्म की चर्चा करने का कोई महत्त्व नहीं। मनुस्मृति के अनुसार 'विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः' अर्थात् "जो कृत्य ज्ञानियों द्वारा सेवित या आचारित होते हैं वे ही धर्म होते हैं।" केवल चर्चा करने से कोई बात धर्म नहीं हो जाती। इसलिये उन्होंने जनता में धर्म के जिन सिद्धान्तों का प्रचार किया तदनुसार आचरण और लोक-व्यवहार करने पर भी जोर दिया।

## विदेशी शासन से हिन्दू-धर्म में विकृति

उनके समय मे विधर्मियों की प्रधानता के कारण हिन्दू-धर्म एक सकटकाल में होकर गुजर रहा था और विदेशी शासको के राजनीतिक तथा सामाजिक दबाव के कारण उसमें तरह-तरह के दूषित सिद्धान्तों और

क्रियाओं का समावेश हो रहा था । सामान्य हिन्दू जनता पहले ही बहुदेववादी थी, राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा, गणेश, सूर्य आदि के साथ और भी बीसियों क्षुद्र स्थानीय देवों की पूजा करती थी । अब मुसलमानों के सम्पर्क में आकर वह उनके फकीर और औलियाओं को पीर मानकर पूजने लगी थी । ऐसे लोग मुसलमानों के ताजियों को भी एक प्रकार की मूर्ति समझकर उनकी मान्यता करते थे और उस अवसर पर बाँटे जाने वाले मलीदा को प्रसाद समझकर खा लेते थे । बहुत से उस अवसर पर हरे कपड़े पहिनकर थोड़ी देर के लिये फकीर बन जाते थे और अपने छोटे बच्चों को ताजियों के नीचे होकर निकालते थे । इस प्रकार के व्यवहार के कारण बहुसंख्यक हिन्दुओं की श्रद्धा अपने धर्म पर से शिथिल होती जाती थी और समाज में तरह-तरह की दूषित प्रथाओं का प्रवेश होता जाता था ।

इतना ही नहीं अनेक हिन्दू पंडित और ब्राह्मण मुसलमानों के प्रभाव अथवा व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से मुसलमानों की कितनी ही बातों का समर्थन भी करने लगते थे । दक्षिण में दो ब्राह्मण किसी मुसलमान शासक के उकसाने पर वैदिक कर्मकाण्ड करने वालों पर आक्षेप करने लगे । उन्होंने कहा—"मुसलमान पशु-वध करते हैं, इसके लिये यदि वे दोषी हैं, तो ब्राह्मण भी तो यज्ञ में पशुहिंसा करते हैं, वे दोषी क्यों नहीं ?" कितने ही पंडितों ने प्राचीन शास्त्रों और स्मृतियों में ऐसे श्लोक बनाकर सम्मिलित कर दिये जिनसे हिन्दू-धर्म की हीनता प्रकट होती थी और वह निर्बल बनता था ।

समर्थ गुरु रामदास ने हिन्दू-धर्म की इस विकृति को देखा और इससे उनके हृदय को चोट लगी । अपने आसपास के लोगों के ऐसे कार्यों और बातों को देखकर वे छोटी अवस्था से ही हानिकारक धार्मिक रूढ़ियों के संशोधन और समयोपयोगी सशक्त विचारधारा के प्रचार की कल्पना किया करते थे । उनके अनुयायियों का कथन है कि बहुत छोटी अवस्था में ही उन्होंने कितने ही दिन तक हनुमान जी के एक मन्दिर में बैठकर इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये जप किया था और उनकी निष्ठा से प्रसन्न होकर हनुमानजी ने प्रकट होकर मन्त्रोपदेश देकर कहा—"सारी पृथ्वी में यवन छाये हुए हैं, अनीति का राज्य है, दुष्ट लोग अधिकार-सत्ता से मतवाले होकर साधु-जनों को सता रहे हैं । इसलिये आप वैराग्यवृत्ति से कृष्णा नदी के तीर पर उपासना करके ज्ञान प्राप्त करो और लोकोद्धार के कार्य में संलग्न हो जाओ ।" उसी समय से समर्थ गुरु ने अपने जीवन का एकमात्र उद्देश्य धर्म का संशोधन और उसकी रक्षा करना ही बना लिया ।

## विवाह से विरक्ति और गृह-त्याग

एक तरफ बालक रामदास (जिनका नाम उस समय नारायण था) के हृदय में स्वधर्म और स्वजाति की सेवा का यह अंकुर उत्पन्न हो रहा था और दूसरी तरफ उनकी माता राणूबाई उनके विवाह का विचार कर रही थी । उस समय मुसलमानों के अत्याचारों से बचने के लिये बाल-विवाह की रीति विशेष रूप से प्रचलित हो गई थी । यद्यपि पति और पत्नी का समागम प्रायः बड़ी आयु में होता था, पर मुसलमानों की वक्रदृष्टि कुमारी कन्याओं पर रहने के कारण सामान्य श्रेणी के व्यक्ति विवाह-विधि छोटी आयु में ही सम्पन्न कर देते थे, पर रामदास विवाह की चर्चा चलने पर नाराज होते और विरक्ति का भाव प्रकट करते । एक बार इस सम्बन्ध में ज्यादा कहने-सुनने पर वे जंगल में भाग गये । तब उनके बड़े भाई गंगाधर जी उनको बहुत समझा-बुझाकर घर वापस लाये । बड़े भाई को निश्चय हो गया था कि रामदास कभी विवाह नहीं करेंगे, पर उनकी माता को सन्तोष नहीं होता था । वे जब कभी अवसर पातीं उन्हें विवाह के लिये समझाती ही रहती थीं ।

एक बार इसी तरह आग्रह करते-करते उन्होंने रामदास से विवाह के लिये जबर्दस्ती 'हाँ' कहला दिया । इस पर माता ने एक ब्राह्मण-कन्या से उनका सम्बन्ध पक्का कर दिया । नियत तिथि पर घर वाले बारात के साथ कन्या के घर पहुँचे और विवाह की क्रिया होने लगी । जब अन्तरपट पकड़ने के पश्चात् भाँवरों का समय आया तो सब ब्राह्मणों ने एक साथ 'सावधान' शब्द का उच्चारण किया । रामदास के मन में विचार आया कि यह लोग इतने जोर से 'सावधान' क्यों कह रहे हैं ? क्या इसका यह आशय है कि अब मैं एक ऐसे बन्धन में पड़ने जा रहा हूँ जिससे आजन्म छुटकारा नहीं मिलेगा ? ऐसा विचार आने से उनकी मनोवृत्ति एकदम बदल गई और वे विवाह-मण्डप से उठकर बड़े जोर से बाहर की तरफ भागे । कुछ लोग उनको

पकड़ने के लिये दौड़े, पर उस 'हनुमान-भक्त' को कौन पा सकता था ? इस समाचार को पाकर उनकी माता जब दुःखी होने लगीं तो बड़े भाई ने समझाया कि "रामदास जहाँ रहेगा आनन्द से ही रहेगा, तुम उसकी ज्यादा चिन्ता न करो । उसने धर्म-साधना का दृढ़ निश्चय कर लिया है, इसलिये विवाह के लिये उसके पीछे पड़ना ठीक न होगा ।"

## पंचवटी में साधना

इस घटना के पश्चात् रामदास ने जीवन-साधना में लग जाना आवश्यक समझा और वे अपने गाँव से कई सौ मील की यात्रा करके प्रसिद्ध तीर्थ पंचवटी (नासिक) पहुँच गये । यह गोदावरी के तट पर भगवान राम का प्रसिद्ध तीर्थ वहाँ पर वे 'टाकली' नामक स्थान में रहकर जप-तप और भजन करने लगे । वे प्रातःकाल से दोपहर तक गोदावरी के जल में खड़े होकर गायत्री का जप करते रहते थे । दोपहर के बाद भिक्षा लेकर भोजन करते और फिर भजन और जप में लग जाते । इस प्रकार बारह वर्ष तक तपस्या करके उन्होंने गायत्री के कितने ही पुरश्चरण कर डाले ।

इस तपस्या के फल से उनकी आत्मिक शक्ति कितनी अधिक बढ़ गई थी इसके सम्बन्ध में एक घटना प्रसिद्ध है ? इनकी तपोभूमि टाकली के पास ही 'दशकपेचक' ग्राम में एक पटवारी रहता था । उसे क्षय रोग हो गया और हालत खराब होते-होते एक दिन वह संज्ञाशून्य हो गया । लोगो ने उसे मरा हुआ समझकर उसके अन्तिम-संस्कार की व्यवस्था की और उसकी अर्थी बनाकर गोदावरी के किनारे ले चले । उसकी युवती भार्या भी सती होने की मनोकामना से उसके पीछे-पीछे जा रही थी । मार्ग में ही समर्थ गुरु रामदास की गुफा पड़ी और उस स्त्री ने महात्मा जानकर समीप जाकर प्रणाम किया । इन्होने परिस्थिति को न जानते हुए साधारण भाव से आशीर्वाद दे दिया—'सौभाग्यवती-पुत्रवती होओ ।' यह सुनकर स्त्री ने अपने पति का देहान्त होने की बात कही । पर रामदास ने स्त्री के लक्षण देखकर समझ लिया कि यह विधवा नहीं हो सकती । इसलिये उन्होंने कहा कि तुम्हारा पति मर नहीं सकता, उसकी फिर से अच्छी तरह परीक्षा करो । इस पर लोगो ने जो ध्यान देकर देखा तो उसमें जीवन के लक्षण जान पड़े । कुछ उपचार करने से वह होश मे आ गया और फिर क्रमशः स्वस्थ भी हो गया । कुछ वर्ष पश्चात् उसके जो प्रथम पुत्र हुआ उसको उन्होंने समर्थ गुरु का शिष्य बना दिया । आगे चलकर उद्धव गोस्वामी के नाम से वह उनका प्रधान शिष्य हुआ ।

## देश-भ्रमण और सामाजिक स्थिति का निरीक्षण

जब बारह वर्ष तक 'टाकली' में तपस्या करके समर्थ गुरु रामदास ने शरीर और मन पर पूरा नियन्त्रण प्राप्त कर लिया तब वे लोककल्याण अथवा धर्म-स्थापना के लिये स्वदेश की स्थिति का निरीक्षण करने बाहर निकले । प्राचीन समय में जब रेल, तार, जहाज, अखबार, प्रेस आदि का सर्वथा अभाव था, जनता का नेतृत्व करने वाले महापुरुषों को समस्त देश में घूमकर समाज और धर्म की अवस्था का निरीक्षण करना अनिवार्य होता था । यद्यपि इसके लिये लम्बे और कठिन मार्गों पर पैदल चलना, जैसा भोजन जब मिले उसी पर सन्तोष करना, दो-चार दिन न मिले तब भी व्याकुल न होना, सर्दी, गर्मी, वर्षा, आँधी, तूफान आदि सब प्रकार की प्राकृतिक कठोरताओ को शरीर पर सहन करना, विभिन्न प्रान्तों के निवासियों से व्यवहार करना और मिल-जुलकर काम निकालना आदि तरह-तरह की कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती थीं । पर इस तरह देश की सच्ची स्थिति का जैसा परिचय प्राप्त होता था और दूर-दूर के स्थानो से सम्पर्क स्थापित हो जाता था वह आजकल रेल और मोटर-युग मे सम्भव नहीं । आजकल की यात्राओं का ध्येय मनोरंजन और थोड़ी-सी भौगोलिक जानकारी ही मानी जा सकती है, जबकि पुराने जमाने की यात्राओं से देश की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी समस्याओं का ज्ञान हो जाता था । समर्थ गुरु रामदास इस तथ्य को अच्छी तरह समझते थे, उन्होंने जब इस प्रकार भ्रमण का निश्चय किया और निर्वाह के लिये भिक्षावृत्ति को अपनाया तो उसे लोककल्याणार्थ स्वीकार की गई 'भिक्षा' के महत्त्व को बतलाते हुए एक बार कहा था—

"भिक्षा निर्भय स्थिति है । भिक्षा से महानता प्रकट होती है और ईश्वर की प्राप्ति होती है । इतना ही नही उससे स्वतन्त्रता भी मिल जाती है । यदि स्वदेश-दशा का ज्ञान प्राप्त करना हो तो इसके लिये

निःसन्देह भिक्षावृत्ति से बढ़कर कोई अन्य साधन नहीं है । ग्राम हो चाहे नगर—घर-घर छान डालना चाहिये और 'भिक्षा' के 'मिस' से छोटे-बड़े सब प्रकार के लोगों की परीक्षा कर डालनी चाहिये । ऐसा करने से लोगों के सुख-दुःख मालूम होते हैं । उनके ज्ञान का लाभ भी अपने को मिल सकता है और अपने विचारों को उन पर प्रकट करने का अवसर मिलता है ।" समर्थगुरु रामदास ने 'भिक्षा' का आदेश दिया है, पर उन्हीं लोगों को जो जन-सेवा का व्रत धारण करके केवल जीवन-रक्षा के लायक कम से कम सामग्री से अपना काम चलाते हों । उन्होने यहाँ तक कहा है कि "यदि कोई भिक्षा के लिये बहुत-सा अन्न लावे तो उसमें से एक मुट्ठी लेकर बाकी लौटा देना चाहिये । अर्थात् समाज की दानरूपी थाती का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये, वरन् उसमें से अपने लिये कम से कम लेकर अपना जीवन समाज-सेवा के लिये अर्पण कर देना चाहिये । इस प्रकार के आचरण वाले का 'भिक्षा' ग्रहण करना ही सार्थक कहा जा सकता है । इसके विपरीत भिक्षा को मुफ्त का माल समझकर पेट भरने का साधन बना लेना तो महानिन्दनीय कर्म और हरामखोरी ही है ।"

पुराने समय में जितने भी सन्त और धर्म संस्थापक हुए थे उन सबने ऐसी ही यात्रायें की थी । आद्य शंकराचार्य यद्यपि बहुत छोटी—३२ वर्ष की आयु तक ही जीवित रहे पर उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन यात्रा करने में ही लगाया और भारतवर्ष के एक-एक कोने को छान डाला । इसी का परिणाम था कि उनको अपनी धर्म-संस्था का ऐसा दृढ़ और देशव्यापी सगठन बनाने में सफलता मिली, जो बारह-सौ वर्ष से अच्छी तरह कायम है और अभी तक देश मे अपना पर्याप्त प्रभाव बनाये हुए हैं । रामभक्ति के महान प्रचारक गोस्वामी तुलसीदास जी ने दूर-दूर तक की यात्रायें करके ही वह अनुभव प्राप्त किया था जिसके आधार पर 'रामचरित मानस' जैसा अमर ग्रन्थ लिखा जा सका । गुरु नानकदेव की यात्रायें तो सबसे बढ़-चढकर थीं । उन्होंने भारतवर्ष के प्रत्येक भाग की ही पूरी तरह से यात्रा नहीं की, वरन् ईरान और मक्का तक पहुँचे । महाप्रभु चैतन्य ने भी समाजोद्धार का कार्य करने से पूर्व दक्षिण और पश्चिम के सब तीर्थों की यात्रा कर ली थी और तो क्या वर्तमान समय मे स्वामी विवेकानन्द ने देश और विदेशों में भारतीय संस्कृति का झण्डा गाढ़ने के पूर्व समस्त भारत का भ्रमण करके देश और समाज की दशा का गम्भीरतापूर्वक निरीक्षण किया था ।

## विभिन्न तीर्थों की यात्रा

समर्थ गुरु रामदास के जीवन चरित्र में उनके देश-भ्रमण का जो वृतान्त दिया गया है उससे मालूम होता है कि उन्होने सबसे पहले हिन्दू-धर्म के केन्द्रस्वरूप काशी की यात्रा की । वहाँ जब वे विश्वनाथ जी के मन्दिर में पहुँचे तो वहाँ के कुछ पुजारियों ने उनकी वेशभूषा देखकर उन्हें कोई ब्राह्मणों से भिन्न जाति का वैरागी समझा । इससे उन्होंने उनको शिवजी की प्रतिमा के समीप जाने से निषेध किया । इस पर वे—"अच्छा, रामचन्द्र जी की इच्छा" —यह कहकर शिवजी तथा पुजारियों को साष्टांग दण्डवत करके लौट पड़े । कहते हैं कि बाहर निकलते ही पुजारियों को शिवजी की प्रतिमा दिखाई न पड़ने लगी । इससे वे घबड़ाये और दौड़कर समर्थ गुरु से क्षमा प्रार्थना की । जब वे पुन मन्दिर में आये प्रतिमा पुनः दिखाई पड़ने लग गई । इस चमत्कार-जैसी घटना से काशी में उनका सम्मान होने लगा और उन्होंने एक घाट पर हनुमान जी की मूर्ति की स्थापना कराई । वे प्रयाग और गया भी गये और फिर अयोध्या पहुँचे जो उनके मुख्य इष्टदेव श्री रामचन्द्र की लीलास्थल था । वहाँ कुछ समय ठहरकर वैरागी-समुदाय की व्यवस्था पर ध्यान दिया । फिर मथुरा, वृन्दावन आदि ब्रज के तीर्थों को देखते हुए द्वारिका जी पहुँचे । वहाँ उन्होने एक राम-मन्दिर स्थापित करके एक महन्त रख दिया । इसी प्रकार प्रभास क्षेत्र में रामदासी मठ की स्थापना करके लोगों को परमार्थ पथ का उपदेश दिया ।

पंजाब का भ्रमण करते हुए वे श्रीनगर (कश्मीर) पहुँचे । वहाँ नानक पंथी साधुओं ने उनका बड़ा सत्कार किया । उनके व्यावहारिक अध्यात्म के उपदेशों से वे बड़े प्रभावित हुए और उनसे मन्त्र-दीक्षा देने की प्रार्थना की । समर्थ गुरु रामदास इस प्रकार अकारण चेलो की संख्या बढ़ाते जाना अनुचित मानते थे । इसलिये उन्होंने उन साधुओं से कहा कि आपके गुरु नानकदेव ऐसे महान पुरुष थे जिन्होंने मुसलमानों से भी 'राम-राम' कहलाया था । उनका उपदेश ही किसी प्रकार कम

नहीं है, आप उसी को अपने जीवन में सार्थक करो तो बहुत बड़ा काम हो सकता है । वहाँ से चलकर वे हिमालय में केदारनाथ, बद्रीनाथ की यात्रा करके एक बहुत ऊँचे शिखर पर चढ़े जिसे हनुमान जी का 'श्वेत-मारुति' नामक स्थान बतलाया जाता है । हिमालय की यात्रा आज भी बड़ी कठिन है और अनेक स्थानों में यात्रा करते हुए प्राण-संकट स्पष्ट जान पड़ता है । पर समर्थ गुरु रामदास अपनी सहनशक्ति के प्रभाव से, उस जमाने में जब यात्रा के वर्तमान साधनों में से एक भी न था, वहाँ के बड़े-बड़े विकट स्थानों में भ्रमण कर आये । वे अपने समस्त अनुयायियों को भी आरम्भिक अवस्था मे संयम-नियम, ब्रह्मचर्य-तपस्या का जीवन बिताने का उपदेश देते थे जिससे आगामी जीवन में सांसारिक कठिनाइयों का अच्छी तरह सामना कर सकें ।

उत्तराखण्ड की यात्रा करके वे जगन्नाथ जी पहुँचे । वहाँ पर पद्मनाभ नामक ब्राह्मण को सुयोग्य समझकर वहाँ भी श्रीराम मन्दिर की स्थापना की और उसे व्यवस्थापक बना दिया । फिर पूर्वी समुद्र के किनारे चलते हुए रामेश्वर के दर्शन किये और वहाँ से लंका पहुँच गये । वहाँ उन्होंने राम-भक्त हनुमान, विभीषण आदि का स्मरण किया और इस सम्बन्ध में कुछ पद्य रचना की । लंका से वापस आकर भारतवर्ष के पश्चिमी किनारे होकर केरल, मैसूर, कर्नाटक आदि प्रदेशों को देखते हुए महाराष्ट्र में आ गये । यहाँ उन्होंने गोकर्ण, वैंकटेश, मल्लिकार्जुन, बाल-नरसिंह, पालक-नरसिंह आदि प्रसिद्ध मूर्तियों का दर्शन किया । इसके बाद पम्पासर, ऋष्यमूक, करवीर-क्षेत्र, पंढरपुर आदि होकर पंचवटी लौट आये ।

समर्थ गुरु रामदास की आयु के १२ वर्ष बाल्यावस्था में व्यतीत हुए जिसमें खेल-कूद कर अपने शरीर और सहज बुद्धि का पूरा विकास किया, फिर बारह वर्ष तपस्या करके मन पर पूर्ण नियन्त्रण और आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त की, उसके बाद १२ वर्ष तक भारत के समस्त भागों में भ्रमण करके देश का निरीक्षण किया, पतन और पराधीनता के कारणों की जाँच की, प्रत्येक स्थान में वे वहाँ के प्रमुख विचारशील सज्जनों से मिले और उनके साथ विचार विनिमय किया । इस प्रकार देश के विभिन्न भागों की स्थिति का स्वयं निरीक्षण करने और दूसरों की सम्मति सुनने से उन्हें तत्कालीन परिस्थिति का बहुत अच्छा ज्ञान हो गया । उन्होंने उन कारणों की भी खोज की जिनसे हिन्दू-जाति की दिन पर दिन अवनति होती जाती है । यद्यपि वे उस समय सर्वत्यागी साधु के वेश में थे पर जनता की मनोवृत्ति का विश्लेषण करके उन्होंने यह निर्णय किया कि इस समय हिन्दुओं को निवृत्ति मार्ग के बजाय प्रवृत्ति का सच्चा स्वरूप बतलाना और उसके कर्त्तव्यों का ठीक ढंग से पालन करने की प्रेरणा देना अत्यावश्यक है । जो लोग जगत् को मिथ्या कहकर कहीं एकान्त में जा बैठते है वे देश तथा धर्म के उद्धार की दृष्टि से सर्वथा व्यर्थ है । उस समय तो उन कर्मवीरो की आवश्यकता थी जो विपरीत परिस्थितियों के साथ संघर्ष करने को स्वयं तैयार हों और दूसरों को भी वैसी प्रेरणा दे सकें ।

## जनता का संगठन

अपने इस कार्यक्रम की पूर्ति के लिये समर्थ गुरु ने सबसे पहले देश में—विशेषतः महाराष्ट्र में धर्म-सेवकों का एक विशाल और सुदृढ़ संगठन बनाने की योजना को कार्यान्वित करना आरम्भ किया । वे चारों तरफ घूमकर हनुमानजी के मन्दिरों और उनके साथ शारीरिक व्यायाम करने के लिये अखाड़ों की स्थापना करने लगे । खास-खास स्थानों पर उन्होंने 'रामदासी-मठ' की शाखायें भी स्थापित कीं, जिनका काम अपने आसपास की कार्यवाहियों का संचालन करना था । कहा जाता है कि इस प्रकार उन्होंने सात-आठ सौ अखाड़ों और मन्दिरों की स्थापना महाराष्ट्र में की थी । इससे उस समस्त प्रदेश मे जागृति की लहर फैल गई और लोग अपने देश और धर्म की रक्षा के लिये उद्यत होने लगे । ऐतिहासिकों का मत है कि समर्थ गुरु रामदास ने भारतीय समाज में केवल स्वराज्य की भावना ही नहीं फैलाई वरन् योजनाबद्ध रूप से उस भावना को कार्यरूप में भी परिणत कराया । शिवाजी महाराज ने जब महाराष्ट्र को मुगल बादशाह और बीजापुर के शासक से स्वतन्त्र कराने के लिये युद्ध की घोषणा की, उस समय समर्थ गुरु के देशव्यापी प्रचार के फलस्वरूप ही उनको सेना के लिये लाखों शूरवीर सिपाही और अन्य तरह की सहायता प्राप्त हुई थी ।

यद्यपि समर्थ गुरु रामदास संसार त्यागकर साधु हो गये थे और उनका मुख्य उद्देश्य परमात्मा का

सान्निध्य प्राप्त करना ही था, पर वे यह भी कहते थे कि मनुष्य चाहे जितना बड़ा ज्ञानी बन जाय, उसके लिये चाहे कर्म-अकर्म में किसी प्रकार का भेद न रहे, पर सांसारिक कर्त्तव्यों का त्याग नहीं करना चाहिये । इस सम्बन्ध में वे 'गीता' के इस सिद्धान्त के मानने वाले थे—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुं लोकसंग्रहम् ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्व कर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरम् ॥
*(गीता ३-२५, २६)*

"हे अर्जुन ! कर्म मे आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते है, वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान भी लोक-शिक्षण के उद्देश्य से कर्म करता रहे । उसको इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि आसक्त भाव से कर्म करने वाले अज्ञानियों की बुद्धि मे उसके उदाहरण को देखकर किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न न हो जाये । इसलिये उसे परमात्म-तत्त्व को जानते हुए भी समस्त सांसारिक कर्मों को ठीक तरह से करना चाहिये और दूसरों से भी कराना चाहिये ।"

इस सिद्धान्त के अनुसार समर्थ गुरु रामदास ने ससार से पूर्ण विरक्त होते हुए भी राष्ट्रहित के बड़े-बड़े कामों को सिद्ध कराया । यद्यपि वे एक कोपीन, खड़ाऊँ और माला के अतिरिक्त अपने लिये कोई सामग्री नहीं रखते थे, पर हिन्दू-जाति की रक्षा के लिये उन्होने महाराज शिवाजी के राज्य-संस्थापन कार्य में हर तरह से सहयोग दिया । श्री महादेव गोविन्द रानाडे और श्री राजवाड़े जैसे महाराष्ट्र के इतिहास की खोज करने वाले विद्वानो का कथन है कि महाराष्ट्र-राज्य के वास्तविक संस्थापक समर्थ गुरु रामदास ही थे, शिवाजी उनकी तुलना में एक दृष्टि से निमित्त मात्र है । यदि समर्थ गुरु ने अपने प्रचार कार्य द्वारा जनता में हिन्दुत्व की गहरी भावना जागृत न की होती और बाद मे भी वे सदैव लोगों को प्रेरणा न देते रहते तो महाराज शिवाजी के कार्यक्रम का सफल होना असम्भव ही था ।

## माता से भेंट

समर्थ गुरु रामदास अपनी माता की अभिलाषा को भंग करके विवाह-मण्डप से भाग आये थे । इससे वह बड़ी दुःखी हुई थी और पुत्र-वियोग में रोते-रोते अंधी हो गई । समर्थ गुरु को भी उसका ध्यान था, पर कर्त्तव्यपालन के विचार से वे अपने घर नहीं जाते थे । जब बारह वर्ष तपस्या और बारह वर्ष यात्रा करके अपने निवासस्थान में लौट आये तो एक बार पैठण की यात्रा को जाते हुए अपने गाँव 'जाम्ब' में पहुँच गये और अपने घर के दरवाजे के सामने जाकर 'जय-जय रघुवीर समर्थ' की आवाज लगाई । घर के भीतर उनकी माता ने बहू को आज्ञा दी कि वैरागी को भिक्षा दे आओ । पर समर्थ गुरु ने आगे बढ़कर कहा कि "अन्य वैरागियों की तरह भिक्षा लेकर लौट जाने वाला आज का वैरागी नहीं है ।" इस बार माता ने अपने पुत्र की आवाज पहिचान ली और कहने लगी—"क्या नारायण आया है ?" रामदासजी माता के चरणों में गिर गये और माता भी उनको उठाकर प्रेम से मस्तक और मुख पर हाथ फेरने लगीं । उन्होंने रामदासजी के जटाजूट और दाढ़ी को स्पर्श करके कहा—"अरे नारायण ! तू कितना बड़ा हो गया ? हाय ! मुझे तो आँखों से कुछ दिखाई ही नहीं देता कि अपने बेटे को अच्छी तरह देख सकूँ ।" श्री समर्थ ने यह सुनकर माता के चरणों में प्रणाम किया और उनके सिर पर हाथ फेरा जिससे कहते हैं उनको देखने की शक्ति प्राप्त हो गई । माता को बड़ा आश्चर्य हुआ और वह कहने लगी—"बेटा ! यह तो तूने किसी अच्छे भूत को सिद्ध कर लिया है ।" समर्थ गुरु ने कहा—"माताजी ! मैंने वही भूत सिद्ध किया है जो अयोध्या में आनन्द-मंगल करता था और जिसने गोकुल-वृन्दावन में अनेकों आश्चर्यजनक लीलायें की हैं । इसी 'भूत' ने रावण और कंस का वध किया था और देवताओं को बन्धन से छुड़ाया था । मैंने समस्त भूतों के प्राणभूत को वश में किया है ।" इसके पश्चात् वे कई दिन तक वहाँ ठहरे और अपने बड़े भाई 'श्रेष्ठ' से आध्यात्मिक विषयो पर चर्चा करते रहे । जब फिर भ्रमण के लिये घर से चलने लगे तो माता को बड़ा शोक हुआ । इस पर समर्थ ने उसको भागवत मे वर्णित वही आत्मज्ञान सुनाया जो कपिल मुनि ने अपनी माता के सम्मुख कहा था । इससे माता ने उनके जीवन-कार्य के महत्त्व को समझ लिया और उसे शान्ति प्राप्त हो गई ।

## समाज की रक्षा प्रथम कर्त्तव्य है

समर्थ गुरु का जीवनोद्देश्य विदेशी आक्रमणों और विधर्मी शासकों के दमन तथा अत्याचारों से जर्जरित हिन्दू-जाति में फिर से नवजीवन का संचार करना था। उस समय लगभग पाँच-छः सौ वर्ष की पराधीनता के कारण हिन्दू जनता का आत्मविश्वास बहुत कुछ नष्ट हो गया था और वे पारस्परिक फूट तथा संगठन के अभाव से अपने को मुसलमानों से हीन अनुभव करने लगे थे। हिन्दुओं में अप्रत्यक्ष रूप से मुसलमानों की संस्कृति-सभ्यता और बहुत से रीति-रिवाजों का प्रवेश होता जाता था और इससे हिन्दू-धर्म में तरह-तरह की विकृतियाँ पैदा होने लग गई थीं।

समर्थ गुरु रामदास ने देश मे बारह वर्ष तक भ्रमण करके और प्रत्येक वर्ग तथा स्तर के व्यक्ति से मिलकर इस परिस्थिति को पूर्णतः हृदयंगम कर लिया था। जब वे भ्रमण समाप्त करके अपने आश्रम में स्थिर होकर बैठे तो वे हिन्दू-जाति वे पुनरुद्धार की समस्या पर गम्भीरपूर्वक विचार करने लगे। अन्त में वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिन्दुओं में जो आत्महीनता और असगठन का दोष उत्पन्न हो गया है सबसे पहले उसी को हटाने का प्रयत्न किया जाये। इसके लिये सबसे पहले संगठन की आवश्यकता थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये साधु-कार्यकर्ताओं और मन्दिर तथा मठों की स्थापना का कार्य तो उन्होंने अपने भ्रमण काल मे ही आरम्भ कर दिया था। फिर जब वे कर्म-क्षेत्र में प्रवृत्त हुए तो उन्होंने कुछ वर्षों में ऐसे संगठन केन्द्रों का एक जाल-सा बिछा दिया, पर यह सब होने पर भी वे समझते थे कि सामान्य जनता के, गृहस्थो के जागृत और कर्त्तव्यनिष्ठ बने बिना इस कार्य में दृढ़ता और स्थायित्व नहीं आ सकता। इसके लिये उन्होंने अपने उपदेशो में गृहस्थों को सम्बोधित करते हुए कहा—

"अनेक वेशों और आश्रमों का मूल गृहस्थाश्रम ही है, जिसमे तीन लोकों के प्राणियों को विश्राम मिलता है। देव, ऋषि, मुनि, योगी, तापस, वीतराग, पितृ आदि, अतिथि, अभ्यागत सब इस गृहस्थाश्रम से ही उत्पन्न होते है। यद्यपि ये लोग अपना आश्रम छोड़कर निकल जाते हैं, पर फिर भी ये कीर्ति के रूप मे गृहस्थ के घरों में ही घूमा करते हैं। इसलिये गृहस्थ-आश्रम ही सब आश्रमों से बढ़कर है। लेकिन इस आश्रम में रहकर अपने कर्त्तव्यों का पालन तथा सब प्राणियों का उपकार करना चाहिये।"

यद्यपि समर्थ गुरु जप, भजन, साधन, पुरश्चरण आदि को भी आत्मिक उन्नति के लिये आवश्यक समझते थे और वे स्वयं भी हठपूर्वक गृहस्थ को त्यागकर वैरागी बन गये थे, पर उनके मतानुसार इस मार्ग का अनुसरण करने का अधिकार उन्हीं को है जो अपना जीवन धर्म और समाज की सेवा के लिये उत्सर्ग करने की भावना रखते हों। जो लोग सनक या मूर्खता के आवेश में आकर साधु या वैरागी बनते हैं उनकी उन्होंने स्पष्ट शब्दो मे भर्त्सना ही की है। अपने मुख्य ग्रन्थ 'दासबोध' में एक स्थान पर वे कहते हैं—

"पागल लोग घर-गृहस्थी को त्यागकर केवल दुःख भोगते हुए मर जाते है और इहलोक तथा परलोक दोनों को नष्ट कर लेते हैं। ऐसे लोग आवेश में आकर घर से तो निकल जाते हैं पर लड़ने-झगड़ने में ही उनके जीवन का अन्त हो जाता है। वे दूसरे बहुत से लोगों को भी कष्ट देते हैं और स्वयं भी कष्ट पाते हैं। वे घर से निकल तो जाते हैं पर फिर भी अज्ञानी ही बने रहते हैं। उनके पीछे बहुत से लोग लग भी जाते है। उनके चेले बन जाते हैं, पर गुरु और शिष्य समान रूप से अज्ञानी बने रहते हैं। इसी प्रकार जो किसी आशा से अथवा स्वार्थ की लालसा से घर छोड़कर चल देते है वे स्वयं अनाचारी बन जाते हैं और दूसरे लोगों में भी अनाचार फैलाते हैं। जो लोग अन्न-धन के अभाव के कारण घर से निकल जाते हैं, वे जगह-जगह चोरी करके मार खाते हैं। जिसमें स्वयं विवेक न होगा वह दूसरों को क्या ज्ञान दे सकेगा? वह घर-घर भीख माँगता फिरेगा और उसे भीख भी न मिलेगी। पर जो समाज की दशा को समझता है, देश-काल और परिस्थिति को पहचानता है, उसे भू-मण्डल मे कहीं किसी भी बात की कमी नहीं हो सकती।"

इस प्रकार समर्थ गुरु ने गृहस्थ और साधु दोनों को उनके कर्त्तव्यों का उपदेश दिया। सच्चे गृहस्थों को तो वे समाज का मूल आधार मानते ही थे और देशोद्धार के कार्य मे उनका सहयोग देना तो अनिवार्य था ही पर उन्होंने साधु वर्ग को स्पष्ट रूप से यह बता दिया कि यदि वे धर्म और समाज की सेवा की भावना

से, उनकी रक्षा और उन्नति के काम में अपना सर्वस्व अर्पण कर देने का व्रत ग्रहण करके गृहस्थ आश्रम का त्याग करते हैं तब तो उनका वह कार्य समुचित और प्रशंसनीय कहा जा सकता है अन्यथा वे पागल, ढोंगी अथवा पेट के लिये भीख माँगने वाले ही माने जायेंगे ।

आगे चलकर समर्थ गुरु ने इस विषय को और भी स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि धर्मरक्षा के निमित्त 'साधु' बनकर उदर निर्वाह के लिये भिक्षा ग्रहण करना बुरा नहीं है, पर ऐसा तभी कहा जा सकता है जब समाज से थोड़ा-सा ग्रहण करके उसकी अधिक से अधिक सेवा की जाये । सच पूछा जाये तो ऐसे समाजसेवी को आज भी उदर निर्वाह के लिये चिन्ता नहीं करनी पड़ती, वह चाहे गृहस्थ बना रहे और चाहे साधु आश्रम को ग्रहण कर ले । समाज अपने सच्चे सेवकों को पहचानता ही है और उसके भरण-पोषण की व्यवस्था बिना माँगे जाँचे ही किसी न किसी रूप में करता ही है । समर्थ गुरु ने 'भिक्षा' की चर्चा करते हुए कहा है—

"भिक्षा माँगकर खाने वाला 'निराहारी' कहलाता है और प्रतिग्रह के दोष से बच जाता है । जो किसी सन्त या असन्त के घर से रूखा अन्न भिक्षा में माँगकर भोजन करता है । वह मानो नित्य अमृत खाता है, पर उसे बहुत थोड़ी सी भिक्षा मिल जाने पर ही सन्तोष करना चाहिये । यदि कोई बहुत-सा अन्न ले आवे तो उसमें से केवल एक मुट्ठी ही लेना चाहिये । भिक्षा के लिये कुछ खास घरों को नियत कर लेना अथवा आठ दिन के लिये इकट्ठा माँगकर रख लेना कभी ठीक नहीं कहा जा सकता ।"

इस दृष्टि से आजकल के भिखारी जो केवल पेट भरने के लिये ही भिक्षा नहीं माँगते वरन् भिक्षा में प्राप्त अन्न को बेचकर बीड़ी, तम्बाकू, गाँजा, भाँग, मदिरा आदि का सेवन करते हैं किस श्रेणी में आते हैं ? साथ ही वे यह भी नहीं जानते कि जन-सेवा या लोकोपकार किस चिड़िया का नाम है ? ऐसे लोग न तो साधु कहे जा सकते हैं और न उनको जनता से दान लेकर खाने का तनिक भी अधिकार है । वे तो ठग या धोखेबाज ही कहे जा सकते हैं ।

## आदर्श 'साधु' (जनसेवक) के लक्षण

समर्थ गुरु रामदास स्वयं साधु थे और उन्होंने हजारों साधु बनाये । वर्तमान समय में साधु-समुदाय की जो दशा हो रही है यदि वे वैसे ही स्वार्थ-परायण अथवा पेट की खातिर गेरुआ धारण करने वाले होते तो निःसन्देह उनको निन्दा का ही पात्र समझा जाता और आज कोई उनका स्मरण न करता, पर समर्थ गुरु का आदर्श इससे बिल्कुल भिन्न था । वे पेट भरने या दुनिया को ठगने के लिये साधु नहीं हुए थे, वरन् उनका उद्देश्य परिवार-पालन के भार से मुक्त रहकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति जन-सेवा और देशोद्धार में लगाना था । उन्होंने जो मठ और मन्दिर स्थापित किये थे उनके व्यवस्थापक साधुओं के भी ऐसे ही कर्त्तव्य निर्धारण किये थे । इस सम्बन्ध में "महन्त के लक्षण" शीर्षक अध्याय में उन्होंने लिखा है—

"महन्त को हरिकथा निरूपण, उत्तम राजनीति और व्यवहार ज्ञान भी होना चाहिये । वह पूछना जानता हो, कहना या बतलाना जानता हो, अनेक प्रकार से व्याख्यान करना जानता हो और सबका समाधान करना जानता हो । उसे दूरदर्शिता के बल से वास्तविक बात पहले ही मालूम हो जाती हो, वह सावधानी पूर्वक प्रबल तर्क कर सकता हो और अच्छी तरह समझकर उचित बातें चुन सकता हो । जो इस प्रकार के सब कार्य कर सकता हो वही बुद्धिमान महन्त है । जो एकान्त में रह कर विचार करता हो, अच्छे-अच्छे ग्रन्थों का अध्ययन करता हो, मन के गूढ़ अर्थ को समझता हो और पहले स्वयं कोई बात सीखकर दूसरों को सिखलाता हो, वही महन्त की श्रेष्ठ पदवी पाता है और विवेक बल से सांसारिक कष्टों तथा झगड़ों में फँसे लोगों का उद्धार करता है । उसका लिखना-पढ़ना, बोलना-चालना सभी सुन्दर होता है और भक्ति, ज्ञान, वैराग्य की सब बातें वह बहुत अच्छी तरह जानता है । उसे प्रयत्न करना बहुत अच्छा लगता है, वह अनेक प्रसंगों (कार्यक्रमों) मे प्रवेश करता है और साहसपूर्वक आगे बढ़ता है ।"

इस प्रकार किसी मठ की अध्यक्षता करने वाले साधु की उन्होंने जो कल्पना की है वह वर्तमान समय के किसी समाज-सेवी नेता से मिलती-जुलती ही है । ऐसे व्यक्ति साधु के वेश में रहते हुए भी समाज के संचालक और मार्ग-दर्शक होते हैं, पर उनकी विशेषता यह थी कि इस प्रकार लोकहित के कार्यों में भाग लेने पर भी वे उसे निःस्वार्थ भाव से ही करते थे और

स्वयं सब प्रकार के माया-मोह और बन्धनो से बचे रहते थे । इसीलिये उन्होंने महन्त को समाज-संचालन की आज्ञा देते हुए यह भी चेतावनी दी थी कि सांसारिक झगड़ों का समाधान करते हुए उनको स्वयं उनमें नहीं फँस जाना चाहिये ।

"वह सब उपाधियों में मिलना भी जानता है और अपने आपको उनसे अलिप्त रखना भी जानता है । वह सब जगह रहता है पर ढूँढ़ने पर कहीं नहीं मिलता और अन्तरात्मा की तरह सब जगह रहने पर भी गुप्त रहता है । कोई प्राणी अन्तरात्मा से रहित नही होता तो भी यदि उसे देखना चाहें तो वह दिखाई नहीं पड़ती और अदृश्य होकर ही सब काम चलाती है । महन्त भी अन्तरात्मा की तरह ही होता है । सब लोगों को अच्छी-अच्छी बातें बतला कर उन्हें चतुर बनाता है पर स्थूल तथा सूक्ष्म सब प्रकार की विद्याओं की व्यवस्था करता है । वह स्वयं अपने बल से चतुर बनता है और सदा प्रयत्न करता है, पर उनमे लिप्त नहीं होता । ज्ञानी की 'महन्ती' इसी प्रकार की होती है । वह नीति और न्याय की रक्षा करना जानता है । न स्वयं अन्याय करता है और न दूसरों को करने देता है और विकट अवसर आ पड़ने पर भी उससे पार पाने का उपाय करना जानता है ।"

आज भारत में पाये जाने वाले एक करोड़ 'साधु' तथा 'भिक्षु' नामधारियों की समस्या के कारण हम परेशान होते रहते हैं और उनको समाज का एक असह्य भार समझकर उनके निवारण की योजनायें बनाया करते हैं । पर यदि ये 'साधु' समर्थ गुरु के बतलाये आदर्श के अनुयायी होते, समाज से नाम मात्र के लिये निर्वाह के साधन लेकर उनके अनेक संगठनात्मक और रचनात्मक कार्यों की पूर्ति करते रहते तो कौन उनको बुरा कह सकता था अथवा उनसे पीछा छुड़ाने की बात सोच सकता था ? 'साधु' की पदवी निःसन्देह बहुत ऊँची है और उसका आशय है संसार के उपकार के लिये आत्म-त्याग करना, समर्थ गुरु रामदास ऐसे ही साधु थे और उस आपत्तिकाल में हिन्दू-धर्म और समाज की दुर्दशा को देखकर उन्होंने ऐसे ही आत्म-बलिदानी 'स्वयं-सेवकों' का निर्माण और संगठन किया था । यही कारण था कि महाराज शिवाजी जैसे महान शासक को उन्हें गुरु बनाना गौरवास्पद जान पड़ा और उन्होंने अपना राज्य तथा सर्वस्व उनके चरणों पर भेंट करके स्वयं एक कार्यवाहक (मुनीम) की हैसियत से ही उसका संचालन किया ।

## राजनीतिक शिक्षा की आवश्यकता

समर्थ गुरु का मुख्य उद्देश्य अपने राष्ट्र को सशक्त और सुदृढ़ बनाना था, इसलिये उन्होंने धर्म के साथ लोगों को राजनीति का भी उपदेश दिया । प्रायः यह देखने में आया था कि भारतीय शासक शक्तिशाली और सब तरह से रणकुशल होने पर भी विदेशियों की कूटनीति और छल-बल के कारण हार गये । मुसलमान आक्रमणकारियों ने सर्वप्रथम भारतीय नरेशों में फूट उत्पन्न करके और उनके भीतर अपने भेदिया घुसाकर ही इस देश मे अपना क़दम जमाया था । अगर भारतवासी इस तरफ से सचेत रहते और शत्रु की चालों का आशय समझकर उसका मुकाबला सम्मिलित रूप से ही करते, तो मुसलमान शासकों का सफल हो सकना कदापि सम्भव न था । इतना ही नही अगर वे सम्मिलित रूप से प्रयास करते तो अफ़गानिस्तान और तुर्किस्तान जैसे छोटे-छोटे देशों को उसी समय खण्ड-बण्ड कर डालना उनके लिये कुछ भी कठिन न था ।

इसी तथ्य को दृष्टिगोचर रखकर समर्थ गुरु ने अपने अनुयायियों को धर्म के साथ राजनीति का भी उपदेश दिया । उन्होने कहा कि "राजा को सब प्रकार की शंकाओं को मिटाते रहना चाहिये और लोगों के सामान्य अपराधों को क्षमा करते रहना चाहिये । दूसरे की मन की बात समझना चाहिये और न्याय तथा नीति में अन्तर न पड़ने देना चाहिये । चतुरता से लोगों का मन अपनी ओर आकृष्ट करना चाहिये, हर एक को सन्तुष्ट रखना चाहिये और यथाशक्ति सभी सांसारिक कार्यों को सम्भालना चाहिये । विशिष्ट कार्यों को पूरे करने का अवसर धैर्यपूर्वक देखते रहना चाहिये । किसी के साथ बहुत अधिक घनिष्ठता नहीं रखनी चाहिये । अपने कार्यों का विस्तार करते रहना चाहिये, पर उनके जाल में नही फँसना चाहिये । लघुता और मूर्खता से बचना चाहिये । दूसरे के दोषों पर पर्दा डालना चाहिये, क्योंकि सदैव किसी के अवगुणों को कहते रहना अच्छा काम नहीं है । यदि दुष्ट व्यक्ति अपने वश में आ जाये और उसके सुधरने की आशा

से, उनकी रक्षा और उन्नति के काम में अपना सर्वस्व अर्पण कर देने का व्रत ग्रहण करके गृहस्थ आश्रम का त्याग करते हैं तब तो उनका वह कार्य समुचित और प्रशंसनीय कहा जा सकता है अन्यथा वे पागल, ढोंगी अथवा पेट के लिये भीख माँगने वाले ही माने जायेंगे ।

आगे चलकर समर्थ गुरु ने इस विषय को और भी स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि धर्मरक्षा के निमित्त 'साधु' बनकर उदर निर्वाह के लिये भिक्षा ग्रहण करना बुरा नहीं है, पर ऐसा तभी कहा जा सकता है जब समाज से थोड़ा-सा ग्रहण करके उसकी अधिक से अधिक सेवा की जाये । सच पूछा जाये तो ऐसे समाजसेवी को आज भी उदर निर्वाह के लिये चिन्ता नहीं करनी पड़ती, वह चाहे गृहस्थ बना रहे और चाहे साधु आश्रम को ग्रहण कर ले । समाज अपने सच्चे सेवकों को पहचानता ही है और उसके भरण-पोषण की व्यवस्था बिना माँगे जाँचे ही किसी न किसी रूप में करता ही है । समर्थ गुरु ने 'भिक्षा' की चर्चा करते हुए कहा है—

"भिक्षा माँगकर खाने वाला 'निराहारी' कहलाता है और प्रतिग्रह के दोष से बच जाता है । जो किसी सन्त या असन्त के घर से रूखा अन्न भिक्षा में माँगकर भोजन करता है । वह मानो नित्य अमृत खाता है, पर उसे बहुत थोड़ी सी भिक्षा मिल जाने पर ही सन्तोष करना चाहिये । यदि कोई बहुत-सा अन्न ले आवे तो उसमें से केवल एक मुट्ठी ही लेना चाहिये । भिक्षा के लिये कुछ खास घरों को नियत कर लेना अथवा आठ दिन के लिये इकट्ठा माँगकर रख लेना कभी ठीक नहीं कहा जा सकता ।"

इस दृष्टि से आजकल के भिखारी जो केवल पेट भरने के लिये ही भिक्षा नहीं माँगते वरन् भिक्षा में प्राप्त अन्न को बेचकर बीड़ी, तम्बाकू, गाँजा, भाँग, मदिरा आदि का सेवन करते हैं किस श्रेणी में आते हैं ? साथ ही वे यह भी नहीं जानते कि जन-सेवा या लोकोपकार किस चिड़िया का नाम है ? ऐसे लोग न तो साधु कहे जा सकते हैं और न उनको जनता से दान लेकर खाने का तनिक भी अधिकार है । वे तो ठग या धोखेबाज ही कहे जा सकते हैं ।

## आदर्श 'साधु' (जनसेवक) के लक्षण

समर्थ गुरु रामदास स्वयं साधु थे और उन्होंने हजारों साधु बनाये । वर्तमान समय में साधु-समुदाय की जो दशा हो रही है यदि वे वैसे ही स्वार्थ-परायण अथवा पेट की खातिर गेरुआ धारण करने वाले होते तो निःसन्देह उनको निन्दा का ही पात्र समझा जाता और आज कोई उनका स्मरण न करता, पर समर्थ गुरु का आदर्श इससे बिल्कुल भिन्न था । वे पेट भरने या दुनिया को ठगने के लिये साधु नहीं हुए थे, वरन् उनका उद्देश्य परिवार-पालन के भार से मुक्त रहकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति जन-सेवा और देशोद्धार में लगाना था । उन्होंने जो मठ और मन्दिर स्थापित किये थे उनके व्यवस्थापक साधुओं के भी ऐसे ही कर्तव्य निर्धारण किये थे । इस सम्बन्ध में "महन्त के लक्षण" शीर्षक अध्याय में उन्होंने लिखा है—

"महन्त को हरिकथा निरूपण, उत्तम राजनीति और व्यवहार ज्ञान भी होना चाहिये । वह पूछना जानता हो, कहना या बतलाना जानता हो, अनेक प्रकार से व्याख्यान करना जानता हो और सबका समाधान करना जानता हो । उसे दूरदर्शिता के बल से वास्तविक बात पहले ही मालूम हो जाती हो, वह सावधानी पूर्वक प्रबल तर्क कर सकता हो और अच्छी तरह समझकर उचित बातें चुन सकता हो । जो इस प्रकार के सब कार्य कर सकता हो वही बुद्धिमान महन्त है । जो एकान्त में रह कर विचार करता हो, अच्छे-अच्छे ग्रन्थों का अध्ययन करता हो, मन के गूढ़ अर्थ को समझता हो और पहले स्वयं कोई बात सीखकर दूसरों को सिखलाता हो, वही महन्त की श्रेष्ठ पदवी पाता है और विवेक बल से सांसारिक कष्टों तथा झगड़ों में फँसे लोगों का उद्धार करता है । उसका लिखना-पढ़ना, बोलना-चालना सभी सुन्दर होता है और भक्ति, ज्ञान, वैराग्य की सब बातें वह बहुत अच्छी तरह जानता है । उसे प्रयत्न करना बहुत अच्छा लगता है, वह अनेक प्रसंगों (कार्यक्रमों) में प्रवेश करता है और साहसपूर्वक आगे बढ़ता है ।"

इस प्रकार किसी मठ की अध्यक्षता करने वाले साधु की उन्होंने जो कल्पना की है वह वर्तमान समय के किसी समाज-सेवी नेता से मिलती-जुलती ही है । ऐसे व्यक्ति साधु के वेश में रहते हुए भी समाज के संचालक और मार्ग-दर्शक होते हैं, पर उनकी विशेषता यह थी कि इस प्रकार लोकहित के कार्यों में भाग लेने पर भी वे उसे निःस्वार्थ भाव से ही करते थे और

स्वयं सब प्रकार के माया-मोह और वन्धनों से बचे रहते थे । इसीलिये उन्होंने महन्त को समाज-संचालन की आज्ञा देते हुए यह भी चेतावनी दी थी कि सांसारिक झगड़ों का समाधान करते हुए उनको स्वयं उनमें नहीं फँस जाना चाहिये ।

"वह सब उपाधियों में मिलना भी जानता है और अपने आपको उनसे अलिप्त रखना भी जानता है । वह सब जगह रहता है पर ढूँढ़ने पर कहीं नहीं मिलता और अन्तरात्मा की तरह सब जगह रहने पर भी गुप्त रहता है । कोई प्राणी अन्तरात्मा से रहित नहीं होता तो भी यदि उसे देखना चाहें तो वह दिखाई नहीं पड़ती और अदृश्य होकर ही सब काम चलाती है । महन्त भी अन्तरात्मा की तरह ही होता है । सब लोगों को अच्छी-अच्छी वातें बतला कर उन्हें चतुर बनाता है पर स्थूल तथा सूक्ष्म सब प्रकार की विद्याओं की व्यवस्था करता है । वह स्वयं अपने बल से चतुर बनता है और सदा प्रयत्न करता है, पर उनमें लिप्त नहीं होता । ज्ञानी की 'महन्ती' इसी प्रकार की होती है । वह नीति और न्याय की रक्षा करना जानता है । न स्वयं अन्याय करता है और न दूसरो को करने देता है और विकट अवसर आ पड़ने पर भी उससे पार पाने का उपाय करना जानता है ।"

आज भारत में पाये जाने वाले एक करोड़ 'साधु' तथा 'भिक्षु' नामधारियों की समस्या के कारण हम परेशान होते रहते हैं और उनको समाज का एक असह्य भार समझकर उनके निवारण की योजनायें बनाया करते हैं । पर यदि ये 'साधु' समर्थ गुरु के बतलाये आदर्श के अनुयायी होते, समाज से नाम मात्र के लिये निर्वाह के साधन लेकर उनके अनेक संगठनात्मक और रचनात्मक कार्यों की पूर्ति करते रहते तो कौन उनको बुरा कह सकता था अथवा उनसे पीछा छुड़ाने की बात सोच सकता था ? 'साधु' की पदवी निःसन्देह बहुत ऊँची है और उसका आशय है संसार के उपकार के लिये आत्म-त्याग करना, समर्थ गुरु रामदास ऐसे ही साधु थे और उस आपत्तिकाल में हिन्दू-धर्म और समाज की दुर्दशा को देखकर उन्होंने ऐसे ही आत्म-बलिदानी 'स्वयं-सेवको' का निर्माण और संगठन किया था । यही कारण था कि महाराज शिवाजी जैसे महान शासक को उन्हे गुरु बनाना गौरवास्पद जान पड़ा और उन्होंने अपना राज्य तथा सर्वस्व उनके चरणों पर भेंट करके स्वयं एक कार्यवाहक (मुनीम) की हैसियत से ही उसका संचालन किया ।

## राजनीतिक शिक्षा की आवश्यकता

समर्थ गुरु का मुख्य उद्देश्य अपने राष्ट्र को सशक्त और सुदृढ़ बनाना था, इसलिये उन्होंने धर्म के साथ लोगों को राजनीति का भी उपदेश दिया । प्रायः यह देखने में आया था कि भारतीय शासक शक्तिशाली और सब तरह से रणकुशल होने पर भी विदेशियों की कूटनीति और छल-बल के कारण हार गये । मुसलमान आक्रमणकारियों ने सर्वप्रथम भारतीय नरेशों में फूट उत्पन्न करके और उनके भीतर अपने भेदिया घुसाकर ही इस देश में अपना क़दम जमाया था । अगर भारतवासी इस तरफ से सचेत रहते और शत्रु की चालो का आशय समझकर उसका मुकाबला सम्मिलित रूप से ही करते, तो मुसलमान शासकों का सफल हो सकना कदापि सम्भव न था । इतना ही नही अगर वे सम्मिलित रूप से प्रयास करते तो अफगानिस्तान और तुर्किस्तान जैसे छोटे-छोटे देशों को उसी समय खण्ड-बण्ड कर डालना उनके लिये कुछ भी कठिन न था ।

इसी तथ्य को दृष्टिगोचर रखकर समर्थ गुरु ने अपने अनुयायियो को धर्म के साथ राजनीति का भी उपदेश दिया । उन्होने कहा कि "राजा को सब प्रकार की शंकाओ को मिटाते रहना चाहिये और लोगो के सामान्य अपराधों को क्षमा करते रहना चाहिये । दूसरे की मन की बात समझना चाहिये और न्याय तथा नीति में अन्तर न पड़ने देना चाहिये । चतुरता से लोगो का मन अपनी ओर आकृष्ट करना चाहिये, हर एक को सन्तुष्ट रखना चाहिये और यथाशक्ति सभी सांसारिक कार्यों को सम्भालना चाहिये । विशिष्ट कार्यों को पूरे करने का अवसर धैर्यपूर्वक देखते रहना चाहिये । किसी के साथ बहुत अधिक घनिष्ठता नहीं रखनी चाहिये । अपने कार्यों का विस्तार करते रहना चाहिये, पर उनके जाल में नही फँसना चाहिये । लघुता और मूर्खता से बचना चाहिये । दूसरे के दोषों पर पर्दा डालना चाहिये, क्योंकि सदैव किसी के अवगुणों को कहते रहना अच्छा काम नहीं है । यदि दुष्ट व्यक्ति अपने वश में आ जाये और उसके सुधरने की आशा

हो तो उसके साथ उपकार करके उसे छोड़ देना चाहिये । किसी कार्य के करने में हठ नहीं करना चाहिये वरन् जो कार्य न हो उसे दीर्घ प्रयत्न और युक्ति से पूरा करना चाहिये ।

"अपने दल में फूट न होने देनी चाहिये और किसी से अधिक विवाद न करना चाहिये । दूसरों के उद्देश्य को समझना चाहिये और यदि अपने विरुद्ध बहुत से लोग हों तो घवड़ाना नहीं चाहिये अथवा दूसरे स्थान में चला जाना चाहिये । दूसरों का दुःख समझना चाहिये, कम से कम उनका हाल पूछकर ही उनका दुःख बटाना चाहिये । अपने समुदाय या समाज पर जो भलाई-बुराई आये, वह सब सहनी चाहिये । अध्ययन-जन्य ज्ञान का अपार भण्डार रहना चाहिये । मन में सदा अच्छे-अच्छे विचार प्रस्तुत रहने चाहिये और परोपकार करने को सदा तत्पर रहना चाहिये । स्वयं शान्ति प्राप्त करनी चाहिये और दूसरों को शान्ति देनी चाहिये, स्वयं हठ छोड़ना चाहिये और दूसरों का हठ छुड़ाना चाहिये, स्वयं अच्छे काम करने चाहिये और दूसरों से कराने चाहिये । यदि किसी का कोई अहित करना पड़े तो पहले से कहना नहीं चाहिये और दूर से ही उसे उस अहित का अनुभव करा देना चाहिये । जो बहुत से लोगों की बातें सहता है, उसे बहुत से आदमी नहीं मिलते, पर बहुत सहनशीलता दिखलाने से भी अपना महत्त्व नहीं रह जाता । राजनीतिक चालें अवश्य चलनी चाहिये, पर इस तरह कि किसी को उनका पता न चले । लोगों की अच्छी तरह परख रखनी चाहिये और राजनीतिक चालों से उनका अभिमान नष्ट कर देना चाहिये । कच्चे आदमी को अपने से दूर रखना चाहिये, बदमाशों से बात भी न करनी चाहिये और अवसर पड़ने पर उनसे बचे रहना चाहिये । इस तरह की राजनीतिक चालें बहुत-सी हैं, मन निश्चिन्त रहने पर ही वे सूझती हैं ।"

इस प्रकार समर्थ गुरु ने अपने अनुयायियों को उस राजनीति की शिक्षा दी जो असत्य और बेईमानी पर नहीं वरन् विवेक, सूझबूझ और सावधानी पर आधारित होती है । उन्होंने कहा है कि "जो डर कर वृक्ष पर चढ़ जाये उसे दम-दिलासा देना चाहिये और जो लड़ने को तैयार हो उसे धक्का देकर गिरा देना चाहिये ।" इसका आशय यह है कि सांसारिक व्यवहार में भी हमको अकारण किसी का अहित नहीं करना चाहिये, यथासम्भव समझौते तथा मेल-मिलाप की नीति से ही काम लेना चाहिये । लड़ना तभी चाहिये जब कोई नीच या स्वार्थी व्यक्ति दुष्टता करने पर उतारू हो । शिवाजी महाराज ने इसी नीति पर चलकर महाराष्ट्र में अद्भुत एकता और संगठन शक्ति उत्पन्न कर दी और औरंगजेब जैसे साम्राज्यवादी के छक्के छुड़ा दिये । स्वदेश और स्वधर्म के हिताकांक्षी व्यक्तियों के लिये यही नीति कल्याणकारी है । देश में अकारण अशान्ति या रक्तपात की स्थिति उत्पन्न करना श्रेष्ठ नीति नहीं है । महात्मा ईसा जैसे सन्त पुरुष भी यही कह गये हैं कि जो "तलवार के आधार पर रहते हैं उनका अन्त भी तलवार से ही होता है ।" इसलिये सच्ची राजनीति वही है जिसमें दुष्टों के दमन के साथ शिष्टों के रक्षण और पालन का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा जाये ।

## सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन

समाज में रहने वाले व्यक्तियों को अपना आचरण ऐसा रखना चाहिये कि जिससे अपनी उन्नति और भलाई के साथ समाज का भी हित हो । जो व्यक्ति केवल अपने हित का ध्यान रखते हैं और अपने लाभ के लिये दूसरों का अनहित करने में संकोच नहीं करते, उनको समाज का शत्रु ही समझना चाहिये । इसलिये समर्थ गुरु के उपदेशों का सार यही है कि "स्वयं जियो और दूसरों को जीने दो ।" उन्होंने अनेक सन्तों के समान यह नहीं कहा है कि स्वयं कष्ट सहते और सब तरह त्याग करते हुए दूसरे लोगों को ही सुख पहुँचाओ । इस तरह का उपदेश सुनने में भले ही बड़ा ऊँचा और आदर्श जान पड़े पर वह साधारण गृहस्थों के लिये उपयोगी नहीं हो सकता । इसलिये समर्थ गुरु ने वही उपदेश दिया है जो वास्तव में व्यावहारिक हो सके । वे कहते है—

"पहले स्वयं आवश्यकतानुसार भोजन कर लेना और तब बचा हुआ अन्न दूसरों को बाँटना चाहिये । इसी प्रकार मनुष्य को पहले स्वयं ज्ञान से तृप्त होना चाहिये और तब वह ज्ञान दूसरो को देना चाहिये । जो तैरना जानता हो उसे दूसरों को डूबने न देना चाहिये । पहले स्वयं उत्तम गुण ग्रहण करने चाहिये और तब वे गुण दूसरे को सिखलाने चाहिये । बिना स्वयं आचरण किये

हुए जो बातें दूसरों को बतलाई जाती हैं वे मिथ्या और व्यर्थ होती हैं । अपनी शक्ति को परोपकार में लगाना चाहिये, जिससे बहुत से लोगों की भलाई हो सके । देखना चाहिये कि कौन दुःखी और पीड़ित है और यथाशक्ति उसकी सहायता करनी चाहिये । सबसे मधुर भाषण तो करना ही चाहिये । दूसरो के दुःख मे दुःखी होना चाहिये और सब लोगों को प्रेमयुक्त बातें कहकर अपने साथ मिला लेना चाहिये ।"

"दूसरों के मन का भाव समझकर उसके अनुसार काम करना चाहिये और लोगो को अनेक प्रकार से परखते रहना चाहिये । कम बोलना और तुरन्त उत्तर देना चाहिये । क्रोध न करना चाहिये और सदैव क्षमा-भाव बनाये रखना चाहिये । यदि बराबर दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाये तो वे लोग भी इसको अनुभव कर लेते हैं । जो सबसे विनीत भाव रखता है उसे फिर किसी बात की कमी नही रहती । चाहे अपना काम हो और चाहे पराया हो सबको पूरी तरह करना चाहिये । अवसर पड़ने पर काम से चूकना या घबराना ठीक नही । यह तो प्रत्यक्ष देखने मे आता है कि अच्छी बात कहने से सब लोगों को सुख होता है । दूसरों को भी अपने ही समान समझना चाहिये । कठोर बातें सबको बुरी लगती हैं, तो फिर ऐसी बुरी या कठोर बात क्यों कही जाये ?"

इस सबका तात्पर्य यही है कि जिस मनुष्य को समाज मे रहना है उसे अपना व्यवहार और आचरण ऐसा रखना चाहिये जो सबको अच्छा लगे और वास्तव में लोकोपकारी हो । इसके लिये लोकमत को जानना और उसका आदर करना भी बहुत आवश्यक है । जो मनुष्य लोकमत की उपेक्षा करता है वह प्रायः उद्दण्ड और स्वेच्छाचारी हो जाता है । ऐसा व्यक्ति कभी समाज के लिये हितकारी नही हो सकता वरन् वह किसी न किसी तरह समाज की हानि करने वाला ही होता है । इसलिये समर्थ गुरु ने आदेश दिया है कि मनुष्य को लोकमत के विरुद्ध न चलना चाहिये । वे यह नहीं कहते कि समाज में मूढ़तावश प्रचलित हो गई कुरीतियो या हानिकारक परम्पराओं का पालन किया जाये, पर उनको मिटाने के लिये इस प्रकार व्यवहार करना चाहिये जिससे व्यर्थ का विरोध-भाव उत्पन्न न हो ।

ऐसी अवस्था में लोगो को समझा-बुझाकर और अपना उदाहरण दिखाकर ही सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये । इस विषय पर विवेचन करते हुए एक विद्वान ने कहा है—

श्री समर्थ ने आचार और विचार दोनो की ही शुद्धता पर बहुत जोर दिया है । मनुष्य को जन्म से मरण पर्यन्त अपना आचार-विचार कैसा रखना चाहिये ? इसका वर्णन उन्होंने अपने मुख्य ग्रन्थ 'दासबोध' मे विस्तारपूर्वक किया है । ज्ञान की सबसे अधिक महिमा बतलाई गई है, क्योंकि आचार-विचार की शुद्धि उसी के द्वारा होती है । इस ज्ञान की प्राप्ति का उपाय उन्होने सत्संग, अध्ययन और सेवा बतलाया है । बात भी बहुत ठीक है । लोग अनेक प्रकार के ज्ञान प्राप्त करते हैं, पर समर्थ गुरु उन ज्ञानों को ज्ञान नही मानते जब तक उनका आधार अध्यात्म न हो और यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो वह ज्ञान है ही किस काम का जिससे इहलोक और परलोक दोनों न सुधरे ?

प्रायः कहा जाता है कि आधुनिक पाश्चात्य जातियों ने ज्ञान का भण्डार बहुत अधिक बढ़ाया है—उसकी अनेक प्रकार से वृद्धि की है, पर उस ज्ञान का उपयोग कैसे कामों में हो रहा है ? एक-दूसरे को काटने, मारने, लूटने और दबाने में ही न ! तो फिर ऐसे ज्ञान से मानव-जाति का उपकार हुआ या अपकार ? ऐसे ज्ञान के होने से तो न होना ही अच्छा है । फिर कुछ ज्ञान ऐसा भी होता है जो अपने और दूसरो के उपकार के लिये उपयोगी हो सकता है । हम ऐसा ज्ञान साधारण शिक्षको और पुस्तकों आदि से प्राप्त कर लेते है, पर फिर भी उसका ठीक-ठीक उपयोग करना नही जानते । इसीलिये श्री समर्थ ने कहा कि सच्चा और वास्तविक ज्ञान वही है जो इहलोक और परलोक के साधन में पूर्ण सहायक हो ।

हमारे धार्मिक आचार्य और सन्तपुरुषों ने भी ज्ञान और आचार-विचार की शुद्धता के विषय मे बहुत कुछ लिखा है, पर उन्होने उसको ऐसा अलौकिक और सीमित रूप दे दिया है कि वर्तमान काल के मनुष्यो को वह व्यावहारिक नहीं जान पड़ता । आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टि से यद्यपि उनकी बातें बहुत उच्च कोटि की है, पर जीवन-संघर्ष और लौकिक प्रगति की दृष्टि से उनको सर्व-साधारण के लिये पालन कर सकने योग्य

नहीं माना जाता । पर समर्थ गुरु रामदास के उपदेशों की यह विशेषता है कि उन्होंने आज से तीन सौ वर्ष पहले व्यक्ति, समाज और राज्य के कर्त्तव्यों का जो विवेचन किया वह वर्तमान समय मे भी उपयोगी जान पड़ता है । उनके धर्मग्रन्थ "दासबोध" की अधिकांश शिक्षायें जैसी औरंगजेब के शासन काल मे लाभदायक थीं वैसी ही इस एटम के युग में भी सुख और शान्ति को प्राप्त करने में सहायक हो सकती है ।

श्री समर्थ की इस विशेषता का मुख्य कारण यह है कि उन्होंने जो कुछ कहा है वह केवल प्राचीन ग्रन्थों को पढ़कर या उस समय के धार्मिक साधु-महात्माओं की बातें सुनकर नहीं लिखा गया है, वरन् वर्षों तक देश में भ्रमण करके तथा समाज और राज्य की स्थिति का गम्भीर अनुभव प्राप्त करके लिखा गया है । यही कारण है कि अन्य धर्माचार्य और महात्मा जहाँ लोगों को यह उपदेश देते थे कि मनुष्य को भगवान के निमित्त तन-मन-धन सबका त्याग कर देना चाहिये और सांसारिक कष्टों को 'भगवान की कृपा' समझकर सहर्ष ग्रहण करना चाहिये वहाँ समर्थ गुरु ने कहा कि "मनुष्य को पहले अपना उदर पोषण अच्छी तरह से करके शेष सामग्री को परोपकारार्थ व्यय करना चाहिये ।"

यदि विचार किया जाये तो यही व्यावहारिक मार्ग माना जा सकता है । जैसा कुछ सन्त लोग कहते हैं, यदि हम स्वयं भूखे रहकर दूसरों का पेट भरते रहेंगे तो हमारा वह 'परोपकार' कितने दिन चल सकेगा ? प्रत्यक्ष है कि उस दशा में हम दिन पर दिन निर्बल और कार्य शक्ति से हीन होते चले जायेंगे और थोड़े ही दिनों में ऐसी स्थिति आ जायेगी कि हम न तो अपना निर्वाह कर सकेंगे और न दूसरो का उपकार । इसलिये सामान्य अवस्था में वह उपदेश अव्यावहारिक और काल्पनिक ही रहता है । विशेष परिस्थिति में जैसी भामाशाह आदि के सामने उपस्थित हुई थीं, उसे एक महान आदर्श अवश्य मानना चाहिये और राष्ट्र-रक्षा या समग्र समाज की किसी कठिन समस्या के अवसर पर उसके अनुसार आचरण भी करना चाहिये, पर नित्यप्रति के जीवन में उसके नाम पर स्वयं अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं कही जा सकती । इसीलिये समर्थ गुरु रामदास ने सदैव यही उपदेश दिया है कि मनुष्यों को वही मार्ग ग्रहण करना चाहिये जो इहलोक और परलोक दोनों में सहायक हो, जिससे व्यक्ति और समाज दोनों सुखी हो सकें ।

इतना ही नहीं 'इहलोक और परलोक' का अर्थ बाह्य और अंतरंग सुख-शान्ति से भी है । वर्तमान समय में जो लोग परलोक का अर्थ स्वर्ग-नर्क समझ कर उस पर अविश्वास करने लगते है उनको समझना चाहिये कि लौकिक का अर्थ बाहरी सुख-साधन और पारलौकिक का अर्थ आन्तरिक या आत्मिक सुख-शान्ति ही है । मनुष्य को उद्योग और परिश्रम द्वारा बाह्य-जीवन में सुख, आराम के साधन प्राप्त करने चाहिये और परोपकार तथा सेवा-धर्म द्वारा आन्तरिक जीवन को उच्च बनाना एवं आत्मिक शान्ति प्राप्त करना चाहिये । इन दोनों का उचित समन्वय करने से ही व्यक्ति और समाज की तथा समग्र राष्ट्र की उन्नति हो सकती है । यही समर्थ गुरु के उपदेश का रहस्य है ।

## त्याग वृत्ति और सेवा-भावना

श्री समर्थ गुरु के विषय में जो महत्त्वपूर्ण घटनायें प्रसिद्ध हैं उनमें से एक यह है कि शिवाजी को शिष्यत्व की दीक्षा देने के उपरान्त एक दिन वे स्नान, संध्या-वन्दन करके नियमित रूप से भिक्षा माँगते हुए सतारा में राजमहलों पर पहुँच गये और वहाँ भी अन्य स्थानों में भिक्षा माँगने के समान 'जय जय रघुवीर समर्थ' की ध्वनि की । गुरु की बोली को पहचान कर शिवाजी महाराज आनन्द मग्न हो गये और विचार करने लगे कि ऐसे महान 'भिखारी' की झोली मे क्या भिक्षा डाली जाये ? उन्होंने एक कागज पर अपने समस्त राज्य का दान-पत्र लिखकर झोली में डाल दिया । जब समर्थ ने उसे पढ़ा तो हँसकर कहने लगे कि—"शिवबा ! तुमने समस्त राज्य तो हमको दे डाला, अब तुम क्या करोगे ?" शिवाजी ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज ! मैं आपकी चरण सेवा करूँगा ।" समर्थ गुरु इस भक्ति-भाव को देखकर बहुत सन्तुष्ट हुए और बोले—"हम वैरागी राज्य को लेकर क्या करेंगे ? अब हमारी अमानत समझ कर राज्य का कारबार तुम्हीं चलाओ ।" शिवाजी ने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य किया और उसी दिन से राज्य का झण्डा भगवा रंग का कर दिया । तब से वे अपने को राज्य का एक सेवक समझकर ही निष्ठापूर्वक सब कार्य करते रहे । इस प्रकार श्री समर्थ ने एक ही समय में त्याग

और कर्तव्य-भावना का परिचय देते हुए एक अनुपम परम्परा का सूत्रपात कर दिया जिसके परिणामस्वरूप शासन-कार्य में धर्म और न्याय का विशेष समावेश हो गया ।

## राजा भगवान का नौकर होता है

समर्थ गुरु के विषय में दो-एक चमत्कार जैसी घटनायें प्रसिद्ध हैं, वे चाहे पूर्ण सत्य न भी हों तो भी बहुत शिक्षा जनक हैं । शिवाजी महाराज जब सामनगढ़ का किला बनवा रहे थे तो एक दिन वहाँ के निर्माण कार्य का निरीक्षण करते हुए उनके मन में यह भावना उत्पन्न हुई कि मेरे द्वारा ही इन सैकड़ों मजदूरों और कारीगरों का निर्वाह हो रहा है । संयोगवश उसी समय समर्थ गुरु वहाँ आ गये, वे अपने अनुभव द्वारा शिवाजी के मनोभाव को समझ गये । अपने शिष्य में इस प्रकार के अहंकार की उत्पत्ति को हानिकारक समझ वे कहने लगे—"शिववा ! तूने तो यह बड़ा भारी काम कर रखा है, जिससे न जाने कितने गरीबों का उदर-पालन होता है ।" शिवाजी ने उनके आन्तरिक आशय को समझा और कह दिया "महाराज ! यह सब आपकी कृपा का फल है ।"

इस प्रकार बातचीत करते हुए समर्थ गुरु की निगाह पास में पड़े हुए एक बड़े पत्थर की तरफ गई । उन्होंने शिवाजी से कहा कि "एक बेलदार बुलाकर इस पत्थर को तुड़वाओ ।" जब पत्थर के ऊपर भारी हथौड़े की कई चोटें लगीं तो उसके दो टुकड़े हो गये । सब लोगों ने देखा कि भीतर से उसका कुछ भाग पोला था जिसमे थोड़ा सा पानी भरा था और उसमें एक छोटा-सा जीवित मेढ़क भी था । यह देखकर सब कोई आश्चर्य करने लगे, पर समर्थ गुरु ने कहा—"शिववा ! तुम्हारा प्रभाव तो बहुत बढ़ा-चढ़ा है जो इस पत्थर के भीतर भी एक जीव का पालन कर रहे हो ।" शिवाजी ने उत्तर दिया—"इसमें मेरा क्या है ?" समर्थ गुरु ने किंचित व्यंग के साथ कहा—क्यों नहीं ? जिस प्रकार तुम इतने मजदूरो का पालन कर रहे हो उसी प्रकार इस मेढ़क के पालनकर्ता भी तुम्हीं हो ।"

शिवाजी अपने अहंकार की भूल को समझ गये और अत्यन्त विनीत भाव से कहने लगे—"महाराज ! मेरे अपराध को क्षमा करें, मुझ तुच्छ से कुछ नही हो सकता ।" समर्थ गुरु ने कहा—"क्षमा तो पहले ही कर चुका, पर तुमको सदा याद रखना चाहिये कि तुम उस बड़े सरकार (राम) के बड़े नौकर हो । तुम्हारे हाथ से वही दूसरों को दिलाता है । इसके लिये किसी प्रकार का अभिमान करना उचित नहीं ।" शिवाजी पर इस घटना का बड़ा प्रभाव पड़ा और फिर उनमें कभी ऐसी अहंकार-भावना नहीं आई ।

## श्री समर्थ गुरु की क्षमा-वृत्ति

एक दिन 'समर्थ' निजानन्द स्वामी के उत्सव में कहाड़ गये थे । वहाँ का कार्य समाप्त होने पर जब वे २०-२५ शिष्यों के साथ सज्जनगढ़ के किले की तरफ वापस जा रहे थे तो रास्ते में भूख लगी । जहाँ भोजन की कोई व्यवस्था न होने से उन्होंने एक खेत से ज्वार के कुछ भुट्टे तोडकर खाने की आज्ञा दे दी । जब शिष्य उन भुट्टों को भूनकर खा रहे थे उसी समय खेत का मालिक, जो एक साधारण जमीदार था, वहाँ आ पहुँचा । उसको इस तरह अपने खेत से भुट्टे तोड़े जाने पर क्रोध आ गया और समर्थ गुरु को सबका मुखिया समझकर एक ज्वार के डण्ठल से पीटने लगा । इस पर सब शिष्यो ने उसे पकड़ लिया और मारने लगे, पर समर्थ गुरु ने शिष्यों को रोका और खेत वाले को छुड़वा दिया । दूसरे दिन जब शिवाजी महाराज गुरु को स्नान कराने लगे तो उन्होने उनकी पीठ पर मार पड़ने के निशान देखे । पूछने पर समर्थ गुरु ने कुछ भी नहीं कहा । पर जब समर्थ गुरु विश्राम करने चले गये तो शिवाजी ने एक शिष्य से बहुत आग्रह करके उस घटना का हाल मालूम कर लिया । उसने उसी समय उस जमीदार को पकड़ कर लाने की आज्ञा दे दी ।

जब वह खेत वाला गिरफ्तार होकर दरबार में आया और उसने समर्थ गुरु को ऊँचे सिंहासन पर बैठे देखा तो अपनी भूल मालूम हो गई । वह समझ गया कि उसने जिसे साधारण वैरागी समझ कर पीट दिया था वे महाराज शिवाजी के गुरु थे । वह भय से काँपने लगा और समर्थ गुरु के चरणो पर गिर पडा । शिवाजी उसे बहुत कड़ा दण्ड देने जा रहे थे, पर समर्थ गुरु ने उनको रोक दिया । उन्होने उसका अपराध तुरन्त क्षमा ही नही कर दिया वरन् शिवाजी से कहकर उस खेत को सदा के लिये उसको दिला दिया । इस प्रकार बुराई के बदले मे भलाई किये जाते देखकर

समस्त दर्शकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा था और उन्होंने जान लिया कि राजनीति में भाग लेने पर भी अध्यात्म की दृष्टि से समर्थ गुरु सच्चे सन्त हैं ।

## दान लेने में अरुचि

समर्थ गुरु के बड़े भाई श्री श्रेष्ठ भी अपनी जन्मभूमि जाम्ब-ग्राम मे रहकर भक्ति-मार्ग का प्रचार करते रहते थे । जब उनको अपना शरीर शिथिल होता जान पड़ा तो उन्होंने पत्र लिखकर समर्थ को बुलाया । समर्थ वहाँ गये और महीने तक अपने भाई के साथ धर्म-चर्चा करके लौट आये । इसकि कुछ ही समय पश्चात् श्रेष्ठ का स्वर्गवास हो गया और उनके दोनों पुत्रो को समर्थ ने अपने पास बुला लिया । जब यह समाचार महाराज शिवाजी ने सुना तो वे समर्थ के आश्रम में आये और उन्होंने इच्छा प्रकट की कि 'जाम्ब' तथा अन्य कुछ गाँव मिलाकर श्रेष्ठ के पुत्रो के नाम कर दिये जाये, जिससे वे पारिवारिक राम-मन्दिर की व्यवस्था करते रहे और अपना खर्च भी चलाते रहें । समर्थ गुरु ने कहा कि अभी कोई जरूरत नहीं है, फिर देखा जायेगा । इससे शिवाजी महाराज दुःखी होकर कहने लगे "मालूम होता है कि भगवान राम की सेवा करना मेरे भाग्य में नही है ।" तब समर्थ गुरु ने आज्ञा दी कि "अच्छा, इतना प्रबन्ध कर दो कि जिससे राम मन्दिर की व्यवस्था और वहाँ आने वाले साधु सन्तों का सत्कार होता रहे ।" तत्पश्चात् राज्य की ओर से तेतीस गाँव मन्दिर के नाम लगा दिये गये जिससे सदैव कितने ही धर्मोत्सव सदैव मनाये जाते रहे ।

## राष्ट्र-धर्म का प्रचार

समर्थ गुरु रामदास की सबसे अधिक महत्ता इसी कारण मानी जाती है कि जहाँ अन्य सन्त-महात्माओ ने अधिकतर धर्म उपासना, भजन अथवा नीति और समर्थ गुरु ने राष्ट्रीयता की ज्वाला प्रज्ज्वलित कर दी । यही कारण है कि जहाँ राजस्थान के वीर क्षत्रीय एक-एक करके मुसलमान शासकों से दवते चले गये और बहुत से तो उनके सहायक और अनुयायी वन गये वहाँ महाराष्ट्र में महाराजा शिवाजी ने हिन्दुत्व का झण्डा गाढ़ दिया और विदेशी शासक को ऐसा जोरदार धक्का लगाया जिससे उसकी जड़ हिल गई ।

यह सब प्रभाव श्री समर्थ गुरु के उपदेशों और प्रचार-कार्य का ही था जिसने वहाँ की समस्त जनता को उद्यत संघबद्ध करके शिवाजी महाराज की सहायतार्थ खड़ा कर दिया । राजस्थान के शासक के क्षत्रिय सैनिक अधिक वीर और शस्त्र संचालन मे निपुण अवश्य थे, पर वहाँ की जनता सर्वथा उदासीन और निष्क्रिय थी । यही कारण था कि सर्वथा नये और अल्प साधन युक्त होने पर भी महाराज शिवाजी औरंगजेब जैसे प्रसिद्ध सम्राट् के मुकाबले मे टिके रहे और इतनी सफलता प्राप्त कर सके जिसके परिणामस्वरूप अन्त में मुगलो के शासन की जड़ ही उखड़ गई । समर्थ गुरु केवल मुसलमानो के शासन को ही अनुचित नही मानते थे वरन् अंग्रेज, डच, पोर्तगीज आदि की वृद्धि को भी हानिकारक मानते थे । वे भली प्रकार समझते थे कि देश का कल्याण किसी विदेशी के शासन मे नहीं हो सकता उसके लिये स्वराज्य और स्वधर्म का होना अनिवार्य है । उनके हृदय मे यही भावना सदैव बनी रहती थी । एक बार जब वे अपने बड़े भाई द्वारा मानी गई मनौती की पूर्ति के लिये 'पारघाट' में देवी की पूजा करने गये तो वहाँ भी उन्होंने देवी के सम्मुख यही प्रार्थना की—

> तुझा तूँ वाढवी राजा, शीघ्र आम्हांचि देखतां ।
> दुष्ट संहारिले भागें, ऐसें उदण्ड एकलो ॥
> परन्तु रोकडें कोंही । मूल सामर्थ दाखवीं ॥

करते हुए उन्होंने लिखा है कि "वे 'आनन्दवन भुवन' (काशी) को चल दिये हैं । वहाँ देवगण स्वधर्म के दोषों को नष्ट करते हैं । म्लेच्छ रूपी दैत्यो को डुबा देने के लिये वहाँ बड़ी धूमधाम हो रही है । हिन्दुस्तान प्रबल हो गया है और उसके पापियों को नष्ट कर डाला । उनके विरुद्ध प्रत्यक्ष प्रभु रामचन्द्र ने शस्त्र हाथ में लिया था । अब पापमूर्ति औरगजेब नष्ट हो गया है, म्लेच्छों का संहार हो गया है और उसके तोड़े-फोड़े हुए 'क्षेत्र' फिर से बसा दिये गये हैं । अब स्नान-सन्ध्या के लिये खूब पानी है और 'आनन्दवन भुवन' मे जप-तप और अनुष्ठान होने लगे हैं । रामवरदायिनी माता भवानी भी नष्ट चाण्डालो को खाने के लिये राजा के साथ चल पड़ी । पूर्व काल में माता ने भक्तों का रक्षण किया था । अब भी भक्तों का संरक्षण करती है ।" इस प्रकार श्री समर्थ ने अपने समकालीन सभी श्रेणियों के व्यक्तियों को देश और धर्म की रक्षा के लिये प्रेरणा दी और वह महाराष्ट्र शासन के रूप मे सफल भी हुई ।

## अध्यात्मवाद का समर्थन

भारतीय समाज की दुर्बलता का एक मुख्य कारण यहाँ का बहुदेववाद का सिद्धान्त भी रहा । यद्यपि प्राचीन मनीषियों ने 'एकोऽहं बहुस्यामि' कहकर इसका समाधान कर दिया, पर सर्वसाधारण इस तत्त्व को समझने में असमर्थ ही रहे । परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज विविध सम्प्रदायो मे बँट गया और उसमें विभिन्नता और निर्बलता आ गई । शैव और वैष्णवों मे तो न जाने कितने पुराने समय से संघर्ष होता आया है और उसके परिणामस्वरूप भारतीय-राष्ट्र की शक्ति क्षीण हुई है । श्री समर्थ ने इस तथ्य को समझा और इसे राष्ट्र-संगठन में बाधा स्वरूप माना । यद्यपि उन्होंने प्रधान रूप से रामोपासना का प्रचार किया और हनुमान जी के सैकड़ो छोटे-बड़े मन्दिर स्थापित कराये, पर उन्होंने यह भी कह दिया कि वह 'राम' परमात्मा के रूप में एक ही तत्त्व है और हम देश-काल के प्रभाव से जिन अनेक देवी-देवताओ की पूजा उपासना करते है, वे सब उसी आत्मतत्त्व के रूपान्तर है । इस बात को उन्होने 'दासबोध' के 'विविध देवता' अध्याय मे बड़े अच्छे और मनोरंजक ढग से प्रकट किया है—

"हे गजवदन ! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ । तुम्हारी महिमा का पता नहीं चलता । छोटे-बड़े सभी को तुम्ही विद्या और बुद्धि देते हो । हे सरस्वती ! तुम्हें नमस्कार करता हूँ । तुम्हीं से चारों वाचाओं का स्फुरण होता है । तुम्हारा वास्तविक स्वरूप जानने वाले लोग बहुत थोड़े है । हे चतुरानन ! तुम धन्य हो । तुम्हीं ने सृष्टि की रचना की तथा शास्त्र प्रकट किये । हे विष्णु ! तुम धन्य हो । तुम्हीं पालन करते हो और एक ही अंश से जब जीवों को दिन पर दिन बढ़ाते रहते हो और उनसे सब काम कराते हो । हे भोलेशंकर ! तुम धन्य हो । तुम्हारी देन का अन्त नही है और तुम निरन्तर राम का नाम जपते रहते हो । हे इन्द्रदेव ! तुम धन्य हो । तुम सब देवताओं के भी देवता या उनमें मुख्य हो । भला इन्द्रलोक के वैभव को मैं कैसे बतला सकता हूँ ? हे धर्मराज ! तुम धन्य हो । तुम धर्म-अधर्म सब जानते हो । तुम प्राणीमात्र के मन की बात जाने लेते हो । हे व्यंकटेश ! तुम्हारी महिमा बहुत अधिक है । अच्छे लोग तुम्हारे यहाँ खड़े होकर अन्न खाते हैं । हे वनशंकरी ! तुम भी धन्य हो । तुम अनेक प्रकार के शाक खाती हो । तुम्हारे सिवा ऐसा कौन है जो इस प्रकार चुन-चुनकर भोजन करता हो ? हे परम बलवान हनुमान ! तुम धन्य हो । तुम उड़द के बड़ों की बहुत बड़ी माला पहिनते हो । हे तुलसा भवानी ! तुम धन्य हो । तुम भक्तो पर सदा प्रसन्न रहती हो । हे पाण्डुरंग ! तुम धन्य हो । तुम्हारे यहाँ सदा कथा की धूम मची रहती है । हे क्षेत्रपाल ! तुम धन्य हो । तुमने बहुत से लोगों को भक्ति-मार्ग मे लगाया है । राम कृष्ण आदि अवतारो की महिमा तो अपार ही है । उन्हीं के कारण बहुत से लोग उपासना मे तत्पर हुए है ।"

"पर इन सब देवताओं का मूल यह अन्तरात्मा है । भू-मण्डल के सब लोग इसी को प्राप्त होते हैं । यही अनेक प्रकार के देवताओ का रूप धारण करके बैठा है, यही अनेक शक्तियों के रूप में प्रकट हुआ है और यही सब वैभवो का भोग करने वाला है । विचार करने से जान पड़ता है कि इसका विस्तार बहुत अधिक है । यही अनेक देवताओं और मनुष्यो का रूप धारण करके बराबर आता-जाता रहता है । कीर्ति और अपकीर्ति, बहुत अधिक निन्दा और बहुत अधिक स्तुति सबका भोग यही करता है । अन्तर्निष्ठ ज्ञानी ही इस पर पूरा-पूरा विचार करते हैं और अन्तर्भ्रष्ट

मुसलमानों के अत्याचार और आतंक से त्रस्त एक बार बहुत से कश्मीरी पंडित गुरु तेजबहादुर के पास आये और निवेदन किया—"महाराज अब तो आतंक और अत्याचार पराकाष्ठा को पार कर गया है । धन लूटा जा रहा है, धर्म भ्रष्ट किया जा रहा है और दिन-दहाड़े बहू-बेटियों का सम्मान नष्ट किया जा रहा है । हम सब आपकी शरण आये है । कृपया हमारी रक्षा कीजिये ।"

गुरु तेगबहादुर आगन्तुको की करुण कथा सुनकर गम्भीर होकर कुछ सोचने लगे । कुछ क्षण ध्यानावस्थित रहकर उन्होंने आँखे खोलीं और बोले--"अत्याचार का अन्त बलिदान द्वारा होता है । समय किसी महान व्यक्ति का बलिदान चाहता है । यदि कोई महान पुरुष देश-धर्म की रक्षा मे अपना बलिदान दे दे तो निश्चय ही देश में जागरण आ जाये और बलिदान की परम्परा चल पडे । बलिदान की धारा अनाचार को ठंडा कर देती है ।

उपाय सुनकर सभी लोग मौन होकर असमंजस में पड़ गये । सोचने लगे, ऐसा महापुरुष कौन हो सकता है, जिसका उत्सर्ग देश-धर्म की रक्षा में हेतु बन सकता है ? धर्म की रक्षा के लिये तो कोई सच्चा धर्मात्मा ही बलिवेदी का पुण्य पुष्प बनना चाहिये । गुरु तेगबहादुर ध्यानमग्न थे और अन्य लोग एक-दूसरे का मुँह देख रहे थे ।

तभी गुरु तेग बहादुर के पाँच वर्षीय गोविन्दराय, जो उस समय पिता की सेवा मे उपस्थित थे, खडे हुए और हाथ जोड़ कर बोले—"पूज्य पिताजी ! इस समय आपसे बडा महापुरुष और कौन है, जो अपना बलिदान देकर देश-धर्म की रक्षा कर सके ?"

बालक गोविन्दराय की बात सुनकर सभी लोग स्तम्भित रह गये, किन्तु गुरु तेग बहादुर गद्‌गद् हो उठे । उन्होंने पुत्र को उठाकर गले लगा लिया और बोले—"गोविन्द मैं तुझ-सा पुत्र पाकर आज धन्य हो गया । तूने मुझे प्रकाश दिया, पथ-निर्देश दिया । दूसरो को बलिदान का मार्ग बतलाकर स्वयं एक ओर बैठा रहना एक विडम्बना है । 'समय किसी महात्मा का बलिदान चाहता है'—यह कहने के साथ ही मुझे आत्मोत्सर्ग के लिये प्रस्तुत हो जाना चाहिये था । दूसरे को उपदेश देने से पूर्व स्वयं उस पर आचरण करना चाहिये । तूने मेरा प्रबोधन किया और मुझे मेरे कर्त्तव्य का बोध कराया । निश्चय ही तेरा पिता होकर मैं आज धन्य हो गया ।"

इतना कह कर वे उठे और आगन्तुकों से बोले—"दिल्ली के बादशाह औरंगजेब से जाकर कह दो कि यदि हमारा गुरु मुसलमान हो जाये तो हम सब मुसलमानों हो जायेंगे ।" कश्मीरी पंडित उन्हें प्रणाम करके दिल्ली की ओर रवाना हो गये ।

गुरु तेगबहादुर का यह उपाय शत-प्रतिशत उनके प्राणों के लिये संकट था, पर साथ ही यह निश्चित था कि औरंगजेब हजारो-लाखों हिन्दुओं को सरलता से मुसलमान बनाने के लिये उन पर अत्याचार करना छोड़ कर अपने प्रयत्न गुरु तेग बहादुर तक ही केन्द्रित कर देगा । इस प्रकार अपने को संकट में डालकर दूसरो की रक्षा करने का जो उदाहरण गुरु तेगबहादुर ने उपस्थित किया वह निश्चय ही अनुकरणीय है ।

पुत्र की एक ही बात से उसके गुणों की परख करके गुरु तेगबहादुर ने अपनी गद्दी उसको सौंप दी और चुने हुए पाँच शिष्यों को लेकर स्थान-स्थान पर लोगो को धर्म का उपदेश देते और उसकी रक्षा में मर-मिटने का सन्देश देते हुए स्वयं ही दिल्ली जा पहुँचे । औरंगजेब को उनकी चुनौती पहले ही मिल चुकी थी और अब उनके दिल्ली आने का समाचार भी मिल गया । वह बड़ा खुश हुआ । सोचा, शिकार आप से आप पिंजड़े में आ गया है ।

प्रायः लोग मनुष्य के मानसिक अस्तित्व को अपने से तोलने की भूल कर बैठते हैं और उसे अपने जैसा ही मानने लगते है । औरंगजेब का विचार था कोई बड़ा लालच अथवा बड़ा भय दिखलाने से गुरु तेगबहादुर विचलित हो जायेंगे और तब उनको धर्मभ्रष्ट कर लाखो-करोड़ों हिन्दुओं को आसानी से मुसलमान बना लिया जायेगा, किन्तु वह क्या जानता था कि जिस महापुरुष ने अकाल पुरुष से तादात्म्य स्थापित कर लिया है, जिसने धर्म और जाति की रक्षा के लिये खुशी-खुशी सिर से कफन बाँध लिया है और जो तीर्थ-यात्रा की भावना से बलिदान के पथ पर चल दिया है उसे अपने ध्येय और सिद्धान्त से च्युत नहीं किया जा सकता ।

दिल्ली जाकर गुरु तेगबहादुर ने अपना आसन जमा दिया और धर्मप्रचार करने लगे । औरंगजेब एक

इसी में डूब जाते हैं, क्योंकि वे बाहरी लोकाचार में ही डूबे रहते हैं ।"

'दासबोध' वास्तव में समयानुकूल शिक्षाओं का भाण्डागार है । यद्यपि वर्तमान समय में अधिकांश महाराष्ट्रीय ब्राह्मण गीता, रामायण या विष्णुसहस्रनाम इत्यादि की तरह प्रतिदिन उसके भी कुछ पृष्ठों का पाठ कर लेते हैं, पर समर्थ गुरु का उद्देश्य वास्तव में यह नहीं था । वे राष्ट्र के एक सच्चे संगठनकर्ता थे, इसलिये धर्म-चर्चा, पूजा, उपासना आदि के माध्यम से उन्होंने लोगों की अन्धविश्वास की भावना को दूर करके कर्त्तव्यपरायण बनने की शिक्षा दी है । धर्म की शक्ति संसार में सबसे अधिक प्रबल है, हमारे शास्त्रों में तो स्पष्टतः कहा गया है—"जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी रक्षा धर्म अवश्य करेगा ।" इसका आशय यही है कि पूजा, उपासना, देवार्चन, जप, तप, पाठ आदि उसी का सार्थक है जो आडम्बर और अन्धश्रद्धा को त्यागकर धर्म के तत्त्व को समझकर उसका पालन करता है । श्री समर्थ 'दासबोध' में कहते हैं—

"साधु का मुख्य लक्षण यह है कि सदा अपने वास्तविक स्वरूप को समझता रहे । संसार में रहते हुए भी उसमें लिप्त न हो । वह जब अपने स्वरूप को समझ लेता है तो उसे संसार की चिन्ता जरा भी नहीं होती ।"

यद्यपि सभी सन्त पुरुषों ने आत्मा को पहिचानने तथा भौतिक पदार्थों को क्षणभंगुर मानने की शिक्षा दी है, पर सांसारिक व्यवहार में इस भावना का उपयोग करने की तरफ थोड़े ही लोगों ने ध्यान दिया है । इस दृष्टि से श्री समर्थ एकमात्र धर्म-नेता थे जिन्होंने धार्मिक प्रचार से खुले तौर पर राष्ट्रीय-संगठन को सुदृढ़ बनाने का काम लिया और उसके द्वारा मुगल बादशाह जैसी विशाल सत्ता पर करारा प्रहार करके उसे जर्जर बना दिया ।

इस प्रकार श्री समर्थ ने भारतीय समाज को चैतन्य होकर अपना न्यायानुकूल अधिकार प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार से प्रेरित किया । वे यद्यपि निरन्तर जप-तप करते रहते थे, पर वे केवल भजनानन्दी अथवा धर्म-शास्त्रों का प्रवचन करने वाले नहीं थे । वे जनता के सच्चे शिक्षक थे और अध्यात्म तथा व्यवहार का समन्वय करके ऐसा मार्गदर्शन करते थे जिससे सांसारिक बाधाओं का निराकरण होकर लौकिक और पारलौकिक दृष्टि से मानव-जीवन सफल हो सके । उन्होंने अपनी इस कार्य-पद्धति में महाराष्ट्र में ऐसी जागृति उत्पन्न कर दी कि वहाँ विदेशी शासन का सर्वथा अन्त हो गया और आगे चलकर समग्र देश पर उसका न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा ।

श्री समर्थ वर्णाश्रम-धर्म के अनुयायी थे, इसलिये उन्होंने समाज में ब्राह्मणों की प्रधानता का समर्थन किया और उन्हीं को मुख्य रूप से अपना शिष्य बनाकर संगठन कार्य को आगे बढ़ाया । कुछ लेखकों ने उन पर ब्राह्मण-पक्षपाती होने का दोषारोपण किया है, पर कुछ भी हो उन्हीं के उपदेशों से महाराष्ट्र में स्वजातीय शासन कायम हो सका जिसने भारत में मुसलमानी शासन के अन्त करने में बहुत बड़ा काम किया । वह तो उसी अवसर पर अंग्रेजों के बीच में कूद पड़ने के कारण परिस्थितियाँ फिर बदल गईं, अन्यथा श्री समर्थ की अद्भुत कार्यशीलता और उपदेशों के प्रभाव से एक स्वाधीन भारतीय राष्ट्र का उद्भव सर्वथा सम्भव था । आज भी उनके उपदेशों से हम जातीयता की रक्षा और धर्म के व्यावहारिक रूप को समझने में समर्थ हो सकते हैं ।

# भक्ति और शौर्य के अमर साधक : गुरु गोविन्दसिंह

उस समय गुरु तेगबहादुर गद्दी नशीन थे । गुरु नानकदेव की तरह यह भी पहुँचे हुए सन्त थे । बहुत कम बोलते थे । कभी-कभी तो कई-कई दिन तक मौन रहा करते थे । भगवान का भजन और देश-जाति का उद्धार यही दो उनके चिन्तन के विषय थे ।

उन दिनों भारत पर मुसलमानों की राज-सत्ता थी । हिन्दुओं का धर्म और उनके मान-सम्मान का बलात् अपहरण किया जा रहा था । जो-जो प्रदेश मुसलमान शासकों के अधीन थे उनमें हिन्दू-धर्म और हिन्दू-देवस्थान सुरक्षित न थे ।

मुसलमानों के अत्याचार और आतंक से त्रस्त एक बार बहुत से कश्मीरी पंडित गुरु तेजवहादुर के पास आये और निवेदन किया—"महाराज अब तो आतंक और अत्याचार पराकाष्ठा को पार कर गया है । धन लूटा जा रहा है, धर्म भ्रष्ट किया जा रहा है और दिन-दहाड़े बहू-बेटियों का सम्मान नष्ट किया जा रहा है । हम सब आपकी शरण आये हैं । कृपया हमारी रक्षा कीजिये ।"

गुरु तेगवहादुर आगन्तुकों की करुण कथा सुनकर गम्भीर होकर कुछ सोचने लगे । कुछ क्षण ध्यानावस्थित रहकर उन्होंने आँखें खोली और बोले—"अत्याचार का अन्त बलिदान द्वारा होता है । समय किसी महान व्यक्ति का बलिदान चाहता है । यदि कोई महान पुरुष देश-धर्म की रक्षा मे अपना बलिदान दे दे तो निश्चय ही देश में जागरण आ जाये और बलिदान की परम्परा चल पड़े । बलिदान की धारा अनाचार को ठंडा कर देती है ।

उपाय सुनकर सभी लोग मौन होकर असमंजस में पड़ गये । सोचने लगे, ऐसा महापुरुष कौन हो सकता है, जिसका उत्सर्ग देश-धर्म की रक्षा में हेतु वन सकता है ? धर्म की रक्षा के लिये तो कोई सच्चा धर्मात्मा ही बलिवेदी का पुण्य पुष्प बनना चाहिये । गुरु तेगवहादुर ध्यानमग्न थे और अन्य लोग एक-दूसरे का मुँह देख रहे थे ।

तभी गुरु तेग बहादुर के पाँच वर्षीय गोविन्दराय, जो उस समय पिता की सेवा में उपस्थित थे, खड़े हुए और हाथ जोड कर बोले—"पूज्य पिताजी ! इस समय आपसे बड़ा महापुरुष और कौन है, जो अपना बलिदान देकर देश-धर्म की रक्षा कर सके ?"

बालक गोविन्दराय की बात सुनकर सभी लोग स्तम्भित रह गये, किन्तु गुरु तेग बहादुर गद्गद् हो उठे । उन्होंने पुत्र को उठाकर गले लगा लिया और बोले—"गोविन्द मैं तुझ-सा पुत्र पाकर आज धन्य हो गया । तूने मुझे प्रकाश दिया, पथ-निर्देश दिया । दूसरों को बलिदान का मार्ग बतलाकर स्वयं एक ओर बैठा रहना एक विडम्बना है । 'समय किसी महात्मा का बलिदान चाहता है'—यह कहने के साथ ही मुझे आत्मोत्सर्ग के लिये प्रस्तुत हो जाना चाहिये था । दूसरे को उपदेश देने से पूर्व स्वयं उस पर आचरण करना चाहिये । तूने मेरा प्रबोधन किया और मुझे मेरे कर्त्तव्य का बोध कराया । निश्चय ही तेरा पिता होकर मै आज धन्य हो गया ।"

इतना कह कर वे उठे और आगन्तुकों से बोले—"दिल्ली के बादशाह औरंगजेब से जाकर कह दो कि यदि हमारा गुरु मुसलमान हो जाये तो हम सब मुसलमानों हो जायेंगे ।" कश्मीरी पंडित उन्हें प्रणाम करके दिल्ली की ओर रवाना हो गये ।

गुरु तेगवहादुर का यह उपाय शत-प्रतिशत उनके प्राणों के लिये संकट था, पर साथ ही यह निश्चित था कि औरंगजेब हजारों-लाखों हिन्दुओं को सरलता से मुसलमान बनाने के लिये उन पर अत्याचार करना छोड़ कर अपने प्रयत्न गुरु तेग बहादुर तक ही केन्द्रित कर देगा । इस प्रकार अपने को संकट में डालकर दूसरों की रक्षा करने का जो उदाहरण गुरु तेगवहादुर ने उपस्थित किया वह निश्चय ही अनुकरणीय है ।

पुत्र की एक ही बात से उसके गुणों की परख करके गुरु तेगबहादुर ने अपनी गद्दी उसको सौंप दी और चुने हुए पाँच शिष्यों को लेकर स्थान-स्थान पर लोगों को धर्म का उपदेश देते और उसकी रक्षा में मर-मिटने का सन्देश देते हुए स्वयं ही दिल्ली जा पहुँचे । औरंगजेब को उनकी चुनौती पहले ही मिल चुकी थी और अब उनके दिल्ली आने का समाचार भी मिल गया । वह बड़ा खुश हुआ । सोचा, शिकार आप से आप पिंजड़े में आ गया है ।

प्रायः लोग मनुष्य के मानसिक अस्तित्व को अपने से तोलने की भूल कर बैठते हैं और उसे अपने जैसा ही मानने लगते हैं । औरंगजेब का विचार था कोई बड़ा लालच अथवा बड़ा भय दिखलाने से गुरु तेगबहादुर विचलित हो जायेंगे और तब उनको धर्मभ्रष्ट कर लाखो-करोडों हिन्दुओ को आसानी से मुसलमान बना लिया जायेगा, किन्तु वह क्या जानता था कि जिस महापुरुष ने अकाल पुरुष से तादात्म्य स्थापित कर लिया है, जिसने धर्म और जाति की रक्षा के लिये खुशी-खुशी सिर से कफन बाँध लिया है और जो तीर्थ-यात्रा की भावना से बलिदान के पथ पर चल दिया है उसे अपने ध्येय और सिद्धान्त से च्युत नही किया जा सकता ।

दिल्ली जाकर गुरु तेगबहादुर ने अपना आसन जमा दिया और धर्मप्रचार करने लगे । औरंगजेब एक

भद्र पुरुष की भाषा लेकर उनसे मिला और बोला—"सुना है आप बड़े दानिश्ता और पहुँचे हुए फकीर हैं । मैं आपका मुरीद होना चाहता हूँ । अगर आप मुसलमान होकर इस्लाम पर ईमान ले आयें तो न सिर्फ मैं बल्कि मेरी सारी मिल्लत आपकी मुरीद हो जाये और तब आप हिन्दुस्तान की सल्तनत, उसके तख्त और ताज के मालिक माने जाने लगेंगे ।"

अपनी तराजू से तोलने के कारण औरंगजेब समझ रहा था कि गुरु तेजबहादुर इतनी इज्जत और इतने बड़े रुतबे के लालच में आये बिना न रह सकेंगे । राज्य के लिये अपने बहुत से भाइयों को मारकर बाप को कैदखाने मे डाल देने वाला औरंगजेब इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता था कि अध्यात्म-धन से धनी महात्माओं के लिये उसकी एक तुच्छ-सी सल्तनत क्या त्रिलोकी का राज्य भी तृण के समान होता है । जो देश-जाति की रक्षा में अपना समर्पण कर चुका है उसको और किन्हीं बातों से क्या सरोकार ?

गुरु तेगबहादुर ने औरंगजेब का कथन सुना, जानते तो थे ही कि वह कहाँ से बोल रहा है, उसके इस प्रस्ताव के पीछे कौन-सा भाव छिपा हुआ है ? वह मुस्कुराये और बोले—"बादशाह ! मुझे लोभ दिखलाने का प्रयत्न न कर । मैं तो उस एक अकाल पुरुष की आज्ञा का वशवर्ती बन्दा हूँ । तू यदि वास्तव में मुरीद होना चाहता है तो ताज और तख्त पर लात मार कर फकीरी ले ले और मेरे पास चला आ ।"

गुरु की यथार्थ अभिव्यक्ति सुनकर औरंगजेब का नकली रंग उतर गया और वह अपने असली रूप में आकर उसी के अनुसार आचरण करने लगा । उसने गुरु के साथ आये शिष्यों को असहनीय यातना देकर मुसलमान बनाना चाहा, किन्तु वे वज्रविश्वासी रंचमात्र भी विचलित न हुए । अन्त में उसने गुरु तेगबहादुर को बुलवाया और उनके सामने ही उनके प्यारे शिष्य मतिदास को आरे से चिरवा कर दो टुकड़े करा दिया और भाई दयालदास को तेल के खौलते कढ़ाव में डलवा कर उबलवा दिया और बोला—"अब भी आप मेरी बात न मानेंगे तो आपकी भी यही हालत बनवा दूँगा ।"

गुरु तेगबहादुर ने सब कुछ समभाव से देखा, सुना और उत्तर दिया—"नौरंग ! यह कोई नई बात नहीं है । यह नश्वर शरीर आज तक किसी का नहीं हुआ । किसी न किसी बहाने इसे नष्ट तो होना ही है । धर्म के नाम पर बलिदान हो जाने से बढ़कर इस मानव-मिट्टी का और क्या महत्त्व हो सकता है ? तूने इन दोनों को मारकर केवल अपने ऊपर कलंक ही लिया है । आने वाली मानव-सन्तानें जहाँ तेरी इस अमानवता पर थूकेंगी वहाँ पर धर्म-वीरों के बलिदान के प्रति नत-मस्तक होंगी । तू न जाने किस बात पर गर्व करता है ? तेरे जैसे न जाने कितने संसार में आये और अपना इतिहास बिगाड़ कर चले गये । यदि तू मुझे भी इनके पुण्य-पथ पर भेजना चाहता है तो जल्दी कर । यह आत्मा अजर-अमर है, तू इसका बाल भी बाँका नहीं कर सकता ।"

गुरु का गम्भीर प्रवचन सुनकर औरंगजेब बौखला उठा । उसने तुरन्त ही चौराहे पर उनका सिर काटने की आज्ञा दे दी । जिसका पालन चाँदनी चौक के बीचों-बीच मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी, सम्वत् १७३२ को दिन के खुले उजाले मे किया गया । उस समय लाखों लोग उस महान बलिदान को देखने के लिये इकट्ठे हो गये थे । गुरु का सिर शरीर से अलग होते ही जहाँ अत्याचार के पक्षपातियो के हृदय में एक दहशत बैठ गई उनकी आँखों और आत्मा मे एक अँधेरा छा गया । वहाँ धर्म पक्ष वालों को एक आलोक मिला, उनकी आँखों में आँसू और आत्मा में साहस का स्रोत लहरा उठा । इसी अन्धकार और जन-कोलाहल के बीच भाई जीवनदास ने गुरु का सिर उठा लिया और आनन्दपुर की ओर चल दिये । बस, इसी बलिदान की पृष्ठभूमि से गुरु गोविन्दसिंह का महान चरित्र प्रारम्भ होता है ।

गुरु गोविन्दसिंह को पिता का सिर सत्य की साक्षी के समान मिला और साथ ही यह समाचार भी कि औरंगजेब ने दिल्ली के समस्त सम्भ्रान्त नागरिकों के अनुरोध करने पर भी गुरु का शरीर देने से इन्कार कर दिया और कहा के ऐसे हठीले आदमी की लाश न दफनाई जायेगी और न जलाई जायेगी, यह यों ही चौराहे पर पड़ी-पड़ी सड़ने के लिये छोड़ दी जायेगी जिसे कौवे, गीध और कुत्ते नोंच-नोंच कर खायेंगे, जिससे लोगों को नसीहत होगी कि बादशाह की बात न मानने वालों की यह हालत होती है ।

धीर पिता के वीर पुत्र गोविन्दसिंह सिर और समाचार पाकर उल्लास और उत्साह से भर उठे और

दिल्ली की ओर हाथ उठाकर बोले—"ऐ अनीति और अत्याचार की तस्वीर और धर्म के द्वेषी सावधान हो जा ! वक्त की माँग पूरी हो चुकी । एक महान पुरुष ने बलिदान दे दिया । तेरे अत्याचारों का घड़ा भर चुका है और अब देश-धर्म के उद्धार का समय आ गया है । गुरु का एक बलिदान लाख-लाख बलिदान बनकर फलेगा । उनके रक्त की एक-एक बूँद एक-एक अंगार बनकर अत्याचार और अत्याचारी दोनों को जला डालेगी ।"

अनन्तर वह पाँच-छ: वर्ष का बालयोद्धा गुरु की मृत्यु से उदास खड़े सैकड़ों लोगों की ओर उन्मुख होकर बोला—"यह दुःख का नहीं हर्ष का दिन है । आज गुरु के बलिदान ने हमे शिक्षा दी है कि हम उनके पद-चिन्हों पर चलकर देश, धर्म और जाति की रक्षा करें । मुझे पूरा विश्वास है कि आप सब और आप जैसे हजारो-लाखों गुरु के बलिदान को सार्थक करने के लिये कटिबद्ध हो जायेंगे और आज से मेरे पास आने वाला हर व्यक्ति अपने साथ एक हथियार लायेगा । लोहा लोहे से ही कटेगा, काँटा काँटे से ही निकलेगा और विष का उपचार विष ही माना गया है । अब धर्म की रक्षा शास्त्र से नही शस्त्र से होगी । आज देश, जाति के बच्चे-बच्चे को एक वीर सिपाही बनना होगा । आज धर्म की रक्षा मे मै सन्त परम्परा की गद्दी पर होने पर भी स्वयं शस्त्र उठाता हूँ और सबको अनुमति और आज्ञा देता हूँ कि वे किसी भी जाति और किसी भी वर्ण के क्यों न हो क्षत्रिय-धर्म का अंगीकरण करें और अत्याचार के विरुद्ध हथियार उठायें । गुरु का शरीर दिल्ली के चौराहे पर पड़ा आप लोगो की भक्ति और साहसी की प्रतीक्षा कर रहा है । क्या कोई उसको यहाँ लाकर अपनी धर्म-निष्ठा की परीक्षा देने के लिये अग्रसर होगा ? अन्यथा पुत्र और शिष्य होने के नाते मै तो उसे लाऊँगा ही ।"

सारी सभा में उत्साह फैल गया और सैकड़ों लोग एक साथ गुरु का शरीर लाने लिये तैयार हो गये । तभी एक वृद्ध हाथ जोड़कर खड़ा हुआ और बोला—"सारी सभा से और गुरुजी से मेरी अरदास है कि मैं एक नीच जाति का आदमी हूँ, यदि कोई हर्ज न समझा जाये तो गुरु का शरीर लाने की आज्ञा मुझे दी जाये । इस सेवा से मेरी कुछ करनी बन जायेगी ।"

गुरु गोविन्दसिंह उस वृद्ध की बात सुनकर गद्गद् हो उठे और सोचने लगे जहाँ समाज में नीच कहे जाने वाले लोग इस प्रकार धर्म की सेवा करने को तत्पर हो उठे हैं वहाँ अब जाति के उद्धार में कोई सन्देह नहीं रह जाता । वे सराहना करते हुए उस वृद्ध से बोले—"भाई उस अकाल पुरुष की दृष्टि में सब बराबर है, न कोई ऊँच है और न नीच और जब आप पुण्य का इतना बड़ा काम करने को तैयार हैं तब अपने को नीच क्यों कहते हैं ? नीच तो वह होता है जो संकट-काल में देश-धर्म की रक्षा करने से मुँह चुराता है । मैं आपको गुरु का शरीर लाने की अनुमति देता हूँ—खुशी से जाओ । भगवान आपकी सहायता करें ।"

वह वृद्ध अपने पुत्र को साथ लेकर दिल्ली की ओर चल दिया । दिल्ली की सीमा समीप आने पर उन पिता-पुत्र को एक गाड़ीवान मिला । तीनों में बातें होने लगी । गाड़ीवान हिन्दू था । उसे जब यह पता चला कि वे दोनो बाप-बेटे आनन्दपुर से आ रहे हैं तब उसने गुरु गोविन्दसिंह का समाचार पूछा और गुरु तेगबहादुर के बलिदान और औरंगजेब के अत्याचार की चर्चा की । बात करते समय गाड़ीवान का गला भर आया । वह बोला ! गुरु का शरीर चाँदनी चौक के चौराहे पर पड़ा है । बादशाह उसे किसी को ले ही नही जाने देता है जिससे उनकी विधि से अन्त्येष्टि की जाये । अब तो यह सब देखा नहीं जाता । दसवें गुरु जी समर्थ हों और धर्म-रक्षा का सग्राम छेड़ें तो फिर अत्याचारी के विरुद्ध जम कर लोहा लिया जाये । मै तो उस दिन की राह देख रहा हूँ कि कब धर्म जाति पर बलिदान होने का अवसर मिले ।

उन दोनों बाप-बेटों को गाड़ीवान की बात सुनकर बड़ी खुशी हुई । उसने सोचा कि अब अत्याचार के विरुद्ध जन-जन मे रोष जग उठा है । धर्म युद्ध के लिये लोग तैयार हो गये हैं । जल्दी ही अत्याचार का अन्त हो जायेगा । फिर बूढ़े ने दिल्ली आने का मन्तव्य बतलाया । गाड़ीवान ने तुरन्त कहा, अब मुझे और कहीं नहीं जाना है । आप लोगों के साथ सीधे दिल्ली को चलूँगा और आप लोगों की गुरु का शरीर लाने मे सहायता करूँगा । पूरी दिल्ली मेरी देखी हुई है । वे तीनो सीधे चाँदनी चौक की ओर चल दिये ।

अँधेरा हो चला था और संयोग से शव के प्रहरी उस समय वहाँ पर नही थे । तीनो ने तुरन्त अवसर का लाभ उठाया और गुरु का शरीर गाड़ी में रखकर छिपा दिया । अब सोचा यह गया कि गुरु के शरीर के स्थान पर कोई शरीर होना चाहिये जिससे जब प्रहरी आये तो उन्हें कोई सन्देह न हो और हम लोगों की खोज में दौड़धूप न मच जाये, नहीं तो हम लोग आनन्दपुर न पहुँच पायेंगे और शरीर के साथ गिरफ्तार कर लिये जायेंगे और तब इस प्रकार अपना उद्देश्य पूरा न हो सकेगा ।

इस विचार पर उन तीनो में से हर एक कहने लगा कि मुझे सिर काट कर गुरु के स्थान पर डाल दिया जाये । इस पर दोनों बाप-बेटो ने तो गाड़ीवान को बिल्कुल ही मना कर दिया और कहा—आपके लिये बलिदान के हजार अवसर आयेंगे तब तक के लिये जीवित रहो और यथासम्भव धर्म-रक्षा की भावना का प्रचार करते रहो । इसके बाद पिता-पुत्र में विवाद छिड़ गया । पिता कहता था कि मुझे बलिदान किया जाये और पुत्र कहता कि मुझे । विलम्ब हो रहा था । प्रहरियों के आ जाने का डर था । निदान पिता ने पुत्र को समझाया कि मेरा शरीर अब बूढा हो गया है । कोई बड़ी सेवा नहीं कर सकता । तुम अभी जवान हो । आगे गुरु गोविन्दसिंह के नेतृत्व मे धर्म-युद्ध छिड़ने वाला है । तुम जी भरकर उसमें भाग लेना । इस समय मेरा बलिदान ही उपयुक्त है । इतना कह कर बूढ़े ने तलवार से अपना सिर काट डाला और गुरु शरीर के स्थान पर लुढ़क गया । उन दोनों ने बूढ़े का शरीर ढक दिया और उसका सिर गाड़ी मे रख कर चल दिये । कुछ ही समय मे सुरक्षित दिल्ली से बाहर निकल गये ।

आनन्दपुर आकर पुत्र ने गुरु का शरीर गुरु गोविन्दसिंह की भेंट कर दिया और अपने पिता के बलिदान की कथा बताई । गुरु गोविन्दसिंह ने बूढे का सिर लेकर छाती से लगाया और कहा जिस जाति मे धर्म पर बलिदान हो जाने की इतनी गहरी भावना भर गई हो वह बहुत दिनों तक पतित और पीड़ित नहीं रह सकती । उसके बाद गुरु गोविन्दसिह ने पिता और उस बलिदानी वृद्ध की यथोचित अन्त्येष्टि कराई और पूरी तरह से अपने धर्म कर्त्तव्य में लग गये ।

पिता के अन्तिम संस्कार से निवृत्त होकर गुरु गोविन्दसिंह ने एक सभा बुलाई । यद्यपि उस समय उनकी आयु सात वर्ष की ही थी किन्तु सच्ची धार्मिकता और धर्म व जाति की रक्षा की ज्वलन्त-भावना ने उनके अन्दर अपूर्वशक्ति, शौर्य, प्रभाव तथा तेज भर दिया था । सत्य तथा सत्कर्मों का अवलम्बन करने से मनुष्य की अन्तरात्मा में प्रसुप्त शक्तियाँ स्वतः ही प्रबुद्ध हो उठती हैं ।

सभा का उद्बोधन करते हुए उन्होंने कहा—"यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है कि इस समय हिन्दू-धर्म पर संकट छाया हुआ है । यवन शासक उसको आमूल नष्ट कर देने पर तुले है । तलवार के बल पर शिखा और सूत्र उतारे जा रहे है । मन्दिर, मठ और शिवालय तोड़े जा रहे हैं । गऊओं का संहार किया जा रहा है । बहू-बेटियो की लाज लूटी जा रही है । हिन्दू राजा स्वार्थ, भोग-विलास और पारस्परिक द्वेष से जर्जर हो रहे हैं । अपना जीवन सुखपूर्वक काटने के लिये न जाने कितने तो यवन शासको के तलवे चाट रहे है । ऐसी अन्धकार की स्थिति में हिन्दुओ को अपनी-अपनी बहू-बेटियों और अपने धर्म की रक्षा के लिये अपने पैरों पर खड़ा होना और अपनी भुजाओ पर भरोसा करना होगा । अब तक के शान्तिपूर्ण बलिदान से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि आततायी शासक प्रतिहिंसा रहित बलिदान को कोई भी महत्त्व नहीं देना चाहते । उनके हृदय में हिन्दुओं का शान्तिपूर्ण बलिदान दया के अंकुर नही उगा पाया । उनका हृदय ऊसर की तरह नीरस और कठोर है उसमें किसी प्रकार की सदाशयता और कोमल भावना का अंकुरण नहीं हो सकता । हमारी शान्ति और हमारी निर्द्वेष भावना को कायरता तथा मूर्खता समझा जा रहा है । इसलिये जरूरत है कि अब 'शठे शाठ्यम् समाचरेत' की नीति अपनाई जाये और तलवार के विरुद्ध धर्म की रक्षा तलवार से की जाये । आज मेरे साथ मिलकर कौन प्रतिज्ञा करता है कि जब तक शरीर में एक भी श्वास आता-जाता रहेगा, रक्त की एक भी बूँद बाकी रहेगी तब तक धर्म की रक्षा के लिये युद्ध करते रहेंगे ?"

गुरु गोविन्दसिंह का वाक्य पूरा होते ही सभा में सैकड़ो तलवारें एक साथ म्यान से बाहर आकर चमक उठीं । गुरु गोविन्दसिंह ने 'सत्‌श्री अकाल' के उद्घोष

के साथ फिर कहा । भाइयो ! आज देश की जन-शक्ति जागी है । लेकिन इस जगी हुई जन-शक्ति के एक तन, मन से संगठित होकर अजेय बन जाना है और एक नारा, एक निशान और एक नेता को लेकर चलना है । यदि अपने उद्देश्य के प्रति हम सब एक निष्ठावान रहे तो निश्चय ही आततायियों को परास्त कर उन्हें रास्ते पर आने के लिये विवश कर सकेंगे । इस प्रकार देखते ही देखते धर्म वीरों का एक विशाल संगठन बनकर खड़ा हो गया ।

जब संगठन का सूत्रपात कर देने के बाद गुरु गोविन्दसिंह ने उसका मानसिक तथा बौद्धिक विकास करने के लिये प्रचार का कार्य शुरू किया । उसके लिये उन्होंने सैकड़ों विद्वानों तथा शिक्षकों को नियुक्त किया । जहाँ उन्होंने स्वयं हिन्दी, संस्कृत और फारसी आदि अनेक भाषायें पढ़ीं वहाँ जनता को भी पढने के लिये प्रेरित किया । उन्होने सैकड़ों अनुयायियों को विद्याध्ययन के लिये काशी भेजा । जो वहाँ से विद्वान तथा धर्मज्ञ बनकर आये और जनता में शिक्षण का काम करने लगे ।

इसके अतिरिक्त जनता में धार्मिक प्रबोधन तथा उच्चादर्श का जागरण करने के लिये उन्होंने जगह-जगह रामायण, महाभारत तथा भागवत की कथायें बिठाईं और निरन्तर उनका वाचन कराया । प्रशिक्षित पंडित जनता को भगवान राम, भगवान कृष्ण तथा अन्य महापुरुषों के चरित्र की व्याख्या करते हुए जनता को वैसा बनाने की प्रेरणा देते ।

उन्होंने जनता में चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त तथा अशोक जैसे राजाओं के इतिहास का प्रचार किया और हतोत्साह हिन्दू-जाति को अपने अतीत गौरव का भान कराया जिससे जाति को अपने विराट् स्वरूप का ज्ञान हुआ और उसका दैन्य दूर होने लगा ।

गुरुगोविन्दसिंह ने भगवती दुर्गा का एक विशाल यज्ञ आयोजित किया । जिसमें देश के बड़े-बड़े पंडित तथा संभ्रान्त लोगों को आमन्त्रित किया और उन्हें धर्म रक्षा के लिये निर्मित उनके संगठन को सहयोग करने की प्रेरणा दी । इस यज्ञ में लोगों ने गुरु गोविन्दसिंह को लाखों का धन और हजारों घोड़े, अस्त्र-शस्त्र तथा प्रचुर युद्ध सामग्री भेंट की और आगे भविष्य में भी तन, मन, धन और जन से सहायता करने की प्रतिज्ञा की ।

यज्ञ पूरा करने पर गुरु गोविन्दसिंह ने जन-समूह के सम्मुख आकर कहा—"अब आप लोग इस यज्ञ की अधिष्ठात्री देवी, भगवती दुर्गा के दर्शन कर लीजिये, आज जिसकी उपासना करने से ही धर्म और जाति की रक्षा हो सकती है । इतना कह कर उन्होंने अपनी तलवार निकाल कर चमकाई और फिर कहा—धर्म-रक्षा में उठाई योद्धा की कृपाण ही भगवती दुर्गा का सच्चा स्वरूप होती है । सत् की रक्षा और असत् के विनाश के लिये उठाई हुई तलवार में भगवती की शक्ति और देवी का तेज समाहित हो जाता है । जो वीर पवित्रता के साथ इस शक्ति का प्रयोग करता है वह इस जीवन मे विजयी होता है और उत्सर्ग हो जाने के बाद परमधाम पाता है । इसलिये जब तक धर्म सुरक्षित नहीं हो जाता, देश से अनीति तथा अत्याचार का उन्मलून नहीं हो जाता है तब तक आप सबको और अन्य सभी को इसी साक्षात् तलवार भवानी की उपासना करनी है ।" गुरु गोविन्दसिंह के इस यज्ञ और उद्घोष ने जन-जन के हृदय में वीरता, उत्साह और साहस का सागर लहरा दिया और सबने अपनी-अपनी कृपाण निकाल कर धर्म के नाम पर मर-मिटने की प्रतिज्ञा की ।

धर्माभियान प्रारम्भ करने से पूर्व बुद्धिमान गुरु ने जन-भावना की परख करने के विचार से सम्वत् १७५५ के चैत्र मास में एक बड़ा विराट् समारोह किया और उसमें सभी को भाग लेने के लिये आमन्त्रित किया । उस उत्सव में हजारो लोग आये । गुरु गोविन्दसिंह ने उनका आदर, सत्कार किया और उनके भोजन तथा विश्राम—निवास का समुचित प्रबन्ध किया ।

प्रमुख सभा के दिन गुरु गोविन्दसिंह जन-समुदाय के सम्मुख नंगी तलवार लिये हुए आये और बोले—"भाइयो ! आज देवी दुर्गा ने बलिदान माँगा है । क्या आप में से कोई ऐसा वीर है जो देवी की प्रसन्नता के लिये अपना सिर दे सके ? सभा में कुछ देर सन्नाट छाया रहा । गुरु ने फिर कहा—"क्या देवी की माँग पूरी नहीं होगी ?" तभी एक तीस वर्ष का तरुण उठा और बोल मैं अपना सिर देवी की भेंट करने को तैयार हूँ । यह लाहौर के निवासी भाई दयाराम खत्री थे । गुरु गोविन्दसिंह उन्हें एक बन्द तम्बू में ले गये और एक मुहूर्त ही में लोगों ने तम्बू के बाहर रक्त की धारा बहते हुए देखी ।

गुरु गोविन्दसिंह फिर हाथ में रक्त से सनी तलवार लेकर आये और बोले—देवी और बलिदान चाहती है। क्या दूसरा कोई व्यक्ति अपना सिर देने को तैयार है ? तभी तेतीस वर्षीय दिल्ली निवासी भाई धर्मदास जाट ने आगे आकर सिर झुका दिया। गुरु उन्हें भी तम्बू में ले गये और रक्त की दूसरी धार बहती दिखलाई दी। तीसरी बार गुरु ने आकर फिर वही माँग की और अब की बार ३६ वर्षीय भाई मोहकम चन्द धोबी आगे आये। गुरु उनको भी तम्बू में ले गये और एक बार फिर तम्बू के बाहर रक्त की धार बहती दिखलाई दी। इसी प्रकार गुरु गोविन्दसिंह ने दो-बार और आकर बलिदान की माँग की और दोनों बार क्रम से सैंतीस वर्षीय बीदर-निवासी भाई साहब चन्द नाई और अड़तीस वर्षीय जगन्नाथ निवासी भाई हिम्मतराय कुम्हार ने अपना सिर देना स्वीकार किया और उन दोनों की वही दशा हुई जो प्रथम तीन की हुई थी। अब तो बलिदान भावना से सारा जनसमूह ही उमड़ पड़ा और हमारा सिर दीजिये, हमारा सिर दीजिये कहकर अनुरोध करने लगा।

तभी लोगों ने देखा कि वे पाँचो वीर बलिदानी सुन्दर वेश-भूषा में तलवार लिये गुरु के साथ सभा मंच पर आ गये। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वास्तविक बात यह थी कि गुरु गोविन्दसिंह ने उन बलिदानियों के स्थान पर पाँच बकरों को मार कर लोगों के धैर्य तथा दृढ़ता की परीक्षा ली थी। उनका यह प्रयोग सफल हुआ और जन-गण की बलिदान भावना अटल तथा अविचल हो गई। उसी समय गुरु गोविन्दसिंह ने उन पाँचों को 'पंच प्यारे' की उपाधि देकर सिंह पद से उनके नाम विभूषित कर जन-समुदाय को निर्देश दिया कि आज से आप लोग अपनी वीर भावना के लिये सिंह कहलायेंगे और अपने उद्देश्य के अनुरूप कृपाण, कडा, केश, कंघा और कच्छा—ये पाँच चिह्न सदैव अपने पास रखेंगे।

उसी समय गुरु गोविन्दसिंह ने शुद्ध जल में अपना खाडा धोकर अमृत बनाया और स्वयं पीकर, 'पंच प्यारो' और अन्य सब लोगों को पिलाकर गुरुओं की पवित्र वाणी के साथ उनको खालसा बनाया। इस प्रकार उन्होंने देश, जाति और धर्म की रक्षा के लिये संत और शिष्य परम्परा में शस्त्र धर्म का सूत्रपात किया और जन-गण का वही संगठन आज तक सिख नाम से चला आ रहा है।

इस प्रकार एक विशाल, सुदृढ़, सुदीक्षित और सशस्त्र संगठन बनाकर गुरु गोविन्दसिंह ने अनीति और अत्याचार के विरुद्ध युद्ध और संघर्ष करना प्रारम्भ कर दिया। उनके पास एक दिन एक स्त्री आई और रो-रो कर फरियाद करने लगी कि देहरादून में यवनों के एक दुष्ट दल ने उसके पति को जला डाला है और धन-सम्पति को लूटकर उसका शील भंग किया है। गुरु गोविन्दसिंह ने तुरन्त पाँच-सौ घुड़सवार लिये स्त्री के साथ जाकर अत्याचारियों को अस्तित्वहीन कर दिया और उसकी सम्पति का प्रबन्ध एक भद्र व्यक्ति को सौंपकर वापस चले आये।

गुरु गोविन्दसिंह के इस पुण्य अभियान में सहायता करने के लिये आसपास के अनेक राजा आने लगे। उन्होंने उनकी सहायता से लोहागढ़, फतहगढ़, फूलगढ़ और आनन्दगढ़ नाम के चार किले बनवाये और उनमें बड़े युद्ध की तैयारी करने लगे।

गुरु गोविन्दसिंह के अभ्युदय का समाचार मुगल बादशाह को मिला। उसने मियाँ खाँ, अलफ खाँ और जुलफिकार खाँ नामक तीन सरदारो को एक बड़ी सेना देकर उनके विरुद्ध युद्ध करने के लिये भेजा। उन्होंने आते ही चंबा, नहान और नालागढ क्षेत्र में हत्याओं और लूटमार का सिलसिला जारी कर दिया। गुरु गोविन्दसिंह को इसका समाचार मिला और वे अपनी छोटी-सी सेना लेकर आततायियों पर जा टूटे। धर्म सेना यवन सेना की तुलना में बहुत ही छोटी और साधनहीन थी। तब भी जाति-धर्म के दीवाने अपने वीर नायक के नेतृत्व में इस वीरता से लड़े कि मुगल सेना के हौंसले पस्त हो गये और वह वहाँ से भागते ही बनी।

मुगलों की इस हार का समाचार लाहौर के सूबेदार दिलावर खाँ को मिला और वह एक बड़ी सेना लेकर युद्ध करने चल दिया। उसने स्वयं तो गुरु गोविन्दसिंह के पक्षपाती पहाड़ी राजाओ पर आक्रमण किया और अपने लड़के को फौज देकर गुरु गोविन्दसिंह को परास्त करने के लिये भेजा। लेकिन गुरु गोविन्दसिंह के तीखे तीरों और उनके सैनिकों की मार वह ज्यादा देर न सह सका और भाग खड़ा हुआ। गुरु गोविन्दसिंह ने

उसका पीछा किया और युद्ध का बहुत अधिक सामान छीन लिया।

अपने पुत्र रुस्तम खाँ को हारकर आया देखकर दिलावर खाँ ने बड़ी भारी सेना लेकर गुरु गोविन्दसिंह पर फिर आक्रमण किया। सिख बहादुर तो मरने-मारने और अत्याचार को मिटा देने का व्रत ले ही चुके थे। वे 'सत् श्री अकाल' का नारा लगाते हुए दिलावर खाँ की सेना से भिड गये और देखते ही देखते यवनों को गाजर-मूली की तरह काट-काट कर फेंक दिया।

धर्म भावना से बली बने गुरु गोविन्दसिंह की विजय पर विजय का समाचार सुनकर दिल्ली का सिंहासन हिल उठा। बादशाह ने शहजादे मुअज्जम को एक विशाल सेना देकर उनके विरुद्ध भेजा। इस समय तक गुरु गोविन्दसिंह के पास बहुत कम सेना रह गई थी। इसलिये आमने-सामने युद्ध का अवसर न था। आनन्द का किला चारों ओर से बन्द कर लिया गया। मुगल सेना ने दुर्ग को चारों ओर से घेर लिया। घेरे की अवधि बढ़ती गई और किले के भीतर भोजन सामग्री घटती गई। बाहर से आने की कोई व्यवस्था नही हो सकती थी। अस्तु उन्होंने यही ठीक समझा कि किले में भूखो मरने के बजाय क्यों न लड़कर मर जाया जाये। निदान सिख वीर गुरु के नेतृत्व मे हथेली पर जान लेकर निकल पडे और पूरी शक्ति से मुगलो पर टूट पड़े। धर्म रक्षा की जिज्ञासा, अन्तिम स्थिति और सम्पूर्ण शक्ति से प्रयत्न का जो फल होना चाहिये था हुआ। मुगल सेना सिख वीरों की मार न सह सकी और भाग खड़ी हुई। बहुत-सी भोजन तथा युद्ध-सामग्री उनके हाथ लगी।

कुछ समय बाद सरहिन्द के नवाब ने गुरु गोविन्दसिंह पर फिर आक्रमण किया और बड़ी भारी सेना द्वारा आनन्दगढ़ को घेर लिया। गुरु गोविन्दसिंह ने कुछ दिन फिर धैर्य से काम लिया, किन्तु अन्त में जब किले की खाद्य सामग्री बिल्कुल ही समाप्त हो गई, तब वे अपने सारे अनुयायियों को लेकर के आनन्दपुर के बाहर हो जाने के प्रयत्न मे किले से निकल पड़े और मुगल सेना मे खग-बल पर रास्ता बनाते हुए बढ़ते गये। पूरी शक्ति और निश्चय विचार से किया हुआ अभियान सफल हुआ और गुरु गोविन्दसिंह अपने थोड़े से अनुयायियों के साथ आनन्दपुर से सतलज पार कर शत्रुओं की शक्ति से बाहर हो गये।

आनन्दगढ़ से निकलकर गुरु गोविन्दसिंह बसूली नामक राज्य में पहुँचे। बसूली एक छोटा-सा राज्य था। वहाँ का राजा दिल्ली के बादशाह के अधीन था। वह राजा राजनैतिक दृष्टि से अधीन अवश्य था किन्तु उसके विचार तथा भावनायें स्वतन्त्र थीं। उसने मन से दिल्ली के बादशाह की अधीनता स्वीकार न की थी। उसे अपने देश, जाति तथा धर्म पर बड़ी आस्था और अभिमान था।

कुछ समय तक बसूली में विश्राम और आगे की योजना बनाकर गुरु गोविन्दसिंह अपनी माता, पत्नी तथा चारों पुत्रों को लेकर चल दिये। स्थान-स्थान पर उपदेश और जनता मे संगठन की भावना भरते हुए वे कुरुक्षेत्र आये। कुरुक्षेत्र में गुरुजी का आना सुनकर हजारों की संख्या में लोग उनके दर्शन करने के लिये आने लगे। गुरु जी अपने उपदेशो में देश, धर्म और जाति की रक्षा पर ही जोर देते थे। वे लोगो को समझाते कि जिस समय धर्म पर आँच आ रही हो, देश पर संकट छाया हो उस समय मनुष्य का धर्म उसकी रक्षा करना हो जाता है। इन आपत्तियों को आस्था की परीक्षा ही समझना चाहिये। परमात्मा के प्यारे जिस धर्म पर विधर्मी आघात कर रहे होते हैं उस समय वह परम पिता चुपचाप बैठा हुआ यह देखा करता है कि इस समय कौन उसके नाम और उसके धर्म पर बलिदान देने को तैयार हो रहा है? जो बलिदान देने को कटिबद्ध होता है परमात्मा उसका नाम अपने भक्तों में लिख लिया करता है और जो ऐसे संकट काल में भी हाथ में माला लिये और माथे पर चन्दन लगाये मूर्ति के सम्मुख ध्यान लगाने या जप करने में लगे रहते हैं परमात्मा उनका नाम कायरों और बगुला भक्तों में लिख लेता है। देश, धर्म पर, अन्य सारी उपासनायें छोड़कर उत्सर्ग हो जाने वाले को स्वर्ग ही मिलता है फिर चाहे उसने पहले कभी पूजा-उपासना या जप-जाप किया हो अथवा न किया हो।

"जो आपत्ति आज देश और धर्म पर आई हुई है वह सदा तो रहने वाली नहीं। इसको मिट ही जाना है किन्तु ऐसा अवश्य है कि इसके माध्यम से

गुरु गोविन्दसिंह फिर हाथ में रक्त से सनी तलवार लेकर आये और बोले—देवी और बलिदान चाहती है। क्या दूसरा कोई व्यक्ति अपना सिर देने को तैयार है ? तभी तेतीस वर्षीय दिल्ली निवासी भाई धर्मदास जाट ने आगे आकर सिर झुका दिया। गुरु उन्हे भी तम्बू में ले गये और रक्त की दूसरी धार बहती दिखलाई दी। तीसरी बार गुरु ने आकर फिर वही माँग की और अब की बार ३६ वर्षीय भाई मोहकम चन्द धोबी आगे आये। गुरु उनको भी तम्बू में ले गये और एक बार फिर तम्बू के बाहर रक्त की धार बहती दिखलाई दी। इसी प्रकार गुरु गोविन्दसिंह ने दो-बार और आकर बलिदान की माँग की और दोनों बार क्रम से सैंतीस वर्षीय बीदर-निवासी भाई साहब चन्द नाई और अड़तीस वर्षीय जगन्नाथ निवासी भाई हिम्मतराय कुम्हार ने अपना सिर देना स्वीकार किया और उन दोनों की वही दशा हुई जो प्रथम तीन की हुई थी। अब तो बलिदान भावना से सारा जनसमूह ही उमड़ पड़ा और हमारा सिर दीजिये, हमारा सिर दीजिये कहकर अनुरोध करने लगा।

तभी लोगों ने देखा कि वे पाँचों वीर बलिदानी सुन्दर वेश-भूषा में तलवार लिये गुरु के साथ सभा मंच पर आ गये। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वास्तविक बात यह थी कि गुरु गोविन्दसिंह ने उन बलिदानियों के स्थान पर पाँच बकरो को मार कर लोगों के धैर्य तथा दृढता की परीक्षा ली थी। उनका यह प्रयोग सफल हुआ और जन-गण की बलिदान भावना अटल तथा अविचल हो गई। उसी समय गुरु गोविन्दसिंह ने उन पाँचों को 'पंच प्यारे' की उपाधि देकर सिंह पद से उनके नाम विभूषित कर जन-समुदाय को निर्देश दिया कि आज से आप लोग अपनी वीर भावना के लिये सिंह कहलायेंगे और अपने उद्देश्य के अनुरूप कृपाण, कड़ा, केश, कंघा और कच्छा—ये पाँच चिह्न सदैव अपने पास रखेंगे।

उसी समय गुरु गोविन्दसिंह ने शुद्ध जल में अपना खांडा धोकर अमृत बनाया और स्वयं पीकर, 'पंच प्यारों' और अन्य सब लोगों को पिलाकर गुरुओं की पवित्र वाणी के साथ उनको खालसा बनाया। इस प्रकार उन्होंने देश, जाति और धर्म की रक्षा के लिये संत और शिष्य परम्परा में शस्त्र धर्म का सूत्रपात किया

धर्म के आधार पर सन्तत्त्व प्राप्त होता है और जिस सन्तत्त्व के आधार पर सामाजिक सम्मान, उस सन्तत्त्व का मुकुट धारण करने वाला कोई सन्त यदि धर्म पर संकट देखकर चुप बैठा रहता है तो उसे सन्त नहीं वल्कि आडम्वरी या पाखण्डी ही कहना होगा । इस अपवाद तथा अपपाप से गुरु गोविन्दसिंह सावधान थे और इसलिये उन्होंने माला रखकर कृपाण उठाई थी और वैसा करने के लिये ही अपने शिष्यों तथा अनुयायियों को भी प्रेरित किया था । अपनी उद्देश्य पूर्ति के बाद उन्हें कृपाण रखकर फिर उपासना में ही तल्लीन हो जाना था उन्हें न औरंगजेब से शत्रुता थी और न उसके राज्य से । उन्हें क्षोभ था तो उसके अनीति पूर्ण अत्याचार से । एक सच्चा वीतराग सन्त किसी से शत्रुता क्यों रखेगा तथापि वह संसार में किसी पर भी होते हुए अत्याचार को नहीं देख सकता । फिर इस समय तो अपने ही धर्म और अपनी ही जाति पर अत्याचार हो रहा था ।

अत्याचारों के सुजेता ओरंगजेब का विवेक भ्रष्ट हो चुका था । जहाँ उसे डरना चाहिये था अपनी अनीति, अपने पाप और अपने क्रूर कर्मों से वहाँ वह भयभीत हो रहा था उस सन्त से जो ससार मे किसी से शत्रुता नहीं मानता और न किसी को कष्ट या हानि पहुँचाना चाहता । अपना उत्पात और अत्याचार बन्द कर देने से औरंगजेब सर्वथा निःशंक हो सकता था । पर एक बार किया गया पाप सौ-बार सिर पर सवार होकर अपना अनुगमन कराया करता है किन्तु औरंगजेब के सिर तो सैकड़ों पाप सवार थे । उसको भला यह सद्‌वुद्धि किस प्रकार प्राप्त हो सकती थी ? अत्याचारी अनीति द्वारा ही किसी से निस्तार पाने का प्रयत्न किया करता है । अस्तु, औरंगजेब पंजाब के धर्मद्रोही और देशघाती पहाड़ी राजाओं, सरहिन्द के नबाव और सीमान्त के शासको का दल बनाकर एक लाख सेना के साथ, गुरु गोविन्दसिंह का अस्तित्व मिटाने के लिये आनन्दगढ़ पर चढ़ आया ।

थोड़े से साथियों के साथ आनन्दगढ़ के किले मे ठहरे हुए गुरु पर एक लाख सैनिकों और सैकड़ो राजाओं तथा सामन्तों के साथ चढ़ आना औरंगजेव के भय तथा कायरता का वहुत बड़ा प्रमाण था किन्तु धर्म का सम्बल लिये उन वीर पुरुष ने जरा भी चिन्ता न की और आततायियों के विरुद्ध मोर्चा ले लिया । अपने साथियों द्वारा अल्पता की शंक प्रकट करने पर उन्होंने हँसकर कहा कि मनुष्य का सत् साहस स्वयं में ही एक वड़ी सेना है । अपने-अपने हृदयो का साहस सँभालो और धर्म की जय बोलकर शत्रुओ से टक्कर लो । सत्य तथा धर्म की ही विजय सदा होती रही है, आज भी होगी और आगे भी होती रहेगी ।

एक पखवारे तक अपने नगण्य साथियों के साथ गुरु गोविन्दसिंह ने उस आततायी टिड्डी दल से घोर संग्राम किया । एक के बदले मुगलों के सौ-सौ सैनिक और सरदार मारे गये । गुरु गोविन्दसिंह के धनुष से निकले वाण एक साथ अनेकों को धराशायी कर देते थे । धर्म वीरो ने दिन और रात युद्ध करके आर्य रक्त की विशेषता सिद्ध कर दी । मुगल सेना की एक वड़ी संख्या मारी गई । उसके जो सरदार मारे गये तो वे मारे ही गये शेष सरदारों की हिम्मत के पाँव उखड़ने लगे ।

तभी दैवयोग से किले की भोजन सामग्री समाप्त हो गई । कई दिन तक भूखे प्यासे रहकर युद्ध चलाया गया । पर अन्त में शेष रहे चालीस सैनिकों की हिम्मत छूट गई । उन्होंने गुरु से कहा कि इस प्रकार भूखों मरने से अच्छा है कि एक साथ समुद्र में कूद पड़ा जाये और अपना बलिदान दे दिया जाये । गुरु गोविन्दसिंह मुगलों की परिस्थिति समझ चुके थे । उन्होने साथियो को समझाया कि मुगलों की हिम्मत उखड़ चुकी है । एक दो दिन और धैर्य से काम लो । शत्रु भागने वाला ही है किन्तु वे सब सैनिक हिम्मत खो बैठे थे और रण में जाकर प्राण दे देने के लिये हठ करने लगे । हताश होकर गुरु ने कहा—"यदि आप लोग इस आड़े समय में मेरी नीति और मेरा साथ छोड़ना ही चाहते हैं तो छोड़ दीजिये । लेकिन मेरे सम्वन्ध से त्याग-पत्र देते जाइये, जिससे मै इस अपवाद से वच सकूँ कि गोविन्दसिंह ने स्थिति जानते हुए अपने साथियो को निश्चित मृत्यु के मुख मे झोंक दिया ।" हत्-बुद्धि सैनिकों ने त्याग-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये और अवसर पाकर शत्रु सेना को चीरते हुए आँधी-वेग से निकल गये ।

अब आनन्दगढ में रहना व्यर्थ समझ कर एक रात गुरु गोविन्दसिंह भी सहसा दुर्ग के बाहर अपने परिवार

सच्चे आस्तिकों तथा परमात्मा के भक्तों की पहचान जरूर हो जायेगी । जिसको परमात्मा के नियम और धर्म कहा जाता है, प्यारे नहीं, वह परमात्मा को प्यार कर सकता है इसमें सन्देह है । जिसको परमात्मा का धर्म प्यारा नहीं उसको परमात्मा का प्यार भी नहीं मिलता । आज हमारी सबकी आस्था की परीक्षा का समय आया हुआ है । आइये हम सब यथासाध्य अपना बलिदान देकर उत्तीर्ण हों । नहीं तो न तो यवनों का यह अत्याचार बना रहेगा और न धर्म पर यह संकट । वह परम-पिता अपने धर्म की रक्षा का कोई न कोई उपाय कर ही देगा, केवल हम सब कर्त्तव्य विमुख होकर उसकी कृपा और स्वर्ग से भ्रष्ट कर दिये जायेंगे ।"

"आज हाथ में माला की नहीं, हथियार की आवश्यकता है । जिन मन्दिरों में हम मूर्ति को भगवान मान कर पूजा करते हैं और उनमें परमेश्वर की आस्था रखते है उनको अत्याचारियों द्वारा टूटती हुई और नष्ट-भ्रष्ट होती हुई देखकर भी यदि हमारा हृदय तड़प नहीं उठता, हमारी रगों का रक्त गरम नहीं हो जाता तो मानना पड़ेगा कि हमारी आस्था झूठी है, हम मन्दिरों तथा मूर्तियों को ईंट, पत्थर का मकान और निर्जीव पुतला समझते है । आज हम जिस धर्म के अनुयायी हैं और जिसके द्वारा भवसागर से पार होने की आशा लगाये हैं, यदि वही नष्ट या भ्रष्ट हो गया तो धर्म के किस मार्ग का अनुगमन करके हम अपने परलोक की संरचना कर सकते हैं । धर्म न सही यदि धर्म के अनुयायी ही बलात्कार से धर्मच्युत कर दिये गये तो वह धर्म ही किस प्रकार जीवित रह सकता है । आज आप लोग धर्मोपदेश के लिये मेरे पास आते हैं और चाहते हैं कि आपको कुछ ऐसी बाते बतलाऊँ जिससे आपकी आत्मा में सुख तथा शान्ति का संचार हो किन्तु, आज जब धर्म, देश और जाति पर अत्याचार होते देखकर मेरी आत्मा को ही सुख-चैन नहीं है तब मैं आपको क्या उपदेश कर सकता हूँ ? आज तो सुख-शान्ति का एक ही मार्ग है । वह यह कि धर्म की रक्षा के लिये सर्वस्वपूर्वक कटिबद्ध हुआ जाये । मैंने इस सत्य को अनुभव कर लिया है और अकाल पुरुष की इच्छा से धर्म रक्षा के लिये शस्त्र उठा लिये हैं । अब सच्ची शान्ति तो उस दिन ही मिलेगी जिस दिन या तो प्रयत्नपूर्वक आततायियों का अत्याचार समाप्त कर सकूँगा या उसी पुण्य प्रयत्न में सर्वस्व के साथ उत्सर्ग हो जाऊँगा । आज मेरा अनुगमन और मेरा शिष्यत्व इसी में है कि सब लोग धर्म की रक्षा के लिये शस्त्र ग्रहण करें, दूसरों को ग्रहण करायें और बलि पथ के पथिक बनें । इसके अतिरिक्त मेरे पास आज न कोई उपदेश है और न गुरु-मन्त्र ।"

गुरु के प्रेरक वचन सुनकर हजारो की सख्या में लोग उनके सैनिक तथा सहायक बन गये । गुरु गोविन्दसिंह सूर्य ग्रहण के मेले तक कुरुक्षेत्र में रुके और वहाँ प्रान्त-प्रान्त से आये हुए लोगों को यही उपदेश तथा प्रेरणा देते रहे । कुरुक्षेत्र के मेले में आये न जाने कितने नौजवान उनकी धर्म सेना के स्वयं सैनिक और प्रचारक बन गये । इतने लोगों को वेतन तथा भोजन देने के लिये धर्मानुयायियो ने बहुत-से साधन भी गुरु जी को भेंट किये । अनेक लोगो ने अपने उस धन से, जो वे वहाँ दान-पुण्य करने के लिये लाये थे, अस्त्र-शस्त्रों का प्रबन्ध कर दिया । लोगों ने उस संकट काल में उस दान को किसी भी पुण्य से कम नहीं माना और न अपनी तीर्थ यात्रा की सार्थकता पर सन्देह किया ।

इस प्रकार एक विशाल संगठन और देश व्यापनीय प्रचार करके और लोगो को उनका कर्तव्य तथा मार्ग बतलाकर गुरु गोविन्दसिंह चमकौर होते हुए आनन्दगढ़ आ गये ।

गुरु गोविन्दसिंह का यह संगठन तथा प्रचार जब मुगल बादशाह औरंगजेब के कानो मे गया तो उसका अस्तित्व काँप उठा । उसे अपना साम्राज्य तथा सिंहासन जाता हुआ दिखलाई देने लगा । उसकी रात की नींद और दिन का चैन हराम हो गया । सुख-चैन अन्यायी तथा अत्याचारी के कर्म में होता ही कहाँ है ? उसकी अनीति उसके हृदय में सर्प की तरह बैठी हुई फुस्कार किया करती है, जिसका भय उसे बाहर अपने चारो तरफ दिखलाई देता रहता है । उसे सोते-जागते, स्वप्न और परिस्थितियों में अपना विनाश ही झाँकता दृष्टिगोचर होता है । गुरु गोविन्दसिंह का उद्देश्य उसका राज्य छीन कर अपना राज्य स्थापित करने का नहीं था । उनका ध्येय था उसका अत्याचार रोक कर अपने हिन्दू-धर्म की रक्षा करना । वे एक सन्त थे और सन्तों के कर्त्तव्य को भली प्रकार जानते थे । जिस

धर्म के आधार पर सन्तत्त्व प्राप्त होता है और जिस सन्तत्त्व के आधार पर सामाजिक सम्मान, उस सन्तत्त्व का मुकुट धारण करने वाला कोई सन्त यदि धर्म पर संकट देखकर चुप बैठा रहता है तो उसे सन्त नही बल्कि आडम्बरी या पाखण्डी ही कहना होगा । इस अपवाद तथा अपपाप से गुरु गोविन्दसिंह सावधान थे और इसलिये उन्होने माला रखकर कृपाण उठाई थी और वैसा करने के लिये ही अपने शिष्यों तथा अनुयायियों को भी प्रेरित किया था । अपनी उद्देश्य पूर्ति के बाद उन्हें कृपाण रखकर फिर उपासना में ही तल्लीन हो जाना था उन्हे न औरंगजेब से शत्रुता थी और न उसके राज्य से । उन्हें क्षोभ था तो उसके अनीति पूर्ण अत्याचार से । एक सच्चा वीतराग सन्त किसी से शत्रुता क्यो रखेगा तथापि वह ससार में किसी पर भी होते हुए अत्याचार को नहीं देख सकता । फिर इस समय तो अपने ही धर्म और अपनी ही जाति पर अत्याचार हो रहा था ।

अत्याचारों के सुजेता औरंगजेब का विवेक भ्रष्ट हो चुका था । जहाँ उसे डरना चाहिये था अपनी अनीति, अपने पाप और अपने क्रूर कर्मो से वहाँ वह भयभीत हो रहा था उस सन्त से जो संसार मे किसी से शत्रुता नहीं मानता और न किसी को कष्ट या हानि पहुँचाना चाहता । अपना उत्पात और अत्याचार बन्द कर देने से औरंगजेब सर्वथा निःशंक हो सकता था । पर एक बार किया गया पाप सौ-बार सिर पर सवार होकर अपना अनुगमन कराया करता है किन्तु औरगजेब के सिर तो सैकड़ों पाप सवार थे । उसको भला यह सद्‌बुद्धि किस प्रकार प्राप्त हो सकती थी ? अत्याचारी अनीति द्वारा ही किसी से निस्तार पाने का प्रयत्न किया करता है । अस्तु, औरंगजेब पंजाब के धर्मद्रोही और देशघाती पहाड़ी राजाओं, सरहिन्द के नवाब और सीमान्त के शासकों का दल बनाकर एक लाख सेना के साथ, गुरु गोविन्दसिंह का अस्तित्व मिटाने के लिये आनन्दगढ़ पर चढ़ आया ।

थोड़े से साथियों के साथ आनन्दगढ़ के किले में ठहरे हुए गुरु पर एक लाख सैनिकों और सैकड़ो राजाओं तथा सामन्तों के साथ चढ़ आना औरंगजेब के भय तथा कायरता का बहुत बड़ा प्रमाण था किन्तु धर्म का सम्बल लिये उन वीर पुरुष ने जरा भी चिन्ता न की और आततायियों के विरुद्ध मोर्चा ले लिया । अपने साथियों द्वारा अल्पता की शंक प्रकट करने पर उन्होने हँसकर कहा कि मनुष्य का सत् साहस स्वयं में ही एक बड़ी सेना है । अपने-अपने हृदयों का साहस सँभालो और धर्म की जय बोलकर शत्रुओ से टक्कर लो । सत्य तथा धर्म की ही विजय सदा होती रही है, आज भी होगी और आगे भी होती रहेगी ।

एक पखवारे तक अपने नगण्य साथियों के साथ गुरु गोविन्दसिंह ने उस आततायी टिड्डी दल से घोर संग्राम किया । एक के बदले मुगलों के सौ-सौ सैनिक और सरदार मारे गये । गुरु गोविन्दसिंह के धनुष से निकले बाण एक साथ अनेकों को धराशायी कर देते थे । धर्म वीरो ने दिन और रात युद्ध करके आर्य रक्त की विशेषता सिद्ध कर दी । मुगल सेना की एक बड़ी संख्या मारी गई । उसके जो सरदार मारे गये तो वे मारे ही गये शेष सरदारों की हिम्मत के पाँव उखड़ने लगे ।

तभी दैवयोग से किले की भोजन सामग्री समाप्त हो गई । कई दिन तक भूखे प्यासे रहकर युद्ध चलाया गया । पर अन्त मे शेष रहे चालीस सैनिकों की हिम्मत छूट गई । उन्होंने गुरु से कहा कि इस प्रकार भूखों मरने से अच्छा है कि एक साथ समुद्र मे कूद पड़ा जाये और अपना बलिदान दे दिया जाये । गुरु गोविन्दसिंह मुगलों की परिस्थिति समझ चुके थे । उन्होने साथियों को समझाया कि मुगलों की हिम्मत उखड़ चुकी है । एक दो दिन और धैर्य से काम लो । शत्रु भागने वाला ही है किन्तु वे सब सैनिक हिम्मत खो बैठे थे और रण में जाकर प्राण दे देने के लिये हठ करने लगे । हताश होकर गुरु ने कहा—"यदि आप लोग इस आड़े समय मे मेरी नीति और मेरा साथ छोड़ना ही चाहते हैं तो छोड़ दीजिये । लेकिन मेरे सम्बन्ध से त्याग-पत्र देते जाइये, जिससे मै इस अपवाद से बच सकूँ कि गोविन्दसिंह ने स्थिति जानते हुए अपने साथियो को निश्चित मृत्यु के मुख में झोंक दिया ।" हत्-बुद्धि सैनिकों ने त्याग-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये और अवसर पाकर शत्रु सेना को चीरते हुए आँधी-वेग से निकल गये ।

अब आनन्दगढ में रहना व्यर्थ समझ कर एक रात गुरु गोविन्दसिंह भी सहसा दुर्ग के बाहर अपने परिवार

के साथ निकल पड़े । मुगलों ने बहुत प्रयत्न किया पर वे उस धर्मात्मा की विकट मार से विमुग्ध होकर उनको अथवा उनके परिवार के किसी सदस्य को पकड़ सकने में सफल न हो सके । उस आपत्ति से वे सब निकल तो गये लेकिन बिछुड़ गये । गुरु गोविन्दसिंह अपने दो बड़े बेटों के साथ एक ओर जा पड़े । उनकी माता अपने दो छोटे पोतों के साथ एक ओर और उनकी पत्नी एक ओर अकेली जा पड़ीं । इस प्रकार बिछुड़ कर गुरु गोविन्दसिंह तो पुत्रों के साथ चमकौर जा पहुँचे, उनकी माता दोनों पोतो के साथ अपने रसोइये गंगू के अनुरोध पर उसके घर चली गईं और पत्नी किसी प्रकार दिल्ली पहुँच कर एक भक्त के यहाँ प्रच्छन्न हो गईं ।

चमकौर दुर्ग मे बहुत ही थोड़े से सैनिक थे, साधन सामग्री भी नही के बराबर थी । तथापि गुरु ने हिम्मत से काम लिया और सारे लोगों में, पीछा करती आ रही मुगल सेना से जूझने का उत्साह प्रेरित किया । सभी लोग सजग तथा सन्नद्ध होकर शत्रु की प्रतीक्षा करने लगे ।

कुछ ही समय में विशाल मुगल सेना ने आकर चारों ओर से चमकौर दुर्ग को घेर लिया । सामग्री के अभाव में किले के भीतर रह कर युद्ध चला सकना सम्भव न था । अस्तु गुरु गोविन्दसिंह ने कहा कि "आप जो थोड़े से लोग हैं वे किले में इन बच्चों के साथ रहें और जब अवसर पायें तो किसी सुरक्षित दिशा में निकल जायें और तब तक यवनो का अत्याचार समाप्त न हो जाये धर्म-युद्ध चलाते और दूसरों को चलाते रहने की प्रेरणा देते रहे । मैंने आज निश्चय कर लिया है कि अकेले ही जाकर शत्रु की सेना से लोहा लूँगा और धर्म पर बलिदान होकर अकाल पुरुष की गोद में चला जाऊँगा । मुझे स्पष्ट दिखलाई दे रहा है कि समय मेरा बलिदान चाहता है । आशा है उसकी माँग पूरी कर देने पर देश में पुनः धर्म-रक्षा का वही ज्वार आ जायेगा जो पिताजी के बलिदान से आया था ।"

गुरु गोविन्दसिंह का निश्चय सुनकर उनके दोनों पुत्र तथा साथी करुण हो उठे । उन्होंने प्रार्थना की—"यदि समय बलिदान ही चाहता है तो पहले हम अपना बलिदान देंगे । आपका सुरक्षित रहना बहुत आवश्यक है । आप सुरक्षित रहेंगे तो न जाने कितने धर्म-रक्षक वीर पैदा कर सकेंगे । आपके सहसा बलि हो जाने से देश के जागरण में निराशा आ जायेगी । यवनों का अन्याय अभी कम नहीं हुआ है । इस समय केवल आप ही देश के आशा केन्द्र बने हुए है । अन्याय के विरुद्ध देश में जन-जागरण तथा संगठन का काम करने के लिये आपका जीवित रहना नितान्त आवश्यक है ।"

साथियो की प्रार्थना सुनकर गुरु गोविन्दसिंह सोच में पड गये और बोले—फिर भी तो शत्रुओं से, इस प्रकार कायरतापूर्वक घिरे रहना भी तो ठीक नहीं, उनकी रण लिप्सा पूरी करना आवश्यक है । इस समय मेरे सिवाय उनसे लोहा लेने के लिये जाने वाला कौन है ?

पिता की बात सुनकर उनके अठारह वर्षीय कुमार अजीतसिंह ने हाथ जोड़कर कहा—"पिताजी मेरे रहते हुए आपको इस प्रकार से निराश नहीं होना चाहिये । युद्ध के लिये मुझे आज्ञा दीजिये और देखिये कि मैं किस प्रकार इन आततायियो के छक्के छुड़ाता हूँ । आप विश्वास रखिये, या तो मैं इस विशाल शत्रु सेना को मार काटकर विजय प्राप्त करूँगा अथवा अपना बलिदान देकर भारत माता का गौरव और अपना जीवन उज्ज्वल बना लूँगा ।"

अजीतसिह का उत्साह देखकर गुरु गोविन्दसिह हर्ष-विभोर हो उठे—वे बोले—"धन्य है पुत्र ! जिस देश-जाति मे तुम जैसे बालक पैदा हो उसे अधिक दिनों तक कौन सता सकता है ? लेकिन तुम अभी बहुत छोटे हो । युद्ध में, सो भी निश्चित मृत्यु के युद्ध मे भेजना उचित नहीं लगता । हम सब साथ ही चलकर आज धर्म-रक्षा मे अपना अन्तिम बलिदान दे देगे ।"

अजीतसिह ने पुनः प्रार्थना की "आपका सुरक्षित रहना बहुत आवश्यक है । बहुत-सा कार्य करने के साथ ही आपको मेरे तीन भाइयों का पोषण तथा निर्माण करना है । अपने जीते जी मैं आपको असमय बलि पथ पर नही जाने दूँगा । आप मेरी आयु की ओर न देखे । अभिमन्यु केवल सोलह वर्ष का था मेरी आयु तो अठारह वर्ष की है । मै भी उसी देश, उसी आर्य जाति और उन्हीं वीर परम्पराओं की एक

कड़ी हूँ जिसके कि अभिमन्यु थे । आप मोह को छोड़ कर युद्ध में जाने की आज्ञा दीजिये और उस सबको दुहरा देने दीजिये जो कुछ दुर्भेद्य चक्रव्यूह में वीर अभिमन्यु ने किया था ।"

गुरु गोविन्दसिंह ने अपने हाथ से बेटे को कवच और झिलम पहनाया और अपने हाथ से सिरोही देकर कहा—"जा भारत माता के वीर सपूत जा और रणांगण में अपने वंश, अपने धर्म और अपनी परम्पराओं का परिचय दे ।"

अजीतसिंह कतिपय सिख सैनिकों को लेकर किले से निकला और अकाल पुरुष की जय बोलकर बाज की तरह शत्रु सेना पर टूट पडा । उस धर्म प्राण बालक ने मुगल सेना को ऐसे काटना प्रारम्भ किया जैसे किसान पके खेत को काट कर गिरा देते हैं । देखते ही देखते उसने बहुत से मुगल सरदारों को नरक के घाट लगा दिया और समुद्र की तरह उस विशाल सेना को विक्रान्त मकर की तरह मथ कर फेंक दिया । गुरु गोविन्दसिंह किले के ऊपर से अपने पुत्र का जौहर देखकर पुलकित हो रहे थे ।

जब मुगल सरदारों ने देखा कि यह काल का कराल अंश बालक सेना को मथे डाल रहा है तो उन सैकड़ों ने एक साथ ही चारों ओर से उस वीर बालक को घेर लिया । उस पर एक साथ सैकड़ों तीर, सैकड़ो बरछे, सैकड़ों तलवारें और सैकड़ों गोलियाँ बरसने लगीं । तब भी उस वीर से संध्या होते-होते हजारों को अपनी तलवार का विषैला पानी पिलाकर सदा के लिये सुला दिया । पश्चिम की ओर जाते भगवान भुवन भास्कर ने देखा कि उसकी किरण के समान ही प्रज्ज्वलित एक नन्हीं सी ज्योति शिखा उस शत्रु सेना के तमस मे पूरे दिन दमकी और अब अस्त हो गई । गुरु गोविन्दसिंह और उनके साथियो की आँखों से आँसू और मुख से धन्य-धन्य के शब्द एक साथ निकल पड़े और वे नीचे उतर गये किन्तु वे आँसू शोक के नहीं, आनन्द और गौरव के थे ।

दूसरे दिन प्रातःकाल गुरु गोविन्दसिंह सोच ही रहे थे कि अब क्या किया जाये कि तब तक उनके पन्द्रह वर्षीय पुत्र जोरावरसिंह ने आकर प्रार्थना की—"पिताजी मुझे भी भाई की तरह ही युद्ध मे जाने की आज्ञा दीजिये मैं भी उनका अनुसरण करूँगा । आज का दिन मेरे बलिदान का दिन है ।" गुरु गोविन्दसिंह उसकी भोली सूरत की ओर देखकर चिन्ता में पड़ गये, तभी बालक ने फिर कहा—मालूम होता है आप मुझे इस पुण्य बलिदान से वंचित कर देने की सोच रहे हैं । यदि आपने ऐसा किया तो मैं यही समझूँगा कि पिता ने न्याय नहीं किया और मेरी वीरता पर अविश्वास रखा । भाई को धर्म पर बलिदान हो जाने का अवसर देकर यदि आप मुझे वंचित करेंगे तो मेरी दृष्टि में पक्षपाती ठहरेंगे । मेरी प्रार्थना है कि आज, आप मुझे युद्ध में जाने की आज्ञा दे । पिता ने कहा "पर बेटे तुम तो अभी पन्द्रह साल के ही हो—ऐसी कम आयु मे ……… ।" पिता का वाक्य पूरा भी न हो पाया कि जोरावरसिह ने तत्काल कहा—"पिताजी गोरा बादल तो केवल ग्यारह-बारह वर्ष के ही थे । छोटे बेटे की बात सुनकर गुरु गोविन्दसिंह को सहसा हँसी आ गई और उन्होंने यह कहते हुए कि "जा वीर तू भी जा मुझे क्या अधिकार है कि मैं किसी वीर को उसके अभीष्ट पथ से रोक सकूँ ?"—कवच और झिलम पहना कर विदा कर दिया ।

नादान बच्चे को युद्ध में आया देखकर अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार बहुतों को हँसी आ गई तो बहुतों की तलवारें शर्म से नीचे हो गईं और बहुत से क्रूर आततायी उस पर आक्रमण करने को दौड़ पड़े । युद्ध हुआ और तीन प्रहर तक शत्रुओं का विनाश करने के बाद वह बाल वीर भी सहसा सैकड़ो सरदारों द्वारा चारों तरफ से घेर लिया गया । उसकी एक भुजा कट गई, एक पैर जाता रहा । फिर भी वह घोड़े पर सवार उन अत्याचारी शत्रुओं से लोहा लेता रहा । पर अन्त मे जब उसके शरीर में एक साथ कई गोलियाँ लग गईं तब वह वीर 'सत् श्री अकाल' के ब्रह्मघोष के साथ गिरकर सदा सर्वदा के लिये अमर हो गया । गुरु गोविन्दसिह ने एक उच्छवास भरा और किले से नीचे उतर गये ।

पुत्रो का बलिदान देकर गुरु गोविन्दसिंह एक योजना बनाकर आधी रात के घोर अन्धकार मे अपने शेष साथियों के साथ किले से निकल कर एक ओर चल पड़े, उनके साथी ठीक दूसरी ओर यह कहते हुए दौड़ पडे कि "गोविन्दसिंह भागा जा रहा है, गोविन्दसिंह भागा जा रहा है—दौडो, पकड़ो ।" मुगलों ने समझा

के साथ निकल पड़े । मुगलों ने बहुत प्रयत्न किया पर वे उस धर्मात्मा की विकट मार से विमुख होकर उनको अथवा उनके परिवार के किसी सदस्य को पकड़ सकने में सफल न हो सके । उस आपत्ति से वे सब निकल तो गये लेकिन बिछुड़ गये । गुरु गोविन्दसिंह अपने दो बड़े बेटों के साथ एक ओर जा पड़े । उनकी माता अपने दो छोटे पोतों के साथ एक ओर और उनकी पत्नी एक ओर अकेली जा पड़ीं । इस प्रकार बिछुड़ कर गुरु गोविन्दसिंह तो पुत्रों के साथ चमकौर जा पहुँचे, उनकी माता दोनों पोतों के साथ अपने रसोइये गंगू के अनुरोध पर उसके घर चली गईं और पत्नी किसी प्रकार दिल्ली पहुँच कर एक भक्त के यहाँ प्रच्छन्न हो गईं ।.

चमकौर दुर्ग में बहुत ही थोड़े से सैनिक थे, साधन सामग्री भी नहीं के बराबर थी । तथापि गुरु ने हिम्मत से काम लिया और सारे लोगों मे, पीछा करती आ रही मुगल सेना से जूझने का उत्साह प्रेरित किया । सभी लोग सजग तथा सन्नद्ध होकर शत्रु की प्रतीक्षा करने लगे ।

कुछ ही समय में विशाल मुगल सेना ने आकर चारों ओर से चमकौर दुर्ग को घेर लिया । सामग्री के अभाव में किले के भीतर रह कर युद्ध चला सकना सम्भव न था । अस्तु गुरु गोविन्दसिंह ने कहा कि "आप जो थोड़े से लोग हैं वे किले मे इन बच्चो के साथ रहें और जब अवसर पायें तो किसी सुरक्षित दिशा मे निकल जायें और तब तक यवनो का अत्याचार समाप्त न हो जाये धर्म-युद्ध चलाते और दूसरो को चलाते रहने की प्रेरणा देते रहें । मैंने आज निश्चय कर लिया है कि अकेले ही जाकर शत्रु की सेना से लोहा लूँगा और धर्म पर बलिदान होकर अकाल पुरुष की गोद में चला जाऊँगा । मुझे स्पष्ट दिखलाई दे रहा है कि समय मेरा बलिदान चाहता है । आशा है उसकी माँग पूरी कर देने पर देश मे पुनः धर्म-रक्षा का वही ज्वार आ जायेगा जो पिताजी के बलिदान से आया था ।"

गुरु गोविन्दसिंह का निश्चय सुनकर उनके दोनो पुत्र तथा साथी करुण हो उठे । उन्होंने प्रार्थना की—"यदि समय बलिदान ही चाहता है तो पहले हम अपना बलिदान देंगे । आपका सुरक्षित रहना बहुत आवश्यक है । आप सुरक्षित रहेंगे तो न जाने कितने धर्म-रक्षक वीर पैदा कर सकेंगे । आपके सहसा बलि हो जाने से देश के जागरण में निराशा आ जायेगी । यवनों का अन्याय अभी कम नहीं हुआ है । इस समय केवल आप ही देश के आशा केन्द्र बने हुए हैं । अन्याय के विरुद्ध देश में जन-जागरण तथा संगठन का काम करने के लिये आपका जीवित रहना नितान्त आवश्यक है ।"

साथियों की प्रार्थना सुनकर गुरु गोविन्दसिंह सोच में पड़ गये और बोले—फिर भी तो शत्रुओं से, इस प्रकार कायरतापूर्वक घिरे रहना भी तो ठीक नहीं, उनकी रण लिप्सा पूरी करना आवश्यक है । इस समय मेरे सिवाय उनसे लोहा लेने के लिये जाने वाला कौन है ?

पिता की बात सुनकर उनके अठारह वर्षीय कुमार अजीतसिंह ने हाथ जोड़कर कहा—"पिताजी मेरे रहते हुए आपको इस प्रकार से निराश नहीं होना चाहिये । युद्ध के लिये मुझे आज्ञा दीजिये और देखिये कि मैं किस प्रकार इन आततायियों के छक्के छुड़ाता हूँ । आप विश्वास रखिये, या तो मैं इस विशाल शत्रु सेना को मार काटकर विजय प्राप्त करूँगा अथवा अपना बलिदान देकर भारत माता का गौरव और अपना जीवन उज्ज्वल बना लूँगा ।"

अजीतसिंह का उत्साह देखकर गुरु गोविन्दसिंह हर्ष-विभोर हो उठे—वे बोले—"धन्य है पुत्र ! जिस देश-जाति में तुम जैसे बालक पैदा हो उसे अधिक दिनो तक कौन सता सकता है ? लेकिन तुम अभी बहुत छोटे हो । युद्ध मे, सो भी निश्चित मृत्यु के युद्ध में भेजना उचित नही लगता । हम सब साथ ही चलकर आज धर्म-रक्षा मे अपना अन्तिम बलिदान दे देंगे ।"

अजीतसिंह ने पुनः प्रार्थना की "आपका सुरक्षित रहना बहुत आवश्यक है । बहुत-सा कार्य करने के साथ ही आपको मेरे तीन भाइयों का पोषण तथा निर्माण करना है । अपने जीते जी मैं आपको असमय बलि पथ पर नही जाने दूँगा । आप मेरी आयु की ओर न देखे । अभिमन्यु केवल सोलह वर्ष का था मेरी आयु तो अठारह वर्ष की है । मैं भी उसी देश, उसी आर्य जाति और उन्हीं वीर परम्पराओ की एक

कड़ी हूँ जिसके कि अभिमन्यु थे। आप मोह को छोड़ कर युद्ध में जाने की आज्ञा दीजिये और उस सबको दुहरा देने दीजिये जो कुछ दुर्भेद्य चक्रव्यूह में वीर अभिमन्यु ने किया था।"

गुरु गोविन्दसिंह ने अपने हाथ से बेटे को कवच और झिलम पहनाया और अपने हाथ से सिरोही देकर कहा—"जा भारत माता के वीर सपूत जा और रणांगण मे अपने वंश, अपने धर्म और अपनी परम्पराओं का परिचय दे।"

अजीतसिंह कतिपय सिख सैनिकों को लेकर किले से निकला और अकाल पुरुष की जय बोलकर बाज की तरह शत्रु सेना पर टूट पड़ा। उस धर्म प्राण बालक ने मुगल सेना को ऐसे काटना प्रारम्भ किया जैसे किसान पके खेत को काट कर गिरा देते हैं। देखते ही देखते उसने बहुत से मुगल सरदारों को नरक के घाट लगा दिया और समुद्र की तरह उस विशाल सेना को विक्रान्त मकर की तरह मथ कर फेंक दिया। गुरु गोविन्दसिंह किले के ऊपर से अपने पुत्र का जौहर देखकर पुलकित हो रहे थे।

जब मुगल सरदारों ने देखा कि यह काल का कराल अंश बालक सेना को मथे डाल रहा है तो उन सैकड़ो ने एक साथ ही चारों ओर से उस वीर बालक को घेर लिया। उस पर एक साथ सैकडों तीर, सैकड़ों बरछे, सैकड़ों तलवारें और सैकड़ों गोलियाँ बरसने लगीं। तब भी उस वीर से संध्या होते-होते हजारो को अपनी तलवार का विषैला पानी पिलाकर सदा के लिये सुला दिया। पश्चिम की ओर जाते भगवान भुवन भास्कर ने देखा कि उसकी किरण के समान ही प्रज्ज्वलित एक नन्हीं सी ज्योति शिखा उस शत्रु सेना के तमस में पूरे दिन दमकी और अब अस्त हो गई। गुरु गोविन्दसिंह और उनके साथियों की आँखो से आँसू और मुख से धन्य-धन्य के शब्द एक साथ निकल पड़े और वे नीचे उतर गये किन्तु वे आँसू शोक के नहीं, आनन्द और गौरव के थे।

दूसरे दिन प्रातःकाल गुरु गोविन्दसिंह सोच ही रहे थे कि अब क्या किया जाये कि तब तक उनके पन्द्रह वर्षीय पुत्र जोरावरसिंह ने आकर प्रार्थना की—"पिताजी मुझे भी भाई की तरह ही युद्ध मे जाने की आज्ञा दीजिये मैं भी उनका अनुसरण करूँगा। आज का दिन मेरे बलिदान का दिन है।" गुरु गोविन्दसिंह उसकी भोली सूरत की ओर देखकर चिन्ता में पड़ गये, तभी बालक ने फिर कहा—मालूम होता है आप मुझे इस पुण्य बलिदान से वंचित कर देने की सोच रहे हैं। यदि आपने ऐसा किया तो मैं यही समझूँगा कि पिता ने न्याय नही किया और मेरी वीरता पर अविश्वास रखा। भाई को धर्म पर बलिदान हो जाने का अवसर देकर यदि आप मुझे वचित करेगे तो मेरी दृष्टि में पक्षपाती ठहरेगे। मेरी प्रार्थना है कि आज, आप मुझे युद्ध मे जाने की आज्ञा दें। पिता ने कहा "पर बेटे तुम तो अभी पन्द्रह साल के ही हो—ऐसी कम आयु में ········।" पिता का वाक्य पूरा भी न हो पाया कि जोरावरसिंह ने तत्काल कहा—"पिताजी गोरा बादल तो केवल ग्यारह-बारह वर्ष के ही थे। छोटे बेटे की बात सुनकर गुरु गोविन्दसिंह को सहसा हँसी आ गई और उन्होने यह कहते हुए कि "जा वीर तू भी जा मुझे क्या अधिकार है कि मैं किसी वीर को उसके अभीष्ट पथ से रोक सकूँ?"—कवच और झिलम पहना कर विदा कर दिया।

नादान बच्चे को युद्ध मे आया देखकर अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार बहुतो को हँसी आ गई तो बहुतों की तलवारें शर्म से नीचे हो गईं और बहुत से क्रूर आततायी उस पर आक्रमण करने को दौड़ पड़े। युद्ध हुआ और तीन प्रहर तक शत्रुओं का विनाश करने के बाद वह बाल वीर भी सहसा सैकड़ो सरदारो द्वारा चारों तरफ से घेर लिया गया। उसकी एक भुजा कट गई, एक पैर जाता रहा। फिर भी वह घोड़े पर सवार उन अत्याचारी शत्रुओं से लोहा लेता रहा। पर अन्त में जब उसके शरीर मे एक साथ कई गोलियाँ लग गईं तब वह वीर 'सत् श्री अकाल' के ब्रह्मघोष के साथ गिरकर सदा सर्वदा के लिये अमर हो गया। गुरु गोविन्दसिंह ने एक उच्छवास भरा और किले से नीचे उतर गये।

पुत्रों का बलिदान देकर गुरु गोविन्दसिंह एक योजना बनाकर आधी रात के घोर अन्धकार में अपने शेष साथियो के साथ किले से निकल कर एक ओर चल पड़े, उनके साथी ठीक दूसरी ओर यह कहते हुए दौड़ पड़े कि "गोविन्दसिंह भागा जा रहा है, गोविन्दसिंह भागा जा रहा है—दौड़ो, पकड़ो।" मुगलों ने समझा

के साथ निकल पड़े। मुगलों ने बहुत प्रयत्न किया पर वे उस धर्मात्मा की विकट मार से विमुख होकर उनको अथवा उनके परिवार के किसी सदस्य को पकड़ सकने में सफल न हो सके। उस आपत्ति से वे सब निकल तो गये लेकिन बिछुड़ गये। गुरु गोविन्दसिंह अपने दो बड़े बेटों के साथ एक ओर जा पड़े। उनकी माता अपने दो छोटे पोतों के साथ एक ओर और उनकी पत्नी एक ओर अकेली जा पड़ी। इस प्रकार बिछुड़ कर गुरु गोविन्दसिंह तो पुत्रों के साथ चमकौर जा पहुँचे, उनकी माता दोनों पोतों के साथ अपने रसोइये गंगू के अनुरोध पर उसके घर चली गईं और पत्नी किसी प्रकार दिल्ली पहुँच कर एक भक्त के यहाँ प्रच्छन्न हो गईं।

चमकौर दुर्ग में बहुत ही थोड़े से सैनिक थे, साधन सामग्री भी नही के बराबर थी। तथापि गुरु ने हिम्मत से काम लिया और सारे लोगों में, पीछा करती आ रही मुगल सेना से जूझने का उत्साह प्रेरित किया। सभी लोग सजग तथा सन्नद्ध होकर शत्रु की प्रतीक्षा करने लगे।

कुछ ही समय में विशाल मुगल सेना ने आकर चारों ओर से चमकौर दुर्ग को घेर लिया। सामग्री के अभाव में किले के भीतर रह कर युद्ध चला सकना सम्भव न था। अस्तु गुरु गोविन्दसिंह ने कहा कि "आप जो थोड़े से लोग हैं वे किले में इन बच्चो के साथ रहें और जब अवसर पायें तो किसी सुरक्षित दिशा में निकल जायें और तब तक यवनों का अत्याचार समाप्त न हो जाये धर्म-युद्ध चलाते और दूसरो को चलाते रहने की प्रेरणा देते रहें। मैंने आज निश्चय कर लिया है कि अकेले ही जाकर शत्रु की सेना से लोहा लूँगा और धर्म पर बलिदान होकर अकाल पुरुष की गोद में चला जाऊँगा। मुझे स्पष्ट दिखलाई दे रहा है कि समय मेरा बलिदान चाहता है। आशा है उसकी माँग पूरी कर देने पर देश में पुनः धर्म-रक्षा का वही ज्वार आ जायेगा जो पिताजी के बलिदान से आया था।"

गुरु गोविन्दसिंह का निश्चय सुनकर उनके दोनों पुत्र तथा साथी करुण हो उठे। उन्होने प्रार्थना की—"यदि समय बलिदान ही चाहता है तो पहले हम अपना बलिदान देगे। आपका सुरक्षित रहना बहुत आवश्यक है। आप सुरक्षित रहेगे तो न जाने कितने धर्म-रक्षक वीर पैदा कर सकेंगे। आपके सहसा बलि हो जाने से देश के जागरण में निराशा आ जायेगी। यवनों का अन्याय अभी कम नहीं हुआ है। इस समय केवल आप ही देश के आशा केन्द्र बने हुए हैं। अन्याय के विरुद्ध देश में जन-जागरण तथा संगठन का काम करने के लिये आपका जीवित रहना नितान्त आवश्यक है।"

साथियों की प्रार्थना सुनकर गुरु गोविन्दसिह सोच मे पड़ गये और बोले—फिर भी तो शत्रुओ से, इस प्रकार कायरतापूर्वक घिरे रहना भी तो ठीक नहीं, उनकी रण लिप्सा पूरी करना आवश्यक है। इस समय मेरे सिवाय उनसे लोहा लेने के लिये जाने वाला कौन है?

पिता की बात सुनकर उनके अठारह वर्षीय कुमार अजीतसिह ने हाथ जोड़कर कहा—"पिताजी मेरे रहते हुए आपको इस प्रकार से निराश नहीं होना चाहिये। युद्ध के लिये मुझे आज्ञा दीजिये और देखिये कि मैं किस प्रकार इन आततायियो के छक्के छुड़ाता हूँ। आप विश्वास रखिये, या तो मै इस विशाल शत्रु सेना को मार काटकर विजय प्राप्त करूँगा अथवा अपना बलिदान देकर भारत माता का गौरव और अपना जीवन उज्ज्वल बना लूँगा।"

अजीतसिंह का उत्साह देखकर गुरु गोविन्दसिह हर्ष-विभोर हो उठे—वे बोले—"धन्य है पुत्र! जिस देश-जाति मे तुम जैसे बालक पैदा हो उसे अधिक दिनो तक कौन सता सकता है? लेकिन तुम अभी बहुत छोटे हो। युद्ध मे, सो भी निश्चित मृत्यु के युद्ध में भेजना उचित नही लगता। हम सब साथ ही चलकर आज धर्म-रक्षा में अपना अन्तिम बलिदान दे देंगे।"

अजीतसिह ने पुनः प्रार्थना की "आपका सुरक्षित रहना बहुत आवश्यक है। बहुत-सा कार्य करने के साथ ही आपको मेरे तीन भाइयों का पोषण तथा निर्माण करना है। अपने जीते जी मैं आपको असमय बलि पथ पर नही जाने दूँगा। आप मेरी आयु की ओर न देखें। अभिमन्यु केवल सोलह वर्ष का था मेरी आयु तो अठारह वर्ष की है। मैं भी उसी देश, उसी आर्य जाति और उन्ही वीर परम्पराओं की एक

ड़ी हूँ जिसके कि अभिमन्यु थे । आप मोह को छोड़
र युद्ध में जाने की आज्ञा दीजिये और उस सबको
हरा देने दीजिये जो कुछ दुर्भेद्य चक्रव्यूह में वीर
अभिमन्यु ने किया था ।"

गुरु गोविन्दसिंह ने अपने हाथ से बेटे को कवच
और झिलम पहनाया और अपने हाथ से सिरोही देकर
कहा—"जा भारत माता के वीर सपूत जा और रणांगण
। अपने वंश, अपने धर्म और अपनी परम्पराओं का
रिचय दे ।"

अजीतसिंह कतिपय मिष्ठ सैनिकों को लेकर किले
। निकला और अकाल पुरुष की जय बोलकर बाज
ी तरह शत्रु सेना पर टूट पड़ा । उस धर्म प्राण
ालक ने मुगल सेना को ऐसे काटना प्रारम्भ किया
से किसान पके खेत को काट कर गिरा देते हैं ।
खते ही देखते उसने बहुत से मुगल सरदारों को नरक
क घाट लगा दिया और समुद्र की तरह उस विशाल
ेना को विक्रान्त मकर की तरह मथ कर फेंक दिया ।
ुरु गोविन्दसिंह किले के ऊपर से अपने पुत्र का जौहर
खकर पुलकित हो रहे थे ।

जब मुगल सरदारों ने देखा कि यह काल का
कराल अंश बालक सेना को मथे डाल रहा है तो उन
ैकड़ों ने एक साथ ही चारों ओर से उस वीर बालक
को घेर लिया । उस पर एक साथ सैकड़ों तीर, सैकड़ों
बरछे, सैकड़ों तलवारें और सैकड़ों गोलियाँ बरसने लगीं ।
तब भी उस वीर से संध्या होते-होते हजारों को अपनी
तलवार का विषैला पानी पिलाकर सदा के लिये सुला
दिया । पश्चिम की ओर जाते भगवान भुवन भास्कर
ने देखा कि उसकी किरण के समान ही प्रज्वलित एक
नन्हीं सी ज्योति शिखा उस शत्रु सेना के तमस में पूरे
दिन दमकी और अब अस्त हो गई । गुरु गोविन्दसिंह
और उनके साथियों की आँखों से आँसू और मुख से
धन्य-धन्य के शब्द एक साथ निकल पड़े और वे नीचे
उतर गये किन्तु वे आँसू शोक के नहीं, आनन्द और
गौरव के थे ।

दूसरे दिन प्रातःकाल गुरु गोविन्दसिंह सोच ही रहे
थे कि अब क्या किया जाये कि तब तक उनके पन्द्रह
वर्षीय पुत्र जोरावरसिंह ने आकर प्रार्थना की—"पिताजी
मुझे भी भाई की तरह ही युद्ध में जाने की आज्ञा
दीजिये मैं भी उनका अनुसरण करूँगा । आज का दिन
मेरे बलिदान का दिन है ।" गुरु गोविन्दसिंह उसकी
भोली सूरत की ओर देखकर चिन्ता में पड़ गये, तभी
बालक ने फिर कहा—मालूम होता है आप मुझे इस
पुण्य बलिदान से वंचित कर देने की सोच रहे हैं ।
यदि आपने ऐसा किया तो मैं यही समझूँगा कि पिता
ने न्याय नहीं किया और मेरी वीरता पर अविश्वास
रखा । भाई को धर्म पर बलिदान हो जाने का अवसर
देकर यदि आप मुझे वंचित करेंगे तो मेरी दृष्टि में
पक्षपाती ठहरेंगे । मेरी प्रार्थना है कि आज, आप मुझे
युद्ध में जाने की आज्ञा दें । पिता ने कहा "पर बेटे
तुम तो अभी पन्द्रह साल के ही हो—ऐसी कम आयु
में ……… ।" पिता का वाक्य पूरा भी न हो पाया
कि जोरावरसिंह ने तत्काल कहा—"पिताजी गोरा बादल
तो केवल ग्यारह-बारह वर्ष के ही थे । छोटे बेटे की
बात सुनकर गुरु गोविन्दसिंह को सहसा हँसी आ गई
और उन्होंने यह कहते हुए कि "जा वीर तू भी जा
मुझे क्या अधिकार है कि मैं किसी वीर को उसके
अभीष्ट पथ से रोक सकूँ ?"—कवच और झिलम पहना
कर विदा कर दिया ।

नादान बच्चे को युद्ध में आया देखकर अपनी-अपनी
प्रवृत्ति के अनुसार बहुतों को हँसी आ गई तो बहुतों
की तलवारें शर्म से नीचे हो गईं और बहुत से क्रूर
आततायी उस पर आक्रमण करने को दौड़ पड़े । युद्ध
हुआ और तीन प्रहर तक शत्रुओं का विनाश करने के
बाद वह बाल वीर भी सहसा सैकड़ों सरदारों द्वारा
चारों तरफ से घेर लिया गया । उसकी एक भुजा
कट गई, एक पैर जाता रहा । फिर भी वह घोड़े
पर सवार उन अत्याचारी शत्रुओं से लोहा लेता रहा ।
पर अन्त में जब उसके शरीर मे एक साथ कई गोलियाँ
लग गईं तब वह वीर 'सत् श्री अकाल' के ब्रह्मघोष
के साथ गिरकर सदा सर्वदा के लिये अमर हो गया ।
गुरु गोविन्दसिंह ने एक उच्छ्वास भरा और किले से
नीचे उतर गये ।

पुत्रों का बलिदान देकर गुरु गोविन्दसिंह एक योजना
बनाकर आधी रात के घोर अन्धकार मे अपने शेष
साथियो के साथ किले से निकल कर एक ओर चल
पड़े, उनके साथी ठीक दूसरी ओर यह कहते हुए दौड़
पड़े कि "गोविन्दसिंह भागा जा रहा है, गोविन्दसिंह
भागा जा रहा है—दौड़ो, पकड़ो ।" मुगलों ने समझा

के साथ निकल पड़े । मुगलों ने बहुत प्रयत्न किया पर वे उस धर्मात्मा की विकट मार से विमुख होकर उनको अथवा उनके परिवार के किसी सदस्य को पकड़ सकने में सफल न हो सके । उस आपत्ति से वे सब निकल तो गये लेकिन विछुड़ गये । गुरु गोविन्दसिंह अपने दो बड़े बेटों के साथ एक ओर जा पड़े । उनकी माता अपने दो छोटे पोतों के साथ एक ओर और उनकी पत्नी एक ओर अकेली जा पड़ी । इस प्रकार बिछुड़ कर गुरु गोविन्दसिंह तो पुत्रों के साथ चमकौर जा पहुँचे, उनकी माता दोनों पोतो के साथ अपने रसोइये गंगू के अनुरोध पर उसके घर चली गईं और पत्नी किसी प्रकार दिल्ली पहुँच कर एक भक्त के यहाँ प्रच्छन्न हो गईं ।

चमकौर दुर्ग में बहुत ही थोड़े से सैनिक थे, साधन सामग्री भी नहीं के बराबर थी । तथापि गुरु ने हिम्मत से काम लिया और सारे लोगों में, पीछा करती आ रही मुगल सेना से जूझने का उत्साह प्रेरित किया । सभी लोग सजग तथा सन्नद्ध होकर शत्रु की प्रतीक्षा करने लगे ।

कुछ ही समय मे विशाल मुगल सेना ने आकर चारों ओर से चमकौर दुर्ग को घेर लिया । सामग्री के अभाव में किले के भीतर रह कर युद्ध चला सकना सम्भव न था । अस्तु गुरु गोविन्दसिंह ने कहा कि "आप जो थोड़े से लोग है वे किले मे इन बच्चों के साथ रहे और जब अवसर पायें तो किसी सुरक्षित दिशा मे निकल जायें और तब तक यवनो का अत्याचार समाप्त न हो जाये धर्म-युद्ध चलाते और दूसरों को चलाते रहने की प्रेरणा देते रहे । मैंने आज निश्चय कर लिया है कि अकेले ही जाकर शत्रु की सेना से लोहा लूँगा और धर्म पर बलिदान होकर अकाल पुरुष की गोद में चला जाऊँगा । मुझे स्पष्ट दिखलाई दे रहा है कि समय मेरा बलिदान चाहता है । आशा है उसकी माँग पूरी कर देने पर देश में पुनः धर्म-रक्षा का वही ज्वार आ जायेगा जो पिताजी के बलिदान से आया था ।"

गुरु गोविन्दसिंह का निश्चय सुनकर उनके दोनो पुत्र तथा साथी करुण हो उठे । उन्होने प्रार्थना की—"यदि समय बलिदान ही चाहता है तो पहले हम अपना बलिदान देंगे । आपका सुरक्षित रहना बहुत आवश्यक है । आप सुरक्षित रहेगे तो न जाने कितने धर्म-रक्षक वीर पैदा कर सकेंगे । आपके सहसा बलि हो जाने से देश के जागरण में निराशा आ जायेगी । यवनो का अन्याय अभी कम नही हुआ है । इस समय केवल आप ही देश के आशा केन्द्र बने हुए हैं । अन्याय के विरुद्ध देश में जन-जागरण तथा संगठन का काम करने के लिये आपका जीवित रहना नितान्त आवश्यक है ।"

साथियों की प्रार्थना सुनकर गुरु गोविन्दसिंह सोच मे पड़ गये और बोले—फिर भी तो शत्रुओं से, इस प्रकार कायरतापूर्वक घिरे रहना भी तो ठीक नही, उनकी रण लिप्सा पूरी करना आवश्यक है । इस समय मेरे सिवाय उनसे लोहा लेने के लिये जाने वाला कौन है ?

पिता की बात सुनकर उनके अठारह वर्षीय कुमार अजीतसिंह ने हाथ जोड़कर कहा—"पिताजी मेरे रहते हुए आपको इस प्रकार से निराश नहीं होना चाहिये । युद्ध के लिये मुझे आज्ञा दीजिये और देखिये कि मैं किस प्रकार इन आततायियो के छक्के छुड़ाता हूँ । आप विश्वास रखिये, या तो मैं इस विशाल शत्रु सेना को मार काटकर विजय प्राप्त करूँगा अथवा अपना बलिदान देकर भारत माता का गौरव और अपना जीवन उज्ज्वल बना लूँगा ।"

अजीतसिंह का उत्साह देखकर गुरु गोविन्दसिंह हर्ष-विभोर हो उठे—वे बोले—"धन्य है पुत्र ! जिस देश-जाति में तुम जैसे बालक पैदा हों उसे अधिक दिनो तक कौन सता सकता है ? लेकिन तुम अभी बहुत छोटे हो । युद्ध में, सो भी निश्चित मृत्यु के युद्ध में भेजना उचित नही लगता । हम सब साथ ही चलकर आज धर्म-रक्षा में अपना अन्तिम बलिदान दे देंगे ।"

अजीतसिंह ने पुनः प्रार्थना की "आपका सुरक्षित रहना बहुत आवश्यक है । बहुत-सा कार्य करने के साथ ही आपको मेरे तीन भाइयों का पोषण तथा निर्माण करना है । अपने जीते जी मैं आपको असमय बलि पथ पर नही जाने दूँगा । आप मेरी आयु की ओर न देखे । अभिमन्यु केवल सोलह वर्ष का था मेरी आयु तो अठारह वर्ष की है । मैं भी उसी देश, उसी आर्य जाति और उन्ही वीर परम्पराओं की एक

कड़ी हूँ जिसके कि अभिमन्यु थे । आप मोह को छोड़ कर युद्ध में जाने की आज्ञा दीजिये और उस सबको दुहरा देने दीजिये जो कुछ दुर्भेद्य चक्रव्यूह में वीर अभिमन्यु ने किया था ।"

गुरु गोविन्दसिंह ने अपने हाथ से बेटे को कवच और झिलम पहनाया और अपने हाथ से सिरोही देकर कहा—"जा भारत माता के वीर सपूत जा और रणांगण में अपने वंश, अपने धर्म और अपनी परम्पराओं का परिचय दे ।"

अजीतसिंह कतिपय सिख सैनिकों को लेकर किले से निकला और अकाल पुरुष की जय बोलकर बाज की तरह शत्रु सेना पर टूट पड़ा । उस धर्म प्राण बालक ने मुगल सेना को ऐसे काटना प्रारम्भ किया जैसे किसान पके खेत को काट कर गिरा देते हैं । देखते ही देखते उसने बहुत से मुगल सरदारों को नरक के घाट लगा दिया और समुद्र की तरह उस विशाल सेना को विक्रान्त मकर की तरह मथ कर फेंक दिया । गुरु गोविन्दसिंह किले के ऊपर से अपने पुत्र का जौहर देखकर पुलकित हो रहे थे ।

जब मुगल सरदारों ने देखा कि यह काल का कराल अंश बालक सेना को मथे डाल रहा है तो उन सैकड़ों ने एक साथ ही चारों ओर से उस वीर बालक को घेर लिया । उस पर एक साथ सैकड़ों तीर, सैकड़ों बरछे, सैकड़ों तलवारें और सैकड़ों गोलियाँ बरसने लगीं । तब भी उस वीर ने संध्या होते-होते हजारों को अपनी तलवार का विषैला पानी पिलाकर सदा के लिये सुला दिया । पश्चिम की ओर जाते भगवान भुवन भास्कर ने देखा कि उसकी किरण के समान ही प्रज्ज्वलित एक नन्हीं सी ज्योति शिखा उस शत्रु सेना के तमस में पूरे दिन दमकी और अब अस्त हो गई । गुरु गोविन्दसिंह और उनके साथियों की आँखों से आँसू और मुख से धन्य-धन्य के शब्द एक साथ निकल पड़े और वे नीचे उतर गये किन्तु वे आँसू शोक के नहीं, आनन्द और गौरव के थे ।

दूसरे दिन प्रातःकाल गुरु गोविन्दसिंह सोच ही रहे थे कि अब क्या किया जाये कि तब तक उनके पन्द्रह वर्षीय पुत्र जोरावरसिंह ने आकर प्रार्थना की—"पिताजी मुझे भी भाई की तरह ही युद्ध मे जाने की आज्ञा दीजिये मैं भी उनका अनुसरण करूँगा । आज का दिन मेरे बलिदान का दिन है ।" गुरु गोविन्दसिंह उसकी भोली सूरत की ओर देखकर चिन्ता में पड़ गये, तभी बालक ने फिर कहा—मालूम होता है आप मुझे इस पुण्य बलिदान से वंचित कर देने की सोच रहे हैं । यदि आपने ऐसा किया तो मै यही समझूँगा कि पिता ने न्याय नहीं किया और मेरी वीरता पर अविश्वास रखा । भाई को धर्म पर बलिदान हो जाने का अवसर देकर यदि आप मुझे वंचित करेंगे तो मेरी दृष्टि में पक्षपाती ठहरेंगे । मेरी प्रार्थना है कि आज, आप मुझे युद्ध में जाने की आज्ञा दें । पिता ने कहा "पर बेटे तुम तो अभी पन्द्रह साल के ही हो—ऐसी कम आयु में ......... ।" पिता का वाक्य पूरा भी न हो पाया कि जोरावरसिंह ने तत्काल कहा—"पिताजी गोरा बादल तो केवल ग्यारह-बारह वर्ष के ही थे । छोटे बेटे की बात सुनकर गुरु गोविन्दसिंह को सहसा हँसी आ गई और उन्होंने यह कहते हुए कि "जा वीर तू भी जा मुझे क्या अधिकार है कि मै किसी वीर को उसके अभीष्ट पथ से रोक सकूँ ?"—कवच और झिलम पहना कर विदा कर दिया ।

नादान बच्चे को युद्ध में आया देखकर अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार बहुतों को हँसी आ गई तो बहुतों की तलवारें शर्म से नीचे हो गईं और बहुत से क्रूर आततायी उस पर आक्रमण करने को दौड़ पड़े । युद्ध हुआ और तीन प्रहर तक शत्रुओ का विनाश करने के बाद वह बाल वीर भी सहसा सैकड़ों सरदारो द्वारा चारों तरफ से घेर लिया गया । उसकी एक भुजा कट गई, एक पैर जाता रहा । फिर भी वह घोड़े पर सवार उन अत्याचारी शत्रुओं से लोहा लेता रहा । पर अन्त में जब उसके शरीर में एक साथ कई गोलियाँ लग गईं तब वह वीर 'सत् श्री अकाल' के ब्रह्मघोष के साथ गिरकर सदा सर्वदा के लिये अमर हो गया । गुरु गोविन्दसिंह ने एक उच्छ्वास भरा और किले से नीचे उतर गये ।

पुत्रों का बलिदान देकर गुरु गोविन्दसिंह एक योजना बनाकर आधी रात के घोर अन्धकार मे अपने शेष साथियो के साथ किले से निकल कर एक ओर चल पड़े, उनके साथी ठीक दूसरी ओर यह कहते हुए दौड़ पड़े कि "गोविन्दसिंह भागा जा रहा है, गोविन्दसिंह भागा जा रहा है—दौड़ो, पकड़ो ।" मुगलो ने समझा

कि उनके साथी चिल्ला रहे है सबके सब उसी दिशा में दौड़ पड़े, दूसरी दिशा में जिधर गुरु गोविन्दसिंह जा रहे थे किसी का ध्यान ही न गया। गुरु गोविन्दसिंह तो इस योजना के अनुसार सुरक्षित निकल गये पर पता चलने पर वे सिख सैनिक मुगलो के द्वारा टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये।

चमकौर से चलकर जिस समय गुरु गोविन्दसिंह अकेले पैदल ही जंगलों, पहाड़ों, नाली-नालों तथा आपत्तियों को पार करते हुए मालवा की ओर जा रहे थे उस समय आनन्दगढ़ से गुरु के शिष्यत्व से त्यागपत्र देकर गये हुए वे चालीस सैनिक अपने-अपने घरों पर पहुँचे। लोगों ने उनका और गुरु गोविन्दसिंह का समाचार पूछा। जब पता चला की यह कायर आपत्ति में गुरु का साथ छोड़कर चले आये हैं तो उनके घर की स्त्रियों तक ने उन्हें धिक्कारा और कहा कि इस प्रकार धर्म से मुँह मोड़ कर और गुरु का साथ छोड़कर तुम्हें शर्म नहीं आई। जिस मौत से डरकर तुम घर भाग आये हो यहाँ क्या बच जाओगे? बल्कि यहाँ तो विस्तर पर पड़कर और भी निकृष्ट मौत मरोगे। यदि धर्म में प्राण दे दिये होते तो निश्चय ही स्वर्ग के अधिकारी बनते। इस प्रकार वे जिधर जाते उन्हें धिक्कार और लांछन का पात्र बनना पड़ता था। उन्हें अपनी स्थिति तथा भूल का आभास हुआ और तुरन्त ही गुरु की खोज करते हुए घरों से चल दिये।

इधर विश्वासघाती गंगू रसोइये की अक्ल पर पत्थर पड़ गये। वह पापी अपने घर मे आश्रय लिये गुरु गोविन्दसिंह के पुत्रों तथा माता से घात करने की सोचने लगा। उसका मन उनकी उस जेवरात तथा जवाहरात की पिटारी पर ललचा उठा जो आपत्तिकाल के लिये माताजी अपने साथ ले आई थीं। एक दिन उसने वह पेटी गायब ही कर दी और प्रसिद्ध कर दिया कि चोरी हो गई। पर उसका पापी मन आश्वस्त न हो सका। उसे डर था कि माता ने उसकी चाल समझ ली है। निदान उसने उन्हे समाप्त कर देने की ठानी किन्तु उसे उन सिंह सन्तानो और सिंह जननी पर हाथ उठाने की हिम्मत ही न पड़ी। उस लोभी ने सोचा कि यदि इन सबको सरहिन्द के सिपाहियों द्वारा गिरफ्तार करा दूँ तो यह पेटी तो मेरी हो ही जायेगी साथ मे नवाब की तरफ से भी बहुत-सा इना[म] मिलेगा और एक दिन उसने वैसा ही किया।

नवाब सरहिंद के पास जाकर उसने गुरु गोविन्दसिं[ह] की माता और उनके पुत्रों की खबर दे दी। वे स[ब] गिरफ्तार कर लिये गये। पर जब गंगू ने नवाब स[े] इनाम के लिये प्रार्थना की तो उसने यह कहकर उस[े] जल्लादों के सुपुर्द कर दिया कि इस कौमी गद्दार को भी ले जाकर कुत्ते की मौत मार डालो। जल्लाद उस विश्वासघाती को ले गये और उसके टुकड़े-टुकड़े करके चील-कौवों को खिला दिये। एक देशद्रोही, विश्वासघाती का जो अन्त होना चाहिये वही गंगू रसोइये का हुआ।

"मालवा की ओर खुले रास्ते से जाना निरापद नही था। जगह-जगह पर शत्रु के सैनिक उनकी खोज में घूम रहे थे। इसलिये गुरु गोविन्दसिंह जंगली रास्तों से झाड़-झंखड़ों को पार करते और वृक्षों के नीचे रात बिताते हुए यात्रा कर रहे थे। इस यात्रा में उनके पास न घोड़ा था और न कोई साथी। इस आपत्तिपूर्ण एकाकी स्थिति में वे यदा-कदा नियति-चक्र की गति पर विचार करने लगते। वे सोचते "मनुष्य जीवन में सफलता-असफलता, आशा-निराशा, सम्पत्ति-विपत्ति का उसी प्रकार साथ है जिस प्रकार दिन और रात का। वह दिन अभी दूर नही गया है जब मेरे साथ हजारों लोग थे। मेरे एक संकेत पर लोग प्राण हथेली पर रखकर युद्ध में ऐसे चल देते थे मानो किसी उत्सव मे भाग लेने जा रहे हों। मेरे एक-एक शब्द से लोगो को प्रेरणा मिलती थी और लोग मेरे बतलाये पथ पर चल पड़ते थे।"

"मेरा एक परिवार था। माता, पत्नी और चार बेटे। दो तो मेरे देखते-देखते युद्ध-देव की भेंट चढ़ गये। दो का पता नहीं कहाँ भटक रहे होंगे। कौन जाने वे जीवित भी होंगे या आततायियों ने उन्हे कहीं पाकर शहीद कर दिया होगा। मेरी माता जिनकी मैं पूजा किया करता था न जाने कहाँ ठोकरे खा रही होंगी। पत्नी, जिसका आजीवन साथ निभाने के लिये मैं वचनबद्ध था, नियति-चक्र के वेग में पड़कर न जाने कहाँ पहुँची होगी। मैं एकाकी इस जंगल में भटक रहा हूँ।"

यह विषम तथा दुःखद स्थिति जिसे लोग दुर्भाग्य अथवा दुर्विपाक समझकर खिन्न, दुःखी और विनष्ट होने

लगते हैं । यथार्थ में मनुष्य की सहनशीलता, धीरता और कर्त्तव्य-निष्ठा की परीक्षा-कसौटी हुआ करती है । शिथिल संकल्प के लोग ऐसी दशा में घवरा कर निराश हो जाते हैं और प्रायः कर्त्तव्य से विमुख हो जाते है । कर्त्तव्य वड़ा कठोर होता है उसके निर्वाह के लिये कभी-कभी मनुष्य को संसार के सारे सम्बन्धों और सारी सम्पदाओं से विमुख होना पड़ता है । आज वही कसौटी मेरे सामने उपस्थित है किन्तु अपनी धर्म-निष्ठा के बल पर मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं इस कठोर परीक्षा को दे सकूँगा और उत्तीर्ण होऊँगा जो धीर पुरुष धर्म का साथ नहीं छोड़ता, धर्म उसे हर आपत्ति से पार लगा देता देता है । धर्म में जीवन है, प्राण है, गुरु, बन्धु और सखा है । मैं उसे नहीं छोड़ सकता और उस कर्त्तव्य से भी विमुख नहीं हो सकता जिसे मैंने ठीक समझ कर ग्रहण किया है । इसके लिये चाहे मुझे इससे भी अधिक विपत्तियों से गुजरना पड़े ।

विचार शृंखला के टूटने पर गुरु गोविन्दसिंह ने देखा कि वे एक गाँव में आ गये है । उन्हें शंका हुई कि कही शत्रुओं के हाथ में न पड़ जाऊँ । उस गाँव का नाम मछवाडा था । वहाँ के दो पठानों ने गुरु जी को देखा और पहचान लिया । वे पास आये और प्रणाम करके बोले—"महाराज अब आप आगे न जायें । चारों ओर मुगलों की सेना पड़ी हुई है और बड़ी तत्परता से आपकी खोज की जा रही है । यद्यपि हम मुसलमान हैं फिर भी आपके शुभचिन्तक हैं । हम जानते हैं कि आप हिन्दू-मुसलमानों का सवाल लेकर नहीं लड़ रहे हैं । आप अन्याय के विरुद्ध संघर्ष कर रहे है । आपने न्याय के लिये अपनी सम्पत्ति और परिवार तक को वलिदान कर दिया है, यह बात किसी से छिपी नही है । आततायी और अन्यायी, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, असामाजिक ही होता है । उसका विरोध होना ही चाहिये और उस विरोध मे हर एक आदमी को शामिल होना चाहिये, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान । जो न्याय के लिये लड़ रहा हो, अन्याय को मिटाने के लिये संघर्ष कर रहा हो, उसका साथ सबको देना ही चाहिये । हम आपकी और कोई सेवा तो नही कर सकते, यहाँ से सुरक्षित जरूर निकाल देंगे ।"

उन पठानो का व्यवहार देखकर गुरु गोविन्दसिंह सोच उठे । यह भी एक मुसलमान हैं जो आपत्ति-ग्रस्त अन्य धर्मावलम्बी की सहायता करना चाहते हैं और एक वे मुसलमान भी हैं जो निर्बलों तथा निरपराधियों पर अत्याचार करते हैं । अच्छा, बुरा होना हिन्दू या मुसलमान होने पर निर्भर नहीं है बल्कि यह मनुष्यों का अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार एक स्वभाव होता है ।

उन पठानो ने गुरुजी को मुसलमान मौलवियों के वेश में अपने कन्धो पर चढ़ा कर खतरे से बाहर निकाल दिया । गुरु गोविन्दसिंह घनाली ग्राम होते हुए किसी तरह रायगढ़ पहुँच गये । रायगढ़ में गुरु का आगमन सुनकर फिर लोग अस्त्र-शस्त्र ले-लेकर उनके पास एकत्र होने और युद्ध की तैयारी करने लगे ।

जिस समय गुरु गोविन्दसिंह रायगढ़ में पुनः युद्ध की तैयारी कर रहे थे उस समय नवाब सरहिंद उनके दोनों नन्हें वालको को मुसलमान बनाने का प्रयत्न कर रहा था । उसने उन्हें अपने सामने पेश कराया और कहा—तुम दोनो बड़े प्यारे बच्चे हो । माना कि तुम मुसलमानों के दुश्मन गोविन्दसिंह के लड़के हो तब भी हम तुम्हारी छोटी उम्र देखकर माफ कर देगे । तुम दोनों मुसलमान हो जाओ । हम तुम्हारी शादियाँ शाहजादियों से करा देंगे और जागीर बख्श देंगे । सुख-चैन की जिन्दगी काटना ।

उस सात और नौ साल के सिंह बच्चों ने तुरन्त उत्तर दिया कि नवाब ऐसी बात मुँह से मत निकालो । कहीं अपना धर्म छोड़कर दूसरों का धर्म ग्रहण किया जाता है । धर्म के मूल्य पर सुख-चैन की कामना करने वाले कायर नरक के कीड़े बनते हैं । जिसके कुल ने अपने धर्म की रक्षा में सर्वस्व बलिदान कर दिया है, वे मुसलमान हो जायेंगे ऐसी आशा आपने किस भ्रम मे बना ली ।

नवाब ने उन्हें धमकाया, मरवा डालने की धमकी दी पर वे दोनों अपने धर्म पर पर्वत की तरह अटल बने रहे । उनकी निर्भीकता, दृढ़ता और धर्म-निष्ठा देखकर नवाब सरहिंद जल-भुन कर खाक हो गया । उसने दरबार को सम्बोधित करके कहा कि लोग बताये कि इन काफिर सपोलो को क्या सजा दी जाये ? दरबार के हर विवेकशील व्यक्ति ने कहा कि यह तो अभी बच्चे हैं, निरपराध हैं, इनको कोई भी सजा न दी जानी चाहिये । ये रहम और मोहब्बत के हकदार है । इन्हे माफ किया जाये और रिहा कर दिया जाये किन्तु धर्मान्ध नवाब को उनकी राय पसन्द न आई । वह तो उन्हे मुसलमान बनाने या प्राण ले लेने पर उतारू था । उसने फिर उनसे मुसलमान हो जाने

के लिये कहा पर जब वे किसी प्रकार न माने तो उसने उन्हें किले की दीवार में चुनवा देने का हुक्म दे दिया ।

उन वीर बालकों की दीवार मे चुनवाई शुरू हो गई । नबाव सरहिंद खड़ा-खड़ा वह पाप देखता रहा । बीच में उसने फिर कहा—"लड़कों अगर अब भी तुम मुसलमान होना मंजूर कर लो तो सीने तक आई यह दीवार अब भी तोड़ी जा सकती है । नहीं तो यह पूरी कर दी जायेगी और तुम उसमें दब कर मर जाओगे ।" बच्चों ने मुस्कराते हुए फिर उत्तर दिया, "नवाब जुबान बन्द करो । इस प्रकार धर्म पर बलिदान हो जाने मे बढ़कर जिन्दगी का और क्या महत्त्व हो सकता है । दीवार आगे बढ़ी और छोटे भाई की आँखों तक जा पहुँची । यह देखकर बड़े भाई जुझारसिंह की आँखों में आँसू आ गये । नवाब समझा शायद बालकों का धैर्य और साहस जाता रहा है । वे मौत को मुख के पास देखकर डर गये । वह बोला अब भी समय है । यदि मुसलमान हो जाओ तो अपने प्राण बचा सकते हो ।" बड़े भाई ने तुरन्त उत्तर दिया, "जीवन तो नश्वर है । उसे एक दिन नष्ट ही होना है उसके लालच में आकर धर्म से च्युत होने का क्या अर्थ ।" तब तुम्हारे आँखों में आँसू क्यो ? नवाब ने फिर पूछा । जुझारसिंह ने कहा—"संसार में पहले मैं आया । देश-धर्म पर पहले मुझे बलिदान होना चाहिये । किन्तु देख रहा हूँ कि यह गौरव मेरा छोटा भाई लिये जा रहा है । इसी दुःख से मेरी आँखें गीली हो गई है । बच्चे की बात सुनकर सभी के मस्तक आदर में नत हो गये किन्तु नवाब सरहिंद तो अपने सिर कलक लेना ही चाहता था । उसने अन्तिम ईंटें रखने का आदेश दे दिया । इधर जल्लाद ईंटें रखने का उपक्रम कर रहा था और उधर यह पवित्र वाणी गूँज रही थी ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

दीवार पूरी हो गई और गुरु गोविन्दसिंह के वे दोनों नौनिहाल सदा सर्वदा के लिये उसमे समाहित हो गये किन्तु तब भी चलते समय लोग दूर तक उस बलिसमाधि से निकलती हुई 'ओ३म्-ओ३म्' की प्रणव प्रतिध्वनि सुनते ही रहे ।

रायकोट में अपने दोनों छोटे पुत्रों के [illegible] का समाचार पाकर गुरु गोविन्दसिंह हर्ष से गद्[illegible] उठे । उनकी आँखों से आनन्द की अश्रुधा[illegible] चली । वे बोले—"जिस पवित्र धर्म पर ऐसे-ऐ[illegible] स्वाभिमानपूर्वक अपना बलिदान देने लगे उस [illegible] संसार मे कौन मिटा सकता है ? जल्दी ही अत्या[illegible] का अन्त होगा और देश के सुदिन फिर लौटें[illegible]

रायकोट से संगठन करते हुए जिस सम[illegible] गोविन्दसिंह नादेड़ पहुँचे उस समय उन्हें पता च[illegible] यहाँ पर एक बड़ा वीर वैरागी रहता है किन्तु [illegible] कारणों से उसे वैराग्य हो गया और वह तरुण [illegible] में ही संयास लेकर बनवासी हो गया है । [illegible] तुरन्त उसके पास पहुँचे और बोले—"वैरागी क[illegible] देश-धर्म पर छाई हुई आपत्ति का आभास नही [illegible] सन्त का कर्त्तव्य तो पीड़ितों का कष्ट दूर क[illegible] पर तुम ऐसे सन्त हो कि जिस समय देश-[illegible] तुम्हारी सेवाओं की आवश्यकता है उस सम[illegible] एकान्त सेवन करते हुए वन में बैठे हुए हो [illegible] भजन से ही किसी को मुक्ति नहीं मिल स[illegible] इसके लिये संसार में सत्कर्म भी करने होते है [illegible] समय समाज पर आपत्ति के बादल बरस रहे [illegible] समय केवल अपनी मुक्ति के लिये समाज से दूर[illegible] प्रयत्न करना घोर स्वार्थ है । इसका प्रतिपाद[illegible] से मनुष्य को मुक्ति नही मिल सकती । अ[illegible] सच्ची साधना देश-धर्म के लिये लड़ते-लड़ते म[illegible] है । इसलिये उठो और देश-धर्म के प्रति अपने [illegible] कर्तव्य का पालन करो ।"

गुरु गोविन्दसिंह के प्रेरणा भरे वचन सुन[illegible] वैरागी, जो बन्दा के नाम से प्रसिद्ध था उठा औ[illegible] से शस्त्र लेकर पंजाब की ओर चल दिया । पं[illegible] उसने धर्म सेना का सगठन किया और पजाब में ध[illegible] की दुन्दुभी बजा दी । बड़ा भयंकर युद्ध हुआ [illegible] युद्ध में बन्दा और उसके साथियों की विजय [illegible] सरहिन्द का नवाब और सेना मारी गई । [illegible] पंजाब का पूरा प्रदेश जीतकर उस पर हिन्दू-ध[illegible] झण्डा फहरा दिया और इस प्रकार उस एक [illegible] अपने साथियों के सहयोग से सदियों से चला [illegible] मुसलमान शासन को पंजाब से उखाड फेंका ।

गुरु गोविन्दसिंह को जब इस विजय का पत[illegible] तो वे बड़े प्रसन्न हुए और लोगों से कहने लगे— लोगो को और भी सगठित तथा सावधान हो

चाहिये क्योंकि सरहिंद की पराजय से खिन्न होकर दिल्ली का बादशाह और पंजाब के आसपास के यवन शासक मिलकर पंजाब में अंकुरित स्वतन्त्रता के पौधे को उखाड़ फेकने का प्रयत्न करेंगे ।"

गुरु गोविन्दसिंह का अनुमान ठीक निकला । दिल्ली के बादशाह औरंगजेब ने तीस-चालीस हजार सेना और उसके नायक अब्दुलसमन्द खाँ को पजाब मे संगठन तथा वीर बन्दा को मिटा डालने के लिये भेजा । अब्दुलसमन्द ने पंजाब के आसपास के यवन शासकों को संगठित किया और कई लाख सेना से बन्दा पर आक्रमण कर दिया । वीर बन्दा वैरागी ने भी वहाँ के हिन्दू राजाओं को संगठित किया किन्तु वे सब तो विलास की नालियों में पड़े देश-धर्म को भूले हुए थे । वीर बन्दा वैरागी उस विशाल भववाहिनी में घिर गया । उसकी सेना तथा खाद्य सामग्री कम हो गई । भूखों मरने की स्थिति आ गई । विवश होकर उसने अपने शेष साथियो को लेकर शत्रु से जूझ जाना ही ठीक समझा ।

निदान वह अपने बचे हुए थोडे से साथियो को लेकर यवनों की विशाल सेना मे धँस गया और ऐसा भयंकर युद्ध किया कि उनके छक्के छूट गये किन्तु अन्त में एक-एक साथी के मारे जाने पर वह वीर भी वन्दी हो गया ।

वीर बन्दा वैरागी को गिरफ्तार करके दिल्ली लाया गया । औरंगजेब ने उसके सामने मुसलमान हो जाने का प्रस्ताव रखा । उसने उसके प्रस्ताव पर घृणा प्रकट करते हुए कहा—ना-समझ बादशाह तुम प्राणो का भय दिखला कर एक धर्मवीर को उसके धर्म से विचलित नही कर सकते । औरंगजेब ने बन्दा के शरीर की बोटी-बोटी गरम चीमटो से बाहर निकलवा ली । यहाँ तक कि उसका हड्डियों का ढाँचा मात्र शेष रह गया किन्तु वह अपने धर्म से न तो विचलित हुआ और न उसने आह भरी । अन्त मे वह हँसता-हँसता 'सत् श्री अकाल' का घोष करता हुआ भूमि पर गिरकर स्वर्ग सिधार गया ।

गुरु गोविन्दसिंह उन दिनो गोदावरी के तट पर नगीना नाम का घाट बनवा रहे थे । दिन भर उस काम मे व्यस्त रहकर वे सायंकाल प्रार्थना कराते और लोगों को संगठन तथा बलिदान का उपदेश दिया करते थे । उन दिनों उनके पास अनेक मुसलमान शिष्य भी रहते थे किन्तु उन मुसलमान भक्तों में एक शत्रु भी छिपा हुआ था । उसका नाम अताउल्ला खाँ था । उसका पिता पैदे खाँ एक युद्ध में गुरुजी के हाथ से मारा गया था । उसके अनाथ पुत्र को गुरु जी ने आश्रम में रखकर पाल लिया था किन्तु उनकी यही दया और शत्रु के पुत्र के साथ की गई मानवता उनके अन्त का कारण बन गई ।

दुष्ट अताउल्ला खाँ हर समय इस घात में रहता था कि कब गुरु जी को अकेले असावधान पाये और मार डाले । निदान एक दिन उसने पलंग पर सोते हुए गुरुजी की काँख में छुरा भोंक दिया । गुरुजी तत्काल सजग होकर उठ बैठे और वही कटार निकाल कर भागते हुए विश्वास घाती को फेंककर मारी । वह कटार उसकी पीठ मे धँस गई । अताउल्ला खाँ तुरन्त गिरकर ढेर हो गया ।

गुरु के घाव पर टाँके लगा दिये गये । सांयकाल उन्होने प्रार्थना सभा में लोगों को बतलाया कि मेरी इस घटना से शिक्षा लेकर हर सज्जन व्यक्ति को यह नियम बना लेना चाहिये कि यदि शत्रु पक्ष को, निराश्रय की स्थिति में सहायता भी करनी हो तो भी उसे अपने निकट न रखना चाहिये और सदा उससे सावधान रहना चाहिये क्योकि कभी-कभी असावधान परोपकार भी अनर्थ का कारण बन सकता है ।

तभी औरंगजेब मर गया और बहादुर शाह ने धार्मिक अत्याचार वन्द कर गुरु जी से सन्धि कर ली । उसने गुरु जी की सेवा मे बहुत से अस्त्र-शस्त्र तथा धन भेजा । उसी के साथ एक ऐसी कमान भेजी, जो सामान्यतः लोगो से उठती भी न थी । पर गुरु गोविन्दसिंह ने उसे बलपूर्वक झुकाकर चढ़ा दिया । इसी क्रिया मे उनके जख्म के टाँके टूट गये और रक्त की धारा वह चली । गुरु गोविन्दसिंह चारपाई पर पड़ गये । उनके घाव के रक्त-प्रवाह को रोकने का बहुत प्रयत्न किया गया पर वह न रुका और उसी मे कार्तिक ८, सम्वत् १७६५ मे सिक्खों के दसवे गुरु का स्वर्गवास हो गया ।

ꕤꕤꕤ

# || ज्ञान क्रांति के अग्रदूत ||

## व्यावहारिक अध्यात्म के धनी
## श्री जुगलकिशोर बिरला

पिलानी (राजस्थान) में बिरला जी का एक कृषि-फार्म है । एक दिन जुगलकिशोर जी ताँगे पर बैठकर उसी फार्म को जा रहे थे । मार्ग में उन्होंने एक ग्राम निवासी वृद्ध-दम्पति को देखा, जिन्हें चौकीदार ने फार्म के भीतर होकर जाने से रोक दिया था, क्योंकि हर तरह के आदमियों के आने-जाने से वहाँ कभी-कभी चोरी हो जाती थी । वे बुड्ढे-बुढ़िया आपस में कह रहे थे कि अब चक्कर खाकर जाना पड़ेगा, जिससे गाय को दुहने में देर हो जायेगी और बछड़ा बेचैन होगा । यह चर्चा श्री जुगलकिशोर जी ने सुन ली और उसी समय ताँगे से उतरकर ताँगे वाले को आदेश दे दिया कि वृद्ध-दम्पति को बैठाकर जल्दी से उनके गाँव पहुँचा दे । ग्रामीण इतनी सहानुभूति पाकर गद्‌गद् हो गये और नेत्रो मे पानी भर आया । उन्होने बड़ी विनय की कि वे ऐसा न करें उनका कोई खास नुकसान नहीं होगा, पर बिरला जी ने उनकी एक न सुनी और उन्हें ताँगे में बैठाकर स्वय पैदल चल पड़े ।

पिलानी में एक बार मूसलाधार वर्षा हुई, जिससे चारो तरफ जल भर गया और कच्चे मकान धड़ाधड़ गिरने लगे । देखते-देखते अनेक लोग बिना घरबार के हो गये । यह देखकर वहाँ के बिरला कॉलेज के अध्यापक और विद्यार्थी सहायता के लिये पहुँचे और गरीबों की झोंपड़ियों के पास से पानी को काटकर निकालने का प्रयत्न करने लगे । इतने में देखा गया कि जुगलकिशोर जी स्वयं भी धोती चढ़ाये और वर्षा मे भीगते हुए वहाँ उपस्थित हैं । उसी समय उन्होंने व्यवस्था की कि जिनके घर टूट गये हैं उनको अतिथिगृह और 'कुबेर भंडार' मे ले जाकर टिका दिया जाये । हरिजन लोगों के घर भी डूब रहे थे, पर उन्होंने तब तक अपने घरों को छोड़ने में असहमति प्रकट की कि जब तक उनका सामान भी उनके साथ सुरक्षित न पहुँचा दिया जाये । बिरला जी ने विद्यार्थियो से कहकर उनका सामान उन्हीं की चारपाइयों पर रखकर ठहरने की जगह पहुँचाने की व्यवस्था कर दी । जब तक लोग उनके यहाँ ठहरे तब तक सबको भोजन भिजवाते रहे और जब पानी हट गया तो मकानो की मरम्मत के लिये ईंट, बल्ली, टीन आदि भी दिये जाने का प्रबन्ध कर दिया ।

ये घटनायें बहुत बड़ी नही हैं, पर जब एक ऐसा व्यक्ति, जिसे भारतवर्ष का सबसे बड़ा उद्योगपति और धनकुबेर माना जाता हो, बिना कहे अपने मन से इस प्रकार के कार्यों में भाग लेता है और उनके लिये असुविधा भी सहन करता है, तो यह कहना पड़ता है कि अवश्य ही उनके हृदय में सहृदयता और मानवता की भावना है । श्री जुगलकिशोर जी के दर्जे के व्यक्ति कदाचित् ही स्वय उपस्थित होकर सेवा कार्यों में भाग लेते है । उनके सभी आदेश नौकरों तथा रुपया खर्च करके पूरे हो जाते है । पर यह जुगलकिशोर जी मे आन्तरिक सेवा-भावना और अहंकार शून्यता थी कि सामान्य लोगों की सहायता करने को स्वयं तैयार रहते थे ।

श्री जुगलकिशोर बिरला का जन्म सन् १८८७ मे पिलानी (राजस्थान) मे हुआ था । आपका वश उसी समय से व्यापारिक क्षेत्र मे प्रसिद्ध था, इसलिये आपकी शिक्षा-दीक्षा विशेप रूप से उसी दिशा मे हुई । आपके पिता श्री बलदेव दास जी बिरला की मान्यता थी कि "उतना ही पढो, जितना काम आवे, विद्वान व्यक्ति व्यापारी नहीं हो सकता ।" इसलिये श्री जुगलकिशोर जी

ो वाणिज्य-व्यापार के हिसाब-किताब और कुछ लिखना कड़ी की पट्टी पर ही सिखा दिया गया। इसके बाद ी आप पैतृक व्यापार में भाग लेने लगे और इस कार्य ं अच्छी सफलता प्राप्त करके दिखाई। पर इधर कई र्षों से व्यवसाय के संचालन का भार अन्य भाइयों ने ठा लिया था, आप अपना पूरा समय समाज सेवा ौर हिन्दू जाति के उत्कर्ष मे ही लगा रहे थे।

## ात्विक दानी

उन्होंने जो दिल्ली, मथुरा, पटना आदि में बड़े-बड़े बिरला मन्दिर बनवाये हैं और उन्हीं के साथ 'वेद-मन्दिर' (गुरुकुल कांगड़ी) और विश्वनाथ मन्दिर (हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस) भी तैयार करके उन संस्थाओं को दे दिये हैं, उनकी चर्चा हम अधिक नहीं करते। वे तो ऐसे काम हैं, जो सामान्य आदमियों के क्षेत्र से बाहर है यद्यपि उनके निर्माण का समस्त भार जुगलकिशोर जी ने ही उठाया पर उनके कारण समस्त बिरला-परिवार का नाम देश भर में फैला है। हमारी दृष्टि में उनका अधिक महत्त्व उन कामों के लिये है, जिसको वे हिन्दू-धर्म की सेवा और प्रगति के लिये निरन्तर करते रहे थे और जिनके विषय में सर्वसाधारण को अभी तक कुछ अधिक ज्ञात न था। कारण यह था कि श्री जुगलकिशोर जी सात्विक दान के नियम के मानने वाले थे। इसलिये वे जो कुछ देते थे उचित कार्य और पात्र को देखकर चुपचाप दे देते थे। 'गीता' में कहा गया है—

दातव्यमिति यद्दान दीयते अनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकम् स्मृतम्॥

"अर्थात् वही दान सात्विक कहलाता है जो कर्त्तव्य बुद्धि से किया जाता है, जिसमें योग, देश, काल और पात्र का विचार किया जाता है और जो अपने साथ प्रत्युपकार न करने वाले को दिया जाता है।"

इसका एक उदाहरण पिलानी में मिला। वहाँ उनकी पैतृक हवेली में जो बुड्ढा मेहतर झाड़ू देता था, वह एक दिन उनको दिखाई नहीं दिया और उसकी जगह एक युवा मेहतर काम करता दिखाई पड़ा। पूछने पर नये मेहतर ने बताया कि "मैंने आपकी बड़ी सराहना सुनी थी और इससे आपकी सेवा करने का इच्छुक था। मैंने पुराने मेहतर से अपने मन की बात कही, तो उसने इसके लिये सात सौ रुपया माँगे। मैंने उतने रुपये उसे दे दिये और मुझे आपकी सेवा का अवसर मिल गया।" यह सुनकर बिरला जी ने पुराने मेहतर को बुलाया। उसे एक मीठी-सी फटकार लगाकर कहा "मुझे काम तुम्हीं से कराना है। रुपये की जरूरत थी तो मुझसे कहना चाहिये था।" उसी समय एक हजार रुपये देकर उसे कर्ज से मुक्त करा दिया।

श्री बनारसी दास जी चतुर्वेदी ने उनकी इस प्रकार की दानशीलता के कई उदाहरण अपने संस्मरणों में लिखे हैं। चतुर्वेदी जी ने जब जिस सार्वजनिक कार्य के लिये कहा, उन्होंने तुरन्त उसकी पूर्ति कर दी। इन सहायता कार्यों में एक विशेषता यह भी थी कि चतुर्वेदी जो पैंतीस वर्ष पूर्व अपने द्वारा सम्पादित 'विशाल भारत' मे उनकी बड़ी कठोर आलोचना कर चुके थे। वे स्वयं लिखते हैं—"मैंने जुगलकिशोर जी के धार्मिक कार्यों के वर्णन में ऐसी अशिष्ट भाषा का प्रयोग किया था कि इस समय उसको उद्धृत करना भी मेरे लिये लज्जाजनक होगा।"

अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद की माता घोर आर्थिक संकट में थीं। यह सूचना किसी प्रकार समाचार पत्रों में छपा दी गई और नेहरू जी को पत्र द्वारा सूचना दी गई। पत्र पढ़ते ही नेहरू ने २५० रुपये का चेक भेजा, पर उससे भी पहले श्री जुगलकिशोर जी का पत्र चतुर्वेदी जी के पास पहुँच गया—

"नमस्ते! शहीद चन्द्रशेखर आजाद की वृद्धा माता के विषय में समाचार पत्रों में छपा पढ़ा। इसके आधार पर माताजी की सेवा में १६० रु. आपके द्वारा भिजवाये हैं। आशा है इस बीच में सरकार की भी सहायता मिलने लग जायेगी, अन्यथा फिर सूचना दें।"

पंजाब मार्शल लॉ के समय तीरथराम पंजाबी को लम्बी सजा दी गई थी। भारत विभाजन के बाद तीरथराम भी दिल्ली आ गये और बड़े आर्थिक संकट में दिन गुजारने लगे। चतुर्वेदी जी ने उनका मामला पत्रों मे छपवा दिया इससे पहले जुगलकिशोर जी ने ही २०० रुपये भेजकर उनकी सहायता की।

हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यिक श्री जहूरबख्श जी ने चतुर्वेदी जी को एक पत्र भेजा कि मेरे मकान में आग लगा दी गई है, जिससे बड़ी हानि हुई है और मैं संकट में हूँ। चतुर्वेदी जी ने इसकी सूचना जुगलकिशोर जी को भेज दी, जो उस समय काश्मीर में थे।

उन्होंने उसी समय २५० रु. उनके पास भेज दिये फिर नियमित रूप से मासिक सहायता भी भिजवाते रहे ।

एक जाट लड़के को ईसाई मिशनरियों ने बहका लिया । उसने अपनी दुरावस्था चतुर्वेदी जी के पास लिखकर भेजी, कि यदि कुछ रुपये मिल जायें तो मैं इनके बन्धन से मुक्त हो सकता हूँ । जब यह समाचार बिरला जी को भेजा गया तो उन्होंने सहायता करके उसे छुड़वा दिया और बाद में भी कुछ मदद दी ।

फिरोजाबाद के दो वाल्मीकि (मेहतर जाति) के छात्र टाइप राइटिंग सीखना चाहते थे । उन्होंने कहा अगर ९६ रु. का प्रबन्ध हो जाये तो वे ३ महीने में टाइप सीखकर रोजगार से लग सकते हैं । यह सूचना मिलने पर बिरला जी ने उतनी रकम भेज दी ।

पेशावर का एक पठान आर्य समाज द्वारा शुद्ध करके हिन्दू बना लिया गया । उसका नाम था धर्मसिंह, उसकी तीन लडकियों का विवाह हिन्दुओं में हो गया, पर उसके लड़के के साथ कोई हिन्दू अपनी लड़की का विवाह करने को तैयार न हुआ । तब 'जात-पाँत तोड़क मण्डल' के श्री सन्तराम जी ने इसकी चर्चा जुगलकिशोर जी से की । उन्होंने कहा कि आप उसके विवाह की व्यवस्था करें तो मैं जितना रुपया आवश्यक होगा दे दूँगा । फिर भी कोई राजी न हुआ, तो 'वनिता आश्रम' से एक लड़की मिली । पर इस सम्बन्ध को धर्मसिंह ने स्वीकार नहीं किया । फिर भी सेठ जी ने उसके लड़के को कुछ रुपया दिया कि वह काबुल से सूखी मेवा मँगवाकर व्यापार करे । उस काम में उसकी स्थिति काफी सुधर गई और फिर एक खत्री घराने में उसका विवाह भी हो गया ।

वे इस प्रकार की आर्थिक सहायता करते समय मुख्यतः पात्र के गुण-दोषों पर विचार करते थे । सहायता चाहने वाला उनका प्रशंसक है या नहीं, इसका वे कभी ध्यान नहीं करते थे । इससे सिद्ध होता है कि उन्होंने अहंकार पर अधिकांश में अवश्य विजय पा ली थी । इसका एक नमूना श्री सन्तराम जी लिखित 'स्वानुभव' से भी मिलता है । वे लिखते हैं—

"सेठ जी जब लाहौर आये तो अन्य लोगों की तरह 'जात-पाँत तोड़क मंडल' के लिये मैं भी उनके पास चन्दा लेने के लिये गया । इस पर उन्होंने कहा, "देने वाला तो मैं अकेला हूँ और माँगने वाले अनेक आते हैं, मैं किस-किस को दूँ ?" इस पर मुझ से नहीं रहा गया, झट बोल उठा—"सेठ जी, मैं अपने लिये नहीं माँग रहा हूँ, वरन् हिन्दू-समाज में से बद्ध मूलता और ऊँच-नीच का भेदभाव मिटाकर, सब हिन्दुओं की एकता और बन्धुता के सूत्र में संगठित करने वाली एक संस्था के लिये सहायता चाहता हूँ । आपके पास धन है और मेरे पास समय ! आपके धन का सदुपयोग हो, इसी से मैं आपके पास आया था अन्यथा जिसने आपको धन दिया है, वह मुझे भी दे सकता था, मैंने उसका कुछ बिगाड़ा नहीं है ।"

"दूसरा कोई होता तो मेरी बात सुनकर क्रोधित हो जाता और मुझे चले जाने को कह देता परन्तु वे शान्त रहे और पाँच सौ रुपया देने लगे । इस पर मैंने कहा कि—आप यदि श्रद्धापूर्वक दें तो मैं पाँच रुपया भी सधन्यवाद ले लूँगा । पर यदि आप मुझे भिखारी समझ कर पीछा छुड़ाने के लिये पाँच सहस्र भी दें तब भी मैं नहीं लूँगा ।"

"इस पर सेठ जी मुझे एक सहस्र का चेक देने लगे ।" उन दिनों वे पंजाब में जिस किसी को दान देते थे, गोस्वामी गणेश दत्त द्वारा ही देते थे । मुझे भी वे उन्हीं के द्वारा देने लगे परन्तु मैंने गोस्वामी जी द्वारा लेने से इन्कार करते हुए कहा कि, "यदि आप गोस्वामी जी को विश्वासपात्र समझते हैं और मुझ पर आपका विश्वास नहीं तो इस दान को रहने दीजिये । तब उन्होंने वह एक सहस्र का चेक मेरे ही नाम से दे दिया ।"

### धर्म समदर्शन के अनुयायी

ये ही वे गुण हैं जिनके कारण हम प्रत्यक्ष में एक पूँजीपति होते हुए भी उनको महापुरुषों की श्रेणी में रखते है । उनके जीवन की सहस्रों घटनाओं को पढ़ने से यही प्रतीत होता है कि उनको अपने धर्म और समाज के उद्धार और उत्थान की हार्दिक लगन थी, और इसके लिये वे सदा प्रयत्नशील रहे । हमें उनके कार्यों में साम्प्रदायिकता का दोष भी नहीं जान पड़ता क्योंकि उन्होंने बौद्धों, सिक्खों, जैन आदि की भी अवसर आने पर सहायता की, अथवा उनके कार्यों में सहयोग दिया । इसके साथ ही अन्य किसी धर्म की न उन्होंने कभी निन्दा की, न निरादर । इस दृष्टि से विचार करने पर उनका हिन्दू-धर्म सम्बन्धी सिद्धान्त

वैसा ही व्यापक जान पड़ता था जैसा कि गाँधी जी का । दिल्ली रहते समय वे सदैव गाँधी जी से मिला करते थे और धर्म के सम्बन्ध मे चर्चा भी करते रहते थे । उन्होंने धर्म के सम्बन्ध में गाँधी जी की जो सम्मति महत्त्वपूर्ण समझी, वह इस प्रकार है—

"मेरे लिये तो केवल एक धर्म है । वह है हिन्दू धर्म । मैं अपने को हिन्दू कहला कर अभिमान करता हूँ । मैं हिन्दू धर्म को जिस प्रकार समझता हूँ तदनुसार वह अत्यन्त व्यापक है । उसमें अन्य धर्मों के लिये समभाव है, आदर है ।"

इसी बात को सन्त विनोबा भावे ने और भी खोलकर कहा है—

"मानव की शक्ति मर्यादित होती है, इसलिये सेवा का क्षेत्र भी मर्यादित हो सकता है, लेकिन वृत्ति मर्यादित नहीं रखनी चाहिये । सेवा का क्षेत्र चाहे मर्यादित हो, पर भावना का, सहानुभूति का क्षेत्र अमर्यादित रखना चाहिये । जाति, पन्थ, धरम, वर्ण के आधार पर मानवता के टुकड़े हो जाते है । सारे भेद तो देह के कारण पैदा होते हैं, इसलिये हमें यही ख्याल रखना चाहिये कि मैं एक परिशुद्ध आत्मा हूँ, देह नहीं हूँ । यदि हम मनुष्य को, मनुष्य के नाते नहीं देखेंगे, तो हिन्दू धर्म की आत्मा को ही खो बैठेंगे । हिन्दू धर्म तो समुद्र जैसा है, जो सबको अपने भीतर समा लेता है ।"

श्री जुगलकिशोर जी भी हिन्दू धर्म की इस आत्मा से परिचित थे और अपने अन्तरतम में इसी का लक्ष्य रखते थे । सामयिक परिस्थितियों और तरह-तरह की सहायता चाहने वालों के कारण चाहे उनको अधिक सम्पर्क हिन्दुओं से ही रखना पड़ता हो, पर वे उसी सत्य धर्म के अनुयायी थे जिसको संसार में सभी ज्ञानी-जनों ने 'एक' और 'सर्वोच्च' माना है । जब उनके एक सहकारी और भक्त श्री केजड़ीवाल जी ने एक दिन अपना भ्रम दूर करने के लिये उनसे पूछा कि धर्म क्या है ? तो उन्होंने आन्तरिक स्मृति के साथ कहा—

"जीव और प्रकृति का तादात्म्य ही 'सुन्दर' का सृजन करता है । सुन्दर की अनुभूति होने से 'समभाव' का बोध उत्पन्न होने लगता है । यह उत्प्रेरण ही 'धर्म-सम-दर्शन' की भावना को उत्पन्न करती है । अभी तक धर्म के लिये 'समदर्शन' से अच्छा शब्द मुझे और कोई दूसरा नहीं मिला है । यही समदर्शन जब सीमित या रूढ़ हो जाता है तो उससे मत (मजहब) की सृष्टि होती है । मत-मतान्तर को हम तर्क कह सकते हैं, पर 'सुन्दर' नहीं कह सकते हैं । सुन्दर तो केवल सुन्दर ही है—यही परमदर्शन है, वह जीव और प्रकृति का तादात्म्य है । यहाँ न तर्क की गुन्जाइश है न जिज्ञासा की—केवल है असीम विश्वास और समर्पण की भावना ।"

इसी धर्म-समदर्शन की भावना से प्रेरित होकर जुगलकिशोर जी ने धर्म प्रचार का कार्य भारत से भी अधिक विदेशों में किया । यूरोपियनों तथा अमेरिकनो को भी उन्होंने इस कार्य में सहायता दी । वास्तव में उनके 'धर्म' के क्षेत्र मे समस्त मानव आ जाते थे । उनसे वार्तालाप करके देश के एक प्रतिष्ठित विद्वान और हिन्दू-संस्कृति के ज्ञाता डॉ. सूर्य नारायण व्यास (उज्जैन) ने लिखा है—

"श्री जुगलकिशोर जी से मिलकर मुझ पर सर्वप्रथम उनके वैभव-विरक्त साधु रूप की ही छाप पड़ी । अत्यन्त सौम्य, अत्यन्त सज्जन और भोले-भाले दिखाई देने वाले सेठ जी, किन्तु उनमें ज्ञान की गम्भीरता, हिन्दुओं के प्रति उत्सर्ग की भावना एवं अन्तर की लगन को देखकर मै अत्यन्त प्रभावित हुआ । जब ज्ञान-विज्ञान की चर्चा चल पड़ी, तब जान पड़ा कि वह वैभवशाली संन्यासी केवल भावुकतावश ही उदार नही है विचार से उदात्त है और अनुभव भी अपार है । उनका अध्ययन गहराई लिये है, और सरलता मे विद्वता छिपी हुई है । उनकी सादगी में चिन्तन का व्यक्तित्व है । उनकी दानशीलता लक्ष्यहीन नहीं है । विचार और तर्क शुद्ध है । आडम्बर और प्रचार से परामुख श्री बिरला जी सच्चे ग्राहक और गुणान्वेषी थे । उनका अपना एक लक्ष्य—उद्देश्य था और उस पर उनका समस्त जीवन विश्वासपूर्वक उत्सर्ग था । इसमें सन्देह नहीं कि वे स्वयं एक जीवित संस्था थे । वे आध्यात्मिक महापुरुष थे जिन्होंने वेद भगवान के कथनानुसार दो हाथो से उपार्जित कर अनेक हाथो से उसे सत्कर्मों में वितरण किया ।

## विदेशों में धर्म प्रचार

विदेशों मे धर्म-प्रचार का प्रश्न कई दृष्टिकोणों से विचारणीय है । वैसे तो हम प्रायः उन ईसाई मिशनरियों

की विपरीत आलोचना किया करते हैं, जो हमारे देश में अपना धर्म प्रचार करने आती हैं और कुछ वर्षों में लाखों आदिम जातियों के लोगों को अपने धर्म में दीक्षित कर चुकी है। किसी समय मुसलमानों ने अपना धर्म तलवार के जोर से अनेक देशों में फैला दिया था। इस प्रकार धर्म प्रचार, जो दूसरे लोगो को बलपूर्वक या बहकाकर अपने धर्म में शामिल करने के लिये किया जाता है, अवश्य ही आक्षेपजनक कहा जायेगा।

श्री जुगलकिशोर जी ने विदेशों में जो हिन्दू-धर्म का प्रचार किया, वह अन्य धर्म वालों को किसी अवांछनीय तरीके से हिन्दू-धर्म में शामिल करने के लिये नहीं था, वरन् वहाँ बसे हुए हिन्दू-धर्मानुयायियों को हिन्दू धर्म ग्रन्थो, मन्दिरो और अन्य प्रथा-परम्पराओं की जानकारी देकर मातृभूमि के सम्पर्क में लाना था। अनेक टापुओं मे भारत से जाकर कितने ही हिन्दू धर्मानुयायी बहुत पहले बस गये थे। वहाँ भिन्न वातावरण मे रहने तथा धार्मिक विषयो की जानकारी का कोई ठीक साधन न होने से उनकी श्रद्धा दिन पर दिन क्षीण पड़ती जाती थी। बिरला जी ने वहाँ हिन्दू धर्म के उपदेशक तथा धर्मग्रन्थ, देवमूर्तियाँ आदि सामग्री भेजकर उन लोगों की धार्मिक श्रद्धा को पुनः सुदृढ़ बनाने की चेष्टा की।

हिन्दू धर्म की यह विशेषता है कि उसने कभी किसी अन्य धर्म का अहित नही सोचा और न धार्मिक सिद्धान्तों में अन्तर होने के कारण कभी किसी अन्य धर्मानुयायी के साथ दुर्व्यवहार किया। इसके विपरीत इतिहास के लम्बे समय मे जब कभी यहूदी, पारसी ईसाई अपने देशों से निष्कासित होकर यहाँ आ गये तो उनका एक अतिथि की भाँति स्वागत-सत्कार ही किया। आज कितने ही लोग हिन्दुओं की मनोवृत्ति को उनकी निर्बलता अथवा मूर्खता बतलाते हैं, पर वे स्वयं हिन्दू धर्म के मूल तत्त्व से अनजान हैं। इस धर्म के प्रणेता तो आरम्भ में ही कह चुके हैं कि 'भगवान एक है। विभिन्न धर्म उस तक पहुँचने के पृथक-पृथक मार्ग हैं। आप किसी भी मार्ग से चले, अन्त में पहुँचेगे एक ही स्थान पर।' इस प्रकार की भावना वाला व्यक्ति किस प्रकार किसी अन्य धर्मी को निन्दनीय अथवा विरोधी मान सकता है? इसी तथ्य को श्री जुगलकिशोर जी ने गाँधी के मुख से सुना और उनके लेखों में पढ़ा था। हिन्दू धर्म की गरिमा का बखान करते हुए गाँधी जी ने 'हरिजन' के एक लेख में कहा था—

"जिस प्रकार पाश्चात्य देशों ने भौतिक पदार्थों के आश्चर्य जनक आविष्कार किये हैं उसी प्रकार हिन्दुत्व ने उनसे भी अधिक विलक्षण आविष्कार धर्म, जीवन तथा आत्मा के सम्बन्ध में किये थे, किन्तु ऐसे महान विज्ञान द्वारा की गई उन्नति से हमारी आँखें चौधियाँ गई हैं। मैं उससे प्रभावित नहीं हूँ। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर ने अपनी बुद्धिमानी से उस दिशा मे उन्नति करने से भारत को रोक दिया है, जिससे बढ़ते भौतिकवाद का नियन्त्रण या निराकरण करने के अपने विशेष उद्देश्य में वह सफल हो सके। हिन्दुत्व में कोई बात अवश्य है जो अब तक उसे जीवित रखे हुए है। इसने बेबीलोन, सीरिया, फारस और मिस्र की सभ्यताओं का पतन देखा है।"

"अपने चारो ओर दृष्टि डालिये। रोम कहाँ है? और कहाँ है ग्रीस (यूनान)? वह ससार प्रसिद्ध यूनानी सभ्यता कहाँ गई? अब भारत आइये। यहाँ का अति प्राचीन कोई ग्रन्थ या वर्णन पढिये और फिर चारों ओर दृष्टि डालिये, तो आपको विवश होकर कहना पड़ेगा कि हाँ, प्राचीन सभ्यता यहाँ अब भी जीवित है। यह सत्य है कि यत्र-तत्र कूड़े-करकट के ढेर भी हैं किन्तु उसके नीचे अतुल भण्डार दबा पड़ा है। भारतीय सभ्यता के जीवित रहने का एकमात्र कारण यही है कि भारत का लक्ष्य भौतिक उन्नति नहीं वरन् आध्यात्मिक उन्नति था।"

इसी तथ्य को श्री जुगलकिशोर जी ने अच्छी तरह हृदयंगम किया था और अपनी परिस्थिति के अनुसार घर मे और बाहर उसके प्रचार का यत्न किया था। उन्होने देखा कि प्राचीन काल में हमारे पूर्वजों ने एशिया के दूरवर्ती भागो में अपने धर्म तथा संस्कृति का सन्देश भेजकर वहाँ के निवासियों मे हिन्दुत्व की जो भावना उत्पन्न की थी वह अब उस सम्पर्क-सूत्र के टूट जाने से निष्प्राण होती जा रही है। यह देखकर उनके हृदय को व्यथा पहुँची और उन्होंने हिन्दू धर्म के सन्देश को पुनः उन स्थानों मे पहुँचाने के लिये प्रबल प्रयत्न आरम्भ किया। उनके प्रयत्नों को कहाँ तक सफलता मिली इस सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश उन सम्मतियों से पड़ता है,

जो उनके निधन होने के पश्चात् प्रमुख व्यक्तियों ने प्रकट की थी । संसद-सदस्य श्री एन. सी. चटर्जी ने कहा था—"स्वर्गीय जुगलकिशोर बिरला न केवल दानवीर थे, प्रत्युत हिन्दू धर्म के दीवाने थे । देश-विदेश में हिन्दू धर्म के प्रचार के लिये जितना काम उन्होंने किया, उतना और किसी ने नहीं किया ।"

दूसरे संसद सदस्य श्री रामगोपाल शाल वाले ने कहा था—"बिरला जी के हृदय में हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये जबर्दस्त तड़प थी । उन्होंने विदेशों मे हिन्दू धर्म के प्रचार के लिये सब तरह का सहयोग दिया ।"

हिन्दू धर्म के महान सन्देश को दूरवर्ती टापुओं और प्रदेशों में पुनर्जीवित करने के लिये उन्होंने वहाँ पर जगह-जगह मन्दिर बनवाये, स्तूप, विहारों का निर्माण कराया, भारत की ओर से धर्म-ग्रन्थों, मूर्तियों और अन्य पदार्थों के बहूमूल्य उपहार भेजे और अपनी ओर से विशेष प्रचारकों को भेजकर उनसे सम्पर्क स्थापित किया । इन सब प्रयत्नों से उनका उद्देश्य यही था कि वहाँ के निवासियों में हिन्दू धर्म की भावना और भारतीय संस्कृति के प्रति सम्मान का भाव जीवित बना रहे ।

## बौद्ध देशों से सम्बन्ध स्थापित

स्व. बिरला जी ने विभिन्न देशों के बौद्ध-धर्मियों से अपने विशेष दूत भेजकर और पत्र-व्यवहार करके घनिष्ठता उत्पन्न की थी । उसका कारण यही था कि वे हिन्दू और बौद्धधर्मों को एक ही वृक्ष की दो शाखायें मानते थे । इसमें सन्देह नहीं की बौद्ध धर्म मूलतः भारतीय है, उस पर भारतीय सिद्धान्तों का पूरा प्रभाव पड़ा और इसी पर भगवान गौतम बुद्ध को हिन्दुओं के दस प्रधान अवतारों में सम्मिलित कर लिया गया है । इसलिये बिरला जी बौद्धों को हिन्दू ही मानते थे और उन्होंने दिल्ली के बिरला मन्दिर मे बुद्ध भगवान का भी एक दर्शनीय मन्दिर निर्माण कराया था और भी अनेक स्थानों में उन्होंने बौद्ध स्तूप, विहार तथा अन्य संस्थाओं की स्थापना कराई । नेपाल के बौद्धों में ईसाई और मुसलमानों की तरफ से उन्हें अपने साथ मिलाने का प्रयत्न होते देखकर उनको चिन्ता हुई थी और उन्होंने वहाँ के एक कार्यकर्ता को लिखा था, "बौद्ध और हिन्दू दोनो एक ही वृक्ष की शाखायें हैं और सहोदर भाइयों के समान हैं । नेपाल में बौद्ध और हिन्दू इस तरह घुल-मिल गये हैं कि बहुत काल से दोनों में विवाह-सम्बन्ध होते आये हैं । अतएव जो लोग स्वार्थवश बौद्धों और हिन्दुओं को अलग करना चाहते हैं वे दोनों के शत्रु हैं ।"

बर्मा के सम्बन्ध में जब उनको मालूम हुआ कि वहाँ बंगाल के मुसलमान बड़ी संख्या में जाकर बस गये हैं और वहाँ बर्मी महिलाओं से विवाह करके अपनी निरन्तर वृद्धि करते जाते हैं, तो उन्होंने वहाँ के 'बुद्धिष्ट महासंघ' के अध्यक्ष को एक पत्र में लिखा था—

"बर्मा के बौद्ध हमारे भाइयों के समान हैं । राजनीतिक रूप से भिन्न होते हुए भी धार्मिक और सांस्कृतिक रूप से बर्मा के बौद्ध और भारत के हिन्दू एक ही परिवार के दो सदस्यों के समान हैं । अतएव बर्मा के जो बौद्ध भाई तीर्थ-यात्रा के लिये भारत आवें, उनका स्वागत-सत्कार करना हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है । यहाँ पर हम आपका ध्यान बर्मा में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई 'जहर वादियो' (मुसलमानों और बर्मी स्त्री से उत्पन्न सन्तान) की संख्या की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं । कुछ वर्ष पहले उनकी संख्या केवल २-३ लाख थी, पर ऐसी खबर मिली है कि वे बढ़कर दस लाख हो गये हैं ऐसी बात है तो यह बर्मा के लिये बहुत अहितकर सिद्ध होगी । भारत का उदाहरण आपके सामने हैं । इसी प्रकार अपनी संख्या बढ़ाकर देश को विभाजित कर दिया, और 'पाकिस्तान' बना डाला ।"

तिब्बत से भारत आने वाले यात्रियों को श्री बिरला जी समय-समय पर ठहरने आदि की अच्छी सुविधा दिया करते थे । वहाँ के एक प्रसिद्ध व्यक्ति ने उनको लिखा—

"ल्हासा बौद्धमत का एक बड़ा केन्द्र स्थान है । यहाँ बड़े-बड़े मठ हैं, जिनमें भारतवर्ष से लाये गये अनेक धर्म ग्रन्थ सुरक्षित हैं । तिब्बत निवासी इनको बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं । ल्हासा के बहुत से निवासी, जो भारत में तीर्थ करने जाते हैं, वहाँ से लौटकर आपका शुभ नाम लेते हैं और आपकी प्रशंसा करते हैं । आपकी कृपा से वहाँ तीर्थ-यात्रा को जाने वालों को बड़ा आराम मिलता है ।"

## जापान के लिये सजीव उपहार

जापान के कुछ बौद्ध धर्मियों के अनुरोध पर बिरला जी की तरफ से दो गायें जिनके नाम 'नन्दिनी'

तथा 'कल्याणी' थे, एक साँड जिसका नाम 'धर्म' रखा गया था, एक हाथी 'सुख मंगल' उपहार स्वरूप भेजे गये। जहाज के जापान पहुँचते ही गायों का जापानियों द्वारा बड़ी धूम-धाम से स्वागत किया गया, जिसमें लगभग ५० हजार व्यक्तियों ने भाग लिया। बाद में उनका एक बड़ा जुलूस निकाल कर उनको एक बौद्ध मन्दिर में रखा गया। इसी प्रकार हाथी के जुलूस में राजवंश के प्रिन्स ताका मात्सू और टोकियो के मेयर आदि प्रमुख व्यक्तियों ने भाग लिया।

विरला जी के इस उपहार का प्रभाव जापानियों पर बहुत अच्छा पड़ा और कितने ही लोगों ने भारत के प्रति श्रद्धा और प्रेम के भाव प्रकट करते हुए विरला जी को पत्र लिखे। जापानी भिक्षु, इमाई ने, जो कलकत्ते में रहते थे, अपने पत्र में लिखा—

"दिल्ली में आपके साथ मिलकर बड़ा आनन्द हुआ। जापान में विश्वशान्ति सम्मेलन होने वाला है, उसके लिये मैं यहाँ यथाशक्ति प्रयत्न कर रहा हूँ। आपने कहा था कि आप उस सम्मेलन में एक सन्देश भेजेंगे। मेरे विचार में आपकी तरफ से एक सदस्य भेजना अच्छा होगा, क्योंकि जापान मे बौद्ध-धर्म की रक्षा के लिये बहुत सहायता देते आ रहे है। जापान के बौद्ध आपका विशेष आदर करते हैं।"

## वाली द्वीप के बीस लाख हिन्दू

पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि भारतवर्ष से कई हजार मील के फासले पर एक ऐसा टापू है जहाँ पिछले एक हजार वर्षों से हिन्दू-धर्म का प्रचार निरन्तर चला आता है। यह है इण्डोनेशिया का 'वाली' द्वीप। इसकी आबादी इस समय २० लाख है जिसमें से कुछ हजार को छोड़कर शेष सब हिन्दू हैं। ये लोग भारतीय वर्ण व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चार वर्णों में बँटे हैं। इन लोगों का नैतिक चरित्र उत्तम है। पुराण, रामायण, महाभाल आदि ही वाली निवासियों के पवित्र धर्म-ग्रन्थ हैं। वे लोग अपने सनातन धर्म तथा प्राचीन संस्कृति में भारतवासियों की ही भाँति अटल निष्ठा रखते हैं। वहाँ के एक विद्वान श्री पुण्यात्मज ने विरला जी को उस प्रदेश के निवासियों के विषय में लिखा था।

"वाली वासियों की प्रथा है कि वे यज्ञ आदि के लिये धन एकत्र करते हैं, न कि अपने आराम के लिये। वाली के लोग तब तक अपने को सफल नहीं मानते, जब तक उनकी सम्पत्ति का दो तिहाई भाग पितृयज्ञ, देवयज्ञ और भूतयज्ञ में न लग जाये। वैदिक और ब्राह्मण ग्रन्थों से पोषित अध्यात्मवाद का अस्तित्व वाली में शिला की भाँति अचल है। यही कारण है कि आज भी वाली अपने यज्ञ-त्याग के कृत्यों द्वारा सारी विपन्नता के होते हुए इण्डोनेशिया में सर्वाधिक उन्नतिशील माना जाता है। वहाँ के सभी मन्दिर राज्य-सरकार द्वारा संरक्षित हैं और उनकी मरम्मत पर पर्याप्त व्यय किया जाता है। अगर सरकार ऐसा न करे तो सारी जनता हड़ताल कर दे और अमीर से गरीब तक कोई भी एक पैसा टैक्स न दे।"

इस पत्र का उत्तर देते हुए विरला जी ने लिखा था—"यह जानकर परम प्रसन्नता हुई कि वाली के हमारे हिन्दू भाई अभी भी हिन्दू धर्म का, उसके प्राचीन और विशुद्ध रूप में अनुसरण कर रहे हैं। इसके लिये उनकी जितनी प्रशंसा की जाये थोड़ी है। हम हिन्दुओं का वाली के हिन्दुओ के प्रति महान कर्त्तव्य है, परन्तु यह कहते हुए हमें लज्जा होती है कि हमने उस कर्त्तव्य का पालन नहीं किया। मैंने तो उनके लिये जो कुछ किया है वह उस कर्त्तव्य का हजारवाँ हिस्सा भी नहीं है, जो मुझे करना चाहिये था।"

श्री नरेन्द्र देव पंडित लाहौर में प्रोफेसर थे। भारत विभाजन के पश्चात् वे वाली में जाकर बस गये और वहाँ के लोगो में भारतीय धर्म का प्रचार करने लगे। उन्होंने देखा कि यद्यपि वहाँ हिन्दू-धर्म अभी तक प्रचलित है, पर विद्या के अभाव से बहुसंख्यक लोग भारत की ही तरह धर्म के वास्तविक रूप को भूल गये हैं और केवल रूढ़ियों का पालन कर रहे हैं। पण्डे, पुरोहित भी स्वयं धर्म-शास्त्रों को बहुत कम जानते है और केवल पेट पालने के लिये उल्टे-सीधे ढंग से पूजा, संस्कार आदि करा देते हैं। उन्होंने वाली की भाषा का अच्छी तरह अध्ययन करके वहाँ 'भुवन सरस्वती' नामक संस्था स्थापित की और उसमें विद्यार्थियो को संस्कृत भाषा और हिन्दू-धर्म का अध्ययन कराने लगे। सन् १९५४ में उसमें १५० के लगभग विद्यार्थी अध्ययन कर रहे थे। श्री नरेन्द्र देव ने विरला जी से इस कार्य में सहायता देने की अपील की तो कई वर्ष २०० रु. प्रति मास की सहायता 'भुवन

सरस्वती' को दी जाती रही। हिन्दू-धर्म, दर्शन भारतीय संस्कृति सम्बन्धी बहुसंख्यक पुस्तकें भी भेजी गईं। इसके अतिरिक्त वहाँ के विद्यार्थियों के लिये एक 'संस्कृत-प्राइमर' भारत में छपवाकर वहाँ भेज दी गई।

## मारीशस और फिजी द्वीप

मारीशस मे तीन-लाख हिन्दू रहते हैं जो पिछले सौ वर्षों में वहाँ जाने वाले भारतीयों की सन्तान हैं। आरम्भ में तो ये लोग मेहनत, मजदूरी और कुलीगीरी के लिये वहाँ भेजे गये थे, पर अब उन्नति करके डॉक्टर, बैरिस्टर और उच्च सरकारी नौकर बन गये हैं। यद्यपि स्थानीय परिस्थितियों के कारण उनके रीति-रिवाजों में कुछ अन्तर पड़ गया है, तो भी अधिकांश व्यक्ति सनातन धर्म का ही पालन कर रहे हैं। वहाँ शिवजी, राधाकृष्ण, राम, हनुमान, दुर्गा आदि के अनेक मन्दिर हैं। पहले तो मन्दिरों का खर्च पंचायत की तरफ से किया जाता था, पर अब सरकार की तरफ से भी कुछ सहायता मिलने लग गई है, जो वहाँ के पुजारी को वेतन के रूप में दे दी जाती है। प्रत्येक मन्दिर में एक हिन्दी पाठशाला भी स्थापित है। वाल्मीकि रामायण, शिवपुराण, सत्यनारायण की कथायें भी होती हैं।

बिरला जी ने मारीशस में हिन्दू धर्म के प्रचार में सहायता करना उपयोगी समझ, वहाँ के 'कल्याण नाथ सनातन धर्म टेम्पल ऐसोसियेशन' के एक मन्दिर के लिये ८ मूर्तियाँ, तीन संगमरमर पर लिखे पट्ट, १० देवी-देवताओं के सुन्दर चित्र फ्रेम और शीशे में मढ़े हुए और बहुत-सी हिन्दी तथा अंग्रेजी की धार्मिक पुस्तकें भेजीं। सभा ने सब चीजों के सुरक्षित पहुँच जाने पर बिरला जी को लिखा—"हम प्रवासियो पर आपने जो उपकार किया है, उसके लिये धन्यवाद देने के लिये हमारे पास कोई शब्द नहीं हैं।"

फिजीद्वीप में दो लाख हिन्दू रहते हैं, जो सन् १९१६ तक शर्तबद्ध कुली-प्रथा के बन्धनो मे पड़े अत्यन्त हीन जीवन व्यतीत कर रहे थे। महामानव एण्ड्रूज साहब के अथक प्रयत्नो से उनका उद्धार हुआ और आज वे ही उस द्वीप के प्रधान कर्ता-धर्ता है। वे भारत और यहाँ की संस्कृति से सम्बन्ध बनाये रखने के इच्छुक है और इसलिये जब कभी सम्भव होता है अपने कुछ छात्रो को भारतीय विद्यालयों, जैसे गुरुकुल काँगड़ी, हिंदू विश्वविद्यालय आदि में भेजकर शिक्षा दिलवाते हैं। कुछ छात्रायें भी कन्या महाविद्यालय जालन्धर में आकर शिक्षा प्राप्त करती हैं। ये सब फिर फिजी पहुँचकर वहाँ शिक्षक का कार्य करके अन्य लोगों को भारतीय धर्म तथा संस्कृति का ज्ञान प्रदान करते हैं। फिजी के 'सेण्ट्रल इण्डिया आर्गेनाइजेशन' के अध्यक्ष श्री विष्णु देव ने बिरला जी से इस कार्य में सहायता देने की प्रार्थना की तो उन्होंने दो छात्रों को हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में रहकर हिन्दू-धर्म, संस्कृति, आचार तथा संस्कृत भाषा का अध्ययन करने के लिये उनका समस्त व्यय देना स्वीकार किया।

इसके अतिरिक्त सामाबूला नगर की 'रामायण मंडली' के मन्दिर के लिये बिरला जी ने श्री राम, सीता, लक्ष्मण और हनुमान की चार सुन्दर मूर्तियाँ भी प्रदान कीं, जो वहाँ एक बड़े उत्सव के साथ वेद-मन्त्रों द्वारा पूजा करके प्रतिष्ठित की गईं।

जब दक्षिण अफ्रीका में एक 'आर्य-मन्दिर' बनाने का काम बीच में ही रुक गया तो वहाँ के नेता श्री भवानी दयाल संन्यासी ने जो उन दिनों भारत में ही धर्म-प्रचार करने लगे थे, बिरला जी को पत्र लिखकर उस कार्य में सहायता करने की प्रार्थना की। इस कार्य में उन्होंने सहयोग प्रदान किया। साथ ही दक्षिण अफ्रीका के प्रधान नगर 'डरबन' के आर्य समाज मन्दिर के लिये वेद-मन्त्र खुदे हुए कई शिला-पट्ट भेजे गये। पूर्वी अफ्रीका में धर्म-प्रचार के लिये आर्य समाज के प्रसिद्ध नेता श्री चांदकरण शारदा को भेजा गया। इस अवसर पर बिरला जी ने शारदा जी को पत्र भेजा उससे विदित होता है कि हिन्दुत्व की रक्षा और विस्तार की उन्हें सदैव कितनी चिन्ता रहती थी—

"आप पूर्वी अफ्रीका के हिन्दू नेताओं से यह निवेदन करें कि वे मुसलमानों को सन्तुष्ट करने की नीति के अनुसार अपने को 'हिन्दुस्तानी' कहने का मोह छोड़कर 'हिन्दू' शब्द को अपनावें। उनके ध्यान में यह बात अंकित रहनी चाहिये कि मुसलमानों को सन्तुष्ट करने की भावना का परिणाम भारत मे क्या हुआ? आर्य समाजी और सनातनी का भेदभाव भी हिन्दू-संगठन के लिये घातक है। दोनों को उदार होना चाहिये, ऐसा प्रचार आपके द्वारा किया जाना चाहिये।" पर अपने धर्म प्रचार का आग्रह होने पर भी हिन्दू-धर्म

के सम-भाव सिद्धान्त के अनुसार वे दूसरों पर ऐसे आक्षेप करना उचित नहीं समझते थे, जिससे किसी को बुरा जान पड़े या दिल दुखे । इसलिये आपने पत्र के अन्त में इस बात का भी संकेत कर दिया—

"एक बात का और भी ध्यान रखना चाहिये कि सार्वजनिक भाषणों में आप जो कुछ भी मुसलमानों या और किसी के सम्बन्ध में कहें, तो मीठे शब्दों में ही बोलें । कटु शब्दों में कही गई वस्तु का प्रभाव उतना अधिक नहीं रहता ।"

अण्डमान टापू (काला पानी) के पास कचाल नामक एक टापू है । उसमें आदिवासी ज्याति के लोग रहते हैं, जो कुछ समय पहले तक हिन्दू माने जाते थे । पर गत द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इंग्लैण्ड और अमेरिका के ईसाई पादरियों ने उस तरफ ध्यान दिया और वहाँ की ६०० की जनसंख्या में से ४०० को ईसाई बना लिया । उन्होंने वहाँ अपने दो पक्के गिर्जाघर भी बनवाये । यह देखकर वहाँ के आदिवासियों की नेता रानी चंगा ने श्री बिरला जी को पत्र भेजा कि, "यदि इन आदिवासियों के लिये एक मन्दिर बनवा दिया जाये तो उनको अपने धर्म का कुछ परिचय मिलता रहे और उनकी रुचि अपनी प्राचीन संस्कृति की तरफ बनी रहे ।" बिरला जी ने इस कार्य के महत्त्व को अनुभव करके वहाँ एक मन्दिर का निर्माण कराने के लिये आवश्यक सहायता दी जिससे वहाँ के निवासियों में धर्म-प्रचार का कार्य होने लगा है । अण्डमान और निकोबार में भी उन्होंने पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, यद्यपि वहाँ की १५००० आबादी में से १२००० को ईसाई बनाया जा चुका है और शेष ३ हजार को भी अपने सम्प्रदाय में शामिल करने की ईसाई मिशनरी पूरी कोशिश कर रही है ।

## प्रवासी महिलाओं में भारतीय वेशभूषा का प्रचार

दक्षिण अमेरिका के समीप ब्रिटिश *गायना*, डच गायना और ट्रिनिडाड आदि में हिन्दुओं की एक बड़ी संख्या निवास करती है । पर बहुत समय से विदेशियों के सम्पर्क में रहने और भारतवर्ष आना-जाना कम हो जाने पर उनमें हिन्दुत्व का भाव क्षीण होने लग गया था । यह मालूम होने पर जुगलकिशोर जी ने वहाँ के धार्मिक कार्यकर्ताओं से पत्र-व्यवहार करके कई छात्रों को भारत बुलाकर धार्मिक शिक्षा दिलवाई और वहाँ की अनेक संस्थाओं को धार्मिक पुस्तकें आदि भी भेजी गईं । वहाँ से आने वाले छात्रों में एक श्री रघुनाथ थे जिन्होंने गायनावासी हिन्दुओं की अवस्था का परिचय देते हुए बतलाया—

"वहाँ आर्य समाजियों और सनातनधर्मियों मे प्रायः शास्त्रार्थ हुआ करते हैं । लोग बहुधा भारत से ग्रन्थ मँगवाकर पढ़ा करते हैं । पुराने लोगों में वर्ण-व्यवस्था अब तक है । वर्ण केवल चार हैं, उपजाति से कोई मतलब नहीं । शादी-विवाह धीरे-धीरे वर्णसंकरता को प्राप्त होते जा रहे है । खान-पान में कोई परहेज (छुआछूत) नहीं है । जिसकी जहाँ इच्छा होती है । खाते-पीते हैं परन्तु पुराने लोगों में कुछ विचार अवश्य हैं, तलाक-प्रथा चलती है । विवाह आदि संस्कार वेद-विहित होते हैं । श्रावण मास में 'भागवत्-सप्ताह' तथा यज्ञ हुआ करते हैं । रामलीला, रासलीला आदि प्रायः हुआ करती हैं । कथा, पूजा, कृष्णजन्माष्टमी तथा रामनवमी पर्व विशेष रूप से मनाये जाते है । हिन्दुओं का कोई खास मन्दिर नहीं है । रामायण, महाभारत की कथा लोग बड़े प्रेम से सुना करते है । पुराने हिन्दू अब भी धोती-कुर्ता पहनते हैं । औरतें साड़ी, लहँगा, कुरती तथा ओढ़नी का व्यवहार करती है । विवाह माता-पिता करवाते हैं । घर में साधारण हिन्दी बोली जाती है ।"

गायना के एक शिक्षा प्रचारक श्री जी. आर. द्वारका ने बिरला जी से भारत मे रहने का व्यय दिये जाने पर श्री रमेश एल. किशुन नामक छात्र को यहाँ भेजा । उन्होंने अपने पत्र में लिखा—*"अब यह छात्र आपके हाथों में समर्पित हैं । वहाँ उन्हें अपना ऐसा व्यक्तित्व निर्माण का अवसर प्राप्त होगा जिससे वे गायना के सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य कर सकें । वर्षों तक मैं इस चेष्टा मे रहा कि हमारे यहाँ की धार्मिक संस्थायें अपने युवकों को भारत भेजकर धर्म की शिक्षा दिलाने का यत्न करें किन्तु किसी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया । अन्त में मैने स्वयं ही व्यक्तिगत रूप से आपके आगे अपनी प्रार्थना उपस्थित की और आपने उसे स्वीकार कर लिया ।"*

ट्रिनिडाड से भारतीय राजदूत श्री *आनन्द मोहन* सहाय ने बिरला जी को पत्र में लिखा कि "बड़ी लज्जा

से कहना पड़ता है कि यहाँ की हिन्दू-स्त्रियाँ साड़ी पहनना भूल गई हैं और ईसाई, नीग्रो आदि जातियों की तरह गाउन और शॉर्ट ड्रेस (स्वल्प वस्त्र) धारण करने लग गई हैं । अब जो भारत सेवाश्रम मिशन के ब्रह्मचारी राजकृष्ण यहाँ आये हैं, वे हर उपदेश में भारतीय नारियों से साड़ी धारण करने को कहते हैं । साड़ी द्वारा ही वे इस पश्चिमी गोलार्द्ध में ईसाई, चीनी, नीग्रो आदि जातियों के बीच अपनी भारतीय विशेषता को अक्षुण्ण रख सकती हैं । स्वामी जी के उपदेशों से प्रभावित होकर महिलायें हमसे साड़ियों की माँग करने लगी हैं परन्तु यहाँ उनका प्रचार न होने से अभी तक हमने कभी भारत से साड़ियाँ मँगाई ही न थीं । आशा है भविष्य में यहाँ की हिन्दू स्त्रियाँ साड़ी एवं अन्य भारतीय पहनावे को प्रश्रय देंगी ।"

इस पत्र के उत्तर में बिरला जी ने लिखा कि "पचास सूती साड़ियाँ भेजने के लिये 'केशाराम काटन मिल, कलकत्ता' को लिख दिया गया था और उन्होंने भेजना स्वीकार भी कर लिया था, पर सरकारी बन्धनों के कारण उनके भेजने में देर हो रही है ।" कुछ समय बाद ये साड़ियाँ ट्रिनिडाड पहुँच गईं और स्त्रियों के भारतीय वेश-भूषा में रहने से वहाँ का सामाजिक वातावरण बदलने लग गया ।

## विदेशियों से सम्पर्क

स्व. जुगलकिशोर जी केवल प्रवासी भारतवासियों में ही धर्म-प्रचार करके सन्तुष्ट न हो गये । वरन् हिन्दुत्व के प्रेमी विदेशियों से भी सदैव पत्र-व्यवहार द्वारा तथा अन्य प्रकार से सहयोग देकर सम्पर्क बनाये रहते थे और उनको धर्म-प्रचार में भाग लेने की प्रेरणा देते थे अथवा जहाँ कहीं किसी को हिन्दू तथा बौद्धों के मुकाबले में ईसाइयों आदि को प्रोत्साहन देते देखते थे तो उसको भी विरत करने की चेष्टा करते थे ।

श्री फिलिप सिंगार नामक अंग्रेज भारत में हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति का अध्ययन करने आये थे । जब वे अपने देश को लौट गये तो बिरला जी ने उनको एक पत्रोत्तर में लिखा था—

"जानकर प्रसन्नता हुई कि आप हिन्दू धर्म के उच्च आदर्श, उदात्त सिद्धान्तों और वेदान्त दर्शन से प्रेरित होकर पश्चिम में आर्य-हिन्द सिद्धान्तो का प्रचार कर रहे हैं तथा कला और साहित्य को आपने अपना कार्य-क्षेत्र बनाया है । आप स्वयं जानते हैं कि कला और साहित्य बिना आध्यात्मिक आधार के उसी प्रकार निरर्थक हैं जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर । विशेषकर प्राचीन भारतीय कला और साहित्य तो आध्यात्मिक आदर्शों से ओत-प्रोत है और उनकी पृष्ठभूमि धर्म है, जैसे कि अजन्ता, एलोरा, ऐलीफैण्टा आदि की कला-कृतियों तथा वेद से लेकर आधुनिक संस्कृत वाङ्मय से सिद्ध है ।

एक फ्रांसीसी महिला डी. डिला नाय भारत में डी-लिट् की परीक्षा देने आई थी । वह हिन्दी भी बहुत अच्छी तरह जानती थी । यहाँ आकर वह भारतीय धर्म से बहुत प्रभावित होकर बौद्ध भिक्षुणी हो गई और दार्जिलिंग में रहकर तिब्बती भाषा सीखने लगी । उसने बिरला जी को लिखा—

"अभी मैं तिब्बती भाषा सीख रही हूँ । सभ्यता के क्षेत्र में भारत और तिब्बत का सम्बन्ध बहुत प्राचीन व महान है । कलकत्ता विश्वविद्यालय से मुझे गतवर्ष छात्रवृत्ति मिली थी, पर वह इस वर्ष बन्द है । मैं बुद्ध भगवान के नियमानुसार भिक्षा के लिये जाती हूँ किन्तु कभी-कभी यह भी नहीं हो सकता । स्त्री होने के कारण यह कार्य और भी मुश्किल है । मैं धर्मशाला अथवा मन्दिरों में पुरुषों तथा भिक्षुओं के साथ नहीं रह सकती । मैं निर्धनता से नहीं डरती । संन्यासी का धनी होना अच्छा नहीं है, मैं सिर्फ यह चाहती हूँ कि मेरा काम चल सके । भारत मेरे लिये दूसरी मातृ-भूमि है ।" पत्र को पाकर बिरला जी ने अपने द्वारा स्थापित 'आर्य धर्म सेवा संघ' द्वारा उक्त महिला को कई वर्ष तक छात्रवृत्ति दिलाई थी ।

## भारतीय संस्कृति और जर्मनी

जर्मनी के श्री गणेश ने बिरला जी को पत्र में लिखा कि, "मैं हिन्दू-धर्म और हिन्दी का अध्ययन करने गीता प्रेस, गोरखपुर में आ रहा हूँ । अगर आप छः महीने के लिये एक छात्रवृत्ति मुझे दे सकें तो बड़ी सुविधा हो जायेगी ।"

बिरला जी ने उत्तर में लिखा कि—"आप हिन्दू संस्कृति और धर्म का यथेष्ट ज्ञान तो जर्मनी में रहकर ही प्राप्त कर सकते हैं । इस उद्देश्य से मैं कुछ भारतीय धर्म-ग्रन्थ आपके पास भिजवा रहा हूँ । अगर आप संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लें तो आध्यात्मिक

ज्ञान का अनन्त भण्डार आप हस्तगत कर सकते हैं । आपके देश में संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान मैक्समूलर, डायसन, बेवर आदि हो गये हैं उन्होंने संस्कृत भाषा की बड़ी सेवा की है । इसके लिये हम उनके आभारी हैं ।"

"संसार में जितने मतमतान्तर 'धर्म' के नाम से प्रचलित हैं, उनमें आर्य (हिन्दू) धर्म के सबसे प्राचीन हैं । यह किसी एक जाति या देश के लिये सीमित नहीं है, और न यह किसी विशेष व्यक्ति या उसके रचे ग्रन्थ पर अवलम्बित है । इसीलिये इसको 'मानव-धर्म', 'सनातन-धर्म' या 'आर्य-धर्म' भी कहते हैं । जर्मन लोग भी आर्य हैं । इसलिये प्राचीन आर्य-संस्कृति तथा संस्कृत भाषा की रक्षा और उन्नति करना आप लोगों का भी उतना ही कर्त्तव्य है, जितना कि हम लोगों का । जर्मन शब्द तो कदाचित संस्कृत 'शर्मन' (ब्राह्मण) का बिगड़ा हुआ रूप ही है । अगर आपका निश्चय भारत आने का होगा तो, जहाँ तक हो सकेगा, ६ महीने के लिये छात्रवृत्ति का प्रबन्ध आपके लिये कर दिया जायेगा ।"

होइस्ट पेट जोइड नामक जर्मनी के निवासी योग की शिक्षा प्राप्त करने ऋषिकेश के शिवानन्द आश्रम में आये वहाँ पहुँचने पर कहा गया कि कमरे और भोजन के लिये ७५ रु. मासिक देना पड़ेगा । उन्होंने एक पत्र लिखकर बिरला जी से प्रार्थना की कि इतना खर्च दे सकने की परिस्थिति मेरी नहीं है । ऐसा ज्ञात हुआ कि आप ऐसे व्यक्तियों की सहायता करते हैं, जो योग-साधना आदि के मार्ग में अग्रसर होना चाहते हैं । वर्तमान में मैं स्वर्गाश्रम मे ठहरा हुआ हूँ ।

उत्तर में बिरला जी ने लिखा कि "आप ठण्डे देश के रहने वाले हैं जहाँ के रहन-सहन का स्तर ऊँचा है । इसलिये उतना तो हम कर नहीं सकते, पर स्वर्गाश्रम में, जहाँ आप ठहरे हैं, आप चाहें तो एक-दो वर्ष रह सकते हैं । आपके भोजन तथा छोटी-मोटी आवश्यकताओं की पूर्ति वहीं से हो जायेगी । इस पत्र के साथ पचास रुपये जेब खर्च को भेजा जा रहा है ।"

## हिन्द-भक्त डॉ. स्मेकल

चैकोस्लोवाकिया के एक सज्जन डॉ. स्मेकल अपने देश में हिन्दी का प्रचार कर रहे थे । उन्होंने बिरला जी को लिखा कि वे भारत-यात्रा पर आने वाले है और बिरला जी से भेंट करना चाहते हैं । बिरला जी ने उनके उत्तर में उनकी हिन्दी की प्रशंसा करते हुए लिखा कि—"आपने जैसी शुद्ध संस्कृतनिष्ठ सजीव हिन्दी में पत्र लिखा उसे पढ़कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई । ऐसी हिन्दी तो यहाँ भी बहुत से पढ़े-लिखे भारतीय नहीं लिखते । मैं हिन्दू धर्म, संस्कृति और दर्शन के सम्बन्ध में कुछ पुस्तकें भेज रहा हूँ ।"

इसके बाद बिरला जी ने डॉ. स्मेकल के शोध-कार्य के लिये बहुमूल्य कोष और शोध-ग्रन्थ भिजवाये । डॉ. स्मेकल ने आगामी पत्र में यह भी लिखा है कि "चैकोस्लोवाकिया में रहते हुए भी मैं भारतीय ढंग से रहता हूँ । मेरी पुत्री का नाम 'इन्दिरा' तथा पुत्र का 'अरुण' रखा गया है और वे 'नमस्कार' कहना सीख गये हैं । मेरे घर की दीवारों पर भारतीय चित्र लटके रहते हैं और मेज पर एक देवी मूर्ति रखी है ।"

बिरला जी के देहावसान का समाचार पाकर डॉ. स्मेकल को अपार शोक हुआ और उन्होंने लिखा है कि—

"विदेशों मे अपनी दूसरी मातृभाषा हिन्दी का एक तुच्छ सेवक होने के नाते मैं भी बिरला जी के न रहने से अनाथ व निराश्रय-सा हो गया हूँ । मेरे भारतीय विद्या से सम्बन्धित प्रचार, अध्यापन, शोधकार्य की वृद्धि में उन्होंने जो उदार सहायता दी, वह इस बात का प्रमाण है कि उनका हिन्दी के प्रति गम्भीर गहरा सम्बन्ध था । वे हिन्दी के विकास और विदेशों में भी उसके प्रचार पर ध्यान देते रहे । वे निःसन्देह भारतीय संस्कृति के गौरव की रक्षा और अभिवृद्धि के क्षेत्र मे एक ज्वलन्त उदाहरण थे । वे भारत-भारती के महाप्राण थे ।"

## अमेरिकनों में प्रचार

अमेरिका निवासी जार्ज लेवी नामक सज्जन हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्ययन करने आये । ये पहले जापान में रहने वाली अमेरिका की सेना में काम करते थे । इसी बीच में वे बौद्ध धर्म की तरफ आकर्षित हुए और बौद्ध भिक्षु बन गये । उनके अध्ययन का व्यय अमेरिकी सरकार ने देना स्वीकार किया था, आरम्भ मे जब उनको आर्थिक कठिनाई पड़ी तो उन्होंने बिरला जी को लिखा । बिरला जी ने उनको आवश्यक सहायता भेजकर यह भी सम्मति दी कि "हिन्दू-धर्म से प्रेम रखने वाले विदेशियो को भारतीय दर्शन-शास्त्र, गीता,

वेदान्त आदि पर अंग्रेजी में लिखे ग्रन्थों का अपने देश में रहते हुए भी अध्ययन करना चाहिये ।"

हवाई टापू के विश्वविद्यालय के कुलपति श्री ग्रेग सिंक्लेयर जब भारत आये तो उन्होंने बिरला जी से धर्म विषयों पर वार्तालाप किया । उसके सद्-व्यवहार और आध्यात्मिक जीवन से वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कुछ समय बाद बिरला जी को एक पत्र में लिखा—"मैं अनुभव करता हूँ कि काश मैं अमेरिकन न होकर एक भारतीय ही होता । एक भारतीय के हृदय में ही मानवता की ऐसी विरासत सम्भव है । मुझे पक्का विश्वास है कि पाश्चात्य संसार भारत की संस्कृति और दर्शन से बहुत कुछ सीख सकता है ।"

श्री सिंक्लेयर को उत्तर देते हुए बिरला जी ने लिखा कि "भारतवर्ष इस युद्ध-जर्जरित संसार को अपना शान्ति और शुभकामना का सन्देश सुनाने में सफल हो यही मेरी ईश्वर से प्रार्थना है ।"

स्वीडन के एक विद्वान हैन्स फ्रैडलैंड योग की शिक्षा प्राप्त करने उत्तरकाशी तक पहुँच गये और वहाँ अनेक भारतीय योगियों से मिलकर इस विषय की जानकारी प्राप्त की । उन्होंने साधना-काल मे सहायता की प्रार्थना की तो बिरला जी ने इस सम्बन्ध में यथासम्भव व्यवस्था करके उनको योगी व्यास देव जी से योगाभ्यास की शिक्षा प्राप्त करने की सम्मति दी थी ।

इटली की एक धर्म-श्रद्धा रखने वाली महिला ने बिरला जी को बड़े दिन के अवसर पर शुभकामना का पत्र भेजा तो उसे बिरला जी ने अपनी 'धर्म-समभाव' की वृत्ति का परिचय देते हुए लिखा—"ईसा की अनुयायिनी होने की दृष्टि से आप ईसा को श्रद्धा की दृष्टि से देखती हैं, यह आपके लिये स्वाभाविक है परन्तु हम भी ईसा को एक सन्त, महात्मा तथा ईश्वरभक्त होने के नाते आदर की दृष्टि से देखते हैं । सन्त, महात्मा और महापुरुष किसी भी देश के हों हमारे लिये आदर के पात्र हैं । हमारा धर्म हमें सबके साथ प्रेम करना और बुराई को छोड़कर किसी के साथ घृणा न करने की शिक्षा देता है । खेद की बात है कि लोगों ने अज्ञानवश या स्वार्थवश धर्म के नाम पर अनेक संकुचित छोटे-बड़े समुदाय या सम्प्रदाय बना रखे हैं और उन सम्प्रदायो के अनुसार प्रचलित रीति-रिवाज तथा रूढ़ियों को 'धर्म' का नाम दे रखा है ।"

## जनरल डगलस मेक आर्थर को पत्र

बिरला जी इस प्रकार निरन्तर विदेशियों के सम्मुख हिन्दू-धर्म और भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष को उपस्थित करने का ही प्रयत्न नहीं करते रहते थे, वरन् जब कभी हिन्दू और बौद्ध-धर्म का किसी के द्वारा अहित होता देखते थे तो उनके निवारण की चेष्टा भी करते थे । जब उनको मालूम हुआ कि जापान पर अमेरिकी सेना का शासन होने के कारण उस देश में बौद्धमत का ह्रास हो रहा है और जापानियों को ईसाई बनाने की जोर-शोर से कोशिश की जा रही है, तो उन्होंने वहाँ के अमेरिकी शासक जनरल मेक आर्थर को एक पत्र भिजवाया जिसमें कहा गया था—

"हम भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न हिन्दू तथा बौद्ध संस्थाओं की ओर से आपकी सेवा में निवेदन करना चाहते है कि प्राप्त सूचनाओं के अनुसार इस समय ईसाई मिशनरी लोगों के दल के दल जापान में आ रहे हैं और कुछ ही दिनों में ५० हजार जापानी अपने पूर्व पुरुषों के बौद्धधर्म से च्युत होकर ईसाई बना लिये गये हैं । यह भी सुना है कि वहाँ के शासन पर अमेरिका का प्रभाव होने के कारण शासन की ओर से ईसाई मिशनरियों को ईसाइयत के प्रचार में अनेक अनुचित और पक्षपातपूर्ण सुविधायें प्रदान की जा रही हैं, यदि यह बात सत्य है तो यह अमेरिका के लिये बड़े कलंक की बात होगी क्योंकि अमेरिका सदा से अपनी उदारता, धार्मिक निष्पक्षता तथा उच्च भावना के लिये प्रसिद्ध है ।"

इसका उत्तर देते हुए जनरल मेक आर्थर ने लिखा—"यह सत्य है कि यहाँ ईसाई मत के नेता हैं और मिशनरी भी है जो जापानी लोगों की आत्मिक और शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्ति में लगे हुए हैं, परन्तु साथ ही यहाँ बौद्ध भिक्षु यथा अन्य बहुत से मतों के लोग भी हैं, जो इसी प्रकार का कार्य कर रहे हैं । जापान में वर्तमान शासन सम्बन्धी नीति के अनुसार या उसके प्रभाव से किसी के साथ पक्षपात नहीं किया जाता अपितु सब अपने-अपने धर्म सिद्धान्तों और उपदेशों का प्रचार करने में स्वतन्त्र हैं ।"

## श्रीमती केनेडी को धर्म ग्रन्थों का उपहार

बिरला जी हिन्दू-धर्म और संस्कृति के प्रचार के लिये अनेक तरह से प्रयत्न किया करते थे । विदेशों

के जो प्रसिद्ध व्यक्ति यहाँ आते थे, उनका ध्यान वे इस तरफ आकर्षित करने का प्रयत्न करते रहते थे । जब अमेरिका के राष्ट्रपति स्वर्गीय केनेडी की पत्नी भारतवर्ष पधारी थीं तो बिरला जी के आदेश से 'आर्य (हिन्दू) धर्म सेवा संघ' की तरफ से अमेरिकन राजदूत के द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण हिन्दू धर्म-ग्रन्थ उनको भेंट किये गये थे और साथ में एक पत्र भेजा गया था, जिसमें लिखा था—

"अ. भा. आर्य (हिन्दू) धर्म सेवा संघ की ओर से जो एक धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संस्था है तथा हिन्दू-धर्म के सभी सम्प्रदायों बौद्ध, जैन, सिख आदि का प्रतिनिधित्व करती है, हम श्रीमती जेकलिन केनेडी का हार्दिक स्वागत करते हैं । हमारी हार्दिक इच्छा है कि वे भारत में कुछ दिन ठहरें तथा अपने दर्शनीय स्थानों की सूची में दक्षिण भारत के प्रमुख मन्दिरों तथा नई दिल्ली के विख्यात श्री लक्ष्मी नारायण मन्दिर को भी सम्मिलित कर लें । इससे वे भारत के सच्चे रूप और इसकी संस्कृति से परिचित हो सकेंगी ।

अर्जेण्टाइना (द. अमेरिका) के हिन्दू धर्म प्रेमी श्री जार्ज भारतवर्ष आकर कुछ समय तक बिरला-मन्दिर, दिल्ली में अतिथि के रूप में ठहरे थे । उनको जुगलकिशोर जी के आदेश से सब प्रकार की सुविधा और सहायता दी गई । जिसके उपलक्ष्य में एक पत्र द्वारा उन्होने अपने उद्‌गार इस प्रकार प्रकट किये—

"मेरी ओर से नये वर्ष की बधाई स्वीकार करें । मैं आपको सदा याद रखता हूँ और मेरे मन में आपके प्रति जो श्रद्धा और आदर है वह कदाचित् ही किसी अन्य व्यक्ति के लिये हो । मैं यदि कभी भी आपकी कोई सेवा कर सकूँ, तो यह मेरा अहोभाग्य होगा ।"

स्वीडेन के एक जिज्ञासु श्री वियर्स ने भारत आकर योगविद्या सीखने की इच्छा प्रकट की थी । उनको उत्तर देते हुए बिरला जी ने स्पष्ट कहा कि "वर्तमान भारत वह भारत नहीं है, जो प्राचीन काल में अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रसिद्ध था और जिसके आकर्षण से प्रेरित होकर आप यहाँ आना चाहते हैं । योग की शिक्षा देने वाले गुरु, जैसा आप चाहते है, बहुत ही एकान्त में कहीं-कहीं ही पाये जाते है और कठोर जीवन व्यतीत करते हैं ।" इस उत्तर से विदित होता है कि साधु, महात्मा और धार्मिक नेताओं की हर तरह से सहायता और सम्मान करते हुए भी बिरला जी उनकी वास्तविकता को समझते थे और जानते थे कि आजकल यहाँ जो अध्यात्म की चर्चा सुनने में आती है उसमें सारतत्त्व बहुत कम है ।

## निस्पृह और गुमनाम कार्यकर्ता

इसमें सन्देह नहीं कि बिरला जी के इन समस्त प्रयत्नों पर सामूहिक रूप से एक दृष्टि डालने पर श्री रामगोपाल शाल वाले के इस कथन पर विश्वास हो जाता है कि उनमें 'हिन्दू-धर्म' की रक्षा के लिये जबर्दस्त तड़प थी । भारत में उन्होंने जो मन्दिर आदि बनाये और विभिन्न धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं को दान आदि दिया उनसे उसे यश अवश्य प्राप्त हुआ, चाहे उनकी ऐसी भावना कभी न थी । पर विदेशों में उन्होंने वर्षों तक विभिन्न विद्वानों को भेजकर प्रचार-कार्य कराया और सैकड़ों विदेशियों से पत्र-व्यवहार करके और उचित सहायता देकर उनको भारतीय संस्कृति का प्रेमी बनाया, उसका विवरण तो उनके जीवनकाल में सर्वसाधारण को मालूम भी न हो सका था ।

अब हम उनके स्मारक ग्रन्थ में पढ़ते है कि उन्होने अब से चार वर्ष पूर्व पं. अयोध्या प्रसाद जी को एक मिशन के साथ ट्रिनिडाड, ब्रिटिश गायना, फिजी, डच गायना, आदि उपनिवेशों में भेजकर प्रवासी भारतवासियों में धर्म-प्रचार कराया था ।

उसके पश्चात् स्वामी सत्यानन्द सन्यासी को बाली, जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया आदि पूर्वी द्वीपों में भेजा और वहाँ फैली हुई हिन्दू सस्कृति का विवरण तैयार कराया । पंडित ऋषिराम को मारीशस, मोम्बासा, केनिया (अमेरिका) आदि भेजकर वहाँ के हिन्दुओ को अपने धर्म में निष्ठावान बनाया । कलकत्ता के भारत-धर्म सेवाश्रम संघ के संन्यासियों को दक्षिणी अमेरिका के निकट के विभिन्न प्रदेशों और टापुओं में धर्म प्रचार के लिये भेजा ।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शनाचार्य डॉ. आत्रेय को, जिन्होंने 'योग वाशिठ' पर अपूर्व शोध-कार्य किया है और जो हिन्दू-धर्म के महान ज्ञाता हैं, अमेरिका में हिन्दू-धर्म तथा दर्शन पर प्रचार करने भेजा । वहाँ से लौटते हुए उन्होंने हवाई द्वीप, स्याम, चीन आदि में हिन्दू-धर्म पर अनेक व्याख्यान दिये ।

इस प्रकार श्री जुगलकिशोर जी ने अपने काम और नाम का बिना ढिंढोरा पीटे देश-विदेश में हिन्दू-धर्म और भारतीय-संस्कृति के प्रचार का जितना अधिक काम किया था, उस पर जब हम ध्यान देते हैं, तो उनकी निस्पृहता और यश तथा ख्याति से दूर रहकर धर्म तथा जाति की सेवा करने की मनोवृत्ति पर स्वयंमेव श्रद्धा होने लगती है। उनके परिचितों का कहना है कि यद्यपि इस प्रकार के प्रचार और सहायता कार्यों में उन्होंने अगणित रुपया खर्च किया, पर जहाँ तक बना उन्होंने ये समस्त कार्य चुपचाप ऐसे ढंग से किये जिससे उनके निकटवर्तियों को भी उसका पता न लग सके। उनकी इसी भावना और प्रवृत्ति को देखकर श्री बृजकृष्ण चाँदीवाला ने लिखा है—

"श्री जुगलकिशोर जी के सम्पर्क में मैं पूज्य गाँधी जी द्वारा आया। उन्होंने हिन्दू-धर्म की जितनी सेवायें की हैं, उतनी शायद ही किसी ने की हों। उनके कार्य को देखकर मुझे 'गीता' का यह कथन याद आता है—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वं शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमन्तां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥

इस श्लोक के अनुसार "बिरला जी शायद पूर्व जन्म के कोई योगभ्रष्ट पुरुष थे, जिन्हें अपनी साधना पूरी करने को यह जन्म लेना पड़ा।"

बिरला जी के पिता राजा बलदेव दास जी भी कभी-कभी उनकी चर्चा चलने पर कहा करते थे—"सन्त है, महात्मा है, साधु है। दिल्ली, वृन्दावन, पटना आदि सब जगह अपने खर्च से मन्दिर बनवाये हैं और उनमें नाम मेरा देता है। मैने कई बार इससे अपना नाम देने को कहा, पर वह नहीं माना।"

जब हम वर्तमान नेताओं की यशलिप्सा को देखते हैं, जो थोड़ा-सा प्रदर्शन करके ही सबसे अधिक ध्यान अपना वर्णन और फोटो अखबारों में छापने पर दिया करते हैं, तो बिरला जी की इस प्रकार गुमनाम रहकर कार्य करने की मनोवृत्ति पर आश्चर्य होता है।

## अछूतोद्धार के समर्थक

यद्यपि बिरला जी का जन्म मारवाड़ी समाज में हुआ था, जो कि छुआछूत के मामले में बड़ा रूढ़िवादी माना जाता है, पर हिन्दुओं की एकता दृष्टिगोचर रखकर उन्होंने इस भावना को कभी प्रश्रय नहीं दिया। यहाँ तक कि एक बार होली के अवसर पर जब वे बनारस की कोठी पर थे, सब नौकर उनसे होली मिलने आये और गुलाल-अबीर लगाया। उस समय एकाएक उन्होंने कहा—"अरे, झमकू (मेहतर) क्यों नहीं आया। उसे भी बुलाओ।" इस प्रकार झमकू ने भी वहाँ आकर बिरला जी को गुलाल लगाया।

जिस दिन डॉ. अम्बेडकर ने लोकसभा में भाषण देते हुए कहा कि हिन्दुओं में शूद्रों की भी संख्या ९० प्रतिशत है, उस दिन बिरला जी ने इसका विरोध करते हुए जोर के साथ कहा—

"डॉक्टर अम्बेडकर का कथन न केवल असत्य है वरन् शरारत से भरा हुआ तथा हिन्दुओं में परस्पर विरोध फैलाने वाला है। अम्बेडकर जी ने यह आँकड़ा कहाँ से पाया, यह तो वही बता सकते हैं, लेकिन वास्तविकता बिल्कुल इसके विपरीत है। शूद्र कहे जाने वालो की संख्या हिन्दू समाज मे बहुत थोड़ी है। शूद्रों की बात जाने दें, जो अछूत कहे जाते हैं, उनकी संख्या भी उतनी नहीं है, जितनी सरकारी आँकड़ों में दिखाई गई है। यह अंग्रेजी राज्य के समय से हिन्दुओं को छिन्न-भिन्न करके उसके राजनीतिक महत्त्व को घटाने की सरकार की कुटिल नीति का परिणाम था कि अछूतों की संख्या जनगणना मे पाँच करोड़ दिखाई गई। अब ऐसा लगता है कि डॉ. अम्बेडकर भी शूद्रों की संख्या ९० प्रतिशत बताकर पारस्परिक विद्वेष की भावना उभारकर हिन्दुओं से अपना चिरसंचित बदला लेना चाहते हैं।"

इस सम्बन्ध में बिरला जी के विचार बड़े प्रेरणादायक थे और उन्होंने जब कभी अवसर आया इस भेदभाव की भावना का बड़े जोर के साथ खण्डन किया। उन्होंने एक लेख में कहा है—"अपने को धर्म-शास्त्रों का जानकार मानने वालों को यह भी पता नहीं कि अछूतो में किसकी गणना करनी चाहिये? क्या कारण है कि नासिक और पूना में उन शिक्षित और वीर जातियों को, जो शिवाजी के सिपाही थे, लोग अछूत मानते हैं, और उन्ही की जाति वालों को दूसरे प्रान्त में अछूत नहीं मानते, एक जाति, एक प्रान्त में अछूत और दूसरे में नहीं। सौ वर्ष पहले जिसको अछूत मानते थे उनको अब वैसा नहीं मानते। अब अन्य जातियों को अछूत मानने लग गये हैं। यह कोई नही

सोचता कि अछूत कितने हैं और कहाँ हैं तथा क्यों और कैसे बन गये ? लोग यह भी नहीं सोचते कि इन चोटीधारी तथा राम के भक्तों को स्वधर्म में रहते हुए नीच और चोटी कटा देने पर ऊँचा क्यों समझते हैं ?"

मन्दिर में हरिजन प्रवेश की समस्या पर बिरला जी का मत प्रगतिशील था । उन्होंने अपने समस्त मन्दिरों में जिनकी संख्या बहुत अधिक है, सिवाय छूत के रोगियों और पागलों के और किसी के प्रवेश पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया है । उनका कहना था—

"यदि मूर्ति में देवता और भगवान की भावना रखते हो तो वह अपवित्र हो ही नहीं सकती, और यदि भगवान की भावना नहीं रखते, तब उसका क्या अपवित्र होगा ?"

बिरला जी जैसे 'धर्म-भक्त' का अछूतों के प्रति यह न्याययुक्त व्यवहार और भावना उच्च वर्ण के हिन्दुओं के लिये अनुकरणीय है । ऐसा कोई हिन्दू नहीं जान पड़ता जो उनको 'आधुनिकतावादी' अथवा 'अधार्मिक' कह सके । उनके अनेक सहयोगियों का तो कथन है कि उनकी भक्ति इतनी दृढ़ थी कि उनको अनेक बार भगवान की दैवी कृपा का प्रत्यक्ष परिचय मिला करता था ।

## व्यावहारिक अध्यात्म के उपासक

बिरला-परिवार भारतवर्ष का प्रमुख व्यवसायी और पूँजीपति माना जाता है । अधिकांश लोगों का तो यह विश्वास है कि हमारे देश में उससे बड़ा 'धनी' और कोई नहीं है । इस कारण जनता का एक वर्ग उसकी विपरीत आलोचना किया करता है और उसकी गिनती 'शोषक-समुदाय' में ही करता है । भारतीय संसद में भी प्रायः उस पर अनेक प्रकार के दोषारोपण और आक्षेप किये जाते हैं । यह सब होने पर भी जुगलकिशोर जी के सम्बन्ध में लोगों की किसी प्रकार दूषित भावना न थी । उन्होंने बहुत वर्षों से व्यापार में सक्रिय भाग लेना छोड़ दिया था और अपनी समस्त शक्ति, समय और साधन समाज हित के कार्यों में ही लगाते रहते थे ।

उनके कार्यों पर विचार करके हमको यह अनुभव होता है, कि श्री जुगलकिशोर जी के चरित्र का प्रधान अंग रुपया कमाना या धनी होना नहीं था, वरन् अपने कमाये धन को उन्होंने बहुत सोच-समझ कर देश और जाति के उत्थान के कार्यों में खर्च किया, इसी से वे श्रेष्ठ और अनुकरणीय पुरुषों की श्रेणी में आते हैं । इस पहलू पर विचार करके प्रसिद्ध साहित्यिक सेठ गोविन्द दास जी ने लिखा है ।

"श्री जुगलकिशोर जी की खूबी धन कमाने में नहीं थी । धन तो उनके पहले भी बहुतों ने कमाया था, आज भी कमा रहे हैं परन्तु उनकी खूबी थी धन कमाना और उसका उचित विनियोग करना । गाँधी जी ने कहा है—"धनिक वर्ग अपने को अर्जित सम्पत्ति का ट्रस्टी समझें । बापू के इस सिद्धान्त के अनुसार ट्रस्टी रूप में अपनी ही अर्जित सम्पत्ति के सम्बन्ध में व्यक्ति को सतत् जागरूकता के साथ यह देखना होता है कि वह सम्पत्ति का कितना हिस्सा किस कार्य में खर्च करे, उसे कैसे सुरक्षित रखे ? वह यह भी ध्यान रखे कि उसका प्रवाह तो बन्द नहीं हो रहा है ? जुगलकिशोर जी ने इन तीनों दृष्टियों से अपने को ट्रस्टी मानकर अपनी सम्पत्ति का सर्व साधारण के लिये संतुलित उपयोग किया था ।"

आजकल अधिकांश धनवान यह समझते हैं और अवसर आने पर कह भी देते हैं कि हमारा धन है, जैसे समझेंगे खर्च करेंगे और वास्तव में बहुसंख्यक पूँजीपति अधिक व्यय अपने आराम तथा विलास के कार्यों में करते देखे भी जाते हैं । अगर जुगलकिशोर जी उस श्रेणी के 'धनी' होते तो आज कदाचित् ही कोई उनकी जिक्र करता, पर जितने लोग उनसे मिलते-जुलते थे, उन सबकी सम्मति यही है कि सेवा कार्य में इतना खर्च करने पर भी जुगलकिशोर जी स्वयं बहुत ही सादा और त्यागियों जैसा जीवन बिताते थे । इसी तथ्य को ध्यान में रखकर हिन्दी जगत के प्रसिद्ध लेखक और खरी आलोचना करने वाले श्री किशोरी दास वाजपेई ने बिरला जी के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है—

"धर्मवीर जुगलकिशोर बिरला पूर्णतः सम्प्रदाय निरपेक्ष थे । धर्मनिरपेक्ष कहना तो एक गाली है । धर्मनिरपेक्ष का अर्थ है—अधर्मी । वे धर्म-परायण थे । अहिंसा, सत्य, दान, दया, ईमानदारी आदि धर्म के अंग हैं । ये सम्पूर्ण तत्त्व उनमें थे ।"

"परिश्रम करके रुपया कमाना और फिर उसे अपने सुख-आनन्द में व्यय न करके पूरी जाति के अभ्युत्थान में लगाना कितनी बड़ी तपस्या है ।" यही तो 'कर्मयोग' है ।

# त्याग और बलिदान के आराधक गणेश शंकर विद्यार्थी

सन् १६१४-१५ की बात है कि पुलिस का एक बड़ा दल कानपुर के 'प्रताप' प्रेस की तलाशी लेने आ धमका । बीसियों पुलिस के सिपाही, शहर के कोतवाल खान बहादुर बाकरअली और इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस, जो अंग्रेज था, सबने प्रेस को एकाएक घेर लिया और विद्यार्थी जी के कमरे में जा पहुँचे । उन दिनो 'प्रताप' का कार्य धनाभाव से बड़ी गरीबी में चलाया जाता था । ऑफिस में केवल दो ही कुर्सियाँ थीं एक पर सम्पादक—विद्यार्थी जी और दूसरी पर मैनेजर—शिवनारायण मिश्र बैठकर काम कर रहे थे । कोतवाल को अन्य सरकारी नौकरो की तरह ही अपने अंग्रेज अफसर की बड़ी फिक्र थी । उनको खड़े देखकर कोतवाल साहब ने विद्यार्थी जी से कुर्सी देने को कहा । पर वे तो सरकार के ही विरोधी थे, उसके अफसरों की आवभगत; वह भी पुलिसवालों की क्यों करने लगे ? इस पर कोतवाल ने विद्यार्थी जी को 'बद्तमीज' कह दिया । यह सुनते ही विद्यार्थी जी की त्यौरियाँ चढ़ गईं और अपने शहर का 'कर्ता-धर्ता' समझने वाले कोतवाल को डाँटकर जोर से कहा "बद्तमीज तुम और होंगे तुम्हारे साहब ! साहब हैं तो मैं क्या करूँ, क्या सिर पर चढ़ा लूँ ? वे पब्लिक सर्वेण्ट हैं, तो उसी तरह रहें । आप इस प्रकार रोब किस पर झाड़ते हैं ?" इन्सपेक्टर जनरल इस निर्भीकता और खरी-खरी बातों से स्तम्भित रह गये और स्वयं क्षमा माँगने लगे ।

ऐसी ही दूसरी घटना १६२१ की है, जब विद्यार्थी जी को एक अभियोग में जेल भेजा गया । जेल के नियमानुसार जेलर उनको लेकर सुपरिण्टेण्डेण्ट मेजर वर्कले के सामने गया । उस समय वे कुर्सी पर बैठे कुछ कागजात देख रहे थे और असिस्टेण्ट जेलर आदि कई कर्मचारी उनके पास खड़े थे । विद्यार्थी जी देर होते देखकर वहीं पड़ी कुर्सी पर बैठ गये । जेलर ने यह देखा तो वह घबरा उठा । जेल के सर्वोच्च अधिकारी—सुपरिण्टेण्डेण्ट के सामने एक कैदी कुर्सी पर बैठ जाये, यह बड़े गजब की बात थी । पर विद्यार्थी जी से कुछ कह सकना सहज न था । अफसर और विद्यार्थी जी दोनों के ख्याल से वह बड़े असमंजस में पड़ गया । तभी उसे कुछ उपाय सूझ गया और उसने एक वार्डर को भेजकर विद्यार्थी जी से कहलाया, "अभी आप चलिये, साहब काम मे फँसे है । जब जरूरत होगी तब आपको बुला लिया जायेगा ।" इस पर विद्यार्थी जी बैरक में चले गये और जेलर की जान बची ।

## गरीबी का जीवन

इस प्रकार राष्ट्रीय सम्मान का प्रश्न उठने पर बड़े-बड़े अंग्रेज-अफसरों के सम्मुख निर्भीक व्यवहार करने वाले गणेश शंकर विद्यार्थी (सन् १८६०-१६३१) खानदान और आर्थिक हैसियत की दृष्टि से एक सामान्य व्यक्ति थे । उनके पिता श्री जयनारायण ग्वालियर के एक मिडिल स्कूल में मास्टर थे । उनको बहुत थोड़ा वेतन मिलता था । इसलिये जब १५ वर्ष की आयु में विद्यार्थी जी ने मिडिल पास किया तभी उनको कोई काम तलाश करने कानपुर भेज दिया गया ।

कानपुर एक बड़ा व्यवसायी नगर था । वहाँ विद्यार्थी जी के बड़े भाई पहले से ही नौकरी कर रहे थे । उस समय भाई ने यह इच्छा प्रकट की कि गणेश जी कुछ दिन और पढ लें, कम से कम मैट्रिक की परीक्षा तो पास कर ही लें । इसलिये उन्होंने पुस्तकें खरीदवाकर और खर्च की कुछ व्यवस्था करके उनको घर वापस भेज दिया । इस तरह बड़े भाई की प्रेरणा और सहायता से दो वर्ष में मैट्रिक की परीक्षा पास कर ली । उसके बाद में स्वेच्छा से कॉलेज की पढ़ाई के लिये इलाहाबाद के कायस्थ पाठशाला में नाम लिखवाया । पर खर्च की व्यवस्था न हो सकने से ६-७ महीने मे उसे छोड़ दिया । घर की आर्थिक समस्या को हल करने के लिये नौकरी करना आवश्यक था, इसलिये कानपुर आकर कोई काम ढूँढने लगे और

कुछ दिन प्रयत्न करने के पश्चात् करन्सी ऑफिस में ३० रु. मासिक पर क्लर्क हो गये।

पर सरकारी नौकरी करने के साथ ही विद्यार्थी जी में साहित्य और राजनीति की लगन भी पैदा हो गई थी। इसलिये जब करन्सी ऑफिस के कार्य से अवसर मिलता तो कोई पुस्तक या समाचार-पत्र पढ़ने लग जाते। एक दिन वहाँ के अंग्रेज अफसर ने ऐसा न करने का हुक्म दिया तो आपने तुरन्त इस्तीफा दे दिया। फिर कई महीने कोशिश करके पृथ्वीनाथ हाईस्कूल में २० रु. मासिक की मास्टरी प्राप्त की। यहाँ भी जब हैडमास्टर ने 'कर्मयोगी' (साप्ताहिक), जोकि उस समय एक प्रसिद्ध क्रांतिकारी पत्र माना जाता था, स्कूल के भीतर लाने और पढ़ने से रोका, तो इस नौकरी को भी ठोकर मार दी। यह दशा देखकर आपने साहित्य-सेवा के क्षेत्र मे ही काम करने का निश्चय किया, जो कि रुचि के अनुकूल था। सन् १६११ के अन्त में आप 'सरस्वती' के सम्पादक श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के साथ सहकारी सम्पादक का कार्य करने लगे। द्विवेदी जी जैसे महान सम्पादक के साथ रहने से आपको पत्रकार-कला और भाषा की उत्तमता का अच्छी तरह ज्ञान हो गया। सन् १६१३ में प्रयाग के 'अभ्युदय' में काम करने लगे, क्योंकि इनकी रुचि राजनीति की तरफ अधिक थी और सरस्वती केवल साहित्यिक पत्रिका थी।

## 'प्रताप' का प्रकाशन

कुछ महीने तक 'अभ्युदय' में काम करने के पश्चात् विद्यार्थी जी के मन में एक निजी समाचार-पत्र प्रकाशित करने की इच्छा उत्पन्न हुई, क्योंकि गर्म राजनैतिक विचारों को प्रकाशित करने का साहस हर एक पत्र मे नहीं हो सकता था। फिर अभ्युदय तो मालवीय जी की नर्म-दल की राजनीति का अनुयायी ही था। इसलिये आप इलाहाबाद को छोड़कर फिर कानपुर चले आये और कुछ मित्रों के सहयोग से जिनमें 'हिन्दू फ्रैण्ड्स एसोसियेशन' नामक संस्था के कई सदस्यों—श्री नारायण प्रसाद अरोड़ा, महाशय काशीनाथ जी, श्रीशिवनारायण मिश्र आदि का उल्लेख किया जा सकता है, सहयोग से उन्होंने 'प्रताप' (साप्ताहिक) की नींव डाली। धन के अभाव से अपना प्रेस तो खोला नहीं जा सकता था, इसलिये उसी मुहल्ले में स्थित 'कारोनेशन प्रेस' में छपाने की व्यवस्था की। पर ऐसे गर्म विचारों के अखबारों को, जिस पर आरम्भ से ही सरकार की क्रूर दृष्टि थी, छापने का साहस साधारण प्रेस कैसे कर सकता था? इसलिये चार महीने भी नहीं बीतने पाये थे कि अपना प्रेस खोलने की आवश्यकता पड़ गई और कुछ लोगों की सहायता से और कुछ कर्ज लेकर एक छोटा-सा प्रेस स्थापित कर दिया गया। उस समय पत्र के आर्थिक-साधन बहुत ही अल्प थे और विद्यार्थी जी, अरोड़ा जी तथा शिवनारायण जी को सम्पादन तथा मैनेजर से लेकर चपरासी तथा दफ्तरी तक का काम स्वयं ही करना पड़ता था।

वर्तमान समय के साहित्यकार और लेखक इस बात की अच्छी तरह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि अब से पचास-साठ वर्ष पहले साहित्यिक क्षेत्र की कैसी दशा थी, और उसमे काम करने वालों को किन कठिनाइयों और अभावों का सामना करना पड़ता था? वैसे तो लेखक का पेशा आज भी आर्थिक दृष्टि से घटिया ही माना जाता है, पर उस समय तो इसके द्वारा रोटी खा सकना भी कठिन होता था। उस पर भी राजनीतिक क्षेत्र से सम्बन्धित लेखकों को तो समय-समय पर सरकार का कोप भाजन होना और जेल, जुर्माना आदि का दण्ड सहन करना भी निश्चित ही था। 'सरस्वती' जैसी साहित्यिक पत्रिका और 'अभ्युदय' जैसे सौम्य राजनीति वाले पत्र में विद्यार्थी जी चाहते तो क्रमशः उन्नति करते हुए एक साहित्य-महारथी बन सकते थे। पर उनका उद्देश्य केवल जीवन-निर्वाह का साधन प्राप्त कर लेना नहीं था। उनके हृदय मे तो मातृभूमि की पराधीनता और दुर्दशा की कसक थी। इसी दिशा मे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देने के उद्देश्य से उन्होंने 'प्रताप' का खतरों से भरा संचालन कार्य अपने ऊपर लिया। अपनी आन्तरिक भावनाओं को उन्होंने 'प्रताप' के प्रथम अंक में ही इन शब्दों मे व्यक्त किया था।

"हमारा उद्देश्य देश की कृषि, व्यापार, विद्या, कला, वैभव, मान, बल, सदाचार और सच्चरित्रता की दिशा मे प्रयत्न करना है। भारत को उन्नतावस्था तक पहुँचाने के लिये असख्य उद्योगों, कार्यों और क्रियाओं की आवश्यकता है। राष्ट्रीय एकता, सार्वजनिक तथा सर्वांगपूर्ण शिक्षा, प्रजा का हित करने वाली शुद्ध

राजनीति, सामाजिक कुरीतियों का निवारण तथा आत्मावलम्बन तथा आत्म-शासन में दृढ़-निष्ठा आदि इस समय देश की मुख्य आवश्यकतायें हैं । अपनी प्राचीन सभ्यता और जातीय गौरव की प्रशंसा में हम किसी से पीछे न रहेंगे, किन्तु अपनी निर्वलताओं और सामाजिक कुसंस्कारों तथा दोषों को प्रकट करने में भी हम आगा-पीछा न करेंगे, क्योंकि हम जानते हैं कि मिथ्याभिमान जातियों के सर्वनाश का कारण होता है । किसी की प्रशंसा या अप्रशंसा, किसी की प्रसन्नता या अप्रसन्नता, किसी की घुड़की या धमकी हमें अपने मार्ग से विचलित न कर सकेगी । साम्प्रदायिक और व्यक्तिगत झगड़ों से प्रताप सदैव अलग रहेगा । उसका जन्म किसी विशेष सभा, संस्था, व्यक्ति या मत के पालन-पोषण, रक्षण या विरोध के लिये नहीं हुआ । 'प्रताप' का मत (मजहब) स्वतन्त्रता है और उसका 'धर्म' सत्य होगा ।"

## संघर्षमय जीवन

'प्रताप' जन्म से ही क्रांतिकारी पत्र था । यद्यपि वह हिंसा का प्रचारक न था, तो भी उसके लेख ऐसे गर्म और सरकारी कार्यों की तीव्र आलोचना करने वाले होते थे कि जन्म के थोड़े ही दिन बाद उस पर सरकारी कड़ी नजर रहने लगी । उसका एक मुख्य ध्येय अन्याय तथा अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाना तथा हर तरह से पीड़ितों की सहायता करना था । विद्यार्थी जी कभी जमींदारों के अत्याचारों के शिकार, रायबरेली के किसानों के पक्ष मे आन्दोलन उठाते तो कभी कानपुर के मिल-मजदूरों का पक्ष ग्रहण करके मिल-मालिकों का विरोध करते । कभी देशी राज्यों के भ्रष्टाचार और पोलखाते का कच्चा चिट्ठा पाठकों को सुनाते तो कभी चम्पारन के निलहे गोरों की शोषण नीति का भण्डाफोड़ करते ।

इस प्रकार के लेखों के फलस्वरूप एक ओर जहाँ अत्याचार करने वाले जमींदार, सरकारी कर्मचारी आदि मानहानि का मुकदमा चलाते वहाँ सरकार भी उनमें राजद्रोह ढूँढ़ कर जमानतें जब्त करती रहती । इन सब मुकदमों मे सबसे प्रसिद्ध रायबरेली गोली-काण्ड का मुकदमा हुआ जो छः महीने तक चलता रहा और जिसमे प्रताप की तरफ से ३० हजार रु. खर्च किया गया । इस मुकदमे की चर्चा करते हुए उनके जीवन-चरित्र में कहा गया है—

जनवरी १६२१ में मुक्त प्रान्त के रायबरेली जिले में भीषण गोलीकाण्ड हुआ जिसमें कई किसान मारे गये और सैकड़ो घायल हुए । 'प्रताप' ने अपना विशेष प्रतिनिधि भेजकर इस घटना की जाँच कराई, उसका पूरा विवरण छापा और सम्पादकीय लेख में उसकी निन्दा की गई । इससे यह प्रकट हुआ कि इस भयंकर घटना में उस जिले के एक ताल्लुकेदार वीरपालसिंह का अधिक दोष था और उन्होंने स्वयं गोली चलाई थी । अपनी बदनामी होते देखकर वीरपाल सिंह ने प्रताप-सम्पादक को नोटिस दिया कि या तो इसके लिये माफी माँगो नहीं तो मुकदमा चलाया जायेगा । विद्यार्थी जी अन्याय के सामने चुप कैसे रह सकते थे ? उन्होंने उत्तर दिया कि—"आप अदालत की शरण लेना चाहते हैं तो लीजिये । हम वहीं सब बातों का भण्डाफोड़ करेंगे । माफी की आशा हमसे न कीजिये ।"

इस पर दफा ५०० के अनुसार मानहानि का दावा दायर किया गया । इस मुकदमे में विद्यार्थी जी को बड़ा परिश्रम करना, आर्थिक संकट सहना और तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । पर फिर भी मुकदमा अन्त तक लड़ा गया, इसका यही उद्देश्य था कि दुनिया को अवध के किसानों पर होने वाले घोर अन्यायों का पता लगे और उनके विरोध में जनमत तैयार हो । 'प्रताप' की तरफ से ५० गवाह गुजरे, जिनमें पं. मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, सी. एन. रंगा, श्री कृष्णाराम मेहता आदि बड़े प्रसिद्ध व्यक्ति थे । प्रत्येक पेशी पर दूर-दूर के हजारों व्यक्ति और साधारण किसान इसकी कार्यवाही को देखने को एकत्रित हो जाते थे । इस प्रकार विद्यार्थी जी का उद्देश्य तो पूरा हो गया पर अदालत ने इन बातों पर कुछ ध्यान न देकर सम्पादक और प्रकाशक दोनों को तीन-तीन मास जेल की सजा दे दी । ये दोनों ही सज्जन खुशी-खुशी जेल गये । इससे जहाँ धन और परिश्रम की गहरी क्षति हुई वहाँ प्रताप का नाम और यश भी इतना अधिक फैल गया कि छोटे और बड़े सभी उसे श्रद्धा की निगाह से देखने लगे और उसके हजारो नये सहायक पैदा हो गये ।

इन्ही दिनों किसी सरकारी उच्च अधिकारी ने कहा कि "जब तक 'प्रताप' को कुचल न दिया जायेगा तब तक इस प्रान्त का सार्वजनिक जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता ।" इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सरकार विद्यार्थी जी से कितना अधिक भयभीत रहती थी । अपनी इस दुरभिसन्धि को चरितार्थ करने के उद्देश्य से एक ओर तो सरदार वीरपाल सिंह से मुकदमा चलवाया गया और दूसरी ओर यह कहकर कि—"प्रताप ने रायबरेली तथा फैजाबाद के किसानों की अशान्ति के सम्बन्ध में लेख लिखकर उनमे राजद्रोही भावनायें भड़काने का प्रयत्न किया है, उसके सम्पादक विद्यार्थी जी और प्रकाशक श्री शिवनारायण मिश्र से दफा १०८ में नेकचलनी के लिये पाँच-पाँच हजार के मुचलके और दस-दस हजार की जमानतें माँगी । अगर इस आदेश का पालन न किया जायेगा तो दोनो को जेल भेज दिया जायेगा ।

अब प्रताप के लिये और भी कठिन समस्या उत्पन्न हो गई । अगर सरकार उसके किसी भी लेख में कोई भी झूठी या सच्ची एक भी आपत्तिजनक बात बतला दे तो ३० हजार रुपये का दण्ड सहन करना पड़े इसलिये इन दोनों ने प्रताप को इस संकट से बचाने के लिये अपने पदों से इस्तीफा दे दिया । ऐसा करने से मुचलको और जमानत की जिम्मेदारी उनकी व्यक्तिगत हो गई यद्यपि विद्यार्थी जी इस सरकारी आदेश को मानना नहीं चाहते थे, पर जब तक रायबरेली वाला मुकदमा चल रहा था उनका बाहर रहना आवश्यक था, इसलिये दोनों ने मुचलके और जमानत के आदेश की पूर्ति कर दी । छः महीने बाद जब रायबरेली के मुकदमे का फैसला हो गया तो विद्यार्थी जी अपना मुचलका और जमानत रद्द कराके जेल चले गये ।

## 'प्रताप' के ऊपर प्रहार

इस प्रकार सरकार प्रताप को कुचलने के लिये एक के बाद दूसरा प्रहार करती रही । कई बार उसकी जमानते जब्त की गई । उसके ऊपर 'क्रिमिनल लॉ आर्डिनेन्स' का प्रयोग करके छः महीने के लिये उसका प्रकाशन बन्द कर दिया गया । चाहे जब चेतावनी दिया जाना तो साधारण बात थी ही । इस तरह के संकटों के तूफानों के बीच पत्र को चलाते जाना मामूली काम न था । उस समय न जाने कितने बड़े-बड़े राजनैतिक पत्रों को बन्द हो जाना पड़ा । गाँधी जी के 'नवजीवन' और 'यंग इण्डिया' पत्र भी उस तूफान की चपेट में आ जाने से स्थगित कर दिये गये । पर विद्यार्थी जी ने अपने साहस, बलिदान और कुछ मित्रों की सहायता से 'प्रताप' को जीवित रखा और सरकार के प्रहारों का प्रतिकार करते हुए उसका विरोध करते ही रहे । उनके त्याग और मातृभूमि के लिये कष्ट सहन ने कानपुर की जनता और धनी व्यवसायियों में श्रद्धा का ऐसा भाव उत्पन्न कर दिया था कि वे भी इसे जीवित रखने के लिये सहायता करने को सदैव प्रस्तुत रहते थे ।

इस प्रकार घोर संकटो और आपत्तियो का जीवन व्यतीत करते हुए विद्यार्थी जी ने १८ वर्ष तक प्रताप के द्वारा देश में जागृति उत्पन्न की और सरकार तथा उसके अधिकारियों का जो भण्डाफोड़ किया, उससे उस पत्र का सम्मान कितना अधिक बढ़ गया, उसकी कल्पना भी आजकल के पाठक नहीं कर सकते । इस समय तो समाचार-पत्र प्रकाशन केवल एक पेशा बन गया है और बड़े-बड़े पूँजीपतियों अथवा बड़ी कम्पनियो द्वारा उनका संचालन होता है । सम्पादक का कार्य भी एक नौकरी की दृष्टि से किया जाता है । छः या सात घण्टा दफ्तर की कुर्सी पर बैठकर लिखने-पढ़ने का कार्य पूरा करने से उत्तरदायित्व पूरा हो जाता है । पर उस युग में जब पत्र सम्पादन और संचालन का पुरस्कार बँधे हुए वेतन के बजाय प्रायः जेल, जुर्माने और मुकदमो के रूप में मिलता था, इस क्षेत्र मे डटे रहना साधारण श्रेणी के लेखकों का काम न था । स्वयं विद्यार्थी जी को इन १८ वर्षो मे पाँच बार जेलयात्रा करना पड़ी और न मालूम कितने मुकदमों और मान-हानि की नालिशो मे दौड़-धूप करनी पड़ी । लोग आश्चर्य करते थे कि इस दुबली-पतली काया मे इतनी सहिष्णुता और तेजस्विता कहाँ से आ गई कि शक्तिशाली ब्रिटिश गवर्नमेट के लगातार प्रहार भी इसको दबा सकने मे असमर्थ सिद्ध हो रहे है ।

## देशी राज्यों में जागृति का प्रयत्न

एक तरफ विद्यार्थी जी अंग्रेजी सरकार से लोहा ले रहे थे और दूसरी ओर देशी राज्यो के राजाओ से भी उनका संघर्ष होता रहता था । उन दिनों इन राजाओ की रियासतों मे जैसी अन्धेरगिर्दी मची रहती

थी और प्रजा के साथ जिस प्रकार भेड़-बकरियों का-सा व्यवहार किया जाता था, उसका वर्णन इतने छोटे से स्थान में कर सकना सम्भव नहीं। ये राजा लोग चाहे योग्य हों या अयोग्य अपनी रियासत में उनकी आज्ञा ही कानून थी। ये प्रजा की सम्पत्ति को अपनी ही समझते थे। सरकारी खजाने का रुपया तो उनके बाप का ही था। इसलिये किसी शौक, दुर्व्यसन या भोग-विलास में उसे बेदर्दी के साथ फूँक डालना उनके लिये साधारण बात थी। कई पुरानी रियासतो में तो हजारों लोगों को वास्तव में गुलामों की-सी दशा में रखा जाता था और उनको राजा साहब अथवा उनके जागीरदारों (छोटे राजाओं) की सेवा करने के सिवाय और कोई कार्य कर सकने की स्वतन्त्रता न थी।

'प्रताप' में उसके जन्मकाल से ही देशी रियासतों के विरुद्ध शिकायतें छपने लगी थीं। विद्यार्थी जी के पिता स्वयं ग्वालियर रियासत में नौकर थे और इनका पालन-पोषण और शिक्षण वहीं हुआ था। इसलिये वे रियासती प्रजा की दुर्दशा, कष्टो से भली प्रकार परिचित थे। रियासतों के निवासियों में इतना भी साहस न था कि अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों की सूचना भी बाहर वालों को दे सकें। यदि किसी ने भूल से या जोश में आकर ऐसा काम कर भी डाला तो उसकी शामत आ जाती थी। ब्रिटिश भारत में तो अपने विरोधी को दण्ड देने के लिये फिर भी अदालती कार्यवाही की जाती थी और अभियुक्त को भी वकील आदि रखकर पैरवी का अवसर दिया जाता था, पर रियासतों में किसी को भी राजा साहब या मन्त्री आदि की आज्ञा के बिना मुकदमा चलाये ही महीनो तक जेल के सींखचों में बन्द रखा जा सकता था। इसलिये जो लोग समाचार भेजते थे वे अपना नाम पता आदि गुप्त ही रखते थे और 'प्रताप' संचालक भी उसे कभी किसी के सामने प्रगट करने को तैयार नहीं होते थे। कितने ही अवसरों पर वे अपने विशेष प्रतिनिधि द्वारा ऐसी अन्यायपूर्ण घटनाओं का हाल मालूम कराते थे।

'प्रताप' की इस नीति का यह परिणाम हुआ कि उन्हे रियासतों की ओर से सदा धमकियाँ और चेतावनियाँ दी जाती थी। ग्वालियर, उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, इन्दौर आदि अनेक राज्यो में उसका प्रवेश बन्द कर दिया गया। फिर भी उसने अपना काम बन्द नहीं किया और उसके प्रचार कार्य के फलस्वरूप कितने ही राज्यों मे थोड़े-बहुत सुधार भी किये गये। बिजौलिया (उदयपुर) के आन्दोलन के सम्बन्ध में तो उसने इतना अधिक कार्य किया कि वह एक ऐतिहासिक वस्तु बन गया। इस आन्दोलन में नेता श्री विजयसिंह पथिक को इस सम्बन्ध में सबसे अधिक सहयोग 'प्रताप' से ही मिला और अन्त में वे उसी की सहायता से मेवाड़ में किसानों की दशा का कुछ सुधार कराने में सफल हुए। देशी राज्यो का आन्दोलन धीरे-धीरे भरतपुर, अलवर, सिरोही, बूँदी, बीकानेर आदि सभी रियासतों मे फैल गया, अनेक स्थानों में प्रजा-मण्डलों का संगठन किया गया और वह भी अखिल भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अंग बन गया।

पर विद्यार्थी जी की नीति यह भी थी कि जहाँ वे प्रजा पर किये जाने वाले अन्यायों के कारण राजाओं का विरोध करते थे, वहाँ यदि कोई राजा अपनी स्वाधीन प्रकृति के कारण अंग्रेजों का कोपभाजन होता तो वे उसके पक्ष का समर्थन भी करते थे। नाभा, भरतपुर, इन्दौर आदि के राजाओं को गद्दी से उतारे जाने के समय 'प्रताप' ने अंग्रेजों की धींगा-धींगी की नीति के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा-पढ़ी की। इसका उद्देश्य यही था कि अनेक राजा अयोग्य अथवा अत्याचारी अवश्य हैं, पर उनका विरोध उनकी प्रजा को ही करना चाहिये। अंग्रेजों को वहाँ की प्रजा के सुख-दुःख से तो कोई सम्बन्ध है नहीं, वे राजाओ पर केवल अपने स्वार्थ की दृष्टि से प्रहार करते है अन्यथा इन्दौर, भरतपुर आदि के शासकों से भी अधिक शिकायतें पटियाला आदि के शासको के विरुद्ध सुनने में आती थीं, पर चूँकि वे अंग्रेजी अधिकारियों की खुशामद करते रहते थे, इसलिये उन शिकायतों को दर-गुजर कर दिया जाता था।

न्याय का पक्ष लेकर अन्याय का विरोध करना ही सत्पुरुषों का धर्म है। जो लोग सार्वजनिक क्षेत्र मे निजी मामलो को स्थान देते हैं, जिससे प्रेम हो उसकी प्रशंसा और जिससे विरोध हो उसकी निराधार निन्दा ही जो करते रहते हैं, उनकी बातों का प्रभाव कभी अधिक समय तक नहीं टिक सकता। 'सत्यमेव जयते' का सिद्धान्त ही अटल और कल्याणकारी है।

सत्य मार्ग पर चलने वाला आज नही तो कल अपने उद्देश्य में सफल मनोरथ होता है । पर जो अपना स्वार्थ सिद्ध करने की निगाह से झूठमूठ किसी की निन्दा या स्तुति करते हैं, वे अधिक समय तक कार्य-क्षेत्र में नहीं टिक सकते और अन्त में जनता द्वारा तिरस्कृत भी होते हैं ।

देशी राज्यों का आन्दोलन करते समय आपकी ईमानदारी की भी वड़ी परीक्षा ली गई । जैसा सब जानते हैं, कि अन्यायी और भ्रष्टाचारी जिस प्रकार स्वयं धन-वैभव के लिये कैसे भी कुकृत्य करते रहते हैं, वैसा ही विचार उनका अन्य लोगों के विषय मे भी होता है । उनकी धारणा होती है, कि रुपये से प्रत्येक व्यक्ति खरीदा जा सकता है, और 'चाँदी का जूता' से हर तरह का काम पूरा किया जा सकता है । इसलिये उन्होंने आरम्भ में धन की रिश्वत देकर ही विद्यार्थी जी का मुँह वन्द करना चाहा क्योकि वे यह जानते थे कि 'प्रताप' बड़ी गरीबी की दशा में चलाया जा रहा है और विद्यार्थी जी की गृहस्थी का निर्वाह भी कठिनता से होता है ।

'प्रताप' के आरम्भिक जीवन-काल में छोटी-वड़ी अनेक रियासतों की तरफ से विद्यार्थी जी को आर्थिक सहायता का प्रलोभन दिया गया, पर उनकी दृष्टि में इस प्रकार अनैतिकता द्वारा प्राप्त नोटो का मूल्य रद्दी कागज के टुकड़ों से भी कम था । कितने ही राजा-रईसो के प्रतिनिधियों या उनके परिचितों ने कानपुर आकर या पत्र-व्यवहार द्वारा विद्यार्थी जी से यह प्रार्थना की कि वे उन रियासतों के सम्बन्ध में 'नरमी' से काम लें । इसके लिये वे उनका यथोचित सत्कार करने को प्रस्तुत है । पर इस सम्बन्ध मे जो प्रत्यक्ष घटना ग्वालियर में हुई, उसका वर्णन निःसन्देह वड़ा मनोरजक और शिक्षाप्रद है । इस विषय में उनके जीवन-चरित्र को लेखक श्री देवव्रत शास्त्री ने लिखा है—

"एक बार एक प्रसिद्ध देशी राज्य (ग्वालियर) के सम्बन्ध में 'प्रताप' में कुछ शिकायतें छपीं । इस राज्य के शासक विद्यार्थी जी से परिचित थे और उनको अपना ही आदमी समझते थे । इसलिये आपने विद्यार्थी जी को अपने यहाँ बुलाया । वे सदा की तरह अपना एक मामूली हैण्डबैग उठाकर चल दिये । स्टेशन पर जो राज-कर्मचारी उनको लेने आये थे, वे इधर-उधर भागते हुए उनको ढूँढ़ रहे थे । विद्यार्थी जी के एक साथी ने इस बात को समझकर उनसे पूछा—आप किसे ढूँढ़ रह हैं ? उत्तर मिला—कानपुर के एडीटर साहब को । जब ज्ञात हुआ कि मामूली कपड़े पहने यह दुवला-पतला-सा आदमी 'एडीटर साहब' है तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा । वे आज तक यह नहीं जान सके थे कि अपने हाथ में हैण्डबैग लटकाये और थर्डक्लास मे यात्रा करने वाला कोई व्यक्ति महाराज का मेहमान हो सकता है ।

जब महाराज से भेंट हुई तो देखा कि 'प्रताप' में छपी हुई शिकायतें उनके सामने मेज पर रखी है । विद्यार्थी जी को देखकर महाराज खड़े हो गये और व्यंग्ययुक्त ढंग से कहने लगे—"तशरीफ रखिये ! मै इस राज्य का स्थान आपके लिये खाली करने को तैयार हूँ । आप अपने उसूलों के मुताविक राज्य कीजिये ।" विद्यार्थी जी मुस्कराते हुए एक कुर्सी पर बैठ गये तो महाराज ने फरमाया—"मुझे इस बात का अभिमान था कि हमारी रियासत के एक होनहार व्यक्ति ने बाहर जाकर खूब नाम कमाया, पर आपके 'पेपर' ने हमारे ही ऊपर सितम कर डाला ।" महाराज साहब की व्यंग्य और खुशामद की बातों का तो विद्यार्थी जी पर कोई असर न पड़ा, पर जब वहाँ मौजूद सब कागजात को देखकर उनको मालूम हुआ कि समाचार भेजने वाले सम्वाददाता ने कुछ बातें भूल से लिख दी है, तो उन्होंने कहा—"मै इसका भ्रम-संशोधन—प्रतिवाद—छापने को तैयार हूँ । अगर इसके पहले भी आप शिकायती-पत्र का प्रतिवाद भेज देते तो मै उसे जरूर प्रकाशित कर देता ।"

उन कागजातो मे एक मामला ऐसा निकल आया, जिसके सम्बन्ध मे विद्यार्थी जी महाराज से सहमत न हो सके और कहा—"इस आदमी के साथ तो आपने न्याय नहीं किया ।" महाराज ने संकोच से कहा—खैर, और फिर चुप हो गये । अगले दिन जब विद्यार्थी जी चलने लगे तो मन्त्री जी ने उनको कुछ रुपया देते हुए कहा—'यह आपका मार्ग व्यय है ।' विद्यार्थी जी ने उसको अस्वीकार करते हुए कहा—'इसकी जरूरत नहीं ।'

मन्त्री—'परन्तु मुझे आज्ञा मिली है कि आपका मार्ग-व्यय दे दिया जाये ।'

विद्यार्थी जी—मैं यहाँ अपने काम से—सत्यासत्य की जाँच करने के लिये आया हूँ। ऐसी दशा मे मेरे लिये आपसे राह खर्च लेना ठीक नहीं।

घर में आई हुई लक्ष्मी का इस प्रकार तिरस्कार करते देखकर मन्त्री जी ने फिर कहा—'आप इसका ख्याल न करें, हमारी रियासत गरीब नही है।'

'जनाब, हमारा 'प्रताप' भी गरीब नहीं है।'—और यह कह कर वे वहाँ से चल दिये। जब यह घटना महाराज को बतलाई गई तो वे नाराज हो गये और अपनी रियासत में प्रताप के आने पर रोक लगा दी।

एक अन्य बड़ी रियासत के शासक के साथ भारत सरकार बड़ी जबरदस्ती कर रही थी। उनको गद्दी पर से हटाने के लिये अनेक प्रकार के दोषारोपण किये जा रहे थे। विद्यार्थी जी ने इस अन्यायपूर्ण व्यवहार के खिलाफ प्रताप मे कई लेख लिखे और एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। जब यह खबरें महाराज साहब को मिलीं तो उन्होंने कुछ धन विद्यार्थी जी को भेट करना चाहा परन्तु इन्होंने यही उत्तर दिया कि—अन्याय, अत्याचार का विरोध हम अपना कर्त्तव्य समझकर करते हैं, उसके लिये कोई पुरस्कार नहीं ले सकते। राजा साहब ने जब उत्तर सुना तो वे इनके त्याग और नि.स्वार्थ सेवा पर बड़ा आश्चर्य करने लगे।

इसी प्रकार जब एक रियासत के सम्बन्ध में प्रताप में आन्दोलन किया जा रहा था तो विद्यार्थी जी के एक परिचित मित्र वहाँ के महाराज के पास पहुँचे और यह कहकर कि 'मैने आपके लिये प्रताप में इतना आन्दोलन कराया है' दस हजार रुपया वसूल कर लाये। वे महाशय विद्यार्थी जी के स्वभाव को खूब जानते थे इसलिये वे इस बात को उनको सामने प्रकट न कर सके। पर जब किसी अन्य सूत्र से विद्यार्थी जी को यह भेद मालूम पड़ गया तो उन्होने उन महाशय को बुलाकर प्रताप को बदनाम करने के लिये बहुत डांटा-फटकारा और तमाम रुपया तुरन्त वापस करने को कहा। पर तब तक सब रुपया समाप्त हो चुका था। महाशय जी ने बहुत माफी माँगी। विद्यार्थी जी ने उसी समय महाराज को पूरा समाचार लिख दिया और प्रताप की नीति और स्थिति भी अच्छी तरह समझा दी। विद्यार्थी जी की निस्पृहता देखकर राजा साहब चकित रह गये।

## विद्यार्थी जी का स्वाध्याय-प्रेम

जैसा ऊपर कहा जा चुका है विद्यार्थी जी आर्थिक कठिनाइयों के कारण उच्च शिक्षा प्राप्त न कर सके थे और १७-१८ साल की आयु में ही उनको नौकरी तलाश करते हुए इधर-उधर भटकना पड़ा। फिर भी उन्होंने अपने ज्ञान-भण्डार को इतना बढ़ा लिया कि उनके सम्पादकत्व में प्रताप समस्त हिन्दी-पत्रों में अग्रणी बन गया तथा उनकी रचनायें हजारों व्यक्तियो की प्रेरणा स्रोत बन गईं। इसका आधार उनका स्वाध्याय प्रेम ही था। वे बाहर रहे या जेल में, उन्होंने अपना समय कभी बेकार नहीं गँवाया। सदा कुछ न कुछ पढ़ते ही रहे। करन्सी ऑफिस की नौकरी और पृथ्वीनाथ हाईस्कूल की मास्टरी उन्होंने इसी कारण छोड़ी, क्योंकि वहाँ के व्यवस्थापक उनकी स्वाध्याय सम्बन्धी प्रवृत्ति में बाधक सिद्ध हुए।

पर विद्यार्थी जी को स्वाध्याय का विशेष अवसर जेल-प्रवास के समय ही मिलता था वहीं पर उन्होंने स्टुअर्ट मिल, स्पेंसर, रूसो, मोपासां, रस्किन, कारलाइल, टॉल्सटाय, थोरो, शेक्सपियर, अप्टन सिंकलेयर, बर्नार्ड शॉ, अनातोले फ्रांस, एच. जी. वेल्स आदि यूरोप, अमेरिका के सब विद्वानों और विचारकों की रचनायें पढीं और अपने साहित्यिक तथा राजनैतिक ज्ञान को पुष्ट बनाया। जेल मे ही उन्होने ह्यूगो की 'नाइन्टी थ्री' और 'ला मिजरेबिल्स' उपन्यासों का अनुवाद किया। इन अनुवादो के सम्बन्ध में एक स्थान पर कहा गया है—

विक्टर ह्यूगो पर तो वे फिदा थे। उसका 'ला मिजरेबिल्स' उनको बहुत ही प्रिय था। यह संसार के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में से एक माना जाता है। जो भीषण ज्वाला, असह्य व्याकुलता, विद्रोही भावनायें, लबालब करुणा उसके पृष्ठों में अंकित है, उसे अनुभव करने वाले कितने हैं ? पर विद्यार्थी जी पर इन भावनाओं का बहुत असर था। विक्टर ह्यूगो की इस रचना और विद्यार्थी जी की विचारधारा और कार्यशैली में बड़ा सादृश्य था। इसीलिये वह उस पर बहुत अधिक मुग्ध थे। उनकी बडी इच्छा थी कि इस महान लेखक की सभी कृतियों का हिन्दी अनुवाद हो जिससे हिन्दी-भाषा-भाषी जनता भी लाभ उठा सके। पर ह्यूगो का अनुवाद साधारण लेखक नहीं कर सकता। उसके अनुवादक की लेखनी में उतनी ही आग, वैसी

ही करुणा, उतनी ही वेदना और वैसी ही सजीवता होनी चाहिये । विद्यार्थी जी की लेखनी इन गुणों से परिप्लावित थी । पर इस बहुग्रन्थी लेखक के पास इतना समय कहाँ था ? जब १९२१-२२ में वे लखनऊ जेल में रहे तो 'नाइन्टी थ्री' का अनुवाद कर डाला । सन् १९३० में साल भर हरदोई जेल में रहना पड़ा तो 'ला मिजरेबिल्स' का अनुवाद भी पूरा कर डाला । यह उपन्यास काफी बड़ा है और अभी तक अप्रकाशित ही है ।

उन्होंने अपने नाम के साथ जो 'विद्यार्थी' शब्द जोड़ लिया उसका आशय भी स्वाध्याय की भावना को ही प्रकट करना था । उनका कहना था कि प्रत्येक मनुष्य जीवन भर विद्यार्थी अथवा एक साधक ही रहता है । जिन्दगी भर वह कुछ न कुछ सीखता ही रहता है, फिर भी उसका ज्ञान भण्डार अधूरा ही रहता है । संसार उसकी सुविशाल पाठशाला है और वह है उसका एक तुच्छ शिक्षार्थी ।

## धार्मिक और सामाजिक विचार

विद्यार्थी जी के धार्मिक और सामाजिक विचारों के सम्बन्ध में बहुत से लोगों को एक प्रकार का भ्रम देखने में आता है । वैसे तो उस समय अधिकांश राजनैतिक कार्यकर्ताओ की तरह वे स्वतन्त्र विचारों के प्रतीत होते थे और पुराने विचार वालों को उनकी बातें और व्यवहार 'नास्तिकों' की-सी जान पड़ती थीं । कारण यही था कि हिन्दू समाज में धर्म के वास्तविक तत्त्व को भुलाकर जिस प्रकार ऊपरी क्रिया-काण्ड और कुछ सामाजिक रीति-रिवाजों को ही धर्म मान लिया जाता है, वे उसके विरुद्ध थे । वे धर्म को बाहरी दिखावे की चीज नहीं मानते थे और किसी भी अन्य धर्मानुयायी से परहेज या घृणा नहीं करते थे । इसलिये सामान्य 'लकीर पीटने वाले' यही समझा करते थे कि वे धर्म-कर्म को नहीं मानते । पर वास्तव में आन्तरिक दृष्टि से वे सच्चे ईश्वर और धर्म-परायण थे । वे इस सम्बन्ध में गाँधी जी के निम्नलिखित विचारों को ही धर्म के सम्बन्ध में अपना आदर्श स्वीकार करते थे—

मनुष्य का, चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो, कोई काम तब तक कभी सफल और लाभदायक न होगा, जब तक उसको कोई प्रामाणिक धार्मिक आधार न मिले । "यहाँ धर्म शब्द से मेरा तात्पर्य उस धर्म से नहीं है, जो आप संसार के समस्त धर्म-ग्रन्थों को पढ़कर सीखते है । जिस धर्म से मेरा तात्पर्य है, वह मस्तिष्क द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, बल्कि उसका सम्बन्ध हृदय से है । इस धर्मभावना को चाहे हम किसी बाहरी सहायता से प्राप्त करें और चाहे आत्मिक उन्नति द्वारा जागृत करें, पर यदि हम किसी काम को उचित रीति से करना चाहें तो हमको यह धर्म भाव अवश्य जागृत करना पड़ेगा ।"

वास्तव में धर्म के मर्म को हृदयंगम करने के लिये यह विचारधारा बहुत लाभयुक्त है । जो लोग धर्म के मूल तत्त्व को नहीं समझते या अपने स्वार्थ की दृष्टि से उस पर ध्यान नहीं देते और थोड़ा बहुत ऊपरी क्रिया-कांड करके ही अपने को धार्मिक मानने लग जाते है, वे या तो दम्भी होते हैं, या मूढ़ । सत्य धर्म का सम्बन्ध हृदय से ही रहता है और जो उसे समझ लेता है, वह फिर किसी धर्म का विरोध या अपमान नहीं करता । वह स्वयं अपने समाज के अनुसार ही बाह्य आचरण करता है और अपनी नियमित प्रणाली द्वारा ईश्वर की पूजा, उपासना भी करता रहता है, पर उनके कारण न तो वह किसी का विरोधी बनता है और न कोई ऐसा कार्य करता है, जिसं अन्य लोग उसके विरोधी बन जायें । वह सदैव इ बात को दृष्टिगोचर रखता है, कि जब सभी लोगो ईश्वर एक ही है, तो फिर आपस में वैर-विरोध र की क्या आवश्यकता है ?

धर्म सम्बन्धी इन्हीं सुनिश्चित विचारों के कारण विद्यार्थी जी हिन्दू समाज की कितना ही हानिकारक प्रथाओं जैसे खान-पान सम्बन्धी छुआछूत, अस्पृश्यता आदि को नहीं मानते थे, उन्होंने एक अछूत को अपने प्रेस में ठहरा लिया था और प्रायः उसी से पानी मँगा कर पीते थे । एक बार जब उनको राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के यहाँ जाने का अवसर प्राप्त हुआ तो उन्होंने दाल-रोटी खाने की इच्छा प्रकट की । गुप्त जी साग और पूरी बनवाना चाहते थे पर विद्यार्थी जी दाल-रोटी के लिये ही जिद करते रहे । तब गुप्त जी के काका जी ने कहा अच्छी बात है, ब्राह्मण से कच्ची रसोई बनवा दो । विद्यार्थी जी ने कहा—नहीं काका जी, मैं चौके में बना भोजन ही करूँगा । हम लोग तो 'भ्रष्ट' हो गये हैं । घर के भीतर स्त्रियों ने जब

यह बात सुनी तो उन्हें भी बड़ा आश्चर्य हुआ कि एक वैश्य के घर की कच्ची रसोई कोई कायस्थ भला कैसे खायेगा । उन्होंने कहा "क्यों किसी की जात लेना चाहते हो ?" पर विद्यार्थी जी ने इन बातों को हँसी में टालकर घर का बना भोजन ही किया । गुप्तजी का कहना है कि विद्यार्थी जी उनसे कहा करते थे कि तुमको भी हम पथ-भ्रष्ट बना लेंगे । यद्यपि गुप्त जी अपने ग्रामीण वातावरण के प्रभाव से बाहरी रूप से खान-पान के पुराने नियमों को न तोड़ सके, पर उनका कहना है कि विचारों की दृष्टि से मैं उनका अनुयायी बन चुका हूँ ।

## नवयुवकों को देशभक्ति की प्रेरणा

विद्यार्थी जी ने जब प्रताप का प्रकाशन आरम्भ किया वे २२-२३ वर्ष के युवक ही थे और राजनीति की दृष्टि से गर्म विचारों के थे । इसलिये वे केवल लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, मिसेज ऐनी बेसेण्ट के अनुयायी बनकर कांग्रेस, होमरूल लीग आदि का ही कार्य नहीं करते थे, वरन् क्रांतिकारी नवयुवकों से भी उनका परिचय रहता था । कानपुर क्रांतिकारी आन्दोलन का एक प्रमुख केन्द्र था, वहाँ से बटुकेश्वर, विजयकुमार, राम दुलारे आदि कितने ही क्रांतिकारी निकले । इन सबको आगे बढ़ाने में विद्यार्थी जी यथाशक्ति सहायता पहुँचाते रहते थे । चन्द्रशेखर आजाद और भगतसिंह जैसे देश प्रसिद्ध क्रांतिकारियों को भी वे अपने यहाँ आश्रय देते थे । भगतसिंह तो सन् १९२४ में महीनों तक बलवन्त सिंह नाम रखकर 'प्रताप' के सम्पादकीय विभाग में काम करते रहे । उस समय मैं भी कानपुर में ही रहकर साम्यवादी दल का प्रचार कार्य कर रहा था । एक दिन भगतसिंह मेरे पास आये और रूस की राज्यक्रांति की एक बड़ी पुस्तक मुझसे खरीदकर ले गये यद्यपि मैं उनको कुछ-कुछ जानता था, पर क्रांतिकारियों के गुप्त रहने के नियम का ख्याल करके सिवाय पुस्तक दे देने के मैंने कुछ पूछा नहीं, न उन्होंने कहा । इसके कुछ ही समय बाद काकोरी षड्यंत्र केस हुआ जिसमे कानपुर के प्रायः सभी क्रांतिकारी पकड़ लिये गये । इस मुकदमे में भी विद्यार्थी जी ने हर तरह से सहायता पहुँचाई ।

प्रताप केवल क्रांतिकारियों के लेख आदि ही प्रकाशित नहीं करता था बल्कि वहाँ से रूस, चीन, आयरलैण्ड के स्वतन्त्रता संग्रामों के सम्बन्ध में छोटी-बड़ी पुस्तकें भी निकाली गईं । स्वतन्त्रता के पुजारी, देवी जोन का चरित्र प्रवासी भारतवासियों पर होने वाले अत्याचारों के सम्बन्ध में बनारसी दास जी चतुर्वेदी की रचना आदि कोई न कोई पुस्तक वहाँ से ऐसी निकलती ही रहती थी जिससे नवयुवकों में देश-प्रेम की भावना बढ़े और वे मातृभूमि के उद्धार के लिये अपनी पूर्णशक्ति अर्पण करने को तैयार हों । इन्हीं सब कारणों से सरकारी अधिकारी विद्यार्थी जी को सन्देह की निगाह से देखते थे और उन पर बहुत सख्त निगाह रखते थे । पर इस खतरे की परवाह न करके वे सदा ऐसे जान पर खेलने वाले युवकों की तन-मन-धन से सहायता करते रहे और वैसा ही प्रेरणादायक साहित्य भी प्रस्तुत करते रहे । सच तो यह है कि वे अपनी अन्तरात्मा में स्वयं भी पक्के क्रांतिकारी थे । चाहे 'प्रताप' जैसे बड़े प्रकाशन-कार्य के भार और घर-गृहस्थी की जिम्मेदारियो के कारण वे पिस्तौल और बम लेकर विदेशी शासकों से लड़ने को खड़े न हुए, पर वे सर पर कफन बाँधकर मातृभूमि के उद्धारार्थ आगे बढ़ने वालों की कितनी कदर करते थे और उनके लिये कितनी गहरी आत्मानुभूति रखते थे, इसका कुछ अनुमान सन् १९२७ में 'काकोरी के शहीदों' के प्रति लिखी गई इन पंक्तियों से मिल सकता है—

"वे विद्रोह के पुंज हैं । वे भारतवर्ष की अन्तः-अग्नि की चिनगारियाँ हैं । भारत उनकी माँ है—उनकी, जो आज फाँसी की रस्सी गले में लटका कर मस्ती का गीत गाते हैं । साल के भीतर त्यौहार भी आयेंगे, उत्सव भी आयेंगे, मेले भी होगे और खेल-तमाशे भी होंगे । उस वक्त ये माँ क्या कहेंगी ? और आप जानते हैं कि साल में दो त्यौहार कैसी मुश्किल से कटेंगे—राखी और भैयादूज ? राखी और भैयादूज के अवसर पर इन घरों में न जाने क्या होगा ? मुन्नी की आँखे 'भैया' को खोजेगी और अम्मा की आँखें 'लल्ला' को । सजी हुई थाली मे घुली हुई रोली सूख जायेगी और राखी का वह प्यारा सूत प्रतीक्षा करते-करते थक जायेगा । थाली भरी मिठाइयाँ यों ही पड़ी रह जायेंगी । माँ का मुँह सूखा रह जायेगा और हम वैसे ही हँसेगे, खेलेगे और खायेंगे ।"

इन थोड़ी-सी पंक्तियों से जहाँ विद्यार्थी जी की स्वाभाविक और हृदय को स्पर्श करने वाली साहित्यिक शैली का दिग्दर्शन होता है, वहाँ इन आत्मोत्सर्ग करने वाले मातृभूमि के उपासकों के बलिदान के लिये उनके हृदय की सच्ची कसक और पीड़ा का पता भी चलता है। उनके अन्तर में जलने वाली इसी आग का परिणाम था कि उन्होंने अपना बलिदान इन क्रांतिकारी युवकों से भी बढ़ी-चढ़ी निर्भीकता से कर दिखाया। क्या हम इस सच्चे आत्मत्यागी से आध्यात्मिकता की शक्ति को व्यावहारिक रूप में प्रकट करने वाले से, कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे ?

## उदारता का व्यवहार

विद्यार्थी जी ने आरम्भिक जीवन मे गरीबी का कष्ट सहन किया था और जीवन-निर्वाह के लिये बड़ा परिश्रम करना पड़ा था, इसलिये वे अभावग्रस्त लोगों की विपिन्न परिस्थिति को खूब समझते थे। फिर उनका स्वभाव भी कुछ ऐसा पर-दुःख कातर था कि प्रत्येक व्यक्ति की, चाहे वह परिचित हो या अपरिचित, अपना पक्षपाती हो या विरोधी, सहायता करने को तैयार हो जाते थे। मैंने स्वयं उनको कई बार हर तरह के व्यक्तियों की सहायता करते देखा था और यह अनुभव किया था कि उनका स्वभाव ही ऐसा बन गया है कि किसी को दुःखी देखकर बड़ी शीघ्र उससे प्रभावित हो जाते हैं। उनकी इस विशेषता का वर्णन करते हुए उनके जीवन-चरित्र में ठीक ही कहा गया है—

'दूसरों के दुःख को देखकर द्रवित हो उठना विद्यार्थी जी के जीवन का एक विशेष अंग था। दुःखी, गरीब, आर्त और असहाय लोगों का उनके पास बराबर तांता लगा रहता था, मानो वे अपने रक्षक, अपनी माता या पिता के पास आये हों। उनके दुःख-दर्द की कहानी विद्यार्थी जी बड़े ध्यान से सुनते और उसे दूर करने का यत्न करते। ये प्रायः मजदूर सभा वाले, देहातों से आये हुए किसान, शहर के कोई दु.खी सज्जन अथवा निर्धन विद्यार्थी होते थे। 'प्रताप प्रेस' सदा ऐसे आर्त और असहायों का सहायक-सदन बना रहता था। जिसे कहीं कोई सहारा न मिले उसे प्रताप में सहारा मिल जाता और सहायता भी। भोजन के लिये तो मानो वहाँ सदाव्रत ही खुला हुआ था। जेलों में गए राजनैतिक कार्यकर्ताओं के नि.सहाय परिवारों की वह सदा खोज-खबर लेते रहते और मदद पहुँचाते रहते थे। किसी के घर रुपया भेज रहे हैं तो कहीं कपड़े ही जा रहे हैं। किसी की कन्या की शादी का प्रबन्ध करवा रहे हैं, तो किसी के लड़के के पढ़ाने का इन्तजाम कर रहे हैं। वे कहते थे—कोई आदमी किसी निर्धन घर में जन्मा केवल इसीलिये उसे मानवी-शक्तियों के विकास के साधनों से वंचित नहीं किया जाना चाहिये, और समाज के हर एक व्यक्ति का फर्ज है कि अधिक से अधिक जितनी मदद ऐसे व्यक्ति की कर सकता हो अवश्य करे।"

"एक दिन विद्यार्थी जी 'प्रताप' कार्यालय में बैठे कुछ लिख रहे थे। छुट्टी का दिन होने से प्रेस बन्द था। अचानक एक आदमी भीतर घुस आया और विद्यार्थी जी के सामने पहुँचकर रेल में अपने माल-असबाब के चोरी हो जाने का दुखड़ा रोने लगा। विद्यार्थी जी ने बिना कुछ पूछ-ताछ किये अपनी जेब से जितने रुपये-पैसे उस समय थे सब निकालकर उसे दे दिये और बोले, आज छुट्टी होने से प्रेस बन्द है। जो कुछ मेरे पास है वह दे दिया। अगर चाहो तो इनमें से कुछ पैसे मेरे खर्च के लिये छोड़ दो और तुम्हें ज्यादा जरूरत हो तो सब ले जाओ। वह आदमी कुछ नहीं छोड़ गया और विद्यार्थी जी फिर चुपचाप अपना काम करने लगे।"

उपर्युक्त घटना में सम्भव है कि वह आदमी कोई पेशेवर माँगने वाला ही हो, क्योंकि इन दिनों इस प्रकार अपनी 'दुःख-गाथा' सुनाकर सहृदय व्यक्तियों की भावना को जागृत करके थोड़ा-बहुत रुपया-पैसा वसूल करने वाले व्यक्ति भी काफी तादाद में दिखाई पड़ते हैं। अनेक माँगने वाली जातियों की स्त्रियाँ भले घर की बहू-बेटियों का-सा वेश बनाकर और तरह-तरह की कष्ट की बातें सुनाकर माँगती-फिरती हैं। पर विद्यार्थी जी का सहज में ही द्रवित होने वाला हृदय ऐसी शंकाओं पर ध्यान देने के बजाय उनकी सहायता को तैयार हो जाता था। हो सकता है कभी-कभी उनकी इस उदारता का लाभ भी कुपात्र लोग उठा लेते हों, पर वे तो उनको वास्तव मे आपत्तिग्रस्त समझ कर ही सहायता करते थे। इस प्रकार कितने व्यक्तियों को उनके द्वारा समय-समय पर आश्रय प्राप्त हुआ होगा उनकी गिनती करना कठिन है।

## आत्म-बलिदान की कथा

विद्यार्थी जी का अन्त जिस परिस्थिति में हुआ उस पर जहाँ उनके इष्ट-मित्रों तथा सम्बन्धियों ने ही नहीं सभी सहृदय व्यक्तियों ने आँसू बहाये, वहाँ जगतपूज्य महात्मा गाँधी ने उनकी मृत्यु को समस्त श्रेष्ठ व्यक्तियों के लिये स्पर्धा के योग्य बतलाया और कहा कि हममें से प्रत्येक को गणेश शंकर बनने की चेष्टा करनी चाहिये।

कानपुर का दंगा वास्तव में बड़ा भयंकर था। चार दिन के भीतर ५०० से अधिक व्यक्ति मारे गये और कई हजार घायल हुए। लाखों रुपये की सम्पत्ति लूटी और जलाई गई। लोगों का ख्याल था कि कानपुर में उग्र राजनैतिक आन्दोलनकारियों और क्रांतिकारियों की प्रमुखता देखकर, सरकार ने दंगे को रोकने में जान-बूझकर ढील की जिससे उसने इतना अधिक सर्वनाशी रूप धारण कर लिया। उसका वर्णन करते हुए प्रत्यक्षदर्शियो ने जो बतलाया उसका सार इन शब्दों में है—

"चार दिन तक कानपुर में महाकाली अपना प्रचण्ड रूप धारण करके अपनी विकरालता दिखा गई। उन दिनों कानपुर में कोई शासन, कोई व्यवस्था, कोई कानून न था। अंग्रेजी राज्य चार दिन के लिये मानो खत्म हो गया था। चारों ओर हाहाकार सुनाई पड़ता था। कोई किसी को पूछने वाला न था। हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे के खून के प्यासे हो रहे थे। दोनों अपनी मानवता को भूलकर राक्षसीपन पर उतर पड़े थे। धर्म और मजहब के नाम पर परमात्मा और खुदा का नाम लजाया जा रहा था। क्या बच्चा, क्या बूढ़ा, क्या पुरुष और क्या स्त्री किसी का भी जीवन सुरक्षित न था। चारों ओर घमामान नर-संहार, भयंकर लूटमार और हृदय को दहला देने वाला दृश्य उपस्थित था। मनुष्य मे पशुता और क्रूरता की मात्रा किस हद तक पहुँच सकती है, इसके अध्ययन का अनौखा मौका था। ऐसे गाढ़े समय में बड़े-बड़े मर्दाने वीर भी आगे बढ़ने में हिचक रहे थे। पर विद्यार्थी जी से न रहा गया और वे आग में कूद पड़े। परोपकार के उच्च आदर्श पर, सैकड़ो स्त्री-पुरुषों की रक्षा करने की लगन पर, मनुष्यता के नाम पर वे निछावर हो गये।"

दंगे के पहले दिन विद्यार्थी जी ने कई स्थानों में जाकर दंगों को शान्त करने की कोशिश की। उन्होंने कितने ही लोगों की प्राण-रक्षा और दुकानो तथा मकानों को जलाने और लूटे जाने से बचाने की कोशिश की। शाम तक वह शहर के विभिन्न भागों में इसी तरह मारे-मारे फिरे। उस दिन उन्होंने पुलिस का जो रवैया देखा, उससे वे इस नतीजे पर पहुँचे के पुलिस बिल्कुल पक्षपात और उपेक्षा से काम ले रही है और ऐसी दशा में लोगों के जान-माल की रक्षा के लिये कुछ आशा रखना व्यर्थ है।

दूसरे दिन जब समाचार मिला कि रात्रि के समय उपद्रवों ने और भी भयंकर रूप धारण कर लिया है तो वे सुबह नौ बजे ही थोड़ा-सा दूध पीकर निकल पड़े। चलते समय पत्नी ने कहा कि 'इस भयंकर दंगे में कहाँ जाते हो ?' तो उत्तर मिला—'तुम व्यर्थ ही घबराती हो। जब मैंने किसी की कोई बुराई ही नहीं की तो मेरा कोई क्या बिगाड़ेगा ? ईश्वर मेरे साथ है।'

शाम को तीन बजे तक वे कई हिन्दू मोहल्लों से घिरे हुए मुसलमानों को अन्य सुरक्षित स्थानों में भिजवाने में लगे रहे। उस समय किसी ने उनसे कहा कि मुसलमानी मुहल्लों मे हिन्दुओं की हालत बड़ी संकटापन्न हो रही है। यह सुनकर वे दो हिन्दू और एक मुसलमान स्वयंसेवकों को लेकर मिश्री बाजार तथा मछली बाजार की तरफ चले जहाँ मुसलमानों की ही अधिक संख्या थी। उन्होंने दस-पाँच व्यक्तियों की रक्षा भी की, पर ४ बजे के लगभग मुसलमान उपद्रवकारियों की एक भीड ने उनको घेर लिया और मारने लगे। साथ के मुसलमान स्वयंसेवक ने उनको बहुत समझाया कि उन्होंने आज १५०-२०० मुसलमानों की जान बचाई है, पर वे धर्मान्धता से उन्मत्त लोग उस समय पशु ही बन रहे थे। एक व्यक्ति ने उनको बचाने के लिये हटाने की चेष्टा भी की तो विद्यार्थी जी ने कहा—'क्यों घसीटते हो मुझे ? मैं भागकर जान नहीं बचाऊँगा। एक दिन मरना तो है ही। अगर मरने से ही इन लोगो के हृदय की प्यास बुझती है, तो अच्छा है कि मैं कर्त्तव्य का पालन करते हुए आत्म-समर्पण कर दूँ।' पर इन देवत्व की भावनाओं का उन दानवो पर क्या प्रभाव पड़ सकता था ? वे उन पर टूट पड़े और तरह-तरह के हथियारो से मारकर उनका प्राणान्त कर दिया।

उस घोर अशान्तिपूर्ण वातावरण में कौन, कब, कहाँ मारा गया, इसका पता लगा सकना भी सम्भव

नहीं था । विद्यार्थी जी का शव भी उन आततायियों ने इधर-उधर छुपा दिया । इसलिये २६ ता. को दिनभर खोज करने पर भी उसका कोई पता न लग सका । २७ ता. को खबर मिली कि अस्पताल में जो अनेक लाशें आई हैं, उनमें एक विद्यार्थी जी की मालूम पड़ती है । इस पर उनके मित्रों ने वहाँ पहुँच कर जाँच कि तो बात सच थी । यद्यपि चोटों के लगने और दो दिन तक पड़ा रहने से शव विकृत हो गया था, पर बायें हाथ पर खुदे हुए पुराने नाम और जेब में रखे पत्रों से मालूम हो गया कि वह विद्यार्थी जी का ही शव है । तब बड़ी कठिनाई से २८ ता. को उनकी दाह-क्रिया हो सकी । मृत्यु के समाचार को भी दो-एक दिन जनता से छिपाया गया, क्योंकि सन्देह था कि इसके फैलाने पर दंगा और भी भड़क उठेगा ।

इस प्रकार उन नरतनधारी भेड़ियों ने तो, जिनके लिये किसी भी धर्म या मजहब का नाम लेना निरर्थक है, अपनी समझ से विद्यार्थी जी की ऐसी दुर्गति कर डाली, जैसी कि सड़क पर पड़े किसी भिखारी की भी नहीं होती पर वे नहीं जानते थे कि अपने कुकृत्य द्वारा वे उनको मारकर भी अमर बना रहे हैं । यह निश्चय है कि यदि विद्यार्थी जी उस समय दंगे में न मारे जाते वरन् दस-बीस वर्ष बाद स्वाभाविक मृत्यु से मरते तो आज उनके नाम का जितना प्रभाव है, उसका आधा-चौथाई भी न होता । उनकी मृत्यु का समाचार पाते ही महात्मा गाँधी ने, जो उस समय कराँची के कांग्रेस अधिवेशन में भाग ले रहे थे 'प्रताप' कार्यालय को तार द्वारा यह संदेश भेजा—

"गणेश शंकर की मृत्यु पर यद्यपि हृदय खून के आँसू रोता है, फिर भी इस शानदार मृत्यु पर सवेदना प्रकट करने को जी नहीं चाहता । यह निश्चय है कि आज नहीं तो आगे किसी दिन उनका निष्पाप खून देश की समता को सुदृढ़ बनायेगा । इसलिये उनका परिवार संवेदना का नही बधाई का पात्र है ।" इसके कई दिन पश्चात् महात्मा जी ने एक लेख मे इसका जिक्र करते हुए लिखा था—

"हमें तो गणेश शंकर विद्यार्थी बनना चाहिये । गणेश शंकर की तरह आपमे से एक-एक आदमी अपना शान्तिदल बना सकता है लेकिन सवाल यह है कि विद्यार्थी जी जैसे कितने आदमी है ? वह भले ही मर गया लेकिन उसकी आत्माहुति व्यर्थ नहीं गई । उसकी आत्मा मेरे दिल पर काम करती रहती है । मुझे जब उसकी याद आती है, तो उससे ईर्ष्या होती है । इस देश में दूसरा गणेश शंकर क्यों नहीं पैदा होता है ? हम थोड़ी देर के लिये मान सकते हैं कि उसकी परम्परा समाप्त हो गई, लेकिन वह इतिहास में अमर हो गया, उसकी अहिंसा, सिद्ध अहिंसा थी । उसी की तरह कुल्हाड़ी के प्रहार सहते हुए मैं शान्तिपूर्वक मरूँ । एक तरफ से एक मनुष्य मुझ पर कुल्हाडी चला रहा हो, दूसरी तरफ से दूसरा बरछी मारता हो, तीसरा लाठी मार रहा हो, चौथा लात-घूँसे बरसाता जाता हो । ऐसी अवस्था मे भी मैं खुद शान्त रहूँ, अन्य लोगों से शान्त रहने को कहूँ और स्वयं हँसता हुआ मरूँ ऐसा भाग्य मैं चाहता हूँ । गणेश शंकर को ऐसा ही मौका मिला था, इसलिये उसकी याद आने से ईर्ष्या होती है, कि क्यों नहीं मुझे वह मौका मिलता ? मुझे तो रह-रह कर गणेश शंकर की याद आती है । उसी का आदर्श मैं आपके सामने रखता हूँ ।"

जवाहरलाल नेहरू ने भी कराँची में जब यह समाचार सुना तो लिखा "मेरा दिल बैठ गया, आँखो के सामने अँधेरा छा गया तथा यह यकीन नहीं आया कि गणेश शंकर गुजर गये । कांग्रेस की भीड़ में सन्नाटा छा गया लेकिन रंज की क्या बात ? गणेश शकर जी जैसे जिये वैसे ही मरे । इससे अधिक कोई और क्या माँग सकता है कि अपने भाइयों और देश-सेवा के लिये मौत का सामना कर सके और गणेश शंकर जी की तरह मरे । गणेश जी शान से जिये और शान से मरे ।"

कराँची कांग्रेस ने विद्यार्थी जी के सम्बन्ध मे निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया था—

"कानपुर के दंगों मे मुक्त-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष श्री गणेश शंकर विद्यार्थी की जो मृत्यु हुई है, उसके लिये कांग्रेस को अत्यन्त दुःख हुआ है । विद्यार्थी जी अत्यन्त त्यागी देश-सेवको में से थे और साम्प्रदायिक भावना से सर्वथा मुक्त होने के कारण सभी दलो और सम्प्रदायों के प्यारे बन गये थे । उनके परिवार वालों के प्रति सवेदना प्रकट करते हुए कांग्रेस इस बात पर गर्व प्रकट करती है कि उसके एक प्रथम श्रेणी के कार्यकर्ता ने खतरे में पड़े लोगो के उद्धार

और शान्ति-स्थापना के प्रयत्न में अपने को बलिदान कर दिया।"

इसके कुछ ही समय बाद विद्यार्थी जी का एक स्मारक बनाने के लिये एक समिति नियुक्त की गई, जिसने एक अपील प्रकाशित करके जनता को बतलाया—

गणेश शंकर विद्यार्थी हमारे देश के एक तेजोमय रत्न थे। कानपुर की लज्जाजनक दुर्घटना में उनके ऐसे लोकप्रिय कर्मवीर का उठ जाना शोकमय दुःखदाई तो है ही किन्तु जिस वीरता से उनका अन्त हुआ, वह देश भर का सिर ऊँचा कर रही है। हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना में देश का यह सबसे बड़ा बलिदान हुआ है और देश के सामने एक नया आदर्श रख रहा है। गणेश शंकर जी की जीवनी और उनकी मृत्यु सदा देश की एक अमूल्य और प्यारी स्मृति रहेगी और लाखों लोगों को ठीक मार्ग पर चलने के लिये अँधेरे में प्रकाश दिखलाती रहेगी। गणेश शंकर जी का शरीर भस्म हो गया किन्तु कृतज्ञ देशवासी उनकी कीर्ति को जीवित रखेंगे। करोंची कांग्रेस के अवसर पर ही संयुक्त प्रान्त के प्रतिनिधियों की एक समिति बनाकर स्मारक के सम्बन्ध में आवश्यक काम करना उसके सुपुर्द कर दिया था। उसने यह निश्चय किया कि देश से कम से कम एक लाख रुपया एकत्रित करके इस कार्य को पूरा किया जाये।

इस अपील पर जवाहरलाल नेहरू, पुरुषोत्तम दास टण्डन, सुन्दरलाल, कृष्णकान्त मालवीय, गोविन्दवल्लभ पन्त, श्री प्रकाश, बाबू शिवप्रसाद गुप्त आदि नेताओं के हस्ताक्षर थे।

संयुक्त प्रान्त की सरकारी कौंसिलों में भी विद्यार्थी जी के आत्मोत्सर्ग पर एक प्रस्ताव पास किया गया और और प्रान्तीय गवर्नर सर मैलकम हेली ने उनकी प्रशंसा करते हुए शोक प्रकट किया। जो अंग्रेजी सरकार वर्षों तक विद्यार्थी जी को कुचलने का प्रयत्न करती रही, उसी के प्रतिनिधि द्वारा स्वर्गीय विद्यार्थी जी का यह सम्मान कविवर रहीम की इस उक्ति की याद दिलाता है—'रहिमन साँचे सूर को बैरिहु करहि बखान।'

## निःस्वार्थ त्याग और बलिदान की महिमा

जिन विद्यार्थी जी को आरम्भिक अवस्था में पढ़ाई की पुस्तकें और फीस आदि के अभाव से अध्ययन छोड़कर बीस रुपये की नौकरी के लिये महीनों चक्कर काटने पड़े, मरणोपरान्त उनके लिये देश के सर्वोच्च नेताओं और सरकार द्वारा भी इस प्रकार सम्मानपूर्ण उद्‌गार प्रकट किया जाना सिद्ध करता है कि किसी की त्याग, तपस्या और निःस्वार्थ बलिदान कभी व्यर्थ नही जाता। जो व्यक्ति जीवन भर नगर की एक तंग गली में बने साधारण मकान में निवास करता रहा, बाद में उन्हीं के नाम पर कानपुर के सबसे प्रसिद्ध उद्यान का नाम 'गणेश शंकर विद्यार्थी पार्क' रखा गया और महारानी विक्टोरिया के स्थान पर उनकी मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई। वंश और वैभव की दृष्टि से एक सामान्य व्यक्ति का ऐसा राजा-महाराजाओं और धन-कुबेरों के लिये भी दुर्लभ सम्मान प्राप्त कर लेना, यह सिद्ध करता है कि सच्ची सेवा भावना और परोपकारमय जीवन अवश्य ही प्रत्येक व्यक्ति को महान बना सकता है।

विद्यार्थी जी चाहे पारिवारिक दृष्टि से निर्धन रहे हों, पर मानसिक स्थिति और व्यवहार की दृष्टि से उनको कभी कंगाल या दीन नहीं कहा जा सकता था। प्रत्येक अवस्था में उन्होंने अपना स्वाभिमान स्थिर रखा। अपनी आर्थिक स्थिति साधारण होते हुए भी वे दूसरे गरीबों और जरूरतमन्दों की सहायता करने को सदा तैयार रहते थे। इस सम्बन्ध में उनका मनोभाव कैसा था यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि जब ग्वालियर रियासत के मन्त्री ने उनको मार्ग-व्यय के नाम पर एक बड़ी रकम भेंट करते हुए कहा कि 'हमारी रियासत गरीब नहीं है' तो उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया कि 'जनाब! हमारा प्रताप भी गरीब नहीं है।' यद्यपि उस समय भी प्रताप का काम कुछ देश-प्रेमियों की सहायता से ही चलता था, पर एक करोड़पति रियासत के प्रधान को उन्होंने निःसंकोच भाव से फटकार बतादी।

पर फिर भी 'हम ऐसे व्यक्तियों को देखते हैं जिन्होंने सार्वजनिक कार्यों में कुछ भाग लिया है, और वे सदा यही शिकायत करते रहते है कि दुनिया सेवा और स्वार्थ त्याग की कदर नहीं करती और देश तथा समाज-सेवकों को सदा कष्ट ही सहन करना पड़ता है।' हम उनके इस कथन को यहाँ तक तो ठीक मान सकते हैं कि सेवा-मार्ग के पथिकों को प्रायः धनाभाव रहता है और जिन सांसारिक सुखों का उपभोग

अधिकाश वड़े कहलाने वाले करते हैं वे उनमें वंचित ही रहते हैं । पर ये शिकायत करने वाले सज्जन यह नहीं जानते कि सच्चे सेवा-धर्मी इस प्रकार के धनाभाव और गरीबी के जीवन को उनकी तरह अभाग्य की बात नही समझते । उनकी दृष्टि में ऐसी गरीवी जो परोपकार-धर्म का निर्वाह करने के लिये स्वेच्छापूर्वक स्वीकार की जाती है, एक 'दूपण' नहीं वरन् 'भूपण' होती है ।

## 'सेवा धर्म परम गहनो'

जिस व्यक्ति के उदाहरण को देखकर युग-पुरुष गाँधी जी बार-बार यह कहें कि 'मुझे उनसे ईर्ष्या होती है कि उनके समान अवसर मुझे क्यों नहीं मिलता ? बस, अब जेल जाने में मुझे कोई महत्त्व नहीं जान पड़ता, अब तो गोली या फाँसी ही उपयुक्त चीज है ।' उसके महत्त्व का अनुमान वे लोग नहीं कर सकते जो सेवा-कार्य को भी एक लाभजनक सौदा समझकर करते हैं । वे लोग आत्मोत्सर्ग और परमार्थ के वास्तविक अर्थ से अनजान होते है । उनकी समझ में यह बात नहीं आती कि सेवा और परोपकार के बदले मे धन और पदवी की आकांक्षा करना वैसा ही है जैसा असली रत्न के बदले मे रंग-विरंगा काँच का नग लेना । सांसारिक धन-वैभव सत्ता तो कोई भी दुस्साहसी अथवा चलता-पुर्जा पा सकता है, नाचने-गाने वाली या चरित्रहीन स्त्रियाँ भी लाखों की सम्पत्ति कमा लेती हैं, पर उनके जीवन को किसी भी तरह श्लाघनीय अथवा प्रशंसनीय नहीं माना जाता। पर एक लँगोटी लगाने वाले सेवा-भावी सन्त की वन्दना करोड़ों व्यक्ति करते हैं और उनकी जय-जयकार बोली जाती है ।

शास्त्रो में स्पष्ट कहा गया है कि सेवा-धर्म सबसे बढ़कर महत्त्वपूर्ण है, जो योगियों के लिये भी अलभ्य है । इसका आशय यही है कि मनुष्य किसी भी विषय मे कितनी ही उन्नति क्यों न करले अगर वह अपनी प्राप्ति का उपयोग अन्य लोगों के लिये नही करता, तो उसका बडा या समृद्धिशाली होना, न होना बराबर है । वह अपने मन मे अपने को बड़ा समझता रहे और उसके दस-पाँच चापलूस मुसाहिब लाभ उठाने के लिये उसकी प्रशसा के पुल बाँधते रहें, पर जन-साधारण तो यही कहेगे कि अगर वह राजा होगा तो अपने घर का होगा, हमको उससे क्या मतलव ? इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध कवि स्काट ने ऐसे बड़े किन्तु स्वार्थी लोगों के विषय में ठीक ही कहा है—

> *चाहे पदवी वाकी होय बहुत ही भारी ।*
> *दुनिया वाको नाम बड़ो कर जाने सारी ॥*
> *सुरपति के अनुकूल होहि वाको अतुलित धन ।*
> *कवित्त ताके हेतु तऊ नहिं करिहैं कविगन ॥*

सच है जिस व्यक्ति ने संसार में आकर अपने सुख और आनन्दोपभोग का ही ध्यान रखा तथा देश और समाज की प्रगति की ओर से मुँह मोड़े रहा उसकी चर्चा या परवाह हम भी क्यों करें ?

हमारे ही देश में आप प्रत्येक नगर में ऐसे दस-पाँच आदमी ढूँढ़ सकते है, जिन्होंने व्यापार-व्यवसाय द्वारा अथवा ऐसे ही किसी भले-बुरे काम द्वारा लाखों रुपया जमा कर लिया है, पर न तो उनको कोई जानता-पहचानता है और न कहीं उनका स्वागत-सम्मान होता है । इसके विपरीत उसी स्थान मे ऐसे भी सार्वजनिक सेवा-परायण व्यक्ति मिल सकते हैं, जिनका जीवन-निर्वाह बड़ी कठिनाई से हो पाता है, पर जहाँ जाते हैं उनको सम्मान के साथ वैठाया जाता है और सभी श्रेणियो के व्यक्ति उनकी प्रशंसा करते है । विद्यार्थी जी भी इसी श्रेणी के व्यक्ति थे । आरम्भ में तो वे २० रुपया की नौकरी करके ही गृहस्थी चलाते थे और बाद में भी धन की दृष्टि से उनकी स्थिति कभी उल्लेखनीय नहीं हुई । फिर भी वे जो कुछ उपार्जन करते थे उसमे से अन्य जरूरतमन्दों और विशेपतः देश-सेवकों की सहायता खुले दिल से करते रहते थे । यही परोपकार वृत्ति उनका एक महान गुण थी जिसने उनको छोटे से बहुत बड़ा बना दिया । उनका उदाहरण देकर हम समझ सकते हैं कि संसार में प्रसिद्ध और यशस्वी बनने का वास्तविक मार्ग क्या है ?

## बलिदान की आकांक्षा

यद्यपि विद्यार्थी जी का बलिदान एक आकस्मिक घटना के रूप में हुआ पर उनकी बलिदान-भावना बहुत पुरानी थी । आरम्भ से ही इलाहाबाद में उनका सम्पर्क 'कर्मयोगी' के सम्पादक श्री सुन्दरलाल जी से हो गया था और वहीं उग्र क्रांतिकारियों के कारनामे देख और सुनकर आपको भी इसकी लगन लग गई ।

बाद में आप साहित्यिक क्षेत्र में आ गये और आपकी वही विचारधारा लेख-रूप में प्रकट होने लगी । आपने अपने पत्र 'प्रताप' का नामकरण मेवाड़ के महाराणा प्रताप के स्वाधीनता के लिये मर मिटने के आदर्श को लक्ष्य रख कर ही किया था। उस अवसर पर पत्र के पहले ही अंक में उन्होंने अपने आदर्श, नीति और उद्देश्य का विवेचन करते हुए जो कुछ लिखा था उसमें भी उनकी बलिदान-भावना स्पष्ट दिखाई पड़ती है ।

"आओ प्रताप आओ ! पर पहले परीक्षा दे लो । स्वतन्त्रता देवी के पवित्र मन्दिर में उनके लिये स्थान नहीं, जिनके हृदय का स्थान छोटा है । अतः तुम किस प्रकार की परीक्षा दोगे ? तुम्हें यह परीक्षा अपना सिर कटाकर नहीं, पर सिर को अपने धड़ पर कायम रखकर, बराबर उसके काटे जाने का कष्ट सहते हुए देनी होगी। महलों को ही छोड़ कर नहीं वरन् इस भीष्म शपथ को लेकर कि जब तक चित्तौड़ (मातृभूमि) स्वतन्त्र नहीं होती, जब तक चित्तौड़ के लिये अपना खून बहाने वाले वीर पुरुषों और महिलाओं की आत्मायें अपने मनोवांछित कार्य को सफल होते देखकर प्रसन्न नहीं हो जातीं, तब तक हम फूस पर सोयेंगे, पत्तों पर खायेंगे और शरीर सुखों का स्वप्न में भी ख्याल न करेंगे । तपस्या का अन्त यहीं न हो जायेगा । जो सिर स्वतन्त्रता देवी के सम्मुख झुका, याद रखो उसे अधिकार नहीं कि फिर संसार की किसी अन्य शक्ति के सामने झुके । यह तलवार की धार पर चलता है लेकिन याद रखो कि तुम्हारे मुँह से उफ भी निकली कि तुम गये । ऐसे जाओगे कि कहीं पता न लगेगा और अपने साथ कितनी ही आशाओं और देश के कितने ही गुणो को लेते जाओगे ।"

देश और समाज की रक्षा के लिये आजीवन कष्ट सहन का व्रत लेना असाधारण आत्माओं के लिये ही सम्भव है । जो कोई इस मार्ग को अपना लेता है, वही महामानव बन जाता है । विद्यार्थी जी का आरम्भिक जीवन सब प्रकार से बिल्कुल साधारण और अभावपूर्ण था । पर इस त्याग और बलिदान भावना के कारण वे अमर बन गये । उनका उदाहरण छोटे-बड़े प्रत्येक व्यक्ति के लिये आशा का सन्देश देने वाला और प्रेरणादायक है । हमको विचारना चाहिये कि जब बिल्कुल सामान्य परिस्थितियो और साधनों में विद्यार्थी जी इस तरह का अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित कर सके तो कोई कारण नहीं कि हम भी अगर चाहें तो सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में प्रसंशनीय सफलता प्राप्त न कर सकें । आवश्यकता इतनी ही है, कि हमारा हार्दिक भाव सच्चा हो और हम उसके अनुसार निरन्तर कुछ न कुछ प्रयत्न करते रहें । विद्यार्थी जी इस सिद्धान्त का पालन लड़कपन से ही करते थे । जब वे मैट्रिक में पड़ते थे तो उसमे 'बुक आफ गोल्डन डीड्स' नामक पुस्तक पढ़ाई जाती थी । इसमें वर्णित देश-सेवा और मानव-सेवा की घटनाओं का आप पर खूब प्रभाव पड़ा और कुछ समय पश्चात् उसके आधार पर 'हमारी आत्मोत्सर्गता' नामक पुस्तक लिखी जिसकी भूमिका में आपने अपने हार्दिक उद्गारों को प्रकट करते हुए कहा था—

"मातृभूमि की सेवा करना, हर एक मनुष्य का कर्त्तव्य है । इतिहास का प्रचार देशोद्धार का एक बड़ा उपाय है । प्राचीन कथाओ को सुनकर हिन्दूपति महाराणा प्रताप स्वतन्त्रता देवी के आराधक बने । महाभारत और रामायण की कथाओ ने ही परतन्त्र पिता के पुत्र शिवाजी को महाराष्ट्र का छत्रपति बना दिया । मेरा भी कर्त्तव्य है कि मातृभूमि की सेवा जहाँ तक बने वहाँ तक करूँ ।"

क्या हम भी इन पंक्तियो के लेखक श्री विद्यार्थी जी के चरित्र को पढ़कर समाज-सेवा के महान कार्य में अपनी शक्ति के अनुसार कुछ सहयोग नही दे सकते ?

## विद्यार्थी जी अमर हैं

यही कारण है कि जिस दंगे में विद्यार्थी जी का बलिदान हुआ उसमें अन्य भी ५०० से अधिक व्यक्ति मारे गये, पर उनका आज कोई नाम भी नही जानता । कारण यही है कि जो भागते, गिड़गिड़ाकर प्राणों की भीख माँगते या अपने ही धन-माल की रक्षा करते हुए मारे जाते है, उनके जीवन का कोई मूल्य नही । पर इसके विपरीत विद्यार्थी जी का निधन स्वेच्छापूर्वक दूसरो की रक्षा करते हुए वीरतापूर्वक हुआ और हत्याकारियो को सामने देखकर भी वे एक आत्म-वीर की भाँति अपनी जगह अडिग रहे, इसी से उनके जीवन का मूल्य हजारो गुना अधिक हो गया ।

पर हमको यह भी समझ लेना चाहिये कि ऐसी मनोवृत्ति, ऐसा जीवन एक दिन मे नहीं बन जाता ।

विद्यार्थी जी ने जब से होश सँभाला तभी से उनकी यही भावना रही थी कि जिस प्रकार हो देशोद्धार के लिये अपने को खपा दिया जाये । इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने अपना जीवन सेवामय बना लिया और जब जहाँ आवश्यकता जान पड़ी वहाँ उसी प्रकार लोगों की सेवा, उपकार, सहायता की । इस प्रकार उन्होंने अपने ४० वर्ष के अल्प जीवन में ही कितने लोगों को आभारी बनाया होगा उसका हिसाब लगाया जाना कठिन है । इसी तथ्य को सामने रखकर उनके बलिदान के अवसर पर विद्यार्थी जी को गुरु के तुल्य मानने वाले, श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा था—

"आज उस दीनबन्धु के लिये किसान रो रहे हैं, कौन उनकी उदर-ज्वाला को शान्त करने के लिये आग में कूद पड़ेगा ? मजदूर पछता रहे हैं, कौन उन पीड़ितों का संगठन करेगा ? मवेशीखानों से भी बदतर देशी राज्यों के निवासी आज अश्रुपात कर रहे हैं, कौन उन मूक पशुओं को वाणी प्रदान करेगा ? ग्रामीण अध्यापक रुदन कर रहे हैं, कौन अब दुखड़ा सुनेगा ? राजनीतिक कार्यकर्ता रो रहे हैं, कौन उन्हें आश्रय देकर स्वयं आफत मे फँसेगा ? उनके कन्धे से कन्धा मिलाकर स्वातन्त्र्य संग्राम में आगे बढ़ेगा ? एक कोने में पड़े हुए उनके कुछ पत्रकार बन्धु भी अपने को निराश्रित पाकर आँसू बहा रहे हैं कि आपातकाल में कौन उन्हे सहारा देगा ? किससे वे दिल खोलकर बातें कहेंगे और किसे वे अपना भाई समझेंगे ?"

एक व्यक्ति में कितने गुण हो सकते हैं और यदि वह सच्चाई से काम करे तो अपने थोड़े से साधनों से भी संसार का कितना उपकार कर सकता है, इसके लिये विद्यार्थी जी का जीवन एक जीता-जागता नमूना है । जो लोग धन, समय, योग्यता और सहायकों की कमी बताकर सेवा और परोपकार से मुँह मोड़ा करते हैं वे जीवन को देखकर यह निश्चय कर सकते है कि वे भी कुछ ऐसा कार्य अवश्य कर सकते है, जिससे अन्य मनुष्य उनके जीवन को बहुमूल्य और प्रशंसनीय समझें । यही महानता का मार्ग है ।

# मानवीय समता के प्रतिष्ठाता : महर्षि कार्लमार्क्स

उस समय जर्मन सरकार जन-जागृति का दमन करने पर उतारू हो गई थी । यूरोप में क्रांति की जो हवा फैल रही थी वह जर्मनी में भी पहुँच गई थी । जनता चाहती थी कि देश का शासन सार्वजनिक हित को दृष्टि में रख कर किया जाये और शासन संस्था में प्रजा के प्रतिनिधियों को उचित स्थान मिले । पर निरकुश शासक इस प्रकार की माँग को 'छोटे मुँह बड़ी बात' समझते थे और इसलिये जनता के मुँह को तरह-तरह से बन्द करने की कोशिश कर रहे थे ।

ऐसे समय में कार्लमार्क्स (जन्म सन् १८१८) ने सरकार का मुकाबला करने के लिये 'राइनिशजीटुंग' नामक अखबार का सम्पादन कार्य ग्रहण किया । उसकी लेखनी ऐसी जोरदार थी और सरकार की गलत नीतियों पर ऐसे करारे प्रहार करता था कि कुछ ही समय में उसका नाम दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गया । पर साथ ही सरकारी 'सेंसर' की क्रूर दृष्टि भी उस पर अधिकाधिक पड़ने लगी और उस पत्र के कार्य में तरह-तरह की विघ्न-बाधायें डाली जाने लगीं । तो भी मार्क्स घुमा-फिराकर ऐसे ढंग से लिखता था कि वह सेंसर के फन्दे से बच जाता था । अन्त मे सरकार ने अपने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया और 'राइनिशजीटुंग' को राजद्रोही बतला कर जबर्दस्ती बन्द कर दिया ।

जिस समय मार्क्स पर यह विपत्ति आई और सरकारी अधिकारियों का कोप भाजन बनकर आजीविका से ही वंचित न हो गया वरन् उसकी स्वाधीनता भी खतरे में पड़ गई और उसके मित्रों ने उसे देश से बाहर चले जाने की सलाह दी । उसी समय वह जेनी वेस्ट फेलन के साथ परिणय-सूत्र मे आबद्ध हुआ, जिससे उनका परिचय बाल्यावस्था मे ही था और आठ वर्ष पूर्व विवाह का निश्चय भी हो चुका था । यह जेनी वेस्ट फेलन जर्मनी के प्रतिष्ठित राज्याधिकारी की पुत्री थी और मार्क्स से आयु में चार वर्ष बड़ी थी । इस कारण मार्क्स के

माता-पिता ने इस सम्बन्ध को न करने के लिये उसे समझाया था और अन्य सम्बन्धियों ने भी ऐसी सलाह दी थी। पर मार्क्स ने उत्तर दिया कि जब पुरुष अपनी आयु से बहुत छोटी कन्याओं के साथ विवाह करते रहते हैं तो यदि मैं अपनी आयु से कुछ बड़ी लड़की के साथ विवाह करता हूँ तो इसमें क्या बुराई है? जब हमारा प्रेम सच्चा है तो एक मामूली सामाजिक परम्परा के आगे सिर झुकाने की क्या आवश्यकता? बस उसने निःसंकोच भाव से विवाह कर लिया और अपनी पत्नी को लेकर सीधा फ्रांस चला गया और वहाँ रहकर वही काम करने लगा जिनके लिये उसे अपना देश छोड़ने के लिये बाध्य होना पड़ा था।

कार्लमार्क्स के इस कार्य से उसकी दो विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। एक यह कि मनुष्य को अपना जीवन किसी बड़े उद्देश्य की पूर्ति के लिये अर्पित करना चाहिये और उसको सिद्ध करने में जो भी कठिनाइयाँ, विपत्तियाँ आवें उनको सहर्ष सहन करना चाहिये। उसने जनता पर होने वाले अन्याय, अत्याचारों और शक्ति सम्पन्न लोगों द्वारा उसका शोषण होने के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया था। इस कार्य में बड़े लोगों द्वारा बाधा डाला जाना और आन्दोलनकारी को कुचल देने की कोशिश करना स्वाभाविक ही था। पर मार्क्स ने इसकी कुछ परवाह न की और घर बार छोड़ने, देश-विदेशों मे जगह-जगह मारे-मारे फिरने के कष्टों को सहकर भी वह अपने उद्देश्य से जीवन के अन्तिम क्षण तक विचलित न हुआ।

दूसरी विशेषता यह भी थी कि जिस प्रकार राजकीय अन्यायों के मुकाबले में क्रांति का झण्डा उठाया उसी प्रकार समाज की अन्ध परम्पराओं के आगे भी उसने सिर नहीं झुकाया। उसने अपना विवाह अन्य लोगों के विरोध और हँसी करने के बावजूद अपनी इच्छा और पसन्द से किया और आजन्म उसका निर्वाह ऐसी खूबी के साथ किया कि लोग उनके दाम्पत्य-जीवन को उदाहरण स्वरूप मानने लगे।

मार्क्स की पत्नी जेनी भी एक आदर्श महिला थी। ऐसे क्रांतिकारी और त्यागी व्यक्ति को, जिसका जीवन-मार्ग ही कण्टकाकीर्ण और तूफानों से भरा था, स्वेच्छा से पतिरूप मे वरण करना उस जैसी मनस्वी स्त्री का ही काम था अन्यथा वर्तमान समय मे तो सभी स्त्रियाँ सबसे पहले यही अभिलाषा करती हैं कि उन्हें ऐसा पति प्राप्त हो जो उनकी समस्त इच्छाओं और शौकों को अच्छी तरह पूरी करता रहे और उन्हें कम से कम श्रम करना पड़े। इसके विपरीत जेनी, जो मार्क्स की अपेक्षा एक उच्च और सम्पन्न परिवार की पुत्री थी, मार्क्स की समस्त विपत्तियों में इतनी अच्छी तरह सहयोग देती रही कि लोग मार्क्स की महानताओं का अधिकांश श्रेय उसी को देते हैं।

जब मार्क्स की मृत्यु से दो साल पहले सन् १८८१ में जब उसकी पत्नी की मृत्यु हो गई तो उसी समय उसके सबसे बड़े साथी और सहायक एन्जिल्स के मुख से ये शब्द निकले—"मार्क्स भी मर गया।" जो लोग उसके गृहजीवन से परिचित थे और जानते थे कि वह अपनी पत्नी के ऊपर कितना अवलम्बित रहता था, उनको इस कथन में कुछ भी अत्युक्ति न जान पड़ी। जिस समय उसकी पत्नी की लाश कब्र में रखी जा रही थी तो वह ऐसा शोकातुर हो गया कि यदि एन्जिल्स जोट उसका हाथ न पकड़ लेता तो वह निश्चय ही नीचे कूदकर अपने प्राण दे देता। यह घटना हमको 'उत्तर रामचरित' नाटक में वर्णित 'वज्र से भी कठिन और फूल से भी कोमल' स्वभाव वाले रामचन्द्र जी की याद दिलाती है। जो व्यक्ति राजनैतिक क्षेत्र में बड़े से बड़े शक्तिशालियों के सामने सिर नीचा न करे और भीषण क्रांति के समय नर-रक्त की होली होते देखकर जिसका दिल न काँपे वह स्त्री और बच्चे की मृत्यु पर इतना विह्वल हो जाये कि प्राण त्यागने लगे, यह एक आश्चर्यजनक बात जान पड़ती है। निःसन्देह यह महापुरुषों के चरित्र की एक विशेषता है और कार्लमार्क्स के जीवन-वृत्त में यह स्थान-स्थान पर परिलक्षित होती है।

## विद्यार्थी जीवन

कार्लमार्क्स का जन्म किसी बहुत बड़े वंश में नहीं हुआ था न उसका परिवार विद्या अथवा धन की दृष्टि से प्रसिद्ध था। इसके विपरीत उसका जन्म यहूदी जाति में हुआ था जिसे उस समय यूरोप में नीची निगाह से देखा जाता था और उस पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाये जाते थे। जर्मनी में ही उन दिनों यह नियम था कि कोई यहूदी सरकारी नौकरी में प्रविष्ट नहीं हो सकता। कुछ-कुछ ऐसे ही कारणों से मार्क्स

के पिता ने, जो सरकारी अदालत में वकील का धन्धा करते थे, यहूदी धर्म के बजाय ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। यद्यपि मार्क्स को यहूदी धर्म से किसी प्रकार का प्रेम न था और वह ईसाई भी नाम-मात्र के लिये ही था, तो भी न्याय की दृष्टि से वह यहूदियों के साथ किये जाने वाले भेदभावपूर्ण व्यवहार को बहुत बुरा समझा जाता था और जब कभी मौका आता था तो इसकी कड़ी आलोचना करता था।

मार्क्स का पिता उसे कानून की शिक्षा दिलवाकर अपनी ही तरह एक वकील बनाना चाहता था और इसके लिये उसे १८ वर्ष की आयु में बर्लिन विश्वविद्यालय में दाखिल भी करा दिया गया, पर उसकी रुचि आरम्भ से ही कविता और दर्शन की तरफ थी, जो एक प्रकार से कानून के विपरीत विषय हैं। उसके पिता ने उसे इस तरह के निरुद्देश्य और क्षण स्थायी काम करने के लिये फटकारा और दार्शनिक वितण्डावाद से बचे रहने का उपदेश दिया। उसका कहना था कि मार्क्स पहले भावी जीवन की तरफ ध्यान दे, अपनी सारी शक्ति विश्वविद्यालय की परीक्षा ऊँची श्रेणी में पास करने का प्रयत्न करे और ऊँचे पद वाले लोगों से मेल-जोल रखे।

इसमें सन्देह नहीं कि संसार की गतिविधि को देखते हुए मार्क्स के पिता ने वही उपदेश दिया था। जो एक समझदार ओर हितैषी पिता अपने पुत्र को दे सकता है। पर यहाँ पुत्र किसी और ही धातु का बना था। उसे बड़ी सरकारी नौकरी या लखपति करोड़पति बनने की कामना नहीं थी, वरन् वह चाहता था कि इस समय मानव-जाति, जो कि उल्टे मार्ग पर चल रही है, उसका भ्रम दूर करके उसे नया मार्ग-दर्शन कराया जाये। वह उन लोगों में से था जिनको स्वभाव ही से किसी की अधीनता स्वीकार नहीं होती उन दिनों लिखी एक कविता में उसने कहा था—

"हमको अपने कामों में साहस दिखलाना चाहिये और कभी अपने पवित्र कर्त्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिये। न हमको कभी निराश होकर अपने संकल्प और प्रयत्नों में ढीलापन आने देना चाहिये। हमको निकृष्ट पराधीनता में फँसकर कभी अपने भयभीत जीवन के लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये वरन् संग्राम में प्रविष्ट होकर कुछ काम करके दिखाना चाहिये।"

सन् १८३८ में इनके पिता का देहान्त हो जाने के पश्चात् मार्क्स ने कानून की पढ़ाई बिल्कुल छोड़ दी और बड़े परिश्रमपूर्वक दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करने लगा। सन् १८४१ में उसने दर्शन-शास्त्र सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखा जिससे उसे पी. एच. डी. की उपाधि मिल गई। उसकी इच्छा थी कि इसके पश्चात् वह किसी बड़े विद्यालय में दर्शन-शास्त्र का व्याख्यानदाता बनकर इस विषय में जहाँ तक सम्भव हो अधिकतम प्रगति करे। पर उन दिनों जर्मनी के विश्व-विद्यालयों में मार्क्स के समान स्वतन्त्र प्रकृति के मनुष्य को स्थान मिल सकना असम्भव था। अब उसके सामने स्वतन्त्र रूप से लेखन-व्यवसाय करने का और कोई मार्ग न रहा।

## क्रांति के लिये उद्योग

जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है एक लेखक या पत्रकार की हैसियत से मार्क्स ने सबसे पहले 'टाइनिश जीटुंग' का सम्पादन-कार्य किया। पर वह इस काम को पाँच महीने तक ही कर सका कि उसे सरकारी दमन नीति का शिकार होकर जर्मनी से निकल जाना पड़ा। फ्राँस पहुँचकर वह विशेष रूप से साम्यवाद का अध्ययन करने लगा और साथ ही मजदूर कार्यकर्ताओं और क्रांतिकारी नेताओं से भी सम्पर्क बढ़ाने लगा उस समय उसने अपने एक मित्र को जो पत्र भेजा था उसमें तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था पर विचार करते हुए लिखा था—

"वर्तमान समय में व्यवसाय-वाणिज्य की प्रथा, सम्पत्ति की लालसा और सर्व साधारण की लूट के फल से समाज के भीतर जैसी भयजनक स्थिति उत्पन्न हो गई है, वैसी स्थिति जनसंख्या की वृद्धि के कारण भी उत्पन्न नहीं हुई है। प्राचीन प्रणाली इस अवस्था का सुधार नहीं कर सकती, क्योंकि उस प्रणाली में सुधार कर सकने या नवीन वस्तु उत्पन्न करने की शक्ति ही नहीं है। वह केवल एक स्थान पर स्थिर रहकर भोग करना ही जानती है।"

हम मानते हैं मार्क्स के उपर्युक्त उद्गार अधिकांश में भावना-प्रसूत है और वैज्ञानिक साम्यवाद का आभास उनमें नहीं मिलता। पर कुछ ही दिनों में उसने इतिहास और समाज के मूलभूत सिद्धान्तों के लिये पूरी जानकारी प्राप्त कर ली। उन्हीं दिनों उसने 'न्याय-दर्शन' की

आलोचना पर एक निबन्ध लिखा था, जो अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण और स्वतन्त्र विचारों से भरा होने पर भी स्वतन्त्र विचारों से छाया हुआ था। इसमें मार्क्स ने प्रश्न उठाया था कि 'कौन-सा दल जर्मनी का उद्धार कर सकता है?' इसका स्वयं ही उत्तर देते हुए उसने लिखा—"देश में क्रांति और उसका उद्धार उस दल के द्वारा हो सकता है जो गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हो। जो दल वर्तमान धनसत्तावादी समाज के अन्दर होगा, पर जिसका अस्तित्व धनी लोगों से पृथक् रहेगा, वही वर्तमान सामाजिक प्रणाली को तोड़ सकेगा। टूटने के फल से श्रमजीवी दल की उत्पत्ति होगी और उसके द्वारा एक नवीन सामाजिक प्रणाली का उदय होगा। श्रमजीवी दल का आविर्भाव उद्योग-धन्धों की वृद्धि के लिये ही होता है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति प्राकृतिक दरिद्रता द्वारा नहीं वरन् कृत्रिम रूप से पैदा की हुई दरिद्रता द्वारा होती है। यह दल सामाजिक नियमों के भार से दबे हुए जनसाधारण द्वारा नहीं वरन् समाज के टूटने के फल से जागृत जन-समूह द्वारा बनता है। जब श्रमजीवी दल सामाजिक प्रणाली के भंग होने की घोषणा करता है तो वह वास्तव में गुप्त रीति से अपने अस्तित्व की सूचना को सूचित कर देता है।"

जब मार्क्स ने जर्मनी में विद्रोह फैलाने के लिये वह प्रचार कार्य आरम्भ किया तो वहाँ भी सरकार चौकन्नी हो गई और उसने फ्रांस की सरकार से इसकी शिकायत की। फ्रांसीसी सरकार ने मार्क्स को अपने यहाँ से निकल जाने की आज्ञा दे दी। इस पर वह बेलजियम की राजधानी सेल्स चला गया। वहाँ पर भी वह मजदूरों के संगठन की चेष्टा करता रहा और 'लीग ऑफ गस्ट' (न्याय सघ) नामक संस्था में शामिल होकर के यूरोप के समस्त देशों में उसके द्वारा प्रचार कार्य की चेष्टा करने लगा। इस सस्था का प्रधान कार्यालय लन्दन में था। १८४७ में जब उसका एक प्रतिनिधि मार्क्स से मिला और वह उसमें शामिल होने को तैयार हो गया तो उसका नाम बदल कर 'लीग ऑफ कम्यूनिस्ट' रखा गया। पहले यह एक प्रकार की षड्यन्त्रकारी सभा थी, पर मार्क्स ने उसमें से षड्यन्त्रकारीपन की सब बातें निकाल दी और उसे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संगठन का एक साधन बना दिया। उसमें भाग लेने वाले अधिकांश विदेशों में काम करने वाले जर्मन मजदूर ही थे और वे मार्क्स के प्रचारित सिद्धान्तों में श्रद्धा रखकर उसके कार्य में सहायता देने को सदैव तत्पर रहते थे।

## सम्पत्ति का न्याययुक्त वितरण

इस संस्था की तरफ से पहली अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस सभा सन् १८४७ में लन्दन में की गई। इसमें यूरोप के प्रायः सभी देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था और उसकी तरफ से एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया, जिसमें संसार के मजदूरों की परिस्थिति और उनकी माँगों के सम्बन्ध में कुछ मूल बातें दी गई थीं। यह घोषणा-पत्र संस्था की प्रेरणा से मार्क्स और एन्जिल्स ने ही तैयार किया था। इसका सारांश यही था कि वर्तमान समय में दुनिया के व्यापारिक क्षेत्र में जो पूँजीवादी प्रथा फैली हुई है, उसके फलस्वरूप समाज दो भागों में बँट गया है। एक पूँजीपति या मालिक और दूसरा श्रमजीवी या मजदूर। कुछ समय तक तो ये उद्योग धन्धों के विकास के लिये ये दोनों सम्मिलित रूप से कार्य करते हैं, पर शीघ्र ही ऐसा अवसर आ जाता है तब उनके स्वार्थ एक-दूसरे से टकराने लगते है।

पूँजीपति अपने को कल-कारखानों का एकमात्र स्वामी मानकर उनसे अधिक से अधिक नफा कमाने का उपाय करता रहता है। इसके लिये वह पैदावार को अधिक से अधिक बढ़ाने और खर्च को कम से कम घटाने की भी कोशिश करता है। उधर मजदूर समझता है कि उद्योग-धन्धों के विकास में उसका भी पूरा हाथ है और पैदावार की वृद्धि मुख्यतः उसके श्रम पर ही तो निर्भर है। पर वर्तमान समय में जायदाद सम्बन्धी जो नियम समाज में प्रचलित हैं उनके अनुसार तैयार होने वाली सामग्री पर अधिकार मालिक कहलाने वाले व्यक्ति अर्थात् पूँजीपति का ही अधिकार रहता है। इसका नतीजा यह होता है कि वह उसके वितरण पर ध्यान अपने नफा का रखता है। समाज के किस सदस्य को उसकी आवश्यकता है अथवा कौन व्यक्ति उसके अभाव के बिना कष्ट पा रहा है—मृत्यु-मुख में प्रवेश कर रहा है, इसका उसे कुछ भी ध्यान नहीं रहता। यद्यपि सुनने में यह बात कुछ आश्चर्यजनक जान पड़ती है, पर वास्तविक स्थिति यह है कि इस पूँजीवादी प्रणाली में जो व्यक्ति वर्ष भर में सौ मन अनाज पैदा कर देता है वही अनेक बार आधा पेट खाकर गुजर करता है और जो कारखाने में नित्य-प्रति

तीस-चालीस गज कपड़ा बना देता है वह वस्त्रों के अभाव में चिथड़ा लपेट कर काम चलाता है ।

इस परस्पर विरोधी स्थिति का रहस्य समझाते हुए मार्क्स ने जो भी व्यवस्था की है उसे 'अतिरिक्त मूल्य' (सरप्लस वैल्यू) का सिद्धान्त कहते हैं । उसका कहना है कि जितनी पूँजी किसी कारोबार में लगाई जाती है वह दो भागों में बँटी होती है । एक भाग मकान, मशीन, औजार, कच्चा माल में लगाया जाता है और दूसरा भाग काम करने वाले मजदूरों, कार्यकर्ताओं के वेतन के लिये रखा जाता है । पहले भाग को 'अचल पूँजी' और दूसरे को 'चल पूँजी' कहा जा सकता है । पहले भाग को अचल पूँजी कहने का कारण यह है कि इसके द्वारा वस्तुओं के मूल्य में जितनी वृद्धि होती है उतना ही खर्च भी होता है । इस कारण इसको 'निष्क्रिय-भाग' भी कहा जा सकता है । कर्मचारियों के वेतन में जो पूँजी लगाई जाती है, उसको 'चल पूँजी' कहने का कारण यह है क्योंकि, उसमें परिवर्तन होता रहता है और वह लागत से भी अधिक मूल्य उत्पन्न करती है ।

इस अतिरिक्त मूल्य को ही साधारण बोलचाल में 'नफा' कहते हैं । इसका आशय यह है कि मजदूर को अपने जीवन-निर्वाह के लायक काम करने के सिवाय मालिक के लिये जो अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है वही अतिरिक्त मूल्य के स्वरूप में प्रकट होता है । जिस मजदूर को चार रुपये रोज मजदूरी के मिलते हैं । वह चार रुपये का काम तो चार घण्टे में कर देता है, पर कारखाने का मालिक उसी मजदूरी मे सात या आठ घण्टे काम करता है । यह तीन या चार घंटे का अतिरिक्त श्रम वस्तु के मूल्य में मिला दिया जाता है और पूँजीपति उस वस्तु में जितना मूलधन लगाता है उतना ही मूल्य उसमें वह बढ़ा देता है ।

अपने इस 'नफा' को बढाने के लिये पूँजीपतियों ने नई-नई विधियाँ निकाली है जिनसे उनको तो अधिक लाभ होने लगा पर मजदूरों की स्थिति अधिक परावलम्बी बन गई । उन्होंने देखा कि अगर काम को अनेक हिस्सों में बाँटकर प्रत्येक हिस्से को मजदूरों के अलग-अलग दल से कराया जाये तो काम ज्यादा होगा, क्योंकि अगर कोई मजदूर पूरी चीज बनाने के बजाय सिर्फ उसके एक ही भाग को बनावे, तो वह उस काम को जल्दी सीख जाता है और ज्यादा सफाई व तेजी से काम कर सकता है । इस प्रकार 'श्रम-विभाग' (डिवीजन ऑफ लेबर) की प्रणाली आरम्भ हुई जिसके फल से श्रमजीवी, कारीगर के बजाय एक जीवित यंत्र बन गये । इस श्रम विभाग के कारण अधिक बढ़िया औजारों और यन्त्रों की आवश्यकता पड़ी और इन्जीनियरों का ध्यान नवीन मशीनों के बनाने की तरफ जाने लगा । इसके साथ ही जब माल ज्यादा तैयार होने लगा तो उसको बेचने के लिये दूर-दूर भेजने की जरूरत पड़ी और माल ढोने के नये साधनों, जैसे पक्की सड़कें, रेल, मोटर और ट्रक आदि की वृद्धि होने लगी ।

पर दूसरी ओर कारखानों के भीतर एक दूसरी ही धारा बह रही थी । काम करने के घण्टों के बढ़ने और अधिक तेजी से काम करने के कारण शक्ति अधिक व्यय होती थी और इससे श्रमजीवियों मे असन्तोष फैलने लगा, वे संगठित होकर अपनी दशा सुधारने की चेष्टा करने लगे । जब पूँजीपतियों पर मजदूरों का दबाव पड़ने लगा तो ऐसी नई-नई मशीने तैयार की जाने लगीं जिन पर हर व्यक्ति सहज मे काम कर सकें । जिन श्रमजीवियों को अपनी कारीगरी पर अभिमान था और जो मालिकों से लड़ते-झगड़ते थे, उनको हटाकर औरतों और बच्चों को भर्ती किया गया और कुछ को डरा-धमका कर राजी कर लिया गया । इस प्रकार उद्योग-धन्धो की वृद्धि तो बहुत हो गई पर मजदूरों की दशा गिरती गई । उनके स्वास्थ्य पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ने लगा ।

श्रमजीवी आन्दोलन और सरकारी कानूनों के कारण मजदूरों का वेतन बढ़ाना पडा और अन्य सुविधायें भी देनी पड़ीं, पर साथ ही मशीनों की भी आश्चर्यजनक रूप से उन्नति होती गई और मजदूरों को लाचार होकर पहले की अपेक्षा अधिक तेजी से काम करना पड़ा । अब उनको एक घण्टे मे उतना काम करना पडता था जितना पहले डेढ या दो घण्टे मे किया जाता था । साथ ही मजदूरी या वेतन मे जितनी वृद्धि की जाती थी, पूँजीपति तैयार सामान का मूल्य भी उतना ही बढ़ाते जाते थे । इसलिये मशीनों और अन्य वैज्ञानिक विधियों की बहुत अधिक उन्नति हो जाने पर भी उसका लाभ श्रमजीवी वर्ग या सामान्य जनता को बहुत कम मिला । वह समस्त लाभ

अधिकांश में पूँजीपतियों की तिजोरियों में ही पहुँचता गया और वे लखपती से करोड़पति और फिर उससे भी अरवपति वनते चले गये ।

## बेकारी की वृद्धि

जब पूँजीपति वर्ग की सम्पत्ति इस प्रकार दिन पर दिन बढ़ने लगी तो उसका कुप्रभाव सामान्य जनता पर, विशेषतया अल्प साधन सम्पन्न लोगों पर बहुत बुरा पड़ने लगा । चीजों का भाव महँगा होने से उनकी क्रय-शक्ति घट गई और बाजार में सब प्रकार की सामग्री की बहुतायत होने पर भी वह उसे खरीद सकने में असमर्थ हो गये । जब कारखानों में बने माल की विक्री कम पड़ गई और पूँजीपतियों के गोदाम तैयार माल से भर गये तो उन्होंने कारखानों को बन्द कर दिया या सप्ताह में दो-तीन दिन ही खोलने लगे । इससे हजारों-लाखों कर्मचारी बेकार हो गये, लाखों की आमदनी और भी घट गई और उनको अत्यन्त कष्ट का जीवन व्यतीत करने को बाध्य होना पड़ा ।

सामाजिक-न्याय मे विश्वास रखने वाले विचारकों ने जब इस परिस्थिति पर विचार किया तो वे इसी सिद्धान्त पर पहुँचे कि इस दुरावस्था का कारण पूँजीपतियों का अनुचित नफा और जीवनोपयोगी सामग्री के वितरण की गलत व्यवस्था है । आज हालात यह है कि जरूरतमन्द को चीज नहीं मिलती और जिसको उसकी आवश्यकता नही उसके पास भरी पड़ी रहती है । एक तरफ जखीरेवाज व्यापारी लाखों मन अनाज गोदामों मे बन्द कर देते हैं ताकि महँगी होने पर उसे अधिक से अधिक दामों मे बेचें और दूसरी तरफ उस गोदाम से पचास गज की दूरी पर रहने वाले गरीब लोग अन्नाभाव से आधा, चौथाई पेट खाकर समय निकालते रहते हैं । कपड़े के थोक व्यवसायियों के यहाँ लाखों गज कपड़ा वरसो तक तालों के भीतर रखा रहता है जबकि उसी नगर में हजारों नर-नारी और बच्चे-बूढ़े कपड़े के बिना बड़ी कठिनाई से लज्जा निवारण कर पाते हैं । यह हालत स्पष्टतः अस्वाभाविक तथा न्याय विरुद्ध है और इसका परिणाम असन्तोष, अशान्ति, मार-काट के सिवाय और कुछ नही हो सकता ।

इस स्थिति को सुधारने का उपाय यही है कि वितरण की व्यवस्था में परिवर्तन किया जाये । आज जो कारखाने का मालिक या गोदामो में माल जमा कर लेने वाला अपने को उसका सोलह आना मालिक समझता है और जिस तरह अपने लिये फायदेमन्द समझे उसको बेचना या रोके रखना अपना अधिकार मानता है । वास्तव में यह एक गलत सिद्धान्त है । श्रमजीवी दल का कहना है कि कोई भी वस्तु किसी एक व्यक्ति या छोटे से समुदाय द्वारा न तो उत्पन्न की जा सकती है और न उसे उसके इच्छानुसार वितरण का अधिकार होना चाहिये । देश में जो कुछ बनता है, उत्पन्न होता है या बाहर से मँगाया जाता है वह समस्त समाज के सहयोग से ही सम्भव होता है और समाज की आवश्यकता तथा हित को दृष्टिगोचर रखकर ही उसके वितरण की व्यवस्था की जानी चाहिये ।

## पूँजीवाद का अन्त

यद्यपि इस सामाजिक दुरावस्था के सुधार के लिये विचारशील विद्वान पिछले दो सौ वर्षों से कितनी ही योजनाओं और सिद्धान्तों का प्रचार करते आ रहे हैं पर अभी उनको इसमें बहुत कम सफलता मिली है । कितने ही नेताओं ने इसके लिये साम्यवाद की विभिन्न शाखाओं का प्रतिपादन किया और विभिन्न देशों में कुछ समय तक प्रचार भी होता रहा, पर उनके सिद्धान्त अधिकांश में काल्पनिक ही सिद्ध हुए । मार्क्स ने इनका बड़े जोर से खण्डन किया है और साम्यवाद को काल्पनिक क्षेत्र से निकाल कर वैज्ञानिक रूप दिया है । उसने पूर्ववर्ती आर्थिक प्रणालियों का विस्तार से वर्णन करते हुए पूँजीवाद (कैपिटेलिज्म) के जन्म, वृद्धि और विकास पर बड़ी स्पष्टता से प्रकाश डाला है और साथ ही उन कारणों पर भी प्रकाश डाला है जिससे अन्त में उसका खात्मा हो जाता है । उसका कहना है कि पूँजीवाद के नाश का बीज उसके भीतर ही छिपा होता है और जब वह बढ़ते-बढ़ते चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो श्रमजीवी वर्ग और उसके नेताओं में से ही उसकी असामयिकता, अनुपयोगिता को सिद्ध करने वाले प्रकट हो जाते है । मार्क्स के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का सारांश नीचे दिया जाता है । पाठक देखेंगे कि उसने जो बात सौ वर्ष पहले कही थी वह आज हमको ठीक उसी प्रकार चरितार्थ होती दिखाई पड़ रही है ।

जैसे-जैसे पूँजीवादी प्रणाली की वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे ही उसके परस्पर विरोधी लक्षण प्रकट होने लगते है । वे लक्षण इस बात को साफ तौर पर

बतलाते हैं कि पूँजीवाद की उपयोगिता समाप्त हो चली और अब उसके गर्भ में से एक नवीन जीवन-मार्ग—एक उन्नत सामाजिक संगठन का जन्म होने की तैयारी हो रही है ।

इन लक्षणों पर विचार करने से हमको मालूम होता है कि जब पूँजीवाद की बहुत अधिक उन्नति हो जाती है और मशीनों तथा कारखाने के मकानों आदि में पूँजी का बहुत अधिक हिस्सा खर्च होने लगता है तो उनका नफा घट जाता है यद्यपि उस समय वे माल बहुत अधिक परिमाण में और कम खर्च में तैयार करा सकते है, पर आदमियों का काम मशीनों से निकालने के कारण जनता निर्धन हो जाती है और बहुत थोड़ा माल खरीद सकती है । एक तरफ कारखानेदार माल की पैदावार को बढ़ाते हैं और दूसरी तरफ उसकी खपत कम होने लगती है । इसके फलस्वरूप एक 'व्यापार-संकट' उपस्थित हो जाता है । तब पूँजी बर्बाद होने लगती है, पैदावार को जबर्दस्ती रोका जाता है, उत्पादक शक्तियों की गति को धीमा किया जाता है और असंख्यों मजदूरों को 'लाक-आउट' के नाम पर बेकार बैठे रहना पड़ता है ।

इसके सिवाय उद्योग-धन्धों के बढ़े हुए स्वरूप को स्थिर रखने के लिये कच्चे माल की आवश्यकता अधिक हो जाती है, जो विशेषतः गर्म और समशीतोष्ण देशों से ही पूरी हो सकती है । उन देशों पर अपना प्रभाव कायम रखने के लिये पूँजीवादी देशों मे प्रतिस्पर्धा होने लगती है, भयंकर युद्धों की शुरुआत होती है और इस प्रकार असीम धन-जन की बर्बादी होने लगती है । इस प्रकार पूँजीवाद एक तरफ अधिक से अधिक नफा कमा कर सम्पत्ति की वृद्धि करने की योजना बनाता है और दूसरी तरफ अपने ही हाथ से उसे नष्ट करता है । यही उसका सबसे बड़ा परस्पर विरोधी लक्षण है जिससे अन्त में उसकी गति रुक जाती है ।

अब दूसरी तरफ देखिये । पूँजीपति सदैव इस बात के लिये सचेष्ट रहते है कि उनके मजदूर सीधे-सादे और उनकी प्रत्येक आज्ञा को सिर झुकाकर मान लेने वाले हों । आरम्भ में गाँवो से आने वाले अनजान और अनपढ़ मजदूर अधिकांश में होते भी ऐसे ही है । पर उद्योग-धन्धों के बड़े-बड़े केन्द्र कायम करके पूँजीपति स्वयं उनको संगठित होने का मौका देते हैं और इस प्रकार उनकी ताकत को बढ़ाते हैं । ये विशाल कारखाने मजदूर-संगठन के केन्द्र बन जाते है और इससे उनकी व्यक्तिगत शक्ति संघ-शक्ति के रूप में बदल जाती है । फलस्वरूप मजदूरों के पारस्परिक भेदभावों का अन्त हो जाता है और वे अपने को एक ही दल का सदस्य समझने लगते हैं, जिन सबका स्वार्थ या हित समान होता है । इस परिवर्तन के कारण किस प्रकार श्रमजीवी दल का उदय होता है और किस तरह वह समाज की बागडोर को अपने हाथों में लेता है, इसका वर्णन मार्क्स ने बड़े प्रभावशाली शब्दों में अपने इस ग्रन्थ 'कैपिटल' में किया है, जिसे अनेक लोग 'मजदूरों की बाइबिल' के नाम से पुकारते है । उसमे भी कहा गया है—

"जब इस काया-पलट करने वाली प्रक्रिया द्वारा पुराना समाज सिर से पैर तक खण्ड-खण्ड होने लगता है और साधारण मजदूर संगठित श्रमजीवी दल का रूप धारण कर लेते हैं तो श्रम के सामाजिक रूप मे नवीन परिवर्तन होने लगता है । इस दर्जे पर पहुँच जाने पर पूँजीपति मजदूरों को लूट नहीं सकते, वरन् स्वयं उनकी पूँजी की हानि होने लगती है । इसका एक बड़ा कारण पूँजीवाद की एक विशेष प्रवृत्ति भी होती है । एक बड़ा पूँजीपति कितने ही छोटे पूँजीपतियो को मार सकता है और इसके फल से पैदावार के साधनों पर दिन पर दिन थोड़े से लोगो का अधिकार होता जाता है । इसके साथ ही श्रम-जीवियो में सहयोग की वृद्धि होती जाती है, उनके संगठन विशाल बनते जाते है और उनकी शक्ति बढ़ती जाती है ।

होते-होते संसार भर का बाजार इने-गिने लोगो के हाथों मे आ जाता है और एक प्रकार से वे ही बड़े-बड़े राष्ट्रों के बड़े मालिक और संचालक बन जाते हैं । दूसरी तरफ साधारण लोग दिन पर दिन कंगाल बनते जाते है और गुलामी में फँसते जाते है । पर साथ ही साथ श्रमजीवी-दल में विद्रोह का भाव भी जोर पकड़ता जाता है । उनकी सख्या और शक्ति अधिक होती जाती है, उनमें अपने दल के अनुशासन का भाव बढ़ता जाता है और संगठन अधिकाधिक मजबूत होता जाता है । उद्योग-धन्धो पर थोड़े से लोगों का अधिकार रहने से उन्नति की गति रुक जाती है ।

"अन्त में उत्पत्ति के साधनों का एक केन्द्र पर इकट्ठा होना और श्रम के सामाजिक रूप की मान्यता की वृद्धि ऐसे स्थान पर जा पहुँचती है जहाँ कि उनका पूँजीवादी प्रणाली के साथ निर्वाह होना असम्भव हो जाता है । उसी क्षण इस पूँजीवादी प्रणाली का अन्त हो जाता है, निजी जायदाद की प्रथा लुप्त हो जाती है और दुनिया का स्वत्व अपहरण करने वालों का स्वत्व सदा के लिये समाप्त हो जाता है ।"

यद्यपि हमारा देश यूरोप अमेरिका की अपेक्षा उद्योग-धन्धों की प्रगति में पिछड़ा हुआ है तो भी इधर कुछ वर्षों में भारतीय पूँजीपतियों ने भी पर्याप्त उन्नति की है और एक-एक उद्योगपति ५०-५० कारखानो का मालिक बन गया है । कुछ वर्ष यहाँ सबसे बड़े धनवान को 'करोड़पति' ही कहते थे, पर अब हमारे देश मे भी 'अरबपति' लोगों के नाम सुनाई पड़ने लगे हैं । यह सब माया मजदूरों की ही है । मेहनत करने वाले अपनी बल-बुद्धि को होम कर बड़े-बड़े कारखानों तथा अन्य उद्योग-धन्धों को सफल बनाते हैं पर उनको कठिनता से पेट भरने लायक वेतन या मजदूरी मिलती है । शेष किसी न किसी उपाय से पूँजीपति के भण्डार में पहुँच जाती है । यद्यपि उसमें से एक बड़ा भाग सरकार भी टैक्स के रूप मे ले लेती है, पर वह भी अधिकांश में पूँजीपतियों की रक्षा और विस्तार के लिये फौज, पुलिस आदि की व्यवस्था में खर्च कर दिया जाता है ।

पर जैसा मार्क्स ने कहा था भारत का श्रमजीवी-वर्ग भी जागृत और संगठित हो रहा है । वह अपने अधिकारों को पहचानने और माँगने लगा है । जब गाँव का एक अशिक्षित मजदूर कारखानों के प्रबन्ध में सम्मति देने की माँग करता है और संसार भर के मेहनत पेशा लोगों को अपना भाई समझकर 'मे डे' (अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर दिवस जिसका प्रचार कार्लमार्क्स और उसके सहकारियों ने किया था) के दिन मजदूरो का लाल झण्डा लेकर निकलता है, तब इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भारत भी श्रमजीवी-वर्ग की क्रान्ति भावना से अछूता नही है और वह भी पूँजीवादी प्रणाली को हटाकर कोई अधिक न्याय-युक्त वितरण की सामाजिक प्रणाली अपनाने को दृढ प्रतिज्ञ है । वह कार्लमार्क्स का नाम भी जानता है और समझता है कि उसने श्रमजीवियों के अधिकार और सामाजिक न्याय की जो घोषणा अब से सौ वर्ष पहले की थी अब उसके फलीभूत होने का समय समीप आ पहुँचा है ।

## क्रांतिकारी आन्दोलन में सक्रिय भाग

मार्क्स क्रांतिवादी था । वह केवल साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार करके अथवा लोगों को एक नई सामाजिक और आर्थिक प्रणाली का सन्देश देकर ही चुप नही हो गया, वरन् वह इस कार्य के लिये बल प्रयोग का समर्थक था और अवसर आने पर उसने फ्रांस तथा जर्मनी के क्रांतिकारी संघर्षों के मौके पर पहुँचकर उनको बढ़ाने और सफल बनाने की पूरी कोशिश की । जनसमूह के अन्तः प्रदेश मे क्रांति का जो गम्भीर निनाद होता रहता है, उसको सुनने के लिये वह सदा कान खोले रहता था । जिस काल में वह अपने नवीन समाज सम्बन्धी सिद्धान्तो का मसाला इकट्ठा कर रहा था यूरोप का वातावरण क्रांति की भावना से व्याप्त हो रहा था और जगह-जगह अशान्तिपूर्ण घटनायें हो रही थीं । सन् १८४२ में इंग्लैण्ड श्रमजीवियों की विशाल हड़ताल हुई । इसके दो वर्ष बाद सिलीशिया के कपड़ा मजदूरों ने बलवा कर दिया । सन् १८४५-४६ में जर्मनी मे साम्यवाद का जोर बहुत बढ़ गया और नये-नये सामयिक पत्र जनता में उत्तेजना फैलाने लगे । फ्रांस में भी साम्यवादी आन्दोलन की बाढ़ आ गई । यूरोप में चारो ओर कम्यूनिज्म का विकराल भूत मुँह बाये खड़ा दिखलाई पड़ने लगा ।

इस आकस्मिक परिवर्तन का मुख्य कारण यूरोप में कल-कारखानो की वृद्धि होना और उनके सम्पर्क से रेल, तार आदि का शीघ्रतापूर्वक निर्माण किया जाना था । जैसे-जैसे आधुनिक ढंग के उद्योग-धन्धों की वृद्धि होने लगी वैसे ही जनता की आर्थिक दशा में अन्तर पड़ने लगा । इनके फल से जनता में दरिद्रता बढ़ने लगी और लोग कम मजदूरी तथा वेतन-सम्बन्धी कठोर नियमों के कारण उनका विरोध करने लगे । उस समय यूरोप यह आवाज उठा रहा था कि "कारखानों की वृद्धि के साथ कंगाली की भी वृद्धि होगी ।" साथ में यह घोषणा की जाती थी कि 'जनता को जितने अधिक राजनीतिक अधिकार मिलेंगे उतनी ही जल्दी समाज की प्रगति होगी ।' जो कोई भी उस समय इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि में रहता था उसे यही

अनुभव प्रतीत होता था कि वहाँ पर तो राजनैतिक और सामाजिक क्रांतियों का यह आगमन हो रहा है ।

मार्क्स ने इस रहस्य को पहले ही समझ लिया था । १८४३ में उसने अपने मित्र राज के नाम हालैण्ड से एक पत्र भेजा था, जिसमें भावी क्रांति का जिकर किया गया था और लिखा था कि जर्मनी के बादशाह फ्रैडरिक विलियम की सरकार क्रांति-मार्ग पर अग्रसर हो रही है । राज को उसकी बातो पर बड़ा आश्चर्य हुआ पर कुछ ही समय बाद मार्क्स का कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ ।

कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो, जिसका सारांश हम ऊपर दे चुके है । फरवरी १८४८ में प्रकाशित हुआ था और २२ फरवरी से क्रांति की आग यूरोप में धाँय-धाँय करके जलने लगी । फ्रांस में पुराने शासन को लौटा दिया गया और उसकी जगह एक अस्थाई सरकार कायम हुई । जर्मनी में भी राज्य-सत्ता के विरुद्ध जगह-जगह उपद्रव होने लगे । उधर बेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स मे जनता ने प्रजातन्त्रवादियों पर आक्रमण करके उनको अपमानित किया । इन दिनों मार्क्स ब्रुसेल्स में ही निवास कर रहा था और जर्मन सरकार के बार-बार कहने पर भी बेल्जियम के अधिकारियो ने उसके विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाया था । पर अब उनको भय मालूम होने लगा और उन्होने मार्क्स को गिरफ्तार करके तुरन्त उस देश से बाहर निकल जाने का हुक्म दे दिया ।

## आर्थिक-संकट

बेल्जियम को छोड़कर मार्क्स पेरिस पहुँचा और वहाँ भी श्रमजीवी आन्दोलन की वृद्धि के लिये प्रयत्न करने लगा । इसी समय जर्मनी में हलचल बहुत बढ़ गई और मार्क्स ने अपना यह कर्त्तव्य समझा कि किसी प्रकार के खतरे की परवाह किये बिना वहाँ जाकर उसकी सफलता के लिये उद्योग करे । वह अपने संगी-साथियों को लेकर 'कोलोन' नगर में पहुँच गया और 'न्यू राइनिश-जीटुंग' के नाम से एक दैनिक पत्र प्रकाशित करने लगा । इसका प्रधान सम्पादक मार्क्स ही था और चार-पाँच प्रसिद्ध विद्वान उसके सहकारी के रूप में काम कर रहे थे । यद्यपि यह साल भर भी नहीं चल सका पर वह जब तक जीवित रहा क्रांति का झण्डा ऊँचा किये रहा और अन्याय पीडित श्रमजीवियो के अधिकारो के लिये लड़ता रहा । उसके कार्य की सराहना करते हुए मार्क्स के सबसे बड़े सहायक एन्जिल्स ने लिखा है—

"उस समय प्रजातन्त्रवादी समझे जाने वाले पत्रों में यही एक ऐसा था जो श्रमजीवियों का पूर्ण रूप से समर्थन करता था । पेरिस में जुलाई १८४८ ई. में जो बलवा हुआ था मार्क्स ने उसका बहुत जोर से खुलकर समर्थन किया । इस कारण से पत्र के तमाम हिस्सेदार नाखुश हो गये । एक दूसरे प्रतिद्वन्दी अखबार ने जिसका नाम "क्रुजजीटुंग" था । "न्यू राइनिश जीटुंग" के खिलाफ बड़ा आन्दोलन खड़ा कर दिया । उसका कहना था कि 'मार्क्स समस्त पवित्र समझी जाने वाली बातो पर आक्षेप करता है और शासन सत्ता का घोर विरोधी है; फिर चाहे वह सत्ता बादशाह की हो या पुलिस के एक मामूली से सिपाही की और इन बातों को वह वहाँ पर रहकर लिखता था जहाँ पर सरकारी सेनाओं की छावनी में आठ हजार सिपाही सदा तैयार रहते थे । सन् १८४८ के अन्त में कोलोन में मार्शल लॉ की घोषणा की गई और उस समय इस अखबार को कुछ दिनों के लिये बिल्कुल बन्द कर दिया गया ।

"उधर जर्मनी का *'न्याय-विभाग'* इसके लेखो को बराबर गैर कानूनी करार देता रहता था और सरकारी वकील तो इसके ऊपर मुकदमा चलाने की सलाह देता रहता था । पर इनमें से किसी बात का इस पर प्रभाव न पड़ा और यह दृढ़तापूर्वक लगातार अपना प्रचार-कार्य करता रहा । जैसे-जैसे सरकार इसका दमन करती थी और विरोधी लोग इसकी निन्दा फैलाते थे वैसे-वैसे ही इसका आदर बढ़ता जाता था और धड़ाधड़ ग्राहक बनते जाते थे । जब बादशाही सेना राइनलैण्ड पर अधिकार जमाने लगी तो इस अखबार के प्रत्येक अंक के ऊपर बड़े-बड़े अक्षरों मे लोगो से टैक्स अदा न करने और बल प्रयोग का मुकाबला उसी प्रकार शक्ति से करने की अपील की जाती थी । उस पर दो-बार मुकदमा चलाया गया पर 'जूरी' ने उसे निर्दोष कहकर छोड़ दिया । अन्त में जब राइनलैण्ड के प्रान्त में सरकारी सेना बहुत बड़ी संख्या में इकट्ठी कर ली गई और वहाँ की क्रांति दबा दी गई तब सरकारी अधिकारियो ने इसे जबर्दस्ती बन्द कर दिया । इसकी अन्तिम संख्या १८ मई, १८४९ को 'रक्त अंक'

के नाम से प्रकाशित की गई जो कि लाल रंग के कागज पर छापी थी ।"

'न्यू राइनिश जीटुंग' को इस प्रकार घोर कठिनाइयों में जीवित रखने के लिये मार्क्स को अपना सर्वस्व स्वाहा कर देना पड़ा । सरकारी दमन नीति का सामना करने में अखबार के ऊपर बहुत-सा कर्ज हो गया था और मार्क्स अपना सब कुछ बेचकर कर्जदारों का १५ हजार रुपया चुका कर तब वह खाली हाथ पेरिस के लिये रवाना हुआ, वहाँ भी अब 'लाल प्रजातन्त्र' के बजाय क्रांति विरोधी दल का बोलबाला हो चुका था । उन लोगों ने जुलाई सन् १८४६ में पेरिस छोड़कर एक दूरवर्ती अस्वास्थ्यकर स्थान में रहने की आज्ञा दी । पर मार्क्स ने वहाँ जाने के बजाय फ्रांस को छोड़ देना ही अच्छा समझा । तब वह इंग्लैण्ड चला आया और फिर उसने अपना शेष जीवन लन्दन में ही व्यतीत किया ।

मार्क्स के क्रांतिकारी कार्य हमारे देश के नवयुवकों के लिये भी कम शिक्षाप्रद नहीं हैं । जिस समय प्रथम बार उसे जर्मन से निकाला गया था, उसकी आयु केवल २५ वर्ष की थी और दूसरी बार जर्मनी से हटने के अवसर पर वह ३१ वर्ष का था । इतनी थोड़ी आयु में एक बड़े देश की सरकार से डटकर मुकाबला कर सकना और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रभाव उत्पन्न कर सकना सहज काम न था । यह मार्क्स के साहस, परिश्रम और आत्म-त्याग का ही परिणाम था कि इतनी आयु में यूरोप की शक्तिशाली सरकारों के मुकाबले में खड़ा हो सका और श्रमजीवी आन्दोलन को वास्तविक रूप दे सका । भारतवर्ष में भी इस समय एक नहीं अनेक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक अन्याय जनसाधारण को सहन करने पड़ रहे हैं । अगर हमारे नवयुवक उनको मिटाने का संकल्प करके खड़े हो जायें और अपनी शक्ति को सब प्रकार के अन्याय के विरुद्ध काम में लावें तो वे भी मार्क्स के समान ऐसे जनहितकारी कार्य करके दिखला सकते है जिससे उसका नाम और कीर्ति आगामी अनेक वर्षों तक कायम रह सकती है ।

## कष्ट के दिन और सिद्धान्त पर अटलता

जैसा ऊपर कहा जा चुका है जर्मनी से चलते समय 'न्यू राइनिश जीटुंग' को जीवित रखने का प्रयास करते हुए मार्क्स पैसे-पैसे को मुँहताज हो चुका था । इसलिये लन्दन पहुँचने पर उसे कई वर्ष तक बहुत आर्थिक कष्ट सहन करना पड़ा । यद्यपि उसका मित्र एन्जिल्स उसका बहुत बड़ा सहायक था और यथाशक्ति उसके निर्वाह की व्यवस्था करता रहता था तो भी सदा आन्दोलन में लगे रहने के कारण मार्क्स को उसके संचालन में प्रायः अर्थकष्ट सहन करना पड़ता था । उदाहरण के लिये सन् १८५२ में उसको कोलोन के कम्युनिस्ट साथियों के मुकदमे के सम्बन्ध में एक ट्रेक्ट निकालने की आवश्यकता हुई तो कागज के लिये उसका अपना कोट बन्धक रखना पड़ा ।

सन् १८५१ से १८६० तक मार्क्स की आमदनी का खास जरिया अमेरिका के 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' में छपने वाले लेख ही थे । वह इस पत्र का लन्दन स्थित सम्वाददाता बन गया था और उसे प्रति लेख १५ रु. मिल जाते थे । पर यह रकम इतनी कम थी कि उसमें गुजारा हो सकना असम्भव था । १८६२ में एक बार उसका आर्थिक कष्ट इतना बढ़ गया कि उसने रेलवे ऑफिस में क्लर्क की नौकरी के लिये दरख्वास्त दी । पर जिस प्रकार उसकी पुस्तकों की भाषा को समझ सकना साधारण मनुष्य के लिये कठिन है । उसी प्रकार उसकी हस्तलिपि भी इतनी घसीट और अस्पष्ट होती थी कि उसको पढ़ सकना बड़ा कठिन था और इस कारण उसको क्लर्क की भी नौकरी न मिल सकी ।

सन् १८६७ में जर्मनी के शासकों ने मार्क्स के एक मित्र द्वारा उससे अपने यहाँ के सरकारी पत्र का सम्वाददाता बन जाने को कहा । इस काम से उसको काफी आमदनी हो सकती थी और उसका अर्थकष्ट पूर्णतः दूर हो सकता था । पर साथ ही इसका अर्थ यह भी था कि वह अपने जीवन सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दे । मार्क्स ने जर्मन सरकार के प्रस्ताव को ठुकरा दिया और वह सांसारिक सुखों के लिये अपनी आत्मा का खून करने को हरगिज तैयार न हुआ था ।

मार्क्स के जीवन की इस घटना को पढ़कर हमको अपने देश के वर्तमान राजनैतिक 'नेताओं' की याद आती है जो छोटे-मोटे लाभों के लिये अपने सिद्धान्तों की हत्या करने में नहीं हिचकिचाते और जिस दल से मिलने में अपना फायदा समझते है उसी मे तुरन्त सम्मिलित हो जाते है और पुराने दल के साथ की हुई लिखित प्रतिज्ञा का भी कुछ ख्याल नहीं करते ! इस राजनीतिक सौदेबाजी के कारण ही इस समय हमारे

राजनीतिज्ञों का स्तर बिल्कुल घटिया हो गया है और उनका सम्मान बिल्कुल घटता जाता है ।

इस आपत्तिकाल में मार्क्स की पत्नी ने जिस धैर्य और आत्म-त्याग का परिचय दिया वह अद्वितीय था । वह एक रईस घर की पुत्री थी और उस समय भी उसका एक भाई जर्मनी के मन्त्रिमण्डल का सदस्य था । पर उसने कभी घोर दरिद्रता या अभाव से घवड़ाकर मार्क्स की शिकायत नहीं की और न अपने भाग्य को कभी उसके साथ विवाह होने के लिये कोसा । वह स्वयं और घर के दूसरे सब लोग मार्क्स का हार्दिक सम्मान करते थे और कभी किसी ने इस बात की इच्छा तक प्रकट न की कि वह अपना कार्यक्रम बदलकर धन कमाने के लिये कोई दूसरा काम करे । मार्क्स की पत्नी वास्तविक अर्थों में उसकी सहधर्मिणी थी । वह सदा प्रसन्नचित्त रहती थी और मार्क्स को भी सदा चिन्ताओं से बचाने का उपाय करती थी । वह ऐसी व्यवहार कुशल थी कि मार्क्स से मिलने आने वाले समस्त परिचित, इष्ट मित्र और अनुयायी उसको बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे । मार्क्स को भी उसकी बुद्धि पर बड़ा भरोसा था, यहाँ तक कि वह अपने लेखों और पुस्तकों की पाण्डुलिपियाँ भी उसको दिखला देते थे ।

मार्क्स के छः सन्तानें उत्पन्न हुईं, जिनमें से दो लड़कों का और एक लड़की का बचपन में ही देहान्त हो गया । इनकी मृत्यु का एक कारण मार्क्स की कंगाली भी थी । जब उसके 'मूशा' नामक लड़के का देहान्त हुआ उस समय घर में उसकी अन्त्येष्टि के लायक भी रुपया न था । उसकी पत्नी पड़ौस में रहने वाले एक फ्रांसीसी श्रमजीवी के यहाँ गई जिसने उसे दो पौंड उधार दिये । तब उसे दफनाने के लिये शवाधार (सन्दूक) और दूसरी सामग्री खरीदी गई । अगर मार्क्स के पास अपने पुत्र का इलाज और परिचर्या कराने लायक काफी पैसा होता तो बहुत सम्भव था कि इस प्रकार अकाल में उसकी मृत्यु न हो जाती । सार्वजनिक सेवा का क्षेत्र ही ऐसा कंटकाकीर्ण है कि उसमें जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का सच्चाई के साथ पालन करना चाहता है, उसे सब प्रकार की कठिनाइयों और विघ्न-बाधाओं को सहन करने के लिये तैयार होना पड़ता है ।

## अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन

यद्यपि मार्क्स के जीवनकाल में उद्योग-धन्धों तथा आवागमन के साधनों का इतना अधिक विकास नहीं हुआ था कि किसी बहुत बड़े और प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी संगठन की कल्पना साकार हो सकती, तो भी उसने अपनी दूरदृष्टि से इस प्रकार संगठन की आवश्यकता और उसके लाभों को समझ लिया और उसी समय उसका बीजारोपण कर दिया ।

यद्यपि इस संघ की स्थापना का विचार आरम्भ में कुछ अंग्रेज और फ्रांसीसी श्रमजीवी नेताओं ने किया था, पर शीघ्र ही उसकी बागडोर मार्क्स को सौंप दी गई, क्योंकि वह इस विषय में सबसे अधिक जानकार और उत्साह रखने वाला था । अतः २८ सितम्बर, १८६४ को जब 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ' (इण्टरनेशनल वर्किंग मैन्स एसोसिएशन) की स्थापना हुई तो मार्क्स ही उसमें प्रमुख वक्ता और संस्था के सिद्धान्तों का प्रतिपादक था । उस समय यूरोप में और भी कई प्रकार के साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार हो चुका था, पर मार्क्स के सिद्धान्त मजदूरों के हितों के सबसे अधिक अनुकूल थे । इंग्लैण्ड के मजदूरों के इतिहास और उनकी सामाजिक दशा में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों का विवेचन करते हुए अन्त में मार्क्स ने उच्च स्वर से घोषणा की—

"गरीबों के स्वत्व अपहरण करने वालों का अन्तिम समय अब पास आ पहुँचा है । पूँजीवाद अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच रहा है और उसके बाद उसके नाश में किसी तरह का सन्देह नहीं । व्यापार और उद्योग-धन्धों में ही नहीं वरन् कृषि-कार्य तक पूँजीवाद जा पहुँचा है और जमीन पर अधिकार रखने वालों की संख्या और प्रभाव दिन पर दिन घटता जाता है । उधर व्यवसाय क्षेत्र में श्रमजीवी अपनी शक्ति बढ़ाते जाते हैं और अन्त में उनकी विजय निश्चित है ।"

मार्क्स ने ये उद्गार सौ वर्ष पहले प्रकट किये थे । तब से अब तक श्रमजीवी दल की शक्ति निःसन्देह बहुत बढ़ गई है और लगभग आधी दुनिया में वे सचालक और निर्णायक की हैसियत से काम करने लग गये हैं, पर अभी मार्क्स का स्वप्न शत-प्रतिशत पूरा नहीं हुआ है । आज का पूँजीवादी-वर्ग भी उस युग की अपेक्षा बहुत बदल गया है और अपनी शक्ति को

यथासम्भव संगठित करके अपने अस्तित्व की रक्षा में प्रयत्नशील है । तो भी दुनिया का रुख इस समय यही जान पड़ता है कि मार्क्स के सिद्धान्तानुसार अब संसार में से व्यक्तिगत पूँजी का अधिकार निरन्तर घटता जायेगा और सामाजिक पूँजी की प्रणाली उसका स्थान ग्रहण करती जायेगी ।

## साम्यवाद का लक्ष्य

जो लोग समझते हैं कि कम्यूनिज्म अथवा साम्यवाद का आशय मजदूरो और कर्मचारियों का वेतन अधिकाधिक बढ़वाना अथवा बड़े धनवानों की सम्पत्ति को सब में बराबर बँटवाना है, वे वास्तव में इस सिद्धान्त से अनजान ही हैं । इस प्रकार सौ धनवानों से यदि दस अरब रुपया छीन कर एक करोड़ गरीबों को एक-एक हजार दे दिया जाये और व्यापार व्यवसाय की प्रणाली जैसी आज है वैसी ही बनी रहे तो इससे उन गरीबों का कुछ भी फायदा नहीं हो सकता । दो-चार वर्ष के भीतर ही वह रुपया किसी अदृश्य तरीके से फिर उन गरीबों के हाथ से निकल कर पुराने या नये पूँजीपतियों के ही पास पहुँच जायेगा । इसलिये साम्यवादी दल सम्पत्ति के विभाजन की माँग नहीं करता वरन् उसका अन्तिम लक्ष्य यह है कि समस्त सम्पत्ति, वह चाहे चल या अचल किसी रूप में क्यों न हो, समस्त समाज की समझी जाये और उसकी तरफ से प्रत्येक व्यक्ति को न्यायानुसार वितरण की जाये ।

श्रमजीवियों की इस प्रकार की न्याययुक्त माँगो का अक्सर पूँजीवादी विरोध किया करते हैं । उनका कहना है कि मजदूरों के साथ इस तरह की रियायतें किये जाने और उनकी माँगो को मानते जाने से उद्योग-धन्धो पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा और राष्ट्र की शक्ति तथा प्रभाव नष्ट हो जायेंगे । मार्क्स ने अपने भाषण मे कहा कि "इंग्लैण्ड के मजदूरो ने तीस वर्ष तक आश्चर्यजनक सहनशक्ति का परिचय देते हुए जो संघर्ष किया उसके फलस्वरूप वे कारखानों में दस घंटे काम होने का कानून पास करा सके । अब हर एक आदमी यह स्वीकार करने लगा है कि मजूदरो की शारीरिक, चरित्र सम्बन्धी और मानसिक दृष्टि से यह कानून बड़े महत्त्व का है । इस कानून से मजूदरो का जो प्रत्यक्ष हित हुआ है, उसके सिवाय और भी बहुत से आश्चर्यजनक फल इस कानून से प्राप्त हुए है ।"

इससे पहले पूँजीवादियों के अर्थशास्त्रज्ञ कहा करते थे कि, यदि कानून द्वारा मजदूरों से काम कराने की सीमा बाँध दी जायेगी तो देश के उद्योग-धन्धों का नाश हो जायेगा । यह 'उद्योग-धन्धा' एक ऐसा दैत्य है जो मनुष्यों के खून—विशेषतः बालकों और स्त्रियो के खून से पुष्ट होता है । इस कानून के बन जाने से केवल पूँजीपतियों के लालच और मुनाफे मे ही बाधा नहीं पड़ती वरन् यह मजदूरो के सिद्धान्त की *विजय है क्योकि, पूँजीवाद के पक्षपाती अर्थ-शास्त्रकारों* का मत था कि व्यापार में जिस तरह से मुनाफा हो सके उसी तरह काम किया जाना चाहिये । दूसरी तरफ साम्यवादियो का कहना था कि उद्योग-धन्धो की व्यवस्था समाज के हित की दृष्टि से होनी उचित है । दस घण्टे से अधिक काम न करने का कानून बना दिये जाने से पूँजीवादी अर्थशास्त्र का खण्डन कर दिया गया और मजदूरो के अर्थशास्त्र की विजय हो गई ।

## फ्रांस की श्रमजीवी क्रांति

सन् १८७० में जर्मनी और फ्रांस का युद्ध हुआ, जिसमें फ्रांसीसी सेना की हार हुई और उसने आत्म-समर्पण कर दिया । जिन लोगो को जर्मनी ने कैद किया उनमें फ्रांस का सम्राट् लुईस बोनापार्ट भी था । ४ सितम्बर को फ्रांस में राज्य सत्ता का अन्त हो गया और उसके स्थान में प्रजातन्त्र की घोषणा की गई । इस अवसर पर 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी-संघ' के फ्रांसीसी सदस्यों ने पेरिस मे श्रमजीवी क्राति करके *मजदूर-दल का शासन स्थापित करने की योजना बनाई ।* मार्क्स ने इस कार्य को असामयिक बतलाया क्योंकि प्रगतिशील शक्तियों में इस प्रकार पारस्परिक विरोध होने से उनके शत्रुओ—पूँजीवादी शक्तियों को सफलता मिलने की सम्भावना बढ़ती थी । उस अवसर पर अन्तर्राष्ट्रीय संघ की जनरल कौसिल के साथ भाषण करते हुए मार्क्स ने कहा—

"इस प्रकार की कार्यवाही से फ्रांस के श्रमजीवी अपने लिये एक बड़ी कठिन परिस्थिति उत्पन्न कर लेगे । जिस समय शत्रु (जर्मनी) पेरिस के दरवाजे पर खडा हुआ है, उस समय नवीन प्रजातन्त्र सरकार को उलटने के लिये किसी प्रकार की चेष्टा करना मूर्खतापूर्ण होगा । फ्रास के श्रमजीवियों के इस अवसर पर नागरिक की हैसियत से अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये

और पुरानी घटनाओं को भूल जाना चाहिये । हमारा काम भूतकाल को दुहराना नहीं वरन् भविष्य का निर्माण करना है । उनको उचित है कि वर्तमान प्रजातन्त्र-शासन में जो अधिकार प्राप्त हुए हैं उनसे अधिक से अधिक लाभ उठायें, जिससे दल का संगठन खूब मजबूत बन सके । इससे उनको अजेय शक्ति प्राप्त होगी और आगे चलकर वे फ्रांस को पुनर्जीवित कर सकेंगे और अपने मूल उद्देश्य अर्थात् श्रमजीवियों के उद्धार को भी पूरा कर सकेंगे ।"

मार्क्स की यह बुद्धिमत्तापूर्ण सम्पत्ति फ्रांस के श्रमजीवियों को ही नहीं सभी देशों के प्रगतिशील जनजागृति के नेताओं के लिये अनुकरणीय है । जिस समय किसी शक्तिशाली विरोधी से संघर्ष हो रहा हो तब एक मार्ग के पथिक कहलाने वालों को छोटे-मोटे मतभेदों के कारण आपस में फूट और कलह करना उचित नहीं । इससे प्राय: लाभ के स्थान में हानि की ही सम्भावना अधिक रहती है । कारण यही है कि आरम्भ में नये दल वालों के साधन तथा शक्ति सीमित होती हैं जबकि पुराने दल के साधन जगह-जगह 'रिजर्व' (संचित) अवस्था मे पड़े होते हैं और वह मौका पाकर उनको इकट्ठा करके फिर अपनी सफलता के लिये उद्योग कर सकता है । ऐसे अवसर पर जन-आन्दोलन के कार्यकर्ताओं को धैर्य, समझदारी और उदारता से ही काम लेना चाहिये और व्यक्तिगत अधिकार लिप्सा अथवा अहंकार के वशीभूत न होकर देश तथा समाज के हित को प्रमुखता देनी चाहिये ।

पर जब फ्रांसीसी श्रमजीवी नेताओं ने जोश और देशभक्ति के प्रवाह में पड़कर फ्रांस की प्रजातन्त्र सरकार का तख्ता पलट दिया और पेरिस में साम्यवादी शासन कायम कर दिया तो मार्क्स ने उनका विरोध करने के बजाय एक साथी की हैसियत से उनके साथ हर तरह से सहयोग ही किया । 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी-संघ' के पास उस समय इतनी शक्ति तो न थी कि वह पेरिस के 'कम्यून' की रक्षा कर सकता पर इस कठिन अवस्था में उसने कर्तव्य-पालन से मुँह न मोड़ा । यह सर्वप्रथम साम्यवादी शासन केवल सात सप्ताह तक जीवित रहा और उसके बाद पूँजीपति और उनके साथियों ने पेरिस के इस श्रमजीवी शासन और कर्ता-धर्ताओं को बुरी तरह कुचल दिया और साथ ही मार्क्स द्वारा संचालित 'अन्तर्राष्ट्रीय-संघ' भी यूरोप के सब देशों में एक गैरकानूनी संस्था समझा जाने लगा । कुछ समय पश्चात् उसने इस ऐतिहासिक संघर्ष के सम्बन्ध मे एक पुस्तिका फ्रांस मे गृह युद्ध के नाम से लिखी जिसमें उसने मानवीय स्वाधीनता के इन दीवानों की प्रशंसा करते हुए, ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्‌गार निकाले थे--

"पेरिस के श्रमजीवी और उनका 'कम्यून' अनन्तकाल तक एक नवीन समाज के गौरवशाली अगुआ मानकर स्मरण किये जायेंगे । इन शहीदों का मन्दिर श्रमजीवी दल के विशाल हृदय में बन चुका है ।"

इस घटना के लगभग पचास साल बाद रूस के श्रमजीवी दल ने भी अपने देश में पेरिस के 'कम्यून' की तरह क्रांति करके ही प्रजातन्त्र को हटाकर साम्यवादी शासन का जयघोष किया था । इस बीच में मार्क्स के सिद्धान्तों का प्रचार सब देशों में हो चुका था और रूसी श्रमजीवी क्रांति का संचालन लेनिन 'मार्क्सस्ट' सिद्धान्तों का अद्वितीय ज्ञाता और उनको व्यावहारिक रूप देने में कुशल था । इस बार भी संसार के पूँजीपतियों ने एक होकर श्रमजीवी क्रांति को कुचलने का पूरा प्रयत्न किया । पर लेनिन लौह-सकल्प और समस्त देशों के श्रमजीवी-दल के समर्थन के फलस्वरूप वह उस अग्निपरीक्षा में से सफल होकर निकल आया और तब से संसार के श्रमजीवियों की विजय-यात्रा के आगे-आगे रक्त ध्वजा को लेकर निरन्तर अग्रसर होता जाता है । यह आश्चर्यजनक चमत्कार मार्क्स द्वारा लगाये पौधे से ही है जिसे उसने अपने हृदय के रक्त से सींचा था ।

### भारतवर्ष और मार्क्स

मार्क्स ने भारतवर्ष के सम्बन्ध में भी कुछ लेख अमेरिकन अखबारों में छापे थे यद्यपि, उस समय सन् १८५७ का गदर समाप्त ही हुआ था और उसकी प्रतिक्रिया से इस देश की स्थिति बड़ी हलचलपूर्ण हो रही थी । उसने अपने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यहाँ की स्थिति पर विचार किया । यद्यपि भारत एक धर्म प्रधान देश है और यहाँ के प्राचीन ढंग के विद्वान समाज के केवल आर्थिक या सामाजिक आधार पर किये गये विवेचन को महत्वपूर्ण नहीं समझते तो भी वर्तमान-युग में जबकि 'अर्थ' की शक्ति बहुत अधिक बढ गई है और संसार पर उसकी सत्ता स्थापित हो

चुकी है, इन सिद्धान्तों को समझना और उनको अपने अनुकूल बनाकर लाभ उठाना हमारा कर्त्तव्य है ।

हमारे 'भाग्यवादी' देश में बहुत कम लोगों ने इस बात पर विचार किया है और समझा है कि 'सम्पत्ति' का उत्पादन किन साधनों द्वारा सम्भव होता है और उनमें सबसे अधिक महत्त्व-श्रेय किसका है ? जब तक इस विषय में हमारे विचार स्पष्ट न हो जायें तब तक हम समाज के समयानुकूल संगठन और उसमें वर्तमान समय में पाये जाने वाले दोषों का निराकरण करने में समर्थ नहीं हो सकते । इसलिये नीचे हम संक्षेप में मार्क्स के सिद्धान्तानुसार यह बतलाना चाहते हैं कि किसी राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था का वास्तविक आधार क्या होता है ? उसके पश्चात् भारतवर्ष की स्थिति से उसका कहाँ तक सम्बन्ध हो सकता है इस पर विचार किया जायेगा ।

"पूँजीपति स्वयं इस बात को नहीं जानते कि उनको अपने कारबारों में जो नफा मिलता है वह पूँजी के किसी भाग द्वारा मिलता है या मानवीय उत्पादक शक्तियों द्वारा । पर एक बात वे अवश्य जानते हैं कि बिना श्रमजीवियो—मजदूरों के उनकी तमाम पूँजी मुर्दे के समान है । उनकी समस्त मशीनें और कच्चा माल बेकार है जब तक कि जीते-जागते श्रमजीवी उनका उपयोग करके व्यवहार योग्य वस्तुयें तैयार न कर दे । इसलिये उनका सबसे अधिक ध्यान मजदूरों से ठीक ढंग से काम कराने पर ही रहता है । पुराने जमाने में जबकि मशीनों की उन्नति बहुत कम हुई थी और ज्यादातर काम हाथ से ही किया जाता था, तब श्रमजीवियो का महत्त्व सर्वाधिक था । उस समय श्रमजीवी पूरी तरह से वेतन पाने वाले गुलाम नहीं बन गये थे वरन् वे कारीगर और दस्तकार थे, जो यदि सुविधा होती तो स्वतन्त्र रूप से छोटा-मोटा व्यवसाय कर सकते थे । पूँजीपति उनको नौकर रखकर उनके श्रम और योग्यता से लाभ उठाता था । उसका ध्यान सदा इस बात पर रहता था कि उनसे अधिक से अधिक समय तक काम कराके ज्यादा से ज्यादा माल तैयार कराया जाय, जिससे भरपूर नफा मिल सके ।"

धीरे-धीरे पूँजीपतियों को यह अनुभव हुआ कि अगर काम को अनेक हिस्सों मे बाँटकर श्रमजीवियो के अलग-अलग दलों से एक-एक हिस्से का काम कराया जाये तो वे काम को अधिक तेजी और सफाई से कर सकेंगे । इस प्रकार 'श्रम-विभाजन की प्रणाली' (Division of Labour) आरम्भ हुई, जिसके फल से श्रमजीवी कारीगर के बजाय वे एक प्रकार के जीवित यन्त्र बन गये । इस श्रम-विभाग-प्रणाली के कारण अधिक बढ़िया औजारों की आवश्यकता पड़ी और यन्त्र विद्या-विशारद तथा इंजीनियरों का ध्यान नवीन मशीनो के बनाने की तरफ जाने लगा । इसके साथ ही जब माल ज्यादा तैयार होने लगा तो उसको बेचने के लिये दूर-दूर भेजने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी । इसके फल से माल ढोने के साधनों, जैसे सड़कें, रेल, मोटर आदि का निर्माण होने लगा । व्यवसाय-वाणिज्य की वृद्धि और तरह-तरह की नई चीजों की माँग होने और माल को कम खर्च में तैयार करने की चेष्टा के फलस्वरूप रसायन-शास्त्र, धातु-विज्ञान और विज्ञान की अन्य शाखाओं की भी उन्नति होने लगी।

इस बीच कारखानो के भीतर भी मामला ठण्डा न था । काम करने के घण्टों के बढने और अधिक तेजी से काम करने के कारण शक्ति का अधिक व्यय होने से श्रमजीवियों में असन्तोष फैलने लगा और वे संगठित होकर अपनी दशा सुधारने की चेष्टा करने लगे । श्रमजीवियों के इस आन्दोलन और साथ ही विज्ञान तथा यन्त्रकला की उन्नति के फल से नई-नई मशीनो, इंजनों, बिजली के यन्त्रों आदि के आविष्कार होने लगे और इस प्रकार बड़े-बड़े कारखानों की नीव पडी ।

इस प्रकार देखते-देखते समाज में एक ऐसा व्यापक परिवर्तन हो गया जैसा पहले देखने मे न आया था । समाज की कितनी ही श्रेणियाँ (जातियाँ), जो दस्तकारी और कारीगरी द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी रोजी कमाती थी एकदम नष्ट हो गईं और उनकी गिनती मजदूरो में होने लगी । खेती की दशा भी बदलने लगी और बड़े-बड़े जमीदारों ने मामूली जमीन को भी काम मे लाना शुरू कर दिया और स्वतन्त्र किसान मजदूर बनने लगे । धीरे-धीरे गाँवों की जनसंख्या घटने लगी और शहरों की आबादी बढ़ने लगी । इस प्रकार क्रांतिकारी परिवर्तन के फल से समाज स्पष्ट दो हिस्सों में बँट गया था—एक तो पूँजीपति और दूसरे श्रमजीवी ।

"कुछ समय पश्चात् श्रमजीवी तथा समाज की अन्य श्रेणियाँ पूँजीपतियों का विरोध करने लगीं कि उनकी शोषण-प्रवृत्ति लोगो के स्वास्थ्य का नाश कर रही है, इसलिये श्रमजीवियों से नियमित समय से अधिक काम नही कराना चाहिये । बहुत कुछ आन्दोलन के पश्चात् सरकार ने काम करने का समय घटा दिया और कानून बना दिया कि मजदूरों से इससे अधिक काम न लिया जाये । इस कारण पूँजीपतियों का नफा घटने लगा । पर शीघ्र ही मशीनों की आश्चर्यजनक उन्नति होने लगी और मजदूरों को लाचार होकर तेजी से काम करना पड़ा, जिससे उन पर काम का दवाव अधिकतर पड़ने लग गया ।"

यद्यपि भारतवर्ष में विदेशी शासन के कारण उद्योग-धन्धों का विकास उतनी तेजी से और उस रूप में नहीं सका जैसा कि यूरोपीय देश में हुआ तो भी अंग्रेजी हकूमत के ही जमाने में ही विदेशी और देशी पूजीपतियों ने इस देश में रुई, जूट, लोहा, चमड़ा, चीनी, सीमेण्ट आदि कई प्रकार के बड़े-बड़े कारोबार स्थापित कर लिये । इसके फल से यहाँ भी बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद, कानपुर, जैसे नगरों की भरमार हो गई और लोग गाँवों के स्वास्थ्यप्रद वातावरण को त्यागकर शहरों की गन्दी गलियाँ और अन्धेरी कोठरियों में रहने लगे । आरम्भिक समय में यहाँ भी मजदूरों से काम कराने के समय में कोई नियम न थे और कारखानों के मालिकों ने उनके द्वारा अधिक से अधिक लाभ उठाना ही अपना लक्ष्य बना रखा था । पर शीघ्र ही यहाँ भी 'मजदूर आन्दोलन' का जन्म हुआ, उनके संगठन बनने से बड़ी-बड़ी हड़तालें और संघर्ष हुए और आज मजदूरों के अधिकारों की रक्षा के लिये बहुत से कानून बना दिये गये हैं । अब मजदूरों में इतनी 'वर्ग-चेतना' उत्पन्न हो गई है और उनके संगठन इतने मजबूत हो चुके हैं कि कारखानों के मालिक प्रत्यक्ष रूप से उनके साथ मनमाना व्यवहार नहीं कर सकते ।

अब देश के नेता तथा शासक यह भी अनुभव करने लग गये हैं कि जब तक उत्पत्ति के साधनों—पूँजी और मशीनों पर लोगों का व्यक्तिगत अधिकार रहेगा और उनका उद्देश्य किसी प्रकार अधिक से अधिक नफा प्राप्त करना रहेगा, तब तक साधारण-जनता की अवस्था सुधर नहीं सकती और पूँजीपति किसी न किसी प्रकार उसको अन्यायपूर्ण ढंग से लूटते ही रहेगे । इसलिये अब सरकार बीमा कम्पनी और बैंक जैसे पूँजी के केन्द्र स्थानों पर अधिकार और नियन्त्रण कर रही है और जो कारखाने अपनी व्यवस्था ठीक ढंग से नहीं कर सकते उनका प्रबन्ध भी अपने हाथों में ले रही है । ये परिवर्तन मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुकूल ही हैं । यद्यपि अभी यहाँ पूँजीपतियों तथा श्रमजीवियों का संघर्ष अन्तिम दर्जे पर नहीं पहुँचा है, पर अब श्रमजीवी-दल की शक्ति, उसकी प्रधानता बढ़ती जायेगी इसमें सन्देह नहीं ।

## जीवन के अन्तिम दिन

जीवन के अन्तिम बारह वर्ष में मार्क्स को निरन्तर बीमारी और रोगों से संग्राम करना पड़ा । इसका मुख्य कारण 'कैपिटल' के लिखने और श्रमजीवी आन्दोलन के प्रचार-कार्य में वर्षों तक वह लन्दन के 'ब्रिटिश म्यूजियम पुस्तकालय' मे बैठकर सोलह घण्टे प्रतिदिन अध्ययन करता रहा । इसके सिवाय रात में प्रायः जो लिखने का काम करता था वह इससे अलग था । इस प्रकार अमानुषीय परिश्रम करने पर भी वह 'कैपिटल' महाग्रन्थ को अपने जीवनकाल में पूरा प्रकाशित न करा सका । इस सम्बन्ध में उसने अपने एक अमेरिकन मित्र को भेजे गये पत्र में लिखा था—"जिस काम के लिये मैंने स्वास्थ्य, सुख और परिवार का बलिदान कर दिया था, वह भी पूरा न हो सका ।"

स्वास्थ्य सुधार के लिये जब उसके मित्रों ने विशेष जोर दिया तो वह दो-तीन बार 'कार्लसबाद' जाकर रहा, जो यूरोप का एक प्रसिद्ध स्वास्थ्यकर स्थान है । इसके फल से १८७७-७८ में उसकी हालत कुछ सुधर गई । तब वह फिर कैपिटल के दूसरे भाग को क्रमपूर्वक रखकर उसे छापने लायक बनाने में परिश्रम करने लगा । पर इससे उसकी दशा फिर बिगड़ गई और लोगों ने समझ लिया कि अब इसकी काम कर सकने की शक्ति समाप्त हो चुकी है । इन दिनों उसका प्रभाव इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी में बराबर बढ़ता जाता था और अनेक सुप्रसिद्ध साम्यवादी नेता उसके सिद्धान्तों का प्रचार जोरों से कर रहे थे और उनके पक्ष तथा विपक्ष में अनेक संस्थाओं की स्थापना की जा रही थी । पर जिस व्यक्ति के नाम पर ये सब कार्य किये जा रहे थे वह स्वयं बर्बाद हो चुका था । उसके जीवन काल

में लोगो ने उसके मूल्य को नहीं समझा और उसके परिश्रम का उसे कुछ भी पुरस्कार नहीं मिला । 'कैपिटल' के लिखने में उसने करीव चालीस वर्ष परिश्रम किया और परिश्रम भी ऐसा कि जिसे मार्क्स के समान ही कोई व्यक्ति कर सकता था । पर इसके बदले में उसे क्या मिला ? उसे इस पुस्तक का जो कुछ परिश्रम मिला वह इतना कम था कि एक छोटे से छोटा मजदूर भी चालीस वर्ष में उससे कहीं अधिक कमा लेता ।

अन्त में १४ मार्च, १८८३ को ६५ वर्ष की आयु में मार्क्स ने इस संसार को त्याग दिया । मरते समय तक एन्जिल्स उसके साथ था और उसकी हर तरह से देखभाल करता रहा । उसी ने मार्क्स का देहान्त हो जाने के वाद 'कैपिटल' के शेप दोनों भागों को ठीक करके प्रकाशित कराया । मार्क्स के अन्तिम संस्कार के समय उसने शोकाकुल अवस्था में कहा—

"आज मनुष्य-जाति एक वड़े महत्त्वपूर्ण मस्तिष्क से रहित हो गई । जिस प्रकार डार्विन ने जीव-जगत के विकास सिद्धान्त का आविष्कार किया, ठीक उसी प्रकार मार्क्स ने मनुष्य जाति के इतिहास के विकास सम्बन्धी नियम का पता लगाया । यह नियम विल्कुल सहज और स्वाभाविक है, पर अव तक यह आदर्शवाद के घटाटोप में छिपा हुआ था । मार्क्स ने समाज-प्रजातन्त्रवाद को एक मत या सिद्धान्त के वजाय एक जीवित सत्य बना दिया जो आज विना हार माने युद्ध कर रहा है और अन्त मे अवश्य विजयी होगा । मार्क्स ने अपनी योग्यता और शक्ति का उपयोग मानव जाति के हितार्थ मे किया । वह जन्मभर गरीवी और अभावग्रस्त दशा मे रहा पर उसने करोड़ो दीन-हीन व्यक्तियो के उद्धार का रास्ता खोल दिया । ऐसे ही परमार्थ में जीवन अर्पण करने वाले ऋषि और मुनि कहलाने के अधिकारी होते हैं ।

# मानव-जीवन के भाष्यकार : ऋषि टॉल्सटाय

"एक समय था जव मैं खुले शब्दों मे कह दिया करता था कि हमारा ईसाई धर्म विल्कुल झूठ है किन्तु आगे चलकर इसमें परिवर्तन हो गया । तव मैंने सन्देह करने मे तो कमी कर दी किन्तु मुझे इस वात का पक्का विश्वास हो गया कि जिस धर्म को हम मान रहे है उसमें पूरी सच्चाई नही है । साधारण मनुष्यों द्वारा माने जाने वाले धर्म मे तो वास्तविकता थी, क्योंकि इसमें लेश-मात्र सन्देह नही कि सच्चाई के विना जीवित रहना असम्भव है । यह सच्चाई मुझे मालूम थी और मै उसी के अनुसार चलता था । पर इस सच्चाई के साथ भी झूठ मिला था । यह ठीक है कि साधारण लोगों के विचारों में पादरी लोगो (पंडा-पुरोहितो) की अपेक्षा अधिक सच्चाई थी, किन्तु वह असत्य से सर्वथा मुक्त थे ।"

"सच्चाई और झूठ कहाँ से आये ? दोनो 'चर्च' (ईसाई धर्म) से ही निकले है । एक समय था कि मैंने धार्मिक साहित्य को विल्कुल व्यर्थ और निस्सार समझ कर अन्तिम नमस्कार कर लिया था, पर सच्चाई और झूठ की जाँच करने के लिये मुझे उसका अध्ययन करना पड़ा यद्यपि यह वात आश्चर्यजनक प्रतीत होगी किन्तु साहित्य भी मोक्ष का एक द्वार है । जब मैने धार्मिक साहित्य का अध्ययन किया तो मुझे मालूम हुआ कि उससे भी विज्ञान आदि के समान प्रत्यक्ष परिणाम निकाले जा सकते है तो भी मैं प्रत्येक धार्मिक वात का तात्पर्य नही समझ सकता । जिस प्रकार हम ससार की उत्पत्ति का ठीक वर्णन नहीं कर सकते, उसी प्रकार अन्य अनेक वातों का भी ठीक स्वरूप शब्दो द्वारा वर्णन कर सकना सम्भव नहीं । मेरा प्रयत्न इतना ही था कि जितना बन पड़े मै सच्चाई के निकट तक पहुँच जाऊँ । मेरी यह इच्छा विल्कुल नही थी कि मैं प्रत्येक वात की वास्तविकता जान लूँ, क्योकि मैं जानता था कि यह एक असम्भव बात है । मनुष्य की बुद्धि परिमित है । पर जव मैने जान लिया कि धर्म-विश्वासों में सत्य और असत्य दोनो मिले है, तो मैने अपना यही कर्त्तव्य समझा कि मै सच्चाई को झूठ से पृथक करूँ ।"

रूस के ऋषि टॉल्सटाय (सन् १८२८ से १६१० तक) के धर्म सम्बन्धी विचारो का स्वलिखित उपर्युक्त

वर्णन पढ़कर पाठकों को अवश्य ही यह अनुभव होगा कि वे धर्म के सच्चे जिज्ञासु थे और उन्होंने उसके तत्त्व को बहुत अंशों में जान लिया था । वे उस धर्म से अपना पीछा छुड़ा चुके थे जिसकी विशेषतायें केवल दम्भ और प्रतारणा होती है । उसके बजाय उन्होंने उस 'धर्म' को समझने और पालन करने की चेष्टा की थी जिसे सभी देशों और जातियों के मनुष्य पालन कर सकते हैं ।

## धर्म के सम्बन्ध में खोज

टॉल्सटाय का जन्म जिस घराने में हुआ था वह 'यूनानी-सम्प्रदाय' का अनुयायी था । यह ईसाई मत की ही एक शाखा थी । जिसमें प्रार्थना और व्रत आदि पर बहुत जोर दिया जाता था और ईसा तथा मरियम की मूर्तियों की उपासना भी की जाती थी । जिस समय वे स्कूल में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, वह समय आधुनिक विज्ञान की वृद्धि का था और उसकी कुछ पुस्तकों को पढ़कर अथवा दूसरो से ही उन बातों को सुनकर अनेक लोग धर्म और ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करने लगते थे । उस युग में इस प्रकार की वैज्ञानिकता का प्रभाव भारतवर्ष पर भी पड़ा था और जनता में यह प्रसिद्ध हो गया था कि "अंग्रेजी पढने से मनुष्य नास्तिक हो जाता है ।" इस शिक्षा का सबसे अधिक प्रचार बंगाल में ही हुआ था और इसके फलस्वरूप बहुसंख्यक व्यक्ति भारतीय धर्म से विमुख होकर उसकी हँसी उड़ाने लगे थे । जब यह भावना बहुत अधिक बढ़ने लगी तो इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप वहाँ रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द जैसे महापुरुषो का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने भारतीय धर्म की मान्यताओं का महत्त्व सिद्ध करके उस 'वैज्ञानिक विचारधारा' के प्रवाह को रोका था ।

टॉल्सटाय के आत्म-चरित्र से विदित होता है कि अब से सवा सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले रूस के शिक्षित समाज की भी ऐसी ही दशा हो गई थी । ईश्वर, धर्म और भगवान की उपासना आदि बातों का मजाक उड़ाया जाने लगा था । इस पर प्रकाश डालते हुए टॉल्सटाय ने लिखा है—

"मुझे याद है कि जब मै १२ वर्ष का था तो एक दिन एक लडका मेरे पास आया और कहने लगा कि स्कूल में एक नया अन्वेषण हुआ है कि ईश्वर कोई चीज नहीं है । जो कुछ हमको उसके विषय से सिखाया जाता है, वह सब लोगों की मनगढ़न्त है । उस लड़के की बात सबको बड़ी मनोरंजक जान पड़ी । मुझे यह भी याद है कि जब मेरा भाई प्रतिदिन गिरजा (मन्दिर) में जाया करता था, तो सदैव हम सब उस पर हँसा करते थे । हमने हँसी में उसे "हजरत नूह" का नाम दे दिया था ।"

मेरा एक मित्र एक दिन कुछ लोगों से साथ शिकार खेलने गया । दोपहर को विश्राम करने से पूर्व उसने घुटनों के बल बैठकर 'प्रार्थना' की, जैसा कि उसका प्रतिदिन करने का नियम था । उसका भाई कुछ दूर बैठा हुआ यह सब देख रहा था । जब वह प्रार्थना समाप्त कर चुका तो उसके भाई ने कहा—"क्या अब तक तुम्हारे विचार ऐसे ही है ।" उसकी अपने भाई से इस सम्बन्ध में कुछ बातचीत हुई और उस दिन से गिरजे में जाना और प्रार्थना करना छोड़ दिया ।

टॉल्सटाय लिखते हैं कि आजकल हमारा पुराना धर्म केवल कुछ विश्वासों पर टिका रहता है । वे विश्वास आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं । बहुत से मनुष्यों को अपने इन धार्मिक भावों के नष्ट होने की खबर भी नहीं लगती और वे यों ही जीवन व्यतीत कर डालते हैं । उन्होंने स्वयं अपने विषय मे बतलाया है—

"आरम्भिक अवस्था मे जो धार्मिक विचार मेरे भीतर भरे गये थे, वे धीरे-धीरे नष्ट हो गये । मै १५ वर्ष की आयु से ही दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने लगा था । इस कारण मुझे अपने 'काफिर' (धर्म विमुख) हो जाने का पता था । सोलह वर्ष की आयु में मैंने प्रार्थना करनी छोड दी थी तथा व्रतों को अन्तिम नमस्कार कर लिया था । बचपन मे सीखे हुए धार्मिक सिद्धान्तों पर से मेरा विश्वास बिल्कुल उठ गया था ।"

हम भारतवासी सबसे अधिक 'धर्म'-'धर्म' चिल्लाते है, पर हमारा धर्म कैसा खोखला हो गया है, इस पर शायद ही कोई विचार करता है । टॉल्सटाय के उपर्युक्त आत्म-निरीक्षण से हम अनुभव करते है कि वास्तव मे हमारे यहाँ के शिक्षित लोगों मे भी लाखों ऐसे ही है, जो सांसारिक जीवन में पड़कर धर्म के महत्त्व और उसकी आवश्यकता को बिल्कुल भूल जाते हैं । यदि वे मन्दिरों में जाते भी हैं, तीर्थों में स्नान भी कर लेते

हैं, मूर्तियों पर दो-चार पैसे चढ़ा भी देते हैं तो यह सब एक सैर-तमाशे की तरह ही होता है। जन्म भर उनके मन में कभी यह ख्याल नहीं उठता कि धर्म के विषय में गम्भीरता से कुछ विचार करें और उन सिद्धान्तों के अनुसार अपने जीवन को धार्मिक बनाने का प्रयत्न करें। वे धर्म के ऊपरी प्रदर्शन से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं और मन को समझा लेते हैं कि "हम धर्म का पालन कर तो रहे हैं।"

## चरित्र का पतन

जब धर्म की नीव कमजोर पड़ जाती है और उसका सारतत्त्व निकल जाता है, तो मनुष्य का चरित्र भी कायम नहीं रह सकता। ऐसा होने पर भी कुछ लोग तो 'धर्म' का नाम लेते रहते हैं और थोड़ा बहुत दिखावा भी कर देते हैं, और कुछ लोग बड़ी शान के साथ अपने को ऐसी 'बेवकूफी' की बातों से अलग बतलाने लगते हैं और प्रायः धर्म का मजाक उड़ाते रहते हैं। इन दोनों ही प्रकार के लोगों का चारित्रिक और नैतिक पतन अनिवार्य होता है। उनकी दृष्टि में खाना, कमाना, भोग करना ही मनुष्य-जीवन का सार रह जाता है और उसी की पूर्ति में वे सदा लगे रहते हैं। इस सम्बन्ध में टॉल्सटाय के अनुभव वास्तव में बड़े करुणाजनक और हृदय-द्राविक हैं, उनका वर्णन करने में उन्होंने जिस स्पष्टता और साहस का परिचय दिया है वह अद्वितीय है। वे जन्म से ही एक बहुत प्रतिष्ठित और राजवंश से सम्बन्धित घराने के थे और बाद में भी अपने उद्योग तथा त्याग और तप से जगत-पूज्य बन गये। पर आरम्भिक जीवन में धर्म के बिना उनकी क्या दशा हुई इसका वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

"मैं हृदय से इस बात की खोज में था कि किसी प्रकार नेक तथा अच्छा मनुष्य बनूँ परन्तु इस नेकी की खोज में मैं अकेला ही था। अन्य लोग इसे सनकीपन बतलाते थे। जब मैंने अपने इष्टमित्रों तथा परिचितों के सम्मुख अपनी नेक बनने की हार्दिक इच्छा प्रगट की, तो लोगों ने मेरी हँसी उड़ाई और मुझको घृणा की दृष्टि से देखा किन्तु जब मैंने पाशविक वृत्तियाँ प्रकट की तो लोगों ने मेरी प्रशंसा की। मैंने अपने उच्चवंशीय समाज में सांसारिक वासनाओं, विषयभोग, घमण्ड, क्रोध, बदला लेना आदि का ही अधिक सम्मान होते देखा। जब मैंने भी इस विषय में अपने पूर्वजों का अनुकरण किया तो मुझे प्रतीत हुआ कि लोग मुझसे प्रसन्न हैं और मैं कोई नई या अनोखी बात नहीं कर रहा हूँ। मेरी चाची जी वास्तव में बड़ी सज्जन महिला और मेरी हितैषी थीं, मुझसे कहा करती थीं कि "मैं तुम्हारी भलाई के लिये सबसे अधिक इस बात की इच्छुक हूँ कि तुम्हारा किसी विवाहिता स्त्री से अनुचित सम्बन्ध न हो जाये। दूसरी बड़ी इच्छा यह है कि तुम महाराज के मुसाहिब हो जाओ। तीसरी इच्छा यह है कि तुम्हारा विवाह किसी धनवान स्त्री से ही जिसके दहेज में बहुत से नौकर आवें।"

"जब मैं अपने जीवन के उस समय पर दृष्टि डालता हूँ तो मुझे बड़ा कष्ट और घृणा होती है। मैंने युद्धों में नर-हत्या की। दूसरों की जान लेने के विचार से द्वन्द्व-युद्ध (डुएल्स) लड़े। जुआ खेला। कृषकों के कठिन परिश्रम से उपार्जित धन को व्यर्थ के कामों में व्यय किया। दुराचारिणी स्त्रियों से सम्बन्ध रखा, लोगों को धोखा दिया। मिथ्याभाषण, लूटमार, मद्यपान, निर्दयता आदि सब कुछ किया। कदाचित ही कोई ऐसा बुरा कर्म हो जो मुझसे बचा हो। इस पर भी मैं दूसरे लोगों की दृष्टि मे भद्रपुरुष—सज्जन समझा जाता था दस वर्ष तक मेरा जीवन इसी प्रकार व्यतीत हुआ। उस समय जो कुछ मैं लेख आदि लिखा करता था वे भी नाम तथा धन के लिये। ग्रन्थ लेखक के रूप मे भी मैं ऐसे ही मार्ग पर चला। पद तथा धन उपार्जन करने के विचार से मैने अपने उच्च भावों पर परदा डाल दिया, या उनकी हँसी उड़ाई। प्रशंसा प्राप्त करने के विचार से छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान दिया। फिर भी छब्बीस वर्ष की आयु में मैं रूस की राजधानी सेंटपीटर्स वर्ग गया तो वहाँ के प्रसिद्ध लेखकों ने मेरा बड़े जोर-शोर के साथ स्वागत किया और मेरी पुस्तकों की प्रशंसा की।"

## झूठा अहंकार

आगे चलकर टॉल्सटाय ने बतलाया है कि इस प्रकार की सफलता के कारण मनुष्य के भीतर किस प्रकार झूठा अहंकार उत्पन्न हो जाता है और किस प्रकार अपने दोषो पर पर्दा डालकर वह अपने मार्ग को युक्तियुक्त समझने लग जाता है। मनुष्य अपने दोषो को ठीक तरह से समझने के बजाय उल्टे-सीधे

तर्कों द्वारा अर्थ का अनर्थ करता रहता है और इससे उसके भीतर एक ऐसी अहंवृत्ति बढ़ती रहती है जिसका कोई आधार नहीं होता। अपने लेखन कार्य से टॉल्सटाय को जो प्रशंसा प्राप्त हुई और दूसरे लेखक भी जिस प्रकार के विचारों से ग्रसित रहते हैं उन सबकी विवेचना करते हुए उन्होंने लिखा है—

"मेरे विचार भी उस समय अन्य मनुष्यो की भाँति हो गये। पवित्रता से जीवन-यापन करने का पुराना उद्देश्य न जाने कहाँ उड़ गया। अन्य लेखकों की भाँति मै भी सोचने लगा कि मनुष्य जाति उन्नति कर रही है। उन्नति में सबसे बड़ा भाग लेखकों तथा कवियों का है। *हमारा काम संसार को शिक्षा देना है। यदि* यह प्रश्न किया जाता कि स्वयं मेरा ज्ञान कितना विस्तीर्ण है तथा मैं दूसरों को क्या लाभ पहुँचा सकता हूँ, तो अन्य लेखको के समान मैं भी इसका यही उत्तर देता था कि लेखकों को इस झगडे में पड़ने की आवश्यकता नही। चाहे वह प्रयत्न करें या न करें, उनके विचारों का उत्तम प्रभाव संसार पर पड़ता ही है। लोग मुझे उच्चकोटि का लेखक और कवि मानने लगे थे, इसलिये मैने भी उपर्युक्त प्रश्न का ठीक उत्तर जानने का प्रयत्न नहीं किया। पर वास्तव में मुझे इस बात का ज्ञान था कि मै किस बात का उपदेश देता हूँ और उसका क्या प्रभाव पड़ेगा ? पर लेखो और पुस्तको द्वारा मुझे बहुत-सा रुपया मिला, स्वादिष्ट भोजन मिले, सुन्दर घर मिला, भोग-विलास के लिये स्त्रियाँ मिलीं, मित्रो की आवभगत करने का अवसर मिला और यश मिला। इसलिये मैंने मान लिया कि मैंने जो उपदेश दिये वे बहुत अच्छे होगे।"

"पर ग्रन्थ लिखने के दूसरे-तीसरे वर्ष मेरा विश्वास कुछ-कुछ ढीला पड़ने लगा। पहली शंका तो इस कारण हुई, कि सब लेखक किसी विषय पर एक मत नहीं होते। कुछ कहते हैं कि हम ही सत्य पर हैं और संसार के शेष लेखक गलती पर हैं। अन्य लेखक समझते हैं कि जो कुछ हैं हम ही हैं। कुछ लेखक ऐसे भी मिले जिनको अपने लाभ के अतिरिक्त अच्छे-बुरे मे कुछ मतलब न था। इसके अतिरिक्त जब मैंने लेखकों के आन्तरिक जीवन पर दृष्टि डाली तो मुझे मालूम हुआ कि उनका जीवन बदचलनी का है। इन सब बातों से मुझे मनुष्य जाति तथा अपने आप मे घृणा हो गई। लेखन के सम्बन्ध में मैंने अपने विचार बदल दिये, फिर भी इस कार्य मे जो सांसारिक लाभ होता था उसे नही त्यागा और अन्य लेखकों की तरह मन को यही कहकर समझाता रहा कि हम लोग जितना अधिक लिख या बोल सके तथा जितनी अधिक रचनायें प्रकाशित कर सकें उतना ही संसार के लिये हितकर है।"

## आत्म निरीक्षण की प्रवृत्ति

इस प्रकार टॉल्सटाय के मन में प्रचलित रीति-रिवाजों की बुराइयों और हानियों के सम्बन्ध मे बहुत समय तक संघर्ष चलता रहा और वे क्रमश: स्वार्थपरता की नीति से विरक्त होकर किसी नये मार्ग की खोज मे लगे रहे। यद्यपि वे एक 'काउण्ट' थे, जिसकी तुलना हम अपने देश के नवाबो से कर सकते है और ऐसे ही लोगों से उनकी मित्रता और नाते रिश्लेदारी भी थी। पर वे उनकी विलासिता और अपने ही सुख के लिये चिन्ता करते रहने की मनोवृति को कभी आत्मसात् नहीं कर सके। युवावस्था में अन्य कोई मार्ग ज्ञात न होने से उस तरफ झुके भी तो उनकी आत्मा बराबर उनको कचौटती रही कि यह रास्ता गलत है। वे परीक्षण के तौर पर लगातार एक के बाद दूसरी जीवन प्रणाली को अपना कर यह देखते रहे कि उससे उनकी आत्मा को शान्ति मिलती है या नहीं ? उनकी इस अवस्था का वर्णन करते हुए एक विद्वान् ने सत्य ही लिखा है—

"टॉल्सटाय आध्यात्मिक जीवन की ओर क्यो मुडा ? सुखी जीवन के लिये आवश्यक माने जाने वाले सारे उपकरण उसे बड़े ही आलीशान रूप में प्राप्त हुए थे। शरीर-सम्पदा भी उसे प्राप्त थी। शारीरिक दृष्टि मे शायद अपने समकालीनो में वह सबसे अधिक स्वस्थ था। उसकी बौद्धिकता का क्या कहना ? उसका लोहा विश्व के बुद्धिवादी मानते थे। उसकी कला में अद्‌भुत ताजगी थी। कला और साहित्य के क्षेत्र मे उसने विश्व मे अपना स्थान बना लिया था। एक बडी जमींदारी का वह स्वामी था, इसलिये उसके जीवन मे आर्थिक चिन्ता का कोई प्रश्न ही न था। वह एक कुलीन वश का व्यक्ति था इसलिये उसे प्रचुर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी। साथ ही रूसी भाषा का सबसे बड़ा लेखक और विश्व का एक प्रसिद्ध कहानीकार होने का यश उसे प्राप्त था। उसका कौटुम्बिक जीवन भरा-पूरा

ा । उसकी पत्नी थी और कई बच्चे भी थे । इस कार हम देखते हैं कि अर्थ की दृष्टि से, प्रतिष्ठा की ष्टि से, कीर्ति की दृष्टि से, कुटुम्ब की दृष्टि से—सभी ष्टियों से वह भरपूर था । किसी प्रकार का अभाव सके जीवन में न था । जीवन से असन्तुष्ट होने का ोई बाहरी कारण उसके सामने नहीं था । फिर वह यों आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रवृत्त हुआ और धर्म था ईश्वर की वास्तविकता को जानने के लिये वर्षों याकुल बना रहा ? यह प्रश्न सहज ही हमारे मन में ठ सकता है । व्यक्ति के मन मे ऐसा बीज प्रारम्भ े ही होता है और अवसर पाकर वह फूट पडता है । चास वर्ष की आयु में जीवन सम्बन्धी अनेक प्रश्नो ने उसके हृदय को मथ डाला और वे भयंकर रूप में उसके सामने खड़े हो गये—

(१) मै क्यो जी रहा हूँ ? (२) मेरे और अन्य सब लोगों के अस्तित्व का क्या कारण है ? (३) मेरे अस्तित्व और दूसरे अस्तित्वों का क्या प्रयोजन है ? (४) अपने भीतर जो अच्छाई और बुराई का यह विभाजन मैं अनुभव करता हूँ, इसका क्या अर्थ है ? (५) मुझे कैसे जीना चाहिये ? (६) मृत्यु क्या है और उससे मै अपने को कैसा बचा सकता हूँ ।

क्या इन प्रश्नो को पढ़कर हमको ढाई हजार वर्ष पहले इसी भारत भूमि पर जन्म लेने वाले गौतम बुद्ध की याद नही आती ? वे अभी एक स्वाधीन नरेश के पुत्र थे और सम्पत्ति, विद्या, शक्ति, सौन्दर्य किसी बात की उनको कमी न थी । एक परम सुन्दरी राजकन्या से उनका विवाह हुआ था और कमल पुष्प के समान सुन्दर उनका पुत्र था । फिर भी सामान्य लोगों को दो-चार बार विविध कष्टों से पीड़ित देखकर ही उनके हृदय मे यह जिज्ञासा उठ खड़ी हुई कि यह जीवन क्या है, इसमें दु.खों का क्या कारण है और उनका निराकरण किस प्रकार किया जा सकता है ? इस समस्या ने उनका हृदय इतना अधिक मथ डाला कि उनको राजमहल के सुख असह्य हो गये । वे उसी युवावस्था में युवती पत्नी और पुत्र की ममता त्यागकर वनवासी हो गये और वर्षों तक कष्ट सहन करते हुए इन्हीं प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ते रहे । अन्त में उन्होने एक मार्ग खोज ही लिया और उसके द्वारा अपने लिये ही नही और भी करोड़ों व्यक्तियों को सांसारिक दुःखों से पूर्णतः नहीं तो अशंतः मुक्त करा ही दिया ।

हमारे बहुत से पाठक टॉल्सटाय के इन प्रश्नो को पढ़कर कदाचित् कह उठेगे कि इनमें कौन-सी नवीनता है । भारतीय-धार्मिक साहित्य में तो कदम-कदम पर इस प्रकार की शंकायें और उनके समाधान भरे पड़े है । यहाँ तो आज भी सैकड़ों महात्मा अपने प्रवचनों में इन्हीं विषयो का उपदेश अपने श्रोताओ को करते रहते है ।

हम मानते है कि इस प्रकार की जिज्ञासाओ के समाधान के लिये भारतीय धार्मिक साहित्य में बहुत कुछ मसाला मौजूद है । आध्यात्म-विवेचन की दृष्टि से हमारे उपनिषदों को संसार भर के विद्वानों ने सर्वश्रेष्ठ बतलाया है । 'योग वाशिष्ठ' आदि में भी इन प्रश्नो का बड़ा सरलतापूर्वक समाधान किया गया है । पर किसी सच्चे सत्यान्वेषी की भूख इतने सहज में नहीं मिट जाती । यदि आध्यात्मिक प्रवचनों और धर्मग्रन्थों का कुछ समय स्वाध्याय कर लेने से यह उद्देश्य पूरा हो सकता तो आज हमारे देश में करोड़ों नहीं तो लाखों 'जीवनमुक्त' तो मिल ही सकते थे । पर दुःख से कहना पड़ता है कि हम लोग विदेशों के भौतिकवादी कहे जाने वालो की अपेक्षा भी अधिक माया-मोह, लोभ-लालच से ग्रस्त हैं । हमारे 'महात्मा' और 'पंडित', 'साधु' और 'संन्यासी' हमको सम्पति और भोग तृष्णा से क्या छुड़ायेंगे, वे स्वयं गृहस्थो से भी अधिक सम्पत्ति बटोरने और सुख साधन एकत्रित करने मे लगे रहते हैं । आध्यात्मिक उपदेश देने वाली कथाओं के समाप्त होते ही चढ़ावा और भेट के लिये थाली घुमाई जाती है और प्रत्येक बड़े मन्दिर और तीर्थ मे जगह-जगह 'दान-पेटियाँ' रखी रहती हैं । अभी हमने देखा कि एक संन्यासियों के आश्रम में चौबीस अवतारों के छोटे-छोटे २४ मन्दिर बना कर प्रत्येक में 'दान-पात्र' का स्थान रख दिया था । इन चौबीस के अतिरिक्त प्रधान मन्दिर की मूर्तियों, कार्यालय, विद्यालय आदि सभी स्थानो मे और भी बीसियों दान पात्र रखे दिखाई पड़ते थे । क्या यही आध्यात्मिकता के लक्षण है ?

वास्तविक बात यह है कि हम लोग जब ऐसे प्रश्न करते है तो वे केवल ऊपरी सतह तक ही रहते हैं और उनके जो उत्तर दिये जाते हैं वे भी रटे-रटाये

होते हैं । इस प्रकार के प्रश्नोत्तरों से किसी का जीवन परिवर्तित नहीं हो सकता ऐसे प्रश्न जव हृदय की गहराई से उठते हैं तभी उनका कुछ प्रतिफल निकलता है । जव ये प्रश्न टॉल्सटाय के हृदय में उठे तो उसकी क्या दशा हो गई, इसका वर्णन करते हुए टॉल्सटाय के जीवन-चरित्र लेखक स्टीफेन ज्विग ने जो स्वयं एक जगत प्रसिद्ध विद्वान था, लिखा है—

"उसके जीवन की धारा ही रुक गई, जीवन अशुभ हो गया । उसने अपने अंग-अंग को जीवन-रहित अनुभव किया, मानो वह अपने से ही पूछना चाहता हो कि उसे क्या हो गया है, क्यों एकाएक यह उदासी छा गई, क्यो यह भय का भूत उस पर हावी हो गया, क्यों कोई चीज उसके मन को नहीं रुचती—उसे प्रभावित नहीं करती । वह केवल यही अनुभव करता था कि काम से उसका मन उचट गया है, अपने बच्चे मे उसे कोई रस नहीं रह गया है । जीवन की एक घोर ग्लानि उसे दबाये हुए थी और अपनी शिकारी बन्दूक को उसने इसलिये ताले में बन्द कर दिया था कि कहीं निराशा के आवेग मे वह अपनी ओर ही उसे न घुमा दे । उन दिनों उसने पहली बार यह साफ तौर पर अनुभव किया कि स्वयं उसके लिये भी जीवन में सिवा पीड़ा, मौत और निरन्तर श्रम के और कुछ नहीं है । इसीलिये उसने निश्चय किया कि इस तरह वह जिन्दा नहीं रह सकता । या तो जीवन का कोई अर्थ, उद्देश्य उसे प्राप्त होना चाहिये नहीं तो वह अपने को गोली मार लेगा ।"

ऐसी हुआ करती है सच्ची आत्माओं की जिज्ञासा । हम जो अपनी प्राचीन कथाओं मे सुना करते हैं कि अमुक ऋषि या भक्त ने ईश्वर के दर्शनों की अभिलाषा की ओर जब सामान्य उपायो से सफलता नहीं मिली तो वे घोर तप करने को बैठ गये कि जब तक दर्शन न होगे तब तक और कुछ करेंगे ही नहीं, चाहे प्राण रहें या जाये । इस प्रकार जब भगवान को प्राप्त करने के लिये प्राणों की बाजी लगा दी जाती है, तब कहीं जीवन का अर्थ समझ मे आता है और ईश्वर सामने आ खड़ा होता है । ऐसी मर-मिटने वाली जिज्ञासा आजकल के आश्रमों और मठों के अधीश्वरों 'महात्माओं' मे कैसे उत्पन्न हो सकती है, जो गेरुआ वस्त्र धारण करके भी बादाम का हलुआ खाते और मखमली गद्दों पर पड़े रहते हैं ।

## जीवन की निस्सारता का विवेचन

टॉल्सटाय जन्म से ईसाई धर्म के अनुयायी थे और उनके घर वालों ने उन्हे उसी का अनुसरण करने की शिक्षा दी थी । पर जब उन्होंने बुद्धि और तर्क-पूर्वक जीवन की समस्या की जाँच-पड़ताल करना आरम्भ किया तब ईसाई चर्च तो जरा भी न ठहर सका । "*उसके सिद्धान्तों की बुद्धि संगत तरीके से समीक्षा करने पर यही निष्कर्ष निकला कि 'ईसाई चर्च' (धर्म-मन्दिर) निकम्मे, बेईमान तथा मूर्ख लोगो का झुण्ड है ।*" यह चर्च सरकार की सहायता से अपना काम चलाता है और बदले मे अन्य लोगों पर शासन करने में उसकी सहायता करता है । इस प्रकार के विचारों के कारण टॉल्सटाय का राज्य तथा चर्च दोनों मे संघर्ष हो गया । सरकार ने तो उनकी रचनाओं पर कड़ी निगरानी रखनी शुरू कर दी और चर्च ने उनको समाज (जाति) से बाहर निकाल दिया । चर्च की पंचायत के आदेश का उत्तर देते हुए टॉल्सटाय ने कहा कि "मैंने सबसे पहले चर्च के कट्टरपंथी धर्म को ही सर्वोच्च स्थान दिया था । उसके पश्चात् सामान्य ईसाई धर्म के आदेशो का पालन करने लगा । पर जब इनसे मुझे मानसिक शान्ति प्राप्त न हो सकी तो अब मैं सच्चाई को ही सबसे ज्यादा प्यार करने लगा हूँ ।" आगे चलकर उनकी क्या दशा हुई इसका वर्णन उन्ही के शब्दों में सुनिये—

"इस खोज कार्य मे मैं मानसिक ज्ञान रूपी जगल मे गुम हो गया । दर्शनशास्त्र के क्षेत्र मे ज्यों-ज्यों मैं घुसता गया त्यो-त्यों ही अन्धकार अधिक मालूम होता गया । अन्त में मुझे पूर्ण रूप से विश्वास हो गया कि न यहाँ से बाहर निकलने के लिये कोई रास्ता है और न हो सकता है । जब मैने धोखा देने वाले ज्ञान के प्रकाश का पीछा किया तो मुझे मालूम हो गया कि मैं अपने प्रश्न से दूर होता जा रहा हूँ क्योंकि दर्शनशास्त्र से मुझे वे ही उत्तर मिलते थे, जिन्हें मैं पहले ही जान चुका था । 'मेरे जीवन का क्या अर्थ है ?' 'कुछ नहीं ।' 'मेरे जीवन का क्या परिणाम होगा ?' 'कुछ नही ।' 'हम सब क्यो जीवित हैं ?' 'मैं क्यों जीवित हूँ ?' "क्योंकि हम पैदा हो चुके हैं ।"

"विज्ञान के द्वारा मुझे ऐसे बहुत से प्रश्नों का उत्तर मिला जिनसे मेरा कुछ सम्बन्ध न था, जैसे ग्रहों और सूर्य की बनावट, सूर्य और पृथ्वी की गति, मनुष्य तथा प्राणियों की उत्पत्ति आदि, परन्तु इस प्रश्न का उत्तर कि जीवन क्या है ? यही था कि तुम असंख्य परमाणुओं के मेल से बने हो, इन परमाणुओं की पारस्परिक गति का नाम ही जीवन है । जब तक ये परमाणु गति करते रहेंगे, तुम जीवित रहोगे । जब इनकी गति रुक जायेगी, तुम्हारे जीवन का अन्त हो जायेगा और साथ ही तुम्हारा प्रश्न भी समाप्त हो जायेगा । विज्ञान यही उत्तर दे सकता है, पर इससे मेरा कोई लाभ नहीं क्योंकि मैं तो जानना चाहता था कि जीवन का अर्थ क्या है ? विज्ञान की दूसरी शाखा जिसे विचारात्मक (ऐब्सट्रैक्ट) कहा जाता है, वह इस प्रश्न का सदैव यही उत्तर देती है कि संसार अनन्त तथा अज्ञेय है । मानसिक जीवन भी उसी पूर्ण उद्देश्य का एक अज्ञेय भाग है ।"

फिर वे संसार के प्रमुख स्वतन्त्र विचारकों के कथनों पर मनन करने लगे । सुकरात ने मरते समय कहा था कि हम जीवन से जितने दूर होते जाते हैं, सत्य के उतने ही निकट पहुँचते जाते हैं । जो सत्य के प्रेमी हैं, वे क्या चाहते हैं ? यही कि शरीर तथा शरीर के कारण होने वाले अन्य पापों से छुटकारा मिले । यदि यह ठीक है तो हम मृत्यु के समय आह्लादित क्यों न हों ?

जर्मनी के अध्यात्म वेत्ता शापनहार ने कहा है कि "मनुष्य विचार शक्ति (इच्छा) पर निर्भर है । संसार के सारे पदार्थ—छोटे से लेकर बड़े तक—मनुष्य के विचार के कारण हैं । अतः जहाँ विचार-शक्ति लुप्त हुई कि संसार लुप्त हो जाता है किन्तु संसार का लुप्त होना मनुष्य की प्रकृति के विरुद्ध है, क्योंकि मनुष्य में जीवित रहने की इच्छा प्राकृतिक है और वह कभी लुप्त नही होती किन्तु जिन मनुष्यों ने इच्छा को सर्वथा त्याग दिया है उनके लिये ससार न होने के समान ही है ।" शापनहार ने ही भारतीय उपनिषदों का सबसे पहले अनुवाद करके यूरोप मे प्रचार किया था, इसलिये उसके विचार भी भारतीय दर्शनों मे मिलते-जुलते हैं ।

येरूशलम के बादशाह और अपने समय के सर्वोपरि विद्वान माने जाने वाले सुलेमान ने लिखा है कि "जीवन व्यर्थ है । मनुष्य संसार में जो परिश्रम करता है उसका क्या परिणाम ? एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी आती है किन्तु संसार सदैव वही रहता है । मैंने संसार की सब बातों की वास्तविकता मालूम करने का प्रयत्न किया । उसका परिणाम यह हुआ कि मैं जान गया कि संसार मे व्याकुलता और दु:ख के अतिरिक्त कुछ नहीं है ।

गौतम बुद्ध ने भी यही निर्णय किया है कि "जीवन दुःखमय है और यथाशक्ति इस प्रकार का प्रयत्न किया जाये कि आत्मा शरीर के बन्धनो से मुक्त हो जाये तथा मृत्यु के अनन्तर भी आत्मा फिर शरीर के बन्धन मे न पड़े वरन् जीवन की जड़ ही कट जाये और निर्वाण को प्राप्त कर ले ।"

इन सबका निष्कर्ष निकालते हुए टॉल्सटाय ने लिखा है—"विज्ञान और शास्त्रों की खोज करने से मेरी अशान्ति घटने के स्थान पर बढ़ी, एक ओर विज्ञान से तो मुझे जीवन की समस्या का बिल्कुल उत्तर न मिला और दूसरी ओर शास्त्रों से ऐसा स्पष्ट उत्तर मिला जिससे सिद्ध हो गया कि जिस परिणाम पर मै पहुँचा हूँ उसी पर ससार के अनेक मेधावी मनुष्य भी पहुँचे है ।"

वास्तव में टॉल्सटाय उस समय भारतीय शास्त्रो के 'दु:खवाद' के सिद्धान्त को मान रहे थे । हमारे देश के अनेक मनीषियों ने संसार को दुःखमय कहा है, क्योंकि इसका रूप जन्म और मृत्यु का जोड़ा है, जो दोनों ही दु:खदायी हैं । बीच के समय मे मनुष्य धन, स्त्री, परिवार के सम्पर्क मे जो सुख समझता है वह प्रायः उसका भ्रम है । प्रत्येक भारतीय ऋषि ने इसे एक प्रकार की छलना अथवा माया कहा है, जो मनुष्य को कभी सच्चा सुख नही दे सकती ।

टॉल्सटाय ने भी उस समय भारतीय दृष्टिकोण को ही ज्यादा सही समझा । उसने लिखा है कि "एक मनुष्य वह है जो 'एपीक्यूरियन' सिद्धान्तानुसार जीवन व्यतीत करते है । इसका आशय यह है कि प्रत्येक ऐसी बात की ओर जिसमे उन्हें आनन्द अनुभव होता है आकर्षित हो जाते हैं तथा दुःखप्रद चीजों से बचते हैं । सुलेमान ने लिखा कि कभी मेरा भी यह विचार था कि जीवन व्यतीत करने की इससे अच्छी दूसरी रीति नहीं है । अतएव मैं यही कहा करता था कि

संसार में खाने, पीने तथा आनन्द से रहने के सिवाय और कोई बात नहीं है ।" इसी को हम भौतिकवादी दृष्टिकोण कहते हैं । पर इस विचारधारा के लोग इस बात को भूल जाते हैं कि सब लोग सुलेमान नही हो सकते । जहाँ कुछ लोगों के पास सम्पत्ति, भवन और स्त्रियाँ हैं, वहाँ बहुसंख्यक ऐसे भी है जिनको इनमे से एक भी ठीक तौर से प्राप्त नहीं है । इन दोनो प्रकार के मनुष्यो की मानसिक अयोग्यता इनका ध्यान उन बातो की तरफ नहीं जाने देती जिनको देखकर गौतम बुद्ध की शान्ति जाती रही थी । वे नहीं सोचते कि रोग, वृद्धावस्था तथा मृत्यु के कारण यदि 'आज' नही तो कल उनके सारे सुखों का अन्त हो जायेगा ।

"हमारी बुद्धि ने तो कभी हमको यह विश्वास नही दिलाया कि जीवन की कोई आवश्यकता है, पर फिर भी करोड़ों मनुष्य जीवित रहते हैं और समझते हैं कि जीवन में कुछ सार है । इसमें सन्देह नहीं कि संसार के आरम्भ से अब तक मनुष्यो ने जीवन-समस्या के विषय मे भिन्न-भिन्न विचार स्थिर किये हैं और इसी तरह से वे अब तक रहते चले आते है । मैं अपने चारो ओर जो कुछ देखता हूँ वह मेरे पूर्ववर्ती मनुष्यों के ज्ञान तथा खोज का परिणाम है । मेरी मानसिक शक्ति और विचारशक्ति भी मेरे पूर्ववर्ती मनुष्यों की देन है किन्तु फिर भी मैने यह प्रमाणित कर दिया कि मेरे पूर्ववर्ती मनुष्यों का जीवन बिल्कुल निरर्थक था । मुझे ध्यान आया कि अवश्य मेरे समझने में कहीं न कहीं भूल है । पर निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि भूल किस स्थान पर हुई है ।"

## जीवन का अर्थ कर्त्तव्य पालन है

वास्तविक बात यह थी कि उस समय टॉल्सटाय इस जीवन-समस्या पर अपनी श्रेणी के शिक्षित, धनवान तथा आलसी लोगों के दृष्टिकोण से विचार करते थे । बड़े लोगों की तरह उनको भी आरम्भ मे यह अनुभव नहीं होता था कि संसार मे और भी असंख्यो मनुष्य रहते हैं जो अभाव की दशा में भी बिना इन समस्याओं में पड़े आसानी से जीवन व्यतीत कर देते है । ये लोग कभी यह शिकायत नहीं करते कि 'जीवन-समस्या' उनकी समझ में नहीं आती । न वे उन लोगो मे से होते हैं जिन्हें भोग-विलास के अतिरिक्त और कोई चीज अच्छी नही लगती । उनको जीवन में प्रायः सकट और कष्ट सहन करने ही पड़ते हैं । इन लोगो के जीवन का अध्ययन करने से टॉल्सटाय की शंकायें किस प्रकार मिट गईं, इसका उत्तर भी सुन लीजिये—

"मैं अब अधिकतर निर्धनों, साधारण मनुष्यो, किसानों, यात्रियों तथा साधुओं की संगति में रहने लगा यद्यपि ये लोग भी उसी ईसाई धर्म पर विश्वास रखते थे, जिसका उपदेश धर्माचार्य (पादरी) दिया करते थे । इन लोगों के विश्वासो मे भी सत्य और असत्य दोनो प्रकार की बातें मिली थी । पर दोनों में भेद यह था कि जहाँ धर्माचार्य कहते कुछ थे और करते कुछ थे, वहाँ ये लोग जो कहते थे वही करते थे । ज्यों-ज्यों इनसे मेरा परिचय बढ़ता गया मुझे भरोसा होता जाता था कि वास्तव में इनका विश्वास ठीक है और उन्होंने जीवन समस्या को हल कर लिया है । मेरी श्रेणी के अर्थात् 'बड़े' कहलाने वाले लोगों मे शायद हजारो में से एक व्यक्ति ऐसा मिल सकता है जो धर्महीन न हो । इसके विपरीत इन निर्धन तथा मेहनती लोगो में एक भी 'काफिर' नही मिल सकता । अपनी श्रेणी के लोगों को मैंने कष्ट और आपदाओं के कारण विकल होते देखा । इसके विपरीत उन लोगों को रोगों तथा शोको को इस विश्वास के साथ झेलते देखा कि जो कुछ हो रहा है ईश्वर हमारे भले के लिये ही करता है । मैने बहुत ध्यान से देखा और अनेक देशो के मेहनतपेशा लोगो के जीवन पर गहरी दृष्टि डाली तो मुझे निश्चित हो गया कि उनमें दस-बीस नही वरन् सहस्रों तथा करोड़ो मनुष्यों ने जीवन समस्या को इसी तरह समझ लिया है कि उन्हे जन्म तथा मृत्यु का भय ही नहीं लगता यद्यपि वे मानसिक शक्तियो, शिक्षा, आचार व्यवहार की दृष्टि से बिल्कुल साधारण ही होते हैं पर जीवन की वास्तविकता को वे इतना समझ चुके है कि विपरीत सांसारिक घटनाये उन्हें बहुत कम प्रभावित कर सकती है ।"

इस प्रकार टॉल्सटाय को विदित हो गया कि जीवन-समस्या बड़ी जटिल है—यह बात उन्हीं लोगो ने फैलाई है जो स्वयं काम न करके दूसरो की कमाई तथा सेवा पर जीते हैं । उनके दुःखों तथा परेशानियो का और अनेक बार आत्म-हत्या तक कर लेने का कारण यही है कि वे अपना कर्त्तव्य-पालन नही करते और इस प्रकार निकम्मा जीवन जीना अपना अधिकार

और बडप्पन मानते हैं ऐसे ही लोगो के लिये धर्म ग्रन्थों में कहा गया है कि "वे अन्धकार को प्रकाश से अच्छा समझते हैं, क्योंकि उनके कर्म दूषित है" बुरा आदमी स्वभावतः प्रकाश को नापसन्द करेगा, जिससे उसके कर्म प्रकट न हो । मनुष्य का धर्म परिश्रम करना है और केवल अपने लिये ही नहीं वरन् समाज के लिये भी । अगर केवल अपना ही पेट भरेगा तो 'केवलाघो भवति केवलादी' की वैदिक सूक्ति के अनुसार पापी बन जायेगा ।"

## ईश्वर ही सत्य है

इस प्रकार टॉल्सटाय ने वर्षों ठोकरें खाकर और अपनी दशा पागलों जैसी बनाकर अन्त में यह समझा कि इस ससार का जीवन किसी की इच्छा के अनुसार चल रहा है । अब वे यह अनुभव करने लगे कि मै किसी के अधीन हूँ । इस विचार के आने से उनको अपना जीवन सुगम जान पड़ने लगता । पर उन्होने वर्षो तक काण्ट, शापनहार आदि दार्शनिको की जो दलीलें पढी थीं, वे बीच में सर उठाकर इस वातावरण को फिर से क्षुब्ध कर देती थीं । इन दार्शनिकों का मत था कि ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नही हो सकता । टॉल्सटाय बार-बार इस सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष मे युक्तियाँ ढूँढ़कर विचार सागर मे डूबते-उतराते रहते थे । वे स्वयं लिखते है—

"मेरे विचारों मे इस प्रकार के परिवर्तन एक या दो बार ही नहीं हुए, वरन् सैकड़ों बार, कभी मै हर्ष या आवेग का शिकार बन जाता और कभी निराशा का । एक बार मैंने अपने दिल में कहा कि यह अच्छी बात है कि ईश्वर नही है । बल्कि यह कहना चाहिये कि मेरे विचारों के अतिरिक्त ईश्वर कोई पदार्थ नहीं है । कोई पदार्थ या चमत्कार यह सिद्ध करके नहीं दिखा सकता कि ईश्वर है । पर उसके बाद ही मैं अपने मन में कहने लगता कि यदि ईश्वर नहीं है तो उसकी खोज करने का विचार मेरे दिल में बार-बार कहाँ से आता है ? मैं देख रहा हूँ कि जब मैंने ईश्वर का विचार किया तब ही जीवन मुझे प्रिय मालूम हुआ और जब मैंने उसको भुलाया तो मानो मौत आ गई । जिस समय मै ईश्वर के अस्तित्व पर से विश्वास उठा लेता हूँ तो अपने को मरा हुआ ही अनुभव करने लगता हूँ यदि ईश्वर के पा सकने की आशा की एक झलक मेरे अन्दर न होती तो मैंने कभी की आत्म-हत्या कर ली होती । वास्तविकता यह है कि जब तक मैं उसकी खोज में रहता हूँ जीवित रहता हूँ । 'अब और किसकी खोज है ?' मेरे अन्दर से आवाज आई कि जिस चीज के बिना जीवन नहीं रह सकता वही ईश्वर है । ईश्वर को जानना और जीवित रहना एक ही बात है । ईश्वर ही जीवन है ।"

"ईश्वर की खोज में जीवन व्यतीत करो, क्योंकि 'ईश्वर के बिना जीवन ही कहाँ है ?' जब यह विचार मेरे भीतर दृढ़ हो गया, तो मुझको एक शक्ति और प्रकाश ने घेर लिया और वे अन्त समय तक मेरे साथ रहे । मुझमे यह परिवर्तन कब और कैसे हुआ, यह मैं कह नहीं सकता । जिस प्रकार धीरे-धीरे निराशा बढ़ी थी और सदा आत्म-हत्या का विचार बना रहता था, उसी प्रकार धीरे-धीरे मुझमें प्रकाश तथा शक्ति कही से आ गई ।"

यदि पाठकगण टॉल्सटाय के इस विचार मन्थन और ईश्वर प्राप्ति के लिये सच्ची 'तपस्या' पर विचार करे और फिर अपने यहाँ के उन ईश्वर भक्तों के सम्बन्ध में सोचें तो पायेंगे कि जो बडे-बड़े तिलक लगाकर, मोटी-सी माला पहनकर, मन्दिर में जाकर घंटा बजाते हुए 'हर हर महादेव' अथवा 'कृष्ण भगवान की जय' चिल्ला उठते हैं, पर तरह-तरह के कर्म करते हुए कभी यह शंका नहीं करते कि स[illegible]ी भगवान शिव या कृष्ण मुझे देख रहे होंगे, मै [illegible] खोटा काम कैसे करूँ ? टॉल्सटाय ने जब से एक, शब्दो से परे, सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्ति पर विश्वास किया तब से उसके जीवन की कायापलट हो गई । उसने जिस-जिस बात को दूषित तथा अपने और दूसरों के लिये अहितकर समझा उसे तुरन्त छोड दिया । अपनी लाखो रुपयों की जमींदारी की आमदनी में से घर वालों के विरोध का सामना करते हुए अधिक से अधिक जितना सम्भव था उतना निर्धनों को दे डाला । वह तो पूरी जागीर ही किसानों को देने को बिल्कुल तैयार था, पर उसकी स्त्री ने बच्चों की तरफ से उसके खिलाफ कानूनी कार्यवाही करने का निश्चय कर लिया तो रुकना पड़ा ।

फिर भी उसने स्वयं जमीदारी की कमाई में से एक पैसा भी लेना बन्द कर दिया और अपना खर्च जूता बनाकर चलाने लगा । यों उसकी लिखी पुस्तकों

से मिलने वाली रायल्टी की आमदनी भी काफी थी, पर वह बौद्धिक कार्य की कमाई को भी प्रशंसनीय नहीं समझता था। उसका तो कहना था कि भगवान का आदेश है कि मनुष्य अपने पसीने की कमाई ही खाये। इसलिये यदि हम अपने सिद्धान्तों के अनुसार ही जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो हमको उचित है कि जिस प्रकार सामान्य किसान मजदूर मेहनत करके पेट भरते है वैसा ही करें। इसके लिये वह अपने खेतों में भी फसल के समय स्वयं काम करता था और उसकी प्रेरणा से उसकी स्त्री और पुत्रियाँ भी काफी सहयोग देती थीं। फिर भी जब उसे रईसी परिवार और आलीशान महल आदि से बहुत अधिक विरक्ति हो गई और घर वाले उसके त्याग और दान के कार्यों में अड़ंगा लगाते ही रहे, तो वह एक संन्यासी की भाँति सब कुछ छोड़ कर और केवल एक बिस्तर अपनी पीठ पर लादकर घर से निकल पड़ा। पर उस मौसम के कठोर शीत को सहन कर सकना उनकी शारीरिक शक्ति से बाहर था। इसलिये दूसरे ही दिन उनको निमोनिया हो गया और एक छोटे रेलवे स्टेशन पर ही उनकी मृत्यु हो गई। इस समाचार के फैलते ही संसार भर के साहित्यिक क्षेत्रों मे न जाने कितना कुहराम मचा और अनगिनती शोक और सहानुभूति के पत्र उनके घर पर भेजे गये। पर टॉल्सटाय को सन्तोष था कि मरते समय भी वे ईश्वरीय आदेश का पालन करते हुए ही संसार से विदा हुए।

ईश्वरीय खोज के फलस्वरूप साहित्य क्षेत्र से हट जा े के कारण अन्य कितने ही साहित्यिक उनको उलाहना दि ; करते थे। रूस के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार तुर्गनेव को उनके 'ईश्वर' से यही शिकायत थी कि टॉल्सटाय साहित्य से हटकर व्यर्थ ही अपने को एक 'धार्मिक नैतिकता' में खोये दे रहे है। रूस के महान लेखक मैक्सिम गोर्की ने भी जिसने देश सेवा के लिये सर्वस्व निछावर कर दिया था, और कारागार की यन्त्रणायें सहन की थीं, ऐसा ही सम्मति प्रकट की थी। एक बार टॉल्सटाय ने गोर्की से कहा—'तुममें सब ईश्वरीय गुण मौजूद है, परन्तु तुम ईश्वर में विश्वास क्यो नहीं करते?' गोर्की ने उत्तर दिया "मैं मनुष्य को छोड़कर किसी अदृश्य ईश्वर पर विश्वास नहीं कर सकता। यदि मैं किसी मे विश्वास कर सकता हूँ तो तुममें कर सकता हूँ। तुम्हीं को मै ईश्वर मान सकता हूँ।" इसमे सन्देह नहीं कि इन दोनो ही महापुरुषों को दैवी प्रकाश प्राप्त हुआ था, जिसका उपयोग उन्होंने पूर्णरूप से मानवता की सेवा के लिये किया। पर एक उसे ईश्वर की कृपा मानता था और दूसरा अपना कर्त्तव्य समझ कर ही कर रहा था।

## टॉल्सटाय और महात्मा गाँधी

पर हम भारतवासियो की दृष्टि में टॉल्सटाय का महत्त्व सबसे अधिक इसलिये है कि महात्मा गाँधी ने उनको अपना गुरु माना था और अफ्रीका तथा भारत में टॉल्सटाय के सिद्धान्तों से प्रेरित होकर सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन चलाये थे। गाँधी जी सन् १६०६ से भी पहले टॉल्सटाय से पत्र-व्यवहार करने लगे थे और उसी समय उन्होंने फीनिक्स (दक्षिण अफ्रीका) में 'टॉल्सटाय फार्म' स्थापित किया था, जिसका उद्देश्य गरीबों तथा आन्दोलन के कारण विपत्ति में फँसे भारतीयो की सहायता करना था। टॉल्सटाय भी महात्मा गाँधी को बहुत मानते थे। उनके अन्तिम समय मे भी जो पुस्तकें अध्ययन के लिये उनकी मेज पर रखी थीं, उनमें मि. डोक की लिखी "एम. के. गाँधी—एन इण्डियन पेट्रियट इन साउथ अफ्रीका" (एम. के. गाँधी दक्षिण अफ्रीका मे एक भारतीय देश भक्त) नाम की पुस्तक भी थी। इन दोनों महापुरुषो की तुलना करते हुए एक स्थान पर कहा गया है—

"गाँधी और टॉल्सटाय की जीवन-प्रणाली मे जितनी समता है उतनी अन्यत्र मिलनी कठिन है। इन दोनो महापुरुषों की कथनी और करनी में बिल्कुल अन्तर न होता था। सादगी के इनकी अपेक्षा श्रेष्ठ उदाहरण ढूँढने से भी न मिलेंगे। गाँधी जी अपने हाथ का काता सूत पहनते थे और टॉल्सटाय अपने हाथ से तैयार किया हुआ जूता काम मे लाते थे। टॉल्सटाय आत्म-निर्भरता और सादगी में गाँधी जी से भी कुछ आगे ही थे। वे अपने हाथ से भोजन बनाकर खाते थे और यात्रा मे अपने सामान का गट्ठर पीठ पर लाद लेते थे। इन दोनों ही आधुनिक सन्तों का जीवन त्याग और बलिदान से युक्त था। टॉल्सटाय असहयोग सिद्धान्त के जन्मदाता थे। उन्होंने इस अस्त्र का प्रयोग सबसे पहले रूस के किसानो को सिखाया था। रूस के किसानों और गुलामों का शोषण देखकर टॉल्सटाय की आँखें भर आती थीं। उन्होंने

कहा कि शक्तिशाली प्रशासन से लोहा तो नहीं लिया जा सकता, पर सामूहिक असहयोग द्वारा प्रशासन को परास्त करके पीड़ित जनता को छुटकारा दिलाया जा सकता है, गाँधी जी ने इस सिद्धान्त को व्यापक रूप दिया और शक्तिशाली अंग्रेज सरकार के विरुद्ध इसका प्रयोग करके सफलता प्राप्त की ।

गाँधी जी अपरिग्रह के प्रवल समर्थक थे और उन्होंने इस सिद्धान्त का जीवन में पूरी तरह पालन किया था । वे केवल लंगोटी लगाकर रहा करते थे । सार्वजनिक प्रयोग की वस्तुओं को अधिक रखने वाले को उन्होंने चोर कहा था । टॉल्सटाय भी कहते थे कि जिसके पास दो कोट हों तो उसे एक कोट उस व्यक्ति को दे देना चाहिये जिसके पास नही है । वे समाज की सब बुराइयों का मूल रूपये को ही मानते थे । प्रायः सभी अपराध आर्थिक विषमता के कारण होते हैं । वह स्वयं किसान, मजदूरों के साथ रहते और अनेक प्रकार से उनकी सेवा, सहायता के लिये प्रयत्न करते । गाँधी जी भी हरिजन वस्तियों में आग्रहपूर्वक रहते थे और नीचे गिरे हुओं को उठाने में ही जीवन की सार्थकता मानते थे । इस प्रकार ये दोनों ही मानव-सेवा के व्रतधारी थे, जिसका पालन उन्होंने जीवन के अन्तिम समय तक किया । आज भी लाखों मनुष्य उनसे प्रेरणा लेकर इस पुण्य कार्य में यथाशक्ति संलग्न हैं । इसी से ऐसे महापुरुष मानवता के मार्ग-दर्शक कहे जाते हैं ।

## भारत और भारतीय साहित्य से प्रेम

टॉल्सटाय की यह भी एक विशेषता थी कि भारत से इतनी दूर रहते हुए और भारतीय भाषाओं से अनभिज्ञ रहते हुए भी वे इसके साथ पूरी सहानुभूति रखते थे । उनके निवास स्थान 'यास्नाया पोल्याना' में उनका जो पुस्तकालय यादगार के रूप में ज्यों का त्यों मौजूद है उसका निरीक्षण करने से विदित होता है कि टॉल्सटाय हृदय से भारतीय संस्कृति के प्रेमी थे और भारतीय भी उनको बड़े प्रेम तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे । सन् १९५५ में भारतीय राज्य परिषद् के उपाध्यक्ष कृष्णमूर्ति राव ने इस पुस्तकालय का दर्शन करने के पश्चात् कहा कि "टॉल्सटाय ने महात्मा गाँधी को प्रभावित किया और गाँधी जी ने उपनिवेशवादी अंग्रेजों से भारत को मुक्ति दिलाई । इस दृष्टि से टॉल्सटाय ने भी भारत को स्वतन्त्र कराने में सहयोग दिया । अतएव 'यास्नाया पोल्याना' और टॉल्सटाय की समाधि हमारे लिये भी पवित्र वस्तुयें हैं ।" टॉल्सटाय भारत सम्वन्धी साहित्य का अनुशीलन कितनी तल्लीनता से करते थे यह एक रूसी विद्वान बी. बुल्गानोव के निम्नलिखित लेखांश से विदित होता है—

"भारत सम्वन्धी पुस्तकों के अतिरिक्त टॉल्सटाय के पुस्तकालय में वहुत वड़ी संख्या में भारतीय पत्रिकायें भी हैं जो १९०२ से १९१० के वीच भारत में और विदेशों में अंग्रेजी में प्रकाशित हुई थीं । कुछ पत्रिकायें तो अत्यन्त दुर्लभ हैं । ये मुख्यतः भारत के स्वाधीनता आन्दोलन से सम्बन्ध रखती हैं । स्वाधीनता आन्दोलन के कर्णधारों का यह विश्वास उचित ही था कि यह महान मानवतावादी विद्वान भारतीय जनता के कष्टों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करेगा और उसकी न्यायपूर्ण माँगों का समर्थन करेगा । टॉल्सटाय भी इन सब पुस्तकों तथा पत्रिकाओं का पूर्णतया अध्ययन करते थे । विभिन्न पुस्तकों के अन्दर कोनों पर उनकी लिखी टिप्पणियाँ मौजूद हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि वह उन्हें कितने ध्यानपूर्वक पढ़ते थे । वे भारतीय महाकाव्यों, भारतीय महापुरुषों के दार्शनिक विचारो, भारत के धर्मग्रन्थों में काफी दिलचस्पी लेते थे । उनके पुस्तकालय में वाल्मीकीय रामायण का फ्रेंच अनुवाद भी मौजूद है, जिस पर उन्होंने कई जगह टिप्पणियाँ लिख रखी है ।

## बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की तरफ झुकाव

उनको बौद्ध धर्म में विशेष दिलचस्पी थी और उसके प्रति उनका रुख आदर और सम्मान का था । वह बौद्ध धर्म के उद्‌भव का मूल स्रोतों से अध्ययन करते थे । उनके पुस्तकालयो में भारतीय, जर्मन और फ्रेंच लेखकों की बौद्ध धर्म के बारे में बहुत-सी पुस्तकें हैं । पुस्तकों में लगाये गये निशानों से विदित होता है कि उनके कुछ हिस्से उनको बहुत अधिक पसन्द आये थे । अन्य स्थानो में प्रश्न वाचक चिन्ह भी लगाया गया है जिससे स्पष्ट जान पड़ता है उन बातों मे वे लेखक से सहमत नहीं थे । प्रसिद्ध जर्मन विद्वान ओल्डनवर्ग लिखित "बुद्ध, उनका जीवन सिद्धान्त और आदेश" नामक ग्रन्थ को पढ़कर वे बहुत प्रसन्न हुए थे, यह वात उन्होंने अपनी ५ मई, १९०७ की डायरी में लिखी है ।

प्राच्य विद्या विशारद मैक्समूलर की 'धर्मों के इतिहास का अनुभव' और 'भारतीय धर्मों के प्रकाश में धर्मों का उद्भव और विकास' नाम की पुस्तकें भी उन्होंने पढ़ीं। इनमें उन्होंने जगह-जगह कोनों में भारतीय धर्मों और बौद्ध धर्म से सम्बन्धित बहुत-सी टिप्पणियाँ लिखी है।

पुस्तकालय में प्रो. रामदेव (गुरुकुल काँगड़ी) द्वारा सम्पादित "वैदिक मैगजीन" के भी बहुत से अंक हैं। यह उनको बहुत पसन्द आई थी और उन्होंने प्रो. रामदेव से कहा था कि वे वैदिक धर्म की खास-खास और अत्यन्त प्रभावजनक सूक्तियों का संग्रह करें। उन्हें वे अपनी उस ग्रन्थमाला में सम्मिलित करने वाले थे जिसमें विश्व के बड़े-बड़े धर्मों का वर्णन किया जाना था।

स्वामी अभेदानन्द की पुस्तकें जो जर्मन भाषा में प्रकाशित की गई थीं उनको पसन्द आई थीं। 'परमानन्द का मार्ग' की पुस्तिका पर उन्होंने लिख रखा है—'बहुत अच्छी।' वे इसका रूसी भाषा में अनुवाद करना चाहते थे। स्वामी विवेकानन्द के विचारों से वे बड़े प्रभावित होते थे। 'ब्रह्म और जीव' नामक निबन्ध पढ़कर उन्होंने ४ जुलाई, १९०८ को अपनी डायरी में लिखा "विवेकानन्द का ब्रह्म पर लिखा अद्भुत निबन्ध पढ़ा, इसका अनुवाद रूसी भाषा में होना चाहिये। यह कार्य मैं स्वयं करने का विचार रखता हूँ।"

ईसाई धर्म के सिद्धान्तों में उन्हें बहुत-सी त्रुटियाँ दिखाई पड़ती थीं और अन्त में उन्होंने उसे त्याग ही दिया। पर भारतीय धर्म की अनेक बातें उनको बहुत महत्त्वपूर्ण जान पड़ती थीं। उनमें ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म आदि विषय में उनको ऐसे ठोस तथ्य मिलते थे जिनसे उनकी अनेक शंकाओं का समाधान हो जाता था अथवा नवीन विचार उत्पन्न होते थे। टॉलस्टाय ने अनुभव किया कि भारतीय धर्म ग्रन्थों में शाश्वत सत्य का दर्शन करने की प्रेरणा दी गई है और भगवान के नाम पर मनमानी बातें बक देने के बजाय उनका गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया गया है। यह ठीक है कि धर्म का व्यवसाय करने वालों ने उनमें यहाँ भी खूब मिलावट की है और अर्थ का अनर्थ कर दिया है। खास कर विभिन्न सम्प्रदायों के पृष्ठपोषकों ने उनकी व्याख्या खूब खींच-तानकर अपने मतानुसार की है। पर टॉलस्टाय स्वयं अद्वितीय प्रतिभाशाली थे, और वे शीघ्र ही सच्चाई और झुठाई का विश्लेषण करके 'सन्त हंस मोती चुगइ परिहर वारि-विकार' की उक्ति के अनुसार सारमय को ग्रहण कर लेते थे।

कुछ वर्ष पूर्व विदेश से दिल्ली आये एक कविता समीक्षाकार विद्वान् ने भारतीय साहित्यिकों से बात करते हुए कहा था—"टॉलस्टाय की आत्मानुभूति लगभग भारतीय भाव-धारा से मिलती-जुलती ही है। हमने जहाँ तक उनको समझा है हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है।" एक अन्य फ्रांसीसी लेखक ने कहा था कि "रूस के सुप्रसिद्ध कथाकार डोस्टोविस्की की रचनाओं को पढ़ते हुए मैं एक ऐसे लोक में पहुँच जाता हूँ, जहाँ सब अद्भुत है और मैं किसी का साथी या पड़ौसी नहीं बन सकता। उनके प्रति और सब श्रेष्ठ भाव उत्पन्न होते हैं, केवल एक 'विश्वास' का भाव नहीं जागता। पर टॉलस्टाय का हर चित्र और हर चरित्र एक दम विश्वसनीय है। कहीं हमको नहीं लगता कि क्या ऐसा हो भी सकता है? मानो हर जगह हमारा हृदय जाता है, अनुभव साथ-साथ रहता है और हर क्षण यही विदित होता है—कि सत्य यह है।"

सुप्रसिद्ध भारतीय कलाकार स्वर्गीय अमृत शेरगिल के पिता सरदार उमराव सिंह शेरगिल भी अपनी युवावस्था से टॉलस्टाय के भक्त थे और उनसे पत्र-व्यवहार किया करते थे। उन्होंने बतलाया कि एक बार अपने पत्र में टॉलस्टाय ने लिखा था—"मुझे ऐसा आभास हुआ करता है कि भारतीय आत्मा और रूसी आत्मा में नैसर्गिक सम्बन्ध और प्रेम है। पंजाबी किसान और रूसी किसान में मुझे बड़ी समानता प्रतीत होती है। पंजाबी और रूसी किसान देखने-सुनने में तौर-तरीके में, रीति-रिवाज, खान-पान में भी बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।"

और भी कितने ही लेखों से मालूम पड़ता है कि टॉलस्टाय को भारत के प्रति काफी आकर्षण था और भारतवासियों को भी वे अपने देश के प्राचीन ऋषियों अथवा सन्तों की ही तरह जान पड़ते थे। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में वे भारतवर्ष आकर यहाँ की संस्कृति और निवासियों की प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करने की इच्छा करने लगे थे। पर मार्ग की कठिनाइयों और आवागमन सम्बन्धी बाधाओं के कारण उनकी यह अभिलाषा पूर्ण न हो सकी।

## सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप में परिणत करना

मनुष्य की परीक्षा वास्तव में इससे होती है कि वह जो कुछ कहता है उसके अनुसार आचरण भी करता है या नही ? टॉल्सटाय ने ईसाई धर्म को इसी लिये छोड़ा था कि उसके धर्माचार्य मुख से तो बड़ी-बड़ी बातें, प्रेम और क्षमा के सिद्धान्तों की घोषणा करते थे, पर उनका वास्तविक रहन-सहन उसके विपरीत होता था । इसके बजाय टॉल्सटाय का मत सदैव यही रहा कि जिस बात को हम श्रेष्ठ मानते हैं, दूसरों को जिसकी प्रेरणा देते हैं, उसका पालन स्वय अवश्य करना चाहिये । इसी बात के अभाव के कारण जीवन उनको भारस्वरूप जान पड़ने लगा और वे आत्म-हत्या को तैयार हो गये । अन्त मे जब उन्होने रईसों का ठाट-बाठ युक्त जीवन त्याग कर गरीब किसान मजदूरों का जीवन अपना लिया तभी जाकर उनको शान्ति मिल सकी । वे स्वय अपने अनुयायियों के साथ किस प्रकार कृषि कार्य करते थे इसका वर्णन करते हुए एक लेखक ने टॉल्सटाय की जीवन-झाँकी में बतलाया है—

"उन्होने विलासिता का जीवन बिल्कुल त्याग दिया । अपनी विशाल सम्पत्ति को उन्होने परिवार के लोगों में विभाजित कर दिया और स्वयं एक कुटिया में रहकर मजदूर की तरह जूते बनाकर अपना निर्वाह करने लगे । उन्होंने शिकार करना, माँस खाना, सिगरेट या तम्बाकू पीना बिल्कुल त्याग दिया । आरम्भ में कुछ दिन रूस की सामाजिक प्रथानुसार वे थोड़ी मात्रा मे मदिरा सेवन करते रहे, पर बाद में वह भी बिल्कुल छोड़ दी और पूर्ण सात्त्विक, निरामिष भोजन करने लगे । सामाजिक क्षेत्र में इसका जादू का-सा प्रभाव हुआ । काउण्ट, राजकुमार (प्रिंस), उच्चवंशीय धनी मानी, कॉलेजों के अध्यापक आदि उनके चारों ओर एकत्रित होने लगे । फावड़े और कुदालियाँ हाथो में लिये वे सब खेती के कार्य में रस और आनन्द लेने लगे । किसान तो इस कार्य में सम्मिलित थे ही । टॉल्सटाय की पत्नी काउण्टेस सोफी आन्द्रीबना देहाती पोशाक पहने तथा अन्य बालक और महिलाये सभी फसल काटने और घास इकट्ठी करने में हाथ बँटाते । चिलचिलाती धूप में टॉल्सटाय किसानों जैसी कमीज और पाजामा पहने घास काटने और उसकी सुव्यवस्था करने मे संलग्न दिखाई पड़ते ।

सन् १८८५ की बात है कि टॉल्सटाय अपनी लाड़ली पुत्री माशा और बाहर से आई हुई दो अन्य महिलाओं के साथ खेती के काम में लगे थे और भी कई व्यक्ति साथ में काम कर रहे थे । वे सब ताजा कटी हुई महकदार घास के ढेर लाकर डाल रहे थे और टॉल्सटाय उसे एक भूसा खींचने के काँटे से उठा कर गोलाकार कुएँ की शक्ल में सजाते जाते थे, जिससे वह सुरक्षित रखी रहे । अन्तिम ढेर को वृत्ताकार जमाकर रोदते हुए उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से पुकार कर कहा—"मैं तुम लोगों से आगे निकल गया, तुम क्या कर रहे हो ?"

उस समय सूर्य के छिपने मे थोड़ी देर थी, इसलिये सब लोग अन्तिम 'कोपना' बनाने मे जुट गये ।

"हमें शीघ्रता करनी चाहिये"—टॉल्सटाय ने बढावा देते हुए कहा—"सूर्यास्त के बाद मनुष्य काम नहीं करता, बुजुर्गों के जमाने से यही कहावत चली आ रही है ।"

ऐसा था टॉल्सटाय का प्राकृतिक और पाप-रहित जीवन, उन्होंने बड़े स्पष्ट रूप मे कहा था कि बौद्धिक कार्य करने वालों को भी प्रतिदिन नियम से खेती, कारीगरी आदि का कुछ उपयोगी शारीरिक श्रम अवश्य करना चाहिये । इससे एक ओर जहाँ हम इस ईश्वरीय आदेश का पालन कर सकेंगे कि "मनुष्य को अपने पसीने की रोटी खानी चाहिये" वहाँ इस प्रकार का श्रम हमारे स्वास्थ्य और मानसिक प्रसन्नता की रक्षा करने वाला भी होगा । उन्होंने स्वयं इसी सिद्धान्त के अनुसार जीवन यापन किया और उनकी प्रेरणा से और भी अनेक बड़े विद्वानों तथा उच्च पदवीधारियों ने इसका अनुकरण किया । गाँधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में फीनिक्स स्थित 'टॉल्सटाय फार्म' इसी आदर्श पर स्थापित किया था और उसमें कितने ही सुशिक्षित भारतीय और कई यूरोपियन भी कृषि सम्बन्धी तथा अन्य शारीरिक श्रम के कार्य करते थे । भारतवर्ष आकर भी इन्होने यही उपदेश दिया था कि उनके सत्याग्रह आश्रम मे सब लोग अपना कार्य अपने हाथों से ही करें । पर यहाँ खादी और चर्खे की प्रवृत्ति आरम्भ हो जाने के कारण कृषि कार्य के प्रयोग करने का अवसर नहीं आ

सका। तो भी इसकी सच्चाई को उनके अनुयायी अभी तक स्वीकार करते हैं और एक बार विनोवा भावे ने स्व. जवाहर लाल नेहरू को लिखा था कि "यद्यपि आप प्रधान मन्त्री के कर्त्तव्यों को पूरा करने में पन्द्रह-सोलह घण्टे प्रतिदिन श्रम करते हैं, पर अगर आप उसी में से कुछ समय निकाल कर घण्टा, आधा घण्टा खेती का कार्य कर लिया करें तो यह आपके स्वास्थ्य और मानसिक शान्ति के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।"

टॉलस्टाय की इसी महानता (अद्भुत विद्वता और आर्थिक समृद्धि होते हुए भी किसान तथा मजदूरों का सा जीवन बिताना) को देखकर रूस ही नहीं संसार में प्रसिद्ध और 'माँ' (मदर) नामक अमर उपन्यास के रचयिता मैक्सिम गोर्की ने एक बार लिखा था—

"उनकी तुलना में कोई भी व्यक्ति इतनी प्रतिभा नहीं रखता कि उसे 'जीनियस' (प्रतिभाशाली) की संज्ञा दी जा सके। उनसे अधिक जटिल, विरोधाभास पूर्ण, हर पहलू से महान, अन्य कोई नहीं है। सचमुच टॉलसटाय हर दृष्टि से और हर बात में महान हैं। वह एक अनूठे अर्थ में महान हैं। उनका महत्त्व अत्यन्त व्यापक है जिसको शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनमें कुछ ऐसी विशेषतायें है जिनके कारण मुझे हरेक से डंके की चोट कहना पड़ता है—"देखो, पृथ्वी पर यह कैसा अलौकिक पुरुष निवास कर रहा है।" उनके बारे में कदाचित् यह कहना उचित होगा कि सार्वभौमिक दृष्टि से वह मानव है—मानव जाति के मानव।"

वास्तव में जिनकी कथनी और करनी में तनिक भी अन्तर न हो ऐसे महामानव संसार में कम ही होते हैं। उनके मानवतावादी दृष्टिकोण और सम्पत्ति का न्यायानुकूल वितरण सम्बन्धी विचारों के कारण उनके घर वाले—उनकी स्त्री तक विरोधी बन गई, पर वे स्वार्थ के लिये परमार्थ के मार्ग को त्यागने के लिये कभी राजी नहीं हुए।

## शिक्षा प्रचार का कार्यक्रम

टॉलसटाय इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि केवल उपदेशों से संसार का सुधार नहीं हो सकता। जब तक लोगों के जीवन की परिस्थितियाँ नहीं बदली जायेंगी, उनको नवीन ढंग की शिक्षा-दीक्षा नहीं दी जायेगी, तब तक कोई प्रत्यक्ष परिणाम सामने नहीं आ सकता। इसलिये ग्रन्थ लेखक के साथ ही उन्होंने शिक्षा प्रचार का उद्देश्य भी अपनाया और सन् १८५९ में ही एक स्कूल की स्थापना करके स्वयं ही आस-पास के ग्रामीण बच्चों को पढ़ाने लगे। उस दिन उन्होंने अपनी डायरी में लिखा—

"मुख्य बात यह है कि मैंने अपने गाँव में सारे पड़ौस के लिये एक स्कूल खोलने का निश्चय कर लिया है और मैं ज्ञान देने के लिये इस कार्य में जुट गया हूँ।"

कुछ समय पश्चात् अपने कार्यक्रम को विस्तारपूर्वक समझाते हुए उन्होंने अपने एक मित्र को लिखा था—

"रूस की सबसे बड़ी आवश्यकता जन-शिक्षा है। हमारे पास इस प्रकार की शिक्षा की कोई सुविधा नहीं है और जब तक सरकार के हाथों में शिक्षा का प्रबन्ध है, हमें वे सुविधायें प्राप्त हो भी नहीं सकतीं। इसलिये जनता को शिक्षित करने का कार्य समाज को अपने हाथ में लेना चाहिये। प्रश्न उठ सकता है कि क्या सचमुच पढ़ने-पढ़ाने की कोई आवश्यकता है? पर मेरे सामने यह समस्या नहीं है। मेरे स्कूल के छः महीने चलने के भीतर ही आस-पास तीन और स्कूल खुल गये हैं और उनमें आशा से अधिक कार्य हो रहा है।"

टॉलसटाय का उद्देश्य केवल दो-चार या अधिक स्कूल खोल देना नहीं था। वरन् वे शिक्षा प्रणाली में ऐसा परिवर्तन चाहते थे जो स्वाभाविक और सरल होते हुए भी शरीर, मन और चरित्र का ठीक ढंग से विकास कर सके। उस समय प्रचलित स्कूलों में अनेक दोष दिखलाई पड़ते थे। उनमें बच्चों की सामाजिक और व्यक्तिगत परिस्थितियों पर ध्यान दिये बिना सबको एक ही लाठी से हाँका जाता था। बालकों की आवश्यकता और त्रुटियों पर विचार किये बिना एक निश्चित शिक्षाक्रम नियत था और उसी को डण्डे के जोर से सबके गले उतारा जाता था। टॉलसटाय ने इसके स्थान पर उपयोगी और ग्रामीणों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने लायक शिक्षा प्रणाली के निर्माण का संकल्प किया और इसके लिये जर्मनी, फ्रांस स्विट्जरलैण्ड और रूस के अन्य नगरों की यात्रायें करके उन्होंने ग्राम विद्यालयों का अच्छी तरह निरीक्षण किया, पर उन्होंने अनुभव किया कि चाहे रूस के स्कूलों को देखा जाये और चाहे फ्रांस, जर्मनी आदि पश्चिमी भाग में बसने वाले देशों के चमक-दमक वाले स्कूलों को, पर उन सबकी पढ़ाई

जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं से दूर हैं । इसलिये सबका अनुभव प्राप्त करके उन्होने स्वयं इस क्षेत्र में परीक्षण करने का निश्चय किया और अपने गाँव में ही किसान बालकों की शिक्षा के लिये एक स्कूल स्थापित कर दिया । इसका वर्णन करते हुए एक लेखक ने कहा है—

"विद्यालयों की इस दयनीय दशा को देखकर टॉल्सटाय ने एक विशाल कार्यक्रम के साथ एक स्कूल खोला । यह एक नये ढंग का स्कूल था, जिसमें छात्रों की रुचि की खोज करके, उसी के आधार पर प्रशिक्षण दिया जाता था । अध्यापक यहाँ छात्रों के साथ उनका-सा ही जीवन व्यतीत करते थे और उनके साथ मित्र की तरह व्यवहार करते थे । रटने वाली बातों पर विशेष बल नहीं दिया जाता था । बच्चो को अपनी रुचि के अनुकूल कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी । अतः अध्ययन उनके लिये भार न होकर मनोरंजन बन गया था । स्कूल की इमारत दो मंजिल की थी । ऊपर दो कमरे स्कूली पढ़ाई एवं कार्यालय के लिये और दो कमरे अध्यापकों के निवास के लिये थे । नीचे व्यायाम तथा खेती का सामान रखा जाता था ।

स्कूल में लिखना-पढ़ना, व्याकरण, धर्मशास्त्र, इतिहास, चित्रकला, संगीत आदि बारह विषय पढ़ाये जाते थे । बच्चे अपनी इच्छानुसार दिन या रात की किसी कक्षा में पढ सकते थे । कक्षा का समय पूरा हो जाने पर भी वे अपने घर लौटना नहीं चाहते थे ।

यदि उस स्कूल के पढ़ने वाले बालक सन्तुष्ट और सुखी थे, तो पढ़ाने वाले अध्यापक भी खुशी राजी से पूरा कार्यक्रम अमल में लाते रहते थे । वहाँ के एक अध्यापक ने अपना अनुभव वर्णन करते हुए लिखा है—"स्कूल के काम से मुझे थकान नही होती क्योंकि यहाँ किसी प्रकार की शुष्कता अथवा नीरसता मुझे कभी नहीं जान पड़ी । हर एक को यहाँ घर-सा ही अनुभव होता है । किसी को यहाँ एकदम सावधान होकर खड़े होने की आवश्यकता नही होती, जैसा अन्यत्र उच्च पदाधिकारियों के कमरे मे प्रवेश करने पर होता है । इसका मतलब यह नहीं कि यहाँ अनुशासन का अभाव है । काउण्ट (टॉल्सटाय) पाठ्य पुस्तकों से कभी नहीं पढाते । वे स्कूल का नया वातावरण बनाने के बारे में सोचते रहते हैं और उसी के अनुरूप पढ़ाते हैं । वास्तव में वे उस कार्य में सफल भी हुए है ।"

स्कूल का काम कुछ वर्ष चल जाने पर उन्होंने शिक्षा प्रणाली की जाँच करने के लिये फिर जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम, इंग्लैण्ड और इटली आदि देशों की यात्रा की । पर वे जो कुछ चाहते थे उसके दर्शन उनको कहीं भी नही हुए । उन्होने देखा कि वहाँ की शिक्षा का मुख्य प्रयोजन सरकारी कर्मचारी और अधिकारी तैयार करना ही होता है । (जैसा कि किसी समय भारत में अंग्रेजी स्कूलो का उद्देश्य सरकार के लिये 'क्लर्क' तैयार करना कहा जाता था) इसलिये उन्होने पुनः घर लौटकर अपने स्कूल को ही अधिक उत्साह से चलाना आरम्भ किया । उन्होने आस-पास के स्थानों में भी वैसे ही इक्कीस स्कूल और खोले और उनमें पढ़ाने के लिये मास्को विश्वविद्यालय के छात्रों को बुलाया । इसी उद्देश्य से उन्होने एक मासिक पत्रिका भी निकाली जिसमें वे शिक्षा के नये तरीकों और उनके प्रचार के सम्बन्ध मे लेख दिया करते थे । इसके अतिरिक्त स्कूल में पढ़ने वाले लड़को के लेख तथा कहानियाँ भी उसमें प्रकाशित की जाती थीं ।

सन् १८६२ में उनको स्वास्थ्य सम्बन्धी कारणों से अपनी रियासत से बाहर रहना पड़ा । उनके पीछे से पुलिस ने आपत्तिजनक साहित्य की खोज करते हुए उनके प्रेस की तलाशी ली । जब टॉल्सटाय को इसका हाल मालूम हुआ तो उनको एक शिक्षा-सस्था के कार्य में इस प्रकार का सरकारी हस्तक्षेप बहुत बुरा लगा, इससे दुःखी होकर उन्होंने स्कूल और मासिक पत्रिका सबको बन्द कर दिया । वह सत्य के अनुयायी थे और कोई काम छिपा कर करना अपना अपमान समझते थे, इसलिये सरकारी व्यवहार से व्यथित होना उनके लिये स्वाभाविक था । उन्होने इस बात को एक मित्र के लिये लिखे गये पत्र में इस प्रकार प्रकट किया था—

"तुम जानते हो कि स्कूल मेरे लिये क्या था ? उसे मैने कैसे खोला था ? वह मेरा जीवन था । जिस काम से मुझे प्रसन्नता और शान्ति मिलती थी वह सब बिखर गया ।"

कुछ वर्ष तो वह 'युद्ध और शान्ति' नामक प्रसिद्ध उपन्यास की रचना मे लगे रहे, पर १८६५ में उन्होने फिर स्कूल के विचार को पुनर्जीवित किया । उस समय

के एक पत्र मे उन्होने लिखा है—"मैं आज भी शिक्षा के बारे में बहुत कुछ सोचता हूँ और उन घड़ियों की प्रतीक्षा मे हूँ जब अपने बच्चों को फिर पढ़ा सकूँगा । मैं फिर नया स्कूल खोल कर अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारो को कार्य रूप मे परिणित करने वाला हूँ ।"

पाठक यह ख्याल न करें कि टॉलसटाय का विचार स्कूल खोलकर कोई जगत प्रसिद्ध संस्था या विशालकाय विश्वविद्यालय निर्माण करना था । वे तो वर्तमान सामाजिक प्रणाली को ही सदोष समझते थे और लोगों के सामने नवनिर्माण का एक नमूना पेश करना चाहते थे वे जानते थे कि उनके प्रयत्न से दुनिया शीघ्र ही नहीं बदल सकती, पर इसका अर्थ यह नहीं कि सच्चे विचारक भी उसी के साथ चलने लग जायें और जिस बात को गलत समझते हैं उसके विरोध में आवाज न उठाये । टॉलसटाय का स्कूल सम्बन्धी कार्य एक प्रकार से बीज रूप था, जो समय-समय पर ऐसे ही स्वतन्त्र विचारकों के हृदय में जड़ पकड़ता रहा और समय-समय पर छोटे-बड़े रूपों में प्रकट होता रहा । भारतवर्ष मे भी महात्मा गाँधी ने 'बुनियादी शिक्षा' के रूप मे उसका प्रचार किया और उसके सिद्धान्तों को समझाने के लिये 'बुनियादी तालीम' नाम की मासिक पत्रिका भी निकाली । चाहे भारत के स्कूलों और कॉलेजों की दशा आज और भी शोचनीय हो रही है पर इससे टॉलसटाय और महात्मा गाँधी के प्रयत्न व्यर्थ नहीं समझे जा सकते । वे अपना प्रभाव उपयुक्त व्यक्तियो पर डालते रहते हैं और समयानुसार प्रकट होते है । आज जो दुर्दशा हम स्वराज्य और स्वाधीनता की देख रहे हैं वह सामयिक उतार चढ़ाव की तरह है जबकि टॉलसटाय जैसे महामानवों के कार्य सत्य की खोज मे भटकती मानवता के लिये निरन्तर प्रकाश स्तम्भ की तरह आशा और विश्वास का सन्देश देकर धैर्य बँधाते रहते हैं ।

अपने जीवन के अन्तिम समय तक टॉलसटाय अपने लेखों और कार्यों के द्वारा लोगों को यही शिक्षा देते रहे कि सब मनुष्य एक ही भगवान के उत्पन्न किये हैं, उनको हर हालत मे प्रेम और सहयोगपूर्वक ही रहना चाहिये । आज जो एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को मार रहा है, शोषण कर रहा है, ठग रहा है, उसका मूल कारण 'शैतान' (अधर्म और स्वार्थपरता) की प्रधानता ही है । सच्चा 'धर्म' वही है जो मनुष्यों को दूसरे लोगों की सेवा और परोपकार की प्रेरणा दे । उनका यह सिद्धान्त महात्मा गाँधी के इस आदर्श से मिलता-जुलता ही था कि—"वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे ।" इसी आदर्श को पूरा करने के लिये टॉलसटाय ८२ वर्ष की आयु में अपनी सम्पत्ति और वैभव को त्याग कर एक 'संन्यासी' की तरह घर से निकल पड़े । उस समय बाहर रहकर रूस की ठण्ड को बर्दाश्त करने की शक्ति उनके शरीर में नहीं रह गई थी । इसलिये मार्ग में ही वे बीमार पड़ गये और एक स्टेशन के छोटे से कमरे में किसी गरीब व्यक्ति की तरह उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी । टॉलसटाय आज नहीं है पर उनके मानवतावादी विचार और आदर्श अब भी करोडों मनुष्यों को प्रेरणा देकर एक 'नये संसार' के निर्माण में संलग्न हैं ।

# नई दुनिया का अन्वेषणकर्ता : कर्मवीर कोलम्बस

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों की बात है कि सन् १४६१ में संध्याकाल के समय एक प्रौढ आयु का यात्री अपने छोटे बालक के साथ 'पालोस' (स्पेन) में एक पहाड़ी के ऊपर बने ईसाई साधुओं के मठ की तरफ जा रहा था । वह किसी बड़ी आपत्ति के बचकर एक लम्बी यात्रा करके भूखा-प्यासा इस स्थान तक पहुँचा था, और इस आशा में था कि उसे मठ में रात्रि के लिये ठहरने का स्थान और कुछ भोजन सामग्री मिल जायेगी । उसका छोटा बालक जिसका नाम 'डीगो' था, इस प्रकार की कठिन यात्रा के लायक न था और वह बार-बार पूछता था कि "अभी कितनी दूर और चलना है ?" जब उस यात्री ने देखा कि यह बालक इस चढाई पर थकावट के कारण नहीं चढ सकेगा तो उसने उसे गोद में उठा लिया और स्वयं भी कठिनतापूर्वक पहाड़ी पर चढ़कर मठ के दरवाजे पर पहुँच गया ।

"ला रैबिडा" नामक यह मठ सन्त फ्रांसिस के अनुयायी साधुओं का निवास स्थान था। वे परोपकारमय जीवन व्यतीत करते थे और संयोगवश आने-जाने वाले अतिथियों का सत्कार करने में भी त्रुटि नही करते थे। जैसे ही यात्री ने मठ के द्वार को खटखटाया कि कुछ ही क्षणों मे एक वृद्ध साधु ने फाटक के किवाड खोल दिये और पूछा कि वे क्या चाहते है ? जब यात्री ने अपना उद्देश्य बतलाया तो वह उसे मठ के भीतर ले गया और कमरे मे ठहरा दिया। थोडी देर में उसने भोजन की व्यवस्था की और कुछ समय बीतने पर दोनों थके-माँदे बाप-बेटा सो गये।

प्रातःकाल उनकी भेंट अध्यक्ष फादर पिरेज से हुई जो एक वृद्ध और विचारशील विद्वान थे। जब उनको मालूम हुआ कि वह यात्री—जिसका नाम क्रिटोफर कोलम्बस था और जो एक जहाजी कप्तान और नक्शा बनाने का कार्य करता था, अनेक दूर देशों की यात्रा कर चुका है, तो वे उसके साथ बड़े आग्रह और उत्साह से वार्तालाप करने लगे। वे स्वय नक्षत्र-विद्या और भूगोल के प्रेमी थे और उस जमाने में जहाँ तक सम्भव था विविध ग्रन्थों की सहायता से इन विषयो का अध्ययन करते रहते थे। जब उनको मालूम हुआ कि कोलम्बस एक साधारण जहाजी नही है, वरन् एक अन्वेषक भी है और उसकी महत्वाकाक्षा पृथ्वी के अज्ञात प्रदेशों का पता लगाने की है, तो वे बड़े प्रभावित हुए और उसकी सहायता करने को तत्पर हो गये।

## एशिया के मार्ग की खोज

क्रिस्टोफर कोलम्बस (सन् १४४६ से १५०६) जिनोआ (इटली) का निवासी था। वह एक सामान्य जहाजी का पुत्र था और बाल्यावस्था मे ही समुद्र तथा जलयानो से सम्बन्ध रखता था। इसके परिणामस्वरूप उसमे भूगोल और पृथ्वी के मानचित्रो की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई थी। उस समय तक यूरोप के लोगों को अफ्रीका तक का ही जल-मार्ग ज्ञात था। एशिया के चीन और भारत से उनका जो थोड़ा-बहुत व्यापारिक आदान-प्रदान होता था, वह स्थल मार्ग द्वारा ही होता था। दोनो महाद्वीपों के व्यापारी कुस्तुन्तुनिया (टर्की) मे अपने-अपने व्यापारिक माल को लेकर पहुँचते थे, और वही परस्पर लेन-देन होता था। पर जब सन् १४५३ मे तुर्को ने कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार कर लिया तो वह मार्ग भी बन्द हो गया। इसके बाद यूरोप के व्यापारियों में समुद्री मार्ग द्वारा एशिया तक पहुँचने की जिज्ञासा विशेष रूप से बढ़ने लगी। स्वेज नहर वाले वर्तमान रास्ते से तो उस समय यात्रा कर सकने का कोई प्रश्न नही था क्योंकि वहाँ तो उस समय सौ मील चौड़ा 'बालू का समुद्र' फैला हुआ था। यद्यपि कोलम्बस ने पृथ्वी के नक्शे पर एशिया की स्थिति का जो अनुमान किया था वह गलत था और इसके कारण वह एशिया के बजाय अमेरिका जा पहुँचा, पर उस समय इन बातो की सही जानकारी किसी को न थी इसलिये एशियाई मार्ग की खोज का श्रेय वास्कोडिगामा नामक एक अन्य जहाजी को मिला, जो कोलम्बस की अमेरिका यात्रा के ६ वर्ष पश्चात् सन् १४६८ में अफ्रीका का चक्कर लगाते हुए दक्षिण-भारत के कोचीन बन्दरगाह पर पहुँचा।

पर उस समय ये बातें कल्पना जान पड़ती थी। विशाल सागर को पार करने वाले लोहे के जहाज तब तक नहीं बने थे, और जो लकड़ी के जहाज थे वे जाने हुए समुद्रो मे ही हजार-पाँच सौ मील की यात्रा कर लेते थे। यूरोप और अमेरिका के बीच में स्थित अटलांटिक महासागर की एक विशेषता यह भी है कि उसमें तीन-हजार मील के फासले में एक भी द्वीप नहीं है। इसलिये अगर कोई जहाज साहस करके कभी समुद्र मे दो-चार सौ मील चला भी गया तो भूमि का दर्शन न होने से वापस आ जाता था। कोलम्बस ने कुछ प्राचीन भ्रमण-वृत्तान्तों और समुद्र में बहकर आई लकड़ियो से यह अनुमान लगाया था कि उस समुद्र के पार भी कोई देश अवश्य है। इसी आधार पर वह कई देशों के शासकों से इस बात की प्रार्थना कर चुका था कि यदि उसे तीन साधारण जहाज और कुछ मल्लाह दे दिये जाये तो वह उस नये देश को खोज कर वहाँ की सम्पत्ति उनको अर्पण कर सकता है।

आरम्भ मे पुर्तगाल के शासक ने उसकी योजना की जाँच-पडताल करके आवश्यक सहायता देने का वचन दिया था। उसके भरोसे वह वहाँ की राजधानी मे ठहरा रहा और विभिन्न पुस्तको तथा अन्य उपायो से इस विषय मे अधिकाधिक खोज करता रहा। इस प्रकार उसे पुर्तगाल में चौदह वर्ष व्यतीत हो गये। पर वहाँ के शासको की नीयत खराब थी और वे जिस

प्रकार धोखाधड़ी से काम लेते थे वैसा ही व्यवहार उन्होंने कोलम्बस के साथ किया। उन्होंने उसके बनाये नक्शे और गणित की तालिकायें चुरा लीं और उस पर झूठे आरोप लगाकर पुर्तगाल से बाहर न जाने का आदेश दे दिया। वह किसी तरह छिपकर अपने पुत्र डीगो के साथ वहाँ से निकल सका और संयोगवश आज उसकी भेंट 'ला रैबिडा' के पादरी फादर पिरेज से हो गई, जिसने कुछ घण्टे की बातचीत के पश्चात् ही उसे सहायता देने का आश्वासन दिया।

पर यह कोई सामान्य बात न थी। तीन जहाजों का बेड़ा तैयार करके कई महीने के लिये उसके खर्च की व्यवस्था करना उस युग में भी कई लाख रुपये का काम था। इसके अतिरिक्त उस जमाने में लोग व्यक्तिगत रूप से ऐसा काम करने का साहस कर भी नहीं सकते थे, क्योंकि निरंकुश शासक किसी समय किसी के पास अधिक सम्पत्ति देखकर उस पर कब्जा कर सकते थे। इसलिये इस प्रकार की बड़ी योजनायें राज्य की सहायता से ही संचालित की जाती थी और उनसे होने वाले लाभ का अधिकारी भी अधिकाश में राजा ही होता था। फादर पिरेज बहुत समय तक स्पेन की साम्राज्ञी इसाबेला का पुजारी रह चुका था और उसे आशा थी कि उसके आग्रह करने पर वह इस कार्य के लिये स्वीकृति दे सकेगी। पर साम्राज्ञी से प्रार्थना करने से पहले वह अपने मित्रों को बुलाकर विचार-विमर्श कर लेना चाहता था। इसलिये उसने उसी समय नगर में रहने वाले अपने दो मित्रों को बुला भेजा।

इन दो व्यक्तियों में से गार्शिया फर्नाण्डिज एक डॉक्टर था, जिसे भूगोल और नक्षत्र-विद्या की काफी जानकारी थी। दूसरा पिंजोन नाम का एक जहाज का मालिक था जिसका अधिकांश जीवन समुद्री यात्रा में ही बीता था। फादर पिरेज को निश्चय हो गया था कि इन दोनो अनुभवी व्यक्तियों के सहयोग से कोलम्बस की योजना के सम्बन्ध में ठीक-ठीक निर्णय कर सकेगा।

## आशा की किरण

जब ये तीनो व्यक्ति एक स्थान पर बैठे तो कोलम्बस अपनी योजना को उन्हें विस्तार के साथ समझाने लगा। उसने देखा कि डॉ. फर्नाण्डिज बहुत समझदार और शीघ्र ही समस्या की तह तक पहुँचने वाला व्यक्ति है। पिंजोन एक धनाढ्य व्यवसायी के समान बढ़िया पोशाक पहने था। उसे संसार के सभी जाने हुए देशों का पता था और वह एकाधबार उनकी यात्रा भी कर चुका था।

इस प्रकार अनुभवी और जानकार श्रोताओं को पाकर कोलम्बस बहुत हर्षित हुआ और उसने अपनी योजना बहुत ही सोच-समझ कर और नपे-तुले शब्दों में उनके सामने रखी। उसका भाषण वास्तव मे बहुत प्रभावोत्पादक था और उसने शीघ्र ही उन दोनों व्यक्तियों के मन में अपने प्रति सम्मान को उत्पन्न कर दिया।

जब कोलम्बस ने उन लोगों के सामने अपना बनाया मानचित्र (नक्शा) खोलकर रखा तो वे बडी उत्सुकतापूर्वक उसका अध्ययन करने लगे। उस समय तक दुनिया के मार्गों को अपने सामने रखकर विभिन्न देशों की स्थिति पर विचार कर सकने के साधन बहुत अल्प थे। फिर उस जानकारी के आधार पर अज्ञात देशों का मार्ग खोज निकालने की जो योजना उसने प्रस्तुत की थी वह तो और भी आकर्षक जान पडती थी। अन्त में डॉ फर्नाण्डिज ने कहा—"आपकी योजना बहुत सारयुक्त है और मेरे अध्ययन के निष्कर्ष से मिलती-जुलती है लेकिन मुझे यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि मेरे आप जैसी कल्पना-शक्ति का अभाव है।"

पिंजोन ने कहा—"उस यात्रा के लिये आपको किस प्रकार के जहाजों की आवश्यकता होगी ?"

कोलम्बस—"बिल्कुल उसी तरह के जैसे इन तटों पर प्रयुक्त होते हैं। ये जहाज यात्रा के उपयुक्त होने चाहिये और वे उथले सागर और नदियों में भी जा सकने योग्य हों।"

पिंजोन—"इस योजना के बारे में एक निवेदन मेरा भी है। भगवान की कृपा से मेरे पास पर्याप्त धन-सम्पत्ति है। मेरे लिये इस यात्रा का व्यय उठा सकना असम्भव नहीं है। आप अपनी समस्त आवश्यकताओं का हिसाब तैयार कीजिये।"

कोलम्बस—"जिस प्रकार की यात्रा मैं करना चाहता हूँ उसके पीछे राजकीय सत्ता का होना अनिवार्य है। यही कारण है कि इतने वर्षों तक मैं राजाओं की ड्योढ़ियों पर हाजिरी देता फिरा हूँ। मेरी माँग है कि जिन भू-खण्डों की मैं खोज करूँगा उसका वायसराय

मुझे ही बनाया जाये और इसकी सुरक्षा सम्राटों की सैन्य-शक्ति से ही की जा सकती है ।"

फादर पिरेज ने कहा—"कोलम्वस का विचार वहुत वुद्धिमत्तापूर्ण है । यह एक ऐसा मामला है जो किसी एक व्यक्ति की सामर्थ्य से बाहर है ।"

डॉ. फर्नाण्डिज—"मुझे जहाँ तक मालूम है, इस पालोस वन्दरगाह के माँझी इस बात के लिये वाध्य हैं कि राज्यादेश मिलने पर वे दो जहाज राज्य की सेवा के लिये प्रस्तुत करें ।"

फादर पिरेज—"आपका ख्याल विल्कुल ठीक है । पर यहाँ के मल्लाह अपने जहाज देने को सहज में राजी न हो जायेंगे । इस सम्वन्ध में हमको सबसे पहले राजाज्ञा प्राप्त करने का यत्न करना होगा । पर इस समय हमारे वादशाह 'मूरों' को देश निकालने के लिये संघर्ष कर रहे हैं और युद्ध के खर्च से उनका खजाना प्रायः खाली पड़ा है । फिर भी यदि मैं प्रयत्न करूँगा तो साम्राज्ञी सम्भवतः इस योजना को स्वीकार कर लेगी और तीसरे जहाज के लिये भी कोई व्यवस्था कर ही देंगी ।"

फादर पिरेज ने उसी समय साम्राज्ञी के पास जाने का निश्चय कर लिया । उस समय वे मूर-युद्ध की देख-भाल करने के लिये 'सालमंका' नामक स्थान में ठहरी हुई थीं । यद्यपि उनके सेवक ने वार-बार कहा कि इस अवस्था में इतनी लम्बी यात्रा करना उचित नहीं है, फादर पिरेज इस योजना को कार्यान्वित करने का निश्चय कर चुके थे और दो-चार घण्टे के भीतर ही 'सालमंका' के लिये रवाना हो गये । उनको इस यात्रा में पूरा एक महीना लग गया, पर वे कार्य को वहुत कुछ पूरा करके ही वापस आये ।

फादर पिरेज ने कोलम्वस को वताया कि साम्राज्ञी ने तुम्हारे खर्च और दरवार में उपस्थित होने लायक पोशाक वनाने के लिये एक वड़ी धनराशि की स्वीकृति दे दी है । पर साम्राज्ञी से भेंट हो सकने के पहले तुमको चौदह विद्वानों की एक समिति के सामने अपनी योजना पेश करनी पड़ेगी । यदि वे उसे व्यावहारिक और उपयोगी मान लेंगे तो फिर साम्राज्ञी और सम्राट उसे सुनेंगे और स्वीकृति देंगे ।

यह एक ऐसी शर्त थी जिसे सुनकर कोलम्वस का उत्साह वहुत कुछ ठण्डा पड गया । वह इन तथाकथित विद्वानों की करतूतों को अनेक वार देख और सुन चुका था । यह उस जमाने के वैज्ञानिक और अन्वेषण करने वालों का दुर्भाग्य था कि उनका भाग्य ऐसे 'विचारकों' के हाथ में सौंप दिया जाता था, जो नवीन वातों के स्वभावतः शत्रु होते थे । उन्होने स्वयं कभी भूगोल, इतिहास आदि का अध्ययन करने का कष्ट नहीं उठाया होता था और न वे गणित तथा नक्षत्र-विद्या में किसी प्रकार की दिलचस्पी रखते थे । वे केवल धर्म की दस-पाँच पुस्तकों को पढ़कर ही विद्वान बन जाते थे । इसलिये जो धार्मिक ग्रन्थों और जनता मे प्रचलित झूठी-सच्ची मान्यताओं से भिन्न कोई नई वात सोचता था या खोज करना चाहता था, वह उनको अधार्मिक और नास्तिक जान पड़ता था । ऐसे ही लोगों ने गैलीलियो जैसे वैज्ञानिक पर दूरवीन बनाकर नक्षत्रों तथा तारों के सम्वन्ध में कुछ नई जानकारियाँ प्राप्त करने के कारण नास्तिकता का इल्जाम लगा दिया था और उसे वरसों जेलखाने में सड़ाया था । फादर पिरेज ने भी चलते समय उसे यह चेतावनी दी थी कि चौदह विद्वानों की समिति के सामने वह ऐसी कोई वात मुँह से न निकाले जिससे उनको उस पर अधार्मिकता और नास्तिकता का आरोप लगाने का वहाना मिल सके ।

## अन्धविश्वासी पादरियों का निर्णय

जिस समय सालमंका में कोलम्वस अपनी नई पोशाक पहन कर दर्जी से उसके सम्वन्ध में बात कर रहा था, उसी समय उसे एक वड़े राज्याधिकारी का पत्र मिला कि उसे आज ही शाम को चार वजे निर्णय-समिति के सम्मुख उपस्थित होना है । उसने यह भी सूचित कर दिया था कि समिति के चौदह सदस्यों में से दस धार्मिक व्यक्ति (पादरी) हैं । यह जानकर कोलम्वस को फिर वड़ी निराशा होने लगी और वह सोचने लगा कि यह तो ऐसी ही बात हुई कि किसी धार्मिक पुरुष से यह पूछा जाये कि जहाजरानी के विषय में उसके क्या विचार हैं ? वह जानता था कि इन दिनों अनेक व्यक्तियो को स्वतन्त्र विचारों के कारण प्राण दण्ड दिया जा चुका है । इससे लोग प्रायः अपने विचारो को गुप्त रखने मे ही वुद्धिमत्ता मानते थे । इन दिनों कोई भी व्यक्ति सुरक्षित न था । 'धार्मिक-शुद्धि' का आतंक सम्राटो की शक्ति से भी आगे वढ गया था ।

जिस समय कोलम्बस सालमंका के किले के भीतर निर्णायक समिति के सामने पहुँचा तो उसने देखा कि एक गोल मेज के चारो तरफ चौदह व्यक्ति बैठे हैं। उनमे दस सफेद अँगरखा और काले लबादे पहने हुए पादरी थे। उनके सिर पर एक विचित्र ढंग की टोपी (हुड) थी जिससे उनके चेहरो पर छाया पड़ती रहती थी। शेष चार व्यक्ति विश्वविद्यालय के आचार्य थे। जिस समय कोलम्बस मेज के समीप पहुँचा उस समय वे उसके नक्शे को सामने रख कर उसी के सम्बन्ध मे बहस कर रहे थे। एक व्यक्ति बड़े रोषपूर्ण स्वर में भाषण कर रहा था—

"और आखिर मे मै कहता हूँ कि छद्मवेश धारण करने वाला यह भिखारी है कौन? वह स्पेन का निवासी नहीं है, वह हमारे महान सम्राट की प्रजा नहीं है। वह एक विदेशी है, जिसके कुल-शील का भी पता नहीं है। वह जिनेवा का निवासी है, जहाँ प्रतिष्ठित लोग नहीं रहते, जुलाहे रहते हैं—और जिनेवा में जहाँ तक स्मरण किया जा सकता है, नास्तिक लोग ही अधिक रहते है।"

वक्ता का भाषण समाप्त होते ही चारों ओर फुसफुसाहट हुई और उससे कोलम्बस ने अनुमान कर लिया कि अधिकांश व्यक्ति वक्ता से सहमत हैं। फिर भी उससे साहस न छोड़ा और वह उनके प्रश्नो का उत्तर देने को तैयार हो गया। उसने विनयपूर्वक कहना आरम्भ किया—

"विद्वान् भद्र पुरुषों! मै अपनी अयोग्यता से भली प्रकार परिचित हूँ, न मेरे पास राजकीय सत्ता के चिह्न है और न मेरे पूर्वज महान थे। जिनेवा स्थित 'ड्रीटी डी पौटीसेलो' गली मे मेरा जन्म हुआ है। गरीबी की रोटियों का ही स्वाद मैने चखा है। यहाँ पर मे आपके समक्ष एक विद्वान या ज्ञानी के रूप मे उपस्थित नहीं हुआ हूँ वरन् एक कहानी की हैसियत मे ही आया हूँ। समुद्री-यात्रा के विषय में बहुत वर्षों तक अनुभव करने से मैंने पृथ्वी के विभिन्न भागों के सम्बन्ध मे कुछ जानकारी प्राप्त की है और आगे भी अधिकाधिक खोज करने की आकाक्षा है। प्राचीन और नवीन विचारकों के मानचित्रों (नक्शों) और गणित तालिकाओं से भी मैंने बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की है। मैं जानता हूँ कि पृथ्वी की गोल आकृति के विषय मे विद्वानो में मतभेद हैं, परन्तु यदि उसकी गोलाई के सिद्धान्त को स्वीकार कर ले तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि अगर पश्चिम दिशा की तरफ जहाज द्वारा यात्रा की जाये तो पूर्व के देशों मे जिनका नाम भ्रमणकर्त्ताओं 'कैथे' ओर 'सिपाँगो' बतलाया है, पहुँचा जा सकता है। इस बात की साक्षी समुद्र की लहरो के साथ बहकर आने वाले लकड़ी के बड़े-बड़े लट्ठो और नक्काशी की हुई लकड़ी से बनी हुई चीजों से मिलती है, जो कि 'अजौर' मे प्राप्त हुई हैं।"

अबीला के प्रधान धर्म-याचक (बिशप) ने उसकी बात को काटते हुए जोर से कहा "आप केवल उन्हीं बातो के बारे में चर्चा कर रहे हैं जो आपने सुन रखी है लेकिन आप हमे इन चीजों को दिखा नही सकते। क्या हम इन कपोल-कल्पित साक्ष्यों पर ही विचार करने को एकत्रित हुए है?"

कोलम्बस—"ये सब चीजे 'लिस्बन' (पुर्तगाल की राजधानी) में प्रदर्शित की जा रही हैं। मैंने अपनी आँखों से देखा है। यदि आप में से कोई भद्र पुरुष चाहे तो तत्काल इन चीजों के बारे मे जानकारी प्राप्त कर सकता है।"

बिशप—"लेकिन आप यह तो नही बता सकते कि यदि इस पश्चिमी मार्ग से यात्रा की जाये तो आप इस ग्लोब (गोलाकार पृथ्वी) की यात्रा करके पुनः कैसे वापस आ सकते है? दूसरी बात यह भी है कि पृथ्वी के इस प्रकार होने का आपके पास क्या प्रमाण है?"

कोलम्बस—"यह तो एक ऐसी बात है जिसे कोई जहाजी सहज मे जान सकता है। आप मे से जिन सज्जनो को समुद्र-यात्रा का संयोग प्राप्त हुआ होगा, उन्हे विदित होगा कि क्षितिज पर सबसे पहले हमें जहाजों के मस्तूल ही दिखाई पड़ते है। उसके बाद पूरा जहाज क्रमशः दृष्टिगोचर होता है।

कोलम्बस के कथन को व्यग्य में उडा देने की चेष्टा करते हुए एक अन्य पुजारी ने कहा—"आपने रेगिस्तान में जल का आभास होने की चर्चा तो सुनी होगी। प्रकाश और रिक्त स्थान हमारे नेत्रों के समक्ष किस प्रकार भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर सकते है, इसके बारे मे भी सुना होगा। यदि हम इन चीजों को मान्यता प्रदान करते है तो इस धारणा को भी मानना पड़ेगा कि पृथ्वी के दूसरी ओर भी लोग रहते है।"

एक अन्य व्यक्ति ने कहा—"हमें बताया गया है कि आपने यही योजनायें पुर्तगाल के शासक किंग जान के सामने भी रखी थीं । उन्होंने इन्हे स्वीकार करने से इन्कार कर दिया । क्या यह बात सही है ?"

कोलम्बस—"हाँ, यह ठीक है, और इससे मुझे बड़ी निराशा हुई थी परन्तु अब तो निराशा में भगवान की इच्छा ही देख रहा हूँ । शायद प्रभु की इच्छा है कि स्पेन के महान सम्राट और साम्राज्ञी को ही इस महान अवसर के सदुपयोग करने का गौरव प्राप्त हो । आपने मेरे मानचित्र का अध्ययन किया है और गणित-तालिकाओं की भी परीक्षा की है । परन्तु मैं जानता हूँ कि मैं उस दैवी-सत्ता का क्षुद्र साधन हूँ जो हम सबका मार्ग-दर्शन करती है । मैं जहाज चलाते समय केवल कुतुबनुमा को ही अपना मार्ग-दर्शक नही मानता, वरन् प्रभु के प्रति आस्था से प्राप्त स्पष्ट प्रकाश ही मेरा मार्ग-दर्शन करता है ।"

कोलम्बस ने जैसे ही अन्तिम शब्द कहा कि गिरजाघर में पूजा और प्रार्थना की घंटियाँ घनघनाने लगी । यह एक प्रकार से उसके कथन की सत्यता का दैवी चिन्ह था । पर धर्मान्ध पादरी तो स्वयं भगवान को भूले हुए थे । वे केवल मुख से उसका नाम लेते थे पर उनके हृदयों मे उसका प्रकाश नहीं था । गिरजाघर की घण्टी सुनकर वे सब उठ खड़े हुए और बड़े पुजारी ने कहा—"हमने आपका वक्तव्य सुन लिया है । अब सभा प्रार्थना के लिये विसर्जित होती है ।" कोलम्बस भी उनके पीछे-पीछे दुर्ग से बाहर चला गया ।

जैसा कि कोलम्बस ने अनुमान किया था उन 'विद्वानों' की समिति ने उसकी योजना को सारहीन ही बतलाया । उन्होंने कहा—"योजना केवल जालसाजी की तरह है, जिसका एकमात्र उद्देश्य राज्य के खजाने से कुछ धन उड़ा लेना है । इस जिनेवा निवासी को तत्काल स्पेन छोड़ कर चला जाना चाहिये ।"

इस प्रकार कोलम्बस को वहाँ सबकी निन्दा और उपहास का ही लक्ष्य बनना पडा । यदि वह कोई निर्बल विचारो का और कठिनाइयो से भयभीत होने वाला व्यक्ति होता तो अवश्य ही समिति का निर्णय सुनने पर वहाँ एक दिन भी नही ठहर सकता था । पर उसे अपने ध्येय मे पूर्ण निष्ठा थी और उसके हृदय ज्ञान की सच्ची प्यास थी, इसलिये उसने इस सामयिक असफलता के सामने सिर न झुकाया । उसने निश्चय कर लिया कि एक बार सम्राट और साम्राज्ञी से भेंट करके ही वह स्पेन छोड़ेगा ।

वास्तव में 'सत्य की खोज' का यही मार्ग है । हम संसार में किसी चीज को सहज में प्राप्त नहीं कर सकते । जो चीज जितनी ही महत्त्वपूर्ण होगी उसके लिये उतना ही अधिक त्याग और तपस्या करनी पड़ेगी । अगर संयोगवश कभी कोई बड़ा लाभ अनायास ही मिल जाये तो न उसका महत्त्व समझा जाता है और न वह अधिक उपयोगी ही सिद्ध होता है । जिस प्रकार मेहनत से कमाये हुए धन और हराम की कमाई में एक स्पष्ट अन्तर होता है वैसी ही स्थिति ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी खोजों और जानकारी की भी समझनी चाहिये ।

एक दूसरी बात इस घटना से यह भी विदित होती है कि 'धर्मजीवी' लोग सदा से और सब देशों में मानव-प्रगति में अड़ंगा लगाते रहे है । उसका निर्वाह सदा से लोगो के अन्धविश्वास और पुरानी लकीर को पीटते रहने पर ही होता आया है इसलिये उनको किसी प्रकार की नवीन जागृति अथवा सर्वसाधारण में ज्ञान-विज्ञान का प्रचार बुरा जान पड़ता है । आज पृथ्वी की गोलाई को मनुष्य अपनी आँखों से देख रहा है और उसी के आधार पर जल और नभ के जहाजो की लम्बी से लम्बी यात्रायें होती हैं, पर कोलम्बस की योजना के 'निर्णायक' अपनी विद्वता इसी में समझते थे कि वे पृथ्वी के गोल होने की बात की हँसी उड़ायें और उसे एक प्रकार की भ्रान्ति बतलाये ।

पर हम इस सम्बन्ध में दूसरो की शिकायत क्यों करें जब हमारे देश में आज भी ऐसे लोगों की संख्या लाखो और करोड़ो तक है जो पृथ्वी को चक्की के पाट की तरह चपटा मानते हैं और उसे शेषनाग के फन के ऊपर ही स्थित बतलाते हैं । स्पेन के विद्वानों ने तो कठिनाइयों और धन की बर्बादी के नाम पर पश्चिमी समुद्र की यात्रा का निषेध किया था, पर हमारे विद्वानो ने तो समुद्र-यात्रा को हर तरह से निषिध और पाप-कर्म घोषित कर दिया था । अंग्रेजी राज्य आरम्भ होने पर जो लोग किसी कार्यवश इग्लैण्ड और यूरोप की यात्रा करते थे उनको इन धर्मजीवी पण्डित-पुजारियो ने कितना तग किया यह हमको अच्छी तरह मालूम है । इनकी सदा यही इच्छा रही कि

लोग पूर्ववत् 'कूपमण्डूक' बने रहें और केवल पूजा-पाठ पर बैठे-बैठे उनका उदर पोषण करते रहें ।

कोलम्बस यद्यपि एक धार्मिक विचारों का व्यक्ति था और भगवान पर भरोसा रखकर ही एक भयंकर और अज्ञात समुद्र में प्रवेश करने को तैयार हुआ था पर ईसाई पुजारियों को उसकी बातें 'नास्तिकता' की जान पड़ीं । वास्तव में स्वयं दुनिया को ठगने वाले पण्डा-पुजारी अपना सबसे बड़ा अस्त्र यही समझते थे कि जो ज्ञान-विज्ञान के प्रचार के लिये नई बात कहे तो उस पर तुरन्त 'नास्तिकता' का दोषारोपण कर दें । सैकड़ों वर्ष तक वे मानव-कल्याण के लिये उद्योग करने वालों को इसी प्रकार तंग करते रहे । यूरोप के रोमन कैथोलिक धर्मानुयायी देशों मे इन धर्मान्ध पुजारियों ने हजारों विद्वानों और विचारकों को इसी 'अपराध' में जिन्दा जलवा दिया और बरसो तक जेलखानो मे बन्द रखकर सड़ाया । पर नतीजा यह हुआ कि आज उन्हीं करतूतों के कारण ससार के करोडों मनुष्य धर्म के नाम से भी चिढ़ने लगे हैं और उन पुजारियो (पादरियों) को कोई किसी बात में नही पूछता । हमारे यहाँ भी उन धर्म के ठेकेदार बनने वाले स्वार्थी व्यक्तियों की सन्तान उनके पापों के फलस्वरूप 'पीर बबर्ची भिश्ती खर' के दर्जे पर पहुँच गई है ।

## साम्राज्ञी का अनुपम त्याग

फादर पिरेज ने कोलम्बस को जो पत्र दिये थे, उनके प्रभाव से 'डान लुई सेण्टागेल' नामक प्रभावशाली सरकारी अधिकारी उसका मित्र बन गया और उसे अपने ही यहाँ ठहरा लिया । उसने कोलम्बस को बतलाया कि मूर-युद्ध अब शीघ्र ही समाप्त होने वाला है । तब कोलम्बस की साम्राज्ञी से भेंट हो सकेगी और वह इस योजना में निश्चय ही सहायता करने को प्रस्तुत हो जायेगी ।

डान लुई के आश्वासन देने पर कोलम्बस उसके साथ युद्ध-क्षेत्र की तरफ रवाना हुआ । जब वे मूर लोगों के किले के निकट पहुँचे तो दिखाई पड़ा कि स्पेन की सेना ने उसको चारों ओर से घेर रखा है और फौजी डेरा-तम्बुओं का एक नगर-सा बस गया है । कुछ ही दिनों में मूर लोगों के बादशाह ने हार मानकर अपने किले को खाली कर दिया और उस पर इस्लाम के झण्डे की जगह ईसाई चिह्नो से अंकित ध्वज फहराने लगा । इस परिवर्तन को देखकर कोलम्बस की आशा-लता भी पुनः हरी-भरी होने लगी ।

किले पर विजय प्राप्त होने के पाँच दिन बाद ही कोलम्बस को अपनी योजना के सम्बन्ध में भेंट करने के लिये राज-दरबार में बुलाया गया । वहाँ पर स्वर्ण मण्डित सिंहासन पर सम्राट फर्डीनेण्ड और साम्राज्ञी इसावेला विराजमान थे । उनके समीप ही आर्कबिशप डी टालवेरा बैठा हुआ था, जिसने निर्णायक समिति में कोलम्बस का घोर विरोध किया था । उसके नीचे के आसनों पर अन्य धर्म-योजक और सरदार बढ़िया पोशाके पहने बैठे थे । इस प्रकार की वैभवयुक्त और दर्शनीय राज-सभा में कोलम्बस ही सामान्य पोशाक वाला व्यक्ति था । यदि कोई अन्य व्यक्ति इस स्थिति में होता तो वह निःसन्देह हीनता के भाव के कारण दब जाता । पर कोलम्बस के सामने एक बहुत बड़ा उद्देश्य था । वह सोचता रहता था कि ये लोग एक किले और सौ-पचास मील पर विजय पाने से इतना अधिक उल्लास मना रहे है, तो मै जब हजारों मील लम्बी-चौड़ी तथा स्वर्णमण्डित जमीन को विजय करने की तैयारी कर रहा हूँ, उसका महत्त्व कितना अधिक होना चाहिये ? इसलिये गरीबी की हालत में होने पर भी यह इस राजकीय प्रदर्शन मे अभिभूत नही हुआ । साम्राज्ञी इसावेला उसकी योजना के प्रति विशेष रूप से आकर्षित थी, इसलिये सबसे पहले उसी ने कहा—"आपको लम्बी अवधि तक प्रतीक्षा करनी पड़ी है, कोलम्बस महोदय ! आपके धैर्य की हम प्रशंसा करते हैं । अब युद्ध समाप्त हो चुका है, इसलिये आप अपने महान स्वप्न की झाँकी हमे दो ।"

साम्राज्ञी के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये कोलम्बस नीचे झुक गया । फिर उसने कहा—"यह केवल स्वप्न नही है, साम्राज्ञी ! यह एक ऐसा स्वप्न है जो मेरी दृष्टि मे मूर्तिमान है । मै जो कुछ निवेदन करना चाहता हूँ उस पर मेरी पूरी आस्था है । यह आस्था मेरे अन्तर मे तब से विद्यमान है जब से मैंने मार्कोपोलो का भ्रमण वृत्तान्त पढ़ा है । उसने लिखा है कि समस्त यूरोप के राजमहलों में जितनी सम्पत्ति है उससे अधिक 'कैथे' मे है ।"

यह सुनकर सम्राट फर्डीनेण्ड ने कहा—"हमने आपकी योजना पूरे विवरण सहित सुन ली । आप

इस तरह बोल रहे हैं जैसे अपना स्वप्न आपने उपलब्ध कर लिया है। परन्तु सालमंका के बुद्धिमान आचार्यो ने आपकी योजनाओं को अस्वीकार कर दिया है। आप सम्भवतः उनकी विज्ञान सम्बन्धी जानकारी मे अविश्वास रखते हैं।"

कोलम्बस—"मेरा अविश्वास उनकी जानकारी के सम्बन्ध मे नहीं है, वरन् उनके निर्णय से मेरा मतभेद है।"

आर्कविशप डी. टालवेरा ने, जो साम्राज्ञी के निकट ही खड़ा था, एक व्यंग्यपूर्ण मुस्कान के साथ कहा—सालमंका में हमने कोलम्बस महोदय के वक्तव्य को सुना था। उन्होंने मल्लाहों मे प्रचलित अनेक कहानियों और किंवदन्तियों से हमारा मनोरंजन किया। परन्तु अपनी मान्यता को प्रमाणित करने के लिये कोई सुदृढ साक्ष्य न दे सके।"

कोलम्बस—"पश्चिम सागर के तट पर स्थित देशो के बारे मे उनकी यात्रा किये विना कौन व्यक्ति साक्ष्य प्रस्तुत कर सकता है? आप मुझे केवल तीन छोटे जहाज दीजिये और मै उन देशों तक पहुँचने का छोटे से छोटा रास्ता खोज निकालूँगा।"

फर्डीनैण्ड—"परन्तु जहाज उपलब्ध करने मे वचनो से कुछ अधिक आश्वासन भी हमारे पास होना चाहिये। इस प्रकार रसद, सैनिक और बन्दूकें प्राप्त करने के लिये कम से कम पाँच हजार स्वर्ण मुद्राओं की आवश्यकता होगी और मेरा राजकोष इस समय युद्ध के कारण विल्कुल खाली है।"

कोलम्बस—"यह सच है कि स्पेन के पास इस समय धन की कमी हो गई है, पर तो भी उसमें इतनी सामर्थ्य है कि वह पृथ्वी के एक छोर मे दूसरे छोर तक फैली हुई मानवता को ईसाई धर्म का प्रकाश प्रदान कर सके।"

डी. टालवेरा—"हमने अभी एक छोटी-सी चीज पर विचार नहीं किया है। हमने इन जिनेवा निवासी सज्जन से यह नहीं पूछा कि अपनी सेवा के लिये क्या पुरस्कार लेंगे?"

कोलम्बस—"मेरी खोज के परिणामस्वरूप जो कुछ प्राप्त होगा, उसमें से दसवाँ भाग मैं पुरस्कार के रूप मे चाहता हूँ।"

डी. टालवेरा—"दसवाँ भाग! आप सम्राट से जहाज, सेना, रसद, धन सभी कुछ माँग रहे हैं!"

कोलम्बस—"मैं अपना जीवन दाँव पर लगा रहा हूँ, महामहिम! मैं अपनी समस्त सामुद्रिक दक्षता दाँव पर रख रहा हूँ। जिस विचार के आधार पर यह यात्रा आयोजित की-जा रही है वह मेरी मौलिक सूझ है। क्या इसके और प्रमाण चाहिये?

सम्राट—"क्या आपकी माँगें यही तक सीमित हैं?"

कोलम्बस—"नहीं श्रीमान्! आपकी आज्ञा से मैं अपने पद के सम्बन्ध में भी निवेदन करूँगा और वह पद होगा महासागर का एडमिरल (नौसेनाध्यक्ष) इसके अतिरिक्त मैं राज्य मे 'डान' का राजपद भी चाहूँगा।

अन्त में बहुत वाद-विवाद के पश्चात् यह निश्चय किया गया कि कोलम्बस को तीन जहाज नई दुनिया का मार्ग खोजने के लिये दिये जायें। इनमें से दो जहाज तो 'पालोस' के बन्दरगाह से मिल सकते थे और तीसरे के लिये कोषाध्यक्ष ने पन्द्रह हजार स्वर्ण मुद्रा की आवश्यकता बतलाई। साम्राज्ञी ने उसी समय खड़े होकर अपना मोतियों का हार कोषाध्यक्ष को दे दिया कि इससे धन प्राप्त करके कोलम्बस की यात्रा का सब प्रबन्ध किया जाये।

इस प्रकार अनेक बाधाओं को पार करते हुए कोलम्बस अन्त में अपने लक्ष्य के बहुत निकट जा पहुँचा। वह एक सामान्य स्थिति का जहाजी कप्तान था। उसने अपने अध्ययन, अनुभव और कल्पना शक्ति के द्वारा अटलांटिक महासागर के दूसरे तट पर कोई अन्य देश होने का अनुमान तो लगा लिया पर यह एक ऐसा कार्य था, जो राज्य-शक्ति की सहायता के विना पूरा हो सकना सम्भव न था। प्रथम तो इसके लिये अपेक्षित धन ही कोलम्बस किसी प्रकार नहीं जुटा सकता था, फिर अनजान देशों में पहुँच कर विना सैन्य-शक्ति के अपनी रक्षा हो सकनी भी कठिन थी। फिर कोई उच्च पदवी सम्पन्न व्यक्ति इस कार्य को अपने हाथ में लेता तो उसे सभी उच्च पदस्थ लोगों की सहायता शीघ्र ही प्राप्त हो सकती थी। पर कोलम्बस तो गरीब था और गरीब को इस दुनिया में विना किसी आधार के पहले ही अविश्वस्त और झूठा मान लिया जाता है। यह बात केवल कोलम्बस के विषय में ही नहीं और भी हजारों व्यक्तियों के बारे

लोग पूर्ववत् 'कूपमण्डूक' बने रहें और केवल पूजा-पाठ पर बैठे-बैठे उनका उदर पोषण करते रहें ।

कोलम्बस यद्यपि एक धार्मिक विचारों का व्यक्ति था और भगवान पर भरोसा रखकर ही एक भयंकर और अज्ञात समुद्र में प्रवेश करने को तैयार हुआ था पर ईसाई पुजारियों को उसकी बातें 'नास्तिकता' की जान पड़ीं । वास्तव में स्वयं दुनिया को ठगने वाले पण्डा-पुजारी अपना सबसे बड़ा अस्त्र यही समझते थे कि जो ज्ञान-विज्ञान के प्रचार के लिये नई बात कहे तो उस पर तुरन्त 'नास्तिकता' का दोषारोपण कर दें । सैकड़ों वर्ष तक वे मानव-कल्याण के लिये उद्योग करने वालों को इसी प्रकार तंग करते रहे । यूरोप के रोमन कैथोलिक धर्मानुयायी देशों में इन धर्मान्ध पुजारियों ने हजारों विद्वानों और विचारकों को इसी 'अपराध' में जिन्दा जलवा दिया और बरसों तक जेलखानों में बन्द रखकर सड़ाया । पर नतीजा यह हुआ कि आज उन्हीं करतूतों के कारण संसार के करोड़ों मनुष्य धर्म के नाम से भी चिढ़ने लगे हैं और उन पुजारियों (पादरियों) को कोई किसी बात में नहीं पूछता । हमारे यहाँ भी उन धर्म के ठेकेदार बनने वाले स्वार्थी व्यक्तियों की सन्तान उनके पापों के फलस्वरूप 'पीर बवर्ची भिश्ती खर' के दर्जे पर पहुँच गई है ।

## साम्राज्ञी का अनुपम त्याग

फादर पिरेज ने कोलम्बस को जो पत्र दिये थे, उनके प्रभाव से 'डान लुई सेप्टागेल' नामक प्रभावशाली सरकारी अधिकारी उसका मित्र बन गया और उसे अपने ही यहाँ ठहरा लिया । उसने कोलम्बस को बतलाया कि मूर-युद्ध अब शीघ्र ही समाप्त होने वाला है । तब कोलम्बस की साम्राज्ञी से भेंट हो सकेगी और वह इस योजना में निश्चय ही सहायता करने को प्रस्तुत हो जायेगी ।

डान लुई के आश्वासन देने पर कोलम्बस उसके साथ युद्ध-क्षेत्र की तरफ रवाना हुआ । जब वे मूर लोगों के किले के निकट पहुँचे तो दिखाई पड़ा कि स्पेन की सेना ने उसको चारों ओर से घेर रखा है और फौजी डेरा-तम्बुओं का एक नगर-सा बस गया है । कुछ ही दिनों में मूर लोगों के बादशाह ने हार मानकर अपने किले को खाली कर दिया और उस पर इस्लाम के झण्डे की जगह ईसाई चिह्नों से अंकित ध्वज फहराने लगा । इस परिवर्तन को देखकर कोलम्बस की आशा-लता भी पुनः हरी-भरी होने लगी ।

किले पर विजय प्राप्त होने के पाँच दिन बाद ही कोलम्बस को अपनी योजना के सम्बन्ध में भेंट करने के लिये राज-दरबार में बुलाया गया । वहाँ पर स्वर्ण मण्डित सिंहासन पर सम्राट फर्डीनेण्ड और साम्राज्ञी इसाबेला विराजमान थे । उनके समीप ही आर्कबिशप डी टालवेरा बैठा हुआ था, जिसने निर्णायक समिति में कोलम्बस का घोर विरोध किया था । उसके नीचे के आसनों पर अन्य धर्म-याजक और सरदार बढ़िया पोशाकें पहने बैठे थे । इस प्रकार की वैभवयुक्त और दर्शनीय राज-सभा में कोलम्बस ही सामान्य पोशाक वाला व्यक्ति था । यदि कोई अन्य व्यक्ति इस स्थिति में होता तो वह निःसन्देह हीनता के भाव के कारण दब जाता । पर कोलम्बस के सामने एक बहुत बड़ा उद्देश्य था । वह सोचता रहता था कि ये लोग एक किले और सौ-पचास मील पर विजय पाने में इतना अधिक उल्लास मना रहे हैं, तो मैं जब हजारों मील लम्बी-चौड़ी तथा स्वर्णमण्डित जमीन को विजय करने की तैयारी कर रहा हूँ, उसका महत्त्व कितना अधिक होना चाहिये ? इसलिये गरीबी की हालत में होने पर भी वह इस राजकीय प्रदर्शन से अभिभूत नहीं हुआ । साम्राज्ञी इसाबेला उसकी योजना के प्रति विशेष रूप से आकर्षित थी, इसलिये सबसे पहले उसी ने कहा—"आपको लम्बी अवधि तक प्रतीक्षा करनी पड़ी है, कोलम्बस महोदय ! आपके धैर्य की हम प्रशंसा करते हैं । अब युद्ध समाप्त हो चुका है, इसलिये आप अपने महान स्वप्न की झाँकी हमें दें ।"

साम्राज्ञी के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये कोलम्बस नीचे झुक गया । फिर उसने कहा—"यह केवल स्वप्न नहीं है, साम्राज्ञी ! यह एक ऐसा स्वप्न है जो मेरी दृष्टि में मूर्तिमान है । मैं जो कुछ निवेदन करना चाहता हूँ उस पर मेरी पूरी आस्था है । यह आस्था मेरे अन्तर में तब से विद्यमान है जब से मैंने मार्कोपोलो का भ्रमण वृत्तान्त पढ़ा है । उसने लिखा है कि समस्त यूरोप के राजमहलों में जितनी सम्पत्ति है उससे अधिक 'कैथे' में है ।"

यह सुनकर सम्राट फर्डीनेण्ड ने कहा—"हमने आपकी योजना पूरे विवरण सहित सुन ली । आप

इस तरह बोल रहे हैं जैसे अपना स्वप्न आपने उपलब्ध कर लिया है । परन्तु सालमंका के बुद्धिमान आचार्यों ने आपकी योजनाओ को अस्वीकार कर दिया है । आप सम्भवतः उनकी विज्ञान सम्बन्धी जानकारी में अविश्वास रखते हैं ।"

कोलम्बस—"मेरा अविश्वास उनकी जानकारी के सम्बन्ध में नहीं है, वरन् उनके निर्णय से मेरा मतभेद है ।"

आर्कविशप डी. टालवेरा ने, जो साम्राज्ञी के निकट ही खड़ा था, एक व्यंग्यपूर्ण मुस्कान के साथ कहा—सालमंका में हमने कोलम्बस महोदय के वक्तव्य को सुना था । उन्होंने मल्लाहो में प्रचलित अनेक कहानियों और किंवदन्तियों से हमारा मनोरंजन किया । परन्तु अपनी मान्यता को प्रमाणित करने के लिये कोई सुदृढ साक्ष्य न दे सके ।"

कोलम्बस—"पश्चिम सागर के तट पर स्थित देशों के बारे मे उनकी यात्रा किये बिना कौन व्यक्ति साक्ष्य प्रस्तुत कर सकता है ? आप मुझे केवल तीन छोटे जहाज दीजिये और मै उन देशो तक पहुँचने का छोटे से छोटा रास्ता खोज निकालूँगा ।"

फर्डीनैण्ड—"परन्तु जहाज उपलब्ध करने में वचनों से कुछ अधिक आश्वासन भी हमारे पास होना चाहिये । इस प्रकार रसद, सैनिक और बन्दूके प्राप्त करने के लिये कम से कम पाँच हजार स्वर्ण मुद्राओं की आवश्यकता होगी और मेरा राजकोप इस समय युद्ध के कारण बिल्कुल खाली है ।"

कोलम्बस—"यह सच है कि स्पेन के पास इस समय धन की कमी हो गई है, पर तो भी उसमे इतनी सामर्थ्य है कि वह पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई मानवता को ईसाई धर्म का प्रकाश प्रदान कर सके ।"

डी.. टालवेरा—"हमने अभी एक छोटी-सी चीज पर विचार नहीं किया है । हमने इन जिनेवा निवासी सज्जन से यह नही पूछा कि अपनी सेवा के लिये क्या पुरस्कार लेंगे ?"

कोलम्बस—"मेरी खोज के परिणामस्वरूप जो कुछ प्राप्त होगा, उसमे से दसवाँ भाग मै पुरस्कार के रूप मे चाहता हूँ ।"

डी. टालवेरा—"दसवाँ भाग ! आप सम्राट से जहाज, सेना, रसद, धन सभी कुछ माँग रहे हैं !"

कोलम्बस—"मैं अपना जीवन दाँव पर लगा रहा हूँ, महामहिम ! मैं अपनी समस्त सामुद्रिक दक्षता दाँव पर रख रहा हूँ । जिस विचार के आधार पर यह यात्रा आयोजित की-जा रही है वह मेरी मौलिक सूझ है । क्या इसके और प्रमाण चाहिये ?

सम्राट—"क्या आपकी माँगें यहीं तक सीमित हैं ?"

कोलम्बस—"नही श्रीमान् ! आपकी आज्ञा से मैं अपने पद के सम्बन्ध मे भी निवेदन करूँगा और वह पद होगा महासागर का एडमिरल (नौसेनाध्यक्ष) इसके अतिरिक्त मैं राज्य में 'डान' का राजपद भी चाहूँगा ।

अन्त में बहुत वाद-विवाद के पश्चात् यह निश्चय किया गया कि कोलम्बस को तीन जहाज नई दुनिया का मार्ग खोजने के लिये दिये जायें । इनमें से दो जहाज तो 'पालोस' के बन्दरगाह से मिल सकते थे और तीसरे के लिये कोषाध्यक्ष ने पन्द्रह हजार स्वर्ण मुद्रा की आवश्यकता बतलाई । साम्राज्ञी ने उसी समय खड़े होकर अपना मोतियों का हार कोषाध्यक्ष को दे दिया कि इससे धन प्राप्त करके कोलम्बस की यात्रा का सब प्रबन्ध किया जायें ।

इस प्रकार अनेक बाधाओं को पार करते हुए कोलम्बस अन्त मे अपने लक्ष्य के बहुत निकट जा पहुँचा । वह एक सामान्य स्थिति का जहाजी कप्तान था । उसने अपने अध्ययन, अनुभव और कल्पना शक्ति के द्वारा अटलांटिक महासागर के दूसरे तट पर कोई अन्य देश होने का अनुमान तो लगा लिया पर यह एक ऐसा कार्य था, जो राज्य-शक्ति की सहायता के बिना पूरा हो सकना सम्भव न था । प्रथम तो इसके लिये अपेक्षित धन ही कोलम्बस किसी प्रकार नहीं जुटा सकता था, फिर अनजान देशो मे पहुँच कर बिना सैन्य-शक्ति के अपनी रक्षा हो सकनी भी कठिन थी । फिर कोई उच्च पदवी सम्पन्न व्यक्ति इस कार्य को अपने हाथ में लेता तो उसे सभी उच्च पदस्थ लोगो की सहायता शीघ्र ही प्राप्त हो सकती थी । पर कोलम्बस तो गरीब था और गरीब को इस दुनिया में बिना किसी आधार के पहले ही अविश्वस्त और झूठा मान लिया जाता है । यह बात केवल कोलम्बस के विषय मे ही नहीं और भी हजारो व्यक्तियों के बारे

में कही जा सकती है । इस प्रकार धन भण्डार के अधिकारों की अवहेलना अथवा पक्षपातपूर्ण नीति के कारण कितनी साधनहीन प्रतिभाओ का अन्त हो जाता है, इसका हिसाब कौन लगा सकता है ?

कोलम्बस का भी ऐसा अन्त होता अगर उसमें अपने लक्ष्य के प्रति अपार श्रद्धा और धैर्य न होता । उसकी युवावस्था का सर्वोत्तम भाग पुर्तगालियों की वहानेबाजी और धोखाधड़ी में बेकार चला गया । जब चौदह वर्ष गँवाकर उन लोगों की वदनीयती का भेद उन पर अच्छी तरह खुल गया, तब एक वार वह अवश्य ही वड़ा दुःखी हुआ, तो भी उसने आशा और उद्योग को न छोड़ा और हानि-लाभ, सुख-दुःख मान-अपमान का ध्यान छोड़कर अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में लगा रहा । पुर्तगालियों ने उसकी वर्षों की मेहनत के फल, पृथ्वी के नक्शे और पृथ्वी के आकार तथा विस्तार सम्बन्धी गणित-तालिकाओं को चुरा लिया, उसे पुर्तगाल में नजरबन्दी की-सी दशा मे से भागने में बडा कष्ट उठाना पड़ा, स्पेन के राज-दरवार में डी. टालवेरा ने उसे 'भिखारी', 'जालसाज' आदि कहकर काफी अपमानित किया, तो भी वह अपने मार्ग और प्रयत्न में अडिग रहा । यही कर्मवीर और कर्मयोगियों का लक्षण होता है । योगी लोग सब तरह की असुविधाओं और प्रलोभनों का विचार दूर करके अपना ध्यान जब केवल परमात्मा की तरफ लगाते है तभी उनको सच्चा आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है । उसी प्रकार कोलम्बस ने अपनी समस्त शक्तियों को केवल नई दुनिया की खोज के लिये ही केन्द्रित कर दिया, तो उसे अन्त मे आवश्यक साधन प्राप्त करने मे सफलता प्राप्त हुई ।

## कोलम्बस के लिये प्राण-संकट

यद्यपि स्पेन की साम्राज्ञी ने तीन जहाजों की व्यवस्था कर दी और कोलम्बस को 'एडमिरल' की पदवी भी प्रदान कर दी गई, पर केवल इन्हीं साधनों द्वारा यह महा-अभियान पूरा नहीं हो सकता था । सबसे आवश्यक बात तो थी जहाजों को चलाने वाले, मल्लाहों का मिल सकना । जिस दिन 'पालोस' बन्दरगाह के न्यायाधीश ने सम्राट का 'फर्मान' पालोस नगर के नागरिको को पढ़कर सुनाया, वहाँ पर एक भयकर हलचल मच गई । 'फर्मान' इस प्रकार था—

"हम डान फर्डीनैण्ड और डाना इसावेला जो कि प्रभु की कृपा से कैस्टिले, अरागोन, लियोना, ग्रैनाडा, टालीडो, वैलेशिया, जिब्राल्टर तथा कनारी द्वीप के सम्राट और साम्राज्ञी हैं—

"पालोस के नागरिकों को सम्बोधित करते हैं—आपको यह भली-भाँति विदित है कि राजाज्ञा का उल्लंघन करते हुए आपने तस्कर व्यापार किया, जिसके लिये राजकीय परिषद द्वारा आपको यह दण्ड दिया जा चुका है कि अपने खर्च से आप दो जहाजो को राज्य की सेवा में साज-सज्जा सहित पेश करेंगे ।"

"हमने महासागर और सागरों के एडमिरल डाव क्रिस्टोफर कोलम्बस को वह अधिकार प्रदान किया है कि वे पश्चिमी महासागरों की यात्रा हमारे हित मे करे । आपको आदेश दिया जाता है कि इस घोषणा के दस दिन के अन्दर ये दो जहाज साज-सज्जा से तैयार करके राज्य की सेवा में उपस्थित करें । इसके अतिरिक्त इनके आदेशानुसार आपको यात्रा भी करनी होगी । जो व्यक्ति इन आदेशों का उल्लंघन करेगा उसे हमारे कोप का भाजन बनना होगा । उसने दस हजार 'मैरावडीज' (रुपया) प्रति व्यक्ति के हिसाब से जुर्माना वसूल किया जायेगा ।

"यह राज्यादेश ग्रैनाडा नगर मे अप्रैल की बीसवीं तारीख और हमारे प्रभु ईसा मसीह के वर्ष १४६२ को अंकित हुआ ।"

इस आदेश को सुनकर समस्त जनता भयभीत हो उठी । पालोस निवासी कुछ समय के लिये दो जहाज दे सकते थे, पर सवाल यह था कि अज्ञात समुद्र मे, जिसकी सीमा का कोई पता नही है, जाकर अपने प्राण देने को कौन तैयार होगा ? 'पालोस' बन्दरगाह के मल्लाह अपने दुस्साहस के लिये प्रसिद्ध थे और समुद्री-यात्रा के लिये सदैव तैयार रहते थे, पर अन्धकार-युक्त समुद्र की यात्रा को कौन तैयार हो सकता था ? कहा जाता था कि उस समुद्र का जल काला है और उसमें ऐसे विशाल दानवाकार जन्तु रहते हैं जो पूरे जहाज को दाव कर समुद्र के तले मे ले जा सकते हैं ।

परिणाम यह हुआ कि राजाज्ञा से भयभीत होने पर भी लोगों ने इस योजना मे हर तरह से वाधा डालने का निश्चय कर लिया । नगर के समस्त व्यवसायी, वन्दरगाह

के अधिकारी और समस्त मल्लाह इस सम्बन्ध में एक मत थे। बन्दरगाह वालों ने एक-एक करके सब जहाजों को वहाँ से विभिन्न स्थानों को भेज दिया और स्वयं पास की पहाड़ियों में जा छिपे। लोग कहने लगे—'महासागर और सागरों का एडमिरल कोलम्बस! वाह! उसकी आज्ञा के सामने वे सिर नहीं झुकायेंगे। वे इस विदेशी को अपने देश से भगाकर ही छोड़ेंगे।'

फादर पिरेज, डॉ. फर्नाण्डिज और स्वयं कोलम्बस सप्ताह भर तक नगर में जगह-जगह फिर कर लोगों को समझाते रहे, पर इस यात्रा के लिये कोई भी सहमत न हुआ। उल्टा जहाजों के मालिकों ने भी अपना एक गुट बनाकर इस यात्रा का विरोध करना शुरू किया। वे कहते थे कि—"यह सच है कि हम राज्यादेश पर दो जहाज देने को बाध्य हैं, परन्तु इस मूर्खतापूर्ण यात्रा में तो वे जहाज नष्ट ही हो जायेंगे। तब उनकी क्षतिपूर्ति कौन करेगा? यह पागल विदेशी जिस प्रकार की यात्रा में इन जहाजों का प्रयोग करना चाहता है, उसे सह सकने की शक्ति किसी जहाज में नहीं है।"

जनता की ऐसी भावना तथा असहयोग की नीति को देखकर न्यायाधीश ने एक बड़ी रिपोर्ट तैयार करके सम्राट के पास भेजी। इसके दस-पाँच दिन बाद ही एक शाही-हरकारा तुरही बजाता हुआ 'पालोस' नगर में आया और एक नया राज्यादेश सुनाया कि—"बन्दरगाह में जो भी जहाज दिखाई पड़े उसे तुरन्त जब्त कर लिया जाये और उसके मालिक तथा काम करने वालो को बलपूर्वक एडमिरल की अधीनता में दे दिया जाये। जो इससे इन्कार करे उसे जेलखाने में भेज दिया जाये।"

## पिंजोन का सहयोग

इस प्रकार पालोस में हलचल मच गई और अनेक लोग कोलम्बस की जान के गाहक बन गये। जब 'पिन्टा' नामक जहाज बन्दरगाह में आया और अधिकारियों ने उसे जब्त कर लिया तो लोगों का क्रोध और भी भड़क उठा और 'एडमिरल कोलम्बस' को मार देने की धमकी दुगुने जोर से दी जाने लगी। उसी समय 'पालोस' का समुद्री व्यापारी पिंजोन, जिसके साथ पहले ही दिन कोलम्बस की बातचीत हुई थी, अपने जहाज के साथ वापस आया। वह और उसके दो भाई बड़े साहसी जहाजी थे और मल्लाहों पर उनका बड़ा प्रभाव भी था। इसलिये जब पिंजोन कोलम्बस की सहायता को तैयार हुआ और स्वयं अपने भाई के साथ दो जहाजों का कप्तान बनकर साथ जाने को सहमत हुआ तो लोगो का मनोभाव बहुत बदल गया और कितने ही मल्लाह जहाजों में काम करने को तैयार हो गये।

अगस्त के आरम्भ में तीनों जहाजों का वेड़ा सब तरह की सामग्री से लैस होकर कूँच के लिये तैयार हो गया। जहाजों के सब कर्मचारी इकट्ठे होकर 'ला रैबिडा' मठ के अध्यक्ष फादर पिरेज से आशीर्वाद प्राप्त करने को गये। फादर पिरेज ने कहा कि—"उनके सामने एक महान कर्त्तव्य है। उनको राज्य-सत्ता की वृद्धि तथा अपना व्यवसाय करने के साथ ही प्रभु ईसा का धर्म-संदेश भी नई दुनिया में पहुँचाना है।" उस समय सब लोग अपने धर्म गुरु के सामने मस्तक झुका कर इस प्रकार खड़े थे, मानो वे इस दुनिया को छोड़कर परलोक जाने की ही तैयारी कर रहे हों। जब वे लोग अत्यन्त गम्भीर भाव से अपने जहाजों पर लौटे तो नगर के रास्ते शोक से रोती-पीटती स्त्रियों और बालकों से भरे हुए थे। वे कहते थे कि "यह विदेशी एडमिरल हमारे पति और भाइयों को मौत के मुख में लिये जा रहा है।"

संसार में लोक-कल्याण के लिये नये क्षेत्रो मे कदम बढ़ाने वाले लोगों को किस प्रकार की अप्रत्याशित बाधाओं का सामना करना पड़ता है और सदैव कर्त्तव्य की वेदी पर अपने प्राण चढ़ाने को तैयार रहना पड़ता है, इसका उदाहरण कोलम्बस की समुद्र-यात्रा की तैयारी से मिल सकता है, ऊँचे लक्ष्य के लिये आत्म-त्याग कर सकने की भावना सब में नहीं हो सकती। अधिकांश व्यक्ति तो वही काम करना चाहते है जिसमें उनको कम से कम खतरा और ज्यादा से ज्यादा लाभ हो। ऐसे दुनियादार आदमी कोलम्बस के साथ अज्ञात और अनिश्चित प्रदेशों की यात्रा करना कब पसन्द कर सकते थे?

## समुद्र के मध्य साहसपूर्ण संघर्ष

'पालोस' के बन्दरगाह से रवाना होकर कोलम्बस किसी प्रकार 'कनारी' द्वीप तक तो पहुँच गये, जो कि स्पेन के शासन में था। वहीं से उनको पश्चिमी समुद्र में प्रवेश करना था। वहाँ सुनने मे आया कि पुर्तगाल के लड़ाकू जहाज 'फेरो', द्वीप के पास कोलम्बस के

जहाजों को गिरफ्तार करने के लिये ताक लगाये हुए हैं । कोलम्बस के साधारण व्यापारिक-जहाज फौजी जहाजों का मुकाबला कैसे कर सकते थे ? इसलिये उसने बिना अधिक विलम्ब लगाये संध्या के समय ही वहाँ से कूँच कर दिया और रात्रि के अन्धकार में 'फेरो' से कुछ दूर आगे बढ़ गया । पर जैसे ही जहाज जमीन से काफी दूर निकल गये और चारों तरफ असीम जल-राशि के अतिरिक्त कुछ भी न दिखाई पड़ने लगा वैसे ही सब मल्लाहों के हृदय में आतंक समा गया और वे रोने लगे । जब कोलम्बस ने अपने कमरे में उनकी चीख-पुकार सुनी तो वह बाहर आया । उसने देखा कि सब मल्लाह एक जगह इकट्ठे होकर इस यात्रा के विरुद्ध प्रलाप कर रहे हैं । कोलम्बस को देखकर उन्होंने कहा—

"तुम हमें कहाँ ले जा रहे हो ?"

कोलम्बस—"मैं तुम्हें गरीबी से निकाल कर समृद्धि की ओर ले जा रहा हूँ ।"

मल्लाह—"खुशहाली ! पर इस पागलपन के जुए में हम अपने प्राण संकट में नहीं डालना चाहते ।"

कोलम्बस—"क्या मेरे जीवन का कोई महत्त्व नहीं है ? मैं भी तो अपना जीवन संकट में डाल रहा हूँ । तुम इस 'जुआ' से घबड़ाते हो, पर इसी के द्वारा तुमको भरपूर सम्पत्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकेगी । क्या तुम यह नहीं समझते कि यदि सम्राट और साम्राज्ञी को इस योजना की सच्चाई के विषय में विश्वास न हो गया होता तो वे मुझे तीन बहुमूल्य जहाज कैसे दे देते ?"

मल्लाह—"लेकिन तुम हमें क्यों लिये जा रहे हो ?"

कोलम्बस ने कुछ कठोरता के साथ उत्तर दिया—यहाँ से सात सौ मील की दूरी पर सिपांगो द्वीप है । इस द्वीप मे-अनेक घरों की छतें सोने से मढ़ी हैं । जब तुम लौटकर अपने घर पहुँचोगे तब अनेक लोग तुम्हारी सफलता देखकर ईर्ष्या करेंगे । मेरे ऊपर विश्वास रखो और अपना काम परिश्रम से करते रहो । प्रभु की कृपादृष्टि हम पर है । वही हमें अपने देश में सुरक्षापूर्वक वापस लायेगा और प्रतिष्ठा और पुरस्कार के भी अधिकारी होंगे ।

कोलम्बस ने ये शब्द ऐसी आन्तरिक भावना के साथ कहे थे और उसके समझाने का ढंग भी इतना युक्ति-युक्त था कि मल्लाह लोगों का असंतोष दूर हो गया । पर समुद्र में तो नित्य ही कुछ न कुछ विपत्ति आती रहती थी, जिससे बीच-बीच में यह असन्तोष फूट पड़ता था । जब मार्ग में उनको कुछ चिड़ियाँ उड़ती हुई मिली और समुद्री घास भी मीलों तक दिखाई दी तो सबको आशा हुई कि अब भूमि कहीं निकट ही है । पर जब कितने ही मील चल लेने पर कहीं सागर का अन्त दिखाई न पड़ा तो मल्लाह आपस में सलाह करने लगे कि किसी प्रकार अपने घर को वापस लौटना चाहिये । एक ने कहा—"वे देश कहाँ है जिसका हमसे वायदा किया गया था ? सोने का पहाड़ कहाँ है ? अगर हम घास के दल-दल में फँस गये तो सभी जहाज यहीं नष्ट हो जायेंगे ।"

दूसरा—"एडमिरल की गणना के अनुसार हम आठ सौ मील की यात्रा तो कर चुके । वह इससे भी अधिक दूर हमें कहाँ ले जायेगा ?"

तीसरा—"ओह ! हम तो मूर्ख हैं जो इस पागल आदमी की बात पर विश्वास करते है ।"

चौथा—"लेकिन यहाँ जमीन होनी तो अवश्य चाहिये । पक्षी भी चारों तरफ दिखाई पड़ रहे है और समुद्री घास भी ।"

पहला—"यह कहानी तो हम बहुत बार सुन चुके हैं । इसने चिकनी-चुपड़ी बातों में हमें बहका रखा है । यह हमारी साम्राज्ञी की आशा का दुरुपयोग कर रहा है । सालमका के विद्वान आचार्यों ने तो पहले ही इसे पागलपन बतलाया था ।"

तब फिर सब मिलकर सलाह करने लगे कि हम सब मिलकर एक हो जाये तो कोई हमारा क्या बिगाड़ सकता है ? हम इस सनकी एडमिरल को समुद्र में क्यों न फेंक दें, और कह दे, कि वह पैर फिसलने से गिर पड़ा । आज की रात में ही उसे मछलियों के पेट में पहुँचा देना चाहिये ।

इस प्रकार न मालूम कितनी बार कोलम्बस को मल्लाहों के असन्तोष का शिकार होना पड़ा । इस बीच में तरह-तरह की कठिनाइयों और रसद के घटते जाने से वह भी चिन्तित रहता था । इन दिनों वह सोता और खाता भी बहुत कम था । वह रात-दिन जहाज की गति और व्यवस्था को देखता रहता था । जिससे कोई कार्यकर्ता किसी तरह की भूल न कर दे ।

वह कभी-कभी पिंजोन भाइयों से बात कर लेता था, अन्यथा प्रायः मौन ही रहता था ।

## मल्लाहों का विद्रोह

पच्चीस सितम्बर को कुछ मल्लाहों को भूमि दिखाई देने का आभास हुआ जिससे वे बड़े हर्षित हुए और नाचने-गाने लगे । पर सुबह होने पर मालूम पड़ा कि आस-पास कहीं भूमि का चिह्न नहीं है, और दो दिन व्यतीत हो जाने पर भी कहीं समुद्र का किनारा दिखाई न दिया । इस पर मल्लाह फिर वापस लौटने की धमकी देने लगे । जब कोलम्बस ने उनको डाँटा-फटकारा तो एक मल्लाह का क्रोध भड़क उठा और उसने अपनी कमर से चमचमता छुरा निकाल कर कोलम्बस की तरफ फेंका । कोलम्बस ने पैंतरा बदल कर अपने को बचा लिया और उस मल्लाह का गला पकड़ कर सीढ़ी से नीचे ढकेल दिया । इस पर अन्य छः मल्लाह जो, इस संघर्ष को देख रहे थे उसकी तरफ बढ़े, पर उसी समय कोलम्बस ने एक छोटी तोप खींचकर अपने सामने कर ली और गरज कर कहा—"तुम सब तुरन्त यहाँ से चले जाओ वरना मैं तोप से उड़ा दूँगा ।"

एक साहसी व्यक्ति बोला—"आपको हमारी बात सुननी पड़ेगी । क्या आप खाली हाथ व्यक्तियों पर तोप चलाओगे ?"

कोलम्बस—"जिस आदमी के हाथ में छुरा है वह निरस्त्र कैसे कहा जा सकता है । जो कुछ तुम्हें कहना है वहीं से कहो । अगर किसी ने कदम आगे बढ़ाया तो मैं गोली मार दूँगा ।"

मल्लाह—"आपने हमसे जितनी दूर आने का समझौता किया था हम उससे अधिक दूर आ चुके हैं । अब हम आगे नहीं बढ़ेंगे ।"

कोलम्बस—"तब तुम लोग पानी में तैरकर स्पेन चले जाओ । मैं जहाजों को तो छोड़ नहीं सकता, क्योंकि मुझे तो आगे जाना है ।"

अन्त में मल्लाहों से जीवन-मरण का संघर्ष करते १२ अक्टूबर, १४९२ को कोलम्बस के जहाजों ने एक हरे-भरे द्वीप के किनारे लंगर डाला । मल्लाहों को तो भूमि पर उतर कर अपनी जीवन-रक्षा का भरोसा हो जाने से हर्ष हुआ, पर कोलम्बस के हर्ष का वे अनुमान नहीं कर सकते थे, क्योंकि उसे प्राण-रक्षा की तो कभी चिन्ता ही नहीं हुई थी, उसे अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य पूरा हो जाने की खुशी थी । उसने भूमि पर उतरते ही घुटनों के बल झुक कर उसे चूमा । उसने पिंजोन से कहा—"पश्चिम की दिशा में यात्रा करके मैंने एक नये देश को पा लिया यह एक बड़ी विजय है ।"

संसार में किसी महान कार्य में सफलता प्राप्त करना सहज नहीं होता । जब तक मनुष्य उसे सिद्ध करने के लिये अपना सर्वस्व अर्पण करने को तैयार नहीं होता तब तक सिद्धि की आशा निरर्थक है । जो लोग किसी काम को करते हुए पहले भय, आशंका आदि की ही चिन्ता करते हैं और थोड़ी कठिनाई आते ही उस मार्ग को त्याग देते हैं, उनसे किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पन्न होने की आशा व्यर्थ ही है । यह सिद्धान्त सभी तरह के कार्यों के लिये है, पर सार्वजनिक ढंग के कार्यों के लिये तो विशेष रूप से लागू होता है । व्यक्तिगत हित के मामलों में तो बहुसंख्यक लोग किसी न किसी हद तक साहस और कष्ट-सहिष्णुता का परिचय देते भी हैं, पर इस गुण की वास्तविक परीक्षा सार्वजनिक और सेवा-कार्यों मे ही होती है । जो लोग केवल निजी स्वार्थ का भाव मन में रखकर अथवा शौक या नामवरी के ख्याल से ऐसे कार्यों में हाथ डालते हैं, उनके व्यवहार और चरित्र से आप तुरन्त ही उपर्युक्त सिद्धान्तों की सच्चाई का पता लगा सकते हैं । पर कोलम्बस की तरह दृढ़व्रती मनुष्य समझते हैं कि मानव-जीवन केवल घर में पड़े-पड़े खाने-पीने के लिये ही नहीं है, वरन् उसका असली उद्देश्य संसार मे कोई ऐसा काम कर दिखाना है जिससे लोक-कल्याण साधित हो और आगामी पीढ़ियाँ भी जिससे लाभ उठाती रहें । ऐसे लोगों का ही जीवन सार्थक मानना चाहिये ।

खेद है कि हमारे देशवासियों मे इस प्रकार की भावना की बहुत कमी देखने में आती है । यह ठीक है कि कोलम्बस की तरह नये-नये अन्वेषण करना तो सबका काम नहीं है और न हर एक के जीवन मे वैसे संकट के अवसर ही आया करते हैं, फिर भी सार्वजनिक कार्यों में निःस्वार्थ भाव से अपनी शक्ति और साधनों का प्रयोग करना और उस मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को देखकर मार्गच्युत न हो जाना किसी के लिये असम्भव नहीं । वह आदर्श केवल पश्चिम के साहसी अन्वेषकों का ही नहीं है, वरन् हमारे प्राचीन ग्रन्थो मे भी ऐसे

अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं । अगर हम पौराणिक कथाओं का यथार्थ रूप में विश्लेषण करें तो हम जान सकते हैं कि हमारे यहाँ महर्षि अगस्त्य ऐसे ही महामानव थे जिन्होंने अपने प्राण हथेली पर रखकर सागर और महासागरों के रहस्यों का सबसे पहले पता लगाकर अन्य लोगो के लिये सामुद्रिक-मार्गों का ज्ञान प्रदान किया था ।

इसी प्रकार महर्षि विश्वामित्र ने भी अज्ञात देश-विदेशो की यात्रायें करके और अनेक नवीन तथा उपयोगी पदार्थों, वनस्पतियों, पशुओं आदि का पता लगाकर स्वदेश की समृद्धि को बढ़ाया था । यही कारण है कि जिस प्रकार यूरोप, अमेरिका मे आज पाँच सौ वर्ष बीत जाने पर भी स्थान-स्थान पर कोलम्बस की मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होती है और उसे एक युग-निर्माता व्यक्ति मानकर स्कूलों की पाठ्य-पुस्तकों में भी उसका चरित्र पढ़ाया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी महर्षि अगस्त्य और विश्वामित्र को महामानव ही नहीं देवताओं का स्थान दे दिया गया और कम से कम आठ-दस हजार वर्ष बीतने पर भी उनको पूज्य और आदर्श के रूप में स्मरण किया जाता है । संसार मे सभी के लिये महानता का यही मार्ग है ।

## रेड-इण्डियनों के देश में

कोलम्बस ढाई महीने की भयंकर समुद्री यात्रा करके जिन द्वीपों में पहुँचा था, उनमे प्राचीन ढंग मे रहने वाले 'रेड इण्डियन' निवास करते थे । वे लोग सीधे-साधे, खेती पर निर्वाह करने वाले और शान्तिप्रिय मनुष्य थे । उनका नाम कोलम्बस और उसके बाद वहाँ पहुँचने वाले यूरोपियनों ने जो 'रेड इण्डियन' रखा, उसका कारण यही था कि कोलम्बस ने पश्चिम समुद्र की यात्रा भारतवर्ष (जिसे यूरोप वाले 'इण्डिया' कहकर पुकारते थे) का एक नया मार्ग ढूँढ़ निकालने के उद्देश्य से ही की थी । इसलिये जब वह अमेरिका में पहुँचा तो उसने उस भूमि को भारत का ही एक भाग समझ लिया और उसे 'इण्डिया' का ही नाम दिया । आज भी 'संयुक्त राज्य अमेरिका' की ४८ रियासतों में से एक 'इण्डियाना' भी है । वे लोग लाल रंग के होने से 'रेड इण्डियन' कहलाये ।

यद्यपि उस समय भी वहाँ के निवासी खानो से थोड़ा सोना निकाल कर उसे आभूषण बनाने के काम मे लाते थे, पर वे उसका धन के रूप में लेन-देन करना नहीं जानते थे । इसलिये सोने की खानों के होने पर भी उन लोगों के गाँवों में उसकी इतनी बहुतायत नहीं थी । इधर कोलम्बस के तमाम मल्लाह और खासकर 'पालोस' का चालाक व्यापारी पिंजोन 'स्वर्ण की लूट' के लिये ही इस खतरनाक यात्रा के लिये प्रस्तुत हुए थे । इसलिये जहाँ कोलम्बस उस देश का भूगोल, रहन-सहन और विशेषताओं को जानने का प्रयत्न करता था, वहाँ पिंजोन केवल 'हाय सोना, हाय-सोना' ही कर रहा था । अन्त में जब उसने देखा कि कोलम्बस के साथ रहने में तो मेरा बहुत-सा समय यों ही नष्ट हो जायेगा, तब वह एक जहाज को लेकर भाग गया, जिससे स्वयं ही खोज करके बहुत-सा सोना इकट्ठा कर ले और स्पेन को वापस चला जाये ।

इसके पश्चात् एक के बाद दूसरे द्वीप की खोज करते हुए एक जहाज किसी नौसिखिया मल्लाह की गलती से बालू में फँसकर नष्ट हो गया । तब कोलम्बस सोने की खानो का पता लगाकर और उस देश की बहुत-सी नई चीजें तथा कुछ व्यक्तियों को साथ लेकर स्पेन वापस लौटा । अपने साथियों में से ३९ को उसने एक मजबूत किला बनाकर उस द्वीप में ही छोड़ दिया, जिससे वे उसके पीछे वहाँ अपना शासन सुदृढ़ करें और सोने की खानो पर अधिकार करके उसे निकालने की व्यवस्था करें ।

इधर धूर्त पिंजोन की योजना यह थी कि किसी तरह उस देश के निरस्त्र निवासियों को लूट-मार करके बहुत-सा सोना इकट्ठा करके कोलम्बस से पहले ही स्पेन पहुँचा जाये और सम्राट की सेवा में पहुँच कर इस समस्त अभियान का श्रेय स्वयं प्राप्त किया जाये । फिर भी मार्ग की कठिनाइयों के कारण वह कोलम्बस के स्पेन पहुँचने के दो दिन बाद ही पहुँच सका । इस कारण उसकी समस्त जालसाजी का भण्डा फूट गया और हर तरह से अपमानित तथा लांछित होकर शीघ्र ही उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई ।

## स्वार्थी दुनिया की दुरंगी नीति

जिस समय कोलम्बस स्पेन पहुँचा उसका राजाओं के समान जलूस निकाला गया और सम्मान किया गया । सड़क के दोनों तरफ जनता की अपार भीड़ थी जो नई दुनिया से लाये गये मनुष्यों और सामग्री को देखने

के लिये उत्सुक थे । स्वयं सम्राट और साम्राज्ञी ने सिंहासन से उठकर कोलम्बस का स्वागत किया, जो उस समय एक अपूर्व बात थी । स्पेन के समस्त राज्याधिकारी, वड़े-वड़े सरदार और धर्म-याचक उसके स्वागत को एकत्रित हुए थे । जिस व्यक्ति को केवल दस महीने पूर्व राज्य-सभा में 'भिखारी' और 'जालसाज' कहकर अपमानित किया गया था आज उसे सब लोग ससार का एक महान व्यक्ति स्वीकार करके मान्यता दे रहे थे । जब कोलम्बस ने अमेरिका में मिलने वाली नई-नई चीजें सम्राट के सामने उपस्थित कीं तो सब लोगों का यह भ्रम दूर हो गया कि पृथ्वी के दूसरी तरफ मनुष्यों का रहना असम्भव है । जिन धर्माचार्यों और विश्वविद्यालयों के आचार्यों ने आरम्भ में उसके मानचित्रों तथा गणना का मजाक उड़ाया था अब वे विनीत भाव से उसके मुख की तरफ देख रहे थे । केवल डी. टारवेरा ही एक ऐसा पाषाण हृदय और निर्लज्ज व्यक्ति था जिसे अपने व्यवहार पर अब भी किसी प्रकार का खेद नहीं था और जो इस समय भी कोलम्बस के महत्त्व को घटाने में लगा था ।

कोलम्बस अपने साथ रेड इण्डियन को लाया था जिसे इस बीच में कुछ स्पेन की भाषा सिखाई गई थी । उसके पास एक तोता भी था जिसे मनुष्य की तरह बोलने की शिक्षा दी गई थी । जब केवल लँगोटी पहने हुए उस रेड इण्डियन ने अपने तोते के पास मुँह ले जाकर कुछ कहा तो तोता स्पष्ट स्वर में बोलने लगा—

"सम्राट चिरंजीवी हों—सुन्दरी साम्राज्ञी इसावेला चिरंजीवी हों ।" थोड़ी देर ठहर कर तोते ने फिर कहा—"सागरों और महासागरों के एडमिरल डॉन क्रिस्टोफर कोलम्बस चिरंजीवी हों ।"

बादशाह और उनकी राज्य-सभा के सभी सदस्य एक पक्षी को मनुष्य के समान बोलते देखकर आश्चर्यचकित हो गये । सम्राट कहने लगे—"सन्त जॉन की शपथ ! यह तो बड़ा अद्भुत पक्षी है ।"

दूसरी बार कोलम्बस दस सरकारी जहाजो को, जिन पर पूरी युद्ध सामग्री थी, लेकर अमेरिका गया । लेकिन वहाँ जाकर उसने देखा कि वह जो किला बनाकर आया था वहाँ राख का ढेर दिखाई पड़ रहा है और उन ३६ व्यक्तियो का भी कोई पता नहीं, जिनको वह अपने पीछे व्यवस्था के लिये छोड़ गया था । गाँव वालों से पूछने पर पता लगा कि उन लोगो ने कोलम्बस के चले जाने के बाद ही पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और सोने के लालच से आपस में झगड़ा करना और उस देश के मूल निवासियो से दुर्व्यवहार करना आरम्भ कर दिया था । इस पर कुछ दूरी पर बसने वाले एक कबीले ने उन पर अकस्मात हमला किया और किले में आग लगाकर सब लोगों को जान से मार दिया । उसी संघर्ष में इन गाँवो के भी अनेक व्यक्ति और मुखिया घायल होकर अभी तक बुरी दशा में चारपाइयों पर पड़े थे ।

वास्तव में यह एक वैसी ही घटना हुई जैसी एक भारतीय लोक-कथा में बर्णित है—"चार लुटेरे जब घर वापस आये तो देखा कि उनकी बुड्ढी नानी मरी पड़ी है । लोगो ने कहा इसकी मृत्यु आ गई थी वही इसे ले गई । लुटेरों ने क्रोधित होकर निश्चय किया कि आज उस 'मृत्यु' को ठीक करना चाहिये जो हमसे भी नही डरती । 'मृत्यु' का पता लगाते हुए वे एक पहाड़ की तलहटी में पहुँचे और वहाँ रहने वाले एक साधु से 'मृत्यु' का पता पूछा । उसने एक गुफा की तरफ इशारा किया कि उसी में 'मृत्यु' रहती है । जब लुटेरे वहाँ पहुँचे तो देखा कि वहाँ सोने का बहुत बड़ा ढेर लगा है । लुटेरे उसमें से अधिक से अधिक सोना लेने के लिये झगड़ा करने लगे और लड़ते-लड़ते चारों वहीं गिर कर मर गये ।" सचमुच वह सोना उनके लिये मृत्यु ही सिद्ध हुआ ।

यही हाल उन लालची स्पेन वालों का हुआ । इसके पश्चात् कोलम्बस ने फिर नया इन्तजाम किया और बहुत-सी सामग्री तथा स्वर्ण स्पेन के सम्राट को भेजा । इस प्रकार लाभ होने से वहाँ के अन्य प्रभावशाली लोग अमेरिका के मामले में दिलचस्पी लेने लगे । वहाँ पहुँचने वाले लोगों ने कोलम्बस के विरुद्ध अनेक झूठी-सच्ची शिकायतें लिखकर सम्राट के पास भेजी । इस पर एक सरकारी अधिकारी को अमेरिका भेजा गया । उसने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण कोलम्बस तथा उनके भाई को हथकड़ी-बेडी पहना कर कैदी के रूप मे स्पेन भेजा । जब साम्राज्ञी को इस अन्याय का पता चला तो उसने उसको फिर से सम्मानित करके उसका अपमान करने वालो को दण्ड देने की आज्ञा दी ।

पर अब कोलम्बस कठिन यात्राओं मे परिश्रम करते और कष्ट सहते हुए इतना बीमार और थका हो

गया था कि उसके ज्यादा जीवित रहने की आशा नहीं रही । फिर भी जब तक शक्ति रही वह किसी तरह अमेरिका में नये-नये स्थानों का पता लगाने का प्रयत्न करता रहा । इसी बीच साम्राज्ञी इसाबेला की मृत्यु हो गई और सम्राट फर्डीनैण्ड ने अपने पुराने वचनों के अनुसार उसे बहुत अधिक अधिकार और सम्पत्ति देना पसन्द नहीं किया । इसलिये उसकी खोज के धन से यद्यपि अन्य सैकड़ों लोग धनवान हो गये और कितने ही अमेरिका के विभिन्न भागों के स्वामी बन बैठे, पर कोलम्बस की अन्तिम अवस्था एक सामान्य व्यक्ति के समान ही रही । उसकी मृत्यु के अवसर पर उसके पुत्र ने 'ला रैविडा' मठ के पुजारी फादर पिरेज को जो समाचार भेजा उसमें कहा गया था—

"मेरे पिता को इस बात का अत्यन्त खेद रहा कि वे अपने अन्तिम दिनो मे दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों के कारण आपके दर्शन करने का अवसर प्राप्त न कर सके । उन्होने मुझे आदेश दिया है कि उनके जीवन में जो बाधायें और कष्ट उन्हें सहन करने पड़े मैं उनकी सूचना आपको दे दूँ, क्योंकि अनेक व्यक्ति उनके विरोधी बन गये हैं और इतनी झूठी बाते फैला रहे हैं कि सच्चाई बिल्कुल छिप गई है ।"

"मै भली-भाँति नही कह सकता कि उनके शरीर को कौन-सा रोग लग गया है, लेकिन इतना मुझे अवश्य दिखाई पड़ता है कि उनका हृदय जर्जर हो गया है । उनका बाल्यकाल गरीबी में बीता, अमेरिका की खोज करने पर उनको सर्वोच्च वैभवशाली पद प्रदान किया गया और अब पुनः उनका पराभव आरम्भ हो गया है । सम्राट फर्डीनैण्ड ने शाही मुद्रा द्वारा अंकित जो वचन दिये थे उनकी पूर्ति करना अब उन्हे उचित नहीं प्रतीत होता । राज दरबार में केवल एक साम्राज्ञी ही उनकी शुभाकांक्षिणी थीं, परन्तु अब उनका देहावसान हो चुका है । इसलिये 'एडमिरल' आज पुनः उसी स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं जिसमें वह प्रारम्भ मे थे ।"

इस प्रकार सन् १५०६ में संसार के एक महान अन्वेषक और साहसी व्यक्ति का देहान्त हो गया । यद्यपि उसने अन्य दुनियादार लोगों को इस कार्य में सहायक बनाने के लिये नई दुनिया में मिलने वाले सोने का विशेष रूप से वर्णन किया था, पर हम कोलम्बस के चरित्र का अध्ययन करके कह सकते है कि उसका लक्ष्य सदैव मानवीय-ज्ञान की वृद्धि करना ही रहा । उस समय के धर्माचार्य और 'विद्वान' कहलाने वाले, इस बात पर हँसते थे कि यह पृथ्वी नारंगी की तरह गोल है । यद्यपि उस समय यात्रा के साधन इतने विकसित नही हुए थे और न रास्तों का ही किसी को पता था कि पूरी पृथ्वी का चक्कर लगाया जा सके, तो भी कोलम्बस ने यूरोप से अमेरिका तक पहुँच कर इस सम्बन्ध में बहुत कुछ सफलता प्राप्त कर ली ।

महापुरुषों का प्रायः यही परिणाम हुआ है कि उन्होंने परिश्रम करके तथा अपने अस्तित्व को संकट में डालकर जो सफलतायें प्राप्त की हैं उनका लाभ प्रायः ऐसे लोगों ने उठाया है, जिनका उससे कभी कोई सम्बन्ध नही रहा । बात यही होती है कि उनका ध्यान तो मुख्यतः ज्ञान की खोज मे लगा रहता है, और दूसरे 'रुपया' की खोज करते रहने वाले मौका सामने आते ही चम्पट कमाई करने को बीच मे कूद पड़ते हैं पर जो सच्चे ज्ञानाभिलाषी और लोक-कल्याण की भावना वाले होते है, वे इस प्रकार की बनिया-बुद्धि से काम नही करते । कोलम्बस ने मृत्यु-काल आने पर अन्तिम क्षण में यही कहा—"मै महापुरुष नही हूँ, मैंने तो द्वार खोला है जिससे लोग उसमे प्रवेश करके अग्रसर हो सकें ।"

## निष्काम कर्म की महत्ता

जिस कोलम्बस ने अपने प्राणों की बाजी लगा कर नई दुनिया का मार्ग खोला और मानव-जाति की प्रगति का एक बहुत बड़ा साधन उत्पन्न कर दिया, उसके साथ अधिकार सम्पन्न व्यक्तियों ने जो अभद्रता का व्यवहार किया वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है । 'बड़े' कहलाने वालों की मनोवृत्ति प्रायः यही होती है कि 'लाभ' का सबसे बड़ा अंश उन्हीं को मिले । वर्तमान समय में भी जिस स्टीवेन्सन ने रेल का, 'राइट बन्धुओं' ने हवाई जहाज का और ऐडीसन ने चलचित्र (सिनेमा) का अविष्कार किया, वे साधारण स्थिति में ही रहकर परलोकगामी हो गये, पर दूसरे लोगों ने उनका व्यापार के रूप में प्रयोग करके करोड़ो और अरबों की सम्पत्ति इकट्ठी कर ली और उसके जोर से दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाने का प्रयत्न करने लगे ।

अमेरिका की खोज के पश्चात् स्पेन के धनी लोग और सरदार तथा इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि के व्यवसायी सोने के लालच से उस तरफ दौड़ पड़े। इन सबने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये केवल छीना-झपटी का ही आश्रय नहीं लिया वरन् उस महाद्वीप के मूल निवासियों के साथ ऐसा पैशाचिक व्यवहार किया कि एक प्रकार से उनका मूलोच्छेद ही हो गया। खासकर स्पेन वालों ने साम्राज्य की लालसा से दक्षिणी अमेरिका के कितने ही देशों के निवासियों और उनकी सभ्यता को जड़मूल से नष्ट कर डाला। वर्तमान समय की खोजों से वहाँ की जिस 'मय' सभ्यता का पता चला है वह अधिकांश में भारतीय धर्म और संस्कृति के अनुरूप थी और इतिहासज्ञों के मत से किसी समय भारतवासियों ने ही वहाँ पहुँचकर उसकी स्थापना की थी। अब भी उसके नगरों और पूजा स्थलों के खण्डहर खोज करने वालों को आश्चर्य चकित करते रहते हैं। पर वे लोग भारतवासियों की तरह ही धर्म-मार्ग पर चलने वाले और परोपकारी मनोवृत्ति के थे। स्पेन वाले पहले तो एक मित्र के रूप में ही वहाँ जाकर ठहरे पर मौका लगने पर उन्होंने छल-कपट की नीति से काम लिया और मूल निवासियों को मार-काट कर उनके देश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

यद्यपि स्पेन के लुटेरे दक्षिणी अमेरिका के विभिन्न प्रदेशों से वहाँ के सरदारों के घरों और खासकर मन्दिरों से सुवर्ण अलंकारों को लूट करके हजारों मन सोना जहाजों में भरकर उसी प्रकार ले गये, जिस प्रकार भारत पर आक्रमण करने वाला महमूद गजनवी १७ बार सिन्ध, गुजरात, राजस्थान, पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मन्दिरों को लूटकर रत्न, स्वर्ण, चाँदी आदि के ढेर ऊँटों पर लाद कर ले गया था। पर ऐसे अत्याचारी लुटेरे कभी फलते-फूलते नहीं। महमूद गजनवी मरते समय अपनी सम्पत्ति को देखकर रोता ही रहा। इसी प्रकार स्पेन वालों ने जो धन और स्वर्ण लूटा उसके कारण न मालूम उसी समय आपस में कितने खून और हत्यायें हुईं और उस धन को ऐसी-ऐसी जगह छिपाया गया, जहाँ से बड़ी-बड़ी कोशिशें करने पर भी आज तक उसका पता नहीं लगाया जा सका है।

अपहरण की यह मनोवृत्ति आज पहले से अधिक बढ़ी हुई है, केवल उसने सभ्यता और शिष्टता का आवरण ओढ़ लिया है, जिससे उसकी भयंकरता और जघन्यता ढक गई है। आज भी सच्चे कार्यकर्ताओं का सत्व चालाक और साधन सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा अपहृत किया जा रहा है। जिस प्रकार कोलम्बस को मरते समय अपने पुत्र डीगो से कहना पड़ा—"मेरे गरीब बेटे! तुम्हारे लिये मैंने क्या-क्या आशाये बाँधी थीं लेकिन मैं इतनी बुरी तरह असफल हुआ हूँ।" उसी प्रकार आज भी लोकोपकार का कार्य करने वालों को अपने व्यक्तिगत हित की दृष्टि से प्रायः असफल होना ही पड़ता है। पर ऐसी असफलता निष्काम कर्म के अनुयायियों की दृष्टि में तुच्छ ही होती है, क्योंकि वे उस 'अमृतमय पद' को सदा सामने देखते रहते हैं।

ꕥ ꕥ ꕥ

# || सेवा धर्म के सच्चे उपासक ||

# समाज-सेवा के तेजस्वी ऋत्विज श्री गोपालकृष्ण गोखले

धर्म के अनेक रूप है । जप, तप, उपासना, कर्मकाण्ड—ये सब धर्म के प्रमुख अंग हैं, जिनका पालन भारतीय धर्मानुयायी ही नहीं, संसार की सभी सभ्य जातियों के व्यक्ति अपने-अपने ढंग से करते हैं । मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिये साधन स्वरूप ये महत्वपूर्ण भी हैं । इनके द्वारा मन की एकाग्रता, ईश्वर पर विश्वास, हृदय की शुद्धता आदि गुणों की प्राप्ति होती है । आगे चल कर इसके परिणामस्वरूप और भी ऐसी अनेक सत्-प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं जिससे मनुष्य की वाह्य और अन्तरंग उन्नति में सहयोग मिलता है । ये सब गुण मनुष्य को ऊँचा उठाने में सांसारिक सफलता और प्रतिष्ठा दिलाने में सहायक अवश्य होते हैं, पर ये उसको अध्यात्म के वास्तविक लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकते । इसका कारण यह है कि ये मस्तिष्क या बुद्धि के क्षेत्र तक ही रह जाते हैं । इन सब गुणों से युक्त मनुष्य स्वार्थी भी हो सकता है । चाहे वह लोक-कथा के अनुसार कुछ दान-दक्षिणा भी दिया करता हो, अपने धन का कुछ अंश सार्वजनिक कार्यों मे लगाया करता हो, पर उसका मुख्य लक्ष्य अपनी तथा अपने परिवार की सुख-समृद्धि की वृद्धि करना ही रहता है । ऐसे व्यक्ति को हम सज्जन, समाज का उपयोगी सदस्य कह सकते है, वर्तमान समय की मान्यता के अनुसार उसे धार्मिक भी कहा जा सकता है, पर आध्यात्मिक दृष्टि से उसको विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता ।

वास्तव मे अध्यात्म शरीर, मन और बुद्धि के क्षेत्र की चीज नहीं वरन् उसका विशेष सम्बन्ध भावना-क्षेत्र से है । आजकल यूरोप, अमेरिका के भौतिकवादी समाजों मे अधिकांश व्यक्ति ऐसे हैं जिन्होंने शरीर, मन और बुद्धि की दृष्टि से अच्छी प्रगति प्राप्त कर ली है, पर उनके सभी काम अपने और निकटवर्ती लोगों की सुख-सुविधा की दृष्टि से किये जाते हैं । ऐसे लोग अपने से भिन्न श्रेणी वालों अथवा अन्य देश के निवासियों को सर्वथा गैर समझते हैं और उनके साथ कैसा भी व्यवहार करने में कोई बुराई नहीं मानते । पर एक सच्चा अध्यात्मवादी ऐसा आचरण कभी नहीं करता । वह सभी प्राणियों को एक अदृश्य सूत्र में आवद्ध समझता है और सबके हित में अपना हित अनुभव करता है । ऐसे व्यक्ति दूसरो की पीड़ा अथवा दु:ख देखते ही व्यथित हो जाते हैं और उनसे जितना वन पड़ता है उसे दूर करने का प्रयत्न करते है । इस प्रकार की भावना वाले व्यक्ति ही सेवा-धर्म के अनुयायी हो सकते हैं और उन्हीं से अन्य अनेक व्यक्तियों, प्राणियो का हित-साधन होता है । वे अपने दु:ख-सुख, हानि-लाभ की उतनी चिन्ता नही रखते जितनी दूसरो के कष्टों और कठिनाइयों की । वे चाहे मन्दिर में बैठ कर ज्यादा-भजन-पूजन न करते हो, चाहे कभी भगवान के नाम की माला भी न फेरते हो, पर वे वास्तव में प्रभु के प्यारे होते है ।

श्री गोपालकृष्ण गोखले (जन्म सन् १८६६) सच्चे अर्थों में सेवा-धर्म के व्रती थे । एक गरीब घर में उत्पन्न होकर भी अपनी कर्मठता और परिश्रम के बल पर भारत की सर्वोच्च शासन-सभा के सदस्य के दर्जे तक पहुँच गये थे, पर उन्होंने अपनी उपलब्धियो का उपयोग सदैव पास और दूर के कष्ट पीडित लोगो की सहायतार्थ ही किया । यदि कोई अन्य दुनियादार मनुष्य ऐसी पदवी को प्राप्त कर लेता तो सबसे पहले अपने और अपने उत्तराधिकारियों के लिये कोठी और महल

खड़े करने तथा भविष्य के लिये एक वड़ी धनराशि इकट्ठी करने का ही उद्योग करता, पर श्री गोखले जीवन के अन्तिम समय तक एक मामूली घर में ही गुजारा करते रहे और इस लोक से विदा होते समय परिवार वालों के लिये नाममात्र को ही सम्पत्ति छोड़ गये ।

## आर्थिक कठिनाई में विद्याभ्यास

उनमें यह भावना आरम्भ से ही पाई जाती थी । उनके पिता की आर्थिक स्थिति उनको उच्च शिक्षा दिलाने लायक नहीं थी । फिर जिस समय श्री गोखले की आयु १२ वर्ष की थी तभी उनका देहान्त हो गया । इसलिये वे जो कुछ शिक्षा प्राप्त कर सके वह अपने भाई की सहायता से ही सम्भव हो सकी । उनके भाई भी पन्द्रह-बीस रुपये मासिक की एक साधारण नौकरी करते थे, पर वे भविष्य की आशा से अपना पेट काटकर गोपालकृष्ण को पढ़ाते रहे । यद्यपि वे कॉलेज में अपनी प्रतिभा का कोई विशेष परिचय न दे सके, तो भी प्रतिवर्ष उत्तीर्ण होते हुए सन् १८८४ में उन्होंने वी. ए. पास कर लिया ।

उन दिनों अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार आरम्भ ही हुआ था और वी. ए. हो जाना एक बहुत बड़ी बात समझी जाती थी । इसलिये इनके पास हो जाने पर उनके घर वालों को आशा हुई कि अब गोपालकृष्ण किसी अच्छी नौकरी से लग जायें और घर की आर्थिक अवस्था सुधर जायेगी । उनमें से किसी ने उनको इंजीनियरिंग की और किसी ने वकालत की शिक्षा प्राप्त करने की सलाह दी । कुछ दिन के लिये वे इंजीनियरिंग कॉलेज में गये भी और कुछ दिन कानून की आरम्भिक पुस्तकों का अध्ययन भी किया । पर इनमें से किसी ने उनके हृदय में उत्साह उत्पन्न नही किया । कई मित्रों ने उनको यह सलाह भी दी कि वे आई. सी. एस की परीक्षा में सम्मिलित होकर शासन विभाग में जाने की कोशिश करे । इसमें सन्देह नहीं कि उनमें इतनी परिश्रमशीलता और सलग्नता का गुण था कि वे इनमे से जिस किसी विभाग मे जाते उसी में सफलता प्राप्त करके ऊँचे से ऊँचे दर्जे तक पहुँच सकते थे ।

पर प्रकृति ने श्री गोखले को इंजीनियर, वकील, जज अथवा कलेक्टर, कमिश्नर होने को नहीं बनाया था वरन् देश के भाग्य ने उनको ऐसा इंजीनियर बनने को भेजा था जिसकी प्रेमपूर्ण देख-रेख में भारतवर्ष की उन्नति के प्रासाद का निर्माण किया जाये । उनको ऐसा वकील बनना था जो भारत, इंग्लैण्ड की और दक्षिण अफ्रीका की जनता, लेजिस्लेटिव कॉउन्सिल और पार्लियामेन्ट के सामने पैरवी कर सके । यह एक दैवी विधान ही था जिसने गोखले को एक "इण्डियन सिविल सर्वेण्ट" (आई. सी. एस.) बनने के बजाय बिना कौडी-पैसे का 'भारत-सेवक' बना दिया ।

## दक्षिण एजूकेशन सोसाइटी में प्रवेश

श्री गोखले जब तक कॉलेज में पढ़ते थे तब तक सार्वजनिक-जीवन की तरफ उनका विशेष झुकाव देखने में नही आया । उस समय वे एक विद्यार्थी की हैसियत से अपना सारा ध्यान पढ़ाई की तरफ ही लगाये हुए थे । जैसा हम ऊपर कह चुके हैं कि वे पढ़ने में बहुत तेज अथवा विलक्षण प्रतिभाशाली नहीं थे, इसलिये उन्होंने अपना ध्यान तत्कालीन लक्ष्य पर ही केन्द्रित रखा और बी. ए. की परीक्षा द्वितीय श्रेणी मे पास की । पर उनके हृदय में समाज-सेवा का जो बीज विद्यमान था वह उनको किसी लोकोपकारी कार्य मे भाग लेने की प्रेरणा भर रहा था और इसके फलस्वरूप लाभदायक सरकारी नौकरियों का मोह त्यागकर वे पूना के 'न्यू इग्लिश स्कूल' मे ७५ रु. मासिक के अध्यापक बन गये । उस समय सरकार की तरफ से शिक्षा-प्रचार की व्यवस्था बहुत कम थी और वह भी निजी स्वार्थ के दृष्टिकोण से निर्धारित की जाती थी । इसलिये देशभक्तों की यह आकांक्षा थी कि भारतीय युवकों मे शिक्षा-प्रचार का कार्य राष्ट्रीय-भावना के लक्ष्य को सिद्ध करने के लिये किया जाये । इन उत्साही विचारकों में से दो प्रमुख विचारक श्री बालगगाधर तिलक और श्री जी. जी. आगरकर थे । इन दोनों ने अपने कॉलेज जीवन मे ही यह योजना बनाई थी और जब वे विश्वविद्यालय की पढ़ाई समाप्त करके बाहर निकले तो इसे कार्य रूप मे परिणत करने की चेष्टा करने लगे । अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे मराठी के प्रसिद्ध लेखक श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर से मिले और उनके सहयोग से उन्होने 'न्यू इंग्लिश स्कूल' की स्थापना की ।

श्री चिपलूणकर तो इस स्कूल के खुलने के बहुत थोड़े समय बाद ही स्वर्गवासी हो गये, पर इस कार्य की महत्ता को समझकर अन्य कितने ही सुयोग्य कार्यकर्ता उसमें भाग लेने लग गये और कुछ ही समय मे उसने

इतनी सफलता प्राप्त कर ली जिसकी आशा नहीं थी । इससे उत्साहित होकर उन्होंने स्कूल को 'फर्ग्युसन कॉलेज' के रूप में परिवर्तित करने और उसकी व्यवस्था के लिये 'दक्षिण एजूकेशन सोसाइटी' स्थापित करने का निश्चय किया और उसमें भाग लेने के लिये समाजसेवी उत्साही युवकों का आह्वान किया गया । यह तो हम नहीं कह सकते कि श्री गोखले का प्रथम परिचय सोसाइटी के संचालकों से कैसे हुआ ? पर सन् १८८५ में वे इस संस्था में सम्मिलित हो गये और इसके साथ ही उनकी धन कमाने अथवा 'बड़े' आदमी बनने की समस्त सम्भावनाओं का अन्त हो गया । यह निर्णय एक ऐसे नवयुवक के लिये जिसने बड़ी कठिनाइयों से विद्या पढ़ी हो और जिसके घर वाले यह आशा लगाये हों कि जब ये कमाने लगेंगे तो हमारी अब तक की तमाम कठिनाइयों का अन्त हो जायेगा, निःसन्देह ही एक बड़े त्याग और बलिदान के तुल्य था, क्योंकि इसमें उनको ७५ रु. मात्र निर्वाह के लिये मिलते थे ।

इस संस्था में जितने लोग सम्मिलित हुए वे सब इतनी योग्यता वाले थे कि अगर सरकारी नौकरी या किसी अन्य स्वतन्त्र रोजगार में लगते तो बहुत धन और पदवी प्राप्त कर सकते थे । इस संस्था के प्रत्येक जीवन-सदस्य ने बीस साल तक सेवा करने की प्रतिज्ञा की थी । यद्यपि अन्य कई सदस्य परिस्थितियों वश इस प्रतिज्ञा को पूरी नहीं कर सके, पर श्री गोखले प्रान्तीय और केन्द्रीय कॉउन्सिलों के सदस्य निर्वाचित कर लिये जाने के बाद भी इस कार्य को यथाशक्ति करते रहे और उन्होंने कॉलेज को सन् १९०४ में सम्मानपूर्वक छोड़ा । कॉलेज में यद्यपि उनको मुख्यतया अंग्रेजी का प्रोफेसर नियुक्त किया गया था, पर आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने कई वर्ष तक गणित, इतिहास, अर्थशास्त्र का अध्यापन भी किया । यद्यपि स्कूल में पढ़ते समय वे गणित में कोई विशेषता नहीं रखते थे, पर जब उनको अपने कॉलेज में गणित पढ़ाने का काम करना पड़ा तो उन्होंने निजी तौर पर अध्ययन करके इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि 'अर्थमेटिक' की एक बहुत बढ़िया पुस्तक लिखकर तैयार कर दी जो समस्त महाराष्ट्र के स्कूलों में ऐसी पसन्द की गई कि उसके पचासों संस्करण छप गये और लाखों कापियाँ बिक गईं ।

गणित के अध्ययन से श्री गोखले को यह लाभ हुआ कि अपने राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन में उन्होंने जो भाषण दिये उनमें प्रत्येक विषय के आँकड़े इतने प्रामाणिक ढंग से और स्पष्ट रूप में दिये जाते थे कि उनको कोई काट नहीं सकता था । इसी कारण गवर्नर जनरल की कॉउन्सिल में उनके 'बजट' सम्बन्धी भाषण बड़े महत्त्व की निगाह से देखे जाते थे और अंग्रेज अधिकारी भी उनका उत्तर देने में घबराते थे । एक बार लार्ड किचनर ने, जो उस समय भारत के प्रधान सेनापति थे, उनसे निजी तौर पर पूछा कि वे 'बजट' के भाषण में फौजी खर्च के सम्बन्ध में किन मुख्य बातों पर ऐतराज उठाना चाहते हैं ? लार्ड किचनर एक 'सिपाही' थे और कॉउन्सिलों में वाद-विवाद करने का उनको ज्यादा अभ्यास नहीं था । इसलिये वे पहले से ही श्री गोखले के ऐतराजों को जान लेना चाहते थे जिससे समय रहते अपने सेक्रेटरियों से उनका समाधानकारक उत्तर तैयार करा सकें ।

## शिक्षा-प्रचार में सहयोग

श्री गोखले केवल कॉलेज में विद्यार्थियों को पढ़ाने का ही काम नहीं करते थे, वरन् समस्त कॉलेज और 'दक्षिण एजूकेशन सोसाइटी' की व्यवस्था में भी उनको बहुत ध्यान देना पड़ता था । श्री तिलक और नाम जोशी आदि कई सदस्य सन् १८९० में ही कुछ मतभेदों के कारण संस्था से पृथक् हो गये थे और उसके पश्चात् उसका अधिक भार श्री गोखले को ही उठाना पड़ा । सन् १८९२ में कॉलेज की नई इमारत का निर्माण आरम्भ हुआ तो उसके लिये चन्दा इकट्ठा करने का काम भी इनको ही करना पड़ा । वे चार-पाँच दिन तो कॉलेज में पढ़ाते थे और सप्ताह के अन्त में प्रचार के लिये बम्बई या अन्य नगरों में चले जाते थे । परिणाम यह हुआ कि सन् १८९५ में जब इमारत बनकर पूरी हुई तो उस पर एक पैसा भी किसी को देने का शेष नहीं था । इस कार्य में श्री गोखले को बहुत अधिक अतिरिक्त परिश्रम करना पड़ा, पर उनकी योग्यता और ईमानदारी की लोगों पर ऐसी छाप पड़ गई कि आगे चलकर दक्षिण अफ्रीका के लिये और अन्य सार्वजनिक कार्यों के लिये धन संग्रह करने में उनको कोई कठिनाई नहीं हुई ।

अपने विद्यार्थियों के साथ श्री गोखले का व्यवहार बड़ी सहानुभूति और स्पष्टता का रहता था । वे उनको इस बात के लिये उत्साहित करते थे कि विद्यार्थीगण अपनी आवश्यकताओं और कठिनाइयों को उनसे साफ-साफ कहें । वे निजी तौर पर भी विद्यार्थियों की जो कुछ सहायता सम्भव हो सकती थी उसे करने को तैयार रहते थे । इसका परिणाम यह हुआ कि उनके विद्यार्थियों में से बहुसंख्यक आगे चलकर सार्वजनिक जीवन में भी उनके सहयोगी बने रहे । उन्होंने अनेक होनहार और प्रतिभाशाली युवकों को प्रेरणा देकर 'दक्षिण एजूकेशन सोसाइटी' का जीवन-सदस्य बनाया और उनको देश-सेवा के मार्ग पर लगाया । वे इस काम को बिना किसी प्रकार का अनुचित दवाव डाले अथवा इधर-उधर की बातों से किसी को बहकाये बिना खूब समझा-बुझाकर करते थे । इससे 'सोसाइटी' को सुयोग्य कार्यकर्ता मिलते रहे और 'फर्ग्युसन कॉलेज' देश की एक प्रसिद्ध शिक्षा-संस्था बन गया जो अभी तक सुदृढ़ आधार पर शिक्षा-प्रचार का काम करता जा रहा है ।

शिक्षा-प्रचार के कार्य से श्री गोखले को इतना अनुराग था कि पूना की प्रायः सभी शिक्षा-संस्थाओं को वे किसी न किसी रूप में सहयोग देते रहते थे । अपने इसी गुण के कारण उनको 'ग्रेजुएटों' की तरफ से १८९५ में ही बम्बई विश्वविद्यालय के "फैलो" चुना गया और वे अपने जीवन के अन्तिम समय तक उस उत्तरदायित्व का निर्वाह परिश्रमपूर्वक करते रहे । वे सीनेट के भी सदस्य चुने गये और जब अवसर पाते थे तो अवश्य वहाँ जाकर शिक्षा सम्बन्धी सुधारों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव देते थे । वे बहुत वर्षों तक विश्वविद्यालय में अंग्रेजी और इतिहास के परीक्षक भी रहे थे ।

जिस समय लार्ड कर्जन इस देश के गवर्नर जनरल थे, उनकी सदैव यही चेष्टा रहती थी कि जहाँ तक सम्भव हो भारतवासियों को कम से कम अधिकार दिये जायें । इतना ही नहीं वे अब तक मिले हुए अधिकारों को भी कम करने का प्रयत्न करते रहते थे । उन्होंने एक यूनीवर्सिटी कमीशन कायम किया और उसकी रिपोर्ट के आधार पर एक नया कानून कौंन्सिल में पेश कराया, जिसका मूल उद्देश्य विश्वविद्यालयों के प्रवन्ध में से 'फैलो' गण का जोर कम करना और विश्वविद्यालयों की व्यवस्था मुख्यतया सरकार के ही हाथ में देना था । श्री गोखले ने इस बिल का बड़े जोर-शोर से विरोध किया और अपनी शिक्षा सम्बन्धी जानकारी के आधार पर सरकारी दलीलों का अच्छी तरह खण्डन कर दिया । सरकार ने अपना उद्देश्य यह बतलाया कि शिक्षा का स्तर ऊँचा किया जाये, चाहे इसके परिणाम स्वरूप छात्रों की संख्या घट क्यो न जाये । इस विषय में बहस करते हुए श्री गोखले ने कहा—

"शिक्षा के स्तर को उच्च बनाना बहुत आवश्यक और लाभकारी है, पर इस सम्बन्ध में कोई ऐसे नियम बनाना जिससे छात्रों की संख्या घटे ठीक न होगा । भारतवर्ष की इस समय जैसी स्थिति है, उसमें सब प्रकार का आधुनिक शिक्षण लाभदायक ही सिद्ध होगा, चाहे वह कुछ हल्के स्तर का ही क्यों न हो । मेरा विश्वास है कि हमारा सार्वजनिक जीवन, वह चाहे *राजनीतिक, सामाजिक, औद्योगिक अथवा शैक्षणिक*— किसी भी क्षेत्र से सम्बन्धित क्यों न हो, सब एक ही उद्देश्य पर केन्द्रित होता है । किसी एक विशेष क्षेत्र में तब तक अधिक उन्नति करने का कोई महत्त्व नही जब तक कि भारतीय-जनता सब क्षेत्रों में समान रूप से आगे न बढ़े । मैं कहना चाहता हूँ कि इस समय भारतवर्ष में पश्चिमी शिक्षा का उद्देश्य केवल साहित्यिक ज्ञान को प्रोत्साहन देना नहीं है, वरन् यहाँ निवासियो के मस्तिष्को में भरे समय के प्रतिकूल पुराने विचारों को निकालना और उनके स्थान पर पश्चिमी जगत के जीवन मे जो कुछ उच्च और श्रेष्ठ है, उसे सम्मिलित करना है । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये केवल उच्चस्तर की शिक्षा का ही फैलाया जाना आवश्यक नहीं है, वरन् साधारण स्तर की शिक्षा भी अधिक से अधिक फैलाई जानी चाहिये ।"

## पत्र-सम्पादन और समाज-सुधार

समाज-सुधार के सम्बन्ध में भी श्री गोखले के विचार आरम्भ से ही प्रगतिशील थे और जब सन् १८८६ मे श्री आगरकर ने 'सुधारक' नाम का पत्र मराठी और अंग्रेजी में निकाला तो श्री गोखले भी उसमे शामिल हो गये । इसमें मराठी वाला भाग श्री आगरकर लिखते थे और अंग्रेजी वाला श्री गोखले । वैसे वे मराठी के भी बहुत अच्छे लेखक थे और उन्होंने किसी समय तरंग उठने पर शिवाजी के सम्बन्ध मे एक

मनोरंजक उपन्यास लिखा था, पर अधिकांश में उनके सभी लेख और भाषण अंग्रेजी में ही लिखे जाते थे। 'सुधारक' के लेखों में प्रायः भारतीय समाज मे फैले हुए दोषों पर प्रकाश डाला जाता था और उनको दूर करने पर जोर दिया जाता था। जिस प्रकार अनेक राजनीतिज्ञ लोकप्रियता प्राप्त करने के उद्देश्य से जनता की प्रायः प्रशंसा ही किया करते हैं और उनके समस्त कष्टों और कठिनाइयों का दोषारोपण सरकार पर किया करते हैं वह नीति 'सुधारक' की नहीं थी। तो भी जनता में इस पत्र का अच्छा प्रचार हुआ और प्रथम वर्ष में ही वह स्वावलम्बी बन गया। पर श्री गोखले पर शिक्षा-संस्थाओं तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों का भार इतना अधिक था कि वे इस कार्य में अधिक समय नहीं दे सकते थे और तीन-चार वर्ष बाद उन्होंने 'सुधारक' का सम्पादन कार्य छोड़ दिया। वैसे उनको अखबारों के पढ़ने का बहुत अधिक शौक था और कभी-कभी वे किसी अंग्रेजी मासिक पत्र में एकाध लेख भी दे देते थे, पर समयाभाव से वे इस दिशा में अधिक प्रगति नहीं कर सके।

समाज-सुधार के कार्य मे यद्यपि श्री गोखले कभी अग्रणी नहीं बने, तो भी उनकी सहानुभूति सदा इस प्रकार के कार्यों से बनी रही। उनका ध्यान सबसे अधिक अछूतों और दलित जातियों के साथ किये जाने वाले अन्याय-युक्त व्यवहार की तरफ जाता था। इस सम्बन्ध मे उनकी भावनायें बड़ी प्रबल थी और वे कहते थे कि "एक तरफ तो हम दक्षिण अफ्रीका के गोरों द्वारा भारतवासियो के साथ भेदभावपूर्ण ओछा व्यवहार करने की शिकायत करते हैं, अपने शासकों के सामने 'समानता' का अधिकार दिये जाने का दावा पेश करते हैं और दूसरी तरफ अपने ही समाज के एक बड़े अग—'अछूतो' के साथ इस प्रकार का अमानवीय तथा गर्हित व्यवहार करते है, तो हमारी बात का क्या महत्त्व हो सकता है ?"

इसी प्रकार जब पूना मे कुछ ब्राह्मण जातीय व्यक्तियों ने एक ईसाई मिशन के उत्सव मे चाय पी ली और पुराणपंथी लोगों ने इसके खिलाफ जाति-बहिष्कार का शोर मचाया तो श्री गोखले ने उसकी तरफ जरा भी ध्यान नहीं दिया। इतना ही नहीं, जब इसी घटना के फलस्वरूप श्री रानाडे, कुछ मित्रों के दबाव मे आकर प्रायश्चित करने को तैयार हो गये, तो श्री गोखले ने उनको ऐसा न करने के लिये समझाया और कहा कि उनके प्रायश्चित करने का प्रभाव समाज-सुधार के कार्य के लिये हानिकारक होगा। पर उनके ऊपर राजनीतिक और शिक्षा सम्बन्धी कार्यों का भार सदैव इतना अधिक रहा कि वे समाज-सुधार के कार्यों मे क्रियात्मक भाग बहुत थोड़ा ही ले सके।

## सार्वजनिक सभा और श्री रानाडे से सम्पर्क

सच्चे अर्थों में श्री गोखले का राजनीतिक जीवन 'सार्वजनिक सभा' मे सम्मिलित होने के पश्चात् आरम्भ हुआ। इस संस्था के मुख्य संचालक और मार्ग-दर्शक श्री रानाडे थे, यद्यपि सरकारी नौकर होने के कारण वे उसमें खुलकर भाग नहीं लेते थे। जब प्रथम बार कुछ लोगों ने श्री रानाडे से गोखले को सभा का मन्त्री बनाने का प्रस्ताव किया तो उन्होंने परीक्षा के तौर पर उनको एक सरकारी रिपोर्ट देकर उसका सारांश एक लेख के रूप में तैयार करने को कहा। जब श्री गोखले का लेख उनको पसन्द आ गया तो वे सभा का कार्य करने लगे और उन्होंने तीन-चार साल तक उसका संचालन ऐसी योग्यता से किया कि अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों की उसके द्वारा पूर्ति हो सकी।

इस सभा का मुख्य कार्य सार्वजनिक हित की सरकारी योजनाओ के सम्बन्ध में जनता का मत प्रकट करना था। इसके लिये इसकी तरफ से बहुत विचारपूर्ण और गम्भीर 'मेमोरियल' (स्मरण-पत्र) तैयार करके सरकारी अधिकारियो के पास भेजे जाते थे। यद्यपि इनकी प्रेरणा देने वाले श्री रानाडे ही थे पर समस्त कार्य श्री गोखले को ही करना पड़ता था। यह समय उनके जीवन मे एक प्रकार से 'राजनीतिक प्रशिक्षण' प्राप्त करने का था। इसी कार्य को करते हुए उनको सार्वजनिक प्रश्नो पर सब पहलुओ से विचार करके ठीक-ठीक निष्कर्ष निकालने की आदत पड़ी। साथ ही श्री रानाडे जैसे अनुभवी और उदार विचारों के व्यक्ति से मार्ग-दर्शन प्राप्त करने का सुयोग भी था। इससे उनको यह अनुभव हुआ कि सार्वजनिक कार्यों मे केवल 'गर्मागर्म और जोरदार' भाषण करने से कोई भी शेष लाभ प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि वह ठोस आधार और तथ्यों पर आधारित न हो। श्री गोखले

सरकार के पास जितने 'स्मरण-पत्र' भेजते थे वे इतने गम्भीर और साथ ही संयत भाषा मे लिखे होते थे कि सरकारी अधिकारी उन पर पूरा ध्यान देते थे और उत्तर में लम्बे-लम्बे पत्र लिखकर भेजते थे । इस प्रकार श्री गोखले अनेक जन-हितकारी कार्यों की पूर्ति करा सकें और आगे चलकर बड़े-बड़े कार्यों को कर सकने का अनुभव प्राप्त हो सका ।

सन् १८९६ में इंग्लैण्ड की सरकार ने एक कमीशन इसलिये नियत किया कि वह भारतवर्ष की आर्थिक-व्यवस्था के सम्बन्ध में आवश्यक सुधारों पर विचार करे और साथ ही यह भी जाँच करे कि क्या इस समय भारत को कुछ ऐसे खर्च भी करने पड़ रहे हैं, जो वास्तव में इंग्लैण्ड की सरकार को करने चाहिये ? 'दक्षिण सभा' की तरफ से श्री गोखले को इस कमीशन के सामने गवाही देने इंग्लैण्ड भेजा गया और उनकी गवाही भारतीय दृष्टिकोण से बहुत महत्त्वपूर्ण समझी गई । उन्होंने अपना बयान ऐसे ठोस आधार पर और सही आँकड़ों के साथ तैयार किया था कि जब कमीशन के सदस्यों ने उनसे जिरह की तो उन्होंने सब प्रश्नों के उत्तर बड़ी योग्यतापूर्वक दिये । यद्यपि इस कमीशन की रिपोर्ट दो वर्ष बाद प्रकाशित हुई जिससे जनता को उसके विषय में कोई उत्साह न रहा, पर उस अवसर पर श्री गोखले ने जो कार्य किया वह लोगों को बहुत समय तक याद बना रहा ।

## पूना के उपद्रव और श्री गोखले की क्षमा प्रार्थना

जिस समय श्री गोखले इंग्लैण्ड में कमीशन के सामने गवाही दे रहे थे उसी समय पूना में प्लेग की महामारी फैली और उसके कारण नगर में इतनी अधिक हलचल मच गई जिसने एक बड़े उपद्रव का रूप धारण कर लिया । इन उपद्रवों मे किसी उग्र क्रांतिवादी ने दो अंग्रेज अफसरों को गोली से मार दिया । इस घटना से इंग्लैण्ड में भी बड़ी सनसनी फैल गई और वहाँ के अखबार भारत में कड़े से कड़े दमनकारी उपायो से काम लेने का आन्दोलन उठाने लगे । श्री गोखले के मित्र उनको प्रत्येक सप्ताह पत्र भेजते रहते थे जिनमें उपद्रव सम्बन्धी खबरें और बाजार की अफवाहों का भी समावेश रहता था और उन पत्रों से श्री गोखले को यह जान पड़ा कि प्लेग के सम्बन्ध में काम करने वाले यूरोपियन सिपाहियों के आपत्तिजनक व्यवहार से उपद्रव विशेष रूप से भड़के थे । उन्होंने यह बात अपने एक भाषण में प्रकट भी कर दी ।

जब वे भारत लौट कर आये और उनसे यूरोपियन सिपाहियों के सम्बन्ध में किये गये आक्षेपों का प्रमाण माँगा गया तो उनको मालूम हुआ कि उनके मित्रों ने जो बातें लिखीं थीं उनमें अतिशयोक्ति थी । अब वे मित्र भी सामने आने से इन्कार कर रहे थे । यद्यपि इस विषय में यूरोपियन सिपाहियों द्वारा कानूनी कार्यवाही किये जाने की जरा भी सम्भावना न थी तो भी श्री गोखले ने नैतिक दृष्टि से अपनी भूल स्वीकार करके उसके लिये क्षमा माँग ली । उनके कुछ विरोधियों ने इस बात को लेकर बड़ा शोर मचाया और उनके कार्य को भारतीय जनता के विरुद्ध बतलाकर तरह-तरह के आक्षेप किये । यह एक ऐसी घटना थी जिससे उनका सार्वजनिक जीवन सदा के लिये समाप्त हो सकता था, पर उन्होंने जो कुछ किया ईमानदारी और सच्चाई की भावना से था इसलिये वे शान्त बने रहे और कुछ समय बाद लोगों ने भी वास्तविक तथ्य को समझ कर इस घटना को भुला दिया ।

इतना ही नहीं कुछ समय पश्चात् श्री गोखले ने प्लेग पीड़ितों की सहायतार्थ एक स्वयंसेवक दल संगठित किया और उनके साथ स्वयं जाकर सैकड़ों असहाय व्यक्तियों की प्राण रक्षा की । सरकारी अधिकारियों ने भी उनके इस कार्य की बड़ी प्रशंसा की और एक वर्ष बाद जब प्लेग की बीमारी और उसके निवारण के उपायो पर विचार करने को एक कमीशन बैठाया गया तो श्री गोखले को भी उसका सदस्य नियत किया गया । प्लेग-सम्बन्धी इस तमाम मामले में श्री गोखले का जो भाग रहा उस पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि विवादग्रस्त सार्वजनिक विषयो के सम्बन्ध में कोई भी मत बहुत सोच-विचार कर और जाँच करके ही प्रकट करना चाहिये और आवश्यकता पड़े तो सत्य की रक्षा के लिये अपनी भूल को स्वीकार कर लेने में हिचकिचाना नहीं चाहिये । इससे थोड़ी-बहुत सामयिक हानि हो सकती है, पर 'साँच को आँच कहाँ' के अनुसार अन्त में लोग उसके महत्त्व को समझते और स्वीकार करते ही हैं ।

## म्यूनिसपैलिटी और व्यवस्थापिका सभा

श्री गोखले का विश्वास था कि अगर किसी व्यक्ति को देश के राजनैतिक क्षेत्र में काम करना हो तो उसे

पहले नागरिक प्रशासन में भाग लेकर कुछ अनुभव प्राप्त कर लेना चाहिये । जो व्यक्ति सार्वजनिक कार्यों का कुछ भी क्रियात्मक अनुभव लिये बिना राजनीति में कूद पड़ते हैं वे कभी जनता की ठोस सेवा नहीं कर सकते । इसलिये जब उनके सामने इस प्रकार के कार्य का अवसर आया तो उन्होंने पूना की म्यूनिसपैलिटी और बम्बई प्रान्तीय कॉउन्सिल के कार्यों में भाग लिया और उनके द्वारा जनता की जो कुछ सेवा हो सकती थी वह बड़े अच्छे ढंग से की । वे सन् १८६६ में प्रथम बार 'बम्बई लेजिस्लेटिव कॉउन्सिल' के सदस्य चुने गये और वहाँ पहुँचकर उन्होंने लोक-कल्याण के कार्यों में जिस आन्तरिक निष्ठा का परिचय दिया उससे वे जनता के श्रद्धाभाजन बन गये और जीवन के अन्त तक प्रान्तीय अथवा केन्द्रीय शासन सभा में प्रजा-प्रतिनिधि के रूप में बने रहे ।

बम्बई की प्रान्तीय सभा के सदस्य वे केवल दो वर्ष रहे, पर इसी बीच में उन्होंने इतना महत्त्वपूर्ण कार्य किया कि सन् १९०१ में उनको बम्बई प्रान्त के प्रतिनिधि के रूप में इम्पीरियल कॉउन्सिल (केन्द्रीय शासन-सभा) में भेज दिया गया । जिस समय वे बम्बई की प्रान्तीय शासन-सभा के सदस्य थे उस समय उनके सामने दो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पेश हुए । एक था 'डिस्ट्रिक्ट म्युनिसपिल एक्ट' में संशोधन करने का और दूसरा था 'लैण्ड रैवेन्यू कोड' (मालगुजारी के नियम) में सुधार करने का । श्री गोखले कई वर्ष तक पूना म्युनिसपैलिटी के सदस्य रह चुके थे और उसकी कार्यवाही का उनको व्यावहारिक अनुभव था, इसलिये उन्होंने प्रथम 'बिल' के वाद-विवाद में प्रमुख भाग लिया ।

इसके पश्चात् सन् १९०५ में उनको पूना म्युनिसपैलिटी का अध्यक्ष नियुक्त किया गया तो उन्होंने दो-तीन वर्ष के भीतर उसकी व्यवस्था में बहुत से नये सुधार कर दिये । उनके सामने म्युनिसपैलिटी की मीटिंगों का कार्य ठीक समय पर और बड़ी मुस्तैदी से किया जाता था, जिससे कुछ सदस्यों को असुविधा भी अनुभव होती थी क्योंकि इससे पहले वे आराम के साथ ढीले-ढाले ढंग से कार्य करने के अभ्यस्त थे । उन्होंने मीटिंगों में मेम्बरों द्वारा म्युनिसपैलिटी के वेतनभोगी कार्यकर्ताओं से प्रश्न पूछने की प्रथा भी जारी की । यह भी नियम बना दिया गया कि मीटिंग में जिन विषयों पर विचार किया जाना है उनकी सूचना पहले से छपवा कर मेम्बरों को भेज दी जाया करे । दो वर्ष पश्चात् उन्होंने स्वय ही अध्यक्ष के पद को छोड़ दिया क्योंकि उनको अब अन्य सार्वजनिक कार्यों में अधिक समय देने की आवश्यकता जान पड़ने लगी, पर उन्होंने अपने उदाहरण से यह बात प्रकट कर दी कि जो लोग राजनीति में भाग लेना चाहें उनको स्थानीय शासन संस्थाओं में भाग लेकर जन-सेवा के कार्यों का कुछ अनुभव अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिये ।

## केन्द्रीय सभा में बजट के भाषण

सन् १९०१ में श्री फीरोज शाह मेहता ने केन्द्रीय सभा की सदस्यता को छोड़ने की इच्छा प्रकट की और उनके स्थान पर श्री गोखले को सर्वसम्मति से चुनकर भेजा गया । उस समय से १९१५ में देहान्त होने तक वे कॉउन्सिल के एक प्रधान और योग्य मेम्बर माने गये । अनेक लोग उनको 'विरोधी पार्टी का नेता' कहते थे, पर श्री गोखले ने कभी केवल विरोध करने के भाव से इस कार्य को नहीं किया । वे प्रत्येक विषय पर भारतीय दृष्टिकोण को सरकार के सामने उपस्थित किया करते थे । प्रतिवर्ष बजट (राष्ट्रीय आय-व्यय) के सम्बन्ध में उनका भाषण ऐसा तथ्यपूर्ण और गम्भीर होता था कि सब लोग उत्सुकतापूर्वक उसकी राह देखा करते थे । वह मित्रों के लिये प्रसन्नता और उत्साह का कारण होता था और विरोधियों के लिये भय का ।

वे हमेशा सरकारी खर्चों में किफायत पर जोर देते थे जिससे जनता पर करों का भार अधिक न पड़े । इसलिये वे रेलवे आदि पर अन्धाधुन्ध खर्च का विरोध करते थे और जहाँ तक सम्भव हो देश में प्राप्त साधनों से ही काम लेने पर जोर देते थे, जिससे खर्च में कमी हो सके । वे भारतवासियों की इस माँग का भी समर्थन करते थे कि देश की आर्थिक व्यवस्था में भाग लेने का उनको पूरा मौका दिया जाये । देश की आय में जो बचत होती थी, उसको वे मुख्यतः शिक्षा-प्रचार और स्वच्छता तथा स्वास्थ्य-रक्षा के कार्यक्रमों में खर्च करने की सम्मति देते थे । वे भारतीय उद्योग-धन्धों की रक्षा के लिये विदेशी माल पर टैक्स लगाने पर जोर देते थे । अंग्रेजों की तरफ से भी यह प्रस्ताव किया जाता था कि नवीन उद्योग-धन्धों की रक्षा के लिये ऐसा संरक्षण-टैक्स लगाया जाना

चाहिये, पर श्री गोखले उनकी नीति को समझते थे। उनका आशय मुख्यतः उन्हीं उद्योग-धन्धों से था जो अधिकांश में यूरोपियन लोगों के हाथ में थे। इसलिये वे हमेशा भारतवासियों द्वारा संचालित उद्योग-धन्धों के पक्ष को विशेष जोर के साथ उपस्थित किया करते थे। वे गरीबों के हित की दृष्टि से नमक के टैक्स को घटाने और उसकी कमी इन्कमटैक्स से पूरी करने का समर्थन करते थे।

वे कहते थे कि यह सरकार की एक चाल है कि जहाँ एक ओर देश में अकाल और दरिद्रता बढ़ती जा रही है, वहीं दूसरी ओर देश के सरकारी आय-व्यय में बचत दिखाई जाती है। उन्होने इसका रहस्य यह बतलाया है कि सरकार ने भारत की मुद्रानीति (करेंसी पॉलिसी) को इंग्लैण्ड के 'गोल्ड-स्टैण्डर्ड' से सम्बद्ध कर दिया है जिसके फलस्वरूप जनता को उसकी कीमत चाँदी के वास्तविक मूल्य की अपेक्षा अधिक देनी पड़ती है। वही मुनाफा सरकारी बजट में बचत के रूप में दिखा दिया जाता है। इस दृष्टि से यह बचत वास्तव में जनता का धन है जिसे जनता के हित में ही लगाया जाना चाहिये। इस तरह गोखले अपनी अर्थ-विज्ञान सम्बन्धी योग्यता का पूर्ण रूप से जनता के हित-संरक्षण में उपयोग किया करते थे। उनकी इस विषय की योग्यता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि यदि वह किसी स्वतन्त्र देश में होते तो वहाँ के बहुत सफल 'अर्थ-मन्त्री' बन सकते थे।

## यूनीवर्सिटी बिल

जैसा कि पहले कहा जा चुका है भारतवर्ष की उच्च शिक्षानीति के सम्बन्ध में जाँच करने के लिये लार्ड कर्जन ने एक 'यूनीवर्सिटी कमीशन' नियत किया था, जिसकी रिपोर्ट के आधार पर एक 'यूनीवर्सिटी बिल' तैयार करके व्यवस्थापिका सभा में पेश किया गया। इस बिल का उद्देश्य यूनीवर्सिटी के सदस्यों की संख्या घटाकर उसका नियन्त्रण मुख्य रूप से सरकार के हाथ मे दे देना था। इस अवसर पर भाषण करते हुए श्री गोखले ने कहा—"सरकार को यह नहीं समझना चाहिये कि कॉलेजो की शिक्षा यदि बहुत ऊँचे दर्जे की होगी तो वह अनुपयोगी अथवा दोष-मुक्त हो जायेगी। वर्तमान समय मे शिक्षा के क्षेत्र मे इस देश की जो स्थिति है उसे देखते हुए अगर विद्यार्थी कुछ कम स्तर की शिक्षा भी प्राप्त कर सकें तो वह भी लाभदायक ही होगी। मेरा विश्वास है कि जन-जीवन से सम्बन्धित राजनैतिक, सामाजिक, औद्योगिक कोई भी क्षेत्र क्यों न हो, सब में समान रूप से प्रगति होना आवश्यक है। देश की वर्तमान परिस्थिति में हमको इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि पश्चिमी देशों ने जीवन को उच्च बनाने के लिये जिन विधियों और मार्गों को खोज निकाला है, उनका ज्ञान भारतवासियों को भी प्राप्त होने लगे।" यद्यपि सरकार के प्रभाव से यूनीवर्सिटी बिल जैसे का तैसा पास हो गया पर उसने श्री गोखले का कथन स्वीकार कर लिया कि "शिक्षा की उन्नति उसके लिये अधिक धन व्यय करने पर ही हो सकती है, केवल कानून बना देने से कोई काम नही चल सकता।" आगामी वर्षों में सरकार ने इसके अनुसार शिक्षा प्रचार में पर्याप्त धनराशि खर्च की और उससे इस देश के विद्यार्थियों ने बहुत कुछ लाभ उठाया।

सन् १६०४ के अन्त में गोखले जी ने 'दक्षिण एजूकेशन सोसाइटी' को छोड़ दिया। इस समय उनको उसके सम्पर्क में आये हुए पूरे २५ वर्ष हो चुके थे और इतने ही समय उसमें काम करने की प्रतिज्ञा की गई थी। वैसे वे विद्यार्थियों की पढ़ाई का कार्य सन् १६०२ से ही बन्द कर चुके थे और वे दो वर्ष से छुट्टी पर थे। कॉलेज को छोड़ते समय समस्त छात्रों ने इकट्ठे होकर उनको एक अभिनन्दन पत्र भेंट किया। उसका उत्तर देते हुए श्री गोखले का हृदय भर आया। उन्होंने कहा कि "इस काम को छोड़ते हुए मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि मैं अपने जीवन के सर्वोत्तम कार्य को छोड़े जा रहा हूँ। मुझे विश्वास है कि मैं आगे चलकर तुम मे से कितनों के ही साथ सहकारी के रूप में मिलूँगा।"

## बनारस कांग्रेस की अध्यक्षता

सन् १६०५ में श्री गोखले को राष्ट्रीय कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया जो उस समय एक गैर सरकारी भारतवासी के लिये सर्वोच्च सम्मान का चिह्न था। भारतीय राजनीति मे आगे चलकर गरम और नरम दल का जो भेद उत्तेजनापूर्ण रूप में प्रकट हुआ था, वह बनारस कांग्रेस के अवसर पर थोड़ा-थोड़ा दिखाई पड़ने लग गया था, तो भी निःस्वार्थ भाव से देश-सेवा

करने के कारण उनके चुनाव का किसी ने खुलकर विरोध नहीं किया । लार्ड कर्जन का प्रतिगामी शासन उसी समय समाप्त हुआ था और इंग्लैण्ड में उदार दल का शासन स्थापित हो चुका था जिससे भारत को सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की आशा थी । श्री गोखले ने अपने भाषण में स्पष्टतया कहा कि "कांग्रेस का लक्ष्य भारतवर्ष के लिये वैसा ही शासन स्थापित करना है जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य स्वशासित उपनिवेशों को प्राप्त है ।" उन्होंने स्वीकार किया कि इस दिशा में प्रगति धीरे-धीरे होगी और सरकार का कर्तव्य है कि वह इस लक्ष्य को दृष्टिगोचर रखकर लोगों को क्रमशः शासन सम्बन्धी उत्तरदायित्व सौंपती चली जाये । इस प्रकार श्री गोखले जहाँ ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के प्रति विद्रोह की भावना रखने के विरुद्ध थे उसी प्रकार वे भारत पर नौकरशाही द्वारा मनमाने ढंग से शासन करने की भी आलोचना करते थे । यद्यपि अन्य प्रकार के विचार रखने वाले भारतीय नेताओं ने गोखले जी के इन विचारों का विरोध किया और उनको सरकार की खुशामद करने वाला बतलाया, पर इसमें सन्देह नही कि उन्होंने जो कुछ कहा उस पर वे हृदय से विश्वास करते थे और तदनुसार आचरण भी करते थे । इसलिये नीति के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी वे देश की इतनी सेवा कर सके, जिसे आज भी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है ।

## निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा

यद्यपि आज हमको गाँव-गाँव और गली-गली स्कूल खुले दिखाई पड़ते हैं और लड़के ही नहीं लड़कियों का पढ़ना भी आवश्यक माना जाने लगा है, तो भी संसार के अन्य देशों को देखते हुए हमारे देश में शिक्षितों की संख्या बहुत कम है । यूरोप, अमेरिका के देशों और जापान आदि में भी जहाँ शिक्षितो की संख्या १०० में से ८०, ६० या इससे भी अधिक ६७, ६८ तक है वहाँ अभी भारत में आधी जनसंख्या भी पढ़ना-लिखना नहीं जानती । फिर अब से ६० वर्ष पहले, जब श्री गोखले भारतवर्ष में शिक्षा-प्रचार का आन्दोलन कर रहे थे और उसके लिये कानून बनाने का सरकार से आग्रह कर रहे थे, भारतवर्ष में शिक्षा की क्या अवस्था होगी, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है । उस समय देश में पढ़-लिख सकने वाले लोगों की संख्या अधिक से अधिक सात-आठ प्रतिशत मानी जाती थी और स्त्रियों में से एक प्रतिशत भी साक्षर नहीं थीं ।

श्री गोखले को अपने देश के इस प्रकार निरक्षर होने का बड़ा खेद था और वे जब तक जीवित रहे शिक्षा का अधिकाधिक प्रचार करने में अपनी शक्ति लगाते रहे । उन्होंने सरकार के सामने देश में निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रस्ताव रखा और इसके लिये वायसराय की कौंसिल में एक 'बिल' (मसौदा) भी पेश किया । वे इसका प्रचार करने के लिये इंग्लैण्ड भी गये और वहाँ बड़ी-बड़ी सभायें करके अंग्रेज जनता को बतलाया कि 'अभी भारत मे चार लड़कों में से एक लड़के के पढ़ने की भी व्यवस्था नहीं है और पाँच-छः गाँवों में से एक में स्कूल पाया जाता है ।' उन्होंने बड़े जोर से यह कहा कि "भारत में लगभग डेढ़ सौ वर्ष से अंग्रेजों का शासन रहने पर भी अभी सौ में से ६२-६३ व्यक्ति पढ़-लिख सकने में असमर्थ हैं यह उनके लिये अपयश की बात है ।" इंग्लैण्ड के अनेक नेताओं ने श्री गोखले की बात को ठीक बतलाया और तत्कालीन शासकों पर शिक्षा की वृद्धि करने के लिये दबाव डाला ।

पर जब श्री गोखले द्वारा पेश किया हुआ 'बिल' प्रान्तीय सरकारों के पास सम्मति के लिये भेजा गया तो सिवाय मद्रास को छोड़कर शेष सब प्रान्तों की सरकारो ने उसके विरुद्ध मत दिया । उनका कहना था कि अभी सरकार के पास इतना धन और साधन नहीं है जिससे वह शिक्षा का इतना विस्तार कर सके । इस प्रकार यद्यपि उनका यह प्रथम प्रयत्न असफल हुआ तो भी इससे सभी उच्च अधिकारियो को शिक्षा-प्रचार के सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रयत्न करने की प्रेरणा मिली और देश में स्कूल और विद्यार्थियों की शिक्षा में निरन्तर वृद्धि होने लगी । श्री गोखले के प्रयत्नों की प्रशंसा करते हुए उस समय एक विद्वान ने लिखा था कि "श्री गोखले के 'बिल' के पास न होने से हमको निराश नहीं होना चाहिये । लोगों ने उसकी आवश्यकता को स्वीकार कर लिया है, प्रश्न केवल साधनों की कमी का है । हमको आशा है कि वह दिन दूर नहीं है जब देश मे प्राइमरी (आरम्भिक) शिक्षा अनिवार्य कर दी जायेगी । श्री गोखले के प्रयत्न से ऐसी स्थिति के

समीप आने में बहुत सहायता मिली है और कुछ समय बाद जब इस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था हो जायेगी तो वे जन-शिक्षा के बहुत बड़े 'पुरस्कर्ता' माने जायेंगे इसमें सन्देह नहीं ।"

## दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की सहायता

इस समय दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले भारतवासियों की समस्या विशेष रूप से कठिन होती जा रही थी । ये लोग आरम्भ में तो शर्तबन्द मजदूर के रूप में वहाँ गये थे, पर बाद में वहीं बस गये और स्वतन्त्र रूप से खेती का धन्धा अथवा छोटी-बड़ी दुकाने करके उन्होंने बहुत कुछ उन्नति कर ली । वे वहाँ के गोरे निवासियो की अपेक्षा अधिक परिश्रमी और मितव्ययी थे, इसलिये उनकी उन्नति से गोरों को ईर्ष्या होने लगी । वे उनको हर तरह से तंग करने लगे और ऐसे कानून बनाने लगे जिससे उनकी प्रगति रुक जाये । उदाहरण के लिये उनको सार्वजनिक उपयोग के लिये बनाये गये फुटपाथों (सड़क की पटरियों) पर चलने से रोका जाता था, वे ट्राम अथवा रेल के उच्च श्रेणी के डिब्बों में सफर नहीं कर सकते थे, अनेक नगरों में उनको अछूतों की तरह पृथक बस्तियों में ही रहने के लिये बाध्य किया जाता था । अनेक स्थानों में उनको अपना परिचय देने कि लिये कैदियों की तरह 'पास' रखना पड़ता था जिस पर उनके अँगूठे और उँगलियों के निशान छापे जाते थे । भारतवासियों के विवाहों को यह कहकर कानून विरुद्ध घोषित किया जाता था कि इनमें बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रचलित है जो यूरोपियन समाज के विरुद्ध है । इस प्रकार वहाँ पर भारतीयों की विवाहित पत्नियों को 'वेश्या' के तुल्य ठहरा दिया जाता था और उनकी सन्तानों को अवैध करार दिया जाता था, जिससे वे अपनी पैतृक सम्पत्ति के अधिकारी नहीं हो सकते थे । उनके लड़कों की शिक्षा के लिये कोई व्यवस्था नहीं थी, क्योंकि गोरे लोगों के स्कूलों में पढ़ सकने का उनको अधिकार न था ।

इस प्रकार उस समय दक्षिण अफ्रीका में बसे भारतवासियों की दशा लगभग दासों की सी हो रही थी । वहाँ बड़े से बड़े शिक्षित भारतीय को भी 'कुली' कहकर पुकारा जाता था । लोग आश्चर्य से पूछते थे कि जब दक्षिण अफ्रीका ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग है और भारतवासी भी उसी की प्रजा है तो उनके साथ ऐसा भेदभावपूर्ण और विदेशियों की अपेक्षा भी गर्हित व्यवहार क्यों किया जाता है ? सरकार के अन्याय के विरुद्ध जब भारतवासी आन्दोलन और हड़ताल आदि करते थे तो उनके प्रमुख स्त्री-पुरुषों को पकड़कर जेल में भेज दिया जाता था । जब इन घटनाओं का समाचार भारत में आया और समाचार-पत्रों में अपने प्रवासी भाईयों की सहायता के लिये अपील की गई तो यहाँ भी हलचल मच गई । भारत के जिन नेताओं ने अपने इन अभागे भाईयों की दुर्दशा और कष्टों की तरफ ध्यान दिया उनमें श्री गोखले सर्वप्रथम और प्रमुख थे । उस समय दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के प्रधान नेता महात्मा गाँधी ही थे जो वहाँ सत्याग्रह आन्दोलन करके कई बार जेल जा चुके थे । वे श्री गोखले पर बहुत अधिक श्रद्धा रखते थे और उनको अपना 'राजनीतिक गुरु' मानते थे । उन्होंने गोखले जी से प्रार्थना की कि वे एक बार स्वयं दक्षिण अफ्रीका आकर वहाँ के भारतवासियों की दशा का निरीक्षण करें और उनके कष्टों को मिटाने का उपाय बतलायें ।

यद्यपि उस समय श्री गोखले का स्वास्थ्य ठीक न था, बहुमूत्र के रोग के कारण वे प्रायः कष्ट पाते रहते थे, तो भी सन् १९१२ मे इंग्लैण्ड यात्रा के बाद वे अफ्रीका भी पहुँचे । श्री गोखले की योग्यता को देखकर और उनके प्रभावशाली भाषणों को सुन दक्षिण अफ्रीका के गोरे आश्चर्यचकित रह गये । वे सोचने लगे कि जिस देश में ऐसे विद्वान और बड़े से बड़े अंग्रेज के समान प्रतिभाशाली व्यक्ति पैदा हो सकते हैं, वहाँ के निवासियो को दास या गुलाम समझना कहाँ तक युक्तिसंगत है ? अफ्रीका के प्रत्येक नगर में उनका स्वागत किया गया और वहाँ की म्युनिसपैलिटियों के मेयरों (अध्यक्षों) ने उनको अभिनन्दन-पत्र दिये । वे वहाँ के राष्ट्रपति जनरल बोथा और प्रधानमन्त्री जनरल स्मट से मिले और भारतवासियों की शिकायतों के सम्बन्ध में उनसे बातचीत की । वे दोनों भी उनसे बहुत प्रभावित हुए और भारतवासियों के साथ न्याय करने का आश्वासन दिया । दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों ने तो गोखले जी को एक 'देवदूत' ही समझ लिया और अनगिनती अभिनन्दन-पत्र तथा 'कास्केट' (अभिनन्दन-पत्र रखने के सोने-चाँदी के पात्र) भेंट करके अपनी श्रद्धा-भक्ति का प्रदर्शन किया ।

श्री गोखले के भारत लौट आने के पश्चात् दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने उनके साथ किये गये समझौते का अर्थ का अनर्थ करने की चेष्टा की, इस पर गोखले जी ने भारत सरकार पर दबाव डाला, जिससे यहाँ के वायसराज लार्ड हार्डिंग्ज ने अफ्रीका के गोरे शासकों को कड़ी चेतावनी दी और भारतवर्ष के एक बड़े अंग्रेज अफसर सर बेंजमिन राबर्टसन की अध्यक्षता में एक जाँच कमेटी नियुक्ति की जो इन प्रवासी भारतीयों की समस्या की पूरी जाँच करे। इस प्रकार उस समय श्री गोखले के प्रयत्नों से दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की दशा में कुछ सुधार हुआ और कई बहुत अन्यायपूर्ण कानूनी नियम हटा दिये गये। पर वे गोरे अपने हृदय में भारतवासियों के प्रति जो दुर्भावना रखते हैं और उनकी उन्नति से ईर्ष्या करते हैं, वह बात ज्यों की त्यो ही बनी रही। इससे वहाँ बार-बार यह समस्या भिन्न-भिन्न रूपों में उठती रही और आज भी वहाँ की सरकार अपनी रंग-भेद सम्बन्धी पक्षपातपूर्ण नीति के लिये संसार भर में बदनाम है। इस समय भी स्वतन्त्र भारत की सरकार को 'राष्ट्रसंघ' में तथा निजी तौर पर भी उसका विरोध करना पड़ रहा है और वहाँ के प्रवासी भारतवासी उसके अन्यायपूर्ण कानूनों की शिकायत करते ही रहते हैं।

## भारत-सेवक-समाज की स्थापना

अपने जीवन के अन्तिम दस वर्षों में श्री गोखले ने अपनी बहुत-सी शक्ति एक ऐसी संस्था के निर्माण में लगाई जो उनके जीवन-कार्य को उनके पश्चात भी जारी रख सके। इस संस्था में वे कुछ ऐसे सुयोग्य नवयुवकों को भर्ती करना चाहते थे जो जीवन-निर्वाह के लिये साधारण व्यय लेकर अपना समस्त समय और शक्ति समाज-सेवा के कार्यों में लगाते रहें। यह विचार उनके हृदय में बहुत दिनों से उठ रहा था। सन् १८८७ में जब वे पहली बार विलायत गये थे तो उन्होंने वहाँ 'जेसुइट' ईसाइयों की 'सोसाइटी ऑफ जेसस' जैसी संस्थायें देखी थीं जिनके सदस्यों का एकमात्र जीवन-कार्य ईसाई-धर्म का प्रचार करना था। उसी प्रकार श्री गोखले भी कार्यकर्ताओं का एक ऐसा दल बनाना चाहते थे जो केवल देश और समाज का ही ध्यान रखे और इसी काम को करे। जब जून १९०४ में वे कॉलेज के काम से बिल्कुल छुटकारा पा गये और उन्होंने 'दक्षिण एजूकेशन सोसाइटी' भी छोड़ दी तब वे इस संस्था के विषय में गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगे। जून १९०५ में "सरवैण्ट ऑफ इण्डिया सोसाइटी" (भारत-सेवक-समाज) के भवन का शिलारोहण स्वर्गीय शिवराम हरीराम साठे द्वारा कराया गया। सोसाइटी के घोषणा-पत्र में उसके उद्देश्यों पर विचार करते श्री गोखले ने लिखा था—

"थोड़े समय से देश के कुछ सच्चे सेवकों के हृदय में यह विचार उत्पन्न हो रहा था कि अब हमारे राष्ट्रीय-जीवन मे ऐसा अवसर आ पहुँचा है, जब समाजोन्नति के कार्य को सन्तोषजनक ढंग से पूरा करने के लिये विशेष रूप से प्रशिक्षण प्राप्त कार्यकर्ताओं के एक दल का निर्माण किया जाये, इसमें सन्देह नहीं कि अब तक जो भी काम किया गया है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। पिछले पचास वर्षों में एक प्रकार की परम्पराओं, एक प्रकार की आशाओं और आकांक्षाओं के आधार पर जिस राष्ट्रीय भावना का उद्भव हुआ है वह किसी दृष्टि से साधारण नहीं कही जा सकती। यह तथ्य कि हम पहले भारतीय हैं और हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि बाद मे हैं, निरन्तर दृढ़ होता जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप एक संयुक्त और नवीन भारत का विचार, जो कि संसार की अन्य जातियों के साथ कदम से कदम मिलाकर आगे बढ रहा है, दिन पर दिन जोर पकड़ता जाता है। अब यह विचार कुछ कल्पनाशील व्यक्तियों का स्वप्न ही नहीं रह गया है वरन् अब इसने देश के समीप सुशिक्षित लोगों के सिद्धान्त का रूप ग्रहण कर लिया है। इस दिशा में शिक्षा-संस्थाओं तथा स्थानीय शासन (म्यूनिसपैलिटी जिला बोर्ड आदि) के रूप में एक महत्त्वपूर्ण शुभारम्भ किया जा चुका है और सब श्रेणियों के लोग उदार विचारों से प्रभावित होते जाते है।

कांग्रेस कॉन्फ्रेन्सों के वार्षिक अधिवेशन, सार्वजनिक सभा और संस्थाओं के कार्य, भारतीय समाचार पत्रों के लेख—सब इस बात को प्रकट कर रहे है कि देश में एक नव-जागरण का श्री गणेश हो रहा है। अब तक इसका जो परिणाम निकला है वह गर्व करने लायक है पर इसका आशय इतना ही है कि जंगल साफ कर दिया गया है और नींव रख दी गई है, पर उसके ऊपर राष्ट्रीय-जीवन के विशाल भवन का निर्माण अभी

आरम्भ करना है । इस अवस्था में कार्य कर्ताओं का सच्ची लगन और बलिदान के भाव से कार्य में लगना अत्यावश्यक है ।

'भारत-सेवक-समाज' की स्थापना इन्हीं आवश्यकताओं की किसी सीमा तक पूर्ति करने के लिये हुई है । ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर स्वराज्य का अधिकार प्राप्त करके अपने देशवासियों के लिये उच्च-जीवन की सम्भावनायें प्राप्त करना उनका लक्ष्य है । हमारा विश्वास है कि यह लक्ष्य बिना अनेक वर्षों तक सच्चाई और धैर्य के साथ प्रयत्न किये बिना प्राप्त नहीं हो सकता । अभी तो हमको अपने देशवासियों में ऐसा ऊँचे दर्जे का चरित्र और योग्यता उत्पन्न करनी है जिसका वर्तमान समय में बहुत कम दर्शन होता है ।

"यह मार्ग अनेक कठिनाइयों से भरा हुआ है । समय-समय पर कर्त्तव्य विमुख होकर अन्य मार्ग पर चलने के प्रलोभन आते रहेंगे और बीच-बीच में ऐसी निराशाजनक स्थिति का भी सामना करना पड़ेगा, जिससे आन्तरिक श्रद्धा की जड़ हिल जायेगी, पर जो व्यक्ति लक्ष्य पर दृढ़ रहकर आगे बढ़ते जायेंगे उनको सफलता प्राप्त होना सुनिश्चित है । अब मुख्य आवश्यकता इसी बात की है कि हमारे देशवासी काफी संख्या में तैयार होकर इस कार्य को वैसी ही श्रद्धा के साथ आरम्भ करें जैसी श्रद्धा से धार्मिक कार्य किये जाते हैं । जन-जीवन को अवश्य ही अध्यात्म की ओर मोड़ना होगा । देश-प्रेम को हृदय में इस प्रकार भरना होगा कि उनके सामने अन्य सब चीजें छोटी दिखाई पड़ें । जो देश-सेवक इस पवित्र कार्य को ऐसी उच्च-भावना से आरम्भ करें उनको देशोद्धार के लिये सदैव अपने स्वार्थ का बलिदान करने को तैयार रहना चाहिये और कैसा भी संकट या कठिनाई सामने आये कभी पीछे पैर हटाने का विचार नहीं करना चाहिये । जो व्यक्ति इन गुणों से युक्त होकर इस भगवत् कार्य में संलग्न होंगे वे ही उस आनन्द का अनुभव कर सकेंगे जो किसी को देश और समाज की निःस्वार्थ सेवा के फलस्वरूप प्राप्त होता है ।

'भारत-सेवक-समाज' उन व्यक्तियों को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करेगी जो धर्म-भावना से अपना जीवन समाज और देश की सेवा के लिये अर्पित करने का निश्चय करेंगे । इस संस्था के सदस्य मुख्य रूप से अपनी भक्ति इन कार्यों के लिये व्यय करेंगे—

(१) देश के जन-जीवन को उन्नत बनाने के लिये राजनीतिक शिक्षण और आन्दोलन की व्यवस्था करना ।

(२) देश की विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों में ऐक्य और प्रेम भाव का सम्वर्धन ।

(३) शिक्षा-प्रचार में सहायता देना, विशेषतया स्त्री-शिक्षा, अछूतों की शिक्षा और औद्योगिक तथा वैज्ञानिक शिक्षा ।

(४) दलित जातियों को ऊँचा उठाना ।"

श्री गोखले इस संस्था के सबके पहले सदस्य थे और उन्हीं को इसमें अन्य सदस्य दाखिल करने का अधिकार था । उनके पश्चात् यह अधिकार तीन व्यक्तियों की एक कमेटी को दिया गया, जिनमें से एक अध्यक्ष और दूसरा मन्त्री होता था । संस्था में सम्मिलित होने वाले उम्मीदवारों को सुशिक्षित होना आवश्यक था, पर सबसे अधिक ध्यान उसके कार्यक्षम, दृढ़ चरित्रवान और पूर्ण उत्साही होने पर दिया जाता था । सामान्यतः प्रत्येक सदस्य को पाँच वर्ष तक प्रशिक्षण ग्रहण करना पड़ता था । इनमें से पहले दो-तीन वर्ष तक तो उसे इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और उन विशेष विषयों का, जिनकी उसके भावी कार्यक्रम के लिये आवश्यकता हो, प्रशिक्षण नियमित रूप से ग्रहण करना पड़ता था । इसके पश्चात् उसे संस्था के विभिन्न केन्द्रों में से किसी एक में भेज दिया जाता था ताकि वह वहाँ रहकर वास्तविक कार्य-पद्धति को देख सके और उसका अभ्यास कर सके ।

प्रायः इस पाँच वर्ष की अवधि को घटा भी दिया जाता था और उम्मीदवार शीघ्र ही 'पूर्ण-सदस्य' बना लिया जाता था । सदस्यों के निर्वाह का व्यय संस्था की तरफ से दिया जाता था जो सन् १९०५ में उम्मीदवारों के लिये प्रतिमास ३० रुपये और 'पूर्ण सदस्यों' के लिये ५० रुपये नियत किया गया था । सदस्यों का जीवन-बीमा भी करा दिया जाता था और जिनके साथ बच्चे होते थे उनको पढ़ाई-लिखाई के लिये कुछ विशेष सहायता दी जाती थी । सदस्यगण इसके सिवा अगर अध्यक्ष की अनुमति से कोई धनोपार्जन का कार्य करते, तो वह सब आमदनी संस्था के कोश में जमा की जाती थी । अधिकांश सदस्य साधारणतः

अपने कार्यक्षेत्रों में रहकर कार्य करते थे, पर प्रतिवर्ष दो-तीन महीने के लिये पूना आकर मुख्य-कार्यालय में इकट्ठे भी रहते थे। पूना की केन्द्रीय संस्था में सदस्यों के निवास के लिये सुविधाजनक 'क्वार्टर' बने हुए थे और एक बढ़िया लायब्रेरी थी जिसमें राजनीति और अन्य विषयों की पुस्तकों का उत्तम संग्रह था।

इस संस्था के सदस्य समाज-सेवा के कौन-कौन से कार्य करते थे ? यह इसकी आरम्भिक रिपोर्टों से विदित हो सकता है। जब संयुक्त प्रान्त में अकाल पड़ा तो वहाँ अकाल-पीड़ितों के लिये सहायता-कार्य का संगठन करने को कई सदस्य भेजे गये। उसके बाद अहमदनगर जिले में इसी प्रकार अकाल पीड़ितों की सहायता का कार्य किया गया। दूसरा विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य 'कोऑपरेटिव सोसाइटी' (सहयोग समितियों) की स्थापना का था, जिनके द्वारा छोटे उद्योग-धन्धों के विकास में सहायता पहुँचाई जा सके। इससे अनेक बेकार लोगों को जीविका का साधन प्राप्त होता था। बम्बई में दलित जाति वालों को ऋण से छुड़ाने के लिये भी बहुत काम किया गया था। सन् १६१६ में हरिद्वार के कुम्भ पर कुछ सदस्यों ने सेवा समिति के रूप में सेवा-कार्य का संगठन किया जिसमें बहुसंख्यक स्वयं सेवकों ने यात्रियों की अनेक प्रकार से सहायता की। इसी प्रकार और भी समाज-सेवा के अनेक कार्य इसके सदस्य विभिन्न स्थानों पर समय-समय पर किया करते थे। इन कार्यों में वे जहाँ आवश्यकता पड़ती थी सरकारी अधिकारियों की सहायता भी लेते थे।

'भारत-सेवक-समाज' ही श्री गोखले का सच्चा और ठोस स्मारक है जो वर्षों से विभिन्न प्रकार से जनता की सेवा और उसकी उन्नति के प्रयत्नों में संलग्न है। 'समाज' का दूसरा कार्यक्षेत्र विशुद्ध राजनैतिक था, जिसका उद्देश्य देश के राजनीतिक अधिकारों में निरन्तर वृद्धि करने की चेष्टा करना था। समाज की तरफ से दो-एक अखबार भी प्रकाशित किये जाते थे जिनका उद्देश्य भारतीय राजनीतिक आन्दोलन में सहायता पहुँचाना था।

## 'रानाडे इकोनोमिक इन्स्टीट्यूट'

फर्ग्युसन कॉलेज और भारत-सेवक-समाज के पड़ोस मे ही श्री गोखले द्वारा स्थापित तीसरी संस्था 'रानाडे इकोनोमिक इन्स्टीट्यूट' की है। जब सन् १६०१ में श्री रानाडे की मृत्यु हुई तो देश के विभिन्न भागों मे उनकी स्मृति के लिये कोई महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक कार्य किये जाने का प्रयास होने लगा। इसके लिये श्री गोखले ने एक लाख रुपये के लगभग चन्दा इकट्ठा करके पूना में इस नई संस्था की स्थापना की। इसके दो विभाग रखे गये। एक तो आर्थिक विषयों से सम्बन्धित एक लायब्रेरी स्थापित करके उसमें भारतीय आर्थिक समस्याओं का अध्ययन और मनन करने की व्यवस्था करना था। दूसरा एक ऐसी वैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित करना था जिसमें देश के उद्योग-धन्धों के विकास के लिये खोज कार्य और उपयोगी वैज्ञानिक आविष्कारों के सम्बन्ध में कार्य किया जाये।

पर चूँकि श्री गोखले स्वयं वैज्ञानिक नहीं थे, इसलिये वे यह नही समझ सके कि इस प्रकार की वैज्ञानिक खोज का कार्य कितना विस्तृत है और उसमें कितने अधिक व्यय की आवश्यकता होती है ? इस कारण प्रयोगशाला के निर्माण का कार्य बहुत धीरे-धीरे हो सका और सन् १६१० में उसे पूरा करके बम्बई के गवर्नर से उसका उद्घाटन कराया। उसमें रहकर दो-तीन विज्ञान के ग्रेजुएट उद्योग-धन्धों मे काम आने वाली कुछ सामान्य वस्तुओं के विषय मे शोध करके उसका लाभ भारतीय उद्योग-धन्धों को पहुँचाते रहते थे।

उदाहरण के लिये आरम्भिक वर्षों में उन्होंने कुछ ऐसे पदार्थों की जाँच की जिनसे सीमेण्ट अच्छा और अधिक परिमाण मे बनाया जा सके। फिर चमड़ा कमाने के पदार्थों की खोज के सम्बन्ध मे भी कुछ काम किया। फिर भी यह काम विशेष सफल इसलिये न हो सका क्योंकि इसके लिये जिन बड़े-बड़े यन्त्रों, नवीन वैज्ञानिक उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है तथा निरन्तर परीक्षण करने मे जितनी सामग्री नष्ट होती है, उसकी व्यवस्था कोई साधारण आर्थिक साधनों वाली निजी संस्था नहीं कर सकती। तो भी उस जमाने में, जबकि भारतवासी आधुनिक उद्योग-धन्धों से अपरिचित थे और साबुन, दियासलाई, कलम, दवात जैसी छोटी-छोटी चीजे भी विदेशो से ही बनकर आती थीं, इस प्रकार का कार्य जनता में औद्योगिक प्रगति की दृष्टि से प्रेरणा और प्रोत्साहन देने वाला तो था ही।

## कांग्रेस सम्बन्धी कार्य

सन् १६०७ में सूरत-कांग्रेस के अधिवेशन पर कांग्रेस प्रतिनिधियों मे राजनीतिक कार्यक्रम के सम्बन्ध में जो

मतभेद और संघर्ष हुआ उससे वे दो भागों में विभाजित हो गये—माडरेट (नर्मदल) और एक्स्ट्रीमिस्ट (गर्मदल)। पहले दल का उद्देश्य सरकार के साथ मिलकर और वैध ढंग से आन्दोलन करके क्रमशः स्वराज्य का अधिकार प्राप्त करना था। दूसरा दल प्रत्येक विषय में सरकार पर आक्षेप करके और जनता को उसके विरुद्ध भड़का कर जल्दी-से-जल्दी स्वराज्य प्राप्त करने के पक्ष में था। श्री गोखले नर्मदल के नेता थे और सूरत के अधिवेशन के पश्चात् आठ-नौ वर्ष तक कांग्रेस पर उन्हीं के दल का अधिकार रहा। उन्होंने कांग्रेस के संगठन को दृढ़ आधार पर स्थापित करने का प्रयत्न किया। उस समय तक कांग्रेस अधिवेशन से कुछ समय पहले विभिन्न नगरों में सार्वजनिक सभायें करके प्रतिनिधियों का चुनाव कर लिया जाता था। इसके लिये कोई नियम और सिद्धान्त नहीं थे। जो कोई प्रतिनिधि शुल्क देने को तैयार होता वही प्रतिनिधि चुन लिया जाता था।

श्री गोखले ने कांग्रेस संगठन को स्थायी और प्रभावशाली बनाने के लिये उसके प्रान्तीय, जिला और तालुका कमेटियाँ निर्माण करने का नियम बनाया। स्थायी कांग्रेस सदस्य बनाने और कांग्रेस की नियमावली के अनुसार कार्य करने पर भी जोर दिया जिससे देशोन्नति की भावना वाले व्यक्ति ही उसमें भाग ले सकें। अन्यथा यह भय था कि 'विरोधी दल' के लोग किसी प्रकार की चाल से उस पर अधिकार कर लेने अथवा हानि पहुँचाने का प्रयत्न करेंगे। फिर भी सन् १६०८ से ही दोनों दलों में समझौते की आवाज उठती रही। निष्पक्ष मनोवृत्ति के देश-सेवक इस प्रकार की फूट को हानिकारक मानते थे और यह चेष्टा करते रहते थे कि सब लोग एक कार्यक्रम को अपनाकर सरकार के सामने संयुक्त रूप से स्वराज्य की माँग रखें।

श्री गोखले भी इस आवश्यकता को समझते थे और ऐसी चर्चा चलने पर उसके लिये प्रस्तुत रहते थे। सन् १६१४ में जब श्री तिलक मांडले जेल से छूट कर आये तो इस समझौते की चर्चा ने अधिक जोर पकड़ा और कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन से पूर्व श्रीमती ऐनीबेसेण्ट और श्री सुब्बाराव ने पूना आकर उनसे बातचीत की, पर कोई विशेष परिणाम नहीं निकला। उस समय श्री गोखले बीमार थे इसलिये वे स्वयं कांग्रेस मे भाग नहीं ले सके, पर उन्होंने इस सम्बन्ध मे अपना एक वक्तव्य लिखकर कांग्रेस के अधिवेशन में भेज दिया। इसके डेढ़-दो महीने बाद ही उनका देहान्त हो गया और जब तक उनका सम्बन्ध था यह प्रश्न सदैव के लिये समाप्त हो गया।

## स्वास्थ्य और अन्तिम बीमारी

श्री गोखले का स्वास्थ्य आरम्भिक जीवन में काफी मजबूत था और वे प्रायः टेनिस और क्रिकेट जैसे शक्ति-वर्द्धक खेल खेला करते थे। उस समय वे बहुत अधिक मानसिक कार्य कर लेते थे और बहुत थोड़ी देर सोकर काम चला लेते थे। विशेष आवश्यकता पड़ने पर वे रात भर जगते रह जाते थे और सुबह होने से पहले अपने भाषणों अथवा अन्य लेखों को तैयार कर लेते थे। 'दक्षिण एजूकेशन सोसाइटी' के लिये चन्दा इकट्ठा करने का काम करते हुए उनको बहुत अधिक शारीरिक भार उठाना पड़ा। उसके पश्चात् राजनीतिक कार्य इतना अधिक बढ़ गया कि उनके नियमित व्यायाम में भी बाधा पड़ने लगी। इस व्यायाम सम्बन्धी लापरवाही का परिणाम शरीर पर शीघ्र ही मालूम पड़ने लगा। इसके सिवाय सन् १८६७ में जब वे इंग्लैण्ड जा रहे थे तो एक दुर्घटना हो जाने से उनके हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ा और वह जीवन के अन्तिम समय तक प्रकट होता रहा। शिक्षित भारतवासियों में जो सत्यानाशी व्याधि आमतौर से देखने मे आती है, वह बहुमूत्र की बीमारी भी उनको लग गई।

उन्होंने बहुमूत्र की बीमारी के लिये अनेक प्रकार के इलाज किये, पर वह पूर्ण रूप से कभी नहीं मिट सकी। इसका एक कारण यह भी था कि वे प्रायः कार्यों को नियमपूर्वक नहीं कर पाते थे। पत्रों के उत्तर देने का कार्य देर तक पड़ा रह जाता और जब थोड़ा समय रह जाता तो डाक निकल जाने के भय से उनका उत्तर बड़ी शीघ्रतापूर्वक लिखने लगते। यद्यपि अपने दृढ़ मनोबल से वे सब कामों को पूरा कर लेते थे, पर इससे शरीर पर आवश्यकता से अधिक दबाव पड़ता था। इन सब बातों के अतिरिक्त वे बड़े भावुक थे, किसी प्रकार के आक्षेप से उनकी मानसिक शान्ति भंग हो जाती थी और वे बड़ी देर तक उसी की चिन्ता मे लगे रहते थे। सार्वजनिक कार्यकर्ताओं और नेताओं के लिये यह एक हानिकारक मनोवृत्ति है

क्योंकि उन पर प्रायः विरोधियों द्वारा ऐसे आक्रमण होते ही रहते हैं । उनके मित्रों ने उनको अनेक बार समझाया कि वे ऐसे छोटे-मोटे विषयों पर चिन्ता न किया करें, पर वे अपनी पुरानी आदतों को न त्याग सके और इसका उनके स्वास्थ्य पर निश्चित रूप से बुरा प्रभाव पड़ा ।

बीच-बीच में उनको स्वास्थ्य सुधारने का ख्याल अवश्य आ जाता था और तब वे कई सप्ताह तक टेनिस खेलना या पहाड़ियों में दूर तक भ्रमण करना आरम्भ कर देते थे, पर उनका यह आकस्मिक उत्साह कार्याधिक्य से कुछ समय बाद समाप्त हो जाता था । उनका बहुमूत्र का रोग कभी-कभी बहुत बढ़ जाता था । इसके लिये उन्होंने उसके सम्बन्ध में बहुत-सी किताबें पढ़ी थीं और इसका परिणाम यह हुआ कि जब तक किसी इलाज की उपयुक्तता के सम्बन्ध में उनको पूरा विश्वास न हो जाता तब तक वे उसको स्वीकार ही नहीं करते थे । इससे उनके डॉक्टरों को उनकी चिकित्सा करने में बड़ी कठिनाई पड़ती थी । इंग्लैण्ड की यात्रा के समय उनको अनिद्रा रोग की शिकायत हो गई । उस समय कई मित्रों ने उनकी बड़ी सेवा की जिससे उनका स्वास्थ्य भारत तक की यात्रा कर सकने योग्य हो सका । यहाँ आकर वे फिर 'रायल कमीशन' के कार्य को पूरा करने में लग गये जिससे रोग फिर उमड़ आया ।

वास्तव में श्री गोखले उन महापुरुषों में से थे जिनको मरना और जीना बराबर जान पड़ता है और जो अपने कर्त्तव्य-पालन के सामने इसकी कुछ भी चिन्ता नहीं करते । वे मृत्यु शैय्या पर पड़े थे और डॉक्टरों ने उनके जीवन की आशा त्याग दी थी, तो भी वे १८ फरवरी की शाम तक बिस्तर पर पड़े-पड़े आवश्यक पत्रों के उत्तर लिखते रहे । १६ तारीख को सुबह उनको अपनी हालत अधिक गिरती हुई जान पड़ी । इसलिये उन्होंने अपने मित्रों, बहिनों, दोनों लड़कियों को पास बुलाकर उनसे अन्तिम विदा ली, अपने निजी कार्यों के विषय में आवश्यक सूचनायें दीं और तब कहने लगे कि—"मैंने इस दुनिया का हाल-चाल तो इतने समय तक देख लिया अब दूसरी दुनिया का भी हाल देखना चाहिये । यह कहकर वे दिन के ग्यारह बजे शान्ति के साथ परम पिता की गोद में चले गये । अन्तिम समय में उनको केवल 'भारत-सेवक-समाज' का ही ध्यान था जिसको उन्होंने निजी पुत्र की अपेक्षा कहीं अधिक स्नेह किया था ।"

श्री गोखले की सन्तानों में केवल दो पुत्रियाँ ही थीं । इसके सिवाय उनके भाइयों और बहिनों के भी बहुत से लड़के बच्चे थे जिन सबकी अपने जीवन काल में वे यथाशक्ति सहायता करते रहे और मरते समय भी जो कुछ उनके पास था उसमें से थोड़ा-थोड़ा दे गये । इसके सिवाय उन्होंने अपने समस्त साधनों को सदैव मातृभूमि की सेवा और उन्नति के लिये ही व्यय किया । वे इस प्रकार की सार्वजनिक हित की समस्याओं मे प्रायः इतने निमग्न हो जाते थे कि उन्हें अपने आवश्यक कामों का ध्यान भी नहीं रहता था । ऐसे अवसर पर यदि कोई उनके पास जाकर उनके ध्यान को भंग कर देता था तो वे उस पर बिगड़ उठते थे, पर वैसे उनका स्वभाव बहुत मधुर था । इसलिये थोड़ी ही देर में नाराजगी दूर हो जाती थी और वे सद्भावपूर्ण वार्तालाप से उसे प्रसन्न कर देते थे । कभी-कभी तो वे अपने नौकरों तथा आश्रितों से ऐसी कड़ी बातों के लिये क्षमा-प्रार्थना भी कर लिया करते थे ।

आर्थिक मामले में वे बड़े सावधान रहते थे, क्योंकि उन्होंने आरम्भ से ही देश के लिये लाभ और बलिदान किया था और अपना काम थोड़े से खर्च में बड़ी मितव्ययिता से चलाया था । जो लोग इस आधार पर उनको कंजूस समझते थे, वे बड़ी भूल करते थे । उन्होंने आरम्भ में ही सैकड़ों रुपया मासिक आमदनी के रोजगारों को छोड़कर देश-सेवा की भावना से 'फर्गुसन कॉलेज' में ७५ रुपये की प्रोफेसरी स्वीकार की थी और बाद में भी अपना अधिकांश समय तथा शक्ति अभावग्रस्त पीड़ित जनता के उद्धार के कार्यों में ही लगाते रहे । फिर भी वे जो कुछ कमाते थे उसमें से परोपकार के कामों में यथाशक्ति सहायता करते ही रहते थे ।

इस सम्बन्ध में उनके विचार स्वतन्त्र थे और इस विषय में वे किसी से वाद-विवाद नहीं करते थे । आरम्भिक दिनों में उनके विचार किसी हद तक नास्तिकता की ओर झुके थे, पर बाद में कुछ परिवर्तन हो गया । कुछ समय तक वे 'थियोसोफी' के सिद्धान्तों का अध्ययन करते रहे और उस समाज में जाते भी थे, पर कभी

श्री गोखले के जीवन से जो सबसे बड़ी शिक्षा हम प्राप्त कर सकते हैं वह यही है कि चाहे किसी मनुष्य में प्रकृतिदत्त बहुत बड़ी शक्तियाँ या प्रतिभा न भी हो, तो भी उसके स्वभाव में तल्लीनता से कार्य में लगे रहने का गुण है और साथ ही वह सच्चाई और उदारता का भी पालन करता है, तो अवश्य ही साधारण दर्जे से उन्नति करके बड़ी से बड़ी स्थिति को प्राप्त कर सकता है। हमारे अधिकांश भाई जो अपनी निम्नस्थिति का कारण सहायकों का अभाव, दूसरों का विरोध, उपयुक्त मौका न मिलना आदि बतलाया करते हैं और अपनी दुरावस्था के लिये संसार, समाज या सरकार को दोषी ठहराया करते हैं, वे श्री गोखले के जीवन पर दृष्टिपात करें। वे बिल्कुल सामान्य आर्थिक स्थिति वाले परिवार में जन्मे थे जिसमें कोई मास्टरी या क्लर्की से बढ़कर सफलता की आशा नहीं कर सकता था, उनकी प्रतिभा भी इतनी तीव्र न थी कि दूसरे मेधावी छात्रों से बाजी मार लेते, पर केवल अपनी हार्दिक लगन के बल पर उन्होंने विद्यालय में सफलता प्राप्त की। इसके पश्चात् अगर वे कोई बड़ी सरकारी नौकरी कर लेते या वकालत द्वारा धन कमा लेते तब भी आज उनकी कोई याद नहीं करता। परन्तु उन्होंने उस कठिन अवस्था मे भी अपनी योग्यता की शक्ति का उपयोग स्वयं बड़े बनने के लिये न करके अपने देश और समाज को बड़ा बनाने के लिये किया। क्या हम उनका पदानुकरण करके कुछ महान कार्य करके नहीं दिखा सकते ?

उनके नियमित सदस्य नहीं बने। वैसे स्वभाव से ही उनमें आध्यात्मिकता की भावना पर्याप्त मात्रा में पाई जाती थी और वे ईश्वर के समान ही अपने 'देश' के पुजारी थे। इसी मनोवृत्ति के कारण वे जापान और उसके निवासियों की बड़ी प्रशंसा करते थे। उन्होंने अनेक बार जापान जाकर यह देखने और समझने की इच्छा प्रकट की, कि उस देश ने बीस-पच्चीस वर्ष के भीतर ही किस प्रकार इतनी उन्नति कर ली ? पर यहाँ के राजनीतिक कार्यों के दबाव से कभी उनको इतना अवकाश ही नहीं मिला और यह आकांक्षा उनके साथ ही चली गई।

इसमें सन्देह नहीं कि श्री गोखले अपने समय के एक महान पुरुष थे और उनकी महानता का आधार यही था कि उन्होंने अपनी शक्तियों का प्रयोग स्वार्थ को छोड़कर परमार्थ के लिये किया था। वे एक सामान्य स्थिति के परिवार में उत्पन्न हुए थे और उन्होंने जो कुछ उन्नति की थी वह कठोर परिश्रम और लक्ष्य में तल्लीनता के आधार पर ही की थी। यद्यपि वे अच्छे वक्ता, शिक्षा-विशारद और संगठनकर्ता थे, पर उनके समय में उनसे अच्छे वक्ता, शिक्षा-विशारद आदि और भी बहुत से मौजूद थे। गोखले में मातृभूमि की सेवा सर्वोपरि थी और उन्होंने अपनी समस्त शक्तियो को इसी एक लक्ष्य पर केन्द्रित कर दिया, इसीलिये वे महानता का दर्जा पा सके और अपने देशवासियो की दृष्टि में चिरकाल के लिये गौरवास्पद स्थान प्राप्त कर सके।

# समाज-सेवा को ही धर्म मानने वाले महादेव गोविन्द रानाडे

श्री महादेव गोविन्द रानाडे एक बार कोल्हापुर (महाराष्ट्र) में जज के पद पर कुछ समय के लिये नियुक्त किये गये। संयोग से इसी नगर में उनके पिता कई वर्ष तक रह चुके थे और उनका अनेक व्यक्तियों से घनिष्ठ परिचय था। इसलिये जब रानाडे वहाँ पर जज नियुक्त हो गये तो अनेक लोग उनके पिता के पास आने लगे कि वे उनके मामले-मुकदमे में उनकी सिफारिश कर दे किन्तु पिता को तो पुत्र का स्वभाव अच्छी तरह मालूम था, इसलिये वे ऐसे लोगो को सदा टाल दिया करते थे। पर एक बार कोई व्यक्ति जो उनका परिचित ही नहीं था, वरन् दूर के रिश्ते में सम्बन्धी भी लगता था, उनके पीछे पड़

गया । वह एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था और किसी बड़े झगड़े में फँस गया था । वह अच्छी तरह जानता था कि रानाडे वस्तुतः न्याय-मूर्ति हैं और वे कभी किसी का पक्ष नहीं करेंगे । इसलिये उसने उनके पिता को ही घेरा और कहा "इस मुकदमे के कारण मैं बड़ी द्विविधा में हूँ और इसीलिये आपको कष्ट देने आया हूँ । मै यह नहीं कहता कि मेरे लिये किसी के साथ अन्याय किया जाये । मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि रानाडे एक बार मेरे कागजात को अच्छी तरह देख लें, तब मुकदमे का फैसला करें ।"

उस मनुष्य ने इतनी अनुनय-विनय की कि अन्त में रानाडे के पिता को उस पर दया आ गई । उन्होंने अपने मन में सोचा कि मैं किसी के साथ पक्षपात करने को तो कह नहीं रहा हूँ । यह आदमी केवल अपनी बात उनको सुना देना चाहता है, तो इसमें क्या हर्ज है ? इस प्रकार सोच-विचार कर वे उस व्यक्ति को लेकर रानाडे के कमरे में चले गये । वे इन दोनों को देखकर उठ खड़े हुए और विनयपूर्वक प्रणाम किया । कुछ ठहरकर पिताजी ने कहा—'बेटा ! यह तुमसे कुछ कहना चाहते हैं, इनकी बात सुन लो ।'

पर रानाडे ने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया तब उस व्यक्ति ने कहा—"मैं आपको अपने कागज-पत्र दिखाना चाहता हूँ । अभी मैं उन्हें नहीं लाया । यदि आपको अवसर हो तो ले आऊँ ?"

रानाडे ने बड़ी नम्रता से उत्तर दिया—"जी नहीं, आज मुझे बहुत काम करना है । आप आज चले जायें । जब मुझे अवसर होगा तो मैं आपको सूचना दे दूँगा ।"

जब वह सज्जन चले गये तो रानाडे ने बहुत विनय के साथ किन्तु स्पष्ट शब्दों में पिताजी से कहा कि—"मैं जानता हूँ कोल्हापुर के सभी लोग आपके परिचित हैं । वे सभी अपने मुकदमों में आपसे सिफारिश कराना चाहेंगे । आप किस प्रकार सबके मन की बात पूरी कर सकेंगे ? इसलिये इस सम्बन्ध में अच्छी तरह विचार कर लीजिये, अन्यथा विवश होकर मुझे यहाँ से बदली करा लेनी पड़ेगी ।"

## रानाडे की पितृभक्ति

श्री रानाडे (सन् १८४० से १६०१) बड़े पितृभक्त थे । वे सब तरह की कठिनाइयाँ सहन करके भी उनकी आज्ञा का पालन करते थे । जब रानाडे की पहली पत्नी का देहान्त हुआ तो उनकी अवस्था केवल ३१ वर्ष की थी । वे आरम्भ से ही समाज-सुधार के विचार रखते थे और महाराष्ट्र में उन्होंने विधवा-विवाह के लिये बहुत कुछ प्रयत्न भी किया था । उन्होंने इस सम्बन्ध में एक बड़ा निबन्ध लिखा था जिसमें लौकिक और शास्त्रीय युक्तियों द्वारा अच्छी तरह सिद्ध किया गया था कि विधवा-विवाह होना समाज कल्याण की दृष्टि से अत्यावश्यक है और वैदिक काल में विधवा विवाह होते थे । वे विधवाओं की दुर्दशा देखकर बड़े दुःखी होते थे और अनेक बार उनके कष्टों को सुनकर उनके नेत्रों में आँसू भर आते थे ।

इसलिये पत्नी की मृत्यु के पश्चात् स्वाभाविक था कि वे अपना विवाह किसी विधवा के साथ करें । उनके सुधारक मित्र भी इसी बात पर जोर दे रहे थे । पर. कठिनाई यह थी कि उनके सभी घर वाले और पिता पुराने विचारों के थे और विधवा-विवाह को घोर पाप मानते थे । इसलिये रानाडे की पत्नी की मृत्यु के पश्चात् ही उनके पिता, विवाह के लायक किसी कन्या की खोज करने लग गये । यह देखकर रानाडे बड़े दुःखी हुए और उन्होंने अपने पिता से कहा—

"पिता जी ! क्षमा कीजिये, अब मैं विवाह नहीं करूँगा । मेरी अवस्था इस समय लगभग ३२ वर्ष की है । इसलिये अब मैं छोटा नहीं हूँ । फिर समझ में नहीं आता कि आप मेरे विवाह की इतनी चिन्ता क्यों कर रहे हैं ? मेरी छोटी बहिन दुर्गा की दशा इस समय शोचनीय है । वह २० वर्ष की अवस्था में ही विधवा हो गई थी । जब आप दुर्गा की कुछ भी चिन्ता नहीं करते, तो समझ में नहीं आता कि मेरे विवाह के लिये इतनी चिन्ता क्यों कर रहे है ? कदाचित् आप डर रहे है कि मैं किसी विधवा से विवाह कर लूँगा, जिससे आपके वंश की 'अपकीर्ति' होगी किन्तु मै आपके सम्मुख प्रतिज्ञा करता हूँ कि मै ऐसा कभी नहीं करूँगा ।"

जब रमाबाई कि पिता अपनी कन्या के लिये रानाडे को देखने आये तो उन्होंने उनसे कहा—"मैं तो विधवा विवाह का पक्षपाती हूँ और विदेश-यात्रा का भी विचार कर रहा हूँ । आप क्यों अपनी कन्या का मुझसे विवाह करना चाहते हैं ? इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि मेरी आँखों और कानो मे खराबी आ गई है

और भी कई त्रुटियाँ उत्पन्न हो गई हैं । इसलिये आप इन सब बातों पर सोच-विचार करके अपनी कन्या का विवाह करने का निश्चय कीजियेगा ।"

इस प्रकार रानाडे ने हर तरह से यह चेष्टा की कि उनको विवाह न करना पड़े, पर उनके पिता बराबर अपनी बात पर डटे रहे और रानाडे पर उनकी इच्छानुसार विवाह करने के लिये दबाव डालते रहे । अन्त में जब उन्होंने देखा कि रानाडे किसी प्रकार नहीं मानते तो उन्होंने कहा—"बेटा, मैं चाहता हूँ कि तुम मेरी बात मान लो । अगर तुम न मानोगे तो मैं करवीर चला जाऊँगा, आगे ईश्वर मालिक है ।" करवीर साधुओं का निवास स्थान था । रानाडे के पिता का अभिप्राय संन्यासी हो जाने से था ।

रानाडे यह सहन नहीं कर सकते थे कि जिस पिता ने उनको जन्म दिया और स्वयं कष्ट सहन करके पाला-पोसा, वे उनके कारण इतना दुःख सहन करें । इतना ही नहीं, उनकी ताई और बहिन आदि, जो इन्हीं के साथ रहती थीं वे भी पुराने विचारों की स्त्रियाँ होने से विधवा-विवाह का नाम भी न लेना चाहती थीं । इस प्रकार श्री रानाडे ने देखा कि एक विधवा-विवाह के कारण उनका समस्त परिवार अस्त-व्यस्त हो जायेगा और उनके आश्रित सभी परिजनों को उनसे पृथक् रहकर कष्ट भोगना पड़ेगा । दूसरी ओर वे देश के प्रसिद्ध सुधारक माने जाते थे और बम्बई में श्री केशवचन्द्र सेन द्वारा स्थापित 'प्रार्थना समाज' के संचालक भी वे ही थे । ऐसी दशा में वे विधुर होकर किसी विधवा के बजाय कन्या से विवाह करते तो निश्चय ही उनके अनुयायियों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता और विरोधियों को आक्षेप करने का खुला मौका मिल जाता ।

फिर भी रानाडे की मानवता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि उन्होंने स्वयं बदनाम हो जाना मंजूर कर लिया पर अपने बुजुर्गों को कष्ट देना अथवा निराश्रित कर देना पसन्द न किया और अपने पिता के आदेश को भगवान राम की इस उक्ति पर ध्यान दे कर स्वीकार कर लिया—

अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहिं पितु बैन ।
ते भाजन सुख सुयश के, बसहिं अमरपति ऐन ॥

इसमें सन्देह नहीं कि श्रीमती रमाबाई से विवाह करने के पश्चात् श्री रानाडे को अनेक लोगों के आक्षेप सहन करने पड़े । कुछ समय बाद जब बम्बई में विधवा विवाह के सम्बन्ध में एक सभा हुई और रानाडे को उनकी योग्यता तथा प्रभाव के कारण उसका सभापति नियुक्त किया गया तो एक सज्जन ने उठकर कहा—"इसमें तो कुछ भी सन्देह नही कि रानाडे विधवा विवाह का समर्थन करते हैं, परन्तु अवसर आने पर भी उन्होंने स्वयं वैसा क्यों नहीं किया ? इन्होंने समाज में आदर्श स्थापित नही किया । इन्हीं रानाडे ने, जो आज इस सभा के सभापति हैं, इस सम्बन्ध में सब बातों को चौपट कर दिया ।"

रानाडे ने विनयपूर्वक कहा—"मैं पिताजी की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सका । आप लोग मेरी इस दुर्बलता को क्षमा कर दीजिये और समाज सुधार के प्रश्नों को लेकर आगे बढ़िये ।"

सज्जनों का यही लक्षण है । वे अपने छोटे से दोष का उत्तरदायित्व भी स्वयं वहन करते हैं और दूसरों को उससे बचाने का ही प्रयत्न करते हैं । रानाडे उन महामानवों मे से थे जो मार्ग में आने वाली कठिनाइयो और यातनाओं से न तो मुँह मोड़ते हैं और न उनको बुरा कहते हैं । वे अच्छी तरह जानते थे कि इस ससार में 'होम करते हाथ जलना' वाली कहावत अधिकांश मे सत्य ही है, पर जिस प्रकार हाथ जलने के भय से धर्मनिष्ठ व्यक्ति होम करना नहीं छोड़ देता उसी प्रकार सज्जन पुरुष भी कठिनाइयों और निंदा का सामना करने पर भी सेवा व्रत से नही हट सकते । श्री रानाडे की इस विशेषता के सम्बन्ध में माननीय गोखले ने एक बार कहा था—

"हम सब जानते हैं कि रानाडे अपने सामने जो आदर्श रखते थे उसके प्रति वह कितने ईमानदार थे, पर इसके लिये उन्हें जो कीमत चुकानी पड़ी वह भी कम न थी । उन्होंने आराम की जिन्दगी त्याग दी थी । लेकिन मैं उसका जिक्र नहीं करता क्योंकि जितनी हँसी-खुशी के साथ उन्होंने जीवन का भार वहन किया उस तरह विरले ही करते हैं । फिर रानाडे ने तो कभी चैन की सांस लेने की बात नहीं सोची । मै उस मानसिक पीड़ा की चर्चा करना चाहता हूँ, जो उन्हे अक्सर बर्दाश्त करनी पड़ती थी । रानाडे को अनेक क्षेत्रों मे संघर्ष का सामना करना पड़ा था और उससे पैदा होने वाली पीड़ाओं को सहना पड़ा था । इस सम्बन्ध मे एक बार रानाडे ने स्वयं कहा था कि

हमें अपनी यातनाओं को सहज ढंग से स्वीकार करना चाहिये । इसलिये नहीं कि पीड़ित होना कोई सुख की बात है, बल्कि इसलिये कि पीड़ा और यातना हमारे महान उद्देश्यों के सामने कुछ भी नहीं हैं ।"

श्री रानाडे जैसे लोकमान्य नेता के लिये अपने किसी सिद्धान्त से हट जाना साधारण बात नहीं थी । इसका प्रभाव उनके सम्मान तथा जनता में उनकी मान्यता पर पड़ना निश्चित था । जो लोग नित्य नये-नये रंग बदला करते हैं और स्वार्थसिद्धि को सिद्धान्त से अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं, उनकी तो कोई बात नहीं । उनके परिचित व्यक्ति भी उनको उसी दृष्टि से देखते हैं और इसलिये उनके उल्टे-सीधे कामों पर ज्यादा ध्यान नहीं देते । पर रानाडे जैसे व्यक्तियों को, जिनको लाखों मनुष्य आदर्श के रूप में देखते हैं और जिनकी सत्यता पर उनका अटल विश्वास होता है, अपने मार्ग से जरा भी हटते देखकर उनकी चर्चा और आलोचना होने लग जाती है । रानाडे अच्छी तरह जानते थे कि विधवा के बजाय किसी कुमारी से विवाह कर लेने पर उन्हें अपने सुधारक मित्रों के आक्षेप सहन करने पड़ेंगे । पर वे इतने सहृदय थे कि किसी को अपने कारण कष्ट देना सहन नहीं कर सकते थे । इसलिये उन्होंने विवाह के सम्बन्ध में घर वालों का आग्रह, उचित न समझते हुए भी, मान लिया और उसके फलस्वरूप होने वाली कटु आलोचनाओं—यातनाओं को स्वयं सहन कर लिया ।

## देश-सेवा के लिये जीवन समर्पित

रानाडे के चरित्र का सबसे बड़ा गुण यह माना गया है कि उन्होंने अपना जीवन देश के लिये उत्सर्ग कर दिया था । भारत की 'राष्ट्रीय कांग्रेस' के संचालक श्री. ह्यूम का कथन था कि "भारतवर्ष में अगर कोई ऐसा व्यक्ति है कि जो रात-दिन—चौबीस घण्टे अपनी मातृभूमि की चिन्ता करता है तो वह महादेव गोविन्द रानाडे हैं ।" वास्तव मे यह जानकर आज भी हमको आश्चर्य होता है कि एक उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारी होने पर भी, उन्होंने किस प्रकार देश के राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र मे इतना महत्त्वपूर्ण कार्य कर दिखाया । वे कांग्रेस के जन्म के समय से ही उसका कार्य-सचालन करते आये थे और जब तक जीवित रहे उसके प्रत्येक अधिवेशन में सम्मिलित रहकर अपने गम्भीर ज्ञान से उसका मार्ग दर्शन करते रहे ।

हम यह भी जानते हैं कि इस प्रकार राजनीतिक कार्यों में भाग लेने से सरकार उनसे अप्रसन्न रहती थी और इस कारण उनकी पदोन्नति बराबर देर से होती रही । जब नियमानुसार उनको हाईकोर्ट का जज नियुक्त करने का समय आ गया तब भी सरकार ने उनको वह पद नहीं दिया और उनके बजाय एक अन्य भारतीय श्री काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग को जज बना दिया । कुछ वर्ष बाद फिर जज का स्थान खाली होने पर भी सरकार ने उनको पद देने के बजाय, अन्य दो व्यक्तियों को उस पर नियुक्त करना चाहा । पर उन दोनों ने इस कार्य को अनुचित तथा अन्यायपूर्ण समझकर स्वय उसे स्वीकार करने से इन्कार कर दिया । तब विवश होकर सरकार को उन्हें जज के पद पर नियुक्त करना पड़ा ।

जो व्यक्ति लौकिक सफलता के लिये भले-बुरे सब तरह के कर्म करने को उद्यत हो जाते हैं, आर्थिक लाभ के लिये सिद्धान्त को उठाकर ताक पर रख देते हैं और यश तथा पदवी के लोभ में, एक पक्ष को त्यागकर दूसरे पक्ष मे चले जाने मे कुछ भी सकोच नही करते, उनको रानाडे के चरित्र से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये । कुछ तात्कालिक लाभ उठा लेना अथवा दल बदलकर मन्त्री आदि का पद प्राप्त कर लेना कोई महत्त्वपूर्ण बात नही है, यह तो सच्चाई और ईमानदारी को बेचकर चाँदी के कुछ टुकड़े प्राप्त करने के समान है । ऐसे व्यक्तियों को यश और प्रतिष्ठा मिलना तो दूर, लोग उनके मुँह पर और पीछे उनकी निन्दा करने से नहीं चूकते । पर हम लोगों के चरित्र और नैतिकता का स्तर इतना गिर गया है कि इन बातों में न किसी को संकोच होता है और न लज्जा का अनुभव करते हैं । पर रानाडे ने हाईकोर्ट की जजी के लिये भी समाज सेवा के कार्य को नही छोड़ा और इसके कारण अन्य प्रकार से भी समय-समय पर अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करते रहे ।

## कॉलेज के अध्यक्ष से अनबन

इस मनोवृत्ति का परिचय रानाडे ने छोटी आयु मे भी दिया था, जब वे बम्बई के एलफिन्स्टन कॉलेज मे पढ़ते थे । एक बार कॉलेज के प्रिन्सिपल श्री ग्रांट

ने अपने विद्यार्थियों से अंग्रेजी राज्य और मराठों के राज्य-शासन की तुलना करके एक निवन्ध लिखने को कहा । सभी विद्यार्थियों ने अंग्रेजी राज्य के गुणों का वर्णन किया परन्तु रानाडे ने कई प्रकार, की दलीलों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि मराठों का शासन प्रशंसनीय था ।

इस पर ग्रांट साहब बहुत बिगड़े और उन्होंने रानाडे को बुलाकर कहा—"ऐ नवयुवक ! तुम्हें उस सरकार की निन्दा नहीं करनी चाहिये जो तुम्हें शिक्षित कर रही है और तुम्हारी जाति के साथ इतना उपकार कर रही है ।" यद्यपि ग्रांट साहब बड़े विद्वान और सज्जन पुरुष माने जाते थे और रानाडे ने भी उनकी बड़ी प्रशंसा की है, पर इस घटना से वे इतने नाराज हो गये कि उन्होंने छः महीने के लिये रानाडे की छात्र-वृत्ति वन्द कर दी । रानाडे ने विद्यार्थी काल में इस हानि को सहन कर लिया, पर उन्होंने अपने देश की प्रतिष्ठा का ध्यान सबसे पहले रखा । इतना ही नहीं आगे चलकर उन्होंने मराठा राज्य के सम्बन्ध में 'राइज ऑफ दी मराठा पॉवर' (मराठा-राज्य का उदय) नामक पुस्तक लिखी जो आज तक बड़ी प्रामाणिक मानी जाती है । इस पुस्तक में जहाँ उन्होंने मराठा राज्य की अनेक प्रशंसनीय विशेषताओं के प्रमाण दिये हैं, वहाँ ग्रांट डफ साहब की उन गल्तियों का भी निराकरण किया है, जो उन्होंने मराठा शासकों को अयोग्य और हीन बतलाने के लिये जानकर या अनजाने में अपने ग्रन्थ में कर दी हैं । अधिकांश यूरोपियन लेखकों ने मराठा राज्य के संस्थापक शिवाजी को 'लुटेरा' लिख दिया था, पर रानाडे ने अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध किया है कि शिवाजी एक आदर्श नृपति थे, जो सच्चे देशभक्त और भारतीय संस्कृति के रक्षक थे ।

## भारतीय कृषि तथा उद्योग

श्री रानाडे अच्छी तरह जानते थे कि केवल राजनीतिक-क्षेत्र मे कुछ प्रगति होने से देश की समस्या नहीं सुलझ सकती । जनता की मुख्य आवश्यकतायें आर्थिक क्षेत्र से सम्बन्धित रहती हैं । जब तक भारत की कृषि का सुधार न होगा और औद्योगिक-क्षेत्र में प्रगति न होगी तब तक लोगों के अभाव और दरिद्रता दूर नहीं हो सकती ।

सन् १८७६ में जब सरकार ने भारतीय किसानों की दशा सुधारने के लिये एक नया कानून बनाने का विचार किया तो उसके सम्बन्ध मे सब बातों की जाँच करने व रिपोर्ट देने के लिये एक कमेटी नियुक्त कर दी गई जिसके अध्यक्ष पोलन साहब थे तथा जिसमें रानाडे को स्पेशल जज नियुक्त किया गया था । उनका वेतन इस पद पर भारतवासी होने से १४३३ रु. मासिक था, अगर वे यूरोपियन होते तो २३०० रु. वेतन पा सकते थे । पर रानाडे ने इस काम को इतनी योग्यतापूर्वक पूरा किया कि पोलन साहब ने स्वयं उसकी प्रशंसा करते हुए लिखा—

"इसमें तो लेशमात्र सन्देह नहीं कि रानाडे की सम्मति अत्यन्त आदरणीय है । उनके विचार भली प्रकार स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण हैं । इस काम का निरीक्षण उन्होंने बड़ी योग्यता से किया है । उनमें इन सब कामों की व्यवस्था करने की भी शक्ति है । रानाडे की सम्मति की कभी अवहेलना नहीं करनी चाहिये ।" कुछ समय बाद पोलन साहब छुट्टी पर चले गये तो कमेटी का काम अकेले रानाडे ने ही बड़ी योग्यता से किया ।

भारतीय उद्योग-धन्धों की उन्नति की ओर भी रानाडे का बड़ा ध्यान था । इस सम्बन्ध में उन्होंने 'भारतीय अर्थशास्त्र' नामक ग्रन्थ लिखा है, जो देश-विदेशों मे बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया । इसमें उन्होंने अनेकों सुदृढ़ प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया कि वर्तमान परिस्थिति में अबाध अथवा मुक्त-वाणिज्य नीति भारत के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है और इसके कारण यहाँ के उद्योग धन्धों का कभी विकास नहीं हो सकता । इसलिये उन्होंने कांग्रेस के सामने यह प्रस्ताव रखा कि वह भारतवर्ष के लिये संरक्षण युक्त वाणिज्य नीति अपनाने का आन्दोलन करे । पर उस समय कांग्रेस केवल कुछ राजनीतिक सुधारों के लिये आन्दोलन करने तक ही सीमित थी और उसके नेता प्रभावशाली व्याख्यान देने को ही एक 'बड़ी बात' समझते थे, इसलिये उद्योग-धन्धे सम्बन्धी प्रस्ताव का कोई विशेष फल न हुआ । तब रानाडे ने स्वयं पूना में एक 'शिल्प समिति' की स्थापना की, जिसका अधिवेशन प्रतिवर्ष हुआ करता था । इन अधिवेशनों में रानाडे ने अनेक महत्त्वपूर्ण

लेख पढ़े, जिससे औद्योगिक समस्याओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

रानाडे भारतीय व्यवसाय वाणिज्य की उन्नति के लिये केवल एक संस्था की स्थापना करके और उसके सामने कुछ लेख पढ़कर ही संतुष्ट नहीं हो गये, वरन् उन्होंने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करके स्वदेशी को अपनाने की सम्मति सबसे पहले प्रकट की । उन्होंने इस कार्य को श्री गोखले के सुपुर्द किया, जिन्होंने स्वदेशी-व्यवहार का एक प्रतिज्ञा-पत्र छपवाकर अनेक व्यक्तियों से उस पर हस्ताक्षर कराये । इस प्रकार रानाडे ने स्वदेशी आन्दोलन का बीजारोपण उस समय किया जबकि देश में इसकी कहीं चर्चा न थी और लोग नई-नई, सस्ती और आकर्षक विदेशी वस्तुओ पर लट्टू हो रहे थे । इसके दस-पन्द्रह वर्ष पश्चात् जब बंग-भंग के कारण बंगाल और अन्य प्रान्तों मे 'स्वदेशी आन्दोलन' ने जोर पकड़ा तो श्री रानाडे के प्रस्ताव का महत्त्व सबकी समझ मे आया ।

रानाडे के इस कार्य के महत्त्व को श्री गोखले अच्छी तरह समझते थे और वे भी भारत की शासन सभाओं मे भारतीय उद्योग-धन्धों की रक्षा के लिये बराबर प्रयत्न करते रहते थे । श्री रानाडे के देहावसान के पश्चात् उन्होंने स्मारक के लिये उद्योग करके पूना में ही १ लाख रुपया एकत्रित किया और उसके द्वारा "रानाडे इण्डस्ट्रियल एण्ड इकोनोमिक इन्स्टीट्यूट" (रानाडे, औद्योगिक और आर्थिक संस्थान) की स्थापना की । इसका प्रथम उद्देश्य तो एक ऐसा पुस्तकालय स्थापित करना था जिसमें भारत से सम्बन्धित आर्थिक समस्याओं पर सर्वोत्तम ग्रन्थो और अन्य सामग्री का संग्रह किया जाये । इस पुस्तकालय द्वारा अर्थशास्त्र के विद्वानों को अपने विषय के अध्ययन की पूरी सुविधा मिलती थी, जिनसे वे उपयोगी ग्रन्थो की रचना कर सकते थे । दूसरा उद्देश्य था एक ऐसी वैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित करना, जिसमें भारतीय उद्योग-धन्धो में सहायता पहुँचाने वाले आविष्कार किये जा सकें ।

यह दोनो ही लक्ष्य श्री रानाडे के जीवन-आदर्श के अनुकूल थे । श्री गोखले के प्रयत्न से यह दोनो कार्य आरम्भ कर दिये गये, पर इनमे जैसी चाहिये वैसी सफलता न मिली । कारण यह था कि श्री गोखले को वैज्ञानिक प्रयोगशाला के लिये आवश्यक उपकरणों की लागत की जानकारी न थी । यह कार्य इंग्लैण्ड और अमेरिका में भी बहुत धन व्ययसाध्य समझा जाता है और प्रायः सरकारी सहायता से ही संचालित किया जाता है । श्री गोखले को यह भी आशा थी कि इस कार्य में सरकार और म्यूनिसपैलिटी आदि से पर्याप्त सहायता मिल सकेगी, पर तत्कालीन अंग्रेजी सरकार भारतीय उद्योगों की वृद्धि के पक्ष में नहीं थी, इसलिये वह इस संस्था को सहायता देने के प्रश्न को टालती ही रही । इस संस्था का उद्घाटन बम्बई के गवर्नर ने सन् १६१० में किया था और तब से उसमें एक-दो विज्ञान के ग्रेजुएट कुछ खोज कार्य करने लग गये । आरम्भ के कुछ वर्षों में उन्होंने सीमेण्ट बनाने के कई नये पदार्थो और चमड़ा कमाने के अन्य साधनों की खोज की । यद्यपि धन की कमी से यह काम बहुत थोड़ा ही हो सका, पर इसने देशवासियों को राष्ट्रीय उत्थान की सही दिशा का बोध कराया और इसके पश्चात् शीघ्र ही 'टाटा एण्ड सन्स' जैसे धनपतियों ने बड़े परिमाण में यह कार्य आरम्भ किया ।

## धार्मिक विचार और विश्वास

यद्यपि रानाडे एक पुराने विचारो के महाराष्ट्रीय ब्राह्मण परिवार के सदस्य थे और उनकी जाति वाले प्रायः अपनी धार्मिक कट्टरता के लिये प्रसिद्ध हैं, पर वे स्वयं एक स्वतन्त्र विचारों के व्यक्ति थे । यद्यपि वे धर्म और ईश्वर पर विश्वास रखने वाले थे और इनके समर्थन में उन्होने एक बहुत अच्छी पुस्तक भी लिखी है, पर वे अन्धविश्वासों तथा हानिकारक रूढ़ियों के विरोधी थे । वे किसी धर्म-पुस्तक को ईश्वर रचित अथवा आप्त वाक्य नहीं मानते थे । वे चमत्कारो और अद्भुत कार्यों मे भी विश्वास नही रखते थे । उनका कहना था कि चमत्कारो का कारण हमारी बुद्धि मे भ्रम हो जाना ही होता है, अन्यथा प्रकृति के नियम अखण्ड हैं, वे कभी नहीं टूट सकते ।

वे मोक्ष में विश्वास करते थे, पर यह भी कहते थे कि मनुष्य अपने प्रयत्नो से ही उसे प्राप्त कर सकता है । यह सम्भव नहीं कि हम मोक्ष के लिये कोई अन्य प्रयत्न कर सकें । साथ ही यह भी उपहास योग्य बात है कि कोई आदमी किसी अन्य को धन भेंट देकर मोक्ष को खरीद सकता है । इस प्रकार वे पण्डा-पुरोहितों के धन्धे के विरुद्ध थे, क्योंकि इनका आधार अन्धविश्वास

र ही है और ये लोग धनोपार्जन के लिये सामान्य लोगों को बहका कर निरर्थक रूढ़ियों के पालन की प्रेरणा देते ही रहते हैं । इन रूढ़ियों में से अधिकांश अब समय के अनुकूल नहीं रही हैं ।, कितनी ही तो स्पष्टतः हानिकारक भी हो गई हैं फिर भी जिन लोगों का उनके द्वारा स्वार्थ-साधन होता है वे उनको कायम रखने के लिये सदैव एड़ी-चोटी का पसीना एक करते रहते हैं । यदि कोई उनको हटा कर समयानुकूल रीति-रिवाज ग्रहण करने को प्रेरित करता है तो यह उसके भी विरोधी बन जाते हैं ।

यह सब होने पर भी उनको धर्म-विरोधी या नास्तिक नहीं कह सकते । वे कहते थे कि संसार में अनेक ऐसे विषय हैं जिन्हें हमारी परिमित बुद्धि हल नहीं कर सकती । संसार की उत्पत्ति, ईश्वर और उसकी सृष्टि ऐसी ही बातें हैं । इसलिये हमको इन बातों के सत्य या गलत होने के विवाद में न पडकर सत्कर्म करते रहने का ध्यान रखना चाहिये । सत्कर्मों का आचरण करने वाले को कभी परिताप या सन्ताप नहीं उठाना पड़ता ।

मूर्तिपूजा को वे वैदिक सिद्धान्त के अनुकूल नही मानते थे । वे कहते थे कि वेदो में कहीं भी मूर्तिपूजा का उल्लेख नहीं है । वहाँ इन्द्र, अग्नि, मरुत आदि देवों की पूजा यज्ञ-कर्म द्वारा करने को ही बतलाया गया है । बुद्ध और जैन धर्मावलम्बी अपने सिद्धों और साधुओं की पूजा किया करते थे, उन्हीं का अनुकरण करके यह प्रथा भारत के हिन्दुओं ने भी ग्रहण कर ली ।

वास्तव में रानाडे बुद्धिवादी सिद्धान्त पर चलने वाले थे और इसलिये ईश्वर के नाम पर पूजा-पाठ करने की अपेक्षा सत्कर्म और परोपकार करने पर अधिक विश्वास रखते थे । पूजा-पाठ करने वालो में भी दुष्कर्मी मनुष्यों की कमी नहीं होती और 'धर्म' के नाम पर तो अनेक लोगो ने ऐसे-ऐसे नारकीय कर्म और हत्याकाण्ड किये हैं, जिनका स्मरण करके आज भी मनुष्य काँप उठते हैं । इसलिये सच्चा धर्म यही है कि अपने द्वारा बिना भेदभाव के अधिक से अधिक जितने मनुष्यों का हित हो सके उतना किया जाये । इसलिये रानाडे ने एक स्थान पर कहा—

"सम्पूर्ण धर्मों का सार यही है कि हर एक व्यक्ति को अपना चित्त इतना शुद्ध रखना चाहिये कि मित्रों की संख्या बढ़ती जाये और शत्रु कम होते जायें । इसी को शास्त्रों में मैत्री-भाव कहा है ।"

"यह समझना है कि मानव-जीवन और कुछ नहीं केवल एक स्वप्न है, एक प्रकार की नास्तिकता है क्योंकि जो व्यक्ति जीवन को इस प्रकार निस्सार या काल्पनिक समझेगा वह कभी सत्कर्म नहीं कर सकेगा ।"

"प्राचीन काल से हम सर्वथा पृथक् नहीं हो सकते । अपनी प्राचीनता के भाव से हमको दूर होना भी नहीं चाहिये, क्योंकि वह एक बहुमूल्य सम्पत्ति है ।"

"प्रत्येक भारतवासी को यह समझना चाहिये कि पहले मैं भारतीय हूँ और उसके बाद हिन्दू, ईसाई, पारसी अथवा मुसलमान आदि और कुछ ।"

श्री रानाडे के इन विचारों पर मनन करने से प्रतीत होता है कि वे अपने आदर्श और सिद्धान्तों के *प्रति कितने ईमानदार थे । बाह्य पूजा-पाठ की अधिकता* कभी भी धार्मिक होने का प्रमाण नहीं हो सकती । इसके विपरीत जहाँ तक देखा गया है इस प्रकार के व्यक्ति प्रायः अपने सार्वजनिक कर्त्तव्यों के प्रति उपेक्षा रखने वाले सिद्ध होते हैं ।

## रानाडे के उदार सिद्धान्त

श्री रानाडे 'प्रार्थना-समाज' के सदस्य थे जो कलकत्ते की 'ब्रह्म-समाज' का मराठी रूपान्तर था । 'ब्रह्म-समाजी' बड़े आधुनिकतावादी समझे जाते हैं और आरम्भ में तो पण्डितों ने उनको हिन्दुओ से पृथक् ही कर दिया था । बम्बई में 'प्रार्थना-समाज' वाले वैसी स्थिति को तो नहीं पहुँचे तो भी प्राचीन विचारो वाले उनको धार्मिक किसी प्रकार नहीं मानते थे, पर रानाडे ने नेता के रूप में उसका संचालन ऐसी योग्यता और सहानुभूतियुक्त तरीके से किया कि उसका प्रभाव सर्वसाधारण पर भी काफी पडा और उसके द्वारा विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा, अछूतोद्धार आदि के अनेक समाज-सुधार सम्बन्धी कार्य प्रशंसनीय रूप मे किये जाते रहे ।

यद्यपि 'प्रार्थना-समाज' और 'आर्य-समाज' के सिद्धान्तों में बहुत अन्तर था, फिर भी रानाडे एक सुधारक की हैसियत से आर्यसमाज के प्रति भी सहानुभूति

रखते थे । जब स्वामी दयानन्द प्रथम बार पूना पहुँचे और उन्होंने मूर्तिपूजा आदि के विरुद्ध कई व्याख्यान दिये, तो वहाँ के सनातनी उनसे बहुत चिढ़ गये । जब स्वामी जी पूना से जाने लगे तो उनके अनुयायियों ने उनका एक बड़ा जुलूस निकालने का विचार किया, पर उनकी संख्या बहुत थोड़ी थी और विरोधी लोग बहुत अधिक थे । उन्होंने अपना विचार श्री रानाडे के सम्मुख प्रकट किया तो वे सहयोग देने को तैयार हो गये । उन्होंने जुलूस के सफलतापूर्वक निकलने का सब प्रबन्ध कर दिया ।

पर विरोधी दल वालों को भी इसकी खबर मिल गई और उन्होंने स्वामी दयानन्द का अपमान करने के लिये उसी दिन 'गर्दभानन्दाचार्य' की सवारी निकालने का निश्चय किया । नियत समय पर दोनों दलों ने अपने-अपने जुलूस निकाले । जब रानाडे को विरोधी दल द्वारा 'गर्दभानन्दाचार्य' की सवारी निकालने की खबर मिली तो वे जी खोलकर खूब हँसे । पर दोनो दलो में कोई संघर्ष न हो जाये, इसके लिये उन्होंने पुलिस का प्रबन्ध करा दिया और स्वयं भी स्वामी जी के जुलूस के साथ चले । स्वामी जी का जुलूस बड़ी शान के साथ निकाला गया था । उसमे सब से आगे एक पालकी में 'वेद-भगवान' विराजमान किये गये थे । उसके पीछे एक हाथी पर स्वामी दयानन्द को बिठाया गया था ।

पहले तो विरोधियों ने खूब शोर-गुल मचाया और फिर गालियाँ बकने लगे, पर जब इससे कोई असर पड़ता न देखा तो वे रास्ते से कीचड़ उठाकर फेंकने लगे । उस दिन वर्षा भी हो गई थी, इसलिये कीचड़ हर जगह तैयार थी । कुछ कीचड़ पुलिस वालो पर भी पड़ी तो वे विरोधियों को पीटने को तैयार हुए । पर रानाडे ने पहले ही कह रखा था कि जब तक हम न कहें तब तक मार-पीट मत करना । इस कारण सिपाही चुप रहे । पर जब विरोधी लोग ईंट-पत्थर फेंकने लगे और कई ईंट तो रानाडे को भी लगी, तब उन्होंने सिपाहियो से भीड को शान्तिपूर्वक भगा देने को कहा । सिपाहियो ने जब लोगों को हटाया तो वे भाग खड़े हुए ।

इस तरह जुलूस किसी तरह अन्त तक पहुँच गया । रानाडे जब घर पहुँचे तो उनके कपडे कीचड़ से खराब हो गये थे । लोगों ने उनसे कहा कि "आपके साथ तो इतने सिपाही थे, आप पर कीचड़ कैसे पड़ गयी ?" रानाडे ने उत्तर दिया—"जब मैं जुलूस में था तो अन्य लोगों के साथ कीचड़ मुझ पर पड़नी ही थी, पर इसमें लड़ाई-झगड़ा अथवा मुकदमा चलाने की कोई बात नहीं । इस तरह के सार्वजनिक कार्यों में मतभेद और झड़प होती रहती हैं । ऐसे मामलो में मानापमान का विचार नही किया जाता ।"

## सादगी और निरभिमानिता

श्री रानाडे की सादगी और निरभिमानिता इतनी अधिक थी कि आज तक उसके कई उदाहरण स्कूल की पुस्तकों में पढ़ाये जाते हैं । इनमे से एक लकड़ी बेचने वाली बुढ़िया की घटना आमतौर से प्रसिद्ध है । एक दिन शाम के समय जब रानाडे पैदल ही टहलने जा रहे थे तो उस बुढ़िया ने इनको साधारण वेश-भूषा मे देखकर कोई मामूली आदमी समझा और कहा—"दादा ! मेरे इस बोझ को उठवा दे !" रानाडे ने खुशी से यह काम पूरा कर दिया । इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर उन्होंने एक घास का बोझा किसी के सर पर रखवा दिया था । एक बार एक बनिया ने भी उनको सामान्य ब्राह्मण समझकर दान मे सीधा लेने को कहा । इन्होने उससे सीधा ले लिया और आगे जाकर किसी भिखारी को सब सामग्री दे दी ।

आज से अस्सी वर्ष पहले, जिस समय की ये घटनाये है, हाईकोर्ट का जज होना कोई छोटी बात न थी । उस समय तक इतना ऊँचा पद पाने वाले भारतवासियों की सख्या समस्त देश मे दस-बीस से अधिक न थी । उस समय उनको जो डेढ हजार रुपये के लगभग वेतन मिलता था वह वर्तमान समय के बाजार-भावो के अनुसार कम से कम २० हजार रु० के बराबर था । वैसे जनता में भी उनका इतना सम्मान था कि कोई सभा-संस्था या सार्वजनिक कार्य-क्रम ऐसा न होता था, जहाँ रानाडे को निमन्त्रित न किया जाये । पर इस सब के होते हुए भी उनमे किसी प्रकार के अहकार अथवा प्रदर्शन का भाव लेशमात्र भी उत्पन्न नही हुआ था और वे प्राय: जनता के एक सामान्य व्यक्ति की तरह ही रहते थे ।

ऊपर जो तीन घटनाये दी गई है, वे तो अनजान और गरीब लोगों की है जो इनके महत्त्व और दर्जे

को समझने के योग्य ही न थे । पर अन्य अवसरों पर भी वे ऐसी ही सरलता और सादगी का परिचय देते थे । वे सामान्य लोगों के साथ भी ऐसी नम्रता से बात करते थे मानो वे कोई उनसे छोटे व्यक्ति हैं । वे सन् १८९३ की लाहौर कांग्रेस में नेता के रूप में गये थे । उसी अवसर पर डी. ए. वी. कॉलेज में आर्य-समाज की तरफ से बड़ी भारी सभा की गई जिसमें प्रसिद्ध वक्ता श्री द्वारिकादास ने एक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिया । श्री रानाडे भी इस सभा मे शामिल हुए, पर मंच पर जाने के बजाय अन्य दर्शकों की तरह चुपचाप जाकर एक कोने मे बैठ गये । कुछ देर बाद लाला लाजपत राय ने उनको देख लिया । उन्होंने कहा—

"भाइयो, यह बड़ी प्रसन्नता और सौभाग्य की बात है कि श्री रानाडे भी हमारे इस जलसे में मौजूद हैं । रानाडे वास्तव में उन महापुरुषों में से है जिन पर भारत को गर्व है । यहाँ पर मैं इतना और कह देना चाहता हूँ कि वे उन महापुरुषों में से भी हैं जो स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्पर्क मे आये है ।" इस प्रकार जनता को जब रानाडे के वहाँ होने का पता चला तो सबने बड़ी प्रसन्नता से तालियाँ बजाकर उनका स्वागत किया ।

## विरोधी से भी मैत्री-भाव

श्री कुण्टे पूना के सार्वजनिक कार्यकर्ता थे । वे श्री रानाडे के साथ पढ़े थे और दोनों में पर्याप्त घनिष्ठता थी, पर जब सन् १८८५ मे लार्ड रिपन ने भारतवासियों को नागरिक स्वशासन का अधिकार दिया और विभिन्न नगरों में 'नगरपालिकाओं' के चुनाव का प्रश्न उठ खड़ा हुआ तो कुण्टे और रानाडे में मतभेद हो गया । रानाडे का कहना था कि नगरपालिका मे अधिकाश सदस्य भारतीय रहने चाहिये जिससे वे स्वशासन की शिक्षा प्राप्त कर सके और आत्मनिर्भर होने की योग्यता प्राप्त करने का अवसर पा सकें, पर कुण्टे महोदय भारतवासियो को इस योग्य नहीं समझते थे और उनका मत था कि नगरपालिकाओं में अधिक सख्या अंग्रेज अफसरो की होनी चाहिये । एक दिन श्री रानाडे ने कुण्टे को इस प्रकार का प्रतिगामी मत रखने के लिये फटकारा तो वह अहमन्यतावश इनके विरोधी बन गये और नित्यप्रति सार्वजनिक सभाओं का आयोजन करके रानाडे के मत का खण्डन करने लगे, साथ ही रानाडे के ऊपर तरह-तरह के उचित-अनुचित आक्षेप करने लगे ।

अपने एक मित्र कहलाने वाले की यह करतूत देखकर रानाडे को बड़ा दुःख हुआ । उनको अपने ऊपर होने वाले आक्षेपों की चिन्ता नहीं थी, पर उनके आपस के झगड़े को देखकर अंग्रेज भारतवासियों को स्वायत्त शासन के भी अयोग्य समझने लगेंगे इसका खेद उनको अवश्य था । इसलिये जब उन्होंने इस मामले को बढ़ते देखा तो इसे समाप्त करने का एक दूसरा ही उपाय सोचा ।

उस दिन शाम को जब कुण्टे महोदय एक सार्वजनिक सभा में रानाडे पर आक्षेपों की बौछार कर रहे थे तो ये भी सभा मे जा पहुँचे और भाषण सुनने लगे । जब भाषण पूरा होकर सभा समाप्त हो गई तो ये कुण्टे के पास चले गये, पर वे इतने नाराज थे कि उन्होंने रानाडे की तरफ पीठ कर ली । यह देखकर रानाडे उनके और समीप चले गये और जबर्दस्ती बातचीत करने लग गये । इसके पश्चात् उन्होने कुण्टे से अपनी गाड़ी मे बैठकर चलने को कहा, पर कुण्टे ने अस्वीकार कर दिया और वे अपनी गाड़ी में ही बैठकर जाने लगे । तब रानाडे स्वयं उनकी गाड़ी मे जा बैठे और कहने लगे कि "अगर आप मेरी गाड़ी में नही बैठ सकते हैं तो मैं ही आपकी गाड़ी में बैठकर चलूँगा ।" इसके पश्चात् दोनों में बातचीत होने लगी और रानाडे ने अपना मत इस प्रकार समझाया कि कुण्टे ने उनका विरोध छोड़ दिया और वे अंग्रेजों के बजाय भारतवासियो के सदस्य बनने के अनुकूल हो गये ।

इस सामान्य घटना ने यह सिद्ध कर दिया कि सच्चे महापुरुषों का क्या लक्षण होता है ? रानाडे ने सबसे पहले समाज के हित पर ध्यान दिया और नम्रता का व्यवहार करके बिगड़ती बात को बना लिया । ऐसी घटनाओं में प्रायः देखा जाता है कि दोनो पक्ष सिद्धान्त की उतनी चिन्ता नही करते जितनी कि अपनी टेक और शान की । इसलिये बराबर एक-दूसरे से खिचते चले जाते है और पुराने मित्र प्रायः घोर शत्रु के रूप मे परिणत हो जाते हैं । पर श्री रानाडे मे मैत्री भाव की इतनी प्रबलता थी कि उन्होंने एक हठवादी और तुनुक मिजाज व्यक्ति को भी अपने मधुर

व्यवहार द्वारा विरोधी की अपेक्षा मित्र और सहायक वना लिया ।

श्री रानाडे का यह कार्य सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के लिये निःसन्देह अत्यन्त शिक्षाप्रद है । अनेक लोग देश सेवा और जन-कल्याण का नाम लेते हुए भी 'झूठे बडप्पन' के भाव से इतने अभिभूत रहते हैं कि एक साधारण-सी बात पर आपस में मतभेद पैदा कर लेते हैं और अपनी टेक कायम रखने के लिये सार्वजनिक कार्य को बिगाड़ देते हैं । यह एक वड़ी गलत प्रवृत्ति है जो प्रायः सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में पाई जाती है । इस प्रकार के व्यक्ति को देश तथा समाज का सेवक तो कहा ही नहीं जा सकता । वे तो अपनी शान और गौरव के भूखे होते हैं और उनको कायम रखने के लिये मूल उद्देश्य को नष्ट हो जाने देते हैं । श्री रानाडे ने अपने प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा दिखला दिया कि यदि कोई व्यक्ति गलत रास्ते पर जा रहा हो तो यह आवश्यक नहीं कि हम भी वैसी ही गलती करके उसका मुकाबला करे । ऐसे अवसर पर झूठी शान को त्याग कर, नम्रता और विनय से काम लेकर बिगड़ते काम को बना लेने में ही सच्ची योग्यता और महानता है ।

## नाई को गुरु बनाया

सन् १८८७ में रानाडे को 'फाइनेन्स कमेटी' के कार्य के निमित्त शिमला से मद्रास तक भारत के सभी भागों में घूमना पड़ा । जब वे इस कार्य के लिये कलकत्ता में ठहरे हुए थे तो एक दिन एक बंगाली भाषा का अखबार बेचने वाला उनके बंगले मे चला आया और कहने लगा 'आप इस समाचार पत्र के ग्राहक बन जाइये ।

रानाडे की पत्नी श्रीमती रमाबाई ने उससे कह दिया—"भाई, हमें तो यहाँ की भाषा आती नही, हम इस अखबार को लेकर क्या करेगे ?" पर अखबार बेचने वाले ने फिर वही बात रानाडे से कही ।

रानाडे ने कहा—"अच्छा आज का अखबार रख जाओ । इसके बाद एक सप्ताह ठहर कर आना और तब हमारा नाम ग्राहको मे लिख लेना ।" जब अखबारवाला चला गया तो उन्होंने अपनी पत्नी से कहा—"हमें यहाँ कई महीने रहना है । इसलिये यहाँ की भाषा से परिचित न होना हमारे लिये लज्जा की बात होगी । तुमको यहाँ की भाषा सीख लेना चाहिये ।"

रमाबाई ने कहा—"जब बंगाली हम लोगों की भाषा नहीं है तो वह हमको बिना सीखे कैसे आ सकती है ? इसमें लज्जा की क्या बात है ?" फिर भी रानाडे उनसे कहते रहे—"नहीं, तुमको यह भाषा सीख लेना आवश्यक है ।"

रमाबाई ने कुछ सोचकर उत्तर दिया—"अच्छा, मैं बंगाली सीख लूँगी, किन्तु आपसे ही सीखूँगी, और किसी अध्यापक से सीखने को तैयार नहीं हूँ ।" वह जानती थी कि रानाडे तो बंगला भाषा जानते नहीं, और इस कारण यह बात यो ही रह जायेगी ।

रानाडे दूसरे ही दिन बाजार जाकर अंग्रेजी की मदद से बंगला सीखने की कोशिश करने के लिए, कितनी ही पुस्तके खरीद लाये और उसी दिन से उन्होंने उस भाषा को सीखना आरम्भ कर दिया । दो दिन तक खूब परिश्रम करके उन्होंने कुछ जानकारी प्राप्त कर ली और तीसरे दिन से अपनी पत्नी को स्वयं बंगाली पढ़ाना आरम्भ कर दिया ।

एक दिन जब रमाबाई बंगला पढ़कर भीतर चली गई और घर-गृहस्थी का काम करने लगीं तो रानाडे एक नाई से हजामत बनवाने लग गये, पर बंगला भाषा की पुस्तक उस समय भी उनके हाथ मे थी ।

जब नाई हजामत बना रहा था तो रानाडे बंगला पुस्तक पढ़ते जाते थे और नाई से शब्दों का उच्चारण पूछते जाते थे । जब रमाबाई ने भीतर मे बैठक मे दो व्यक्तियों को बोलते सुना तो उसे कुछ आश्चर्य हुआ, क्योंकि घर मे और कोई व्यक्ति न था । उसने दरवाजे से झाँककर देखा तो रानाडे को नाई से पूछ-पूछ कर पुस्तक पढ़ते देखा । यह दृश्य देखकर उनको बड़ी हँसी आई और भीतर जाकर खूब हँसी । जब नाई हजामत बनाकर चला गया तो उसने कमरे में आकर कहा—"वाह, मास्टर तो अच्छा मिला । मुझे तो मालूम पड़ता है कि आप भी दत्तात्रेय की तरह चुन-चुन कर गुरु बना रहे है ।"

पर इस घटना के बाद रमाबाई ने खूब ध्यान देकर बंगला पढना आरम्भ किया और डेढ महीने में वे बंगला अच्छी तरह पढ़ने और समझने लग गईं ।

उन्होंने उस भाषा के अनेक सुन्दर उपन्यास और अन्य साहित्यिक पुस्तकें पढ़ डालीं।

यद्यपि दत्तात्रेय की तरह चाहे जिसको गुरु बना लेने की बात रमाबाई ने हँसी में ही कही थी, पर वास्तव में उसमें बहुत कुछ सच्चाई थी। रानाडे जन्म से बड़े प्रतिभाशाली नहीं थे। छोटी अवस्था मे तो उनके घर वाले उनको निरा आलसी और दब्बू समझते थे। स्कूल में भी उन्होंने कभी सबसे तेज छात्र होने का परिचय नहीं दिया। पर वे उद्योगी बड़े भारी थे और प्रत्येक बात को खूब ध्यान देकर सीखते थे और धैर्यपूर्वक अभ्यास करने का गुण उनमे बहुत अधिक था। यही कारण था कि साधारण बुद्धि वाले होने पर भी विद्या और अनुभव में अपने से अधिक बुद्धिमानों की अपेक्षा कहीं आगे बढ़ गये। वे अपनी लगन और धुन के पक्के थे और जिस काम में हाथ लगाते थे उसे अच्छी तरह पूरा करके ही छोड़ते थे। यही कारण है कि उनको कानून की मूल बातों का ज्ञान बहुत अधिक था और वे अपने सामने आने वाले मुकदमों का फैसला ऐसी मेहनत और ईमानदारी से लिखते थे कि किसी को उसमें एक अक्षर बदलने की गुंजाइश नहीं मिलती थी। इसी से न्याय-विभाग में वे उन्नति करते हुए सर्वोच्च पद पर जा पहुँचे।

## रानाडे का पारिवारिक जीवन

जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है रानाडे ने अपनी पहली पत्नी सखूबाई का देहान्त हो जाने पर पिता के दबाव से विधवा-विवाह न करके रमाबाई के साथ विवाह किया था। विवाह के समय तक रमाबाई कुछ भी पढ़ी-लिखी न थीं। पर बाद में रानाडे ने उनके पढ़ने का बहुत अच्छा प्रबन्ध कर दिया। वे स्वयं भी रात्रि में कुछ समय देकर उनको पढ़ाते थे और एक अध्यापक भी नियुक्त कर दिया था। इससे कुछ ही वर्षों में उन्होंने मराठी तथा अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया, पर इस कार्य में घर की पुराने ढंग की स्त्रियों के कारण उन्हें बड़ी परेशानी उठानी पड़ी। इन सब बातों का वर्णन स्वयं रमाबाई ने अपनी पुस्तक "हमारे जीवन की स्मृतियाँ" में किया है। यह ग्रन्थ मराठी मे अपने ढंग का अनोखा माना जाता है। इसकी भूमिका गोखले ने लिखी है और इससे रानाडे और रमाबाई के जीवन की अनेक घटनाओ पर प्रकाश पड़ता है, जिनका वर्णन और किसी तरह मालूम नहीं हो सकता था।

रमाबाई को विद्या प्राप्त करने मे वास्तव में बड़ा संघर्ष करना पड़ा था और रूढ़िवादी स्त्रियों के कारण कुछ कष्ट भी उठाने पड़े थे। रमाबाई ने लिखा है कि "रानाडे की माता पढ़ने-लिखने के कारण उसे प्रायः डाटती-फटकारती रहती थी और उनकी बहिन (रमाबाई की ननद) भी उसको प्रायः उल्टी-सीधी बाते सुनाया करती थीं। कई बार तो ये स्त्रियाँ उनको घर से निकल जाने को कहती थीं, यद्यपि ये सभी सम्बन्धी स्त्रियाँ एक दृष्टि से रानाडे के आश्रित ही थीं, पर रानाडे ने मर्यादा का ख्याल रखकर उनके सामने पत्नी के पक्ष मे एक शब्द तक मुँह से नहीं निकाला। वे एकान्त में रमाबाई को ही समझाते और शान्त करते रहते थे।

जब कभी ये स्त्रियाँ रमाबाई को अंग्रेजी पढ़ते-लिखते देखती तब तो बहुत ही उग्र रूप धारण कर लेती थीं और ऐसी-ऐसी बातें सुनातीं जिनके कारण दुःखी होकर उसे घण्टों रोना पड़ता था। एक दिन वह अंग्रेजी का अखबार पढ़ते हुए अपने कमरे से बाहर निकल आई। इस पर रानाडे की छोटी बहिन ने उसे सैकड़ों खरी-खोटी सुनाईं और कहा—"तुम्हारा स्थान ऊपर है वहाँ पर खूब नाचो और पढ़ो।"

एक अवसर पर जब लड़कियों के एक स्कूल की स्थापना के प्रश्न को लेकर सभा की गई तो उसमें बम्बई के गवर्नर भी पधारे। उस समय गवर्नर को दिये जाने वाले एड्रेस को पढ़ने का भार रमाबाई को दिया गया। रानाडे ने इसे स्वीकार कर लिया और उनकी आज्ञा से रमाबाई ने सभा में उसे पढ कर सुना दिया।

इसका हाल जब रानाडे की ताई ने सुना तो वे बहुत बिगड़ी और कहने लगीं "अब की स्त्रियों की बात ही निराली है। वे पुरुषों के सामने बोलने में भी नहीं शर्माती। पहले की स्त्रियाँ तो पुरुषों के सामने जाने में भी लजाती रहीं। पर तुम क्या करो, समय ही ऐसा आ गया है। पहले तो धार्मिक प्रयोजनो ही के लिये स्त्री-पुरुष एकत्रित होते थे। पुराण सुनने के लिये अवश्य एक साथ जाते थे परन्तु वहाँ भी अलग-अलग बैठते थे। अब तो औरतें मर्दों की भी

नाक काट रही हैं और उनके साथ कुर्सी पर बैठने मे बिल्कुल नहीं शर्मातीं ।

"अब तो स्त्रियाँ पुरुषों की ही तरह पढ़ती-लिखती और सब कुछ करती हैं । तुम्हें क्या सूझी थी ? हजारों पुरुषों के बीच में खड़ी होकर अंग्रेजी पढ़ने में तुम्हें लाज नहीं आई ? सच है पढने-लिखने मे औरतो की आँखों का पानी उतर जाता है । स्त्रियों को रामायण बाँचना ही बहुत है । बेटी, बुरा न मानो, अब भी अंग्रेजी पढ़ना छोड़ दो तो अच्छा है । मुँह से कुछ बोलती नहीं । घर में जब मैं खूब बिगड़ती हूँ तो यह चुप रहती है, परन्तु बाहर जाकर कहाँ से इतनी ढिठाई सीख लेती है ?" इन बातों को सुनकर रमाबाई को बड़ा कष्ट हुआ और वह बड़ी देर तक रोती रहीं ।

रात्रि को घर आने पर जब रानाडे ने यह किस्सा सुना तो वे बहुत हँसे और रमाबाई को समझाते और धैर्य बँधाते हुए कहा—तुम्हें इन बातों से दुःखी नही होना चाहिये । बल्कि तुम्हें तो और अधिक सहनशील होना चाहिये । वे चाहे जो कहें, उसका जबाव देने की तुम्हें जरूरत ही नहीं । अन्त में वे स्वयं चुप हो जायेंगी । मै अच्छी तरह जानता हूँ कि इस प्रकार की बातो को सुनना और चुपचाप सहन करते रहना बड़ा कठिन है, पर इसी में तो तुम्हारी बड़ाई है, इसी में महत्ता है और तुम्हारा परम कल्याण है । यह सहनशीलता भविष्य में तुम्हें बड़ा काम देगी ।"

अन्त में रानाडे का कहना सत्य हुआ । घर की पुरानी औरतें तो बकझक करती हुई एक-एक करके चुप हो गईं, पर रमाबाई ने क्रमशः अपनी योग्यता इतनी बढ़ाली कि एक दिन वह देश की प्रसिद्ध विदुषी और नेत्री बन गईं । रानाडे के पास जो बहुत-सी पुस्तकें समालोचनार्थ आया करती थी, उनको वे ही पढ़कर सुनाया करती थीं और फिर उनके विचारो को स्वयं ही लिखा करती थीं । इससे रानाडे को पर्याप्त सहायता मिल जाती थी, क्योकि कानून की परीक्षा पास करते समय उन्होंने इतनी अधिक पढ़ाई की थी कि उसके कारण उनकी आँखें कमजोर पड़ गई थी और उनको लिखने-पढने का काम करने मे काफी-जोर पड़ता था ।

रमाबाई को सब तरह से योग्य देखकर उन्होंने घर का सारा प्रबन्ध उन्हीं के हाथ में दिया था । वे सब रुपया-पैसा लाकर उन्हीं को दे देते और वह घर के आय-व्यय तथा नौकरों के वेतन आदि का हिसाब रखती थीं । वह मितव्ययिता के नियमों को जानती थीं, इसलिये थोड़े खर्चे में घर की संतोषजनक व्यवस्था कर लेती थीं । रानाडे के खाने-पीने और स्वास्थ्य का भी वह ख्याल रखती थीं । इस प्रकार रानाडे उनके कारण अपने को सौभाग्यवान समझने लगे थे । उन्होंने एक बार स्वयं रमाबाई की प्रशंसा करते हुए कहा था—

"रमाबाई की समझदारी, सहन-शक्ति सहयोग-भावना और जीवन को उपयोगी तथा पूर्ण बनाने की चेष्टा ने मेरे अधूरेपन को दूर कर दिया । वह सच्चे अर्थों में मेरी जीवन-सहचरी है । वह उन समाज सुधारिकाओं में से है, जिन्होंने कटु आलोचनाओं की परवाह न करते हुए दुःखियों की सेवा को अपना ध्येय बनाया है ।

रानाडे की शिक्षा और प्रभाव से रमाबाई ने सार्वजनिक क्षेत्र में बहुत अधिक प्रगति की थी और यह कहा जा सकता है कि एक प्रकार से वे रानाडे के समाज सेवा कार्यक्रम को उनके देहान्त के पश्चात् भी बहुत संतोषजनक रीति से पूरा करती रहीं ।

भारतीय महिलाओं की उन्नति और सेवा करने के उद्देश्य से उन्होंने "महिला सेवा सदन" की स्थापना की और धीरे-धीरे इसकी शाखायें बम्बई नगर और प्रान्त के अनेक नगरों में कायम हो गईं । इस संस्था के द्वारा महिलाओ को लिखने-पढ़ने, अच्छी गृहिणी बनने और सामाजिक प्रगति करने मे सहायता दी जाती थी । इस संस्था की तरफ से 'नर्सिंग' और चिकित्सा की शाखायें खोली गईं जिनमें उच्च जाति की महिलायें और कन्यायें सेवा करती थीं । इस संस्था के रूप में विधवाओ, दुःखियों, बीमारों और सामाजिक अत्याचार से पीड़ितो के लिये रमाबाई का नाम प्रेरणा का स्रोत बन गया । वे कहा करती थी कि हमारा जीवन एक अमानत है, अमूल्य निधि है, इसको व्यर्थ के कार्यो मे बर्बाद कर डालना या अपने को असमर्थ मानकर निकम्मा बना लेना कभी उचित नहीं कहा जा सकता ।

रानाडे के देहान्त होने पर रमाबाई को बड़ा शोक हुआ और एक वर्ष तक वे प्रायः घर मे ही रहीं ।

इसके बाद उन्होंने पति की शिक्षा और उनके २७ वर्ष के सहवास की स्मृतियों को याद करके, अपना जीवन कष्टों से पीड़ित नारी-समाज की सेवा के लिये अर्पित कर दिया। अपने पति की मृत्यु के पश्चात वे बीस वर्ष तक जीवित रही और इस बीच में उन्होंने प्रयत्न करके सुयोग्य महिला कार्यकत्रियों का एक ऐसा दल तैयार किया जिसने दुःखी और अत्याचार-पीड़ित नारियों की सेवा को ही अपना जीवन का ध्येय बना लिया और तरह-तरह से लाखों स्त्रियों को सहायता पहुँचाई।

## कठिन परिस्थितियों में राजनीतिक सेवा

बहुत से लोग श्री रानाडे को एक विद्वान समाज-सुधारक और न्यायमूर्ति जज के रूप में ही जानते हैं। वे सोचते हैं कि सरकारी नौकरी करते हुए वे कोई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्य कैसे कर सकते होंगे? पर यह रानाडे की एक प्रकार से अपूर्वता ही है कि हाईकोर्ट के जज जैसे उच्च सरकारी पद पर काम करते हुए भी उन्होंने भारत के राजनीतिक क्षेत्र में अपना चिरस्मरणीय स्थान बना लिया था। बहुत लोगों को यह बात कुछ आश्चर्यजनक जान पड़ेगी कि वे तिलक और गोखले दोनों के राजनीतिक गुरु थे। इन दोनों महान नेताओं ने, जिनको यदि तत्कालीन भारतीय राजनीति का उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव कहा जाये तो अनुचित न होगा, उन्होंने श्री रानाडे की बड़ी प्रशंसा की है और उनको अपना मार्ग-दर्शक स्वीकार किया है। लोकमान्य तिलक ने उनका स्वर्गवास होने पर अपने 'मराठा' पत्र में श्रद्धांजलि देते हुए लिखा था—

"श्री रानाडे के समान महापुरुष-रत्न की मृत्यु से भारत की जो हानि हुई है, उसका ठीक-ठीक अनुमान करना कठिन है। वे अद्वितीय वक्ता थे, उत्तम तथा श्रेष्ठ ग्रन्थकार थे, प्रभावशाली समाज-संशोधक थे और प्रसिद्ध पण्डित थे। उनकी राजनीतिक विवेचना महत्त्वपूर्ण हुआ करती थी। वे पारदर्शी विद्वान और जनता से सच्ची सहानुभूति रखने वाले एक पवित्र देशभक्त थे। वे उन्नीसवीं शताब्दी के एक ही आदमी थे। एक पूरी शताब्दी भी ऐसे मनुष्य को कठिनता से अपने गर्भ में रख सकती है। यदि वे अंग्रेज होते तो ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में एक बहुत ऊँचा पद प्राप्त कर लेते। उन्होंने अनेक जन-कल्याणकारी संस्थायें स्थापित की और अनेक राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को तैयार किया।"

यह तो अन्यत्र बतलाया ही जा चुका है कि रानाडे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मूल संस्थापकों में से थे। यद्यपि भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में ह्यूम साहब को कांग्रेस का 'जन्मदाता' माना गया है, पर जानकार लोगों का यह भी कहना है कि ह्यूम साहब को इसकी सर्वप्रथम प्रेरणा देने वाले रानाडे ही थे। कुछ भी हो ह्यूम साहब भी रानाडे को 'गुरु महादेव' कह कर पुकारते थे। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन से लेकर वे अपने जीवन के अन्त तक प्रत्येक अधिवेशन में सम्मिलित होते रहे और उसकी नीति का निर्धारण करने में विशेष सहयोग देते रहे। यद्यपि उन्होंने इस कार्य को ऐसी कुशलता और सावधानी के साथ किया कि सरकार को उनके विरुद्ध कुछ कहने का मौका न मिला, फिर भी जैसा हम जानते हैं अंग्रेज अधिकारी मन में उनसे असन्तुष्ट रहते थे और उनकी पदोन्नति में यथासम्भव अड़ंगा लगाया करते थे।

सन् १६०० में कांग्रेस का अधिवेशन लाहौर में होने वाला था। बीमार होने पर भी वे कई अन्य नेताओं को साथ लेकर बम्बई आये, जहाँ से गोखले तथा अन्य नेता भी उनके साथ जाने वाले थे। पर बम्बई पहुँचने पर उनकी बीमारी और बढ़ गई और उनको रोगशैय्या पर लिटा देना पड़ा। फिर भी उस दिन दोपहर को गोखले आदि नेताओं से कांग्रेस के कार्यक्रम आदि के सम्बन्ध में बातचीत करते रहे और कांग्रेस के लिये लाहौर चलने का निश्चय कर लिया। पर संध्या के समय बीमारी ने कठिन रूप धारण कर लिया और उनकी धर्मपत्नी रमाबाई ऐसी स्थिति में यात्रा न करने का अनुरोध करने लगी। गोखले आदि नेताओं ने भी हालत खराब देखकर न चलने की सम्मति दी। उसी समय वे डॉक्टर भी आ गये जो उनकी चिकित्सा कर रहे थे। उन्होंने रानाडे को लाहौर जाने से मना कर दिया।

सबकी ऐसी सम्मति देखकर रानाडे की मुखाकृति उदास हो गई। उन्होंने गोखले की तरफ देखकर कहा—"कहो, अब क्या करूँ?" गोखले ने कहा—"इस सम्बन्ध में डॉक्टर की सम्मति के अनुसार चलना ही ठीक है। कांग्रेस में जैसा आप कहेंगे वैसा मैं कर दूँगा।"

अब कोई उपाय न देखकर रानाडे ने कहा—"अच्छा लो, अब कांग्रेस मे तुम्ही मेरी ओर से भी काम करो। बहुत ही शीघ्र मैं इस संसार से उठ जाऊँगा। मेरे देहान्त के पश्चात् तो यह काम तुम्हें करना ही है।" अन्त में सब उपस्थित नेताओं ने यही निश्चय किया कि रानाडे लाहौर न जायें और उन्होने भी इसे स्वीकार कर लिया। परन्तु इस विचार से उनको इतना कष्ट पहुँचा कि आँखों से आँसू बहने लगे और उन्होने भरे हुए कण्ठ से कहा—"कांग्रेस में शामिल न होने का आज मेरा यह पहला ही अवसर है।"

गोखले ने कांग्रेस में श्री रानाडे का पत्र पढ़कर बड़ा प्रभावशाली भाषण किया। जब उस भाषण को रानाडे ने समाचारपत्रो में पढ़ा तो उन्होंने तुरन्त उनको एक पत्र द्वारा सूचित किया—"प्यारे गोखले! समाचारपत्रों में तुम्हारे व्याख्यान को पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम भविष्य में भारत का भार उठा सकोगे। एक प्रकार से मै भारत के भविष्य के सम्बन्ध में चिन्तित रहा करता था, परन्तु अब मेरी वह चिन्ता बहुत कम हो गई।

मातृभूमि के प्रति सेवा की यह आन्तरिक और अकृत्रिम भावना ही वह चीज है, जिसने श्री रानाडे को उन्नीसवीं शताब्दी का सर्वोत्कृष्ट देशभक्त बना दिया। लोग जानते थे कि विद्या, प्रतिभा, वाग्मिता, अध्यवसाय और राजनीतिक चतुरता की दृष्टि से उस समय कितने ही व्यक्ति रानाडे से बढ़े-चढ़े थे, पर उन्होंने अपने इन सब गुणों को जिस हार्दिक भावना से पूर्णतः देशमाता के चरणों में निछावर कर दिया उसका दूसरा उदाहरण मिलना कठिन था। यही कारण उनको जनता तथा तत्कालीन राजनीतिक कार्यकर्ताओं की दृष्टि में भी महान बनाने वाला सिद्ध हुआ। हम भी अगर जन-सेवा के कार्य को सच्चे हृदय से अपनायें और कोई गुप्त या प्रकट स्वार्थ का भाव न रखकर अपनी सामर्थ्य और शक्तिभर इस सत्कार्य में सहयोग प्रदान करते रहें तो निःसन्देह ऐसी ही उच्च पदवी को प्राप्त करने में सफल हो सकते है।

## भारत को 'लकवा' मार गया है

श्री रानाडे को अपने देश के छोटे-बड़े समस्त निवासियों के हित का ध्यान सदैव बना रहता था। वे जब किसी से बात-चीत करते थे तो उस चर्चा का सार यही होता था कि देश की कैसी दुर्दशा हो रही है और उसका सुधार किस प्रकार हो सकता है? भारतवर्ष के महान इंजीनियर श्री विश्वेश्वरैया एक दिन रानाडे के घर पर चाय पीने के लिये निमन्त्रित किये गये। वे उन्हीं दिनों जापान का भ्रमण करके वापस आये थे। इसलिये स्वभावतः ही उनकी चर्चा का विषय जापान की प्रगति ही रहा। जापान, जो कुछ ही समय पहले अन्य एशियाई देशो की तरह पिछड़ा हुआ माना जाता था, वहाँ के नये शासक मिकाडो के प्रयत्नों से आधुनिक देशों की पंक्ति में आ खड़ा हुआ और जीवन के सभी क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति कर रहा था। रानाडे वहाँ का हाल सुनकर बड़े प्रभावित हुए और अपने घर के एक कमरे की तरफ इशारा करके कहने लगे—"क्या आप जानते हैं कि उस कमरे में मेरा एक मित्र ऐसे रोग से बीमार पड़ा है, जिससे सारा भारत पीडित है?"

जब विश्वेश्वरैया जी ने इस बात को स्पष्ट करने को कहा तो उन्होंने बताया कि "इस कमरे मे मेरे एक घनिष्ठ मित्र श्री वामन आबाराव जी मोडक लकवा से बीमार होकर पड़े हैं और मेरी समझ में इस समय भारतवर्ष की दशा भी एक लकवे के बीमार की तरह ही है।"

इसी प्रकार दूसरी बार जब श्री विश्वेश्वरैया से उनकी भेंट पूना में प्रतिवर्ष होने वाले 'दरबार' में हुई तो श्री रानाडे वहाँ बैठे हुए कितने ही सरदारों और जागीरदारों के सम्बन्ध मे कई तरह के किस्से और उनके स्वभाव की विचित्रतायें सुनाते रहे। इस पर विश्वेश्वरैया जी ने पूछा कि "क्या आप इन लोगों के यहाँ अक्सर आते-जाते रहते है?" श्री रानाडे ने उत्तर दिया—"मै कभी उनके यहाँ नही जाता। पर सरकारी मामलों मे किसी प्रकार की मुश्किल आ पड़ने पर या अपनी जागीर में कोई समस्या खड़ी हो जाने पर वे परामर्श लेने को मेरे पास आते रहते हैं।"

श्री रानाडे की बातों से श्री विश्वेश्वरैया ने यह निष्कर्ष निकाला कि "वे अपने प्रदेश वालों के प्रिय नेता, मित्र व मार्ग दर्शक थे। उनमें आत्मसंयम, योग्यता और देशभक्ति कूट-कूट कर भरी थी। इसी से अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे भारत के सबसे बड़े नेताओं में गिने जाते थे।" मानवता का सबसे बड़ा लक्षण यही है कि मनुष्य अपने निकटवर्तियों का

सदैव ख्याल रखे और उनको सद्प्रेरणा देकर कल्याणकारी मार्ग पर चलाये । जो व्यक्ति स्वार्थ अथवा अहंकार या आलस्यवश अपने पड़ोसियों, सजातीय बन्धुओ, देशवासियों के हित-अनहित का ख्याल नही रखते और जन-कल्याण के कामों में अपनी शक्ति के अनुसार न्यूनाधिक भाग नहीं लेते उनको 'मनुष्य' कहना भी उचित नहीं और न सामाजिक प्रगति के लाभो का उपभोग करने के अधिकारी है । सार्वजनिक सम्मान और सर्वसाधारण की श्रद्धा-भक्ति का पात्र वही हो सकता है जो अपने लाभ से पहले अपने अन्य भाइयों के लाभ का ध्यान रखता है ।

भारतवासियों में इस प्रकार की भावना की कितनी कमी है, रानाडे इस बात को अच्छी तरह समझते थे और इससे उन्हें बड़ा दु.ख भी होता था । एक बार मद्रास कांग्रेस से पूना लौटते समय एक अंग्रेज ने उनको सामान्य आदमी समझकर उनका सामान फर्स्ट क्लास की सीट पर से हटवा दिया । जब उनके साथियों ने इस बात के लिये मुकदमा चलाकर उस अंग्रेज को दण्ड दिलाने पर जोर दिया तो रानाडे ने कहा—

"ऐसी बातों पर लड़ना-झगड़ना व्यर्थ है । यह सच है कि लगभग सभी अंग्रेज हम लोगों को जंगली आदमी समझते हैं, पर क्या इस दृष्टि से हम लोगों का आचरण अच्छा है ? हम अछूतों के साथ कैसा बर्ताव करते हैं ? कई जाति वालों को हम छूते भी नही । मैं पूछता हूँ कि क्या वे जानवरों से भी गये गुजरे हैं ? क्या हम सदा उनको पैरों के नीचे ही कुचलते रहेंगे ? यदि हम लोगों की यह दशा है तो किस मुँह से हम भारत की शासक अंग्रेज जाति की निन्दा कर सकते हैं ।

उनके इस प्रकार के उद्‌गार यह बतलाते हैं कि निःसन्देह उनको सदा देश की चिन्ता लगी रहती थी और वे अपने को देश तथा समाज से अभिन्न समझते थे । आज इसी मनोवृत्ति के अभाव के कारण हमारे देशवासियों मे नागरिकता के उत्तरदायित्व की बडी कमी दिखलाई पड़ रही है, जिसके फलस्वरूप देशोत्थान के मार्ग में नई-नई कठिनाइयाँ आती रहती है ।

## राजनैतिक सुधारों से पहले समाज सुधार

यद्यपि देश मे रानाडे मुख्य रूप से एक राजनीतिक नेता के ही रूप में प्रसिद्ध थे, पर समाज-सुधार के कार्यों में भी वे किसी से पीछे न थे । यों तो वे एक पक्के हिन्दू थे और उन्होंने हिन्दू धर्म तथा आस्तिकवाद पर बहुत कुछ लिखा है, तो भी वे धर्म के नाम पर हानिकारक सामाजिक रूढ़ियों का समर्थन करने को तैयार न थे । उन्होने तत्कालीन परिस्थितियों का अच्छी तरह अध्ययन किया था और इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि जब तक यहाँ के निवासी धार्मिक अन्धविश्वासों में पड़े रहेंगे और सामाजिक कुरीतियों से उनका पीछा न छूटेगा तब तक उनमें चरित्रबल न आयेगा और इसके बिना राजनैतिक उन्नति होना असम्भव है । सन् १६०० में सितारा में होने वाली "समाज-सुधार कॉन्फ्रेन्स" में भाषण करते हुए उन्होने कहा था—

"जब तक हम अपनी जातीय कुरीतियों का सुधार न करेंगे तब तक राजनैतिक अधिकारों के प्राप्त करने की इच्छा व्यर्थ है । सामाजिक नियमों का आधार उदारता होनी चाहिये । सामाजिक नियमों के सुधार से ही आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक सुधार सम्भव हो सकते हैं ।"

इसी मान्यता के कारण वे स्त्री-शिक्षा के पूर्ण समर्थक थे और कहते थे कि जब तक हमारी मातायें शिक्षित न होंगी तब तक जाति प्रगति नही कर सकती । यदि स्त्रियाँ अशिक्षित और कुसंस्काराच्छन्न बनी रहीं तो उनकी सन्तान में भी वे दुर्गुण न्यूनाधिक मात्रा मे बने रहेगे । इसलिये देश की समस्त समस्याओ और सुधारों का आधार स्त्री-शिक्षा पर ही है ।

वे छुआछूत के भी बड़े विरोधी थे । दक्षिण के ब्राह्मणो में इस प्रकार की मनोवृत्ति उत्तर भारत की अपेक्षा भी बहुत अधिक जड़ जमाये हुए थी और अछूत कहे जाने वालों के प्रति उनका व्यवहार बड़ा अमानवतापूर्ण होता था । रानाडे इस प्रकार की विषमता और अन्यायपूर्ण व्यवहार के बहुत विरुद्ध थे । वे कहते थे कि प्राचीन शास्त्रों मे इस प्रकार के भेदभाव का प्रतिपादन कही नहीं किया गया है । वे समुद्र यात्रा के भी समर्थक थे और इसका विरोध करना हानिकारक बतलाते थे । यद्यपि आज यह समस्या समाप्त हो गई है पर रानाडे के समय मे इसी के कारण अनेक लोगो को जाति से बाहर कर दिया जाता था ।

## रानाडे का देशव्यापी सम्मान

रानाडे के इन्ही देवोपम गुणो का प्रभाव था कि सन् १६०० में जब वे अधिक बीमार हुए और बचने

की आशा क्षीण हो गई तो समस्त देश में एक चिन्ता की लहर व्याप्त हो गई । सरकारी नौकरी के कर्तव्यों का सत्यनिष्ठापूर्वक पालन करने के साथ जन-सेवा की बीसियों संस्थाओं में लगातार परिश्रम करते रहने से स्वास्थ्य बहुत निर्बल पड़ गया था अन्यथा पैतृक रूप से वे काफी स्वस्थ्य और सशक्त थे । उनके बाबा भास्करराव के विषय में कहा जाता था कि वे ६५ वर्ष की आयु में भी कूदकर घोड़े पर बैठ जाते थे । इस कारण श्री रानाडे का शरीर-संगठन भी आरम्भ मे काफी सुदृढ था । पर उन्होने देश और समाज की आवश्यकताओ को देखते हुए एक के बाद एक इतने कार्यों का बोझा अपने ऊपर उठा लिया कि उनको सदैव शक्ति से अधिक कार्य करना पड़ा जिससे उनका स्वास्थ्य भंग हो गया ।

वे कितने सेवा परायण और परोपकारी स्वभाव के व्यक्ति थे इसका पता उस घटना से लगता है जो उनकी मृत्यु के दिन ही हुई । १६ जनवरी, १६०१ को जबकि वे बम्बई मे बीमार पडे थे और डॉक्टरी इलाज हो रहा था उनकी तबियत कुछ अच्छी जान पड़ी और वे बाहर निकलकर कुछ दूर टहल भी आये । पर उसी समय उन्होंने अपने एक पुराने साथी श्री कान्तिचन्द्र मुकर्जी की मृत्यु का समाचार सुना । इससे पहले अनेक स्मृतियाँ उनको स्मरण हो आईं, शायद उन्होंने इसे अपने लिये भी चिर विदाई का सदेश समझ लिया ।

कुछ देर बाद भाटिया-समाज के कई व्यक्ति एक विधवा-विवाह के सम्बन्ध मे इनकी सम्मति लेने आ गये । डॉक्टरों तथा रमाबाई की राय हुई कि इस समय उन्हे अधिक बोलना नही चाहिये, पर रानाडे ने किसी की एक न सुनी और उन लोगों को बुलाकर बातचीत करने लगे ।

मालूम हुआ कि भाटिया जाति में सबसे पहले एक विधवा-विवाह होने जा रहा है, पर दूसरे पक्ष वाले उसके विरूद्ध हर तरह से आन्दोलन कर रहे है । रानाडे ने इस विधवा-विवाह को खूब धूमधाम से करने की सलाह दी, जिससे लोगों के मन का संकोच दूर हो सके । अन्त में उन लोगो ने कहा—"यदि इस अवसर पर गवर्नर की धर्मपत्नी को निमन्त्रित किया जाये तो कैसा रहे ?"

रानाडे ने कहा—"अवश्य ! उनको तो अवश्य ही निमन्त्रित करना चाहिये ।" तब उन लोगों ने रमाबाई से ही गवर्नर की पत्नी को निमन्त्रित करने की प्रार्थना की ।

पर इस समय रमाबाई रानाडे की निरन्तर गिरती हुई दशा को देख रही थीं और उनके पास से एक क्षण को भी हटना नही चाहती थी । रानाडे ने उनके इस मनोभाव को ताड़ लिया और कहा "हाँ, इनका काम अवश्य कर दो, यह एक बड़े धर्म का, एक जीवन के उद्धार का काम है ।" रमाबाई ने कहा, अच्छा, अगर आपकी तबियत ठीक रही तो मैं ऐसा ही करूँगी ।

पर इस के कुछ ही देर बाद रानाडे के हृदय का दर्द बढ़ गया और कुछ समय बाद तो उसने ऐसा भयंकर रूप धारण कर लिया कि रानाडे के मुख से अकस्मात् ये शब्द निकल पड़े—"इस दर्द से तो मरना ही अच्छा है ।"

देहान्त के पश्चात् श्री रानाडे की शवयात्रा मे बम्बई के जिन हजारों व्यक्तियो ने भाग लिया उनमे केवल हिन्दू ही नहीं थे, वरन् कितने ही मुसलमान, ईसाई, पारसी भी सम्मिलित थे । कितने ही अंग्रेज भी शोक प्रदर्शित करने को आये, जिनमे सर्वप्रथम बम्बई हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस सर लारेंस थे ।

इसके कुछ समय पश्चात् रानाडे की स्मृति-रक्षा के लिये जो सभा की गई उसका सभापतित्व बम्बई के गवर्नर लार्ड नार्थकोर्ट ने किया था । उस समय श्री गोखले ने कहा कि लगभग ४० वर्ष से श्री रानाडे हमारे उपकारार्थ परिश्रम करते रहे । उनकी न्यायप्रियता और देशभक्ति अद्वितीय थी । भारतीयो मे उनसे अधिक सच्चा समाज-सेवक मिलना कठिन है । वे सभी धर्म और जातियों के लोगो से हार्दिक सहानुभूति रखते थे । वे देश के बड़े भारी नेता थे और संसार के सर्वश्रेष्ठ नेताओं मे जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे सब गुण रानाडे में पाये जाते थे ।

वास्तव मे संसार में गुणों की ही पूजा होती है । सच्चा और स्थायी बड़प्पन उन्हीं महापुरुषों को प्राप्त होता है जो दूसरों के लिये निष्काम भाव से परिश्रम और कष्ट सहन करते हैं ।

# समाज-सेवा के लिये सर्वस्वत्यागी महान वैज्ञानिक प्रफुल्लचन्द्र राय

सन् १८८६ का वर्ष था । इंग्लैण्ड में रसायन शास्त्र की सर्वोच्च परीक्षा डी. एस. सी. पास करके एक बंगाली तरुण बंगाल के शिक्षा-विभाग के प्रधान अधिकारी मि. क्राफ्ट के सामने यह शिकायत करने पहुँचा कि जब उसकी योग्यता वाले अंग्रेजों को ११००-१२०० वेतन पर नियुक्त किया जाता है, उसको २५० रु. मासिक की सहायक प्रोफेसर की जगह ही दी जा रही है । मि. क्राफ्ट ने कुछ नाराजी के साथ कहा—"जिन्दगी में सभी तरह के काम-धन्धे तुम्हारे लिये खुले है । तुम इसी नौकरी को स्वीकार करो इसके लिये तुम्हारे ऊपर किसी प्रकार का दवाव तो नहीं डाला जा रहा है । अगर तुम अपनी योग्यता को इतना अधिक समझते हो तो व्यावहारिक क्षेत्र में कोई स्वतन्त्र कार्य करके उसे प्रकट करो । "अंग्रेज अफसर के ये व्यंग्यपूर्ण शब्द उसके कलेजे मे चुभ गये, पर उस समय अपनी परिस्थिति को समझ कर वह चुप रह गया और उसने कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कॉलेज में २५० रु. की नौकरी ही स्वीकार कर ली । पर साथ ही उसने यह भी संकल्प कर लिया कि अवसर पाते ही मै इनको कोई स्वतन्त्र काम करके दिखलाऊँगा ।

कुछ ही समय में उसने अपने वेतन में से बचाकर सात-आठ सौ रुपया की रकम इकट्ठी कर ली और कुछ सच्चे सहकर्मी भी जुटा लिये । उन्होंने इस समस्या पर भी विचार किया कि हमारे गरीब देशवासियों को किन चीजो की आवश्यकता है और उनमें से हम किसको सन्तोषजनक रीति से बना सकते है । वह तरुण रसायन-शास्त्र की जड़ी-बूटी शाखा का भी अच्छा जानकार था । इसलिये उसने भारतीय मैदानों और जंगलों में पाई जाने वाली जड़ी-बूटियों और औषधि के लिये प्रयुक्त होने वाले पेड़-पौधों से वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार ऐसी औषधियाँ तैयार कीं जो कम मूल्य की होते हुए भी तुरन्त प्रभाव दिखलाने वाली थीं । इसके फल से जनता में औषधि निर्माण करने वाली इस नई संस्था—"बंगाल कैमिकल एण्ड फर्मास्यूटिकल वर्क्स" का नाम फैलने लगा और कुछ ही वर्षो मे उसने एक बड़े कारखाने का रूप धारण कर लिया । वह निःस्वार्थ युवक उसकी आमदनी में से एक पैसा भी नहीं लेता था, वरन् अपने वेतन में से जो कुछ बचता था, उसे उस सस्था की उन्नति में ही लगाता रहता था । परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही वह संस्था सर्वसाधारण की स्वास्थ्य-रक्षा में सहायक ही नहीं बन गई वरन् पचासों होनहार किन्तु साधनहीन युवको को जीवन-क्षेत्र में आगे बढ़ने का आश्रय-स्थल भी सिद्ध होने लगी । होते-होते वह सात-आठ सौ रुपये की पूँजी से आरम्भ की गई नगण्य संस्था आज एकाध करोड़ की पूँजी के विशाल औद्योगिक संस्थान के रूप में परिणित हो चुकी है और देश की चिकित्सा सम्बन्धी एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति कर रही है ।

## त्यागमय जीवन

इस महत्त्वपूर्ण संस्था के संस्थापक थे आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय (सन् १८६१ से १६४४) जो भारतवर्ष मे रसायन-विज्ञान के सर्वप्रथम उच्चकोटि के ज्ञाता थे और जिनकी योग्यता को अन्त में विदेशी सरकार ने भी स्वीकार करके 'सर' की उपाधि प्रदान की थी, यद्यपि इनके पश्चात् और भी कई भारतीयों ने विज्ञान में उल्लेखनीय प्रसिद्धि प्राप्त की थी, और इनके समकालीन श्री जे. सी. बोस ने भी जीव-विज्ञान में बहुत अधिक नाम कमाया था, पर प्रफुल्ल बाबू ने इतनी अधिक विद्या और पदवी पाकर, उसको जिस तरह लोक-कल्याण के उद्देश्य से उत्सर्ग कर दिया, उसका दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है । सन् १६०० में ही उनको प्रेसीडेन्सी कॉलेज से ८०० रु. मासिक वेतन मिलने लग गया था, जो बाद में लगभग ड्यौढ़ा हो गया तथा पुस्तकों की रायल्टी और आविष्कार की गई औषधियों से भी काफी आमदनी होती थी, पर वे अपने निर्वाह के लिये सौ रुपये से भी बहुत कम खर्च करते थे, बाकी सब गरीब और योग्य विद्यार्थियो की सहायता करने में लगा

देते थे । देश-सेवा के अन्य उपयोगी कार्य भी उनकी सहायता से वंचित नहीं रहते थे । उनकी ऐसी सादगी और गरीबों के से रहन-सहन को देखकर देशपूज्य गोखले जी उनको 'विज्ञान-साधु' कहते थे और वे गोखलेजी को 'राजनैतिक-साधु' कहते थे ।

वास्तव में इन दोनो महापुरुषों ने अपना सर्वस्व देश-सेवा के दो विभिन्न क्षेत्रों में अर्पण कर दिया था और वे अपनी लगन के इतने पक्के थे कि उन्होंने इसी विचार से आजन्म विवाह नहीं किया । विवाह करने पर वे अपना निर्वाह इतने कम खर्च में और ऐसी सादगी से नहीं कर सकते थे । इस प्रकार उन्होंने अपनी समस्त शक्ति और साधनों को मातृभूमि के निमित्त ही सुरक्षित रख दिया और किसी को उसमें से हिस्सा नही बँटाने दिया । यह एक ऐसा आदर्श था जिससे प्रत्येक देशवासी प्रेरणा ले सकता है । जब इतने बडे विद्वान और साधन सम्पन्न व्यक्ति परोपकार को सर्वोच्च धर्म मानकर इतना अधिक त्याग कर सकते हैं, तो हम सबको भी उस मार्ग पर कुछ अंशों में तो चलना ही चाहिये । जो व्यक्ति इस कर्त्तव्य-पालन से सर्वथा पृथक् और उदासीन रहते हैं वे मनुष्य कहे जाने के भी अधिकार नहीं हो सकते ।

## विद्या-प्रेम और उच्च आदर्श

प्रफुल्ल बाबू का जन्म एक सम्पन्न परिवार में हुआ था । इनके पिता श्री हरिश्चन्द्र राय खुलना जिला के रारुली गाँव के जमींदार थे । वे एक सुशिक्षित और सुधरे हुए विचारो के व्यक्ति थे और उस समय की परिस्थिति के अनुसार फारसी और अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान रखते थे । उन्होंने अपने ग्राम मे कन्या पाठशाला की भी स्थापना की थी, जो सम्भवतः समस्त बंगाल मे पहली ही नारी-शिक्षा-संस्था थी । पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के विचारों से प्रभावित होकर वे विधवा विवाह के भी पक्षपाती हो गये थे और अपने गाँव में एक शिक्षक का विवाह एक विधवा युवती से कराना चाहते थे, पर इस समाचार के प्रकट होते ही रूढ़िवादी समाज में इतनी हलचल मची और विरोध किया जाने लगा कि विवश होकर यह विचार स्थगित कर देना पडा ।

प्रफुल्ल बाबू की आरम्भिक शिक्षा तो रारुली ग्राम की निजी पाठशाला मे ही हुई थी, पर जब ये दस वर्ष के हुए तो इनके पिता अपने दोनों पुत्रों को उच्च शिक्षा प्राप्त कराने की दृष्टि से परिवार सहित कलकत्ता चले आये । यहाँ दस वर्ष की आयु में प्रफुल्ल बाबू को 'हेयर स्कूल' में भरती कराया गया, जिसका पूरा नाम 'दी हिन्दू कॉलेज ऑफ कलकत्ता' था । इसकी स्थापना सन् १८१७ में राजा राममोहन राय और डेविड हेयर नाम के घड़ी का काम करने वाले अंग्रेज ने मिलकर की थी । इस स्कूल की गिनती भारत के सर्वप्रथम अंग्रेजी स्कूलों में की जाती है और बंगाल के तत्कालीन बड़े-बड़े नेता इसी विद्यालय के छात्र थे ।

जब गाँव का कोई लड़का नया-नया आकर शहर के स्कूल में पढ़ने लगता है तो प्रायः शहरी छात्र उसकी तरह-तरह से हँसी उड़ाते हैं । जब उनको मालूम हुआ कि प्रफुल्ल बाबू पूर्व बंगाल के खुलना जिले के निवासी हैं, तो उस प्रान्त के निवासियों के जो-जो दोष सर्वसाधारण में प्रसिद्ध थे, उन्हीं सबका आरोप इन पर करके तरह-तरह के हास्यपूर्ण नाम रख कर इनको चिढ़ाने की कोशिश करने लगे । पर ये इन बातों की तरफ ध्यान न देकर परिश्रमपूर्वक पढ़ाई सम्बन्धी बातों में ही रुचि लेते थे । पढ़ने की अभिरुचि इनमें अपने पिता के संस्कारों से ही उत्पन्न हो गई थी, जो उस जमाने मे कितने ही सामयिक पत्रों के ग्राहक थे और अपनी लाइब्रेरी में बंगाली और अंग्रेजी की नई-नई अच्छी पुस्तकें लाकर रखा करते थे । इसका प्रभाव प्रफुल्ल बाबू पर कितना अधिक पड़ा था, इसका वर्णन करते हुए उन्होंने स्वयं अपनी आत्म-कथा में लिखा है—

"हमारे स्कूल की परीक्षा लेने को प्रेसीडेन्सी कॉलेज के प्रोफेसर आया करते थे । इतिहास और भूगोल मेरे प्रिय विषय थे, इसलिये इन विषयों में मैं अपने सभी साथियों से आगे निकल जाता था । दो वर्ष तक तो मुझे इतिहास की परीक्षा में पूरे-पूरे नम्बर मिले थे ।"

"स्कूल में पढ़ाई के लिये नियत पाठ्य-पुस्तकों में मेरी 'भूख' कभी दूर नहीं होती थी । पुस्तकों की तरफ मुझे बहुत अधिक आकर्षण था । मैं सम्भवतः १२ वर्ष से भी कम आयु का था कि प्रायः प्रातःकाल तीन चार बजे उठकर ही अपनी पसन्द की विविध पुस्तकें पढ़ने लग जाता । आगे चलकर मैंने इस आदत

को छोड़ दिया, क्योंकि मैंने देखा कि इससे स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचता है और अन्त में कोई लाभ भी नहीं निकलता। पर इतिहास और जीवन चरित्र की पुस्तकें पढ़ने का तो मुझे अब भी बड़ा शौक है। 'चेम्बर' का 'जीवन चरित्र संग्रह' मैंने कितनी ही बार आदि से अन्त तक पढ़ डाला। न्यूटन और गैलिलियो के जीवन-चरित्रों के पढ़ने में मुझे बड़ा ही आनन्द आता था, यद्यपि उस समय मैं यह नहीं समझ पाता था कि इन्होंने दुनिया को जो कुछ दिया उसका क्या मूल्य है? सर विलियम जोन्स, लीडन और बेंजमिन फ्रेंकलिन के चरित्रों का मेरे ऊपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। जोन्स की माता उससे कहा करती थीं कि—"पढ़ते रहो तुमको ज्ञान हो जायेगा"—उस महिला का यह उत्तर मेरे लिये भी सदैव सत्य प्रमाणित हुआ। बेंजमिन फ्रेंकलिन का चरित्र तो मुझे बहुत छोटी अवस्था से ही अत्यन्त प्रिय था और सन् १९०५ में जब मैं दूसरी बार यूरोप-यात्रा को गया तब मैंने फ्रेंकलिन के जीवन चरित्र की पुस्तक मँगाकर उसे बार-बार पढ़ा। पेन्सिलवेनिया (अमेरिका) का यह निवासी अल्प वेतन पाने वाले कम्पोजीटर की नौकरी से केवल अपने परिश्रम तथा उत्साह द्वारा किस प्रकार उन्नति करते देश का बहुत बड़ा नेता बन गया यह बात मुझे हमेशा शिक्षाप्रद और प्रेरणादायक अनुभव होती थी।

### समाज-सुधार की भावना

"कदाचित पाठकों को विचित्र जान पड़ेगा पर सच्ची बात यह है कि मैं अनजाने ही बचपन से 'ब्रह्म समाज' (एक समाज सुधारक संस्था) की तरफ आकर्षित होने लगा था। यद्यपि मेरे पिता का घरेलू रहन-सहन सामान्य हिन्दुओं की तरह ही था पर हृदय से वे पक्के समाज-सुधारक थे। 'आदि ब्रह्म समाज की मुखपत्रिका' "तत्त्व बोधिनी पत्रिका" सदैव उनके पढ़ने के टेबिल पर रखी रहती और देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशव चन्द्र सेन, राजनारायण बसु, अयोध्यानाथ, अक्षय कुमार दत्त आदि की रचनाओं को भी वे पढ़ते रहते थे। ये ही सब मेरी भी धार्मिक श्रद्धा के आधार बन गये। मेरे ऊपर पहले से किसी 'गुरु' नामधारी व्यक्ति का कुछ प्रभाव न था और 'धर्म' तथा 'ईश्वर' किसी गूढ़ शक्ति द्वारा प्रकट हुए हैं इस पर मेरी जरा भी श्रद्धा न थी। वर्तमान समय में प्रचलित जाति-प्रथा और अस्पृश्यता का विचार मुझे व्यर्थ जान पड़ता था। अनिवार्य वैधव्य, बाल विवाह और इसी प्रकार की अन्य हानिकारक रिवाजों को मैं उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। मेरे पिता कभी-कभी कहा करते थे कि कम से कम मेरे एक पुत्र को तो विधवा-विवाह करना ही चाहिये और इसके लिये वे मेरी तरफ खास तौर से देखने लगते थे।"

इस प्रकार प्रफुल्ल बाबू बाल्यावस्था से ही कुरीति निवारक और सुधार प्रिय व्यक्तियों के सम्पर्क में आ गये और उनकी यह भावना उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। कुछ ही समय पश्चात् बंगाल के सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक श्री केशवचन्द्र सेन ने विलायत से लौटकर 'सुलभ-समाचार' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला जिसमें आधुनिक विचारों के लेख ही भरे रहते थे। प्रफुल्ल बाबू उसे बड़े उत्साह से पढ़ते थे और 'नवीन ब्रह्म समाज' में जाकर वहाँ होने वाले प्रवचनों को भी ध्यानपूर्वक सुनते थे।

### विद्याभ्यास का प्रेम

प्रफुल्ल बाबू को छोटी अवस्था से ही सभी विषयों की पुस्तकें पढ़ने और ज्ञान-वृद्धि करने का बड़ा शोक था। संयोग से इनके पिता भी पुस्तक प्रेमी थे, इसलिये इन्हें पुस्तकालय में ही मनचाही पुस्तकें मिल जाती थीं, जिससे अपने समय का अधिक से अधिक सदुपयोग कर सकते थे। तेरह वर्ष की आयु में, जबकि वे हेयर स्कूल में पढ़ते थे, इनको पेट के दर्द की शिकायत हो गई और वह इतनी बढ़ी कि इनको स्कूल से नाम कटा कर सात-आठ महीने तक घर पर ही रहना पड़ा। वैसे तो यह सब दुर्भाग्य ही था, पर इन्होंने इस समय को विविध विषयक साहित्य के पढ़ने में लगाकर इतनी ज्ञान वृद्धि कर ली जितनी उनसे बहुत बड़े लड़कों को भी हो सकनी कठिन थी। उसी पुस्तकालय में इनको 'लेटिन स्वयं शिक्षक' और 'फ्रेंच स्वयं शिक्षक' पुस्तकें भी मिल गईं, जिनसे इन्होंने इन दोनों भाषाओं का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लिया। परिणाम यह हुआ कि ये फिर जब स्कूल में गये तो शिक्षकों को इनकी योग्यता अन्य लड़कों से बहुत अधिक जान पड़ी और वे इसकी प्रगति में विशेष ध्यान देने लगे। इसी प्रकार अपनी योग्यता को बढ़ाते हुए ये मैट्रिक पास करके कॉलेज में जा पहुँचे।

## स्वावलम्बन और मितव्ययता का जीवन

पर इस समय इनके ऊपर एक कठिनाई आ पड़ी । इनके पिता हरिश्चन्द्र बाबू की आर्थिक स्थिति में एकाएक परिवर्तन हो गया और उनको एक-एक करके अपनी कई जमीदारियाँ बेच देनी पड़ीं । इसके फलस्वरूप वे कलकत्ते का मकान छोड़कर अपने देहात को चले गये और प्रफुल्ल बाबू को पढ़ाई के लिये कलकत्ता मे अकेला रहना पड़ा ।

अव वे पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा स्थापित 'मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट' मे दाखिल हो गये । इस विद्यालय का एक उद्देश्य उच्च और माध्यमिक शिक्षा को सस्ता बनाना भी था । इसलिये वहाँ यह नियम था कि कोई भी विद्यार्थी ३ रु. मासिक फीस देकर कुछ भी पढ़ सकता था । यह संस्था उस समय के अनुसार राष्ट्रीय विचारों की पोषक थी और श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे विद्वान और सार्वजनिक भावना वाले कार्यकर्ता अंग्रेजी के प्रोफेसर थे । उस जमाने में कॉलेज पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष मे रसायन शास्त्र का पढ़ना अनिवार्य था । प्रफुल्ल बाबू किसी विषय को मामूली तरह तो पढना पसन्द ही नही करते थे, इसलिये रसायन शास्त्र की शिक्षा के लिये विशेष रूप से प्रेसीडेंसी कॉलेज में जाने लगे । कुछ समय मे इनको इस विषय का इतना शौक लग गया कि एक साथी ढूँढ़कर उसके घर पर एक निजी 'प्रयोग शाला' कायम कर ली । उसमें एक दिन ऐसी दुर्घटना हो गई कि ये दोनो बाल-बाल बचे । इन्होंने अपने 'हाइड्रोजन' सम्बन्धी प्रयोगों के लिये बाजार से एक बर्तन बनाने वाले से एक नली बनवा ली थी, पर परीक्षण के समय उसकी बनावट कच्ची निकली और हाइड्रोजन की नली में ऑक्सीजन पहुँच गया जिससे बहुत जोर से धड़ाका हुआ, पर चोट नही आई इस प्रथम वर्ष में ही इन्होने अपनी पाठ्य-पुस्तक के अतिरिक्त रसायन शास्त्र की जितनी पुस्तकें मिल सकी वे सब पढ़ डालीं ।

## विलायत यात्रा का प्रयत्न

प्रफुल्ल बाबू के इस विद्या प्रेम का सुपरिणाम थोड़े ही समय मे प्रकट हो गया । उनको कॉलेज मे पढते हुए तीन वर्ष का समय ही हुआ था कि इन्होने 'गिलक्राइस्ट छात्रवृत्ति की प्रतियोगिता में बैठने का विचार किया । इसमे यह शर्त थी कि परीक्षार्थी लेटिन, ग्रीक, संस्कृत, फ्रेंच या जर्मन भाषाओं में से कोई एक ठीक तरह जानता हो । प्रफुल्ल बाबू लैटिन और फ्रेंच का अभ्यास स्कूल में पढते हुए निजी तौर पर कर चुके थे और संस्कृत में भी अपनी योग्यता काफी बढ़ाली थी । इसलिये इन्होंने इस प्रतियोगिता का फार्म भर दिया । पर उनको इस अखिल भारतवर्षीय प्रतियोगिता मे सफल हो सकने की आशा अधिक न थी, इसलिये अपने भाई के सिवाय और किसी से इसकी चर्चा न की, जिसमे बाद मे अन्य विद्यार्थियों के मजाक का शिकार न होना पड़े । फिर भी बात किसी तरह प्रकट हो गई और कॉलेज में ऊँचे नम्बरो से पास होने वाले एक सहपाठी ने इनको सुनाकर व्यग्यपूर्वक कहा—"इन बाबू साहब का नाम तो अब लंदन यूनीवर्सिटी केलेण्डर के विशेष संस्करण में छपने वाला है ।" इनको पास होने की स्वय भी बहुत आशा नहीं थी और जब कई महीने तक कुछ खबर नहीं मिली तो उसका ख्याल ही छोड़ दिया । इसी बीच एक दिन कॉलेज में पहुँचने पर किसी ने इनको "स्टेट्समैन" दैनिक पत्र में छपी एक सूचना दिखलाई कि बम्बई के बहादुरजी और प्रफुल्ल बाबू दो विद्यार्थी ही उस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए है । कॉलेज के प्रिन्सिपल ने इनको बुलाकर अभिनन्दन किया और फिर 'हिन्दू पेट्रियट' नाम के राष्ट्रीय विचारो के पत्र में भी यह समाचार प्रकाशित हुआ कि "श्री प्रफुल्ल चन्द्र राय ने मेट्रोपोलिटन कॉलेज के मुकुट में एक नवीन यश-कलंगी लगाई है ।"

"गिलक्राइस्ट" छात्रवृत्ति के प्राप्त हो जाने पर इन्होने विलायत जाकर शिक्षा प्राप्त करने का निश्चय कर लिया, पर इनको भय था कि मेरी माता को मेरे इतनी दूर जाने से बहुत दु.ख होगा । इसलिये इन्होंने अपने एक चचेरे भाई को, जो गाँव मे ही था, पत्र लिखा कि वह माताजी को यह खबर कर दे और उनकी सम्मति भी प्राप्त कर ले । पर इनकी माता भी अपने पति के सुधरे हुए विचारो के प्रभाव से पहले से ही बहुत कुछ प्रगतिशील भावनाओं को अपना चुकी थी, इसलिये उसने कुछ भी ऐतराज न किया । पर जब प्रफुल्ल बाबू घर के सब लोगों से विदा लेने स्वय गाँव को गये तो माता का हृदय भर आया और उसने बड़े करुण भाव से इनको आज्ञा दी । जब प्रफुल्ल बाबू को माता ने पिता की कठिन आर्थिक स्थिति की

त बताई, तो उन्होंने उसे आश्वासन दिया कि सफलता प्त कर लेने पर मैं उनकी हर तरह से सहायता रूँगा, क्योंकि आप दोनों की सेवा करना मेरा परम र्त्तव्य है ।

## विलायत में रसायन शास्त्र का अध्ययन

जिस जहाज से प्रफुल्ल बाबू ने विलायत जाने का श्चय किया उसमें उनको एक साथी और मिल गये । श्री द्वारिकाप्रसाद राय थे, जो डॉक्टरी पढ़ने विलायत रहे थे । जब बन्दरगाह पर सब मित्रों ने विदा तब तक तो प्रफुल्ल बाबू बड़े प्रसन्न थे, पर जब हाज समुद्र मे कुछ मील दूर पहुँचा तो उसके लने-डुलने से उनकी तबियत खराब हो गई और ल्टियाँ आने लगी । रास्ते भर यह कष्ट बना रहा समसे लन्दन पहुँचने पर ही छुटकारा मिला । इस ठिनाई के कारण वे कुछ खा पी भी न सके, पर हाज पर भी उन्होंने पढने मे कमी नहीं की और ाँच-सात अच्छी पुस्तके पढ़ डाली । लन्दन पहुँचने र श्री जगदीशचन्द्र बोस और सत्यनारायण बोस ने नका स्वागत किया । एक सप्ताह तक वहाँ ठहर कर ऐडिनबरा के लिये रवाना हो गये । एडिनबर्ग मे न्दन की अपेक्षा ठण्ड ज्यादा पडती है, इसलिये अनुभवी मित्रो ने वहाँ के लिये लन्दन में ही गर्म कपड़ों की यवस्था करा दी । उस समय एडिनबरा मे इनको ः रु. प्रति सप्ताह के किराये पर एक कमरा मिल गया जिसमे मेज कुर्सी भी थी और जलाने को कोयला भी मिल जाता था । एक आने में जौ और दूध से बनी पसी खाने के लिये काफी मिल जाती थी । इस कार इनका विलायत का रहन-सहन सस्ता और सादा ी था ।

कॉलेज मे पहुँचने पर इनको अनुभव हुआ कि हले इग्लैण्ड की बी. एस-सी. परीक्षा पास कर लेना ठीक रहेगा । इनको रसायन विज्ञान का शौक तो कलकत्ता मे ही लग गया था । अब विलायत में कुछ दिन रहने के पश्चात् इनको प्रतीत होने लगा कि अपना ास्तविक विषय तो यही है ।

रसायन-विज्ञान के प्रोफेसर का नाम क्रुमब्राउन था । इनकी आयु लगभग ४० वर्ष की होगी और इनकी कक्षा मे ४००-५०० विद्यार्थी होगे, जो प्रायः सभी डॉक्टर होने वाले थे । ये नवयुवक विद्यार्थी अभी घरों से नये-नये ही आये थे, इसलिये कॉलेज में भी बड़े जोश-खरोश के साथ रहते थे । जैसे ही प्रोफेसर कमरे में घुसते, ये सब 'शुभागमन' की धूम मचाते और फिर स्वागत गान गाने लगते ! प्रो. क्रुमब्राउन बहुत सरल स्वभाव के थे, इसलिये वे इस हलचल के कारण कुछ संकुचित हो जाते । यह देखकर लड़के और भी जोश मे आकर अधिक गड़बड़ करने लगते, पर जब नाराज होकर प्रोफेसर कहते—"सज्जनो, अगर तुम इस तरह गड़बड़ी करोगे तो मै अपना भाषण बन्द कर दूँगा ।" तब सब चुप हो जाते और काम ठीक से चलने लगता । प्रफुल्ल बाबू ने अपने आत्म चरित्र में लिखा है कि ये प्रोफेसर बड़े सज्जन और ऊँचे दर्जे के विद्वान थे । रसायन-विज्ञान के अलावा वे भाषा-शास्त्री भी थे और उनको चीनी भाषा का भी कुछ ज्ञान था । वे गणित के गूढ़ प्रश्नों को हल कर सकते थे और शारीरिक चिकित्सा मे काम आने वाली औषधियों के प्रभाव को जानने में एक—'विशेषज्ञ' थे ।

पर प्रोफेसर साहब का शरीर अब अधिक स्थूल होने लग गया था इसलिये वे स्वयं 'प्रयोग' करके नहीं दिखलाते थे, वरन् 'प्रयोग-दर्शकों' (डिमोन्सट्रेटर) और सहायको से काम लेकर शिक्षा-कार्य करते थे । प्रफुल्ल बाबू ने इन प्रयोग-दर्शको के साथ भी अच्छी तरह जान-पहचान कर ली थी और बड़े उत्साह तथा लगन के साथ रसायन-शास्त्र का अध्ययन करते थे । उस समय जो अंग्रेज लड़के उनके साथ पढ़ते थे, उनमें से कितने ही आगे चलकर नामी वैज्ञानिक और प्रोफेसर हुए । इस प्रकार की मण्डली मे रहकर ये भी विज्ञान की इस शाखा में निष्णान्त हो गये ।

## भारतीय गदर सम्बन्धी निबन्ध

इस समय एडिनबरा यूनीवर्सिटी के प्रधान लार्ड ओडस्लेध ने एक निबन्ध लिखने के लिये पुरस्कार की घोषणा की जिसका विषय था "गदर के पूर्व और पश्चात् का भारत ।" प्रफुल्ल बाबू ने भी इस विषय पर निबन्ध लिखने का निश्चय किया और इस सम्बन्ध मे सैकड़ो अलभ्य ऐतिहासिक ग्रन्थों और कागज-पत्रों का अध्ययन किया । यह निबन्ध परीक्षको की दृष्टि में बहुत ऊँचे दर्जे का और प्रशसनीय सिद्ध हुआ, पर चूँकि यह भारतीय राष्ट्रीय भावना को लेकर लिखा गया था और इसमे अंग्रेज सरकार पर कुछ कठोर आक्षेप

किये गये थे, इसलिये इसे पुरस्कार योग्य स्वीकार नहीं किया गया । पर इससे हतोत्साहित न होकर इन्होंने इसको इंग्लैण्ड में ही पुस्तकाकार प्रकाशित करा दिया और अनेक विद्वानों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की । वहाँ के "स्काट्समैन" नामक प्रसिद्ध समाचार पत्र ने लिखा—"यह एक बड़ी आकर्षक छोटी-सी पुस्तिका है । इसमें भारत के सम्बन्ध में ऐसी जानकारी समाविष्ट की गई है, जो कहीं अन्यत्र नहीं मिल सकती । इस पर अधिक से अधिक ध्यान देना आवश्यकीय है ।"

ऐसी ही एक घटना की याद हमको प्रसिद्ध देशभक्त श्री महादेव गोविन्द रानाडे के सम्बन्ध में आती है । जिन दिनो वे बम्बई के 'एलफिन्सटन कॉलेज' में पढ़ते थे, वहाँ के प्रिन्सिपल श्री ग्रांट ने 'अंग्रेजी और मराठा शासन की तुलना" पर एक निबन्ध लिखने को कहा । अन्य सब लोगो ने तो उस समय की हवा के अनुसार अंग्रेजी राज्य की अच्छाइयों का गुणगान ही किया, पर रानाडे उस श्रेणी से बहुत ऊपर थे । उन्होंने अनेक प्रमाण देकर यह प्रमाणित किया कि मराठों का शासन अधिक प्रशंसनीय था । इस पर ग्रांट साहब बहुत नाराज हुए और रानाडे को बुलाकर कहा "ऐ नवयुवक ! तुम्हें उस सरकार की निन्दा नहीं करनी चाहिये जो तुम्हें शिक्षित कर रही है और तुम्हारी जाति के साथ इतना उपकार कर रही है ।" ग्रांट साहब की चर्चा करते हुए स्वयं रानाडे ने उनको बहुत सज्जन और विद्वान लिखा है, पर इस घटना से वे इतने नाराज हुए कि उन्होंने छः महीने के लिये रानाडे की छात्रवृत्ति बन्द कर दी । रानाडे ने भी इस हानि को सहन करना स्वीकार कर लिया पर अपने विचारो को बदलने के लिये वे तैयार न हुए । हानि होने पर भी अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहना महापुरुषों का एक लक्षण है । प्रफुल्ल बाबू ने भी अंग्रेजों के घर में रहकर इसका परिचय दिया यह कम महत्त्व की बात नही है ।

## रसायन-विज्ञान के आचार्य

इस घटना के पश्चात् प्रफुल्ल बाबू ने अपना ध्यान रसायन शास्त्र की पढ़ाई मे लगा दिया और सम्मान के साथ बी. एस-सी. परीक्षा पास कर ली तथा 'डाक्टरेट' के लिये अध्ययन करने लगे । इसके लिये इनको रसायन-विज्ञान के किसी विषय पर मौलिक निबन्ध लिखकर देना था । इसलिये वे अपना ज्यादा समय प्रयोगशाला में तरह-तरह के वैज्ञानिक प्रयोगों में लगाने लगे और उसी विषय की अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन भाषाओं की ढेरों पुस्तकों को स्वतन्त्र रूप से पढ़ने लगे ।

पढ़ाई में इतना परिश्रम करने पर इनके पास विलायत की सैर करने या वहाँ के समाज में मिल-जुल कर मनोरंजन का बहुत कम समय रहता था तो भी अपनी जानकारी बढ़ाने के लिये वे कभी-कभी अंग्रेजी के समारोहों में सम्मिलित हुआ करते थे । यद्यपि अपने विद्या व्यसन के प्रभाव से उनकी जान-पहचान कितने ही उच्च परिवारों मे हो गई थी, पर संकोची और शर्मीले स्वभाव के कारण वे उनकी स्त्रियों और युवतियों से अच्छी तरह बात नहीं कर सकते थे, वरन् बड़ी आयु के व्यक्तियों से बातचीत करना ही उनको पसन्द आता था ।

पर इस प्रकार के स्वभाव का एक लाभ यह हुआ कि इनका समय फालतू बातो में बहुत कम जाता था और वैज्ञानिक अध्ययन में काफी परिश्रम कर लेते थे । इसलिये परीक्षा में इन्होंने अच्छी योग्यता दिखाई और इनके उत्तरो से परीक्षक पूर्णतः सन्तुष्ट हुए । डी. एस-सी. की परीक्षा देने वाले उस वर्ष ये अकेले ही विद्यार्थी थे । परीक्षोत्तीर्ण हो जाने पर इनको दो छात्रवृत्तियाँ मिली जिनके सहारे से इंग्लैण्ड में रहकर विशेष अध्ययन कर सके । उस समय डी. एस-सी. की पदवी प्राप्त करने वाले इने-गिने ही थे, इसलिये प्रफुल्ल बाबू का सम्मान शिक्षित वर्ग मे काफी बढ गया । इनके प्रोफेसर क्रुमब्राउन ने इनको बहुत अच्छा प्रशंसा पत्र दिया और अपने परिचित अनेक उच्च पदाधिकारियो के नाम परिचय-पत्र लिख दिये, जिससे इनको ऊँची सरकारी नौकरी पा सकने मे सहायता मिले । इनके द्वारा इंग्लैण्ड के अनेक गणमान्य व्यक्तियों से इनकी जान-पहचान हो गई, जिन्होने इनको भारत मन्त्री के पास तक पहुँचाया पर उस समय सरकारी नीति यही निश्चित की गई थी कि भारतीय शिक्षा-विभाग के उच्च पदों पर गोरे लोगो के सिवाय अन्य किसी को नियुक्त न किया जाये । इसलिये तरह-तरह से परिश्रम करने और इसी उद्देश्य से दो महीने तक लन्दन में टिके रहने पर भी जब सफलता की कोई आशा न जान पड़ी तो वे लाचार होकर भारत को रवाना हो गये । इसका एक कारण यह भी था कि

अब इनके पास रुपया कम होता जाता था और भय था कि वहाँ ज्यादा समय तक रुका जायेगा तो जहाज के किराये के लिये भी कमी पड़ जायेगी ।

फिर भी इनके मन मे यूरोप की स्थिति देखने की अभिलाषा थी, इसलिये इन्होंने धीमी चलने वाली गाड़ी मे यात्रा की और फ्रांस तथा इटली के बहुसंख्यक स्थानों की सैर करते हुए ब्रिण्डसी पहुँचे जहाँ इनको जहाज मे बैठना था । पर ऐसा करने से इनके पास का शेष रुपया भी समाप्त हो गया और जब जहाज में सवार हुए तो जेब में केवल दस-बीस रुपया ही बचे थे । जिस समय जहाज कलकत्ते के बन्दरगाह पर पहुँचा तो इनके पास सामान उतार कर शहर मे ले जाने के लायक पैसा भी न था । अतः जहाज के खजांची से आठ रु. उधार लेकर एक मित्र के घर पहुँचे । उससे कुछ रुपया लेकर बाजार जाकर एक धोती और चादर खरीदी और विदेशी पोशाक उतार कर स्वदेशी वेश-भूषा धारण कर ली । इसके पश्चात् यद्यपि इन्होंने बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ की पर यथासम्भव सदा स्वदेशी पोशाक ही व्यवहार में लाते रहे ।

दो-चार दिन बाद जब बडे भाई से भेट हुई तो मालूम हुआ कि घर की आर्थिक कठिनाइयाँ बराबर बढती जाती हैं । इसी विचार से विलायत में इन्होंने अपना खर्च बहुत नियमित रखा था और कभी पिता को रुपया भेजने के लिये नही लिखा । वैसे इनके पिता के पास अब भी कुछ जायदाद और जमींदारी थी, पर अधिक खर्च और कुछ अन्य परिस्थितियों के कारण उनका निर्वाह कठिनाई से होता था । तो भी अगर प्रफुल्ल बाबू लिखते तो वे उधार लेकर भी उनकी आवश्यकता की पूर्ति अवश्य करते । आजकल के जो विद्यार्थी गरीब माता-पिता के कष्टों की परवाह न करके उनसे रुपया माँगते रहते हैं और फिर उसे फैशन तथा सैर-तमाशे मे उड़ाते हैं, वे प्रफुल्ल बाबू की इस बात से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं । इन्होंने विदेश मे रह कर भी पिता से कम से कम सहायता ली और अपना खर्च जहाँ तक बना छोटी-मोटी छात्रवृत्तियों से ही चलाया ।

## गोरे और कालों में भेद-भाव नीति

जैसा आरम्भ में लिखा जा चुका है, विलायत की डी. एस-सी. की पदवी प्राप्त करके पहले तो प्रफुल्ल बाबू ने अपनी योग्यता के अनुकूल उच्च पद पाने की पूरी कोशिश की । उनका उद्देश्य केवल अधिक वेतन प्राप्त कर लेना ही नहीं था, वरन् मुख्य लक्ष्य यह था कि योग्य होने पर भारतवासियों को अंग्रेजों के समान ही सुविधायें मिलने के अधिकार को स्थापित किया जाये । यद्यपि उस समय महारानी विक्टोरिया की घोषणा में भारतवासियों को यह वचन दिया गया था कि उनके साथ सरकारी कार्यों में समानता का निष्पक्ष बर्ताव किया जायेगा । पर जब व्यवहार में उसे चरितार्थ करने का अवसर आया तो अंग्रेजी शासन के मुख्य संचालको ने तरह-तरह की चालो से उस भावना के विरुद्ध ही कार्य किया । यदि कभी कोई बहुत बड़ा दबाव आ पड़ा, या किसी के द्वारा विशेष स्वार्थ सिद्धि की आशा जान पड़ी तो दूसरी बात, अन्यथा उन्होने बहुत दिनों तक भारतवासियों को हर तरह से योग्य होने पर भी आगे बढ़ने से रोका ।

इस तथ्य को समझकर और अपने घर की आर्थिक परिस्थितियों को देखकर प्रफुल्ल बाबू ने सामान्य पद ही स्वीकार कर लिया, पर उनके मन में यह बात जम गई कि हमारा उद्धार अपने पुरुषार्थ से ही होगा । यद्यपि वे, स्वभाव से ही त्यागी और स्वयं-कष्ट सहन करके परोपकार करने वाले थे । इसलिये उनको स्वयं अपने लिये अधिक धन की आवश्यकता नही थी । पर एक तो वे भारतवासियो की गरीबी से खूब परिचित थे और विलायत वालों की सम्पन्नता भी देख आये थे । इसलिये वे नही चाहते थे कि भारतवासी अकर्मण्य और भाग्यवादी बने रहकर जो कुछ थोडा-बहुत मिल जाये उसी पर सन्तोष करके बैठे रहें । यहाँ भी सब लोगों को अधिकाधिक उद्योग और पुरुषार्थ करके अपनी और देश की आर्थिक अवस्था का सुधार करना चाहिये, जिससे जन-साधारण के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो सके । दूसरी बात यह थी कि वे कुछ अधिक आमदनी करके उन लोगों की सहायता भी करना चाहते थे जो योग्य होने पर भी अर्थाभाव के कारण जहाँ के तहाँ पड़े रह जाते हैं और इस प्रकार जिनकी योग्यता से देश को वंचित रहना पड़ता है ।

सरकारी अधिकारी भी प्रफुल्ल बाबू की योग्यता को समझते थे और यह भी विश्वास करते थे कि उनको जहाँ कही रखा जायेगा वहाँ वे पूरी ईमानदारी

और परिश्रम से कार्य करके उसकी अधिकाधिक प्रगति करके दिखायेंगे । पर वह जमाना ही ऐसा था जब कि भारतीय शासन के प्रमुख संचालक इस देशवासियों पर हर तरह से गोरों की श्रेष्ठता का प्रभाव डालना चाहते थे । जिस शिक्षा अधिकारी ने प्रथम बार प्रफुल्ल बाबू को केन्द्रीय-विभाग में लेने से इन्कार किया था और उत्तर में कहा था कि "आप में इतनी अधिक योग्यता है तो और किसी कार्य में उपयोग करके प्रगति कर सकते हो ।" उसी मि. क्राफ्ट ने बाद में इनके कार्य को देखकर इनको केन्द्रीय विभाग मे लेने की बड़ी कोशिश की थी, पर बंगाल के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर ने यही उत्तर दिया कि यदि इनको केन्द्रीय विभाग में ले लिया जायेगा तो एक हानिकारक उदाहरण कायम हो जायेगा और दूसरे योग्य बंगालियों को, जो कैम्ब्रिज, ऑक्सफोर्ड, लन्दन जाकर ऊँची डिग्रियाँ ले आये हैं, किस तरह उसमे सम्मिलित करने से इन्कार किया जायेगा ? इस प्रकार जातीय पक्षपात के कारण—गोरे-काले के भेदभाव के आधार पर प्रफुल्ल बाबू को ऊँची से ऊँची योग्यता के होते हुए भी कम वेतन की नौकरी ही स्वीकार करनी पड़ी ।

यह गोरे-काले का भेदभाव अंग्रेजो के दिमाग में कहाँ तक जोर पकड़ चुका था इसका स्पष्ट परिचय भारतभक्त श्री एण्ड्रूज के संस्मरणों से भी मिलता है । उनकी मातृभूमि यद्यपि इंग्लैण्ड थी, पर किसी प्रेरणावश, वे भारत चले आये और दिल्ली के 'सेन्ट स्टीफेन्स कॉलेज' में अध्यापक का कार्य करने लगे । वे महापुरुष ईसा की शिक्षा के अनुसार मानव मात्र को अपना भाई मानते थे और इसलिये भारतवासियो के साथ बड़े प्रेम और सद्भाव का व्यवहार करते थे । इस पर यहाँ के ऐंग्लो इण्डियन उनको बार-बार टोकते और सावधान करते रहते थे कि यह ढग गलत है । उनकी बातचीत का सारांश इस प्रकार होता था—

"कभी किसी हालत में किसी 'नेटिव' (भारतीय) से मत दबना, न कभी किसी नेटिव के दिल में यह ख्याल आने देना कि वह तुमसे ऊँचा है । हम भारतवर्ष पर एक ही तरीके से राज्य कर सकते हैं और वह यही है कि हम अपनी 'पोजीशन' (पद) को ऊँचा बनाये रखें । यद्यपि आप 'मिशनरी' (पादरी) हैं, तथापि पहले अपने आपको 'अंग्रेज' समझना होगा । आप इस सम्बन्ध में सदा सावधान रहे और अंग्रेज होने की 'प्रेस्टीज' (धाक) को कदापि न त्यागें ।"

ऐसी थी भारत में आने वाले और इस पर शासन करने वाले छोटे-बड़े सब अंग्रेजों की मनोभूमि । उनमे से अधिकांश तो भारतवासियों को एक 'नीची जाति' का व्यक्ति ही मानते थे और कहते थे कि हम इनको सभ्य बनाने आये हैं । ऐसी दशा में अगर प्रफुल्ल बाबू को अंग्रेजो की बराबरी का दावा करने पर एकाध कड़वी बात सुनने को मिली, तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नहीं । स्वाधीन और पराधीन जाति में इतना अन्तर तो रहेगा ही और वास्तव मे बिना दूषित आचरण के किसी को पराधीन होना भी नही पड़ता । इसलिये प्रफुल्ल बाबू के उदाहरण से हमको यही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि यदि हमको कोई 'छोटा' समझता है तो हम अपने आचरण, व्यवहार और सफलता के द्वारा अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करके दिखलादें । इस प्रकार के आक्षेप का यही उचित उत्तर है ।

## विज्ञान का समाज-सेवा के लिये उपयोग

यद्यपि विज्ञान एक ऐसा विषय है जो अधिकांश मे सर्व-साधारण की पहुँच से बाहर माना जाता है, फिर भारतवर्ष की जनता जिसे सत्तर वर्ष पूर्व अक्षर ज्ञान प्राप्त करने का सुयोग भी बहुत कम था, विज्ञान के महत्त्व को क्या समझ सकती थी ? पर प्रफुल्ल बाबू ने अपना शिक्षण-सम्बन्धी काम ठीक तरह जम जाने के थोड़े समय बाद ही अपने बचे हुए समय में सार्वजनिक जीवन मे सम्बन्ध रखने वाले विषयों की जाँच-पड़ताल आरम्भ की । सबसे पहले इनका ध्यान खाद्य पदार्थों की शुद्धता की तरफ गया । इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा—"हमारे देश के लोगो को चिकनाई (फेट) प्राप्त कर सकने के दो ही पदार्थ मिलते हैं । एक घी, दूसरा सरसों का तेल । ये दोनो पदार्थ बाजार मे मिलावट करके बेचे जाते है, जिसमे सर्वसाधारण के स्वास्थ्य की हानि होती है । इस मिलावट को पकड़ सकना भी सहज नही है । विलायत की गायों के मक्खन की अपेक्षा भारतीय गायो के मक्खन की बनावट तथा तत्त्वो में कुछ अन्तर होता है । इसलिये अंग्रेजी ग्रन्थों में मक्खन के पृथक्करण का जो नक्शा दिया गया है वह भारतवर्ष मे काम नही दे सकता । यह सोचकर मैंने भारतीय घी, तेल के तत्त्वो की जाँच का कार्य

आरम्भ किया । इसी प्रकार तेल के कितने ही नमूनों की भी बारीकी से जाँच की गई । इस कार्य में मुझे तीन वर्ष का समय खर्च करना पड़ा तब कुछ सफलता प्राप्त हो सकी ।"

अपना खोज-कार्य करते हुए इनको विदित हुआ कि यद्यपि वर्तमान समय मे एक हजार वर्ष से अधिक की सामाजिक अव्यवस्था और पराधीनता के कारण भारतवासी विज्ञान के क्षेत्र में सर्वथा पिछड़ गये हैं, पर प्राचीन समय में ऐसी बात न थी । बौद्ध काल में और उसके पश्चात् भी कई सौ वर्ष तक कितने ही वैज्ञानिक क्षेत्रों में उन्होंने बहुत अधिक प्रगति की थी और उस समय वे संसार में अग्रगण्य माने जाते थे । इसलिये जब प्रफुल्ल बाबू ने यूरोप के प्रसिद्ध वैज्ञानिक बर्थेलेट लिखित 'यूनान के कीमियागर' नामक ग्रन्थ पढ़ा, जो वास्तव में उसी समय की वैज्ञानिक खोजों का इतिहास था, तो इन्होंने बर्थेलेट को पत्र लिखा कि प्राचीन भारतवर्ष में भी "कीमियागरो" (रसायन की विधि-द्वारा स्वर्ण बनाने का प्रयत्न करने वाले) की कमी नही थी और इस विषय पर संस्कृत में कई ग्रन्थ मिलते हैं । फिर उन्होंने 'रसेन्द्र-सार-संग्रह' ग्रन्थ से कुछ अवतरण एकत्रित करके भेजे जिन्हें पढ़कर बर्थेलेट बहुत खुश हुआ और इस विषय पर एक बढ़िया लेख तैयार करके एक मासिक पत्र में छपाया, जिसमे यह भी कहा गया था कि प्रफुल्ल बाबू रसायन शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान हैं ।

बर्थेलेट ने अपने एक बहुत माननीय ग्रन्थ "मध्ययुगीन रसायन शास्त्र का इतिहास" के तीन खण्ड इनको भेट स्वरूप भेजे । उनको पढकर प्रफुल्ल बाबू को विदित हुआ कि प्राचीन रसायन शास्त्र के सम्बन्ध में भी विदेशी विद्वान कितनी गहरी खोज करते है । उस ग्रन्थ का अवलोकन करने के पश्चात उन्होने लगातार कई वर्ष तक परिश्रम करके 'हिन्दू रसायन शास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ लिखा जिससे प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक की कीर्ति देश-विदेशों में फैल गई । यह ग्रन्थ इतना प्रामाणिक माना जाता है कि यूरोप के कई विश्वविद्यालयों में भी इसको पढाया जाता है । इसका दूसरा उद्देश्य यह भी था कि अपने पूर्वजों की वैज्ञानिक उन्नति का वर्णन पढकर वर्तमान समय के व्यक्ति प्रेरणा प्राप्त करे और पुनः इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय कार्य करके दिखायें । इस ग्रन्थ का दूसरा भाग सन् १९०९ में प्रकाशित हुआ । उसकी भूमिका में इस कार्य के महत्त्व पर कुछ प्रकाश डालते हुए प्रफुल्ल बाबू ने लिखा था—

"इस ग्रन्थ के लिये पिछले पन्द्रह या इससे भी अधिक वर्षों तक मैंने अपने शेष समय का एक-एक क्षण खर्च किया है । इसलिये स्वेच्छा से स्वीकार किये कार्य की पूर्णाहुति करते समय मेरे मन में वैसी ही भावना उत्पन्न हो रही है जैसी कि 'रोमन-साम्राज्य' के इतिहास लेखक एडमण्ड गिवन ने अपने ग्रन्थ को समाप्त करते हुए प्रकट की थी । एक बहुत बड़ा कार्य पूरा होकर मुझे उससे छुटकारा मिल गया, इससे आरम्भ में एक आनन्द की लहर आई, पर दूसरे ही क्षण जब मुझे यह जान पड़ा कि एक पुराने प्रिय साथी (अर्थात् ग्रन्थ लेखन कार्य) से मेरा सदा के लिये विछोह हो गया तो शोक भी कम नही हुआ !"

"भारतीय जनता अपने यशस्वी भूतकाल और सोई हुई विशाल शक्तियो को जान ले तो आगे चल कर और भी अधिक गौरवपूर्ण भविष्य की आशा रख सकती है । अगर यह ग्रन्थ मेरे देशवासियो को ससार के बौद्धिक क्षेत्र मे आगे बढ़ने और अपना सम्माननीय स्थान प्राप्त करने की उत्तेजना देने वाला सिद्ध होगा तो मै अपने इस परिश्रम को व्यर्थ नहीं समझूँगा ।"

"जैसा हम देख रहे है वर्तमान युग विज्ञान-प्रधान है और आजकल वही देश प्रगतिशील और शक्तिशाली माने जाते हैं जो विज्ञान की दृष्टि से अग्रगण्य हैं । अमेरिका इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है । उसने वैज्ञानिक खोजों और अन्वेषणों में अपनी पूरी शक्ति और आर्थिक साधन लगा दिये है, तो इसका परिणाम यह हुआ है कि इस समय वह ससार में सर्वोच्च राष्ट्र माना जाता है । प्रफुल्ल बाबू इस तथ्य को आरम्भ से ही जानते थे । इसलिये जैसे ही उनको कुछ साधन प्राप्त हुए, उन्होंने अनेक होनहार विद्यार्थियो को अपने पास रखकर और उनका खर्च देकर ऐसी सुविधायें प्रदान कीं जिससे वे इस क्षेत्र मे कुछ महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त करके दिखा सके । कहना न होगा कि प्रफुल्ल बाबू के प्रयत्नों से पचासों नये वैज्ञानिक तैयार हुए जिन्होंने न केवल देश के बडे-बडे विद्यालयो में पहुँचकर विज्ञान की शिक्षा का प्रसार किया, वरन् उनमें से कितनों ही ने ऐसी

वैज्ञानिक खोजें भी कीं जिनके कारण उनका नाम दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गया है ।

## अन्य क्षेत्रों में समाज-सेवा

अब से चालीस-पचास वर्ष पूर्व भारत जैसे पराधीन देश में किसी स्वदेश प्रेमी सज्जन का विद्या या कला सम्बन्धी किसी एक विषय को लेकर उसी में निमग्न हो जाना सम्भव न था । जैसा किसी बड़े नीतिकार ने कहा है, गुलामी या दासता की दशा मे कितने भी बड़े गुण या योग्यता का कोई मूल्य नहीं समझा जा सकता, क्योंकि आपको सदा अपने स्वामी के सामने दबकर रहना पड़ेगा या उसके द्वारा अपमान सहना पड़ेगा । यही कारण है कि हमारे देश मे लो. तिलक, गोखले, अरविन्द, देशबन्धुदास आदि महान विद्वानों और अपने देश में चमत्कारी सफलता प्राप्त कर सकने वालों ने अपना सम्मानयुक्त काम छोड़कर राजनीति के हलचल पूर्ण क्षेत्र मे प्रवेश किया । प्रफुल्ल बाबू यद्यपि ऊँचे शिक्षक-पद पर कार्य कर रहे थे, जिसमे जीवन को बहुत शान्ति और आनन्द से व्यतीत किया जा सकता है, पर देश-प्रेम की भावना के कारण वे वैसा कर नही सके । जैसा हम पीछे बतला चुके हैं उनकी आरम्भ से ही स्वदेशी उद्योग-धन्धों की वृद्धि और उसके द्वारा भारतवासियों की आर्थिक दशा के सुधार की लगन थी, इसलिये सदैव किसी राजनीतिक आन्दोलन और नेताओं से सम्बन्ध बनाये रहते थे और अपनी परिस्थिति के अनुकूल कोई न कोई समाज-सेवा का कार्य करते ही रहते थे ।

अपने आरम्भिक जीवन मे वे श्री आनन्दमोहन बोस और श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को अपने राजनीतिक गुरु की तरह मानते थे । फिर जब सन् १६०१ में श्री गोपालकृष्ण गोखले वायसराय की कौंउन्सिल में सदस्य के तरीके से सम्मिलित होने को कलकत्ता आये, तो डॉ. नीलरतन सरकार उनका स्वागत करने के लिये प्रफुल्ल बाबू को भी हावड़ा के स्टेशन पर ले गये थे । इसके कुछ समय पश्चात् श्री गोखले के साथ इनका सम्बन्ध घनिष्ठ मित्रता के रूप मे बदल गया । फिर जब सन् १६०१ के अन्तिम भाग में गाँधी जी कलकत्ता आकर श्री गोखले के यहाँ ठहरे तो उन्होंने प्रफुल्ल बाबू के साथ उनका परिचय कराते हुए कहा—"ये डॉ. प्रफुल्लचन्द्र राय है, जो ऐडिनबरा यूनीवर्सिटी के डी. एस-सी. हैं । प्रेसीडेंसी कॉलेज में इनको ८०० रु. वेतन मिलता है । यह अभी तक ब्रह्मचारी हैं और हमेशा इसी प्रकार ब्रह्मचारी रहना चाहते हैं ।" उस समय गाँधी जी केवल मि. मोहनदास कर्मचन्द गाँधी के रूप मे ही प्रसिद्ध थे । जब उन्होंने प्रफुल्ल बाबू को अफ्रीका प्रवासी भारतवासियों की दुर्दशा के सम्बन्ध में तमाम बातें सुनाईं, तो इसके लिये कलकत्ता में एक सार्वजनिक सभा करने का विचार किया गया । गोखले जी ने भी अपनी सम्मति दे दी और तब अलबर्ट हाल में, प्रफुल्ल बाबू के नेतृत्व मे ही सभा का आयोजन किया गया । उसमें गाँधी जी ने अफ्रीकी प्रवासी भारतवासियों की दुर्दशा का हाल जनता को सुनाया और साथ ही उसके प्रतिकारार्थ अपनी योजना भी प्रकट की । उसका आशय यही था कि सब प्रकार के कष्टों को सहन करके सत्य की रक्षा करना और द्वेष को प्रेम से जीत लेना ।

इसके पश्चात् गाँधी जी और प्रफुल्ल बाबू का सम्बन्ध दिन पर दिन प्रगाढ होता गया और जब गाँधी जी ने सन् १६२१ में खादी आन्दोलन आरम्भ किया तो प्रफुल्ल बाबू ही सबसे पहले वैज्ञानिक थे, जिन्होंने खादी की उपयोगिता प्रमाणो द्वारा सिद्ध की । जब बंगाल में दीर्घकालव्यापी बाढ का सकट आया और प्रफुल्ल बाबू तन-मन-धन से उसके निवारण करने मे जुटे तो, उन्होंने पीड़ितों की सहायता का मुख्य आधार खादी को ही बनाया और उसे सफल बना कर दिखा दिया ।

जिस समय प्रफुल्ल बाबू यूरोप की दूसरी यात्रा से वापस लौट कर आये, उसके कुछ ही समय पश्चात् भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन ने बंगाल को दो भागों—पूर्वी और पश्चिमी बंगाल—में बाँट दिया । इसमे उनका मुख्य उद्देश्य बगालियो की एकता और बढ़ती हुई शक्ति को तोड़ना था । दूसरा गुप्त उद्देश्य यह भी था कि पूर्वी बंगाल में मुसलमानो की सख्या बहुत अधिक होने से वहाँ के शासन मे उनकी प्रधानता हो जायगी और बगाल मे हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य उत्पन्न होकर राष्ट्रीय भावना को चौपट कर देगा । इस प्रकार कर्जन ने अब से ६५ वर्ष पहले वह चाल चली थी, जो अन्त

में सन् १६४७ मे पाकिस्तान के रूप मे हमारे सामने चरितार्थ हुई ।

पर उस समय सभी प्रवुद्ध वंगालियो और उनके साथ अन्य प्रान्त वालो ने भी इस विभाजन का जी-जान से विरोध किया और उसके प्रतिकार के लिये एक विराट "स्वदेशी-आन्दोलन" छिड़ गया । जिस कार्य को अंग्रेजो ने बंगाल की एकता और राष्ट्रीय भावना को कुचलने के लिये किया था, उसका परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक अभूतपूर्व राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न हो गई और 'स्वदेशी' की ऐसी लहर आई कि जिसने अन्त में इस देश में से अंग्रेजों के पैर उखाड़ ही दिये ।

## भारतीय उद्योग-धन्धों में सहयोग

इस समय सरकारी नौकरी में होने से यद्यपि प्रफुल्ल वावू सरकार विरोधी उग्र आन्दोलन में खुल कर भाग तो नहीं ले सकते थे, पर उनकी हार्दिक सहानुभूति देशोद्धार के प्रत्येक कार्य से थी । स्वदेशी आन्दोलन के फलस्वरूप लोगों का ध्यान भारतीय उद्योग-धन्धों की उन्नति की तरफ भी गया और इसके लिये वैज्ञानिकों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी । प्रफुल्ल वावू का ध्यान देशी उद्योग-धन्धों की तरफ आरम्भ से ही था और इसी उद्देश्य से उन्होंने 'बंगाल कैमिकल एण्ड फार्मास्यूटिकल वर्क्स' की स्थापना की थी । इस अवसर पर उन्होंने ऐसे युवकों को विशेष रूप से शिक्षित करना आरम्भ किया जो विभिन्न प्रकार के व्यवसायो में उपयोगी सिद्ध हो सकें । उन्होंने स्वयं कई वड़े-वड़े व्यवसायों मे स्वयं भाग लेकर देश को स्वावलम्वी वनने का मार्ग दिखलाया था । इस प्रकार के उद्योग-धन्धों में "दी सोडपुर सल्फ्यूरिक वर्क्स" (गन्धक के तेजाव का कारखाना), "दी कलकत्ता पौटरी वर्क्स", "दी वंगाल एनामेल वर्क्स", "दी बंगीय स्टीम नेवीगेशन कम्पनी", "दी बंगलक्ष्मी मिल्स" आदि का नाम लिया जा सकता है । वे इन सबके 'डाइरेक्टर बोर्ड' में सम्मिलित थे और उत्साहपूर्वक इनकी वृद्धि के लिये उद्योग करते थे ।

"कलकत्ता पौटरी वर्क्स" की स्थापना किसी उद्योगशील सज्जन ने सन् १६०१ में की थी, जब उनको संथाल परगना मे खोज करते हुए एक स्थान पर चीनी मिट्टी मिल गई थी । वर्षों तक यह कार्य एक छोटे प्राइवेट कारखाने के रूप में चलाया जाता रहा, पर सिवाय थोड़े-बहुत घाटे के लाभ का कोई लक्षण दिखाई न दिया । सन् १६१६ में इसे दस लाख मूलधन की लिमिटेड कम्पनी के रूप में संगठित किया गया । प्रफुल्ल बावू ने इसकी प्रगति के लिये काफी परिश्रम किया, पर विदेशी कम्पनियों की प्रतियोगिता में यह नाममात्र का ही लाभ कमा सकी । वे अच्छी तरह जानते थे कि इस प्रकार के उद्योग विना सरकारी संरक्षण के अग्रसर नहीं हो सकते, पर उस समय विदेशी सरकार से ऐसी आशा करना कठिन ही था ।

"वंगाल एनेमेल वर्क्स" की भी ऐसी ही कथा है । प्रफुल्ल वावू का एक शिष्य श्री देवेन्द्र भट्टाचार्य जापान से इस कार्य के लिये आवश्यक साँचे और अन्य सामग्री ले आया । उसने कलकत्ता से १५ मील की दूरी पर इसके लिये एक बड़ी जमीन लेकर कारखाना वनाया । एनेमेल के वर्तनों के वनाने की कला कुछ कठिन है और विदेशी कारखाने वाले उसे किसी को ठीक तरह सिखलाते भी नहीं ।

इसलिये इन लोगो ने इंग्लैण्ड, जर्मनी, अमेरिका से मँगाये हुए ग्रन्थों की सहायता से और अपनी सूझ-बूझ के जोर से इस धन्धे को आगे बढ़ाया और सन् १६२७ में ऐसा माल बनाकर तैयार कर दिया जो इंग्लैण्ड के बने माल के मुकावले में टिक सकता था । इस सम्बन्ध मे कम्पनी की स्थिति पर विचार करते हुए प्रफुल्ल बावू ने लिखा था कि—"इंग्लैण्ड जैसे उद्योग प्रधान देश में भी सरकार ने एनेमेल के कारखानों की सहायता के लिये विदेशी एनेमेल के माल पर २५ प्रति सैकड़ा रक्षणात्मक कर लगा रखा है, पर भारत मे सर्वथा नये उद्योगों को जापान और जर्मनी जैसे जबर्दस्त प्रतियोगियों का मुकावला अपने साधनों से ही करना पड़ता है । उनको सरकार अथवा बैकों की तरफ से कोई विशेष सहायता नहीं दी जाती ।"

"बंगीय स्टीम नेविगेशन कम्पनी' का उदाहरण और अधिक आँखें खोलने वाला है । उस समय तक यह कार्य मुख्यतः अंग्रेज कम्पनियों द्वारा ही किया जाता था । जब प्रफुल्ल बावू और उनके साथियों ने एक भारतीय जहाजी कम्पनी स्थापित की तो अंग्रेजी कम्पनी वालों के पेट में चूहे कूदने लगे और उन्होंने यह चेष्टा

की कि किसी प्रकार उसे इतनी हानि पहुँचाई जाये जिससे उसका अन्त हो जाये । इसलिये जितनी दूरी का किराया स्वदेशी कम्पनी एक रुपया लेती थी, एक जबर्दस्त अंग्रेज कम्पनी ने उसी का किराया घटाकर एक आना (६ पैसा) कर दिया । वह तो स्वदेशी कम्पनी में दो चार ऐसे साधन सम्पन्न व्यक्ति थे, जो हानि उठाने को भी तैयार हो गये, अन्यथा यह कम्पनी कुछ महीने में ही खत्म हो जाती ।

ठीक ऐसी ही घटना मद्रास में भी हुई थी । चिदम्बरम् पिल्ले ने 'स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कम्पनी' खोली थी । अंग्रेज कम्पनियों ने उसकी प्रतियोगिता करने के लिये अपना किराया इसी प्रकार रुपया से एक आना कर दिया और फिर तरह-तरह के अभियोग लगाकर श्री चिदम्बरम् को जेल भी भिजवा दिया । इस तरह की घटनायें बतलाती हैं कि विदेशी शासन में देश की औद्योगिक उन्नति करना कितना कठिन था । वे लोग पहले अपने देश वालों के लाभ का ख्याल रखते थे और ऐसे ही कायदे-कानून बनाते थे जिससे उनको सुविधा मिले । वे जानते थे कि यदि इस देश के निवासी उद्योग-धन्धो में अग्रसर हो गये तो विलायत के कारखाने वाले और मजदूर भूखो मरने लगेंगे । प्रफुल्ल बाबू इन सब बातों को खूब समझते थे, तो भी उन्होने देश में नये-नये कारोबारो का बीजारोपण किया और किसी प्रकार का लाभ न होने पर भी उनको पूरे श्रम और लगन से चलाया ।

इतनी तरह की बाधायें और साधनों की अल्पता होते हुए भी उन्होंने अनेक उद्योग-धन्धों को और विशेषतः 'बंगाल कैमिकल वर्क्स' को किस प्रकार सफल बनाकर दिखा दिया, इसकी विवेचना करते हुए एक लेखक ने बताया है कि "प्रथम तो वे एक बहुत बड़े वैज्ञानिक थे और स्वयं समस्त गुत्थियों को सुलझाने की सामर्थ्य रखते थे । दूसरी बात यह कि उन्हें योग्य साथी भी मिले । याद रखना चाहिये कि कोई व्यक्ति अकेला एक बडा काम नही कर सकता । इसके लिये उसे दूसरो की सहायता की आवश्यकता होती है । तीसरी बात यह थी कि उनके सामने उद्देश्य था देश की सेवा, न कि मुनाफा करना । कहा जाता है कि जिन दिनों 'बंगाल कैमिकल' का कारोबार घुटनो के बल ही चल रहा था और थोडी पूँजी से काम चलाया जा रहा था, किसी गलती के कारण एक 'सिरप' (दवा का शर्बत) की दो सौ शीशियाँ खराब हो गईं । कम्पनी के कर्मचारियों ने प्रफुल्ल बाबू से कहा—"उस 'सिरप' में मामूली खराबी है, आप चिन्ता न करें, हम इसे आसानी से चला लेंगे । खरीददारों को पता भी नहीं लगेगा, बहुत मामूली नुक्स है ।"

पर आचार्य राय की विचारधारा इससे भिन्न थी—"ऐसा करना जनता के साथ विश्वासघात करना होगा । हम कभी जीते जी ऐसा धोखा चलने नहीं देंगे ।" बस उन्होंने उसी समय उन २०० शीशियों को मँगाया और अपने सामने नाली में डलवा दिया । उन्होंने इस विषय में किसी पर विश्वास नहीं किया । उनके विचारानुसार विज्ञान का उद्देश्य जनता की सेवा करना था, न कि उसे ठगना या लूटना ।

## यूनीवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइन्स

प्रफुल्ल बाबू देश हित की दृष्टि से ही विज्ञान की आराधना करते थे, इसका एक प्रमाण यह भी था कि जिस काम में उनको विज्ञान की उन्नति और प्रचार की सम्भावना जान पड़ी, उसी को उन्होने अपना लिया । इस काम में उन्होने कभी व्यक्तिगत हानि-लाभ की चिन्ता नहीं की । जिस समय वे प्रेसीडेन्सी कॉलेज में प्रोफेसर का कार्य कर रहे थे, उनको राजशाही कॉलेज मे प्रिन्सिपल पद के लिये बुलाया गया । यह पद वेतन और सम्मान की दृष्टि से प्रोफेसर के पद की अपेक्षा ऊँचा था । पर प्रफुल्ल बाबू ने यह सोचकर कि छोटे नगरों के कॉलेजों मे विज्ञान की शोध-खोज करने के उतने साधन नहीं मिल सकते जितने कलकत्ते के प्रेसीडेन्सी कॉलेज मे प्राप्त है, उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया ।

पर जब कलकत्ता यूनीवर्सिटी ने सर टी. एन. पालित की सहायता प्राप्त करके एक स्वतन्त्र "विज्ञान कॉलेज" खोला जिसका उद्देश्य भारत मे मौलिक वैज्ञानिक खोजों को उत्तेजना देना था, तो वे प्रेसीडेन्सी कॉलेज को छोड़कर उसमे आ गये । उनको यह जान पड़ा कि यह केवल शिक्षक का ही पद नहीं है वरन् देश की एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करने वाला पुण्य-कार्य भी है । इसलिये वे उसमें २१ वर्ष तक काम करते रहे और नियमानुसार वेतन भी पाते रहे, पर उसमें से उन्होंने एक पैसा भी अपने लिये नहीं

रखा । उस समस्त रकम को विज्ञान की उन्नति के लिये यूनीवर्सिटी को ही दान करते रहे । इस प्रकार उन्होंने 'विज्ञान कॉलेज' को दो लाख रु. की रकम दान के रूप में दी । इसके साथ ही वे उस कॉलेज की उन्नति के लिये किस प्रकार तन-मन-धन से संलग्न रहते थे इसका कुछ अनुमान उनके उस भाषण से किया जा सकता है, जो उन्होंने "ब्रिटिश साम्राज्य के विश्वविद्यालयों का सम्मेलन" के सम्मुख कलकत्ता यूनीवर्सिटी के प्रतिनिधि की हैसियत से सन् १९२६ में विलायत में दिया था—

"हमारे 'विज्ञान कॉलेज' का अस्तित्व बंगाल के दो महान पुरुषों की उदारता का कृतज्ञ है । इनमें से प्रथम हैं, सर तारक नाथ पालित जिन्होंने अपनी मृत्यु से कुछ ही समय पूर्व उसके लिये १५ लाख रु. का दान दिया । ये सज्जन केवल एक वकील थे और कलकत्ता विश्वविद्यालय को अपना सर्वस्व दान कर देने के कारण उन्हें अपनी सन्तानों को वारिस के अधिकार से वंचित करना पड़ा था ।

इन्हीं के जैसे दूसरे पुरुष थे स्व. रास विहारी घोष । ये भी वकील थे । इस पेशे में यह सबसे अग्रगामी और बुद्धिशाली व्यक्ति माने जाते थे । इन्होंने भी लगभग अपना सर्वस्व—प्रायः २३ लाख रुपया विज्ञान कॉलेज को दे दिया । इस प्रकार भारतवासियों की तरफ से हमको सब तरह से सहायता प्राप्त हुई है और इस समय हमारे कॉलेज की सम्पत्ति ६० लाख रु. की है ।

"पर भारत सरकार ने हमारे लिये क्या किया ? जब-जब हम भारत सरकार या बंगाल सरकार के पास सहायता की प्रार्थना लेकर पहुँचे, तब हमको सदा एक ही जवाब दिया गया—"रुपया ही नहीं है, कहाँ से दें ?" पर जब बहुत बड़ी-बड़ी साम्राज्य विस्तार की योजनाओं को कार्य रूप में परिणत करना होता है तो कुबेर के भण्डार खुल जाते हैं । मेरे हिसाब से हमको जितनी सहायता मिली है उसमें से ९८ प्रतिशत जनता की और केवल दो प्रतिशत सरकारी है ।"

देश के लिये इस कॉलेज का क्या महत्त्व है इसे थोड़े ही लोग जानते हैं । मेघनाथ साहा और श्री ज्ञानेन्द्र चन्द्र घोष जैसे खोज करने वाले भारत प्रसिद्ध वैज्ञानिक इसी के विद्यार्थी थे । श्री सी. वी. रमन ने भी इसी कॉलेज में रहकर अपनी आकाश शब्द, प्रकाश, रंग आदि के सम्बन्ध में वे महत्त्वपूर्ण खोजें की थीं जिनसे उनका नाम संसार में प्रसिद्ध हो गया और 'भौतिक विज्ञान' के लिये उनको 'नोबल पुरस्कार' दिया गया । श्री रमन की इस महत्ता को समझकर ही प्रफुल्ल बाबू ने अपनी आत्म-कथा में लिखा था कि—"अगर कलकत्ता यूनीवर्सिटी कॉलेज" ने विज्ञान जगत को केवल एक डॉ. रमन ही दिया होता, और कुछ भी न किया होता तो इसकी स्थापना का महान उद्देश्य पूरा हुआ समझ लिया जाता ।"

## बाढ़ के समय सेवा कार्य

सन् १९२२ में उत्तर बंगाल में भंयकर बाढ़ आई । रेलवे लाइन के बाँधों के कारण पानी की निकासी कम हो गई थी । इसलिये जब सात दिन तक लगातार जोर से बरसात होती रही तो नदी-नालों का पानी उमड़ने लगा और रेल की पटरी उससे डूब गई । जब यह समाचार अखबारों में छपा तो सुभाष बाबू जाँच करने स्वयं वहाँ पहुँचे और स्थिति की गम्भीरता को समझकर उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यालय, बंगाल युवक-मण्डल तथा प्रफुल्ल बाबू के पास तार द्वारा खबर भेजी । कलकत्ता की सभा में सभी वर्गों के लोग बड़ी संख्या में सम्मिलित हुए और एक सहायता-समिति बनाई गई जिसके अध्यक्ष प्रफुल्ल बाबू ही थे । उन्होंने सहायता के लिये एक बड़ी धनराशि इकट्ठी की और यूनीवर्सिटी के प्रोफेसरों तथा विद्यार्थियों में से स्वयं-सेवक संग्रह करके यूनीवर्सिटी की इमारत में पीड़ितों की सेवा की व्यवस्था करने लगे । इस कार्य में उन्होंने कितना परिश्रम किया और असहाय लोगों की रक्षा की, इसका जिक्र करते हुए विलायत के "मैंचेस्टरगार्जियन" नामक समाचार पत्र में उसके अंग्रेज सम्वाददाता का जो पत्र छपा था, उसमें कहा गया था—

दो हजार वर्गमील के क्षेत्र में यह संकट फैला हुआ है । यद्यपि मरने वालों की संख्या ६० ही है पर कई हजार घर गिर गये हैं और १२००० पशु डूबकर मरे हैं । ५०० वर्गमील की समस्त फसल नष्ट हो गई है ।

"जब यह संकट आया तब सरकार यहाँ से बहुत अधिक ऊँचाई पर "दार्जिलिंग" में बैठी हुई थी ।

अन्त में उसने भी सहायता भेजी, पर लोकमत के दबाव से, नाराज होकर भेजी और अपूर्ण भेजी । कुछ भी हो बंगाल की जनता पर उसका यही प्रभाव पड़ा ।"

"इस परिस्थिति में रसायनाचार्य सर पी. सी. राय ने आगे बढ़कर इस कार्य को अपने हाथ में लिया । जो काम सरकार के करने का था उसके पूरा करने को उन्होंने जनता का आह्वान किया । लोगों ने उनके आदेश को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया और एक महीने मे तीन लाख रुपया चन्दा जमा किया । धनवान स्त्रियों ने अपने गहने और रेशमी वस्त्र दे डाले और गरीबों ने अपने फालतू कपड़े फण्ड में जमा करा दिये । सैकड़ो नवयुवक गाँवों में जाकर इस सामग्री को गाँव वालों तक पहुँचाने के लिये स्वयंसेवक बन गये ।"

"जनता ने इस कार्य में इतना उत्साह दिखलाया उसका एक कारण तो यह था कि लोग विदेशी सरकार की अकर्मण्यता का पर्दाफाश कर देना चाहते थे । कुछ अंशों में इसका कारण पीड़ितों के प्रति सच्ची सहानुभूति भी थी । पर सबसे बड़ा कारण श्री प्रफुल्लचन्द्र राय का उल्लेखनीय व्यक्तित्व और उनकी प्रतिष्ठा ही था । वे विश्व विख्यात वैज्ञानिक हैं । यद्यपि उनको कट्टर असहयोगवादी तो नहीं कहा जा सकता, पर वे पक्के राष्ट्रवादी हैं और सरकार की कठोर आलोचना करने वाले हैं । इसके अतिरिक्त वे सच्चे संगठन करने वाले और सच्चे शिक्षक भी है । मैंने एक यूरोपियन को यह कहते सुना कि अगर महात्मा गाँधी केवल दो नये पी. सी. राय तैयार कर लेते तो वे इसी वर्ष में स्वराज्य प्राप्त कर लेते । एक बंगाली विद्यार्थी ने मुझसे कहा कि 'अगर किसी सरकारी अफसर ने या असहयोगी नेता ने चन्दा की अपील की होती तो जनता ने तीन पैसा भी न दिया होता ।' पर जब सर पी. सी. राय माँगने को खड़े होते हैं, तो लोग विश्वास करते हैं कि उनके पैसे का सदुपयोग ही होगा और एक पाई (०.३३ पैसा) भी बेकार नहीं जायेगी ।"

सन् १६३१ में फिर भयंकर बाढ आई जो १६२२ की बाढ़ से भी अधिक फैली हुई और नाशकारी थी । उत्तर और पूर्व बंगाल का बहुत बड़ा भाग उससे प्रभावित हुआ । इसमें भी सहायता-कार्य का नेतृत्व प्रफुल्ल बाबू को करना पड़ा और उन्होंने बहुत अधिक सहयोग, संलग्नता और मितव्ययता से इसको पूरा किया ।

## सार्वजनिक जीवन और खादी प्रचार

एक विश्वविख्यात् वैज्ञानिक, जिसको अपना अधिकांश समय अपनी प्रयोगशाला के भीतर रासायनिक पदार्थों का विश्लेषण करते हुए, व्यतीत करना पड़ता है और जिसकी दुनिया प्रायः अपने विद्यालय के कुछ सौ विद्यार्थियों तक ही सीमित रहती है, उसमे यह आशा करनी कि शहरों और गाँवों का दौरा करके सार्वजनिक आन्दोलन में भाग लेगा, एक कठिन बात है । पर प्रफुल्ल बाबू ने सरकारी नौकरी करते हुए और अपने विज्ञान सम्बन्धी कार्यों को पूरा करते हुए, सार्वजनिक जीवन में जितना भाग लिया वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । इस सम्बन्ध मे उन्होने स्वयं अपनी "एक बंगाली रसायन शास्त्री की जीवन कथा और परीक्षण" नामक पुस्तक में इस तथ्य, पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"सन् १६२१ मे मैंने खादी और राष्ट्रीय शिक्षा में प्रमुख भाग लिया और प्रत्यक्ष राजनीतिक आन्दोलन में भी काम किया है । कितनी जिला परिषदों मे मुझे अध्यक्ष पद का कार्य करना पड़ा है, अछूतों के सम्मेलन का भार ग्रहण करना पड़ा है । खुलना के अकाल और बाढ़ के नेतृत्व का भार भी मुझे सौंपा गया है । मोटे हिसाब से जान पड़ता है कि पिछले दस वर्ष के भीतर मैंने इस प्रदेश मे जो यात्रायें की है उनकी सम्मिलित लम्बाई दो लाख मील से कम नहीं है । इसके अतिरिक्त १६२० में चौथी बार और १६२६ में पाँचवीं बार मुझे इंग्लैण्ड का भी सफर करना पड़ा ।"

रौलट एक्ट और जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड के फलस्वरूप देश में जिस प्रचण्ड असहयोग आन्दोलन का आविर्भाव हुआ था, उसमें सरकार से बिना किसी प्रकार का प्रत्यक्ष संघर्ष किये, प्रफुल्ल बाबू ने पूरा-पूरा और महत्त्वपूर्ण भाग लिया । उन्होने "राष्ट्रीय शिक्षण-समिति" के अध्यक्ष का कार्य किया और महात्मा गाँधी के खादी आन्दोलन में तन-मन-धन से सहयोग दिया । जिस प्रकार अधिकांश पढ़े-लिखे व्यक्ति आरम्भ मे खादी का उपहास करते थे, उसी प्रकार आचार्य राय भी उस पर हँसते ही थे, पर अन्त में वे उसके परम उपासक बन गये । इस सम्बन्ध मे उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है—

"खादी के सम्बन्ध में यदि मेरे पिछले सात-आठ वर्ष के लेख और भाषणों का संग्रह किया जाये तो एक वड़ा भारी ग्रन्थ बन सकता है । पर हमारे बुद्धिजीवी लोगों का एक दल, जो क्रियात्मक या निर्माणात्मक कार्य कुछ भी नहीं करता और केवल आराम कुर्सियों पर पड़े-पड़े हँसी-मजाक में समय गुजारा करता है, उसकी उपेक्षा के भाव को दूर करने के लिये इस विषय मे अधिक जोर देना आवश्यक है । चर्खा केवल एक आशीर्वाद ही नहीं है, वरन् अकाल का तो एक बीमा है । बंगाल के बाढ़ सकट के समय परीक्षण के लिये गाँवों के निवासियो को एक हजार चर्खे दिये गये । चार-पाँच महीने के बाद ही वहाँ मनों सूत इकट्ठा हो गया । आस-पास के बुनने वालों ने ही उसका कपड़ा तैयार कर दिया । इससे बुनकरो को भी सहायता मिली । यह कार्य इतना सफल सिद्ध हुआ कि सन् १६३१ में जब जूट की कीमत बहुत गिर गई, तब उसकी खेती करने वाले किसानो ने चर्खे की इतनी अधिक माँग की कि हम उसे पूरा भी न कर सके । रुपया द्वारा सहायता देने से तो देने और लेने वाले, दोनो का पतन होता है, पर जब किसी को इस प्रकार का स्वतन्त्र उद्योग बतला दिया जाता है तो उसका स्वाभिमान कायम रहता है ।"

चर्खे का समर्थन वे केवल भावुकतावश नहीं करते थे, वरन् अपनी विश्लेपण करने वाली बुद्धि से उन्होंने परिस्थिति का जो निष्कर्ष निकाला था, उसके आधार पर वे तर्क द्वारा इसे सिद्ध करते थे । उन्होंने लिखा है—

"बम्बई की कपड़े की मिलों और हावडा की जूट मिलो मे आजकल (सन् १६३२ में) तीन से चार लाख तक मजदूर काम करते हैं । एक-दो लाख लोगों को कानपुर की मिलों में काम मिल जाता है । भारत के समस्त उद्योग केन्द्रों में अधिक से अधिक २० लाख मनुष्य काम करते हैं, पर भारतवर्ष की शेष आबादी (३१ करोड़ ८० लाख) का क्या हो ? जब तक मैनचेस्टर, लिवरपुल, ग्लासगो और डण्डी जैसे विशाल उद्योग केन्द्रों की स्थापना हमारे देश में भी न हो जाये और गाँवों के ७० प्रतिशत आदमी शहरों में आकर न बस जाये तब तक क्या तुम राह देखा करोगे ? क्या तुम भारत के लाखो गाँवों का औद्योगीकरण कर सकते हो । मैं तो समझता हूँ कि समस्त भारत में औद्योगीकरण के लिये तुमको प्रलयकाल तक राह देखनी पड़ेगी ।"

स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करने वाले आचार्य राय का स्वभावतः ही यह विश्वास था कि हम अपने देश का सुधार और उद्धार अपने ही साधनो और प्रयत्नों से कर सकेगे । दूसरा कोई राष्ट्र हमें उस प्रकार की सहायता देने को कदापि तैयार न होगा जिससे हम इतने शक्तिशाली बन जायें कि कुछ समय बाद उसकी भी परवाह न करें । इसलिये सच्ची आन्तरिक और बाह्य शक्ति तो मनुष्य के स्वयं साहस करके आगे बढ़ने और सब प्रकार के कष्ट सहन करने के लिये तैयार होने से ही प्राप्त होगी, न कि किसी दूसरे की कृपा से । इसलिये उन्होंने चर्खा और खादी का समर्थन किया, क्योकि ये वस्तुयें हमारी अपनी हैं और हम हजारों वर्ष तक इनको बनाकर अपनी आवश्यकता पूरी करते रहे थे । पर मशीनें और इंजिन आदि ऐसी चीजें हैं—कम से कम आचार्य राय के समय में—जिनके लिये हमे विदेशियों पर आश्रित रहना पड़ेगा । इसीलिये उन्होंने 'गुजरात विद्यापीठ' का "शुभारम्भ" करते हुए सन् १६२३ में ही कहा था—"राष्ट्रो का निर्माण अपने पराक्रम से ही होता है ।" हमको स्वराज्य अपने परिश्रम से प्राप्त करना होगा । अगर वह कठिन तपस्या, श्रम द्वारा प्राप्त किया जायेगा तभी उसे सच्चा स्वराज्य कहा जा सकेगा । अगर अन्य कोई "स्वराज्य हमको भेंट की तरह दे दे तो उसका मूल्य एक खोटा पैसा भी नहीं माना जा सकता ।"

## राष्ट्रीय-सम्मान की प्राप्ति

यही सब कारण थे कि सरकारी नौकर होते हुए भी उनको प्रत्येक राष्ट्रीय संस्था में आमन्त्रित किया जाता था और सम्मानपूर्वक स्थान दिया जाता था । कोकोनाडा कांग्रेस (सन् १६२५) के अवसर पर जब उसके अध्यक्ष मो. मुहम्मदअली दोपहर की नमाज पढ़ने को उठे तो उनकी खाली कुर्सी पर किसी को बैठाया जाना था । ऐसे अवसर पर प्रायः स्वागताध्यक्ष उस स्थान को ग्रहण करता है, पर मौलाना ने दर्शकों की सम्मति पूछकर प्रफुल्ल बाबू को वहाँ बैठने को कह दिया । यद्यपि उनको वहाँ केवल दस मिनट तक बैठना ही पड़ा । पर इससे प्रकट हो गया कि देश के सब

श्रेणियों के व्यक्तियों की दृष्टि में उनका कितना अधिक सम्मान था ।

जिस समय आचार्य राय गुजरात विद्यापीठ का शुभारम्भ करने अहमदावाद गये, उस अवसर पर उनका स्वागत करते हुए आचार्य कृपलानी ने, जो एक प्रसिद्ध विद्वान् और शिक्षा विशारद होते हुए प्रमुख राजनैतिक नेता भी थे, उनके गुणों और महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला था । उससे प्रकट होता है कि आचार्य राय ने वास्तव में अपने शिष्यों को सुयोग्य देशभक्त और समाज सेवक बनाने के लिये कितना प्रयत्न किया था—

"समाज के सुधारने के सम्बन्ध में आपकी सेवायें सर्वत्र विदित हैं । अपनी प्रिय सरस्वती देवी को पूजते-पूजते आप मातृभूमि और मानव जाति को भी भूल गये । कितने ही लोग मानवमात्र की एकता और उसके सेवक होने की बात करते रहते हैं, पर वे इतना भी नही जानते कि मानव-सेवा का कार्य कहाँ से और कैसे आरम्भ करना चाहिये । इसलिये जब उनकी सेवा के लिये कोई केन्द्र-विन्दु नहीं मिलता तो वे स्वयं अपने को ही 'केन्द्र विन्दु' बना लेते है और अपनी ही सेवा में तल्लीन हो जाते हैं । पर आप "मानव जाति की सेवा" के सिद्धान्त को मानते हुए भी उसकी मर्यादाओं को समझते हैं । इसलिये आपने अपनी मानव-सेवा का केन्द्र भारतवर्ष का नहीं, बंगाल को ही बना लिया है । वहाँ पर आप मलेरिया ज्वर से पीड़ित दीन-दुःखियों की साधुओं की तरह सेवा करते हो । जो लोग दुर्भाग्यवश दीन-हीन और पतित हो चुके हैं उनके बीच में बैठकर उनकी सहायता की चेष्टा करते हो । बहुत से लोग मिट्टी-पत्थर का काम करने वाले मजदूरों के फटे टूटे वस्त्रो को देखकर सहानुभूति प्रकट किया करते है, पर उन स्वयं के कपड़े बहुत ही स्वच्छ और बढ़िया होते हैं । पर आपके कपड़ों को तो हमने उन्हीं दीन-दुःखियो की सेवा करते-करते मैला हो जाते देखा है ।

"आचार्य राय अपने शिष्यो को मित्र के समान रखते हैं । वास्तव में वे उनके सम्मुख बालकों की तरह ही हैं, पर उदार हृदय प्रफुल्ल बाबू उनको किसी प्रकार छोटा नहीं समझते । वे उनके ऊपर प्रेम की वर्षा करते रहते हैं और इसके उत्तर में वे लोग भी अपने पूजनीय आचार्य से उतना ही अधिक प्रेम रखते हैं और सब प्रकार की सेवा करने को सदैव प्रस्तुत रहते हैं । इसलिये आचार्य राय के घर मे एक भी नौकर-चाकर नहीं रहता, उनके सब काम शिष्य लोग ही सम्पन्न कर देते हैं । यद्यपि वे शिष्यों को समानता का दर्जा देते हैं, पर वे कभी अवज्ञा या अनुचित व्यवहार नही कर सकते, क्योंकि प्रफुल्ल बाबू का रहन-सहन तथा व्यवहार प्राचीन समय के गुरुकुलों की तरह सम्मान और भक्ति उत्पन्न करने वाला है ।"

हम भी अगर हृदय से आकांक्षा करें तो अपने न्यूनाधिक साधनों से समाज-सेवा का कोई न कोई ऐसा कार्य अवश्य कर सकते हैं, जिससे हमारा जीवन अपनी और दूसरों की दृष्टि में सार्थक सिद्ध हो सके ।

# करुणा और सेवा के प्रतिनिधि : ठक्कर बापा

सन् १८६१ ई. में इंजीनियरिंग की परीक्षा पास करते ही ठक्कर बापा को बी. जी. जे. पी. रेलवे में असिस्टेण्ट इंजीनियर के पद पर नियुक्त कर लिया गया । अपने विद्यार्थी काल से ही वे अपनी ईमानदारी तथा सेवा भावना के लिये विज्ञापित थे । जिस समय भावनगर में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे पास की थी तभी से लोग उन्हें जानने लगे थे ।

मैट्रिक पास करने के बाद ठक्कर बापा के सामने एक प्रश्न आया । वह यह कि इस शिक्षा को किस दिशा में आगे बढ़ाया जाये जिससे कि वे समाज तथा राष्ट्र के लिये अधिकाधिक उपयोगी बन सकें । वे इस प्रश्न पर निरन्तर विस्तार तथा मनन करते रहे । कोई भी सामान्य युवक पढाई के विषय मे इस प्रकार नही सोचता और न बढ़ते हुए पैरों को रोककर भविष्य का स्पष्ट चित्र निर्धारित करता है और न उसके लिये मार्ग का चुनाव करता है । प्राय. वे जिस ओर भी अवकाश पाते उसी ओर बिना सोचे-समझे चल पड़ते हैं । जीवन--का न कोई लक्ष्य होता है और न ध्येय ।

दान वे बहते पानी की तरह जीवन की टेढ़ी-मेढ़ी कीरें बनाते हुए न सफलता का सुख पाते हैं और न ई उल्लेखनीय उन्नति कर पाते हैं तथा न ही समाज ा कोई उपयोगी सेवा कर पाते हैं ।

किन्तु ठक्कर बापा ऐसे अस्त-व्यस्त विचार वाले जवान नहीं थे । वे मानव-जीवन का मूल्य जानते और उसका ठीक-ठीक सदुपयोग कर समाज की छ सेवा करना चाहते थे । इसके लिये एक व्यवस्थित चार-शैली तथा एक निश्चित मार्ग की आवश्यकता ती है—ठक्कर बापा जीवन के इस नियम से भी रिचित थे । निदान उन्होंने मैट्रिक के बाद अपना य निर्धारित करने के लिये गम्भीरतापूर्वक विचार या । पढ़-लिख कर कोई छोटी-मोटी नौकरी कर ी जाये—यह विचार तो उनके पास आ ही नहीं सका । क्योंकि पेट पालने मात्र के लिये शिक्षा का उपयोग रते रहना वे विद्या का अपमान ही समझते थे । नका कहना था कि जो शिक्षा और जो शिक्षित समाज किसी काम नहीं आते उनको मैं नहीं के समान ही ानता हूँ । जो शिक्षित होकर ज्ञान पाकर समाज के ाम न आये उसकी उन्नति तथा विकास में सहयोग कर सके उसमें और एक अल्पबुद्धि अशिक्षित व्यक्ति अन्तर ही क्या रह जाता है । जिस प्रकार नासमझ क्ति समाज को अदृष्टिगोचर कर केवल अपने लिये ी सब कुछ करते और जीते हुए एक अमहत्त्वपूर्ण ीवन बिताते रहते हैं । समाज की क्या दशा है ? सके प्रति मेरा क्या कर्त्तव्य है और मैं उसके प्रति पने कर्त्तव्य को किस दिशा में और किस सीमा तक ालन कर सकता हूँ—इस प्रकार के सामाजिक प्रश्न नके मस्तिष्क में प्रतिध्वनित नहीं हो पाते । वे समाज रहते हुए भी असामाजिक होकर चले जाते है—यदि सी प्रकार इसी आदर्श पर कोई शिक्षित व्यक्ति भी वार्थ की संकुचित परिधि में ही रहकर सोचता और ीता रहे तो उसे भी उन्हें असामाजिक व्यक्तियों की णना में रखा जायेगा । शिक्षा की सच्ची सार्थकता जीवन को देश, राष्ट्र अथवा समाज के लिये उपयोगी नाना ।

ठक्कर बापा निरन्तर विचार और मनन करते हते । उन्हें विचार आया कि न हो सिविल सर्विस चले जायें और उस स्थान से यथासम्भव जनता की सेवा करूँ, किन्तु उन्हें यह विचार ग्राह्य नहीं हुआ । वे आई. सी. एस. लोगों की दशा देख ही रहे थे । एक ऊँचे पद पर होने पर भी उन्हें अधिकारों से इतने वंचित रहना पड़ता है कि जनता की सेवा का कोई मौलिक विचार उनके मस्तिष्क में आ ही नही सकता । वे शासन के एक यंत्र मात्र होते हैं और उनका कर्त्तव्य एकमात्र शासन धुरी को जनता पर इस प्रकार लादे रहने में मदद करना है कि वह उस भार को यदि अनुभव भी करे तो उसका विरोध न कर सके । आई. सी. एस. की दिशा में जाने वाले व्यक्ति नौकरशाही के एक बड़े स्तम्भ होने के सिवाय और कुछ नही होते । वे सरकार को जनहित का कोई न परामर्श दे सकते है और न स्वयं ही कुछ कर सकते है । अस्तु उस ओर जाना जनता और जनहित से बिल्कुल अलग हो जाना है । अफसरशाही में पड़कर जनता पर कुछ रौब आतंक जमाना जरूरी हो जायेगा, जिससे मेरी सेवा-भाविनी आत्मा को अपार कष्ट होगा ।

इसी प्रकार उन्होंने आई. पी. एस. के विषय मे भी सोचा । यह पुलिस सर्विस भी उन्हे ठीक न जँची । इसमें जाने पर तो मनुष्य और भी दास वृत्ति का हो जाता है । वह इस सीमा तक अराष्ट्रीय तथा असामाजिक हो जाता है कि अनेक बार सरकार के लाभ के लिये जनता की उचित आवाज तथा अधिकारों का हनन करना पड़ता है । देशभक्त तथा देश हितैषियों पर अत्याचार करना, करवाना पड़ता है । उस ओर जाना तो मनुष्य की आत्मा और भी पराधीन होकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो बैठती है । न्याय क्षेत्र की ओर जाने पर भी उन्हे इसी प्रकार की कमियाँ तथा त्रुटियाँ दिखलाई दीं ।

इस प्रकार बहुत समय तक गम्भीरतापूर्वक विचार करने के बाद उन्हें अपने लिये इंजीनियरिंग की दिशा ही उपयुक्त मालूम हुई । उन्होंने सोचा यह विशुद्ध रूप से निर्माण कार्यों से सम्बन्धित क्षेत्र होता है । इसमे जनता पर आतंक अथवा भय डालने की आवश्यकता नहीं होती । इस विभाग द्वारा जो भी काम किये जाते है, वे सब किसी न किसी प्रकार जनता के लिये हितकारी ही होते हैं । इसमें जाकर लोग सरकार को अपना मौलिक परामर्श दे सकते हैं । आवश्यक निर्माणो को कार्यान्वित करने के लिये योजनायें प्रस्तुत कर सकते

हैं । साथ ही इसमें नियुक्त व्यक्ति केवल बंगलों अथवा दफ्तर में कुर्सी पर बैठे-बैठे ही काम नहीं करते बल्कि उन्हें निर्माण स्थलों पर मजदूरों तथा कारीगरों के बीच रहकर परिश्रम भी करना पड़ता है । इस क्षेत्र में सार्थक तथा ठोस काम करने का अवसर रहता है जिससे परिश्रम के साथ संयुक्त होकर कमाई पवित्र तथा ग्राह्य हो जाती है । साथ ही काम करते-कराते समय अपनी आत्मा को यह सन्तोष रहता है कि मैं देश निर्माण के एक उपयोगी काम में लगा हुआ हूँ ।

इसके साथ ही उन्होंने सोचा कि देश में तकनीकी व्यक्तियों की बहुत कमी है । निर्माण कार्यों के लिये विदेशों से इंजीनियर बुलाने पड़ते हैं । जिन पर न केवल अधिक खर्च ही होता है बल्कि पर-निर्माण का भाव भी बढ़ता है । एक दिन देश स्वतन्त्र होना ही है और उसका निर्माण भी । ऐसे अवसर पर अधिक से अधिक इंजीनियरों तथा तकनीकी आदमियों की आवश्यकता होगी । यदि अभी से शिक्षित लोग इस क्षेत्र की ओर बढ़ने लगें तो आगे चलकर वे पर्याप्त सख्या में उपलब्ध हो सकेंगे । पढ़-लिख कर युवक अधिक से अधिक इंजीनियरिंग क्षेत्र में जायें इसकी प्रेरणा देने के लिये मुझे स्वयं भी उसी क्षेत्र की ओर जाना चाहिये । इस प्रकार खूब गहराई से सोचने-विचारने के बाद श्री ठक्कर बापा मैट्रिक पास करके इंजीनियरिंग कॉलिज में भरती हो गये और अच्छी श्रेणी में पास होकर बी. जी. जे. पी. रेलवे में असिस्टेण्ट इंजीनियर नियुक्त हो गये ।

उन दिनों एक नई रेलवे लाइन निकाली जा रही थी । ठक्कर बापा को काम करने-कराने के लिये उसी पर नियुक्त किया गया था । रेलवे लाइन के क्षेत्रों में बहुत से खेत तथा बाग-खलिहान पड़ने स्वाभाविक थे । किसानों को अपनी-अपनी जमीन की चिन्ता पड़ गई, और वे उसे बचाने की चिन्ता करने लगे । इसके लिये उन्हें केवल एक ही उपाय सूझ पड़ा—वह यह कि यदि नियुक्त इंजीनियर को किसी प्रकार पक्ष में किया जा सके तो वह नक्शे मे कुछ सशोधन कर हमारी जमीन बचा सकता है ।

क्षेत्र के बहुत से किसान एकत्र हुए और उन्होंने परामर्श करके एक अच्छी खासी धनराशि रिश्वत देने के लिये इकट्ठी की और उसे लेकर ठक्कर बापा के पास गये । उन सबों ने अपनी इच्छा प्रकट करते हुए रुपयों की थैलियाँ उनके सामने रक्खीं । ठक्कर बापा ने सब कुछ ध्यान से देखा-सुना और शान्त भाव से उन्हें समझाया । मैं उन इंजीनियरों में से नहीं हूँ जो रिश्वत लेकर के जनहित के कामों में बाधा डालते है मैं सरकारी नौकरी भी देश की सेवा की भावना से करता हूँ और अपने कर्त्तव्य की दिशा में जो कुछ सोचता हूँ उसमें सार्वजनिक हित सन्निहित रहता है । मानिये मैं आप लोगों से रिश्वत लेकर रेलवे लाइन को टेढ़ा करा दूँ और आपके खेत बचा दूँ तब भी तो यह समस्या हल नहीं होती । यदि आप लोगों के खेत बच जायेंगे तो किन्हीं दूसरे के खेत लाइन के क्षेत्र में पड़ जायेंगे । उन लोगों को भी आपकी तरह अपनी जमीन की चिन्ता होगी वे भी इसी तरह थैलियाँ लेकर मेरे पास आयेंगे । इस प्रकार मैं किस-किस की जमीन बचा सकता हूँ । लाइन निकलनी ही है और किसी-न-किसी के खेत उसमें पड़ने ही हैं । इसलिये यदि संयोगवश आप लोगों के खेत लाइन मे आ गये हैं तो आप सबको सार्वजनिक हित मे सन्तोष ही करना चाहिये । मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह केवल अपना ही लाभ न देखे बल्कि सार्वजनिक हित का महत्त्व भी समझे । यदि इस प्रकार समाज के सारे लोग केवल अपना लाभ देखते हुए सार्वजनिक हित की ओर से आँख बन्द कर लें तो जल्दी ही समाज की सारी व्यवस्था बिगड़ जाये और उस दशा में हम आप सब समान रूप से असुविधा तथा कष्ट के शिकार बन जायेंगे । व्यक्तिगत लाभ से सार्वजनिक हित अधिक श्रेयस्कर है । उसमें सबको ही सुख-सुविधा का अवसर रहता है जबकि व्यक्तिगत स्वार्थ में किसी एक व्यक्ति को ही सन्तोष, वह भी झूठा सन्तोष होता है । हम सब सामाजिक लोग हैं इसलिये सामाजिक दृष्टि से ही हर बात पर विचार करना चाहिये । केवल स्वार्थ की ओर देखते रहना मनुष्यता का लक्षण नहीं है और सार्वजनिक हित का घात कर स्वार्थ का साधन तो पशुता से भी नीचे गिरी बात है ।

आप सभी जानते हैं कि इस समय जिस प्रकार लाइन निकाली जा रही है वह बिल्कुल सीधी जा रही है । उसका नक्शा बदलने पर वह टेढ़ी-मेढ़ी हो जायेगी । ऐसी दशा में देश का बहुत धन व्यर्थ लगेगा

और यात्रा के लिये भी असुविधा बढ़ जायेगी । सीधी लाइन चली जाने से गन्तव्यों के फासले कम रहते हैं किन्तु जब रेलवे लाइन टेढ़ी करके घुमा-फिराकर निकाली जाती है तो स्थानों की दूरी बहुत बढ़ जाती है । लोगों को यात्रा करने में समय भी अधिक लगता है और किराया भी ज्यादा देना होता है और यह अपव्यय सदा-सर्वदा के लिये चलता रहता है, जिससे प्रतिवर्ष राष्ट्र का करोड़ों रुपया बेकार चला जाता है । किसी के व्यक्तिगत हानि-लाभ से यह अपव्यय लाखों गुना होता है जो निश्चय ही एक विचारणीय विषय है । इसलिये आप सबसे मेरा निवेदन है कि सब लोग अपना पैसा ले जायें और हितकर कामों में खर्च करें । जमीन के विषय में सोचकर यह सन्तोष करलें कि सार्वजनिक हित में यदि हमारी थोड़ी-सी जमीन चली गई तो कोई बात नहीं इससे सारे देश का लाभ तथा हित होगा '। लोग देश-धर्म के लिये अपना सर्वस्व दे डालते हैं तो क्या हम लोग इतना सा त्याग सहन नहीं कर सकते । आशा है आप लोग मेरी बातों का सार समझेंगे और खुशी-खुशी घर चले जायेंगे । ठक्कर बापा की सारगर्भित बातें सुनकर सभी किसान सन्तुष्ट होकर चले गये ।

हाथ में आये हजारों रुपये की धनराशि ठुकरा देने वाले ठक्कर बापा के पूर्व जीवन पर यदि दृष्टि डाली जाये तो उनकी इस चारित्रिक दृढ़ता का मूल्य और बढ़ जाता है । जहाँ लोग घर से सम्पन्न होने पर भी पढ़-लिखकर जब सार्वजनिक सेवाओ मे जाते है और रिश्वत तथा भ्रष्टाचार से अपनी जेबें भरने में संकोच नही करते । इसी ईजीनियरिंग विभाग में न जाने कितने लोग ठेकेदारों से मिलकर सार्वजनिक निर्माणो में गोलमाल किया करते हैं । रिश्वत लेकर चौथ तथा कमीशन तय करके ठेकेदारों को घटिया माल मसाला लगाने की छूट दे देते है । कम काम के लिये ज्यादा पैसों का बिल पास कर देते हैं । न पास होने वाले कामों को पास कर देते है और इस प्रकार राष्ट्र को स्पष्ट धोखा देते रहते है । उनकी मृतात्माओं में यह चेतना नहीं रहने वाली है कि जिन सार्वजनिक निर्माणों को वे करवा रहे हैं इनके दृढ़ तथा स्थायी होने मे ही सबका कल्याण है । कमजोर तथा पोले निर्माण जल्दी ही नष्ट हो जाते है जिससे राष्ट्र की बहुत बड़ी सम्पत्ति की क्षति होती है । दुर्घटनायें तथा ध्वंस की विभीषिकायें उपस्थित होती रहती हैं । इस प्रकार चोरी करना और करवाना भयानक राष्ट्र द्रोह है किन्तु स्वार्थी लोग इस पाप को करते जरा भी नहीं डरते और आये दिन अपने भ्रष्टाचार से लोक-परलोक का विनाश करते रहते हैं । वहाँ ठक्कर बापा ने सच्ची राष्ट्रीयता तथा सार्वजनिक हित की गरिमा की रक्षा की और कठिन परिस्थितियों का जीवन-यापन करते हुए भी अपने चरित्र का प्रमाण प्रस्तुत किया ।

हजारों रुपयों की धनराशि ठुकरा देने वाले ठक्कर बापा का जन्म एक बहुत ही गरीब परिवार में हुआ था । इनके पिता की ऐसी स्थिति न थी कि वे उन्हें थोड़ा-बहुत भी पढ़ा सकते किन्तु स्वावलम्बन की भावना रखने वाले ठक्कर बापा ने उस आर्थिक असुविधा को अपनी शिक्षा में बाधक नहीं बनने दिया । उन्होंने अध्ययन में घोर परिश्रम किया । एक समय आधा पेट भोजन किया । प्रकाश के अभाव में चाँदनी मे बैठकर अपना पाठ याद किया । कापी किताबो का खर्च निकालने के लिये बच्चों को पढ़ाया और बहुत से छोटे-मोटे काम किये किन्तु अपनी शिक्षा की प्रगति नहीं रुकने दी और आखिर मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास कर इंजीनियरिंग की डिग्री प्राप्त की । जिन ठक्कर बापा ने ऐसी गरीबी तथा कठिनाई में अपनी शिक्षा पूरी की और जीवन-यापन किया उन्होंने हाथ मे आई हुई हजारों रुपयों की धनराशि ठुकराकर जिस चरित्र का प्रमाण प्रस्तुत किया, वह वास्तव में सबके लिये ही अनुकरणीय है ।

ठक्कर बापा के इस चारित्रिक उदाहरण ने विभाग के लोगों पर प्रतिकूल प्रतिक्रिया घटित की । विभाग के लोग भ्रष्टाचार से बुरी तरह ग्रसित थे । उनकी आत्मा मर चुकी थी, उनकी राष्ट्रीय तथा सामाजिक सद्भावना निरस्त हो चुकी थी । गर्हित लाभ के कारण उनके संस्कार विकृत हो चुके थे । जिस प्रकार उलूक को दिन का प्रकाश प्रतिकूल अनुभव होता है, उसी प्रकार विभाग के भ्रष्टाचारी लोगों को ठक्कर बापा का वह उज्ज्वल चरित्र अपनी भ्रष्ट परम्परा के विरुद्ध दिखाई दिया । उन्होंने सोचा कि यह विलक्षण व्यक्ति विभाग में अभ्रष्टाचार का प्रवर्तन करेगा, जिससे हम सबको ठेकेदारों से होने वाली आय समाप्त हो जायेगी ।

निदान पहले तो उन्होंने ऊँच-नीच समझा कर बापा को अपनी रीति-नीति में दीक्षित करना चाहा किन्तु जब वे भ्रष्टाचार में भागीदार होने को सहमत न हुए तब उनके विरुद्ध तरह-तरह के षड़यंत्र करने शुरू कर दिये । उनके ठीक और अच्छे काम में कमी और त्रुटियाँ निकालनी प्रारम्भ कर दीं और उन पर तरह-तरह के मिथ्या लांछन तथा अभियोग लगाने लगे । उनके साथ असहयोग करने और उखाड़ने का प्रयत्न करने लगे । ठक्कर बापा एक अजीब परेशानी में फँस गये ।

वे सोचने लगे कि क्या कभी-कभी अच्छी बातों से भी बुराई पैदा हो जाती है ? क्या भारतीय लोगों का यहाँ तक नैतिक पतन हो गया है कि जो एक व्यक्ति कोई आदर्श उदाहरण उपस्थित करे, जिसकी आत्मा पाप करने को तैयार न हो उसके साथ तिरस्कार तथा बहिष्कार का व्यवहार किया जाये । यह तो बड़े खेद तथा दुःख का विषय है । क्या अपना अस्तित्व एवं स्थिति बनाये रखने के लिये भ्रष्टाचारी होना जरूरी है ? क्या इस काजल की कोठरी में निष्कलुष रहना सम्भव नहीं ? इस प्रकार के न जाने कितने विचार ठक्कर बापा के मस्तिष्क में आते और हृदय में हलचल मचाते रहे । कुछ समय के लिये उनकी मानसिक शान्ति प्रभावित हो गई और वे उद्विग्न हो उठे किन्तु यह हलचल की स्थिति अधिक समय तक न रह सकी । उनकी सत्यनिष्ठा ने प्रकाश दिया और वे सोचने लगे—

यही तो वह समय तथा स्थिति है जिसमें चरित्र की सच्चाई की परख हुआ करती है । यों तो सामान्य स्थिति में कोई भी अपने सिद्धान्त तथा चरित्र की रक्षा कर लिया करता है । शत-प्रतिशत चरित्र वाला वही माना जायेगा जो मौत-जिन्दगी, हानि-लाभ और विरोध-विघर्म के बीच उसकी रक्षा कर सके और तब तो वह चरित्र परिधि से बाहर निकल जाता है जब लाभात्मक चरित्र हानि को उठाने के लिये इस प्रकार विवश किया जाता हो कि किसी भी दृष्टिकोण से वह उसका दोषी न ठहर सके । आज वही तो परीक्षा की घड़ी मेरे सम्मुख उपस्थित है । मैं इस परीक्षा में उतरूँगा और शत-प्रतिशत अंकों के साथ उत्तीर्ण होऊँगा । मेरी निश्छल राष्ट्र भावना और अटल आत्म-विश्वास मेरी सहायता करेंगे ।

ठक्कर बापा ने सीमान्त प्रयत्न किया कि लोग उन्हें समझने की कोशिश करें और उनके अभ्रष्ट चरित्र में जो सार्वजनिक हित सन्निहित है उसे ग्रहण करने को तत्पर हों किन्तु जब उन्होंने स्थिति को असाध्य पाया तो कोई बखेड़ा करने के स्थान पर यही अच्छा समझा कि वहाँ से हट जाया जाये । अनावश्यक तथा अलाभकर संघर्ष में समय और शक्ति का ह्रास करना ठीक न समझ कर उन्होंने त्याग-पत्र प्रस्तुत कर दिया ।

ठक्कर बापा के त्याग-पत्र की सूचना पाकर उनके इष्ट-मित्र तथा स्वजन सम्बन्धी उनके पास आये और परिस्थिति से समझौता करके त्याग-पत्र वापस ले लेने का परामर्श दिया किन्तु ठक्कर बापा इसके लिये तैयार न हुए । लोगों ने समझाया कि आप एक ऐसे विभाग में हैं जिसमें रिश्वत और भ्रष्टाचार एक सामान्य बात बन गई है । आप यहाँ से नौकरी छोड़कर दूसरी जगह जायेंगे वहाँ भी यही परिस्थिति सामने आयेगी तब क्या करेंगे ? इसलिये हवा की दिशा देखकर काम करना चाहिये । आजीविका का प्रश्न है । इसमें भावावेश में काम नहीं करना चाहिये । आप स्वयं तो भ्रष्टाचार कर नहीं रहे हैं और न करना चाहते हैं । दूसरे लोग वैसा करने के लिये विवश कर रहे हैं । ऐसी दशा में आपको इसका पाप या दोष क्यों कर लग सकता है । सोच-समझकर काम कीजिये और अपनी नौकरी की तरफ देखिये ।

ठक्कर बापा ने कहा—"ऐसी परिस्थितियों से समझौता कर सकना हमारे वश की बात नहीं है । जिस हवा के रुख से हमारी पटरर नहीं बैठ सकती और जिसको रोक सकना भी हमारे वश की बात नहीं है, उससे दूर हो जाना ही ठीक है । किसी दूसरी जगह जाने पर भी यदि यही स्थिति सामने आयेगी तो मैं पुनः स्तीफा दे दूँगा और यदि देखूँगा कि इस विभाग में चारित्रिक सिद्धान्त की रक्षा सम्भव नहीं तो मैं विभाग का ही त्याग कर दूँगा । आजीविका के लिये मजदूरी कर लूँगा किन्तु ऐसी इजीनियरिंग से बाज आऊँगा जिसमें राष्ट्रघात करने के लिये विवश होना पड़े ।

रेलवे विभाग को त्यागकर ठक्कर बापा वढ़वाण राज्य में मुख्य इजीनियर होकर चले गये । वहाँ पर भी वही परिस्थिति सामने आई । कमीशन के नाम

पर अधिकारियों को अप-आय का कुछ भाग देकर ठेकेदार लोग सार्वजनिक निर्माण में खूब मनमानी करते थे । राज्य के जन-निर्माण विभाग के एक ठेकेदार ने एक पुल का निर्माण अपने उसी ढंग से कराया जिसकी परम्परा चली आ रही थी । कमीशन का रिवाज तो चल ही रहा था—किसी खौफ खतरे की बात ही न थी । निर्माण पूरा हुआ । ठक्कर बापा उसको देखने और जाँच करने गये । जाँच करने पर पता चला कि काम में बहुत-सी कमियाँ हैं । निदान ठक्कर बापा ने उसे फिर से बनाने और कमी दूर करने का आदेश दे दिया ।

दूसरे दिन ठेकेदार रुपया बाँधकर उनके घर गया और कहा—श्रीमान् जी आपका कमीशन उपस्थित है । पुल के लिये पास का प्रमाण-पत्र दे दीजिये । ठक्कर बापा उसका दु.साहस देखकर दंग रह गये और यह सोचकर दुख से द्रवित हो उठे कि सार्वजनिक निर्माण के अधिकारी यहाँ तक गिर गये हैं कि एक ठेकेदार गलत काम को पास कराने के लिये मुख्य इंजीनियर से स्पष्ट रिश्वत का प्रस्ताव करने का साहस कर सकता है । जिस देश के उच्च अधिकारियों का यह हाल हो वह देश कैसे तो कोई तरक्की कर सकता है और कैसे विकास की दिशा में अग्रसर हो सकता है । इसे देश का दुर्भाग्य कहने के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ।

राष्ट्र की दशा से दुःखी श्री ठक्कर बापा ने ठेकेदार से केवल यही कहा—'चूँकि अधिकारियों ने आप सबके साथ मिलकर यह भ्रष्ट परम्परा प्रचलित की है । आप लोगों के संस्कार तथा साहस दूषित हो चुके है इसलिये आज की यह पहली धृष्टता क्षमा कर रहा हूँ । जाओ, मैं रिश्वत नही लेता, अपना काम ठीक करा दो । यही मेरी काफी रियायत है ।'

किन्तु भ्रष्ट ठेकेदार ने इसका दूसरा अर्थ लगाया । उसने समझा कि इंजीनियर साहब कुछ अधिक पैसा चाहते है । निदान उसने रिश्वत की राशि बढ़ाकर पास के प्रमाण-पत्र का पुनः अनुरोध किया । ठक्कर बापा ने उसे पुनः समझाया और कहा—कह तो दिया कि मैं रिश्वत लेना पाप और राष्ट्रद्रोह समझता हूँ । तुम यह रुपया लगाकर काम ठीक करा दो इसी में हमारा, आपका और राष्ट्र का कल्याण है । पुल सार्वजनिक प्रयोग की वस्तु है, इसमें जनता का पैसा लगा हुआ है । सवारी, पैदल, हाथी, घोड़े, मोटर, गाड़ी सभी उस पर से निकलेंगे उसका ठीक और पक्का होना कितना आवश्यक है इसको तो आप स्वयं भी समझ सकते है । जरा सोचकर देखो, कि यदि आप अपना मकान बनवायेंगे कि उसके किसी भी समय गिर जाने का डर और परिवार के सदस्यों के दुर्घटनाग्रस्त हो जाने का खतरा बना रहे । निश्चय ही आप ऐसा कदापि न करेंगे । इसी प्रकार समाज को भी अपना बड़ा परिवार समझो और निर्माण कार्यों में उसकी रक्षा तथा हित का ध्यान रखो, किन्तु भ्रष्टाचार ने जिनकी बुद्धि मूर्ख बनादी हो तो वह ऐसे सदुपदेशों को क्या समझे और क्या उन पर महत्त्व दे । वह तो सदाशयताओं को कहने-सुनने भर की बात मानता है । अस्तु, उसने पुनः रिश्वत की राशि बढ़ाकर दुराग्रह किया । धृष्टता, सहिष्णुता तथा क्षमाशीलता की पराकाष्ठा हो चुकी थी । शान्त प्रवृत्ति ठक्कर बापा ने अब सहन करना मनुष्यता का घोर अपमान समझा और 'दण्डेन गो गर्दभो' वाली नीति के अन्तर्गत उसे ऐसा आड़े हाथों लिया कि उसे भागते ही बना । ठक्कर बापा ने उसका काम फेल कर दिया और ऊपर लिखकर उसे ठेकेदारों की सूची से निलम्बित कर दिया और इस सीमा तक सख्ती की कि न केवल उस धृष्ट व्यक्ति को ही समुचित दण्ड मिल गया बल्कि और लोगों के भी कान खड़े हो गये तथापि, भ्रष्टाचारियों की भीड़ मे एक सत्पुरुष अपनी यह स्थिति सुरक्षित न रख सका और उसे सिद्धान्त रक्षा मे पुनः नौकरी की भेंट दे देनी पड़ी । कष्ट पर कष्ट, आपत्ति पर आपत्ति आ रही हैं, आसुरी परिस्थितियो के दाव घात चल रहे है । परीक्षा पर परीक्षा हो रही हैं किन्तु वह देवपुरुष हार मानने को तैयार नहीं । अपने पवित्र सिद्धान्त की रक्षा में उसी प्रकार तत्पर है जिस प्रकार आपत्ति ग्रस्त माँ अपने बच्चे की रक्षा में तत्पर रहती है ।

जिन दिनों ठक्कर बापा पोरबन्दर राज्य में इंजीनियर के पद पर काम कर रहे थे उन्हीं दिनों वहाँ भयंकर अकाल पडा । लाखों आदमी और जानवर भूखों मर गये । लोगो ने पेट की ज्वाला शान्त करने के लिये पेड़ के पत्ते और छाल तक खा डाले । अकाल पीड़ितो की सहायता करने के लिये ठक्कर बापा ने

राज्य के अधिकारियों को प्रेरित कर भादर पुल का निर्माण आरम्भ करा दिया । इस निर्माण कार्य में ठक्कर बापा का उद्देश्य यह कहा गया था कि लोग काम में लगे रहने से उस अकाल की भयकरता को बहुत कुछ भूले रहेगे, क्योकि आपत्ति का चिन्तन आपत्ति के भय तथा व्यय दोनो को बढ़ा देता है । बेकारी में पड़े रहने से अनावश्यक तथा मिथ्या भूख की भी वृद्धि हो जाती है । काम मे व्यस्त रहने पर लोग उस मिथ्या क्षुधा तथा अभाव के अकल्याणकारी गठबन्धन से बचते रहेंगे इससे उनको अकाल का त्रास अधिक होकर न सता सकेगा और सबका साहस भी बना रहेगा । साहस के बने रहने पर लोग बहुत बार मौत से लड़कर भी सुरक्षित निकल आते हैं । साथ ही वह पुल भी बनना बहुत आवश्यक था । इस प्रकार बुद्धिमान ठक्कर बापा ने कुकाल से सुलाभ उठाकर दो आवश्यक काम बना लिये । बेकारी और सार्वजनिक निर्माण का संयोग करा देने से काम थोड़े में अच्छे से अच्छा हो जाता है और किसी को शिकायत का भी अवसर नही रहता ।

किन्तु सयोगवश वह हितकर योग ठक्कर बापा के लिये मार्मिक दु.ख का कारण बन गया जिसने उनके जीवन की दिशा ही बदल दी । अकस्मात् एक मजदूर और उसकी पत्नी का देहान्त हो गया । वे अपने पीछे तीन बच्चे छोड़ गये । उनमे से एक बच्चा लगभग तेरह साल का, एक सात साल का और एक बहुत छोटा तीन चार माह का होगा । उन बच्चों का दुनिया मे और कोई नहीं था । बेचारे दो बड़े भाई किसी प्रकार दुनिया में जी भी सकते थे किन्तु उस अबोध शिशु को वे किस प्रकार पाल सकते थे । उनके सामने एक भयंकर समस्या खड़ी हो गई । छोटा शिशु बुरी तरह माँ के लिये रोता, चिल्लाता और स्तन पीने के लिये तड़पता किन्तु उस समय उस दुष्काल मे कोई भी उन अनाथों की तरफ ध्यान देने वाला नही था । दोनो बच्चे घबरा उठे और उन्हें अपना वह अबोध शिशु भार बन गया । भूख और भावावेश की भयंकरता से, बच्चे ही तो थे, अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे और भार स्वरूप अपने छोटे भाई से छुटकारा पाने के लिये उसे एक गड्ढा खोद करके जीवित ही उसमें गाड़ दिया ।

इस भयानक घटना की सूचना ठक्कर बापा को मिली और वे दौड़े-दौड़े घटना स्थल पर आये । जल्दी से मिट्टी हटवा कर बच्चे को निकलवाया । लेकिन व्यर्थ, वह खुद मिट्टी हो चुका था । ठक्कर बापा उस निरीह शव को देखकर आँसुओं से रो उठे । उनकी सम्पूर्ण मानवता कातर करुणा से आप्लावित हो उठी । उन्हें ऐसा लगा मानो उनका अपना बच्चा मिट्टी मे मिला पड़ा है । मन ही मन आहत हो वे कह उठे—यदि मैं समय से पहुँच सका होता तो इस मातृ-पितृ हीन बालक को अपनी छाती से लगा लेता और इस प्रकार इसको मनुष्यता पर व्यग करने वाली मौत न मरने देता । कितने दुःख का विषय है कि इस भरी दुनिया में, केवल माँ-बाप के न रहने पर इस दुधमुँहे का कोई नहीं रह गया । क्या संसार में रक्त सम्बन्धी के सिवाय मानवता का कोई नाता ही नहीं ? यदि समाज में सब, सबको अपना स्वजन और सम्बन्धी समझ सकते तो मानवता की यह दशा न होती और इस प्रकार अबोध भाई, भाइयो के हाथ से, निराश्रय की निराशा से जिन्दा न दफनाये जाते । एक की आपत्ति में दूसरा हाथ बँटा सकता तो यह संसार इतना भयावह और शंकास्पद न बना रहता । यहाँ भी देवताओ के देश जैसा सुख-सन्तोष और विश्वास का वातावरण दिखाई देता । लोग हँसते-हँसते जी भर जीते और कुशल-क्षेम के साथ संसार से विदा हो जाते । बहुत समय ठक्कर बापा उस शिशु-शव को लिये इसी प्रकार सोचते और रोते रहे । जब वे फिर उसे धरती को सौंप कर उठे तो बाहर से यथावत् दीखने वाला उनका जीवन अन्दर से बिल्कुल बदल चुका था । उन्हे वैराग्य हो चुका था किन्तु गेरुआ वैराग्य नही और न पलायन वादी वैराग्य, बल्कि वह वैराग्य जिसे समाज-सेवा में आत्म-विसर्जन कहकर अवगत कराया जा सकता है । दीन-दुःखियों के प्रति उनकी आन्तरिक करुणा ने उन्हें मानव से महामानव बना दिया और आगे चलकर उन्होंने अपनी करुणा को किस सीमा तक चरितार्थ किया उसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि एक बार उनकी सेवा-भावना देखकर युग पुरुष महात्मा गाँधी ने कहा था— "यदि मैं भी बापा जैसी सेवा और भावना पा जाता तो अपने को धन्य मानता ।"

इन करुणा तथा सेवा की प्रतिमूर्ति ठक्कर बापा का पूरा नाम अमृतलाल विट्ठलदास ठक्कर था। उनका जन्म सौराष्ट्र के भाव नगर में २९ नवम्बर सन् १८६९ में हुआ था।

शिशु-समाधि की उस घटना ने ठक्कर बापा के सम्मुख समाज का करुणामय चित्र उपस्थित कर दिया उन्हें अपनी व्यक्तिगत सुविधायें काँटे की तरह कसकने लगीं। वे दिन-रात यही सोचा करते थे कि जिस समाज के बहुसंख्यक लोग भूखे और नंगे रहकर अपनी जीवन-परिधि को पार करते हैं वहाँ हम जैसे कतिपय व्यक्तियों को सुविधापूर्वक रहने का क्या अधिकार है और क्या ही अधिकार है निश्चिन्त नींद का आनन्द लेने का, जबकि दीन-दुःखियों की कातर पुकार कानों के आस-पास ही निरन्तर भड़क रही हो। जिसके समाज में निरक्षर और निराश्रित लोगों की विवशता शिक्षितों और साधन-सम्पन्न लोगों की सहायता और सहानुभूति की राह देख रही हो वहाँ सभ्यता और शान के नाम पर अपने तक सीमित रहने की संकीर्णता जीवन की विडम्बना के सिवाय और कुछ नहीं है। उन्होंने अपना अधिकांश समय और आय समाज-सेवा में लगाने का संकल्प कर लिया।

उसी दिन ठक्कर बापा ने कोट व पतलून के स्थान पर धोती कुरता को ग्रहण कर लिया और हैट के स्थान पर एक साधारण-सी टोपी। उनकी अल्पावश्यकतायें अति अल्प हो गईं और वे ठीक वैसा ही अभावपूर्ण जीवन-यापन करने लगे जिस प्रकार का जीवन भारत के सामान्य लोगों को उपलब्ध है। इस महान मितव्ययता के आधार पर वे जितना जो कुछ बचाते गरीबों की सहायता और समाज की सेवा में लगा देते थे। नौकरी से बचा हुआ उनका सारा समय अनाथों, अशिक्षितों तथा पिछड़े वर्ग के लोगों के ही बीच में अधिकतर व्यतीत होता था।

ठक्कर बापा को जब भी जो समय मिलता उसमें वे उस ओर निकल जाते जिधर हरिजन और निम्न स्तर के लोग रह रहे होते। कहीं वे बच्चों की पाठशाला लगाते तो कहीं उनकी बस्तियों की सामूहिक सफाई में लग रहते। एक स्थान पर यदि वे कोई पुस्तक सुनाते तो दूसरे स्थान पर लोगो को घेरे-बटोरे नशों और व्यसनों की हानियाँ समझाते। यदि एक जगह वे झगड़ा निपटा कर आते तो दूसरी जगह पंचायत की अध्यक्षता करने जाते। कहाँ, किस बस्ती में, किसके घर बालक, वृद्ध अथवा स्त्री-पुरुष बीमार हैं, किसको किस समय कौन-सी दवा देनी है इस बात को ठक्कर बापा कभी न भूलते थे। बापा की इन सेवाओं ने उन्हें इतना जन-प्रिय बना दिया कि लोग उनकी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करते रहते। लोग जिस हरिजन बस्ती में सफाई और बच्चों को पट्टी बोदिका लिये देखते, समझ जाते कि इधर ठक्कर बापा के पवित्र चरण पड़ चुके हैं।

देश के किसी भी कोने से पीड़ित मानवता की पुकार आते ही ठक्कर बापा तुरन्त ही उधर चल पड़ते थे और अपनी सम्पूर्ण शक्ति और साधन के साथ उनकी सहायता करते थे। उस समय, जब गुजरात के पंचमहाल जिले में अकाल पड़ा तब ठक्कर बापा के सेवा-कार्य देखकर लोगों को अपनी अकरुणा, अकर्मण्यता पर बड़ी लज्जा आई और दल के दल लोग उनके साथ सेवा-कार्य में लग गये। देश के कोने-कोने से अकाल पीड़ितों की सहायता के लिये अन्न, वस्त्र और पैसा आने लगा।

अकाल का समाचार पाते ही ठक्कर बापा दौड़े, पंचमहाल के पीड़ित इलाके मे गये और भूखों मरती मानवता को देखकर रो उठे। उन्होंने तत्काल गले में एक झोली डाली और एक सज्जन से गाड़ी माँगी और अकाल पीड़ितों के लिये सहायता इकट्ठी करने के लिये उस पथरीले तथा ऊबड़-खाबड़ प्रदेश में भिक्षाटन पर चल दिये। वे द्वार-द्वार जाते, झोली फैलाते और कहते डालिये, अकाल पीड़ितों की सहायता के लिये इस झोली मे कुछ डालिये और जो कुछ अन्न-वस्त्र आदि की सहायता कर सकते हो करिये। मनुष्यता संकट में है, मानवता भूखो मर रही है वह आपसे यथासाध्य सहायता की अपेक्षा कर रही है। लोग उस व्यक्तित्ववान मनुष्य को इस प्रकार याचना करते देखकर पहले तो कुछ न कुछ देते फिर यह पता लगाने के लिये उत्सुक होते कि आखिर यह भद्र भिखारी है कौन ? जब लोगो को यह पता चलता कि यह बड़े भारी इंजीनियर है। एक बड़े सरकारी ओहदे पर थे और पाँच-सौ रुपये तनख्वाह पाने के साथ इनके पास बंगला और मोटरकार भी थी किन्तु इन्होने वह सब

दुःखी मनुष्यों की सेवा करने के लिये छोड़ दिया और फ़क़ीरी ले ली है । इनका नाम ठक्कर बापा है । यह बड़े दयावान देवता आदमी हैं और इस समय पंचमहाल के अकाल पीड़ित लोगों की सहायता के लिये भोजन वस्त्र इकट्ठा करने के लिये निकले हैं । ठक्कर बापा की त्याग, तपस्या तथा सेवा की गाथा सुनकर लोग स्वतः उनके प्रति नत-मस्तक और उदारहस्त होने लगे । उनके उस परमार्थ पर्यटन की सूचना जब एक गाँव से दूसरे गाँव जाती तो लोग घर-घर उनके आने की प्रतीक्षा करते और सोचते कब उस देव पुरुष की फ़ेरी इधर लगे और कब वे क्या कुछ देकर अपने को धन्य समझें । जिनको किसी आवश्यक काम से बाहर जाना होता तो वे घर पर कह जाते कि जब ठक्कर बापा इधर आयें तो उन्हें अमुक-अमुक चीजें दे देना । जिनके पास देने को कुछ नहीं होता वे उनके साथ शारीरिक सेवा करने को तैयार हो जाते । इस प्रकार ठक्कर बापा के पुण्य प्रयास से अकाल पीड़ितों के लिये सहायता की कमी न रही । वे जिधर जाते उधर से ही झोली और गाड़ी भरे हुए चले आते । ठक्कर बापा के इस अभूतपूर्व सेवा-कार्यों की सूचना देश के कोने-कोने में फैलते देर न लगी और साधारण गृहस्थों से लेकर धनवान व्यक्तियों ने अपने हृदय तथा भण्डार खोल दिये । आये दिन ठक्कर बापा के पास धन, धनादेश, अन्न तथा वस्त्र आने की परम्परा लग गई । जिधर से देखो उधर से ही दल-के-दल स्वयंसेवक ठक्कर बापा की जय बोलते चले आ रहे है । जल्दी ही सहायता शिविरों और सेवा संघो की व्यवस्था हो गई और अकाल पीड़ितों की सहायता में उस दुष्काल के विरुद्ध मनुष्यता का नियोजित संग्राम छिड़ गया ।

सेवा सहायता में ठक्कर बापा किसी पर निर्भर नही रहते थे । वे स्वयं गाडी मे अन्न-वस्त्र भरकर गाँव-गाँव पीड़ितों को बाँटने जाते । वे सवेरे से लेकर शाम तक भाग-दौड़ करते रहते थे । सूरज क़ब निकला, दोपहर कब आई और कब चली गई और सध्या कब रात्रि के रूप में बदल गई, ठक्कर बापा को इसका ज्ञान न हो पाता था । वे समग्र चेतना से केवल इसी तत्परता में लगे रहते थे कि आज के दिन ऐसा एक भी व्यक्ति न बचे जिसे भोजन न पहुँच सके । दूसरो की चिन्ता में वे अपनी भूख-प्यास को भूले रहते थे । जब कोई उन्हें याद दिलाता कि आज अभी तक उन्होने भोजन नहीं किया तब उन्हें उसकी सुध आती । जब लोग बतलाते कि बापा अब तो रात बहुत हो गई है । सवेरे जल्दी उठना है, तब कहीं थोड़ी देर को वे जमीन से पीठ लगाते थे । कभी-कभी इसकी भी बारी नहीं आती थी ।

दिन भर भूखों को भोजन और नंगो को वस्त्र बाँटकर जब ठिकाने पर आते थे तो सामान का हिसाब और अगले दिन की व्यवस्था बनाते थे । किस क्षेत्र में किस वस्तु को बाँटा जाना है, कितने आदमियों के लिये कितनी सामग्री पर्याप्त रहेगी इसका विभाजन करना और उसके लिये स्वयंसेवकों की नियुक्ति करना बापा का नित्य नियम से रात का काम था जिसमें उन्हें बारह एक से कम नही बजता था । इसके साथ ही वे स्वयंसेवकों तथा कार्यकर्ताओं के भोजन-शयन की भी व्यवस्था स्वयं ही करते थे । उनको पूरा पता रहता था कि किस स्वयंसेवक ने अभी तक भोजन नहीं किया है । किसको किस समय भोजन कर लेना था और किस कारण से वह नहीं कर पाया इसकी पूरी खोज-खबर रखते थे । किस पर काम का कितना बोझ होना चाहिये और उस पर कितना काम डाला गया है इसका पूरा पता रखने वाले ठक्कर बापा यह भी ध्यान रखते थे कि कार्यकर्ता तथा स्वयंसेवकों को जरूरत भर आराम मिल रहा है या नही । अस्वस्थ हो गये स्वयंसेवको की देख-रेख करना, समय पर उन्हें दवा देने के साथ वे उसकी आवश्यक सेवा सुश्रुषा का भी ध्यान रखते थे और उस व्यस्तता एवं अस्त-व्यस्तता की स्थिति में भी उनके पथ्य-परहेज की भी व्यवस्था खुद रखते थे ।

एक साथ इतना काम करने पर भी ठक्कर बापा दिन के बाद रात में किसी से अतिरिक्त काम कभी नही लेते थे । सामान्य सेवा-कार्यों के बाद जो भी आकस्मिक अथवा सामयिक काम होता था उसे वे स्वय अकेले ही करते थे । अनेक बार ऐसा हुआ कि जिस समय सब लोग सोने की तैयारी कर रहे थे और थकान से चूर यह सोच रहे थे कि कब चारपाई मिले, तभी बाहर से कपडे की कुछ गाँठें आ गई । उन्हे खोलना और नाप-नाप कर बाँटने के लिये कपड़ा फाड़ना होता था किन्तु सोने की तैयारी में लगे कार्यकर्ताओं को उन्होने कभी भी काम में नही लगाया । सबके सोने

का प्रबन्ध करके वे स्वयं उस काम में लग जाते थे और कभी-कभी एक आसन से बैठे सवेरे तक कपड़ा फाड़ते रहते थे । यदि कोई कहता भी वापा अब सो जाइये । यह काम प्रातःकाल जल्दी उठ करके कर लिया जायेगा तो वे यही कहते थे कि न, यह काम तो आज के ही खाते का है कल पर नहीं टाला जा सकता । यदि सवेरे के लिये इसे रखा गया तो वितरण *का काम समय पर प्रारम्भ नहीं हो सकेगा और कार्यक्रम* क्रम से विलम्ब होता चला जायेगा । जो काम जिस समय करना है उसमें प्रमाद करने का अर्थ है सारे कामों की व्यवस्था विगाड़ देना—व्यवस्था से बाहर गये हुए काम कठिन तथा बोझिल बन जाते हैं । फिर उनको पूरा करने मे अतिरिक्त श्रम तथा समय लगाना होता है जिससे मनुष्य की वह बहुल-सी शक्ति अपयापित हो जाती है जिसके द्वारा अन्य अनेक नये काम किये जा सकते हैं ।

सवेरे के कार्यों का क्रम रात मे ही बनाकर ठक्कर वापा पौ फटते ही वितरण करने के लिये दौरे पर चल देते थे । वे यह प्रतीक्षा नहीं करते थे कि सब लोग तैयार हो जायें तब एक साथ दल बनाकर चला जाये । वे सदैव समय पर अपने कर्त्तव्य पर तैनात हो जाते थे । ऐसा कदाचित् ही कभी होता था कि ठक्कर वापा की तैयारी हो गई हो और अन्य कार्यकर्ता अभी तैयारी के मार्ग पर ही हों । प्रायः सभी साथ ही *सन्नद्ध हो जाते थे ।* जिनका अगुआ जितना नियमित तथा तत्पर होता है उसके अनुयायी स्वभावतः अविलम्बी हो जाया करते हैं । तब भी यदि कभी किन्हीं द्वारा तत्परता में व्यतिक्रम हो जाता था तो वे किसी से कुछ कहते न थे । उनके निर्देश छोड़कर स्वयं चल दिया करते थे ।

वितरण के लिये गाड़ी में सामान को भरकर चलने के साथ वापा एक गठरी हमेशा अपने कन्धे पर लादकर चलते थे । उसी में से चीजें बाँटते चलते और जब एक गठरी का सामान चुक जाता तो दूसरी गठरी को फिर लाद लेते । वे गाँव में पहुँचकर एक स्थान पर गाड़ी को रोक देते और स्वयं घर-घर जाकर लोगों का अपना भाग चलकर ले आने का सन्देश दे आते थे—वे जाते और कहते—भाईजी आपका सेवक ठक्करे आ गया है अब आप लोग चलिये और सामान ले लीजिये । थोड़ी ही देर में गाड़ी के चारों ओर उनके पास भीड़ लग जाती और वितरण का काम शुरू हो जाता । वापा विनम्रतापूर्वक सबको पंक्ति मे खड़ा करते और क्रम से सब चीजें बाँटते । जिससे काम भी जल्दी निपट जाता और कोई गड़बड़ी भी नहीं होती । यदि कभी कोई आतुरता में पंक्ति का उल्लंघन भी कर जाता तो वापा उसे डाँटते-फटकारते नहीं थे *बल्कि प्रेम से इस प्रकार समझा देते थे कि वह अव्यवस्था,* धैर्य, वारी-वारी तथा अनुशासन का महत्त्व समझ जाता था और फिर कभी कोई वैसा न करता था । इस प्रकार एक गाँव से दूसरे गाँव और दूसरे से तीसरे गाँव जा-जाकर वापा पड़ाव डालते और दसियों गाँवों का दौरा पूरा करके जब निवास स्थान पर वापस लौट आते तो सबसे पहले कार्यकर्ताओं के लिये भोजन का प्रबन्ध करते । उस भोजन व्यवस्था में वे स्वयं हाथ बँटाते और जब सब लोग खा-पी चुकते तब स्वयं भोजन करते । लेकिन उनका व्रत था कि वे खुद उतना और उसी प्रकार का भोजन करते थे जितना और जिस प्रकार का किसी एक आदमी को देकर आते थे ।

एक वार इसी वितरण कार्यक्रम में वापा को झालोद ताल्लुका के शंकरपुर गाँव में जाना था । गाँव ऊँचाई पर बसा हुआ था । गाड़ी का जा सकना सम्भव न था । आबादी भी कुछ ज्यादा न थी । अस्तु वापा ने आवश्यक सामान की गठरी अपनी पीठ पर लादी *और ऊँचाई पार करते हुए गाँव मे पहुँच कर सामान* बाँटने लगे । उस गाँव मे उन्होंने लोगों को एक स्थान पर जमा करना जरूरी न समझा और स्वयं द्वार-द्वार जाकर अन्न वस्त्र बाँटने लगे । इसी क्रम मे वे एक झोंपड़ी के निकट पहुँचे । तभी द्वार पर खड़ी एक स्त्री उन्हें आता हुआ देखकर झोपड़े में भाग गई और फटका लगा लिया । वापा द्वार पर पहुँचे और आवाज लगाई—माता ! मै आपका सेवक ठक्कर आया हूँ । अपना भाग ले लेने का कष्ट करे किन्तु अन्दर से न तो कोई आया और न ही किसी ने आवाज दी । वापा ने पुनः पुकारा तो भी कोई उत्तर न मिला । इसी प्रकार तीन-चार बार आवाज देने पर अन्दर से धीरे से आवाज आई—मैं बाहर किस प्रकार आ सकती हूँ । मेरा शरीर नंगा है । तन ढकने के लिये एक चीथड़ा भी नही है । वापा ने आवाज सुनी और उन्हें

ऐसा लगा, कि उस ध्वनि के अन्दर एक प्रतिध्वनि और आ रही है—'मेरे पुत्रो ! मैं नंगी भूखी हूँ । मुझे भोजन वस्त्र दो ।' यह सुनकर बापा की आँखों में अश्रु बहने लगे । उन्होंने छप्पर की सन्धि से एक लहँगा और ओढ़नी डाल दी । दो मिनट में एक प्रौढ़ा लहँगा और ओढ़नी पहन कर उन उपकार स्वरूप देवदूत के दर्शन करने बाहर आई । उसने बापा के वेश में द्वार पर खड़े किसके दर्शन किये—नहीं बताया जा सकता किन्तु बापा ने जरूर उस महिला-भूमि में भारत माता का प्रतिबिम्ब देखा जो नंगी भूखी दशा में अपने पुत्रों से भोजन-वस्त्र की याचना करती है ।

इस प्रकार अनेक महीनो के अपरिमित परिश्रम तथा प्रयत्नों के बल पर ठक्कर बापा ने जनता जनार्दन की सहायता से उस दुष्काल पर नियन्त्रण पा लिया और जल्दी ही वहाँ का जन-जीवन सामान्य गति से चल निकला । ठक्कर बापा ने पुनः परिस्थिति देखने के लिये पैदल ही पूरे क्षेत्र का दौरा किया और पाया कि यह बस्ती भीलों तथा आदिवासियों की है और यहाँ के लोग, गरीबी, अशिक्षा, अन्धविश्वास तथा नशों, व्यसनों के शिकार बने नारकीय जीवन बिता रहे हैं । उन्होंने अनुभव किया कि इस क्षेत्र को उनकी स्थायी सेवाओं की आवश्यकता है । निदान उन्होंने वहीं रहकर आदिवासियों तथा भीलों का जीवन सुधारने का निश्चय कर लिया । बापा ने सहायता शिविरों को उठवा दिया और सारा सामान तथा कार्यकर्ताओं को यथास्थान भेजकर अपना जीवन उन वनवासियों की सेवा में समर्पित कर दिया ।

सबसे पहले बापा ने उन भीलों को एक सूत्र में बाँधने के लिये 'भील-सेवा-संघ' बनाने का निश्चय किया । इस उद्देश्य के लिये वे गाँव-गाँव घूमे और लगभग सभी व्यक्तियों से मिले । उन्होंने गाँव-गाँव में सभाये कीं और उनमें संगठन तथा आत्म-सहायता का महत्त्व बतलाया । उन्होंने भील नौजवानों को अपने वर्ग का सुधार करने के लिये प्रेरित किया और मार्ग-दर्शन कराया । बापा के पूर्व सेवा-कार्य एक तो यों ही भीलों को प्रभावित कर चुके थे और अब, जब उन्हें यह पता चला कि बापा उन्हीं के बीच रहकर उनके हित के लिये काम करेंगे तब तो वे सब उनके अनुयायी बन गये और हर वक्त वह काम करने को तत्पर हो गये जो बापा कहते । बापा ने अवसर पाकर 'भील-सेवा-संघ' की नींव डाली जो जल्दी ही विकास की ओर अग्रसर हो चली ।

बापा ने कुशाग्र बुद्धि भील नौजवानों का संकलन किया और उन्हे प्रयत्न एवं परिश्रमपूर्वक कुछ ही महीनों में स्वयं अपने आप पढ़ाकर साक्षर बनाया । फिर उन्होंने भील बालकों के लिये छोटी-छोटी पाठशालायें खोलीं और उनमें अपने तैयार किये हुए नौजवानों को अध्यापन के काम पर नियुक्त किया । इस प्रकार उन आदि एवम् वनवासियों के बीच युग-युगान्तर के बाद ज्ञान का छोटा-सा दीपक टिमटिमाने लगा । इधर बापा ने एक प्रौढ़ पाठशाला चलाकर उसका काम अपने जिम्मे ले लिया । इस प्रौढ़ पाठशाला में वे भीलों को जितना अक्षर ज्ञान कराते थे उससे अधिक उन्हे अपना सुधार करने तथा नशो और व्यसनों को छोड़ने के लिये उपदेश दिया करते थे । स्त्रियों के सुधार कार्यक्रम में उन्होंने चरखा कातने को प्रमुखता दी, साथ ही वे उनके उन हस्त-शिल्पों को सामूहिक रूप में चलवाने लगे जो भील बालायें जानती थीं । उनमें से ताड़ की चटाइयाँ, सेंठे और नरकुलों के खिलौने, कांस तथा कोथ के छाबे आदि चीजें बनाई जाने लगीं । इस सामूहिक कार्यक्रम का एक सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि स्त्रियाँ जो सदैव आपस में लड़ा करती थीं अब प्रेमपूर्वक रहने लगीं ।

ठक्कर बापा ने भीलों में नैतिकता, स्वच्छता तथा सामाजिकता की चेतना जागृत करने के लिये एक 'भील आश्रम' की स्थापना की । इस आश्रम की सदस्यता का नियम रखा गया और अधिकतर उन्हीं लोगों को सदस्य बनाया जाता था जो प्रायः प्रौढ़ता से पार हो चुके थे और अधिकतर घरों में बेकार पड़े रहते थे । बापा नित्य सायंकाल तथा प्रातःकाल वृद्ध भीलों को इकट्ठा करते और प्रार्थनायें कराने के साथ उन्हे अच्छे-अच्छे व्याख्यान सुनाते । इसके अतिरिक्त वे साप्ताहिक जीवन, भजन तथा सांस्कृतिक कार्यक्रम चलाते । इन कार्यक्रमों के अवसरों पर जब भील तरुण-तरुणियाँ सामूहिक रूप से मोरपखों से सजकर नाचते-गाते तब ऐसा प्रतीत होता था मानो इन सब का एक अलग ही संसार है और इनकी भी एक अपनी संस्कृति है । भील जब सामूहिक रूप से अपनी जंगली भाषा में बापा को भजन तथा गीत सुनाते थे तो वे

अपनापन भूलकर उनके साथ एकाग्र हो जाते थे। इन्हीं सामूहिक कार्यक्रमों के आनन्द अवसर पर वापा उन सबकी एक बैठक करते और क्षेत्र तथा घरों की सफाई का कार्यक्रम बताते जो कि दूसरे दिन कार्यान्वित कर दिया जाता। इस प्रकार वाल तथा प्रौढ़ पाठशालाओं, आश्रम, सामूहिक शिल्प तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों द्वारा वापा ने भीलों में सभ्य चेतना का संचार कर दिया जिससे वे अपेक्षाकृत अधिक साफ, शुद्ध तथा प्रबुद्ध बनने लगे। वापा उनकी होती हुई मानसिक तथा शैक्षणिक उन्नति को देख-देखकर अपने मन ही मन में बड़े ही प्रसन्न होते रहते थे।

भीलों के विकास से जहाँ ठक्कर वापा और उन जैसे समाज हितैपियों को प्रसन्नता होती थी, वहाँ अनेक ऐसे लोग भी थे, जिन्हें वह शुभ गतिविधि देखकर ईर्ष्या और द्वेष होता था। ऐसे समाज विरोधी लोगों में देवगढ़ वारिया के राजा और उसके हाँ-हुजूरों का मुख्य स्थान था। भीलों के विकास से द्वेष करने का कारण यह था कि उनका विकास हो जाने से उन लोगों को यह शंका सताने लगी थी कि अब तक भीलों के शोषण से जो सुविधा मिलती चली आ रही थी वह अब न मिलेगी। उनकी यह शंका सत्य भी थी। अज्ञानता के कारण जिन लोगों का शोषण होता रहता है, उनमें चेतना और आत्म-अस्तित्व के साथ जब न्याय-अन्याय तथा अधिकार-कर्त्तव्यों का ज्ञान उत्पन्न हो जाता तब उन पर अत्याचार अथवा शोषण का चक्र चला सकना सरल नहीं रहता। ठक्कर वापा के प्रयत्नों से दिन-दिन भीलों में यह चेतना विकसित होती जा रही थी और आत्म-अस्तित्व के साथ अपने सामाजिक अधिकारों के प्रति जागरूक होने लगे थे। शिक्षा और दीक्षा के बल पर उनकी भीरुता तथा भय दूर होता जा रहा था। देवगढ़ वारिया का राजा और उसके साहिब मुसाहिब भीलो के उस संगठन तथा उसके आधार ठक्कर वापा को भंग कर देना चाहते थे, किन्तु न तो उनको कोई अवसर मिल रहा था और न सहसा साहस हो रहा था। निदान वे अपने मन ही मन कुढ़ते हुए किसी न किसी बहाने की घात लगाये हुए थे।

तभी दशहरा आया और देवगढ़ वारिया में वार्षिक मेले की हलचल प्रारम्भ हो गई। यह मेला मुख्यतः भीलों तथा आदिवासियों का होता था। उस अवसर पर दूर-दूर से भील और आदिवासी हजारों की तादाद में वहाँ जमा होते थे। नाच, रंग, स्वांग और शराब का बड़ा गहरा दौर चलता था। हजारों की संख्या में स्त्री-पुरुष, बालक और वृद्ध शराब पीते, गालियाँ बकते और आपस में मार-पीट करते थे। स्वांग और नाच अपनी अश्लीलता से सारा वातावरण गन्दा कर देते थे। लोग शराब के नशे में गिरते, पड़ते, बेहोश होते, कै करते और उसी में पड़े रहते थे, वह मेला भीलों तथा आदिवासियों के पिछड़ेपन, गन्दगी तथा असंस्कार की एक प्रदर्शनी जैसा होता था। बाहर से लोग दुकानें और खोमचे लेकर आते थे और उन अशिक्षितों को खूब जी भरकर लूटते थे। मक्कार और धूर्त लोग जादू-टोनों के बहाने उन्हें बहकाते और मनमाना ठग कर ले जाते थे। सैकड़ों जगह अन्धविश्वास के आधार पर भूत-प्रेत और देवी-देवताओं के नाम से अनेक पशु-पक्षियों की वलि चढ़ाया करते। ठक्कर वापा ने इस मेले के विषय में सुन रखा था और उसमें जाकर प्रचार करने का निश्चय किया हुआ था।

निदान, जब वह दिन आया ठक्कर वापा अपने शिक्षित तथा प्रशिक्षित स्वयंसेवकों की टोली लेकर मेले में प्रचार करने के लिये चल पड़े। सारे स्वयंसेवक साफ सुथरे खादी के कुरते पायजामे और टोपी पहने हुए थे और सबके हाथों में बाँसों के टुकड़ों में जड़ी तख्तियाँ थीं, जिन पर इस प्रकार के प्रचार वाक्य लिखे हुए थे—

भील भाइयो जागो—अपने सामाजिक अधिकार और कर्त्तव्यो के प्रति जागरूक बनो—शराब मत पीओ—शराब पीना पाप है—'शराब पीने से बरबादी आती है—अपने शरीर और कपड़ों की सफाई रखो—रोज नहाओ, नहाने से तन्दुरुस्ती ठीक रहती है, दाद, खाज आदि के रोग नहीं होते—जादू-टोना धोखा है—जादू-टोने से हमेशा दूर रहो—जादू-टोना करने और दिखलाने वाले से मत डरो—यह सब मक्कार और झूठे होते है—इन पर विश्वास मत करो, यह तुम्हें धोखा देकर लूट लेगे—देवी-देवताओं के नाम पर पशु-पक्षियों की जान लेना महापाप है—भीलों का सेवा संघ चिरंजीवी हो—सारे भील भाई संगठित होकर एक हो जाओ—बच्चो को पढ़ने भेजो—अपने व्यसनों और बुरी आदतो का त्याग करो आदि।

साथ ही आगे-आगे स्वयंसेवक दल यही नारे लगाते चल रहे थे और पीछे प्रौढ़ों की मण्डली भजन-कीर्तन करती चल रही थी । लोगों के लिये ठक्कर बापा का आयोजित किया हुआ यह समारोह बड़ा नया और कौतूहलवर्धक था । लोग मेले से आ-आकर उसमें मिलने और साथ में नारे लगवाने तथा भजन-कीर्तन करने लगे । उसी समय मेले में वहाँ के राजा की सवारी निकली । उसने वह नई हलचल बड़ी सतर्कता से देखी और अपने हमराहियों से उसके विषय में पूछा—हाँ हुजूरों ने अवसर पाकर ठक्कर बापा की शिकायत मिलाकर उस जागरण के विषय में बतलाया और राज्य के प्रति उसके परिणाम का कल्पित चित्र भी दिखलाया ।

राजा ने तुरन्त उस जुलूस को भंग कर देने का आदेश दिया किन्तु उसका आदेश पालन न किया गया । उसने जब कुछ सख्ती और जोर जुल्म की ओर पग उठाया तो नारों में और ऊँचाई आ गई और पूरे मेले में एक आन्दोलन की लहर दौड़ गई । कुअवसर समझ कर राजा अपने हमराहियो के साथ तुरन्त वहाँ से खिसक गया ।

ठक्कर बापा ने मेले में एक बड़ी भारी सभा की और उसमे उन सबको हितकर उपदेश से प्रभावित किया । जगह-जगह कीर्तन-भजन की मण्डलियाँ बिठाई और शराब की दुकानों पर पिकेटिंग की व्यवस्था की । इस सब प्रचार-प्रयत्न का इतना अच्छा प्रभाव पड़ा कि बहुत से लोगों ने शराब को न पीने की सामूहिक शपथ ली और संघ तथा आश्रम के नियमों पर चलने का निश्चय भी किया ।

इस प्रकार एक अभूतपूर्व सफलता के साथ जब ठक्कर बापा रात गये आश्रम में वापस आये तो उन्हें तुरन्त राज्य सीमा से बाहर चले जाने का आदेश मिला । ठक्कर बापा ने रात भर विश्राम कर लेने की माँग की किन्तु वह माँग स्वीकार न की गई और उन्हें ले जाकर रात भर थाने में नजरबन्द रखा गया । सवेरा होने पर उन्हें सिपाहियों के साथ सीमा से बाहर निकाल दिया गया किन्तु तब भी ठक्कर बापा का सेवा-कार्य न रुका और वे सीमा के बाहर से ही भीलों के सेवा संघ तथा आश्रम के सचालन को करते रहे ।

तभी उन्हीं दिनों उड़ीसा में भंयकर अकाल पड़ गया । ठक्कर बापा ने तुरन्त ही संघ तथा आश्रम का सारा दायित्व सुयोग्य भीलों को सौंपा और अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिये उड़ीसा चल दिये । वहाँ भी उन्होंने सब कार्यक्रम अपनाये जो पंचमहाल के अकाल के समय काम में लाये थे । उड़ीसा के अकाल पीड़ितों की सहायता करने के लिये बापा को न जाने कितनी बार बरसाती नदियों तथा झीलो को तैर कर पार करना पड़ा । न जाने कितनी बार घोर वर्षा में भी गाँवो का दौरा करना पड़ा और न जाने कितनी बार जंगलों तथा बियावानों को रात के अन्धेरे में पार करना पड़ा, किन्तु सेवा तथा सहायता के कार्यों और पीड़ितो के कष्टो के साथ एकाग्रचित ठक्कर बापा ने किसी भी भय, शंका, अवरोध अथवा आपत्ति की परवाह न की । बहुत समय तक इस प्रकार अकाल पीड़ितों की सेवा करने के बाद जब बापा निवृत्त हुए तो उनको श्री गोपाल कृष्ण गोखले की ओर से उनकी स्थापित की हुई—"सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी" की सदस्यता ग्रहण करने और उसमे काम करने का निमन्त्रण मिला । यद्यपि बापा का हृदय भील-सेवा-संघ और उनके आश्रम में लगा हुआ था तब भी वे देश के उन महान नेता का निमन्त्रण अस्वीकार न कर सके और इस शर्त पर उनके आजीवन सदस्य बन गये कि पन्द्रह दिन वे 'भारत सेवा समाज' का काम किया करेंगे और महीने मे पन्द्रह दिन भीलो के बीच काम करने चले जायेगे । 'सोसाइटी' का भी उद्देश्य सेवा करना ही था तब भला उनके अधिकारियों को इस कार्य में ऐसी आपत्ति ही क्या हो सकती थी ।

बापा इस समय तक काफी बूढ़े हो चुके थे तब भी उनके सेवा-कार्यों की तत्परता ज्यों-की-त्यों बनी हुई थी । वे जब भी भीलो के क्षेत्र में जाते तब बिना विश्राम किये दिन भर गाँव-गाँव घूमकर उनकी प्रगति का निरीक्षण करते थे । शिक्षा संस्थाओं मे जाते और काम देखने के साथ-साथ बच्चों की योग्यता की परीक्षा लेते थे । एक बार वे ऐसे ही दौरे के समय झालोद का आश्रम देखने गये । वहाँ पर उन्हें कुछ ऐसे बच्चे मिले जिनके कपड़े फटे तथा मैले थे । बापा ने उन सब बच्चों के कपड़े अपने हाथ से सीं करके धो दिये । उनका यह काम आश्रम के लिये

एक स्थायी उदाहरण बन गया और शिक्षक जब कभी भी किसी छोटे बच्चे के कपड़े फटे या मैले देखते तो उन्हें सीं दिया करते थे और धो भी दिया करते थे। उसके बाद बापा जब भी वहाँ गये उन्होंने किसी भी बच्चे के कपड़े फटे अथवा गन्दे नहीं देखे।

इसी प्रकार एक बार उनको एक स्कूल में कुछ कूड़ा-करकट जमा हुआ दिखाई दिया। किसी से कुछ कहने के स्थान पर बापा ने फावड़ा तथा झाड़ू उठाया और सारा स्थान साफ कर दिया। यह घटना भी सभी स्कूलों में उदाहरण बन गई और फिर कभी किसी भी स्कूल में गन्दगी अथवा कूड़ा-करकट दिखाई नहीं दिया। इस प्रकार कर्मयोगी तथा कार्योपदेशक ठक्कर बापा किसी को कुछ निर्देश अथवा आदेश देने के बजाय स्वयं ही करके लोगों को प्रेरित तथा प्रभावित किया करते थे।

झाबुआ गाँव की घटना तो बापा की कर्त्तव्य-परायणता का जीता-जागता प्रमाण है जिससे पता चलता है कि कर्त्तव्य-पालन के दायित्व के सम्मुख बापा किसी भी कठिनाई अथवा संकट की किंचित परवाह न करते थे। झाबुआ ग्राम के निरीक्षण से निवृत्त होकर बापा ने अगले गाँव का कार्यक्रम वहाँ भेज दिया। उन्हें प्रातःकाल ही वहाँ से चल देना था। बापा सोने के लिये चले गये। उनके एक शिष्य मगनलाल झवेरचन्द सोच रहे थे कि अभी से पानी पड़ रहा है और आकाश के लक्षण बता रहे हैं कि यह पानी सवेरे तक न रुक सकेगा। इस दशा में बापा का जाना न हो सकेगा इसलिये वे बहुत रात गये तक काम करते रहे और देर से सोये। निःसन्देह रातभर पानी बरसता रहा किन्तु जब मगनलाल झवेरचन्द्र जागे तो उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि बापा सारे नित्य कर्मों से निवृत्त होकर उस बरसते पानी में यात्रा के लिये तैयार खड़े हैं। श्री मगनलाल ने कहा बापा पानी का हाल तो देखिये ऐसे में आप कहाँ जायेगे ? जब पानी रुक जाये तब आप जाइयेगा। बापा ने उत्तर दिया यह कैसे हो सकता है। मेरे कार्यक्रम के अवसर पर उस गाँव के लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। मेरे समय से न पहुँचने पर वहाँ सबको निराशा होगी और मेरा एक गलत उदाहरण लोगो के सामने आयेगा। तब भी मगनलाल ने वर्षा बढ़ जाने की सम्भावना बतलाते हुए रुक जाने के लिये कहा—किन्तु बापा न रुके और यह कहकर चल दिये कि "जब वर्षा अपना काम करना नहीं रोकती तो मैं अपना काम क्यों रोक दूँ"—"वह अपना काम करेगी और मैं अपना।"

मगनलाल रास्ता दिखलाने के लिये उनके साथ चले तो उन्होंने यह कहकर रोक दिया कि अपना काम छोड़कर मेरे साथ चलने की आवश्यकता नहीं। स्कूल के काम का हर्ज होगा इसलिये तुम्हारा यहाँ रहना बहुत आवश्यक है। फिर भी मगनलाल ने एक भील विद्यार्थी को उनके साथ कर दिया। बापा की यात्रा प्रारम्भ हुई और वर्षा का वेग बढ़ने लगा। थोड़ी ही देर में मूसलाधार वर्षा होने लगी सारे रास्ते, पगडंडियाँ और खेत पानी से भर गये। ढेर की ढेर मिट्टी बह-बह कर आने लगी और बापा के पैरों में लिपटने लगी। टखनो तक पाँव कीचड़ में धँसने लगे। भील विद्यार्थी ने वापस चलने के लिये प्रार्थना की किन्तु बापा लाठी टेकते हुए उस कीचड़ तथा पानी मे निरन्तर चलते ही गये। उन्हें चिन्ता थी कि लोग उनकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे किन्तु जब चलते-चलते वे एक नदी के किनारे पहुँचे तो अवश्य ही उसे पार करने की समस्या खड़ी हो गई। कोई नाव व डोंगा वहाँ नहीं था। विद्यार्थी फिर वापस चलने के लिये अनुरोध करने लगा किन्तु बापा के सामने वापसी का प्रश्न ही नहीं था। उनके सामने तो केवल एक ही बात थी कि वह लोग उनकी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे होंगे।

बापा ने उस विद्यार्थी को वापस कर दिया और स्वयं ही नदी में उतर कर लाठी से यह थाह लेने लगे कि कहाँ पर पानी उथला है और कहाँ पर से नदी पार की जा सकती है। एक स्थान पर उनको पार जाने योग्य थाह मिल गई और वे पानी को पार करते हुए चल पड़े किन्तु दस बारह कदम ही चले होंगे कि धारा का एक ऐसा वेग आया कि बापा बह गये। बड़ी दूर पर जाकर एक ऐसे स्थान पर जाकर लगे जहाँ से निकल कर किनारे पर आ गये। तब भी बापा पार जाने की इच्छा को समाप्त न कर सके। थोड़ी दूर पर उन्हें एक झोंपड़ी दिखाई दी और वे पार जाने का कोई साधन पाने की आशा से उस ओर चल दिये। झोंपड़ी एक भील की थी। उसने बापा को पहचान लिया अकाल के समय बापा उसके घर अन्न-वस्त्र

देने आये थे। उसने बड़े आवभगत से बापा को बिठाला और जलपान करने की प्रार्थना की किन्तु बापा ने उसे अपनी व्यथा सुनाई और पार जाने का कोई साधन बतलाने के लिये कहा। उस कृतज्ञ वनवासी ने तत्काल एक नाव का प्रबन्ध किया और बापा को स्वयं उस पार तक पहुँचा दिया। बापा जब वहाँ पहुँचे तो उनको सात घण्टे की देर हो गई थी तब भी उन्होंने देखा कि लोग उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। बापा ने देर का कारण बतलाते हुए सबसे क्षमा माँगी और अपने प्रवचन कार्यक्रम को प्रारम्भ कर दिया। ऐसे कर्त्तव्य-परायण थे ठक्कर बापा।

बापा लगभग अस्सी वर्ष के हो चुके थे और डॉक्टरों की राय पर हरिजन सेवक संघ के कार्यालय में विश्राम ले रहे थे। तभी उनको नोआखाली के साम्प्रदायिक दंगों के समाचार मिले। निरपराधों की हत्याओं तथा लूटमार की घटनायें सुन-सुनकर उनका हृदय करुणा से भर उठा और वे नोआखाली जाने को तैयार हो गये किन्तु उनके हित तथा स्वास्थ्य चिन्तकों ने उन्हें हठात् रोक लिया। तभी उन्हें पता चला कि बापू नोआखाली में शान्ति स्थापना के लिये चल पड़े हैं। अब बापा से न रहा गया और बहुत कुछ रोके जाने पर भी यह कहकर चल ही दिये कि देश की महान विभूति उस ज्वाला के बीच निरपराधों की रक्षा तथा शान्ति स्थापना के लिये जाये और मैं अपना नश्वर शरीर लिये यहाँ पड़ा रहूँ यह कैसे हो सकता है।

बापा भी बापू के साथ कदम से कदम जोड़कर नोआखाली के शान्ति स्थापना के कार्य में जुट गये। बापा नोआखाली के उस चर प्रदेश में काम करने के लिये निकल गये जहाँ उनके प्रिय हरिजन भाइयों पर घोर अत्याचार किया गया था। बापा ने वहाँ जाकर हत्या, लूट-पाट और अग्निकाण्ड की घटनाओं का विवरण इकट्ठा करना प्रारम्भ किया। वहाँ इस समय तक भी गुण्डों का आतंक फैला हुआ था। लोग विवरण तथा ब्यौरा बतलाने से डरते थे। बापा ने उन्हें धीरज और साहस बँधाया। अपने प्रार्थना-प्रवचन में उन्होंने गुण्डों को उनके अपराधों तथा अत्याचारों के लिये बुरी तरह फटकारा। वहाँ के एक नामी गुण्डे ने जो सबका सरगना था, बापा के पास कहलाया कि 'यह बुड्ढा अपनी बकवास बन्द कर दे नहीं तो उसका सिर धड़ से उड़ा दिया जायेगा।' लोग यह समाचार सुनकर डर गये और बापा से गुण्डों को कुछ न कहने के लिये प्रार्थना करने लगे।

किन्तु सत्य और सेवा के भक्त ठक्कर बापा कब डरने वाले थे। उन्होंने अपनी प्रार्थना सभा में निर्भीकता पूर्वक कहा—वह गुण्डा मेरा सिर उड़ाना चाहता है, आये और अपना काम करके दिखलाये। वह एक सिर की बात कहता है, यदि मेरे हजार सिर होते तो भी मैं सत्य की सेवा में उन्हें कटवा देता। उसे जो कुछ करना हो मेरे साथ करे किन्तु मैं, जब तक मेरी सांस चलती रहेगी इसी प्रकार गुण्डों और गुण्डागर्दी के विरोध में आवाज उठाता रहूँगा। इस प्रकार न जाने कितने खतरे और कष्ट उठाकर बापा नोआखाली में हरिजनों की सेवा करते रहे और तब ही वहाँ से आये तब शान्ति की सम्भावनायें विश्वस्त हो गईं।

अब तक बापा के जीवन-आकाश में इक्यासी सितारे चमक चुके थे। उनका कर्त्तव्यहुत शरीर शिथिल हो चुका था और मन निर्वेद की स्थिति में पहुँच चुका था। सारी इन्द्रियाँ विश्राम ले रही थीं। इस समय वे भाव नगर में संन्यास यापन कर रहे थे लेकिन बापा की कर्त्तव्य व्यस्तता फिर भी नहीं छूटी थी। यद्यपि उनका पूरा जीवन-काल दुःखी मानवता और जनता-जनार्दन की सेवाओं में ही बीता था, उनकी संवेदना, सहानुभूति, परिश्रम तथा सत्य-परायणता के साथ-साथ त्याग, निःस्पृहता और निष्काम कर्मयोग ने उनके सारे सेवा-कार्यों को विशुद्ध अध्यात्म में परिणत कर दिया था, तथापि इस समय वे जीवन के उपसंहार में मन ही मन परमात्मा का चिन्तन करते रहते थे। वे रात में प्रायः जागते रहते थे और धीरे-धीरे कुछ कहते रहते थे। जो लोग उनके अस्फुट शब्दों को यदा-कदा सुन सके थे उनके कहने के अनुसार आभास मिलता था कि ठक्कर बापा उस नीरव शान्ति में किसी से कुछ बातें करते रहते थे। उनके उस अटपटे वार्तालाप का आशय कुछ इस प्रकार का रहता था—कि क्या तुम्हारे विधान में मनुष्य को आयु नहीं मिल सकती, जिससे वह अनेक शताब्दियों तक मनुष्यता की जी भर सेवा कर सके।

जितनी सेवा का अवसर मुझे मिला, उससे मेरी आत्मा पूरी तरह तृप्त न हो सकी है। जन-सेवा की

अभी बहुत बड़ी भूख बनी हुई है । तब भी कोई चिन्ता नहीं इस एक जीवन की परिसमाप्ति ही तो यहाँ पर हो रही है उस अनन्त जीवन की तो नहीं, जो अपने आदि स्रोत से संसार के आदि स्रोत की ओर निरन्तर अविच्छिन्न प्रवाह में आदि काल से बहता आ रहा है, बह रहा है और अविज्ञात अनन्त तक बहता रहेगा । अब मैं जल्दी ही इस शरीर को छोड़ना चाहता हूँ, क्योंकि इसका उपयोग समाप्त हो गया है । किसी निरुपयोगी वस्तु को इस व्यस्त एवं कर्मपूर्ण संसार में स्थान घेरे रहने की आवश्यकता का कोई औचित्य नहीं । जीवन का वास्तविक रूप कर्म है जब कर्म नहीं तो जीवन नहीं । मुझे बुलाइये जिससे कि मैं यथाशीघ्र नया शरीर पाकर जन-सेवा में लग सकूँ और इस प्रकार बार-बार शरीर धारण कर तब तक मानवता की सेवा करता रहूँ जब तक संसार में मानव पीड़ित अथवा दुःखी बना रहे । यही मेरी आराधना है, यही मुक्ति और मोक्ष है । पूज्य बापा इसी प्रकार कुछ न कुछ अपनी ही गम्भीर गहराई में कहते जब-तब सुने जाते थे ।

तभी एक दिन पन्द्रह सितम्बर उन्नीस सौ पचास को उन्होंने अपनी तल्लीन तन्द्रा में सुना कि सरदार पटेल का देहावसान हो गया है । यह धरती की एक बड़ी घटना थी । बापा सहसा धरातल पर उतर आये और बोले—क्या सरदार पटेल चले गये ? समाचार वाहकों ने पुष्टि की और बताया कि उनकी शोक सभा अभी ही होने को जा रही है । इस समाचार को सुनते ही बापा उठ बैठे । लोगों ने उन्हे रोकते हुए कहा—बापा आप उठिये नहीं, बहुत दुर्बल हो चुके हैं, हृदय पर काफी जोर पड़ेगा । पर बापा न माने और खड़े होते हुए बोले । हृदय पर क्या जोर पड़ेगा ? जब ऐसा विदारक समाचार सुनकर भी यह अपना काम कर रहा है तो सरदार की शोक सभा में जाने पर इसका कुछ न बिगड़ेगा । मुझे तो आज पता चला है कि मेरा हृदय तो पत्थर की तरह कठोर है । बापा के मुख पर एक खेद पूर्ण छाया छूट गई जिसने बताया कि बापा को अपने पर कुछ नाराजी आ गई है ।

लोगों ने फिर उनको रोका और कहा—"बापा आप बहुत कमजोर हैं डॉक्टरो ने आपके लिये चलने-फिरने और ज्यादा बात करने के लिये निषेध किया है । आप सभा में न जाइये और यहीं पर विश्राम करिये आपकी लिखित सम्वेदना भेज दी जायेगी ।"

बापा की मुख मुद्रा अजीब-सी हो गई वे बोले—"सरदार जैसे सरदार चले जायें और मैं एक साधारण सा स्वयंसेवक होकर उनकी शोक सभा में न जाकर यहाँ पर पड़ा-पड़ा आराम करता रहूँ—यह अब कैसे उचित हो सकता है ।"

लोगों ने फिर कहा—"अच्छा आप यदि जाना ही चाहते हैं तो जरा ठहर जाइये, आपके लिये डोली में प्रवन्ध कर दिया जाता है आप उसमें चले जाइये ।" यह परामर्श सुनकर तो पहले बापा को हँसी आ गई और फिर तुरन्त ही भारी कंठ से बोले—"यह आप लोग क्या कह रहे हैं—सरदार वल्लभ भाई पटेल की शोक सभा में मैं डोली पर चढ़कर जाऊँगा ।"—बापा न माने और पैदल ही शोक सभा में चल दिये ।

सरदार पटेल की शोक सभा मे अध्यक्ष पद से बोलते हुए बापा ने उनकी देश-सेवाओं पर प्रकाश डालते हुए कहा—"आज भारत माता का एक महान सपूत उसकी गोद से चला गया है किन्तु आशा है कि अन्य बहुत से सपूत उसकी सेवा करते हुए उसके इस शोक को कम करने का प्रयत्न करते रहेंगे । बाद में उन्होंने सरदार पटेल को श्रद्धांजलि दी और शोक समन्वित हृदय से निवास स्थान पर वापस चले आये ।"

बापा को सरदार वल्लभ भाई पटेल की मृत्यु का गहरा आघात लगा और वे पड़ गये तो फिर न उठ सके । स्वर्गारोहण के दिन उन्होंने अपने लोगों से कहा—"आज क्या शुक्रवार है । सरदार पटेल शुक्रवार को ही तो गये थे और पूज्य बापू भी । इसलिये उनका अनुयायी बापा भी क्यों न आज शुक्रवार के दिन ही चला जाये ।"

लोगों ने उनकी बात बड़े दुःख और कौतूहल से सुनी किन्तु शाम को जब उन्होंने जरूरी डाक सुनकर उसका उत्तर लिख दिया तब बोले—"अब मुझे चारपाई से नीचे उतार लो । भान आ चुका है । अब देर नहीं है ।"—और अपने कथानुसार शुक्रवार १६ जनवरी सन् १६५१ को परमात्मा की वह पावन ज्योति, परमात्मा के रूप में सदा सर्वदा के लिये मिल गई ।

ठक्कर बापा ने तप, त्याग और सेवा के आधार पर जिस महिमा और महत्त्व को पाया है वह इतिहास के पन्नों और मानवता के विराट् पट पर सदा अंकित रहेगी । आज देश और संसार की त्रस्त मानवता को अनेकों ठक्कर बापा की आवश्यकता है । न जाने भगवान मनु के कौन-कौन से महान पुत्र युग की इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये बापा की जीवन साधना का पुनः प्रवर्तन करते हुए जन-सेवा के क्षेत्र में अपना सर्वस्व देकर श्रेय तथा सौभाग्य के भागीदार बनेंगे ?

# मानव सेवा के व्रतधारी : महात्मा एण्ड्रूज

धर्म के अनेक मार्ग हैं । जिनमें से हम किसी को भी अपनी मनोवृत्ति के अनुसार अपना सकते हैं । आवश्यकता इतनी ही है कि जिस किसी मार्ग को हम अपनावें उसका सच्चे हृदय से शुद्धतापूर्वक पालन करें । हमारे अनेक धार्मिक उपाख्यानों में दर्शाया गया है कि अनेक हीन व्यवसाय करने वाले व्यक्ति अपने पेशे की पूरी सच्चाई के साथ करने के फलस्वरूप महान धार्मिक मान लिये गये । जब जीवन-निर्वाह के साधारण कार्यों में सच्चाई बरतने की ऐसी विलक्षण शक्ति है तो जिसने मानव-सेवा-परोपकार को ही जीवन का एकमात्र ध्येय बना लिया है और उसके लिये सब प्रकार स्वार्थत्याग किया है, उसकी महानता का अनुमान कौन लगा सकता है ? ऐसे ही व्यक्ति जीवन्मुक्त कहे जाते हैं और स्वार्थ तथा पाप के युग में धर्म उनके सहारे ही टिकता है । दीनबन्धु एण्ड्रूज ऐसे ही महामानव थे ।

श्री एण्ड्रूज (जन्म १२ फरवरी, १८७२) का पूरा नाम चार्ल्स फ्रीअर एण्ड्रूज था । उनके माता-पिता धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे और इनको बचपन से ही सत्प्रेरणा दिया करते थे । छः वर्ष की आयु में उनको ऐसा कठिन ज्वर आया कि डॉक्टरों ने जीवन की आशा छोड़ दी, पर माता की सेवा और प्रेम के द्वारा किसी प्रकार मौत के मुँह में से निकल आये । तथापि उनका शरीर कमजोर हो गया, जिससे कुछ परिश्रम करने में ही हाँफने लगते थे । जब उनकी आयु नौ वर्ष की थी तो एक व्यक्ति की बेईमानी से उनके घर की बहुत सी सम्पत्ति नष्ट हो गई जिससे उनको मध्यम श्रेणी की बजाय एकदम गरीबी का जीवन बिताने को बाध्य होना पड़ा । तेरह बच्चों के परिवार का खर्च ऐसी स्थिति में चलाना बड़ा कष्टकर हो गया ।

नौ वर्ष की आयु तक आपकी शिक्षा घर पर माता-पिता द्वारा ही हुई इसके बाद स्कूल में भर्ती करा दिये गये । आप पढ़ाई में बड़ा परिश्रम करते थे, जिससे पुरस्कार और छात्रवृत्ति पाते रहते थे । पच्चीस वर्ष की आयु में कैम्ब्रिज की अन्तिम परीक्षा पास कर ली । बचपन की निर्बलता के कारण आप प्रायः बीमार हो जाते थे, जिससे माता को इनकी अधिक देख-भाल करनी पड़ती थी । पर उम्र बढ़ने पर क्रिकेट आदि खेलों में भाग लेने लगे तो वह निर्बलता दूर होकर स्वास्थ्य साधारणतः ठीक हो गया ।

भारतवर्ष के प्रति श्री एण्ड्रूज को सहानुभूति न जाने क्यों बहुत छोटी आयु में ही उत्पन्न हो गई थी ? उसी समय आप कभी-कभी माताजी से कहा करते थे—"माँ ! मैं हिन्दुस्तान जाऊँगा ।" उन्होंने किसी से सुना था कि हिन्दुस्तानी चावल बहुत खाते हैं, तो वे कभी-कभी अपनी माता से भात बनवा कर खाया करते थे । उनको चावल खाते देखकर उनकी माँ बहुत हँसती और कहती—"चार्ली ! तुम किसी दिन हिन्दुस्तान जरूर जाओगे ।" अब आप कॉलेज में पढ़ने लगे तो आपकी भारतवर्ष के दर्शनों की इच्छा और भी बढ़ गई । जब एक मित्र श्री वेस्टकौट कैम्ब्रिज-मिशन के पादरी बनकर दिल्ली आये तो आपकी इच्छा भी उनके साथ यहाँ आने की हुई ।

### सेवा धर्म का श्रीगणेश

सन् १८९५ में कॉलेज की पढ़ाई समाप्त करके श्री एण्ड्रूज ने चार वर्ष तक दीन-दुःखियों की सेवा की । आपका इरादा मिशनरी बनने का था और इसके लिये आवश्यक था कि मनुष्य दीन-दुःखी लोगों के जीवन का अनुभव भली प्रकार कर ले और सेवा-भावना

के अनुसार कुछ व्यावहारिक कार्य भी कर दिखायें । वैसी उनकी साहित्यिक योग्यता इतनी अधिक थी और कैम्ब्रिज की उच्च परीक्षायें ऐसे सम्मान के साथ पास की थीं कि अगर वे चाहते तो उन्हें वहीं पर बड़ी अच्छी नौकरी मिल सकती थी । पर आपको धन की तरफ आकर्षण न था और गरीबों के लिये कुछ काम करने की हार्दिक अभिलाषा थी इसलिये आप संडरलैण्ड नामक कस्बे में जाकर निवास करने लगे जहाँ जहाज बनाने का कारखाना था । यह मजदूरों की एक बस्ती थी जिनमे अनेकों प्रकार के दोष फैले हुए थे । ये लोग शराब पीते थे, जुआ खेलते थे, आपस में खूब लड़ते थे, व्यभिचार भी भयंकर रूप से फैला हुआ था । कारखाने के फाटक पर ही शराब की दुकानो की कतार लगी थी । शाम को मजदूर लोग जब मेहनत से थककर बाहर निकलते तो शराब की सजी हुई बोतलों को देखते ही उसके प्रलोभन में फँस जाते थे । श्री एण्ड्रूज को इन लोगों की ऐसी दुर्दशा देखकर बड़ा दुःख होता था और वे उस नर्क सदृश स्थान में रहकर उनकी स्थिति को सुधारने का जो कुछ प्रयत्न सम्भव था करते रहते थे ।

उन्होंने वहाँ एक क्लब बनाया जिसमें शाम के समय अनेक मजदूर लड़के इकट्ठे हो जाते थे । क्लब में वे उनको तरह-तरह के खेल खिलाकर और किस्से सुनाकर शिक्षा देने का प्रयत्न करते रहते । उस समय इंग्लैण्ड के मजदूरों का वेतन प्रायः २५ शिलिंग (लगभग १८ रु. ८७ पैसे) प्रति सप्ताह था । इसलिये एण्ड्रूज साहब संडरलैण्ड में रहकर केवल १० शिलिंग प्रति सप्ताह मे गुजर करते थे, क्योंकि वे अविवाहित थे । इसमे उन्हें बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती थी और कभी-कभी भूखे भी रह जाना पड़ता था ।

संडरलैण्ड में कुछ समय तक काम करने के बाद वे लन्दन वापस चले आये और धर्म-प्रचारक बनने की दीक्षा ग्रहण की । वे अपने ही कॉलेज के कैम्ब्रिज मिशन मे शामिल हो गये और उसकी तरफ से नगर के 'वालवर्थ' मुहल्ले में सेवा-कार्य करने लगे । वहाँ के निवासियो में उन्होंने जिस प्रकार काम किया वह इस बात का एक शिक्षाप्रद उदाहरण है कि सज्जन पुरुष बिगड़े हुए लोगो का भी किस प्रकार सुधार कर सकते हैं । वहाँ के अनुभवों के विषय में श्री एण्ड्रूज ने स्वयं एकबार लिखा था—

'वालवर्थ' के निवासी प्रायः लापरवाह और फिजूलखर्ची थे । मनमौजी भी खूब थे । इन्होंने शीघ्र ही मुझे अपना मित्र बना लिया और मुझ पर पूर्ण विश्वास करने लगे । ये लोग मुझे अपने घर ले जाते और सुख-दुःख की बातें सुनाया करते । ये बिल्कुल निर्धन थे और मालिकों तथा दलालों के अत्याचारों से पीड़ित थे । अपने दु.खों को भूल जाने के लिये शराब पिया करते, जिससे जो पैसे बाल-बच्चों के पोषण में खर्च होने चाहिये थे वे शराबघर में पहुँच जाते थे । स्त्री और पुरुष शराब पी-पीकर दुश्चरित्र होते जाते थे । इतवार के दिन मैं इन लोगों का एक 'क्लास' लगाया करता था । इस 'क्लास' में एक बड़ी खूबी यह थी कि कितने ही जेबकट और चोर भी इसमें भाग लिया करते थे । इन लोगों के नाम भी विचित्र थे, जैसे जिंजर, सौसेज, मिल्की, पन्जर, स्पाइलर इत्यादि । मेरे यहाँ तो ये कोई बदमाशी नहीं करते थे, लेकिन बाहर इन पर विश्वास करना असम्भव था । किसी की जेब काट ली, किसी की चीज छीनकर भाग गये, किसी के यहाँ से चोरी कर लाये । तो भी मैं इन पर कभी अविश्वास नही करता था । मेरी लापरवाही पर ये लोग खूब हँसी करते थे और आपस में कहते थे—'एण्ड्रूज तो भला आदमी है, इससे कोई बात छिपाने की जरूरत नहीं और इसे धोखा भी नहीं देना चाहिये ।'

गर्मी के दिनो में एकबार हम सब समुद्र या जंगल की तरफ यात्रा करने जाते थे । हम लोगों ने यह बात तय कर रखी थी कि इस यात्रा में कोई आदमी न जेब काटे और न इधर-उधर से चोरी करे । जब कभी ये किसी अच्छी दुकान के पास से होकर गुजरते तो उनके हाथों में खुजली-सी चलने लगती थी और वे मेरे पास आकर बड़ी खुशामद करके कहते—"मिस्टर एण्ड्रूज एक बार—ज्यादा नहीं बस एक बार आज्ञा दे दीजिये और फिर हम आपको दिखला दें कि हम कैसे चीजे उड़ाया करते हैं ?"

ऐसे अवसरों पर वे उनको अत्यन्त कठोर बनकर नियन्त्रण मे रख पाते थे । धीरे-धीरे इन लोगों की बुरी आदते कम होती गई । वालवर्थ में काम करने के ११ वर्ष बाद जब श्री एण्ड्रूज भारतवर्ष में काम

कर रहे थे तो इन लोगों में से दो व्यक्ति अकस्मात् ही उनको शिमला और कलकत्ते में मिल गये । वे लोग अपराधी जीवन त्यागकर सेना में भर्ती होकर इस देश में आ गये थे ।

## भारत यात्रा का उद्देश्य

जब श्री एण्ड्रूज ने भारतवर्ष में काम करने का निश्चय किया तो अनेक व्यक्तियों ने इसका विरोध किया । कॉलेज में सीनियर अध्यापक थे उन्होंने बार-बार यही सलाह दी कि 'वे कैम्ब्रिज में ही रहें । कैम्ब्रिज के कई मुख्य संचालकों ने भी यही कहा कि तुम यहीं रहकर बहुत उन्नति कर सकते हो, हिन्दुस्तान जाने की कोई जरूरत नहीं ।' उनके माता-पिता भी भारत आने के विरोधी थे । पिताजी विदेशों में ईसाई धर्म के प्रचार को निरर्थक समझते थे और कहते थे कि 'तुम कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की अच्छी नौकरी छोड़कर बड़ी भूल करते हो । जब यहीं तुम्हारी उन्नति के लिये इतना बड़ा क्षेत्र है तो इतनी दूर जाने की क्या जरूरत है ।' माता की इच्छा भी यही थी कि वे इंग्लैण्ड में ही रहें पर उन्होंने उनकी अभिलाषा को समझकर कभी अधिक विरोध नहीं किया ।

श्री एण्ड्रूज के हृदय में उस समय विदेशों में जाकर प्रभु ईसा का सन्देश फैलाने की इच्छा बलवती हो रही थी, क्योंकि ईसा ने कहा था—"जाओ और सम्पूर्ण संसार में 'बाइबिल' के ज्ञान का प्रचार करो ।" इस सम्बन्ध में उनका कहना था—"मैंने अपने दिल में सोचा कि मुझे ईसा की आज्ञा का पालन करके भारतवर्ष जाना ही चाहिये । उस समय भारत से लौटे मिशनरियों की बातें सुनकर मैं यही समझता था कि वहाँ पर अज्ञान-अन्धकार छाया हुआ है और उसे दूर करने का एकमात्र मार्ग यही है कि वहाँ 'बाइबिल' का प्रचार किया जाये । भारत के आध्यात्मिक-जीवन का उस समय मुझे अधिक ज्ञान न था और न यहाँ के निवासियों के नैतिक सदाचार के विषय में ही मैं विशेष रूप से कुछ जानता था ।"

सन् १६०४ में २० मार्च को बम्बई में श्री एण्ड्रूज ने भारतभूमि का प्रथम-बार स्पर्श किया और उसी दिन से इसे अपनी दूसरी मातृभूमि बना लिया । उनके मिशन का प्रधान कार्यालय दिल्ली में था और वहीं पर सेंट स्टीफन्स कॉलेज में उनको शिक्षण कार्य करना था । उन्हें कार्य करते एक वर्ष भी नहीं हुआ था कि कॉलेज के प्रिन्सिपल साहब विलायत वापस चले गये । योग्यता और अनुभव की दृष्टि से उस स्थान पर कॉलेज के एक पुराने प्रोफेसर सुशीलकुमार रुद्र की नियुक्ति उचित थी, पर संचालकों की इच्छा थी कि उस पद पर कोई अंग्रेज ही काम करे । इसलिये उन्होंने श्री एण्ड्रूज को प्रिन्सिपल बनाने का प्रस्ताव किया, पर उन्होंने बहुत दबाये जाने पर भी इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और श्री रुद्र को ही प्रिन्सिपल बनाने का आग्रह किया । उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि यदि रुद्र को प्रिन्सिपल न बनाया गया तो मैं इस्तीफा दे दूँगा । श्री एण्ड्रूज के एक साथी प्रोफेसर श्री वैस्टन ने भी उनका समर्थन किया । तब संचालकों ने विवश होकर श्री रुद्र को प्रिन्सिपल बनाया । पर इसके बाद भी ऐंग्लोइण्डियन लोग बराबर आपको अंग्रेज जाति की उच्चता का पाठ पढ़ाते रहे । ये उपदेश कैसे होते थे, यह श्री एण्ड्रूज के ही शब्दों में सुनिये । ऐंग्लोइण्डियन कहते थे—

"कभी किसी हालत में किसी 'नेटिव' (भारतीय) से मत दबना न कभी किसी 'नेटिव' के दिल में यह ख्याल आने देना कि वह तुमसे ऊँचा है । हम भारतवर्ष पर केवल एक ही तरीके से राज्य कर सकते हैं और वह तरीका यही है कि हम अपनी 'पोजीशन' (पद) को ऊँचा बनाये रखें । यद्यपि आप 'मिशनरी' हैं, तथापि अपने आपको पहले 'अंग्रेज' समझना होगा । इस बात को कदापि न भूलें कि आप 'साहब' हैं । अगर आप किसी 'नेटिव' को अपने साथ बहुत मेल-जोल बढ़ाने देंगे या अपने साथ मनमाना व्यवहार करने देंगे तो इससे आप बेशुमार हानि पहुँचायेंगे । हिन्दुस्तानी लोग नीची जाति के है और हम तलवार के जोर से यहाँ राज्य करते हैं । आप उनके साथ मेहरबानी का बर्ताव भले ही करें, लेकिन हमेशा सावधान रहें और अंग्रेज होने के 'प्रेस्टीज' (धाक) को कदापि न त्यागें ।"

पर श्री एण्ड्रूज दूसरी दुनिया के आदमी थे । वे सत्य तथा न्याय के अनुयायी थे और सब बातों का निर्णय अपनी आँखों से देखकर और बुद्धि से समझ कर करते थे । उन्हें ऐंग्लोइण्डियन के ऐसे उपदेशों से बड़ी हैरानी होती थी । वे उत्तर देते थे—"हमें 'नेटिव' से बराबरी का व्यवहार करना ही होगा । यदि हममें

ईसा के अनुरूप कुछ भी नम्रता है तो हमें यही करना पड़ेगा। हमें प्रयत्न करके अपनी उच्चता छोड़ देनी होगी। यदि हम क्राइस्ट के सच्चे अनुयायी होंगे तो हमें सबका सेवक बनना होगा। यदि हम भारतवर्ष में आते हैं तो हमारा एक ही उद्देश्य होना चाहिये अर्थात् यहाँ की विभिन्न जातियों की एकता में जो बाधायें हैं उनको मिटाना। हमारी हार्दिक इच्छा यही होनी चाहिये। इन बाधाओं को उल्टा बढ़ाना हमारा उद्देश्य हर्गिज न होना चाहिये।"

## भारतवासियों के प्रति सहानुभूति

गर्मी के दिनों में श्री एण्ड्रूज को शिमला जाना पड़ा। वहाँ ऐंग्लोइण्डियनों के चरित्र देखकर उनको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा—"भारत जैसे गरीब देश में, जहाँ लाखों आदमी भूखों रह जाते हैं और जहाँ मोटे अनाज का भोजन दिन में एक बार मिल जाना भी करोड़ों लोगों को सौभाग्य का विषय जान पड़ता है—वहाँ ऐंग्लोइण्डियन लोगों की फिजूलखर्ची और विलासपूर्ण जीवन अत्यन्त निन्दनीय है।" शिमला में ही एक ऐसी घटना हुई जिससे आपके मन को बड़ा धक्का लगा और भारतीयों के प्रति सहानुभूति और अधिक हो गई। इसका वर्णन करते हुए आपने लिखा है—"मैं जब पहली बार शिमला गया तो मैंने उर्दू सीखने का प्रबन्ध किया था। मुझे उर्दू पढ़ाने वाले एक वृद्ध मुसलमान थे, जिनका नाम मौलवी शमसुद्दीन था। आप लाहौर के रहने वाले थे और पहली बार शिमला आये थे। बहुत बूढ़े होने की वजह से वे शिमला की ठण्ड सहन नहीं कर सकते थे। इस कारण पाँवों में पट्टी बाँधते और बूट जूते पहनते थे। मैंने मौलवी साहब की सिफारिश एक अंग्रेज अफसर से कर दी और वे उसको भी उर्दू पढ़ाने लगे। यह अफसर मौलवी साहब को इस बात के लिये मजबूर करता था कि वे पट्टी और जूते उतार कर उसके कमरे मे घुसे, जबकि वह खुद बूट पहने हुए पढने को बैठता था। अफसर बिल्कुल जवान था और मौलवी साहब बहुत वृद्ध थे। एक दिन सर्दी अधिक होने से मौलवी साहब बिना जूते उतारे अफसर के कमरे में चले गये। इस पर वह बड़ा नाराज हुआ और मौलवी साहब को बाहर जाकर जूते उतार आने की आज्ञा दी। इस तरह की बातें देखकर मेरे हृदय को बड़ा दुःख होता था और यहाँ के देशवासियों से मेरी सहानुभूति बढ़ती जाती थी।"

दूसरे वर्ष उनको गर्मी के मौसम में शिमला के निकट सनावर में रहकर एक फौजी स्कूल में प्रिन्सिपल के पद पर काम करना पड़ा। वहाँ भी एक ऐसी ही घटना हुई जिससे आपको ऐंग्लोइण्डियन की अभद्रतापूर्ण मनोवृत्ति का परिचय मिला। आपने अपना अनुभव वर्णन करते हुए लिखा है—"जिस मकान में मैं रहा करता था, उसी में गर्ल्स स्कूल की एक लेडी सुपरिण्टेण्डेण्ट आकर ठहर गई।" पर जब तक मैं प्रिन्सिपल था वह घर वास्तव में मेरा ही था। मैंने मि. रुद्र को, जो उस समय दिल्ली में थे लिख दिया कि वे छुट्टियों में मेरे साथ आकर रहे। जब उस लेडी ने सुना कि मेरे एक हिन्दुस्तानी मित्र आने वाले हैं तो उसने कहा—'मैं किसी हिन्दुस्तानी के साथ एक मेज पर बैठकर खाना हरगिज नहीं खा सकती।' मैंने उसे समझाया—"आपकी बात ईसाई धर्म के बिल्कुल प्रतिकूल है। आपको इतना अनुदार नहीं होना चाहिये।" जैसे-तैसे समझा-बुझाकर मैंने उसे राजी किया लेकिन जब वह शिमला गई तो वहाँ कुछ लोगों ने उसे बहका दिया। उन्होंने लेडी से कह दिया कि 'इस मामले मे हर्गिज मत दबना।' मै बड़ी आफत मे पड़ गया। वह लेडी मेरी अतिथि थी और सुपरिण्टेण्डेण्ट होने की वजह से उस घर में रहने-का उसका कुछ अधिकार भी था। मैं मन में विचार करता था कि जब श्री रुद्र इस लेड़ी की इस बात को सुनेंगे तो क्या कहेंगे?

"मैंने फिर भी लेडी को समझाया, पर वह भला क्यो मानने लगी? मैं बड़ी दुविधा मे था। इधर मैं इस काम को नहीं छोड़ सकता था क्योंकि बिशप साहब से इसके लिये वायदा कर चुका था, इधर अपने प्रिय मित्र श्री रुद्र से विश्वासघात भी नहीं कर सकता था। अन्त में मैंने सब मामला श्री रुद्र को लिख भेजा और साथ ही यह भी सूचित किया कि अगर आप उचित समझें तो मैं इस कार्य के लिये इस्तीफा देने को तैयार हूँ। श्री रुद्र ने तुरन्त मुझे उत्तर दिया कि 'आप हर्गिज ऐसा न करे। मैं कदापि किसी महिला को असुविधा उत्पन्न करना नहीं चाहूँगा।' परिणाम यह हुआ कि मि. रुद्र गर्मियो मे सनावर न आ सके। इस घटना ने मेरी आँखे खोल दी कि पराधीनता के

कारण भारतीयों को कितने अपमान सहन करने पड़ते हैं । मैं पूरी तरह मानता था कि रंगभेद के कारण ऐसा भेदभाव धर्म के सर्वथा प्रतिकूल है । मेरी आत्मा मुझे दोषी बतलाती थी । यदि महात्मा गाँधी जैसी प्रबल आत्मा मुझमें होती तो मैं अन्त तक लड़ता और विरोध करता रहता, पर बहुत कुछ सोचने और श्री रुद्र का पत्र पा जाने के बाद मैंने दब जाना ही उचित समझा ।"

वास्तव में धर्म का सार अपने दैनिक व्यवहार में न्याय और नीति की स्थापना करना है । हमारे देश में तो लोग देशवासी और पड़ोसी होने पर भी ऊँच-नीच और छोटे-बड़े की इतनी अधिक भावना रखते हैं कि उसे मानवता के अहसान के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता । इस दृष्टि से श्री एण्ड्रूज का उदाहरण हमारे उच्च जाति वालों के लिये विशेष रूप से शिक्षाप्रद है । यहाँ वाले तो जो 'बड़प्पन' दिखलाते हैं यह अधिकांश में निरर्थक होता है । उनके पास न किसी तरह की योग्यता होती है, न कोई शक्ति, केवल जन्म और जाति के आधार पर वे झूठा अभिमान दिखाया करते हैं, जिसको दूसरे लोग कुछ भी महत्त्व नहीं देते । पर श्री एण्ड्रूज ने सब कुछ साधन और शक्ति होते हुए भारतवासियों के साथ जो समानता का न्याययुक्त व्यवहार किया, वह उनकी महानता का ही प्रदर्शक था ।

## भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्पर्क

इस तरह की घटनाओं से श्री एण्ड्रूज का ध्यान भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर जाने लगा । सन् १९०६ में जब बंगाल के दो टुकड़े कर देने के फलस्वरूप घनघोर स्वदेशी आन्दोलन उत्पन्न हुआ तो आपने 'हिन्दुस्तान रिव्यू' नामक मासिक-पत्र में भारत की राष्ट्रीयता का समर्थन करते हुए एक लेख लिखा । इसको लोगों ने बहुत पसन्द किया और पुस्तकाकार छपवाकर वितरण कराया । यद्यपि उस समय उनके विचार बिल्कुल नर्म थे, तो भी भारतीय नेताओं ने उसे महत्त्वपूर्ण समझा, क्योंकि वह एक अंग्रेज का लिखा हुआ था ।

इसी वर्ष आप कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन देखने गये जिसके सभापति स्व. दादा भाई नौरोजी थे । वहाँ के अनुभवों के विषय में आपने लिखा कि "यहाँ मेरी भेंट पहली बार महात्मा गोखले से हुई । उनकी असाधारण नम्रता देखकर मुझे आश्चर्य हुआ । जहाँ तक बन पड़ता वे अपने को पीछे ही रखते थे, वे अगुआ बनने की कोशिश नहीं करते थे । उस समय ब्रिटिश राज्य में मुझे बहुत अधिक विश्वास था । राजनीति में मेरे विचार 'माडरेटों' (नर्मदल वालों) में 'माडरेट' की तरह थे । उन दिनों मैं ख्याल करता था कि लो. तिलक तथा श्री विपिनचन्द्रपाल हद से ज्यादा गर्म हैं और श्री गोखले ही नेतृत्व के उपयुक्त हैं । समाचार-पत्रों में मैंने उनके सम्बन्धों में ऐसे ही विचार प्रकट किये थे । मेरे लेखों को पढ़ने के बाद एक बार श्री गोखले ने एकान्त में मुझसे कहा था—"मैं इस बात को अधिक पसन्द करूँगा कि आप मेरे लिये 'लीडर' (नेता) शब्द का प्रयोग न किया करें । नेता बनने के लिये अभी मेरी उम्र बहुत कम है । आप सर फिरोजशाह मेहता, डी. ई. वाचा, दादाभाई नौरोजी आदि के लिये ही 'नेता' शब्द काम में लाये । उन्होंने मातृभूमि की सेवा करके इस पदवी को प्राप्त कर लिया है, मैंने अभी नहीं किया है ।' इससे श्री गोखले की असाधारण नम्रता प्रकट होती थी । मैंने अपने जीवन में इतने योग्य व्यक्ति से ऐसी नम्रतायुक्त बातें नहीं सुनी थीं ।

भारत की राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में श्री एण्ड्रूज के विचारों का परिवर्तन बड़े मनोरंजक ढंग से हुआ । सन् १९०६ में आपके विचार साम्राज्यवादियों की तरह थे और आप विश्वास करते थे कि भारत का हित ब्रिटिश-साम्राज्य के साथ रहकर ही हो सकेगा । पर धीरे-धीरे आप 'पूर्ण स्वाधीनता' के कट्टर समर्थक बन गये । सन् १९२० में महात्मा गाँधी ने अपने नागपुर कांग्रेस वाले भाषण में 'कांग्रेस के नये विधान' पर भाषण करते हुए कहा—

"इस प्रस्ताव में दोनों प्रकार के मनुष्यों के लिये स्थान है । इन नवीन विधानों के अनुसार वे लोग भी कांग्रेस में रह सकते हैं जिनका यह विश्वास है कि ब्रिटिश साम्राज्य के साथ भारत का सम्बन्ध बनाये रखकर हम अपनी और ब्रिटिश जनता दोनों की भलाई कर सकेंगे । इसके विपरीत जिन लोगों का ब्रिटिश साम्राज्य में बिल्कुल विश्वास नहीं रहा है, वे भी इस विधान के मुताबिक कांग्रेस में सम्मिलित हो सकते हैं । उदाहरण के लिये एण्ड्रूज की बात लीजिये, वे कहते

हैं कि ब्रिटिश-साम्राज्य से सम्बन्ध रखकर भारतवर्ष की भलाई की कुछ आशा नहीं हो सकती। इसलिये भारत को उससे बिल्कुल अलग हो जाना चाहिये। कांग्रेस के इस नये विधान में श्री एण्ड्रूज के विचारों वाले व्यक्तियों के लिये भी स्थान है।"

## अंग्रेज अधिकारियों से मतभेद

कलकत्ता कांग्रेस से लौटकर श्री एण्ड्रूज भारतीय राजनीति में जोरों से भाग लेने लगे और समय-समय पर समाचार-पत्रों में लेख लिखकर भारतवासियों की माँगों का समर्थन करने लगे। इससे वे यहाँ के गोरों और ऐंग्लोइण्डियनों की नजर में खटने लगे। उनके कॉलिज के संचालकों ने भी उनसे राजनीतिक आन्दोलन में भाग न लेने को कहा। अपने जातीय भाइयों की ऐसी मनोवृत्ति देखकर आपको बड़ा खेद होता था और आपने सोच लिया कि जब तक सम्भव होगा तब तक मिशन की नौकरी करते रहेंगे, अन्त में इसे छोड़ना तो पड़ेगा ही। जब सन् १६०७ में पंजाब सरकार ने लाला लाजपत राय को देश निकाले का दण्ड दिया उस समय आपने इसका घोर विरोध किया और इसे जनता की स्वतन्त्रता अपहरण करने वाला कार्य बतलाया। आपने सार्वजनिक सभा में एक भाषण दिया और कॉलेज की डिबेटिंग सोसाइटी की तरफ से एक मीटिंग करके सरकार के इस कार्य की निन्दा की। जब यह खबर समाचार-पत्रों में छपी तो सरकार और मिशन की तरफ से आपको डाँटा भी गया फिर जब छः महीने बाद लालाजी छोड़ दिये गये तो अपने कॉलेज में बड़े जोरों से रोशनी कराई। इससे दिल्ली के यूरोपियन जलकर खाक हो गये और आप पर तरह-तरह के आक्षेप लगाने लगे।

राष्ट्रीय आन्दोलन के सिलसिले में आपका परिचय महात्मा मुन्शीरामजी (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द) से हो गया और आप कई बार गुरुकुल काँगड़ी गये। हकीम अजमल खाँ से भी आपकी मित्रता हो गई। ऐसे लोगों के साथ मिलने-जुलने से आपको भारतीय संस्कृति और यहाँ की परिस्थितियों का ज्ञान विशेष रूप से होता गया और हृदय में यह भावना प्रबल होती गई कि मिशन की नौकरी छोड़कर राष्ट्रीय आन्दोलन में पूरी शक्ति से लग जाना चाहिये। आप इस सम्बन्ध में लिखते हैं, "मैं प्रतिदिन अपने दिल में सोचा करता था कि यदि मैं स्वतन्त्रता का प्रेमी हूँ तो मुझे दूसरे लोगों की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्न करना चाहिये। यद्यपि उस समय तक मेरा यही ख्याल था कि पिछले जमाने में अंग्रेजी शासन द्वारा भारत का बहुत उपकार हुआ है, तो भी मैं यह मानता था कि किसी विदेशी जाति का सुशासन वास्तविक स्वतन्त्रता का मुकाबला नहीं कर सकता।

"इस प्रकार के विचारों के कारण मेरी रुचि मिशन की नौकरी से भी हट रही थी। मिशन से मुझे वेतन मिलता था, पर जब कभी मैं वेतन लेता था, मुझे ऐसा मालूम होता था कि मैं अपनी स्वतन्त्रता बेचकर रुपये ले रहा हूँ। ये रुपये मुझे अपनी आत्मा पर एक भारी बोझ की तरह मालूम पड़ते थे। विलायत के मिशन वाले मुझसे यह आशा करते थे कि मैं इस ढंग से ईसाई धर्म का प्रचार करूँ जिससे अधिक से अधिक हिन्दुस्तानी ईसाई बन सकें। यह 'ईसाई बनाना' मुझे बहुत ना पसन्द था। जहाँ तक मुझे स्मरण है मैंने अपने व्याख्यानों से शायद एक भी भारतवासी को ईसाई न बनाया होगा। मेरा यह विश्वास पहले भी और अब भी है कि ईसाई धर्म के जिन सिद्धान्तों को मैं सत्य समझता हूँ, उनको सर्वसाधारण को बतलाना मेरा कर्त्तव्य है, पर किसी पर दबाव डालकर ईसाई बनाने से मैं घृणा करता हूँ। मैं प्रायः यह सोचा करता हूँ कि जब मैं मिशन वालों की आशा के अनुसार किसी को ईसाई बनाने में विश्वास ही नहीं करता तो उनसे रुपये लेना भी अनुचित है। मैंने श्री रुद्र से इस विषय में सलाह माँगी तो उन्होंने कहा कि, तुम इस विषय की कुछ भी चिन्ता मत करो और अपना प्रोफेसरी का काम करते जाओ।

सेवा व्रत के लिये हर प्रकार के कष्ट और हानि को स्वीकार कर लेने की भावना का एक परिणाम यह भी हुआ कि श्री एण्ड्रूज आजन्म कुँआरे रह गये। वैसे वे विवाह को मनुष्य के लिये स्वाभाविक और आवश्यक समझते थे पर उनका कहना था—"विवाह करने पर खर्च का सवाल उठता है और मेरी आमदनी इसके लिये काफी न थी। फिर मैं यह भी जानता था कि मिशन से मिलने वाले वेतन पर भरोसा करना खतरनाक है, क्योंकि अपनी अन्तरात्मा में मुझे उससे विराग होता जाता था। दूसरी बात यह भी थी कि

मैं अपना सम्पूर्ण समय राष्ट्रीय आन्दोलन में लगा देना चाहता था जो विवाह करने पर सम्भव न था। इस प्रकार मेरे विवाह न करने का कारण व्यावहारिक और आर्थिक दोनों थे। मैं अब भी यह अनुभव करता हूँ कि इस प्रकार मैं जीवन की एक सर्वोत्तम वस्तु 'गृहस्थ-जीवन' से वंचित रह गया। अगर सन्तोष है तो यही कि इस प्रकार जो हानि हुई उसकी कमी अन्य दिशाओं में लाभ होने से पूरी हो गई।"

इस बात से हमारे उन भाइयों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये जो केवल लकीर पीटने की तरह गृह-त्याग और संन्यास आदि की प्रशंसा किया करते हैं। सच्ची बात यही है कि समाज की वास्तविक सेवा और परोपकार के कार्य गृहस्थ जीवन में रहकर ही किये जा सकते है। अविवाहित जीवन (ब्रह्मचारी) और गृहत्याग (संन्यासी) तो वास्तव में उन बहुत ऊँची आत्माओं के उपयुक्त है जो स्वभाव से मनुष्य मात्र में एकात्मा का अनुभव करते हैं और किसी की पीड़ा, कष्ट को देखकर व्यथित हो जाते हैं, उसे मिटाये बिना उनको चैन नहीं पड़ता, पर हमारे यहाँ जिस प्रकार अधिकांश व्यक्ति पेट भरने या अहंकार पूर्ति के लिये 'ब्रह्मचारी' और 'संन्यासी' बनते हैं, उससे तो कहीं अच्छा यही है कि गृहस्थ में रहकर ईमानदारी से परिश्रम करके अपनी रोटी कमाई जाये और उसी में से जितना बन पड़े दूसरों के हितार्थ भी खर्च कर दिया जाये।

## पुलिस की दृष्टि

श्री एण्ड्रूज भले ही असली अंग्रेज थे और ब्रिटिश सत्ता समर्थक भी थे, पर भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने और भारतवासियों के साथ न्याय की माँग करना नौकरशाही की निगाह में काफी भयंकर अपराध था। पर अंग्रेज होते हुए भी वह ऐसे आदमी थे विश्वास नहीं कर सकते थे, इसलिये भारतीय नेताओं की तरह आपके पीछे भी खुफिया पुलिस लगा दी गई। इस विषय में आपने एक बार बतलाया था—

"ये खुफिया पुलिस वाले मुझे किस प्रकार तंग करते थे इसके दो-एक उदाहरण काफी हैं। सन् १६०७ में मैंने खुद एक आदमी को अपनी मेज के खानों में हाथ डालते पकड़ लिया। जब मैंने उसे धमकाया तो उसने स्वीकार कर लिया कि "मैं सी. आई. डी. का आदमी हूँ और मुझे पुलिस अफसर ने आपके पीछे लगाया है।" मैंने एक बड़ा रोषपूर्ण पत्र डिप्टी कमिश्नर हमफ्रे साहब के पास भेजा। उन्होंने उत्तर में लिखा—'प्रिय एण्ड्रूज, वह आदमी मेरी पुलिस का नहीं था, डैम खुफिया पुलिस का था।' दूसरा उदाहरण भी सुनिये—एक अंग्रेज नवयुवक पुलिस में नौकर था। शाम के वक्त एक दिन मेरी उससे मुलाकात हो गई। मेरी बात-चीत उसे रुचिकर जान पड़ी। मैंने उसे उपदेश दिया कि भारतवासियों के साथ सदा सहानुभूति रखो। जब वह जाने लगा तो मुझसे कहा कि "कल रात आप मेरे यहाँ भोजन कीजिये।" दूसरे दिन मैंने उनके यहाँ भोजन किया और उस दिन भी बहुत-सी शिक्षायें दीं। इसके बाद मुझे विश्वस्त सूत्रों से पता लगा कि उस नवयुवक को उसके प्रधान अधिकारी ने बुलाकर कहा—"यह फायल लो और खुफिया पुलिस की तरफ से काम करो।" उस फायल पर मेरा नाम लिखा हुआ था। यह देखते ही उस नवयुवक ने कहा—"मैं हरगिज ऐसा नहीं कर सकता। कल रात श्री एण्ड्रूज मेरे यहाँ अतिथि थे। क्या आप चाहते हैं कि मैं अपने अतिथि के पीछे ही खुफिया का काम करूँ?" कॉलेज में भी खुफिया पुलिस मेरा पीछा नहीं छोड़ती थी। मेरे दो विद्यार्थी, जिनसे मेरी अच्छी तरह जान-पहचान थी, पीछे खुफिया पुलिस के जासूस निकले। एक तीसरे विद्यार्थी ने खुली अदालत में सबके सामने बयान देते हुए कहा—मैं पुलिस के प्रधान अफसर के पास नौकरी के लिये प्रार्थना-पत्र लेकर गया। अफसर ने मुझसे कहा कि 'अगर तुम अपने कॉलेज में जासूसी का काम करो तो तुम्हें नौकरी मिल सकती है।' मैंने इन बातों को समाचार-पत्रों में प्रकाशित करा दिया, पर सरकार ने कुछ भी उत्तर न देकर चुप्पी साध ली।"

## महाकवि रवीन्द्रनाथ से भेंट

सन् १६१२ में श्री एण्ड्रूज का स्वास्थ्य अधिक खराब हो गया और डॉक्टरों ने विलायत जाकर जलवायु परिवर्तन करने की सलाह दी। लन्दन में आपने भारतीय विद्यार्थियों की एक सभा में सुना कि महाकवि रवीन्द्रनाथ भी यहीं आये हुए हैं। यह सुनकर वे उनके दर्शनों को उत्कण्ठित हो उठे और पता लगाकर उनके निवास स्थान पर जा पहुँचे। संयोगवश उस समय महाकवि कहीं बाहर गये हुए थे, इससे भेंट न हो सकी। दूसरे दिन प्रसिद्ध आर्टिस्ट

रायेनस्टीन के निवास स्थान पर उनकी कविताओं को पाठ होने वाला था। एण्ड्रूज साहब वहाँ पहुँचे। श्री रवीन्द्रनाथ ने उनको देखते ही बड़े प्रेम से भेंट की। श्री एण्ड्रूज को यह देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि इंग्लैण्ड के अनेक विद्वान महाकवि का सम्मान कर रहे हैं, पर उन्होंने अनुभव किया कि लन्दन के कोलाहलपूर्ण वातावरण में महाकवि के स्वास्थ्य को हानि पहुँचेगी। इसलिये उन्होंने शहर से कुछ दूर देहात में एक मित्र के घर पर उनके रहने की व्यवस्था कर दी। महाकवि ने बड़ी खुशी से इस परिवर्तन को स्वीकार किया और कहा—"मुझे शान्ति चाहिये। मुझे शान्तिमय जीवन का इतना अधिक अभ्यास हो गया है कि मेरे लिये बहुत बड़े नगर में ज्यादा ठहर सकना सम्भव नहीं। अब मैं यहाँ एक महीने तक रह सकता हूँ।" उस समय से महाकवि के साथ एण्ड्रूज का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया। जिसके फलस्वरूप अन्त मे वे शान्ति निकेतन में ही जाकर रहने लगे।

## दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलन में सहायता

सन् १९१३ में दक्षिण अफ्रीका के भारतवासियों के आन्दोलन ने बड़ा गम्भीर रूप धारण कर लिया। वहाँ महात्मा गाँधी कई वर्षों से सरकार के अन्यायपूर्ण कानूनों के विरोध मे सत्याग्रह कर रहे थे। जब वहाँ की सरकार ने हजारो हिन्दुस्तानियों को जेल में ठूँस दिया और कितने ही व्यक्ति जान से भी मारे गये तो भारतवर्ष में हलचल मच गई। प्रवासी भारतवासियों की सहानुभूति में सभायें होने लगी और चन्दा इकट्ठा किया जाने लगा। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक कार्य श्री गोखले कर रहे थे। श्री एण्ड्रूज भी उनको पूरा सहयोग देने लगे। कॉलेज से छुट्टी पाते ही वे उनके पास पहुँच जाते और बराबर आन्दोलन सम्बन्धी कार्यों में लगे रहते। एक दिन श्री गोखले ने कहा—"इस मामले मे सम्पूर्ण भारत को एक हो जाना चाहिये। मै चाहता हूँ कि दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतवासियों को न्याय दिलाने के लिये हम लोग जो आन्दोलन कर रहे है उसमें कुछ यूरोपियन भी भाग लेने लगे। क्या आप कुछ ऐसे यूरोपियनों के नाम बता सकते हैं?" श्री एण्ड्रूज ने कहा कि मै आज रात को ही कलकत्ता जाने को तैयार हूँ। वहाँ जाकर लार्ड विशप से इस विषय मे सम्मति लूँगा।

जब आप कलकत्ता पहुँचे तो मालूम हुआ कि लार्ड विशप अस्पताल में हैं और उनका ऑपरेशन हुआ है। आपने विचार किया कि इस बीमारी की अवस्था मे उनको कष्ट देना ठीक नहीं, आराम होने पर बातचीत की जायेगी। पर विशप साहब को जब श्री एण्ड्रूज के आने की खबर मिली तो उन्होंने फौरन इनको बुलाया। जब आपने श्री गोखले का सन्देश विशप साहब को सुनाया तो उन्होंने तुरन्त अपनी चैकबुक मँगाई और प्रवासी भारतवासियों के सहायता फण्ड में एक हजार रु. चन्दा लिख दिया। इसके बाद उन्होंने बिस्तर पर पड़े-पड़े ही भारतीयों की सहानुभूति में एक सन्देश भी लिखवाकर समाचार-पत्रों में प्रकाशनार्थ भिजवाया। विशप सहाब की इस उदारता और मानवतावादी दृष्टिकोण का अन्य लोगों पर भी अनुकरणीय प्रभाव पड़ा और प्रवासीय के प्रश्न पर सरकारी कर्मचारियों तक ने सहयोग का भाव दिखलाया।

कलकत्ते से लौटते समय आप एक दिन शान्ति निकेतन में ठहरे और श्री रवीन्द्रनाथ से बातचीत करके यह निश्चय कर लिया कि अब मिशन की नौकरी छोड़कर शान्ति निकेतन मे ही रहकर काम करूँगा। उसके पहले अगर आवश्यकता हुई तो दक्षिण अफ्रीका जाकर प्रवासियों के आन्दोलन में सहायता करूँगा, इसी आशय का एक तार आपने उसी समय श्री गोखले को भेज दिया। दिल्ली पहुँचते ही जब आप उनसे मिले तो उन्होंने कहा—"तुम्हारा तार बड़े मौके पर आया। इससे मालूम होता है कि परमात्मा इस कार्य में हमारी सहायता कर रहा है। आपके तार के साथ ही मुझे दक्षिण अफ्रीका से भी एक तार मिला कि वहाँ की हालत बहुत खराब है और महात्मा गाँधी सहित सब नेता गिरफ्तार कर लिये गये हैं। दक्षिण अफ्रीका के लिये आप कब रवाना हो रहे हैं?" श्री एण्ड्रूज ने कहा—"मै आज रात को ही रवाना होने को तैयार हूँ।"

पर इस समय श्री एण्ड्रूज का स्वास्थ्य निर्बल था, क्योकि कुछ समय पहले ही वे मलेरिया ज्वर से पीडित हो चुके थे। इसलिये प्रिन्सिपल श्री रुद्र इस सम्बन्ध में विशेष चिन्तित थे अन्त में उन्होंने इनके मित्र श्री पियर्सन को साथ में भेजने की व्यवस्था करदी। उसी रात को वे दोनो

कलकत्ता के लिये रवाना हो गये । रास्ते में इलाहाबाद के स्टेशन पर श्री मदनमोहन जी मालवीय भेंट करने आये और इस कार्य में सफलता के लिये आशीर्वाद दिया । कलकत्ते में महाकवि रवीन्द्रनाथ के दर्शन करके उनसे भी यात्रा के लिये अनुमति प्राप्त की । जहाज की यात्रा के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

"यह यात्रा बड़ी कष्टदायक थी, क्योंकि उसके कुछ ही पहले एक तूफान आ चुका था और सैकड़ों वृक्ष उखड़कर समुद्र में बह रहे थे । जहाजी-यात्रा मे मैं प्रायः बीमार हो जाता हूँ, इस बार यह शिकायत और भी अधिक थी । इस पर जहाज के अन्य गोरे यात्री तथा अफसर अपनी बातों से हमको और तंग करते रहते थे । वे लोग बार-बार कहा करते—"अफ्रीका पहुँचते ही जनरल स्मट्स तुम लोगों को जेल भेज देंगे ! इस जहाज में बहुत से हिन्दुस्तानी कुली भी दक्षिण अफ्रीका भेजे जा रहे थे । उनकी दशा बहुत बुरी थी, वे भेड़-बकरियों की तरह 'डेक' के एक कोने में भर दिये गये थे । दो दिन बाद एक कुली ने समुद्र में कूदकर अपनी जान दे दी । इसके बाद एक कुली और भी गायब हो गया । जो गोरा अफसर इन कुलियों की देखभाल करता था, उसने मुझसे कहा—'ये कुली बिल्कुल डैम-सुअर है । जितनी ही इन पर मेहरबानी करो उतनी ही ज्यादा तकलीफ ये देते हैं ।' यह सुनकर मेरे हृदय को बड़ा धक्का लगा, लेकिन इसमे अधिक दोष अपना-भारतीयों का ही है । हमारे देश के 'आरकाटी' ही इनको बहका कर विदेश भेज देते हैं और हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं ।" इस प्रकार श्री एण्ड्रूज मन, वचन और कर्म से पूरे भारतीय बन गये थे और गोरों के विशेष अधिकारों को त्यागकर सब तरह की असुविधायें सहन कर रहे थे । अफ्रीका पहुँचने पर क्या हुआ यह भी उनके ही शब्दों में सुनिये—

"जब हमारा जहाज अफ्रीका के किनारे पहुँचा तो समुद्र तट पर कितने ही भारतीय दिखाई पड़े जो हमारा स्वागत करने को इकट्ठे हुए थे । वहाँ पर श्री पोलक भी मौजूद थे, जिनसे मैं दिल्ली में मिल चुका था । उनको देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि मैं समझता था कि वे जेल में होंगे । श्री पोलक ने बताया कि 'सब नेता छूट गये हैं ।" मैंने तुरन्त पूछा—'मिस्टर गाँधी कहाँ हैं ?" महात्माजी ने, जो पास ही खड़े थे, मुस्करा कर कहा—"मैं ही मिस्टर गाँधी हूँ ।"

उनके दर्शन करते ही मेरे अन्तःकरण में यही प्रेरणा हुई कि उनकी चरण रज अपने माथे पर लगा लूँ । तुरन्त ही मैंने उनके चरण छू लिये । महात्मा जी ने मन्द स्वर से कहा—'कृपया ऐसा न कीजिये, इससे मुझे लज्जित होना पड़ता है ।' गाँधी जी सफेद धोती और कुर्ता पहने थे और उनका सिर मुंडा हुआ था । ऐसा जान पडता था मानो वे शोक-चिन्ह धारण किये हुए हैं । हम जहाज से उतरे ही थे कि अखबारों के रिपोर्टरों ने मुझे घेर लिया । मैंने जानबूझ कर चुप्पी साध ली और किसी प्रकार जान बचा कर बाहर निकल गया ।

पर यह बात चारों तरफ फैल गई कि मैंने सचमुच एक भारतवासी के पैर छू लिये हैं । फिर क्या था यूरोपियन लोग तरह-तरह से मुझे कोसने लगे । एक सम्पादक महोदय ने तो मुझे टेलीफोन पर बुलाया और कहा मैं आपसे कुछ प्रश्न करना चाहता हूँ, कृपया 'इण्टर व्यू' दीजिये । मैंने साफ इन्कार कर दिया । इस पर एडीटर साहब कहने लगे—'बहुत अच्छा, मैं आपका यह वृतान्त पत्र में छापता हूँ कि 'रेवरेण्ड' महोदय ने झुककर अपनी अँगुलियों से हिन्दुस्तानी के पैर तले की धूल मली और फिर उन अँगुलियों को अपने माथे पर रगड़ा ।' इसके बाद जो कुछ वर्णन सम्पादक जी ने टेलीफोन पर सुनाया वह इतना हास्यास्पद था कि मुझे आखिर उस सम्पादक के ऑफिस मे जाना ही पडा । वहाँ उसने मुझे अपना व्याख्यान सुनाना आरम्भ किया । बड़े आश्चर्य से दोनों हाथ उठाकर वे मुझसे कहने लगे—"सचमुच मिस्टर एण्ड्रूज ! आप विश्वास कीजिए—मैं आपसे कहता हूँ हम लोग नेटाल में ऐसा कार्य कभी नही करते । मिस्टर एण्ड्रूज, मैं आपके इस काम को अत्यन्त बुरा समझता हूँ, सचमुच बहुत बुरा ।" कुछ समय तक तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं किसी स्कूल का छोटा लड़का हूँ और एडीटर साहब उसके हेडमास्टर है और अब मेरे हाथों पर बेंत पड़ने ही वाले हैं । उन्होंने जो सवाल किये उनका उत्तर तो मुझे देना ही पडा । दूसरे दिन मैंने देखा कि उन्होंने वे सब प्रश्नोत्तर छाप दिये हैं और

साथ ही यह भी लिख दिया है कि रैवरैण्ड महोदय ने हिन्दुस्तानी के पैरों की धूल अपने मस्तक पर लगाली ।

उस समय दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों में बड़ी हलचल मची थी, क्योंकि सत्याग्रह-संग्राम को फिर से शुरू करने की बातचीत चल रही थी । अगर वह शुरू होता तो भारतीयो को फिर बडे कष्ट सहन करने पडते । इस बात की आशंका थी कि सत्याग्रहियों पर यूरोपियन लोग गोली चलावेंगे । इसलिये श्री एण्ड्रूज ने सरकार और आन्दोलनकारियों मे समझौता कराने की कोशिश की । उसी समय उनके पास तार आया कि विलायत में उनकी माता बहुत बीमार हैं और उनको वहाँ पहुँचना चाहिये । यह जानकर महात्मा गाँधी ने कहा कि "आपको सबसे पहले अपनी माता के पास पहुँच कर उनकी सेवा करनी चाहिये । हमारे शास्त्रों के अनुसार इस कर्त्तव्य-पालन से कभी विमुख नहीं होना चाहिये ।" श्री एण्ड्रूज ने कहा कि या तो मैं समझौता कराके जाऊँगा और यदि सत्याग्रह छिड़ा तो स्वय भी उसमें भाग लूँगा ।

उसी समय दक्षिण अफ्रीका में रेल वालों की एक बहुत बड़ी हड़ताल होने की घोषणा रेल कर्मचारियो के संगठन की ओर से की गई । जनरल स्मट्स ने उससे निवटने के ख्याल से भारतीय आन्दोलनकारियो से समझौता कर लेना उचित समझा और इसके लिये महात्मा गाँधी को बुलाया । यद्यपि उन दोनों में कई बातो पर मतभेद हुआ और महात्मा गाँधी वापस चले आये, पर श्री एण्ड्रूज बराबर उद्योग करते रहे और दो-तीन दिन मे समझौते पर दोनो के हस्ताक्षर करा दिये । कुछ समय बाद एक सार्वजनिक सभा में भाषण करते हुए महात्मा गाँधी ने कहा—

"मुझसे केपटाउन में अनेक लोगो ने बताया और मुझे भी इस प्रकार पूरा विश्वास है कि जिन-जिन राजनीतिज्ञों तथा प्रमुख नेताओं से श्री एण्ड्रूज मिले उन सबके हृदय को उन्होने अपनी सच्चाई से बहुत प्रभावित किया । वे यहाँ थोड़े ही दिन ठहर सके पर उसी बीच में अनेक व्यक्तियों के हृदय में कर्त्तव्यपालन का भाव प्रज्वलित कर गये ।" नि स्वार्थ कर्म का प्रभाव नि.सन्देह ऐसा ही होता है । दक्षिण अफ्रीका के गोरे यद्यपि उनके विरोधी थे तो भी उनको उस समय उनकी कर्त्तव्य-निष्ठा के आगे झुकना ही पडा । यह एक ऐसी महत्त्वपूर्ण बात है जिसका ध्यान सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वालों को रखना चाहिये । यद्यपि अधिकांश व्यक्ति राजनीति में चालाकी और तिकड़म को आवश्यक समझते हैं, पर उनका परिणाम कभी स्थायी नहीं हो सकता है । जनता का सच्चा सेवक सच्चाई से ही अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सकता है ।

## फिजी के भारतवासियों का उद्धार

दक्षिण अफ्रीका की यात्रा के पश्चात् श्री एण्ड्रूज का ध्यान शर्तबन्द प्रथा के अन्तर्गत विभिन्न टापुओं मे कष्ट सहने वाले भारतीयो के प्रति आकर्षित हो गया । उस समय देश मे फिजी के प्रवासी भारतवासियों पर अत्याचार होने के समाचार बहुत अधिक आ रहे थे । इस सम्बन्ध में आप शिमला जाकर भारत के वायसराय लार्ड हार्डिग्ज से मिले । लार्ड हार्डिग्ज बड़े सज्जन व्यक्ति थे और शर्तबन्दी की प्रथा की बुराइयो को समझते थे, पर उन्होने कहा कि भारत सरकार की तरफ से जो जाँच कमेटी इसकी जाँच करने को फिजी भेजी गई थी उसने इस प्रथा को जारी रखने की सिफारिश की है, ऐसी दशा में मैं क्या कर सकता हूँ ? श्री एण्ड्रूज ने कहा मे स्वयं फिजी जाकर जाँच करूँगा और वहाँ की रिपोर्ट आपके सामने पेश करूँगा ।

शिमला से चलकर एण्ड्रूज साहब कलकत्ता में रवीन्द्रनाथ के पास पहुँचे और उनसे इस कार्य के लिये आज्ञा और आशीर्वाद माँगा । वे इससे प्रसन्न तो बहुत हुए पर उनको यह चिन्ता थी कि श्री एण्ड्रूज अभी हाल में हैजे की बीमारी से बचकर उठे थे और काफी कमजोर हो रहे थे । फिर फिजी द्वीप की आबोहवा भी अस्वास्थ्यकर है । कुछ सोच-विचार कर उन्होने श्री पियर्सन को भी उनके साथ भेज दिया जिससे दोनों के सहयोग से काम जल्दी और अच्छी तरह पूरा हो जाये । बगाल के गवर्नर लार्ड कारमाइकेल ने भी इन लोगो के लिये आस्ट्रेलिया के कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों के लिये परिचय-पत्र लिख दिया कि—"ये दोनो सज्जन मानव-जाति की सेवा के भावों से प्रेरित होकर फिजी जा रहे है और बिल्कुल स्वतन्त्र रूप से जाँच करेंगे ।"

सन् १६१५ के आरम्भ मे दोनों सज्जन फिजी पहुँच गये और पॉलीनीशिया के विशप साहब के अतिथि बने । विशप साहब बड़े सज्जन और न्याय-प्रिय व्यक्ति थे । उन्होंने कुलियों को अपने बगले पर आकर

स्वतन्त्रतापूर्वक बात करने की इजाजत दे दी । पर श्री एण्ड्रूज और पियर्सन, दोनों के अंग्रेज होने से फिजी के अशिक्षित भारतीयों के हृदय में विचित्र भय का संचार हो रहा था । वे इन दोनों सज्जनों से पहले यही पूछते थे—"क्यों साहब, क्या आप कुली हैं ?" जब इस प्रश्न का अच्छी तरह समाधान कर दिया जाता तब वे खुलकर बातचीत करते थे । कुछ दिन बाद आप 'कलकत्ते वाले साहब' के नाम से प्रसिद्ध हो गये और दूर-दूर के व्यक्ति अपनी विपत्तियों का हाल सुनाने को आने लगे ।

फिजी में भारतीय-समाज का नैतिक पतन देखकर आपको हार्दिक दुःख हुआ और इसका वर्णन करते हुए आपने अपनी प्रथम रिपोर्ट मे लिखा—

"फिजी की भारतीय स्त्रियों का समुदाय एक ऐसी किश्ती के समान है जिसमें पतवार नहीं है, जिसका मस्तूल टूट गया है और जो चट्टानों की ओर बही चली जा रही है अथवा वे एक ऐसी डोंगी के समान है जो एक बड़ी नदी की तेज धारा मे नीचे की ओर चक्कर खाती जा रही है और जिसका कोई खिवैया नहीं है । फिजी की स्त्रियाँ एक पुरुष को छोड़कर फौरन दूसरे पुरुष के साथ चली जाती हैं और इस पति-परिवर्तन में उनको तनिक भी लज्जा अनुभव नहीं होती । वहाँ के हिन्दू-पुरुषो का समाज भी छिन्न-भिन्न हो गया है और खास बात यह है कि ग्राम्य-जीवन. वाला संगठन बिल्कुल नष्ट हो गया है । वे इस प्रकार रहते-सहते, चलते-फिरते और जीवन व्यतीत करते है, मानो कोई पृथक्-पृथक् निःसहाय व्यक्ति हों । सामाजिक संगठन का नाम-निशान नहीं रहा है, जात-पाँत बिल्कुल समाप्त हो गई है और उनके खाली स्थान को भरने के लिये कोई अन्य संस्था उत्पन्न नही है । स्त्रियों को खुले रूप से खरीदा और बेचा जा सकता है, उनके लिये लोग लड़ते हैं, परस्पर ईर्ष्या करते हैं और हत्या तक कर डालते हैं । फिजी के हिन्दू अपनी इस अवनति और दुर्दशा को जानते तथा अनुभव करते है पर वहाँ के मजदूर जीवन की स्थिति ही ऐसी दूषित है कि वे इसका कोई प्रतिकार नहीं कर सकते ।"

फिजी के दक्षिणी भाग की आबोहवा स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छी नही है, पर श्री एण्ड्रूज को अधिकांश में वहीं रह कर काम करना पड़ा । इसलिये आपका स्वास्थ्य जो पहले ही निर्बल था फिजी में अधिक परिश्रम और दौड़धूप करने से और भी बिगड़ गया । फिर भी आप अपना कर्त्तव्य-पालन करते ही रहे और जाँच का काम पूरा करके ही छोड़ा ।

फ़िजी से वापस आते समय जहाज मे ही आपने रिपोर्ट लिखना आरम्भ कर दिया । भारतवर्ष मे शासन-सभा में यह मामला शीघ्र ही पेश होने वाला था और आप चाहते थे कि उसकी रिपोर्ट छपकर सब जगह पहुँचा दी जाये जिससे कुली प्रथा के विरुद्ध लोकमत बन सके । जब जहाज आस्ट्रेलिया के सिडनी बन्दरगाह में पहुँचा तो आपको एक तार मिला कि "तुम्हारे पिता विलायत में बहुत बीमार हैं, बचने की आशा नही ।" इससे आपकी चिन्ता और भी बढ़ गई । आपको भय हुआ कि जिस प्रकार दक्षिण अफ्रीका की यात्रा के समय माँ की मृत्यु हो गई थी और अन्त समय में उसे देख न सके वही बात पिता के विषय में भी न हो । आपने उसी समय तार द्वारा विलायत को उत्तर भेजा । कुछ समय बाद खबर आई कि 'अब पिताजी की तबीयत सँभल गई है, शीघ्र कोई खतरा नहीं ।'

## प्राणों की बाजी लगा दी

दिल्ली पहुँचकर आपने लार्ड हार्डिग्ज को रिपोर्ट दिखाई । उन्होने कहा—"मैं आपकी इस रिपोर्ट के आधार पर विलायत में 'इण्डिया आफिस' को तार भेजकर शर्तबन्द-कुली प्रथा को बन्द करने की आज्ञा मागूँगा । लेकिन एक बात मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि आपका पक्ष बहुत प्रबल है, इसलिये आपको अपनी बातें कुछ घटाकर ही लिखनी चाहिये, बढाकर नही ।" उन्होंने लाट साहब की सलाह मानकर बड़ी सावधानी से रिपोर्ट लिखी । नतीजा यह हुआ कि कोई उसकी एक बात का भी खण्डन न कर सका और तो क्या फ़िजी के सरकारी अफसरों को भी उसकी सच्चाई माननी पड़ी । २१ मार्च, १६१६ को जब वायसराय ने कौंउन्सिल में कुली-प्रथा बन्द करने का निश्चय किया तो एण्ड्रूज साहब को बड़ा आनन्द हुआ । पर लार्ड हार्डिग्ज ने अपने भाषण में एक बात ऐसी कह दी थी जो सन्देहजनक थी । उन्होंने कहा था कि "अभी कुली-प्रथा के बन्द होने में कुछ देर लगेगी, किन्तु उसका अन्त होना निश्चित है ।" श्री एण्ड्रूज ने सोचा

कि दो-चार महीने की देर लग जायेगी । पर बात कुछ और ही निकली जिससे उनको फिर एक बार उस दूरवर्ती टापू की यात्रा करनी पड़ी ।

कुछ समय बाद जब वे महाकवि रवीन्द्रनाथ के साथ जापान की यात्रा को गये थे, उनको एक निजी पत्र मिला जिसमें लिखा था । विलायत के इण्डिया आफिस और कालोनियल आफिस (उपनिवेश मन्त्रालय) में यह गुप्त समझौता हो गया है कि 'अभी पाँच वर्ष तक कुलियों की भरती जारी रहेगी, उसके बाद इसको बन्द कर दिया जायेगा ।' यह पढ़कर आपको बड़ा धक्का लगा और आपने वह पत्र महाकवि तथा श्री पियर्सन को दिखाया । सबने कहा—अब क्या हो सकता है ? हमारी समझ में नहीं आता कि तुम अब क्या कर सकते हो ? पर श्री एण्ड्रूज ने निश्चय कर लिया कि चाहे कितना परिश्रम करना पड़े, खतरा उठाना पड़े, पर नारकीय-प्रथा का अन्त करके ही चैन लेंगे । इसलिये जब श्री रवीन्द्रनाथ और श्री पियर्सन अमेरिका को रवाना हुए तो वे उनके साथ न जाकर भारत लौट आये ।

यहाँ आते ही उन्होंने नये वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड को एक पत्र भेजा जिसमें इण्डिया आफिस और कालोनियल आफिस के गुप्त समझौते का जिक्र किया गया था । वायसराय साहब का उत्तर आया कि 'इस मामले पर विचार किया जायेगा ।' तीन महीने तक आप प्रतीक्षा करते रहे और फिर एक खुली चिट्ठी 'पायोनियर' मे छपाई जिसमें सरकारी पत्र का उल्लेख करके उनको शीघ्र निर्णय करने का चेलेंज दिया गया था । इसके दो-चार दिन बाद भारत सरकार की तरफ से एक विज्ञप्ति प्रकाशित की गई कि "भारतवासियो को धैर्य रखना चाहिये । लार्ड हार्डिंग्ज ने कुली प्रथा के अन्त करने की घोषणा करते हुए कह दिया था कि इसके पूर्णतया अन्त करने में कुछ समय लगेगा ।" श्री एण्ड्रूज ने समझ लिया कि सरकार की नीयत ठीक नहीं है और जब तक देशव्यापी आन्दोलन नहीं किया जायेगा तब तक वह नहीं मानेगी ।

आपने इस आन्दोलन का श्रीगणेश प्रयाग से किया । पर आप लगभग साल भर से बिना विश्राम और अपने स्वास्थ्य का ख्याल किये इस कार्य मे तन-मन से संलग्न थे । फलस्वरूप निर्बलता दूर हो ही नहीं पाती थी इसलिये प्रयाग पहुँचते ही आप अकस्मात फिर बीमार हो गये । ऐसा जान पड़ता था कि आपको फिर वहीं हैजा हो गया है । आप इस समय डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू के मकान पर ठहरे थे । एक वृद्ध डॉक्टर जिनका नाम श्री बनर्जी था आपका इलाज करने को बुलाये गये । रात में डॉक्टर साहब कई बार इनको देखने को आये और जब उन्होंने समझ लिया कि अब जान का खतरा नहीं है तभी वे सोये ।

दूसरे दिन सुबह श्री एण्ड्रूज को अपनी तबीयत कुछ ठीक जान पड़ी और वे चाहते थे कि कुली-प्रथा के उन्मूलन का समारम्भ शुरू होते समय वहाँ अवश्य उपस्थित रहें, पर डॉक्टर बनर्जी ने उनको रोक दिया, क्योंकि ऐसा करने से प्राणों का पूरा खतरा था । ईश्वर की कृपा से उसी दिन श्रीमती सरोजिनी नायडू प्रयाग पधारीं । श्री एण्ड्रूज ने उनके पास सन्देश भेजा था, जिसका समस्त देश में बड़ा प्रभाव पड़ा । श्री एण्ड्रूज यद्यपि उठ नहीं सकते थे । तो भी उन्होंने बिस्तर पर पड़े-पड़े ही फिजी की शर्तबन्दी में बँधी स्त्रियों की मुक्ति के लिये एक प्रार्थना भारतीय स्त्रियों के नाते स्वतन्त्रता के वास्ते तैयार कराई । यह कई प्रान्तीय भाषाओं में छपाई गई और पचास हजार प्रतियाँ तो केवल प्रयाग में ही बाँटी गईं । उस समय प्रयाग में माघ मेला हो रहा था इससे ये पर्चे दूर-दूर तक पहुँच गये । इस प्रकार संयुक्त प्रान्त में कुली प्रथा के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन खड़ा हुआ और उसकी जड़ हिल गईं ।

कुलियों की भर्ती विशेषत: दो ही प्रान्तों में होती थीं—संयुक्त प्रान्त और मद्रास । इसलिये संयुक्त प्रान्त में कार्य आरम्भ करके श्री एण्ड्रूज साहब मद्रास को रवाना हुए । वहाँ उन्होंने श्रीमती ऐनीबेसेन्ट को फिजी की स्त्रियों की दुर्दशा की बातें सुनाईं, जिन्हें सुनकर वे क्रोध और दुःख से विह्वल हो गईं और उन्होंने लिखा—'यदि जो कुछ श्री एण्ड्रूज ने कहा है वह सत्य है, तो बेहतर है कि हम सब जेल चले जायें पर इस शर्तबन्दी कुली प्रथा को न रहने दें । श्रीमती बेसेन्ट और 'हिन्दू' के सम्पादक श्री कस्तूरंग अटयर की सहायता से मद्रास में भी घनघोर आन्दोलन होने लगा । वहाँ से पूना जाकर आपने लोकमान्य तिलक और डॉ. भण्डारकर की सेवा में प्रवासियो के उद्धार की

प्रार्थना की । पूना की सभा में मुख्यवक्ता लोकमान्य तिलक ही थे और उनके प्रभाव से वहाँ कुली प्रथा को मिटाने के लिये एक संस्था की स्थापना कर दी गई ।

पूना से अहमदाबाद पहुँचकर भी एण्ड्रूज ने महात्मा गाँधी को सब हाल सुनाया । महात्मा जी ने यह सारा हाल सुनकर कहा—"मैं सब कामों को छोड़कर इस समय तुम्हारे आन्दोलन को चलाने का प्रयत्न करूँगा ।" वहाँ की सार्वजनिक सभा में फिजी के अभागे भारतीयों की दुःख गाथा सुनाते हुए अन्त में श्री एण्ड्रूज ने कहा—"गुजराती माताओ और सज्जनो ! आज मैं आपके नगर में यह बात स्पष्ट कह देना चाहता हूँ, कि मैंने जो कुछ निवेदन किया है, घटनायें सुनाई हैं, वे सब प्रमाणों के आधार पर हैं । मैं उन सबको प्रत्यक्ष देखकर आया हूँ । मेरी आत्मा को कुली प्रथा के इन पाप-कर्मों से बड़ी चोट पहुँची है । अगर इन दुराचारियों की बात जान लेने के बाद एक भी भारतीय स्त्री फिजी को भेजी जाये तो इसकी जिम्मेदारी भारत सरकार और भारतीय जनता की होगी । एक समय ऐसा आता है जब राजनीति और कानून की बातें उठाकर दूर रख दी जाती हैं और परमात्मा के सत्य आदेश के अनुसार काम करना पड़ता है । अब वही समय आ गया है, वैसा ही अवसर हमारे सामने उपस्थित हुआ है ।"

श्री एण्ड्रूज के देशव्यापी आन्दोलन और जोशीले भाषणों से भारत सरकार घबरा गई और उसने उनको भारत रक्षा कानून के अनुसार नजरबन्द करने का विचार किया । उनको तार देकर दिल्ली बुलाया गया । पहले तो वायसराय ने उनके कार्य पर बहुत नाराजगी प्रकट की, पर सब बातें सुनकर उन्होंने कुली प्रथा को शीघ्र बन्द कराने का वायदा किया । श्री एण्ड्रूज ने ऐसी व्यवस्था की कि महात्मा गाँधी वायसराय से मिलकर इस सम्बन्ध में बातचीत करें । यह बातचीत आशाजनक थी, पर आपने अपना आन्दोलन बन्द नहीं किया और घोषणा कर दी कि ३१ मई सन् १९१७ तक कुली प्रथा अवश्य बन्द हो जानी चाहिये, नहीं तो उसके बाद सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ करेंगे ।

अपनी घोषणा को वास्तव में पूरा करने और अपना मामला और भी जोरदार ढंग से देश के सामने रखने के उद्देश्य से आप फिर फिजी गये । इस बार वहाँ के गवर्नर ने आपको फिजी से निकाल देने की धमकी दी क्योंकि आपके आन्दोलन से चारों तरफ फिजी की चर्चा और आक्षेप होने लगे थे । फिर भी आप अपना काम करते रहे और पहली बार की अपेक्षा बहुत अधिक बातें मालूम करके वापस लौटे । रास्ते में आस्ट्रेलिया ठहर कर वहाँ भी इस सम्बन्ध में भाषण दिये । आस्ट्रेलिया की स्त्रियों ने मिलकर मिस गार्नहम नाम की विदुषी महिला को स्वतन्त्र रूप से जाँच करने को फिजी भेजा । मिस गार्नहम की जाँच से बड़ा लाभ हुआ, क्योंकि उसकी रिपोर्ट से श्री एण्ड्रूज की सब बातों का समर्थन हो गया और उनके अंग्रेज विरोधियों को चुप हो जाना पड़ा ।

इस दूसरी यात्रा में फिजी सरकार की कॉउन्सिल का 'पत्र नं. ५४' श्री एण्ड्रूज के हाथ लग गया । इस पत्र में एक बड़ा भयंकर वाक्य यह था—'जबकि शर्तबन्दी एक हिन्दुस्तानी स्त्री को तीन शर्तबन्दी पुरुषों तथा इनके सिवा कितने ही बाहर वालों का भी काम चलाना पड़ता है, तो परिणामस्वरूप गर्मी और सुजाक की बीमारियाँ फैलने में सन्देह किया ही नहीं जा सकता है ।" इस अकेले वाक्य ने कुली प्रथा का अन्त कराने में श्री एण्ड्रूज की बड़ी सहायता की । फिजी से लौटकर आप दिल्ली गये । वहाँ आपने वायसराय और भारत-सचिव मॉंटेग्यू से जो उन दिनों भारत आये हुए थे, मुलाकात की । आपने फिजी कॉउन्सिल का पत्र 'नं. ५४' का कागज उनको दिखलाया । इस वाक्य को पढ़कर मॉंटेग्यू साहब कह उठे—"बस अब रहने दीजिये । यह वाक्य ही काफी है । इससे अधिक कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं ।"

अन्त में श्री एण्ड्रूज के अकथनीय परिश्रम और प्रयत्नों के फलस्वरूप २५ मई, १९१७ को भारत सरकार ने एक विशेष आदेश द्वारा इस कलंकपूर्ण कुली प्रथा का सदा के लिये अन्त कर दिया । इसी दिन से फिजी के भारतवासियों की दशा बदलने लगी । वहाँ के जो गोरे प्लैंटर (गन्ने की खेती करने वाले) शर्तबन्द कुलियों का शोषण करके धन कमा लेते थे, उनका धन्धा बन्द हो जाने से वे फिजी को छोड़कर चले गये और वहाँ की शासन-व्यवस्था धीरे-धीरे भारतवासियों के हाथ में ही आ गई, जिससे वह भारत के एक स्वतन्त्र उपनिवेश की तरह बन गया ।

शर्तबन्द भारतीय कुलियों के लिये भारत में कई वर्षों से आन्दोलन हो रहा था और श्री तोताराम सनाढ्य की 'फिजी द्वीप मे मेरे २१ वर्ष' नामक पुस्तक ने जनता में एक असन्तोष और रोष की लहर फैला दी थी, तो भी किसी का इतना साहस न था कि फिजी टापू मे जाकर जाँच पड़ताल कर सके और सब घटनाओं के प्रमाण इकट्ठे करके सरकार पर दबाव डाल सके। श्री एण्ड्रूज परिश्रम और कष्ट सहन की कुछ परवाह न करके जब इस कार्य में कूद पड़े और 'कार्य को पूरा करेंगे या इसी में अपने को खपा देंगे' यह प्रण कर लिया तब कहीं जाकर इस पैशाचिक प्रथा से हमारा पीछा छूट सका। जो कोई अपने से सर्वथा अनजान और भिन्न जातीय मनुष्यों के उद्धार के लिये इस प्रकार आत्म-बलिदान करने को प्रस्तुत हो जाता है उसे 'महामानव' के सिवाय और क्या कहा जा सकता है? यदि श्री एण्ड्रूज और कोई कार्य न करके केवल एक यही कार्य कर गये होते तो भी वे युग-युग के लिये हमारे वन्दनीय माने जाते।

## मार्शल-लॉ के समय सहायता

सन् १६१६ के अप्रैल मास में महात्मा गाँधी सविनय कानून भंग और असहयोग आन्दोलन के सिलसिले में पंजाब में भयंकर घटनायें हुईं और जलियाँवाला बाग का जो कत्लेआम हुआ वह भारतवर्ष के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा। जैसे ही पंजाब के अत्याचारों की खबर देश में फैली मि. एण्ड्रूज शान्ति-निकेतन से पंजाब के लिये रवाना हो गये पर रास्ते में ही दिल्ली वालों ने आपको रोक लिया क्योंकि वहाँ की हालत भी बड़ी संकटपूर्ण हो रही थी। ऐंग्लोइण्डियन पत्र उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध विष वमन कर रहे थे और सरकार से कह रहे थे कि दिल्ली में भी मार्शल-लॉ जारी किया जाये। आपने हकीम अजमल खाँ, डॉक्टर अंसारी, स्वामी श्रद्धानन्द के साथ मिल कर कठोर परिश्रम किया, तब कहीं जाकर दिल्ली की अवस्था सँभल सकी। पंजाब में उस समय फौजी अधिकारियों की आज्ञा के बिना कोई नही जा सकता था। आप इसके लिये शिमला गये, पर वायसराय ने मिलना अस्वीकार कर दिया। कुछ दिन बाद अफगान युद्ध शुरू हो जाने पर वायसराय से आपकी भेट हो सकी, पर उनका और समस्त सरकारी अधिकारियों का बर्ताव बड़ा रूखा था। वायसराय ने कटाक्ष करते हुए कहा—"भारतवर्ष में अंग्रेज मात्र का जीवन पवित्र है। किसी हिन्दुस्तानी का अंग्रेज पर हाथ उठाना घोर अपराध है। भारत में अंग्रेजों की जीवन-रक्षा के लिये जो कुछ सम्भव है वह मैं अवश्य करूँगा। पंजाब में नौ अंग्रेज मारे जा चुके हैं और आप भी एक अंग्रेज हैं। मैं नहीं समझता कि आप इस बात को किस प्रकार भूल सकते हैं?"

बड़ी कठिनाई से शिमला के अधिकारयों ने आपको पंजाब जाने की अनुमति दी। पर जैसे ही आप अमृतसर पहुँचे जनरल डायर के सिपाहियो ने आपको गिरफ्तार कर लिया। दिन भर दो गोरे सिपाही बन्दूक लेकर आप पर पहरा देते रहे। संध्या होने पर आपको पंजाब से बाहर निकल जाने का हुक्म दिया गया। इस प्रकार पकड़े जाने से यद्यपि आपका बड़ा अपमान हुआ, पर आपने इसकी परवाह नहीं की। आपने भारत को मातृभूमि ही मान लिया था और उसकी सेवा करते हुए जेल भी जाना पड़े तो आप उसके लिये तैयार रहते थे।

मार्शल-लॉ समाप्त हो जाने पर आप पंजाब गये तो अत्याचार पीड़ित व्यक्तियों की सहायतार्थ बहुत काम किया। लाहौर के कितने ही विद्यार्थी शिक्षा संस्थाओं से निकाल दिये गये थे। आपने समाचार-पत्रों मे कई लेख लिखकर उनको फिर स्थान दिलवाया। गुजरान वाला के निवासियों पर जो भारी जुर्माना हुआ था उसे अपने बहुत कुछ घटवा दिया और विधवाओ तथा असमर्थों के लिये बिल्कुल माफ करवा दिया। इसके बाद आप गाँव-गाँव घूमकर लोगों की कष्ट कथा सुनने और उनको सान्त्वना देने लगे। वहाँ के स्त्री पुरुष उनके पैर छूकर कहते 'तू साडा रब है' (तू हमारा भगवान है।) श्री एण्ड्रूज के मुख पर जो गम्भीर शान्ति और धार्मिकता टपकती थी उसी से इन व्यक्तियों में ऐसा भक्ति-भाव उमड़ पड़ता था।

आपने पंजाब मे कितना काम किया और कितने लोगो की सहायता की उसका पूरा हाल कोई नहीं जानता। कुछ तो अपने स्वभाव से और कुछ तत्कालीन कठोर सरकारी नियन्त्रण के कारण उन्होने अपना कार्य चुपचाप ही किया था, तभी उनके सम्बन्ध मे महात्मा गाँधी ने लिखा था—"श्री एण्ड्रूज ने पंजाब की जो

सेवायें की हैं उनका अनुमान कर सकना असम्भव है । उनके सम्बन्ध में यह कहावत पूरी तरह चरितार्थ होती है कि उनका दाहिना हाथ नहीं जानता कि बाँये हाथ ने किसकी क्या भलाई की ।"

श्री एण्डूज जब तक जीवित रहे उनकी सेवा का कार्य इसी प्रकार जारी रहा । कभी वे भारतीयों की सहायतार्थ पूर्वी अफ्रीका दौड़कर जाते, कभी कलकत्ते के हड़तालियों की सहायता करने को पहुँच जाते, कभी असम के कुलियों को उनके घरों तक भेजने के लिये रेल वालों से स्वीकृति लेते फिरते । गरीबों के कष्टों को देखकर इतने द्रवित हो जाते थे कि अपने हानि-लाभ और कठिनाइयों का ख्याल किये विना तुरन्त उनकी सहायता करने को दौड़ पड़ते थे ।

## सेवा ही सबसे बड़ा धर्म है

श्री एण्डूज उन व्यक्तियों में से थे जो केवल पूजा, उपासना तथा अन्य धार्मिक रूढ़ियो के बजाय 'सेवा' को ही सर्वोच्च मानते हैं । जैसा भारतीय शास्त्रों में कहा गया है 'परोपकाराय सतां विभूतयां' वे आजीवन इसी आदर्श पर चलते रहे । उनका सेवा-क्षेत्र किसी विशेष श्रेणी तक सीमाबद्ध नहीं था, वरन् जो कोई सेवा, सहायता का पात्र उनकी दृष्टि में आ जाता उसी का कष्ट मिटाने के लिये वे उठ खड़े होते थे ।

भाई परमानन्द को राजनैतिक षड्यन्त्र के अभियोग मे काले पानी की सजा हुई थी । सरकार ने उनके घर की सब वस्तुयें भी जब्त कर ली थीं । इससे उनकी स्त्री और बच्चे बड़े कष्ट में जीवन बिता रहे थे । इस तरह के 'सरकार के विरोधी' या 'विद्रोही' की कोई सहायता करने की हिम्मत भी नही करता था, क्योंकि उसे भय रहता था कि ऐसा करने में मैं सरकारी अधिकारियो तथा पुलिस की कुदृष्टि का शिकार बन जाऊँगा । पर श्री एण्डूज को जब इस परिस्थिति का पता लगा तो वे नि.संकोच भाव से तुरन्त वहाँ पहुँचे और सब बातो का पता लगाकर कई पत्रों में भाई जी का पक्ष-समर्थन करते हुए एक लेख प्रकाशित कराया जिसमें कहा गया था—

"लाहौर में ऐसी कितनी ही छोटी-छोटी गलियाँ हैं जिनके नीचे के कमरों में सूर्य का प्रकाश कभी नही पहुँचता । इसी तरह की एक गली में और इसी तरह के एक प्रकाशहीन छोटे से कमरे में मैंने अभी भाई परमानन्द को स्त्री और उनके दो बच्चों को देखा है ।

"वह कमरा बहुत ही छोटा था । गर्मी की वहाँ भरमार थी और अन्धकार का तो पूछना ही क्या ? यही उस बिचारी का घर था । निर्धनता का वहाँ साम्राज्य था । भाई परमानन्द की स्त्री गोद में अपने बीमार बच्चे को लेकर बैठी थी । उसके पास ही दूसरा बच्चा बैठा था जो बिलकुल दुर्बल, निर्जीव और पीला था । उसकी माता ने कहा-छः महीने हुए मेरी बड़ी लड़की तपेदिक से मर गई और अब इस बच्चे को भी जीर्णज्वर आने लगा है ।" उसका करुणोत्पादक स्वर सुनकर मेरा हृदय भर आया ।

'पूछ-ताछ करने पर पता चला कि वह कुल १७ रु. मासिक पर अपनी गुजर कर रही है । वह आर्य समाज के एक वर्नाक्यूलर स्कूल में पढ़ाती थी । चार वर्ष से इसी प्रकार अपने कुटुम्ब का पालन कर रही थी ।'

भाई परमानन्द के सम्बन्ध में श्री एण्डूज के इस लेख से एक आन्दोलन उत्पन्न हो गया। इस सम्बन्ध मे वे कई बार सरकारी अफसरो से भी मिले । अन्त में पंजाब के छोटे लाट सर एडवर्ड मैकलीगन ने उनकी सिफारिश की और भाई परमानन्द जी काले पानी से छूट आये । वे शान्ति निकेतन मे श्री एण्डूज का दर्शन करने आये और उन्होंने कहा—"एण्डूज सचमुच बड़े तपस्वी है और उन्होने मेरे साथ बड़ा उपकार किया है ।"

इसी प्रकार पंजाब के प्रसिद्ध राष्ट्रीय-पत्र 'ट्रिब्यून' के सम्पादक श्री कालीनाथ राय को जब जेल हो गई तो उनके छुटकारे के लिये भी श्री एण्डूज ने बड़ी दौड़-धूप की और बड़ा प्रयत्न करके उनको छुड़ाया । इस अवसर पर लाला लाजपतराय ने जो उस समय अमेरिका मे थे, वहाँ से श्री कालीनाथ राय के मुकदमे मे सहायतार्थ एक हजार रुपये भेजते हुए महात्मा गाँधी को लिखा—

"कृपया श्री एण्डूज को मेरी तरफ से लिख दीजिये कि पंजाबियों की सहायता के लिये जो आदरपूर्ण कार्य वे कर रहे है उसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ । मै चाहता हूँ कि वे मेरे हृदय के भावों से परिचित हो जाये । परमात्मा करे कि इंग्लैण्ड में उनकी श्रेणी के, उनके जैसे मस्तिष्क और आत्मा के मनुष्य अधिकाधिक उत्पन्न हो ।"

जब वे पंजाब में काम कर रहे थे, दक्षिण अफ्रीका और पूर्वी अफ्रीका में प्रवासी भारतवासियों की स्थिति दिन पर दिन खराब होती जाती थी। वहाँ के समाचार पाकर महात्मा गाँधी जी ने श्री एण्ड्रूज से कहा "या तो आपको या मुझे दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ेगा।" उन्होंने कहा—"यदि आपकी ऐसी ही आज्ञा है तो मैं जाने के लिये तैयार हूँ।" उस समय महात्मा गाँधी को पंजाब जाने की अनुमति मिल गई थी और मालवीय जी तथा पं. मोतीलाल नेहरू भी वहाँ पहुँच गये थे। इसलिये श्री एण्ड्रूज ने पंजाब का कार्य छोड़कर अफ्रीका जाने का निश्चय कर लिया। उनको विदा करने के लिये लाहौर के ब्राडला हॉल में बड़ी विशाल सभा हुई। सभापति के आसन से श्री मालवीयजी ने कहा—"श्री एण्ड्रूज भारत के सच्चे बन्धु हैं। उन्होंने इस विपत्ति के समय हमारी बड़ी सहायता की है।"

श्री एण्ड्रूज सच्चे अर्थों में 'मानवतावादी और परोपकार-धर्म' के अनुयायी थे। जिस समय वे भारतवर्ष में आये, यहाँ पर अंग्रेजी सरकार की शक्ति और प्रभाव पूरे जोर पर था और यहाँ की साधारण जनता गोरे लोगों को किसी दिव्य लोक के निवासियों की तरह विशेष प्राणी समझा करती थी। अधिकांश गोरे भी अपने को यहाँ के लोगों की अपेक्षा बहुत 'ऊँचा' समझ कर यथासम्भव उनके सम्पर्क से दूर रहते थे। श्री एण्ड्रूज को भारत में आते ही उन लोगों ने यही शिक्षा दी थी कि 'नेटिव' (भारतीय) लोगों से ज्यादा घनिष्ठता कभी न बढ़ाना, अन्यथा अंग्रेजों की उनके ऊपर जो 'धाक' जमी हुई है, उसको धक्का लगेगा। पर श्री एण्ड्रूज ने कभी इस 'नेक सलाह' पर ध्यान न दिया और महात्मा ईसा के उपदेशानुसार 'मानव-सेवा' को ही सबसे बड़ा सत्कर्म, चाहे वह संसार के किसी भी भाग में और किसी भी जाति के व्यक्ति की क्यों न हो। उनकी इस महानता को इस देश के प्रधान नेताओं ने अच्छी तरह समझ लिया था और वे इनका हार्दिक सम्मान करते थे। स्वयं महात्मा जी से जब श्री एण्ड्रूज के जीवन-चरित्र की भूमिका लिखने को कहा गया तो उन्होंने उत्तर दिया था—

'श्री एण्ड्रूज और मेरे बीच सगे भाइयों से भी अधिक घना सम्बन्ध है, इसलिये जीवनी की भूमिका लिखना मेरे लिये सहज नहीं है। फिर भी मैं इतना कह सकता हूँ कि इस समय उनसे बढ़कर सच्चा और विनीत दूसरा कोई भारत भक्त विद्यमान नहीं है।'

महामना मालवीय जी का भी एण्ड्रूज साहब से बड़ा प्रेम था। श्री एण्ड्रूज कहते थे कि प्रवासी भारतवासियों के सेवा-कार्य में श्री गोखले के बाद मुझे सबसे अधिक सहायता मालवीय जी से ही मिली है। इस कारण इन दोनों में बड़ी घनिष्ठता हो गई थी और आगे चलकर पंजाब में 'मार्शल-लॉ' के अत्याचार पीड़ित व्यक्तियों की सेवा करते हुए भी मालवीय जी से उनको बहुत अधिक सहायता मिली थी।

वास्तव में श्री एण्ड्रूज के मन में से जाति और देश के अन्तर की भावना सर्वथा मिट गई थी और वे एक सच्चे अध्यात्मवादी की तरह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त का क्रियात्मक रूप में पालन करते थे जीवन के अन्तिम वर्षों में वे प्रायः श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्ति निकेतन में रहकर ही अध्यापन कार्य करते रहे। वे वहाँ धोती-कुर्ता पहन कर बंगाली की तरह ही रहते थे। जब ७७ वर्ष की आयु में कलकत्ते में उनका देहान्त हुआ तो उनकी शवयात्रा में हजारों भारतीयों ने सम्मिलित होकर जिस प्रकार हार्दिक भावना से श्रद्धांजलि दी उसे देखकर सबके मुख से यही निकल रहा था—"श्री एण्ड्रूज भारत माता के सबसे सच्चे पुत्र थे।"

# निष्काम सेवाव्रती : महापुरुष मेजिनी

संसार के अनेक देशों में इटली का देश ऐसा है जिसकी कई दृष्टियों से भारतवर्ष के साथ तुलना की जा सकती है। जिस प्रकार का प्राचीन इतिहास महत्त्वपूर्ण माना जाता है और उसे 'जगद्गुरु' की पदवी प्रदान की जाती है। उसी प्रकार इटली का रोमन-साम्राज्य भी संसार में महान माना जाता है और वर्तमान यूरोप की उन्नतिशील सभ्यता तथा संस्कृति का मूलस्रोत उसी को स्वीकार किया जाता है। आज से दो-ढाई हजार वर्ष पहले ही उसका शासन समस्त यूरोप में ही नहीं एशिया के भी कुछ भागों में कायम

हो गया था और उसका व्यापारिक सम्बन्ध भारतवर्ष से भी जुड़ गया था । भारतवर्ष के बने कीमती वस्त्र तथा उपभोग की अन्य सामग्रियाँ रोम की स्वर्ण मुद्राओ के बदले में खरीदी जाकर वहाँ के बाजारों मे पहुँचाई जाती थी । आज जो इग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मन आदि देश ससार में प्रधान बने हुए है वे सब उसके आधीन थे और सच पूछा जाये तो इनको अर्द्धसभ्य दशा से निकाल कर सभ्यता तथा उन्नति का पाठ पढ़ाने वाले रोमन लोग ही थे ।

पर समय ने पलटा खाया, रोमन साम्राज्य सुखोपभोग में लिप्त होकर निर्बल हो गया और अधिक शक्तिशाली नवीन जातियों ने बार-बार आक्रमण करके उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया । इसके पश्चात् इटली के दिन गिरते गये और ऐसा समय आया जब वह अनेक देशी और विदेशी शासको में बँटकर तीन-तेरह हो गया । अब मे डेढ़-दो सौ वर्ष पहले जिस प्रकार भारतवर्ष सैकड़ो टुकड़ो मे बँटा हुआ था, जो आपस में ही सदा लडते-भिड़ते और देश को बर्बाद करते रहते थे, उसी प्रकार इटली के बड़े-छोटे शासक एक-दूसरे को दबाने की कोशिश करते रहते थे, जिससे उसकी हानि होती रहती थी और वहाँ की जनता की दशा निरन्तर दयनीय होती जाती थी ।

## मानवता का प्रेमी

ऐसे ही युग मे मेजिनी का जन्म (सन् १८०५) इटली के जिनोआ नगर मे हुआ । उसका बाप एक सामान्य श्रेणी का डॉक्टर था । उसकी माँ बहुत समझदार स्त्री थी और अपनी सन्तानो को सभ्य नागरिक बनाने का ध्यान रखती थी । मेजिनी बचपन में बहुत कमजोर था, जिसके कारण वह छ. वर्ष की आयु में थोड़ा चलने-फिरने योग्य हुआ । जब प्रथम बार उसकी माँ उसे अपने साथ घर से बाहर घुमाने को ले गई तो एक विशेष घटना हुई । थोड़ी दूर चलकर ही मेजिनी ने 'गिरजाघर' की सीढियों पर एक बुड्ढे फकीर को बैठे देखा और वही खड़े होकर उसे ताकने लगा । वह उसे देखने में ऐसा तन्मय हो गया कि उसकी माँ को डर लगा कि शायद फकीर के मैले-कुचैले वेश तथा डण्डे आदि को देखकर वह डर गया है । वह उसे गोद मे उठाने लगी पर मेजिनी दौड़कर बुड्ढे के गले से लिपट गया और अपनी माँ से आग्रह करने लगा कि 'इसे कुछ दे दो ।' उसकी ऐसी भावना देख कर बुड्ढे फकीर की आँखो में आँसू भर आये और वह उसकी माता से कहने लगा—"तुम इस बच्चे को खूब स्नेह से पालो, क्योंकि यह मानव-जाति मे प्रेम करने वाला बनेगा ।" उसका यह कथन आगे चलकर अक्षरश. सत्य सिद्ध हुआ ।

स्कूल और कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करते समय भी उसमें ऐसे ही लक्षण दिखाई दिये थे । वह अपने खर्चे में कमी करके और कई तरह की असुविधा सहन करके रुपया बचाता और उससे गरीब विद्यार्थियों के लिये पुस्तकें, कपड़े आदि की सहायता करता था । वहाँ पर उसका चरित्र भी ऐसा निर्मल और न्याय-नीति युक्त रहता था कि कॉलेज के अधिकांश विद्यार्थी उसे नेता के रूप में देखते थे और उसके सामने कोई असभ्यता अथवा फूहड़पन की बात मुँह से नही निकालते थे ।

मेजिनी मे यह उदारता तथा परोपकार की वृत्ति आजन्म स्थिर रही और यह एक ऐसी विशेषता थी जो अन्य राजनीतिक नेताओं में कम पाई जाती है । इससे हम यह समझ सकते हैं कि चाहे दुनियादार लोग प्रत्यक्ष शक्ति, प्रभाव, आर्थिक सफलता की ही पूजा करते रहें, पर मानवता की सच्ची भावना उससे कही अधिक महत्त्वपूर्ण है । आर्थिक सफलता छाया की तरह अस्थायी होती है और राजनीतिक सफलता उससे भी अधिक क्षणभंगुर होती है, पर दीन-दु.खियों से, अन्याय पीड़ितो से हार्दिक सहानुभूति रखना और उनकी सहायता के लिये अपने से जो कुछ भी बन पड़े वह निरन्तर करते रहना बहुत बड़ी चीज है । लोग बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित करने वालो, राजनैतिक नेताओं को कुछ समय बाद भूलने लग जाते है अथवा उनका उल्लेख केवल इतिहास की पुस्तको मे होने लगता है, पर मेजिनी की तरह के मानव-सेवा की भावना रखने वालो पर सर्वसाधारण का प्रेम बढ़ता ही जाता है, यहाँ तक कि उनके देहावसान के बाद भी उसमें कोई अन्तर नही आता । अनेक बार तो ऐसे लोगों का वास्तविक महत्त्व उनके जीवन-काल के पश्चात ही अनुभव होने लगता है ।

अपने देश मे भी हम इस प्रकार के उदाहरण देख सकते हैं । महात्मा गाँधी यद्यपि राजनीतिक नेता

के रूप में ही प्रसिद्ध हुए, पर उनका प्रभाव जो अभी तक स्थिर है और सम्भवतः कुछ समय आगे चलकर उनको इससे भी अधिक मान्यता प्राप्त हो तो उसका कारण यही है कि उनमें मानवता की सेवा की सच्ची भावना बहुत अधिक मात्रा में मौजूद थी और उन्होंने उसको कार्य रूप में परिणत करके दिखाया। इसके विपरीत उन्हीं के समकालीन अन्य ऐसे नेता हुए जो विद्या, बुद्धि, शक्ति में उनसे बढ़े-चढ़े थे और उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में नाम भी बहुत कमाया, परन्तु देहावसान के पश्चात् उनका प्रभाव क्रमशः घटता ही गया। कारण यही है कि राजनीति एक सामयिक खेल है जिसकी अधिक प्रशंसा उसी समय तक होती है जब तक दर्शक उसे देखते रहते हैं। पर मानव-सेवा, परोपकार की वृत्ति, परमार्थ की भावना से दूसरे के लिये आत्मत्याग की भावना आदि ऐसे गुण हैं, जिनके लिये जन-समुदाय चाहे तत्काल 'ताली न बजाय' पर जिनकी महत्ता लोगो के हृदय में घर कर जाती है और धीरे-धीरे बढ़ती हुई पल्लवित, पुष्पित और फलदायक होती दिखलाई पड़ती है। यदि पाठक ध्यानपूर्वक देखें तो उनको भारतीय ऋषि, महर्षि, गौतमबुद्ध, ईसा, जरदुश्त, मुहम्मद आदि धर्म-संस्थापकों अथवा अपने युग के सच्चे 'जननेताओं' के चरित्र में यही विशेषता भरपूर मात्रा में मिलेगी।

## सार्वजनिक जीवन में प्रवेश

शिक्षा प्राप्त करते समय मेजिनी का जीवन एक आदर्श विद्यार्थी की तरह रहा। वह बिना किसी तरह शौक या व्यसन की तरफ ध्यान दिये एकमात्र अपनी पढ़ाई में दत्तचित्त रहा। अपने पिता के प्रभाव से उसने पहले डॉक्टरी की शिक्षा प्राप्त करने का विचार किया पर मेडिकल कॉलेज में जाते ही मालूम हो गया कि उसका कोमल और सहानुभूतिपूर्ण हृदय इस कार्य के योग्य नहीं। चीर-फाड़ से उसको हार्दिक विरक्ति थी और जब वह ऐसे दृश्य देखता तो वह प्रायः स्वयं बीमार हो जाता। इसलिये उसके अभिभावकों ने उसको डॉक्टरी कॉलेज से हटाकर वकालत की शिक्षा प्राप्त करने भेजा और पाँच वर्ष मे परीक्षा पास करके उसने वकील की सनद प्राप्त करली। उसके माता-पिता को तो आशा थी कि वह अब इस पेशे में नामवरी हासिल करके अन्य बड़े वकीलों की तरह अमीरी और वैभव का जीवन व्यतीत करेगा, पर मेजिनी के भाग्य में कोई दूसरी ही रेखा जोर पकड़ रही थी। जिसने उसे एक प्रसिद्ध अदालती वकील बनने के बजाय जनता का वकील बना दिया और गरीबी में जीवन काटने पर भी इतनी नामवरी हासिल करा दी कि आज उसको मरे सौ वर्ष बीत जाने पर भी उसका यश अपने देश में ही नहीं समस्त संसार में फैला हुआ है।

विद्यार्थी अवस्था से ही मेजिनी को अपने देश की पराधीनता खटकने लगी थी। विदेश और अपने देश के भी निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासकों का इटली की जनता के प्रति किया जाने वाला व्यवहार उसे अपमानजनक मालूम होने लगा था। इसलिये उसका ध्यान राजनीतिक आन्दोलन की तरफ जाने लगा और कुछ ही समय में वह 'कार्बोनेरी' नामक गुप्त-संस्था का सदस्य बन गया। इसका उद्देश्य सरकार का विरोध करना और विद्रोह के लिये हथियार आदि इकट्ठा करना था। आरम्भ मे इसके सदस्यो ने कुछ साहसपूर्ण काम करके देश में अपना प्रभाव जमा लिया था। उनमे से कितनो ने ही फाँसी की सजा पाई, कितने ही देश से निर्वासित कर दिये गये। अपने इस प्रकार के कष्ट सहने तथा देशभक्ति के द्वारा उन्होंने जनता में सम्मान प्राप्त कर लिया था पर क्राति की चेष्टाओं में असफल हो जाने से अब उसका काम ढीला पड़ गया था और अब उसके नेता अपना मुख्य-कार्यालय इटली से उठाकर फ्रांस ले गये थे और वही के इटालिन निवासियों में उसका विशेष रूप से प्रभाव था।

मेजिनी इस संस्था की वास्तविक अवस्था को समझता था और उसकी कार्य-प्रणाली से सन्तुष्ट न था। पर चूँकि उस समय और कोई संस्था न थी जो देश को पराधीनता के बन्धनो से छुड़ाने का प्रयत्न कर रही हो, इसलिये उसने इस संस्था में सम्मिलित होकर ही काम करना उचित समझा। इसमे शामिल होने के लिये सदस्यों को एक विशेष परीक्षा देनी होती थी और उसकी समस्त कार्यवाही गुप्त रखी जाती थी। प्रत्येक सदस्य को केवल दो-तीन सदस्यो का ही परिचय प्राप्त हो सकता था और कार्य सम्बन्धी आदेश सदैव गुप्त रीति से दिये जाते थे। मेजिनी इतनी अधिक गुप्त कार्यवाही को ठीक नही समझता था, पर एक संगठन

के भीतर रहकर काम करने के महत्त्व को समझते हुए उसने इस एक संस्था में नाम लिखा लिया ।

इस संस्था में सदस्यों को चन्दे की जो रकम देनी पड़ती थी वह मेजिनी को अपनी हैसियत को देखते हुए बहुत अधिक जान पड़ती थी । फिर भी वह देश के कार्य के लिये देना पड़ता था इसलिये वह उसकी शिकायत नही करता था । उसका कहना था कि "किसी बुरे काम के लिये रुपया देना और जमा करना बुरा है, पर किसी अच्छे काम के लिये लालच या लोभ के कारण रुपया न देना उससे ज्यादा बुरा है ।"

## मेजिनी की गिरफ्तारी

कुछ समय पश्चात 'कार्बोनेरी' ने मेजिनी को एक विशेष कार्य के लिये आदेश दिया, पर खुफिया पुलिस को इसका पहले से ही पता लग गया और मेजिनी गिरफ्तार करके 'सैबोना' के किले में बन्द कर दिया गया । जब उसके पिता ने इस सम्बन्ध मे सरकारी अधिकारियो से पूछ-ताछ की तो उसे उत्तर मिला कि "तुम्हारा बेटा एक ऐसा होनहार नवयुवक है जो अक्सर रात को अकेले फिरता है और किसी को नहीं बताता कि वह क्या करना चाहता है ? सरकार ऐसे युवकों को पसन्द नहीं करती जिनके विचार इस तरह अप्रकट हों ।"

इस एकान्त स्थल में मेजिनी का अधिकांश समय विचार करने में ही व्यतीत होता था । एक महीने बाद उसको तीन पुस्तकें पढ़ने को दी गईं जिनमे से एक 'बाइबिल' और दूसरी 'बायरन की कविता' थी । वह स्वभाव से ही साहित्य-प्रेमी था, इसलिये उसका कुछ समय इनमें भी कट जाता था । यह जेलखाना एक पहाड़ी के ऊपर बना था और उसकी खिड़की में से मेजिनी को समुद्र तथा आकाश के ही दर्शन हुआ करते थे । इस एकान्तवास में उसको स्वतन्त्र रूप से चिन्तन करने का मौका मिला और उसने अपनी तथा अपने देश की वास्तविक स्थिति पर गहराई के साथ विचार किया । उसने अनुभव किया कि इटली की समस्या केवल विदेशियों से छुटकारा पाने की ही नहीं है, वरन् स्वयं उसके देशवासियों में जो फूट और मतभेद के हानिकारक विचार पाये जाते हैं । एक दृष्टि से तो विदेशी शासन से टक्कर लेने से भी पहले यह आवश्यक है कि देश मे एकता और संगठन की भावना उत्पन्न की जाये ।

कई महीने तक विचार-मन्थन के पश्चात् मेजिनी इस निर्णय पर पहुँचा कि इस युग में इटली का उद्धार 'कार्बोनेरी' जैसी अत्यन्त गुप्त और जनसमुदाय से अज्ञात संस्था द्वारा होना सम्भव नहीं है । यद्यपि शासकों की निरंकुशता और दमन नीति के कारण किसी भी क्रांतिकारी संस्था के संगठन और मुख्य केन्द्रों को गुप्त रखना आवश्यक है, पर उसे प्रचार-कार्य द्वारा जन-आन्दोलन से सम्पर्क बनाये रखना चाहिये । जब तक जनता में चेतना उत्पन्न नहीं होगी और वह देश के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझने नहीं लगेगी तब तक सौ-पचास व्यक्तियों की ऐसी गुप्त संस्था कोई बड़ा काम नहीं कर सकती । इसलिये उसने अपने मस्तिष्क में इस प्रकार की एक संस्था का ढाँचा तैयार किया जो गुप्त रहते हुए भी देश और विदेशों में इटली की स्वाधीनता के लिये प्रचार-कार्य करे और देश की जनता को स्वाधीनता के महत्त्व और उसके लिये त्याग तथा बलिदान की आवश्यकता को समझाये । इस संस्था का नाम उसने 'यंग इटली' (तरुण इटली) सोचा और इसके मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार निश्चित किये—

(१) इस संस्था का उद्देश्य सार्वजनिक हो । इसके सदस्यों से ऐसी कोई शपथ न ली जाये जिससे उनको यह मालूम पड़े कि उनको किन्हीं खास लोगों की आज्ञा और विचारों का पालन करना पड़ेगा ।

(२) जो व्यक्ति इस संस्था का सदस्य बने वह यह निश्चित करले कि अपने देश की स्वतन्त्रता और वहाँ पर संयुक्त लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना ही उसका उद्देश्य है । उसके लिये जो कुछ आवश्यक होगा उसे वह बिना किसी संकट या कठिनाई की परवाह किये बिना करेगा ।

(३) इस संस्था का यह काम होगा कि वह इटलीवासियों को यह शिक्षा दे कि वे अपनी ही कोशिश और बलिदान से स्वतन्त्रता प्राप्त करके अपना शासन आप कर सकने के योग्य हो सकते हैं । किसी दूसरे की मदद से इस प्रकार का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता ।

मेजिनी ने समझ लिया था कि उसका देश सोया हुआ है, पर वह मुर्दा नहीं है । उसकी भावना को जागृत किया जाये तो सफलता अवश्यम्भावी है । जिस समय इटली के अन्य राजनीतिज्ञ फ्रांस के प्रजातन्त्रवादियों

की सहायता की तरफ टकटकी लगाये हुए थे मेजिनी को निश्चय हो गया था कि अगर राष्ट्र का उद्धार होगा तो अपने उन्हीं वीरों के प्रयत्नों द्वारा होगा, जिनकी संकल्प शक्ति और विश्वास के सामने पहाड़, नदी और समुद्र भी नहीं ठहर सकते। धनवान तथा समाज में प्रभाव रखने वाले लोग चाहे बाद में शामिल हो जायें, पर इस कार्य का आरम्भ निःस्वार्थ और आत्म-त्यागी देशसेवकों द्वारा ही हो सकेगा।

पर इसका आशय यह नहीं कि मेजिनी कोई संकीर्ण विचारों का राष्ट्रवादी था। इसके विपरीत उसके विचार बहुत उदार और सबसे सहयोग में विश्वास रखने वाले थे। एक अंग्रेज लेखक ने कहा है—"यद्यपि मेजिनी को इटली से बहुत प्रेम था अर्थात् ऐसा प्रेम जो किसी सुपुत्र को अपनी माँ से भी न होगा, लेकिन केवल इटली ही उसके सामने न था। उसके विचार उदार और विश्वव्यापी थे और धार्मिक गुलामी से उसको ऐसी ही घृणा थी जैसी कि राजनैतिक गुलामी से। वह पोप के धार्मिक अत्याचारों को बहुत निन्दनीय समझता था और चाहता था कि उसके देशवासी उससे छुटकारा पा जायें।"

## देशनिकाला और 'यंग इटली'

छः महीने कैद रहने के बाद उसे देशनिकाले की आज्ञा दी गई। वह फ्रांस चला गया और मार्सेलीज में रहकर इटली को स्वाधीन बनाने की योजना करने लगा। उसने इटली में अपना प्रचार-कार्य जारी रखने के लिये "यंग इटली" (तरुण इटली) नाम की पत्रिका निकाली और इसी नाम की एक संस्था की भी स्थापना की। इस संस्था में सम्मिलित होते समय मेजिनी तथा अन्य सदस्यों ने जो शपथ ग्रहण की थी उससे प्रकट होता है कि मेजिनी ने इटली के राष्ट्रीय आन्दोलन को विशुद्ध तर्क संगत और उच्च भावनात्मक आधार पर संगठित किया था, जिसके फलस्वरूप वह अनेक वर्षों तक स्थिर रहा और इटली की स्वाधीनता को प्राप्त करने में उसने बहुत बड़ा योग दिया। यह भी स्मरणीय है कि मेजिनी की इस सस्था ने अन्य अनेक देशो के तरुणों को भी प्रेरणा प्रदान की। हमारे देश के क्रांतिकारियो ने भी आरम्भ में उसी का अनुसरण करते हुए अपने संगठन बनाये थे। 'यंग इटली' में ली जाने वाली शपथ का साराश इस प्रकार है—

"ईश्वर के नाम पर और इटली के नाम पर, उन शहीदों के नाम पर जो अपने राष्ट्र की सेवा करते हुए अत्याचार से मारे गये—उन कर्त्तव्यों के नाम पर जो मेरा सम्बन्ध उस भूमि के साथ जोड़ते है जिस पर ईश्वर ने मुझे पैदा किया है—उस सच्चे प्रेम के नाम पर जो मुझे उस भूमि से है जहाँ मेरी माता ने जन्म लिया और जो मेरे बच्चों की भी जन्मभूमि होगी—उस घृणा के नाम पर जो हर आदमी को स्वाभाविक रूप से बुराई, जुल्म, अत्याचार और अत्याचारी के प्रति होती है—अपने देश की प्राचीन महत्ता और वर्तमान अवनति के नाम पर—लाखों आदमियों की तकलीफो के नाम पर—उस 'मिशन' पर पूरा भरोसा रखते हुए जो ईश्वर की तरफ से इटली को सौंपा गया है और इस बात पर विश्वास रखते हुए कि इटली देश के हर एक बच्चे का कर्तव्य है कि इस मिशन को पूरा करने की कोशिश करे—इस बात पर विश्वास रखते हुए कि वही मनुष्य सज्जन है जो आत्म-बलिदान को करते हुए अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे—

"मैं 'यंग-इटली' के सदस्यों की सूची मे अपना नाम लिखाता हूँ और आशा करता हूँ कि मेरा जीवन सदा इसी उद्योग में लगेगा कि इटली एक स्वतन्त्र और लोकतन्त्रीय राज्य बन जाये। जहाँ तक मेरी शक्ति होगी, वाणी और कर्म द्वारा मेरा यही लक्ष्य होगा कि मैं इटलीवासियों को यही शिक्षा दूँ और उन्हे एकता तथा नेकी का मार्ग दिखलाऊँ, क्योंकि इन्ही दो उपायो से स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है। मैं हमेशा उन आदेशों का पालन करूँगा जो इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिये संस्था की ओर से न्यायोचित रूप में मुझे दिये जायेंगे। अगर मै अपनी इस शपथ से फिरूँ या झूठा साबित होऊँ तो ईश्वर मुझे अपने कोप का भाजन बनाये और दुनिया के धिक्कार और झूठ बोलने की यन्त्रणा मुझे सहनी पड़े।"

## जनता में जागृति

मेजिनी ने जो 'यंग इटली' (तरुण इटली) नाम की पत्रिका निकाली थी उसके लेखों द्वारा वह उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति करने वाले धार्मिक तथा राजनीतिक विचार इटली में फैलाने लगा। इसकी बहुत-सी प्रतियाँ गुप्त रूप से इटली भेजी जाती थीं जहाँ लोग बड़े शौक से, बल्कि अनेक बार तो अपनी जान जोखिम में डालकर,

उसको पढ़ते थे। कुछ ही समय में इटली के ही किसी गुप्त छापेखाने में उसके लेखों को छापकर जनता में प्रचारित किया जाने लगा। इन लेखों ने इतना अधिक प्रभाव उत्पन्न किया कि हजारों युवक, जिनमें विद्यार्थियों की संख्या ही अधिक थी, मेजिनी की संस्था में सम्मिलित होने लगे। इसी अवसर पर रोम के पोप तथा आस्ट्रिया की सरकार के अत्याचारी शासन के खिलाफ जनता ने विद्रोह किया और २५ लाख की आबादी वाला एक प्रान्त पूर्णतया स्वतन्त्र हो गया। पर अनुभव की कमी के कारण इन लोगों ने एक गलती यह की कि अपने आन्दोलन को प्रान्त की दृष्टि से सीमित बना दिया और स्वतन्त्रता-संग्राम को देशव्यापी बनाने की कोशिश नहीं की। परिणाम यह हुआ कि अन्य प्रान्तों में आस्ट्रिया की सेनायें टिकी रहीं और उन्होंने कुछ समय में तैयारी करके विद्रोह को दबा दिया। यद्यपि इस विद्रोह में प्रकट रूप से मेजिनी का हाथ नहीं था, तो भी वह विदेश में रहते हुए भी इसको बढ़ाने और सफल करने की कितनी कोशिश करता रहता था इसका वर्णन करते हुए एक लेखक ने बतलाया है—

"इस मौके पर मेजिनी और उसके कुछ मित्र दिन-रात परिश्रम करते हुए काम में लगे रहे। खुद ही लिखते, खुद ही नकल करते थे। वे इटली जाने वाले मुसाफिरों और मल्लाहों से मिलकर उनमें अपने विचार फैलाते थे। वे स्वयं छपी हुई पत्रिकाओं के बण्डल बनाकर उनको जहाजों पर पहुँचाते थे। मतलब यह कि कभी सम्पादक की कुर्सी पर और कभी कुली के वेश में लगातार काम में लगे रहते थे। राष्ट्र की सेवा करते थे और इस आशा पर जीते थे कि कभी उनके प्रयत्न सफल होंगे। सब आदमी भाइयों की तरह मिल-जुलकर रहते थे और प्रायः बड़ी गरीबी में निर्वाह करते थे, क्योंकि उनके पास आमदनी का कोई मार्ग न था। हर एक के पास जो रुपया या माल था वह राष्ट्र के काम में लग चुका था। पर इस तंगी और गरीबी की हालत में भी सब बड़े प्रसन्न रहते थे और कभी किसी तरह की शिकायत जुबान पर नहीं लाते थे।"

## विदेश में कष्ट सहन

स्वयं मेजिनी ने इस स्थिति का वर्णन करते हुए एक बार लिखा था—"ये दो साल हमने बहुत कठिनाइयों में और केवल देश-सेवा में काटे थे। चारों तरफ से दुश्मनों ने हमको घेर रखा था और हर वक्त जान का खतरा रहता था। इसके अतिरिक्त कभी-कभी हमारे दल के भीतर ही अविश्वास की स्थिति पैदा हो जाती थी। पर जो लोग इस अवसर पर अपने कर्त्तव्य पर डटे रहे उन्होंने अपने देशवासियों के लिये एक बहुत उच्च उदाहरण उपस्थित किया। वे जो कुछ करते थे वह स्वार्थ के लिये नहीं वरन् केवल राष्ट्र-हित की दृष्टि से करते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि एक ही वर्ष में 'यंग-इटली' देश की सबसे शक्तिशाली संस्था बन गई और हमारे सिद्धान्तों ने विजय पाई।"

यद्यपि मेजिनी और उसके साथी अपने आन्दोलन को बड़े गुप्त रूप से चलाते थे तो भी इटली के शासकों को उनका पता चल गया। पीडमांट प्रान्त के राजा चार्ल्स अलबर्ट ने घोषणा की कि जो कोई मेजिनी की पत्रिका लाने वालों का पता न बतायेगा अथवा उनको पकड़कर सरकार के हवाले न करेगा तो उसको जुर्माने के अतिरिक्त दो साल तक की कैद की सजा दी जायेगी। सूचना देने वालों को इनाम का प्रलोभन दिया गया था। इस प्रकार सरकार की ओर से 'यंग इटली' का विरोध जोर-शोर से होने लगा।

पर जब सरकार इस तरह मेजिनी के प्रचार-कार्य को न रोक सकी तो उसने फ्रांस की सरकार से मदद माँगी। फ्रांस के सम्राट ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। अब विदेश में भी मेजिनी को छिपना पड़ा। नौबत यहाँ तक पहुँची कि आगे-आगे मेजिनी और पीछे-पीछे पुलिस। दो साल तक मेजिनी इसी तरह छिपकर काम करता रहा पर पुलिस के हाथ न आया। अन्त में एक दिन पुलिस वहाँ पहुँच ही गई जहाँ मेजिनी छिपा हुआ था। लेकिन मेजिनी के एक साथी ने, जिसकी शक्ल उससे बहुत मिलती-जुलती थी अपने को पुलिस के हवाले कर दिया और मेजिनी को बचा दिया।

अब मेजिनी फ्रांस को छोड़कर स्विट्जरलैण्ड जा पहुँचा और वहीं से इटली पर सैनिक आक्रमण की तैयारी करने लगा। पर जिस सेनाध्यक्ष-जनरल रामा विनोकी ने उसे सहायता का आश्वासन दिया था वह बेईमान निकल गया। सरकार को पूरी योजना का पता समय से पूर्व ही लग गया और सैकड़ों नवयुवक

गिरफ्तार कर लिये गये । इनमें मेजिनी का सबसे प्यारा साथी जैकव रफैनी भी था । पुलिस यह जानती थी कि उसे मेजिनी से सर्वाधिक प्रेम है, इसलिये सारा भेद जानने के लिये उस पर बड़े अत्याचार किये गये और मेजिनी के जाली दस्तखतों की एक चिट्ठी भी उसे दिखाई गई, जिससे जाहिर होता था कि मेजिनी ने ही गिरफ्तार शुदा लोगों के नाम बतला दिये हैं । रफैनी पुलिस के इस धोखे में तो न आया पर उसी दिन उसने आत्म-हत्या कर ली जिससे वह इन लोगों के राक्षसी कारनामों से मुक्त हो जाये ।

## अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना

इन घटनाओं से मेजिनी को मालूम हो गया कि इटली की जनता कुछ जागृत तो हो गई है, पर राष्ट्रोद्धार के लिये जिस धैर्य और लगन की आवश्यकता है उसकी उसमें बहुत कमी है । उसने समझ लिया ऐसे लोगों में केवल पत्र-पत्रिकाओं के लेखो द्वारा दृढ़ नैतिकता का उत्पन्न कर सकना सम्भव नहीं है । इसके लिये आवश्यक है कि ऐसे सच्चे कार्यकर्ताओ का एक दल तैयार किया जाये जो हार-जीत की और जुल्मों की परवाह न करके निरन्तर अपने ध्येय की पूर्ति में लगे रहें ओर जरूरत पड़ने पर हर समय उसके लिये जान भी देने को तैयार रहें ।

पर यह काम केवल इटली ही का न था । अन्य अनेक देशो की जनता भी इसी तरह निरकुश शासकों के अत्याचार सहन करती हुई अपने अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा कर रही थी और उन देशों के कार्यकर्ता भी अपने यहाँ से निर्वासित होकर स्विट्जरलैण्ड मे इकट्ठे हो रहे थे । मेजिनी ने विचार किया कि इन विभिन्न देशो के आन्दोलनकारियों को एक सूत्र मे संगठित करके एक संस्था बनाई जाये जिसका उद्देश्य सभी देशों मे अन्यायी शासन के स्थान पर न्याय और वास्तविक स्वतन्त्रता की समाज-व्यवस्था कायम करना हो ।

मेजिनी इस दृष्टि से पहला राजनैतिक प्रचारक था जिसने अन्तर्राष्ट्रीय एकता और सगठन के महत्त्व को समझा और उसका खुले तौर पर प्रतिपादन किया । उसने अपने विचारों को अन्य लोगों के सामने उपस्थित करते हुए एक बार कहा कि—"अगर लोकतन्त्रात्मक भाई-चारे का अर्थ यह है कि सब मनुष्य आपस मे भाई है, हमको सबके साथ प्रेम रखना चाहिये और ऐसे सब कारण दूर कर देने चाहिये जो विभिन्न देशों के बीच फूट या पारस्परिक विरोध को जन्म देते हों, तो हम पूर्णतया इसके पक्ष मे है । पर प्रश्न यह है कि इस समय विभिन्न देशों में जो निरंकुश शासन चल रहे है उन पर वहाँ की जनता कैसे विजय प्राप्त करे ? इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये एकता आवश्यक है और यह एकता तब तक नही हो सकती जब तक कि सबका उद्देश्य एक न हो—सब लोग एक सिद्धान्त को सामने रखकर काम न करें । इसके लिये हर देश को राष्ट्रीयता के पवित्र सिद्धान्त को सामने रखकर काम करना चाहिये । यही एक ऐसा मार्ग है जिससे समस्त मानव-जाति की भलाई हो सकती है । इसके लिये सबसे पहले अपने यहाँ की जनता में राष्ट्रीयता की भावना फैलाना आवश्यक है । एकता और मेल उन्हीं राष्ट्रों में हो सकता है जहाँ की जनता स्वतन्त्र और शक्तिशाली हो ।"

मेजिनी को इस बात पर विश्वास था कि ऐसा समय आने वाला है जब यूरोप के सब देश सच्चे अर्थों मे स्वतन्त्र और शक्तिशाली होकर एक-दूसरे से सहयोग की भावना से दुनिया की उन्नति का प्रयत्न करेगे । एक की कमजोरी से दूसरा लाभ उठाने की कोशिश न करेगा वरन् सबके लाभ के लिये प्रत्येक देश की उन्नति आवश्यक समझी जायेगी । इन सिद्धान्तो को सामने रखकर उसने 'यंग यूरोप' (तरुण यूरोप) नाम की सस्था की स्थापना की जिसमें इटली, फ्रास, जर्मनी, पोलैण्ड आदि कई देशो के निर्वासित व्यक्ति शामिल थे । पर इस प्रकार आ आन्दोलन आरम्भ कर देने से मेजिनी के ऊपर और भी आफत आ गई । अभी तक तो इटली की सरकार ही उसकी शत्रु थी, पर अब अन्य देशों के शासक भी उसके विरोधी हो गये और छोटे से स्विट्जरलैण्ड पर दबाव डालने लगे कि वह मेजिनी को अपने यहाँ से निकाल दे । पर जिस शहर मे वह रहता था उसके निवासी उसके समर्थक थे, इसलिये बिना किसी इल्जाम के उसे निकाला नहीं जा सकता था । इसलिये साम्राज्यवादियों ने उस पर दोष लगाया कि वह फ्रांस और इटली के सम्राटों की हत्या कराने का षड्यन्त्र कर रहा है । फ्रास और इटली के राजदूतों ने उस पर यह दोपारोपण करके षड्यन्त्र की एक कहानी गढ़ ली । पर इटली के कुछ निर्वासित व्यक्तियो ने इन देशों के खुफिया ऐजन्टों को पकड कर उनसे

सब कागजात छीन लिये जिससे इन शासकों की चाल का भंडाफोड़ हो गया । फिर भी बड़े राज्यो के दवाव के कारण स्विट्जरलैण्ड की शासन-सभा ने मेजिनी को अपने यहाँ से निर्वासित करने का आदेश दे दिया । अब सरकारी जासूस चारो तरफ उसे खोजते फिरने लगे । मेजिनी इससे जरा भी न घवड़ाया, क्योकि उसको इस प्रकार छुपकर रहने की आदत पड़ चुकी थी, पर उसके अन्य दो निर्वासित साथी उस पर बाहर चलने के लिये बहुत जोर डालने लगे और सन् १८३६ में वह स्विट्जरलैण्ड से इंग्लैण्ड चला गया ।

## मेजिनी का अन्तर्द्वन्द्व

मेजिनी के कथनानुसार यह समय उसके जीवन मे सवसे कठिन था । इसका कारण यह नहीं था कि उसका चलाया हुआ राष्ट्रीय आन्दोलन असफल हो गया था, उसकी संस्था तितर-वितर हो गई या उसे प्रत्येक देश से निर्वासन की आज्ञा मिलती चली गई । वरन् इसका कारण यह था कि संगी-साथियों की आलोचना और जनता की उदासीनता के कारण उसके मन में यह सन्देह पैदा हो गया कि कहीं मै गलती तो नहीं कर रहा हूँ और मैने लोगो को जो मार्ग दिखलाया है उसमें कोई बडा दोष तो नहीं है ? इस घटना का जिक्र करते हुए उसने स्वयं लिखा है—

"अगर अभी मैं सौ वर्ष तक और जीता रहूँ तो भी उस वर्ष को कभी न भूलूँगा और न उस नैतिक विक्षोभ को भूल सकता हूँ जिसका सामना मुझे करना पड़ा और जिसमें मेरी आत्मा गिरते-गिरते वची । मै नही चाहता था कि इन बातो का जिक्र करूँ पर उन लोगों के लिये जो मेरे बाद आयेंगे और इस तरह के अन्तर्द्वन्द्व में ग्रस्त हो जाये, तो उनको मेरी कहानी तसल्ली देने वाली होगी । ऐसे लोगो के लिये मेरा यह अनुभव एक तरह का हौंसला देने वाला होगा, इसलिये मै अपनी उस समय की हालत का जिक्र किये बिना नहीं रह सकता । यह सन्देह और शंका का तूफान था, जिसमे होकर मेरे विचार से उन सब लोगों को गुजरना पड़ता है जो अपने जीवन को किसी बड़े काम में लगा देते हैं । मेरे मन में सदा ही प्रेम का सागर उमड़ता रहा है और वह सदा आशा से भरा रहा है । अगर अपने लिये नहीं तो कम से कम दूसरों के लिये । पर इन कुछ महीनो में दुःख और संसार की नश्वरता की भावना ने मुझे ऐसा घेरा और ऐसा धोखे में डाला कि मेरे सामने ऐसे बुढापे का दृश्य घूम गया जैसा कि किसी वृद्ध व्यक्ति को मरुभूमि मे अकेला छोड़ देने से हो सकता है । इसका मुख्य कारण यह था कि मेरी वह आस्था और विश्वास नष्ट होता जान पड़ता था जिसके सहारे मैं अभी तक अपने काम पर डटा था । मुझे चारों तरफ सन्देह दिखाई देने लगा । उन मित्रों पर भी विश्वास न रहा जिन्होंने वफादारी का वचन दिया था, क्योंकि वे मेरे उद्देश्य तथा नीयत के विषय में सन्देह करने लगे थे ।"

"मुझे यह देखकर कि वे दो-एक व्यक्ति भी जिनमे मुझे अत्यधिक स्नेह था, मेरे उद्देश्यो की पवित्रता में सन्देह करते हैं, वड़ी निराशा और दुःख हुआ । ये बातें मुझे उस समय मालूम हुईं जब चारों तरफ से हमला होने के कारण मुझे सहानुभूति की आवश्यकता थी, जबकि मैं अपने देश और भाईयों के स्नेह का मुहताज था । वे लोग अच्छी तरह जानते थे कि मैंने क्यों जानबूझ कर दुनिया का हर सुख और आराम छोड़ रखा है । मतलब यह कि ठीक इस जरूरत के समय मेरे सब साथी मुझसे अलग हो गये और मै इस संसार में अकेला रह गया । सारी दुनिया मे अपनी माँ के सिवाय, जो मुझसे बहुत दूर थी मुझे कोई और अपना दिखाई नहीं देता था । इस हालत में जबकि यह भरी हुई दुनिया मुझे सुनसान नजर आती थी, मुझे यह सन्देह हुआ कि शायद मैं गलती पर हूँ और बाकी सारी दुनिया सच्चाई पर है । मेरे विचार शायद ख्याली पुलाव—काल्पनिक ही हों । शायद इनमें कुछ असलियत न हो और मैंने अहंकार के कारण अपने विचारो को अधिक महत्त्व देकर अपनी इच्छाओं और भावनाओं को उन कार्यो से विमुख कर लिया है जो मै आसानी से कर सकता था ।"

"जिस दिन मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुए उस दिन मै केवल दुःखी और उदास ही न हो गया, वरन् मुझे ऐसा लगने लगा कि मैने ऐसा पाप किया है कि जिसका प्रायश्चित सम्भव नहीं । जो लोग विद्रोह में गोलियो से मारे गये थे उनके चेहरे मेरे सामने घूमने लगे और मुझे पछतावा हुआ कि ये सब खून मेरे ही कारण हुए है । कितनी ही माताये मेरे कारण अपनी सन्तान की मृत्यु पर शोकातुर है । यदि मैं

यह काम जारी रखूँ और दिन-प्रतिदिन इटली के युवकों के हृदय में स्वतन्त्रता की ज्वाला भड़काता रहूँ, तो न मालूम कितनी और माताओं को रोना पड़ेगा और कितने घर अँधेरे हो जायेंगे ? शायद मेरी ही भूल हो और ईश्वर की इच्छा यही हो कि इटली अपने से छोटे देशों का गुलाम बन कर रहे । मुझे यह अधिकार कहाँ से मिला है कि मैं भविष्य के बारे में कोई निश्चय कर सकूँ और उस निश्चय के भरोसे पर लाखों व्यक्तियों को मरने-मारने के लिये तैयार करूँ ? इन शंकाओं ने मेरे मन पर जो प्रभाव डाला उसे शब्दों में व्यक्त कर सकना असम्भव है । मेरा दुःख इतना बढ़ गया कि उसने पागलपन का रूप ग्रहण कर लिया । प्रायः रात्रि के समय सोता हुआ मैं चौंक पड़ता था और भागा हुआ खिड़की की तरफ जाता था । जरा-सी बात पर मेरे आँसू निकल आते और मैं रोने लगता था । अगर कुछ समय ऐसी हालत और रहती तो या तो मैं पागल हो जाता या आत्म-हत्या कर लेता । पर क्रमशः मेरे दिमाग में सब उलझनें स्पष्ट होने लगीं और एक दिन सुबह जब मैं उठा तो मैंने अपने मन को बहुत शान्त और चिन्ता मुक्त पाया ।"

## भारतीय-दर्शन पर श्रद्धा

जब मेजिनी ने अपनी इस मानसिक दुरावस्था के सम्बन्ध मे विवेचना की तो उसे यही प्रतीत हुआ कि "मेरी सब आपत्तियाँ मेरे अहंकार का ही परिणाम थीं । वे इसी कारण पैदा हुई क्योंकि मैं जीवन का अर्थ ही गलत समझ बैठा था । भारत के प्राचीन धर्माचार्यों ने जीवन को 'आलोकित चित्त' कहा है और इसी से उनमे अपने आपको ईश्वर में लीन कर देने की प्रवृत्ति पैदा हुई । यह अर्थ-परिवार की एक बडी विशेषता है । इसी से प्रेरित होकर ईसाई धर्म ने जीवन को एक प्रायश्चित समझा और इस आधार पर यह विधान बनाया कि संसार के सब दुःखों को धैर्य से ही नहीं बल्कि खुशी से सहन करना चाहिये । पर अठारहवीं सदी की वैज्ञानिक विचारधारा ने मनुष्य की धार्मिक स्थिति को बहुत पीछे की तरफ ढकेल दिया, क्योंकि लोगों ने भौतिक उन्नति और भोगो को ही जीवन का चरम उद्देश्य समझ लिया । इसी कारण लोगो को सांसारिक लाभ के मुकाबले मे आदर्शों की कुछ परवाह नहीं रही, जिसका परिणाम उनके और समस्त संसार के लिये बहुत खराब निकला ।"

यद्यपि मेजिनी आरम्भ से ही धार्मिक प्रवृत्ति का मनुष्य था और उसमें परोपकार का भाव भी बहुत अधिक था, तो भी वह अपने को यूरोप में उस समय फैलते हुए इस 'वैज्ञानिक वाद' से मुक्त नहीं रख सका । यद्यपि वह मामूली इच्छाओं और कामनाओं का त्याग कर चुका था पर मोह और राग-द्वेष के फंदे को पूरी तरह न काट सका, जिसका अभ्यास भारतीय मनीषी विशेष साधन द्वारा किया करते हैं । जो लोग त्याग के इस सर्वोच्च सिद्धान्त को समझे बिना सार्वजनिक-जीवन में प्रवेश करते हैं, वे प्रायः एक बड़ी गलती करने लग जाते हैं । वे समझने लगते हैं कि जिन लोगों की हम सेवा करें उनका भी कर्त्तव्य है कि बदले में वे हमसे प्रेम करें, हमारी प्रशंसा करें । मेजिनी ने स्वीकार किया कि "अज्ञात रूप से मैं इस गलती को अपनाये बैठा था । सच्चे प्रेम के रूप को समझने मे मुझसे भूल हो गई । प्रेम वह है जिससे बदले की दुनिया से कुछ भी आशा न रखी जाये । मैंने इस तथ्य को न समझकर प्रेम के साथ ही उसके प्रतिफल को भी अपना लक्ष्य बनाया । इसलिये जब मुझे प्रेम द्वारा प्राप्त होने वाली प्रसन्नता हाथ न आई तो मुझे निराशा ने घेर लिया । मार्ग की कठिनाइयों को देखकर या तो मैंने अपने कदम पीछे हटा लिये या मूल लक्ष्य को ही बदल दिया । इसका परिणाम यह हुआ कि मुझे जीवन के अमर होने का पूरा विश्वास नहीं रहा । मुझमें इस अवस्था का अभाव हो गया कि जीवन वास्तव में इतना छोटा नहीं है वरन् वह अनेक जिन्दगियों का सिलसिला है जिनसे हम मन्जिलों को तय करते हुए उस ऊँची चोटी पर पहुँच सकते हैं जहाँ पर ईश्वर बैठा हुआ है ।"

## जीवन एक कर्त्तव्य है

इस प्रकार विचार करते हुए मेजिनी इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि "जीवन एक 'मिशन' या व्रत है । जीवन का कोई और अर्थ समझना गलती है । अन्य सूक्ष्म विषयो के सम्बन्ध में धर्म, विज्ञान और दर्शन-शास्त्र मे चाहे कितना भी मत-भेद हो पर इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि मानव-जीवन का एक उद्देश्य होना अनिवार्य है, अन्यथा मनुष्य की जिन्दगी में 'उन्नति'

शब्द का कोई अर्थ ही न होगा, क्योकि अगर जीवन का कोई उद्देश्य नहीं तो उन्नति कैसे हो सकती है ?"

अगर मनुष्य का जीवन एक 'मिशन' (व्रत) है तो उसका सबसे महत्त्वपूर्ण नियम 'कर्त्तव्य' ही हो सकता है । व्रत को पूरा करने और कर्त्तव्य का पालन करने से ही हमें आगामी 'उन्नति' के साधन प्राप्त हो सकते है । इस जीवन का अन्त होने पर हमे जो जीवन मिलेगा वह उसी दर्जे का होगा जिस दर्जे तक वर्तमान जीवन में हमने 'व्रत' को निभाने और कर्त्तव्य का पालन करने मे परिश्रम किया है । हमारा भावी जीवन ठीक हमारे परिश्रम या सफलता का फल होगा । मनुष्य की आत्मा अमर है, पर आत्मा कब और कैसे उन्नति करेगी, यह हमारे अपने हाथ में है । हमें आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग पर सफलता प्राप्त करनी चाहिये जो हमारे वश में है । हम सब का यह कर्त्तव्य है कि "अपनी आत्मा को मन्दिर की तरह पवित्र रखे और इस मन्दिर मे अहंकार को घुसने न दें और घुस गया हो तो उसे निकाल दें ।"

मेजिनी के विचार भारतीय-दर्शन से बहुत मिलते-जुलते है । हमारी नीति और आचार-सहिता में सबसे बड़ा सिद्धान्त 'निष्काम कर्म' का है । तुम्हें जो कुछ करना है, अथवा जिसे तुम्हारे मार्ग दर्शक ने या अन्य महापुरुषों ने तुम्हारा 'कर्त्तव्य' बतलाया है उसका पालन बिना किसी प्रकार के बदले या लाभ की आशा के करते रहो । अपने कर्त्तव्य को इस प्रकार की निस्पृह-भावना से पूरा करना ही सच्चा धर्म है और इसी से मनुष्य आगामी श्रेष्ठ जीवन प्राप्त कर सकता है स्वतन्त्र बुद्धि से विचार करता हुआ मेजिनी 'गीता' के इसी सिद्धान्त पर पहुँचा—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भुर्मा ते संगोस्त्वकर्मणि ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि संगत्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

"तुमको कर्त्तव्य-कर्म करते रहने का ही अधिकार दिया गया है, किसी विशेष फल की आकाक्षा का नही । पर अकर्मण्य होना किसी प्रकार अच्छा नही कहा जा सकता । मनुष्य को चाहिये कि आसक्ति को त्यागकर और सफलता-असफलता को समान समझते हुए समत्व-भाव रखकर सब कार्य करे । यही आत्मा से साक्षात्कार कर सकने का एक मात्र मार्ग है ।"

## एक महान शिक्षा

इस विचारधारा का परिणाम यह हुआ कि ईश्वर और उसके निर्देशित मार्ग पर मेजिनी की आस्था बहुत दृढ़ हो गई और फिर वह सब प्रकार की कठिनाइयो और अभावों को सहन करता हुआ अन्त तक अपने कर्त्तव्यपालन मे दृढ़ बना रहा । इस 'निष्काम-कर्म' के सिद्धान्त के अनुसार मनोवृत्ति रखकर काम करने से उसे न तो कभी निराशा का सामना करना पडा और न उसने कभी आपत्तियों से भयभीत होकर पीछे पैर हटाया । उसने स्पष्ट लिखा है—

"इस तरह किसी बाहरी सहायता के बिना ही मुझे होश आ गया और मुझे उसी धार्मिक भावना से शान्ति प्राप्त हो गई जिसके उदाहरण प्रायः इतिहास मे मिलते है । मैने सबसे पहले परमात्मा पर दृढ़ विश्वास किया और उसके पश्चात् आत्मा की उन्नति का विचार किया । इसी विचार से मुझे जीवन का सच्चा रास्ता प्राप्त हुआ कि मनुष्य के लिये 'कर्त्तव्य-पालन' ही सर्वोच्च कार्य है । यह परिणाम निकालकर मैंने प्रतिज्ञा की कि मै कभी सन्देह या भ्रान्ति को अपने समीप न आने दूँगा और न कभी अपने काम को छोड़ूँगा । मतलब यह है कि मैने उन तमाम भावनाओं का तिरस्कार कर दिया जिनको हिन्दू-शास्त्रों में राग और मोह कहा है । इससे मेरा आशय यह नही कि मैने अपने मन मे प्रेम की भावना को बिल्कुल निकाल दिया, क्योकि ऐसा करना असम्भव था । ईश्वर मेरा गवाह है कि इस वार्धक्य में भी मेरे भीतर प्रेम की भावना वैसी ही प्रबल है जैसी प्रारम्भिक जीवन में थी । यह परमात्मा की सबसे बड़ी कृपा है कि उसने प्रेम का एक ऐसा सहारा पैदा कर दिया जिससे मैं बुढ़ापे में भी सन्तोष और शान्ति पा सकूँ ।"

## 'ईश्वरार्पण' की भावना

प्रत्येक सार्वजनिक कार्यकर्ता के लिये मेजिनी के उपर्युक्त वाक्य एक महान शिक्षा की भाँति है । सार्वजनिक सेवा और राजनीतिक क्षेत्र मे कार्य करने वालों के लिये अहंकार और प्रशसा की भूख—ये दो ऐसी बाधाये है, जो उच्चकोटि के व्यक्तियों मे भी पाई जाती हैं । इसी के फलस्वरूप नेताओं मे प्रायः मतभेद और प्रतिस्पर्धा की भावनाये प्रबल होती रहती है और वे लोक-हित की अपेक्षा अपने हठ और पक्ष को अधिक

महत्त्व देने लग जाते हैं । ऐसे लोग अनेक अवसरों पर जनता की सेवा के स्थान पर उसकी कुसेवा करने लग जाते हैं और उपयोगी सार्वजनिक आन्दोलनों तथा संस्थाओं की असफलता के कारण बनते हैं ।

मेजिनी का उदाहरण बतलाता है कि जो लोग धन या किसी अन्य निम्नकोटि की स्वार्थ भावना से मुक्त होते हैं और सच्चे हृदय से परोपकारी और त्यागी होते हैं, वे भी अहंकार या आत्म-प्रशंसा के फंदे में फँसकर मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं । इसीलिये भारतीय साधकों ने अपने सत्कर्मों को भी 'ईश्वरार्पण' करने पर जोर दिया है, जिससे अहंकार और स्वार्थ-भावना को सिर उठाने का अवसर ही न मिले । मेजिनी भी जब अध्यात्म-बुद्धि से अपने कार्यों को लौकिक महत्त्व देने के बजाय ईश्वरीय उद्देश्य का पालन करने के रूप में देखने लगा तो उसकी सब कठिनाइयाँ और निराशा जाती रहीं और शुद्ध कर्त्तव्य पालन के रूप में पारमार्थिक कार्य करता रहा । इसी का यह परिणाम हुआ कि चाहे उसे अपने कार्यों में पूर्ण सफलता न मिल सकी और जीवन में प्रायः असफलताओं का ही सामना करना पड़ा, पर संसार के सभी विचारशील लोगों ने उसका महत्त्व स्वीकार किया और उसे एक सच्चा कार्यकर्ता और जन-सेवक बतलाया ।

मेजिनी ने यद्यपि एक बड़े राष्ट्र की स्वाधीनता का बीड़ा उठाया था और आप सम्भवतः किसी गाँव या कस्बे के ही सार्वजनिक कार्यकर्ता हों, पर इस बात को सदा याद रखिये कि जब तक आप इस प्रकार के सेवा कार्य को निःस्वार्थ बुद्धि से और ईश्वरीय आदेश पालन के रूप में न करेंगे, तब तक आपको सच्ची और स्थायी सफलता नहीं मिल सकती और न आप उस आत्मिक शान्ति के अधिकारी बन सकते हैं जो शुद्ध मनोभाव से सेवा करने वालों को मिलनी चाहिये ।

## आत्म-भावना का प्रसार

मेजिनी के ये विचार केवल लिखने-पढ़ने तक ही सीमित नहीं थे वरन् वह कार्य रूप में भी इनके अनुसार आचरण करता था । जब वह स्विट्जरलैण्ड से हटाया गया और इग्लैण्ड में आकर रहने लगा तो उसके साथ तीन मित्र और थे जिन पर उसको बहुत विश्वास था । ये लोग अंग्रेजी भाषा और वहाँ के रहन-सहन से सर्वथा अपरिचित थे और इसलिये मेजिनी के सहारे ही रहते थे । ये सब बहुत गरीब भी थे । मेजिनी की माँ उसके गुजारे के लिये अपने खर्च में से बचाकर थोड़ी-सी रकम भेजती रहती थी । उससे किसी तरह मेजिनी का काम चल सकता था, पर वह हर चीज को चार बराबर हिस्सों में बाँटकर तीनों मित्रों का काम भी चलाता था । उन मित्रों का स्वभाव असहनशील था और मेजिनी की सज्जनता को देखते और समझते हुए भी वे सदैव शिकायत करते रहते थे और इस प्रकार बातें करते थे मानो उस पर कोई बड़ा अहसान कर रहे हों । मेजिनी की माँ उसके लिये कपड़े भी भेजा करती थी, पर जब उसे इस परिस्थिति का पता लगा तो वह बढ़िया कपड़े के बजाय उसी रुपये से मोटे कपड़े के चार सूट बनवाकर भेजने लगी । इस परिस्थिति में मेजिनी को कहाँ तक आर्थिक कष्ट उठाना पड़ा उसके बारे में उसने जो कुछ लिखा है उससे मालूम होता है कि परोपकार और जन-सेवा का संकल्प लेने वालों को किस प्रकार 'असिधारा व्रत' पर चलना पड़ता है—

"जो रुपया मेरे माता-पिता मेरे खर्च के लिये भेजते थे उसको राष्ट्र की सेवा में और दूसरों के उपयोग के लिये खर्च करने में मेरी आर्थिक स्थिति इतनी खराब हो गई कि घोर गरीबी तक नौबत पहुँच गई । सन् १८३७ और १८३८ का आधा भाग इसी तरह व्यतीत हुआ । अगर मैं अपने माता-पिता को अपनी गरीबी का हाल लिखता तो शायद वे मेरी मदद करते, लेकिन मेरे कारण उनको पहले ही इतनी तकलीफ पहुँची थी कि मैंने और अधिक तकलीफ देना उचित नहीं समझा और अपना हाल उन पर प्रकट नहीं किया । मैं चुपचाप कठिनाईयाँ सहता रहा । यहाँ तक कि मेरी माँ और दोस्तों ने समय-समय पर जो चीजें यादगार के तौर पर दी थीं उनको भी गिरवी रखना पड़ा । फिर इनसे भी कम कीमत की चीजों को गिरवी रखा । यहाँ तक कि एक रोज शनिवार के दिन मुझे उन अभागे व्यक्तियों की पंक्ति में जाकर खड़ा होना पड़ा जो कबाड़ी की दुकान पर अपने कपड़े-लत्ते गिरवी रखने को खड़े थे । इसके बाद मेरे देश के कुछ लोग मेरी जमानत देने लग गये और मैंने कर्ज देने वाली उन संस्थाओं से कर्ज लिया जो इन्सान का खून पी जाती हैं । चालीस-पचास फीसदी सूद से भी इनको

सन्तोष नहीं होता—यहाँ तक कि शरीर के कपड़े भी उतरवा लेती हैं । इज्जत और लाज का तो क्या कहना है ? ये कष्ट और दुःख स्वयं ही इतने अधिक थे कि मैं इनके बोझ के नीचे दबकर मर जाता । इस पर भी मुसीबत यह थी कि मैं अकेला था और परदेशी था । फिर ऐसे देश में जहाँ गरीब आदमी बहुत सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है ।"

मेजिनी ने अपने कष्टों और विपत्तियो का वर्णन इसलिये नहीं किया है कि वह इनसे घबड़ा गया था अथवा इन्हें एक अभिशाप की भाँति मानता था । वह कहता था कि "मैं इन मुसीबतों का जिक्र इसीलिये करता हूँ कि भविष्य मे जो भाई इस तरह की स्थिति में पड़ जाये तो उसे मेरे उदाहरण से कुछ शक्ति मिले ।" वास्तव में जब कभी कोई व्यक्ति राज्य या समाज में प्रचलित हानिकारक रूढ़ियों का विरोध करने को खड़ा होता है तो उसको अनेक स्वार्थी लोगो के विरोध तथा अन्याय-अत्याचारो का मुकाबला करना पड़ता है । ऐसे अवसर पर मेजिनी जैसे महापुरुषों के उदाहरण और उद्‌गार ही प्रेरणादायक सिद्ध होते हैं, जिन्होंने ऐसी कठिन परिस्थितियों और हर प्रकार की आपत्तियों का आत्मविश्वास के साथ मुकाबला किया होता है । मेजिनी की यह सम्मति केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है, वरन् धार्मिक, सामाजिक आदि कोई क्षेत्र क्यों न हो सच्चे कार्यकर्ताओं को प्राय: ऐसी ही कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है और इसी प्रकार की दिलेरी से वे उसके ऊपर विजय प्राप्त कर सकते हैं । मेजिनी को इस बात से बहुत दुःख होता था कि अनेकों कच्चे विचारों के युवक जोश में आकर किसी जन-आन्दोलन मे कूद पड़ते हैं और बाद मे कष्टों से घबड़ाकर बड़ी बुरी स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं । उसने आगे चलकर एक लेख में कहा था—

"दिल तो यह चाहता है कि मैं यूरोप की माताओं से अपील करूँ कि संसार की मौजूदा हालत् में कोई भी व्यक्ति अपनी मर्जी का मालिक नहीं है और कोई नही कह सकता कि कल उसके या उसके किसी प्रियजन के साथ क्या बीतेगी ? इसलिये माताओं को चाहिये कि वे अपने बच्चों का अधिक लाड़-प्यार से पालन करके उनको कठिनाई सहन करने के अयोग्य न बना दें । इसके बजाय उनका कर्तव्य है कि बचपन से ही अपने लड़को में सब्र्बी बर्दाश्त करने की आदत डालें जिससे आगे चलकर उनको तकलीफ अनुभव न करनी पड़े । इससे उनको सच्ची प्रसन्नता और आध्यात्मिक सुख मिल सकेगा और स्वावलम्बी बनकर अपने जीवन-निर्वाह के साधन स्वयं जुटा सकेंगे । मैंने देखा है कि इटली के प्रतिष्ठित परिवारों के बच्चे जिनको आराम से रहने की आदत थी, मेरी तरह गरीबी के चंगुल में फँसकर या तो बहुत बड़े पापी बने या आत्महत्या करके अपनी जान पर खेल गये । मुझे गर्व है कि मैंने सब मुसीबतों तथा तकलीफों को हँसते-खेलते बर्दास्त किया, क्योंकि मेरी माता ने शुरू से ही मुझे ऐसी शिक्षा दी थी जिसमें मुसीबत के समय भी मैं अडिग रह सकूँ ।"

मेजिनी के इन शब्दों की सच्चाई से हम कभी इन्कार नहीं कर सकते । हमारे देश के अभिभावक खास कर मातायें इस सम्बन्ध में विशेष रूप से दोषी हैं । वे बाल्यावस्था मे अधिक लाड़-प्यार से बच्चो को प्रायः इतना बिगाड़ देती है कि आगे चलकर जीवन-संग्राम में वे प्राय. असफल ही होते हैं । यों रोते-झींकते जिन्दगी के दिन काट लेना और बात है, पर मानव-जीवन के कर्त्तव्यों का पालन करते हुए जो व्यक्तिगत उन्नति के साथ समाज और देश के प्रति भी अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सके, ऐसे मनुष्य हमारे यहाँ ढूँढने से भी कठिनता से मिलते हैं । ऐसे ही कर्त्तव्यपरायण व्यक्तियो के अभाव से आज भारतीय समाज पतन की परिस्थितियो से ऊपर उठने मे पग-पग पर कठिनाई का अनुभव कर रहा है । मेजिनी ने अपना उदाहरण दिखाकर कर्मठ और सादे जीवन का जो आदर्श दिखाया उसी के कारण आज सौ वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी एक अनुकरणीय महापुरुष के रूप मे उसका स्मरण किया जाता है ।

## स्वाधीनता के लिये संघर्ष

अपने देश से निर्वासित और जीवन-निर्वाह के साधारण साधनों से भी वंचित रहकर मेजिनी का उत्साह मन्द न पड़ सका और वह हर प्रकार के कष्ट और असुविधायें सहन करते हुए भी अपने जीवनोद्देश्य—इटली की स्वाधीनता प्राप्त करने के प्रयत्न मे लगा रहा । उसे अपने परिश्रम अथवा अन्य स्वतन्त्रता प्रेमियों की सहायता से जो कुछ साधन प्राप्त हो जाते थे उन्हीं के द्वारा वह इटली की जनता मे जागृति फैलाने और उसे संगठित करने का उद्योग करता रहता था । उसके

प्रचार-कार्य के फलस्वरूप इटली में स्वतन्त्रता की भावना का प्रसार होता रहा और सन् १८४८ में इटली के अधिकांश प्रान्तों में विद्रोह की भावना इतनी प्रवल हो गई कि वहाँ की जनता ने निरंकुश शासकों को दबाकर अपने अधिकार प्राप्त करना आरम्भ कर दिया ।

इटली की स्वाधीनता में सबसे बड़ी बाधा आस्ट्रिया की साम्राज्यवादी सरकार की थी । इटली के लम्बार्डी तथा वेनेशिया प्रान्तों पर तो उसका अधिकार था ही, अन्य प्रान्तों पर भी वह अपना प्रभाव डालती रहती थी और वहाँ के शासकों से मिल-जुलकर जन-आन्दोलन को कुचलने का प्रयत्न करती रहती थी । इसलिये सन् ४८ के विद्रोह में कुछ सफलता पाकर इटली के स्वतन्त्रता प्रेमियों का ध्यान लम्वार्डी और वेनेशिया को स्वतन्त्र कराने की ओर गया और स्वयंसेवकों की एक बड़ी सेना एकत्रित करके आस्ट्रिया की सेनाओं पर हमला कर दिया गया । इटलीवासियों के उत्साह और साहस से शीघ्र ही आस्ट्रिया वालों के पैर उखड़ गये और वे खुले नगरों को छोड़कर चार किलों के भीतर बैठकर अपनी रक्षा करने लगे । तब इन प्रान्तों के प्रमुख नगर मिलान में जनता के प्रतिनिधियों की एक अस्थायी सरकार कायम कर ली गई ।

मेजिनी भी इन सब घटनाओं की जानकारी रखता था, क्योंकि जनता की यह जागृति और विद्रोह अधिकांश में उसकी 'यंग इटली' संस्था के प्रचार कार्य का ही परिणाम था । इसलिये जब मिलान में स्वाधीनतावादियो की अस्थायी सरकार कायम की गई तो मेजिनी निर्वासन-आज्ञा की परवाह न करके देश में पहुँच गया और मिलान में उसका भव्य स्वागत किया गया ।

पर आस्ट्रिया के साम्राज्यवादियो से इतनी जल्दी पीछा छुडा सकना सहज न था । इसमें एक बड़ी बाधा यह थी कि इटली के पीटमांट प्रान्त का शासक चार्ल्स अलवर्ट यद्यपि प्रकट में तो देश के स्वाधीनता-संग्राम में साथ दे रहा था और आस्ट्रिया की सेना से उसने एकाध बार युद्ध भी किया था, पर वह जनता की शक्ति को बहुत अधिक बढ़ने देना नहीं चाहता था । वह जानता था कि जन-आन्दोलन के अधिकांश नेता, जिनमे मेजिनी प्रमुख था प्रजा-सत्तात्मक शासन के पक्षपाती है और इसलिये आगे चलकर जनता की बढ़ी हुई शक्ति उसकी राज्य-सत्ता को घटाने या मिटाने में प्रयुक्त होने लगेगी ।

जब लुम्बार्डी प्रान्त पर स्वाधीनतावादियों का अधिकार हो गया तो चार्ल्स अलवर्ट ने देश की रक्षा का भार स्वयं लेकर स्वयंसेवक-सेना को भंग कर दिया और लोगों को अपने घर वापस भेज दिया । मेजिनी स्वयंसेवक-सेना के भंग करने के विरुद्ध था, पर देश की एकता के नाम पर उसे चुप हो जाना पडा । इधर आस्ट्रिया वाले मौका देख ही रहे थे । उन्होंने इटली वालों के प्रयत्नों में शिथिलता देखकर अचानक फिर से आक्रमण कर दिया । स्वाधीनता के लिये आन्तरिक उत्साह से लड़ने वाले स्वयंसेवकों के अभाव में केवल बादशाह की वेतन भोगी सेना आस्ट्रिया की बड़ी सेना का मुकाबला न कर सकी और उसने मिलान पर कब्जा करके लुम्बार्डी पर पुनः कब्जा कर लिया ।

इस पराजय से मेजिनी को बड़ा दुःख हुआ और अपने ही देशवासियों के एक दल के विश्वासघात से दुःखी होकर वह एक सामान्य सैनिक की हैसियत से गैरीवाल्डी की स्वयंसेवक सेना में सम्मिलित हो गया जो 'वरगेमो' नामक स्थान में आस्ट्रिया वालों से देश को स्वतन्त्र कराने की तैयारी कर रहा था । गैरीवाल्डी अपनी एक हजार सेना को लेकर मिलान पहुँचा पर उसी समय वादशाह चार्ल्स अलवर्ट प्रजापक्ष को धोखा देकर अपनी राजधानी पीटमांट को भाग गया । तब एक छोटे-से सैनिक दल से आस्ट्रिया की विशाल सेना का मुकाबला करना सर्वथा असम्भव देखकर गैरीवाल्डी भी वापस लौट गया ।

## रोम में प्रजातन्त्र की स्थापना

जिस समय इटली के उत्तरी भाग मे आस्ट्रिया के साथ संघर्ष किया जा रहा था उसी समय इटली की प्रसिद्ध नगरी रोम में जन-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ और उससे भयभीत होकर वहाँ का शासक पोप भाग खड़ा हुआ । यह समाचार पाकर मेजिनी वहाँ पहुँच गया और लोगो को प्रजातन्त्र शासन स्थापित करने की प्रेरणा देने लगा । लोगों ने उसकी सलाह पर अमल किया और उसी को शासन-सभा का मुखिया बनाया । जब तक यह कार्य उसके हाथ में रहा उसने प्रत्येक श्रेणी और दल के व्यक्तियों की स्वाधीनता की रक्षा करने का ख्याल रखा । हर व्यक्ति किसी भी समय उसके पास पहुँचकर आवश्यक बातचीत कर सकता था । उसे जो रकम वेतन स्वरूप मिलती उसमें भी

अधिकांश का उपयोग वह दूसरों की सहायतार्थ खर्च कर देता था और स्वयं बाजार से एक मामूली होटल में खाना खा लेता था जिससे कम खर्च मे ही काम चल सके।

पर इस अवसर पर फ्रांस ने रोम की जनता के साथ विश्वासघात किया । उसने पहले वायदा किया था कि वह इटली की शासन-व्यवस्था मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करेगा। पर अब रोम की जनता की शक्ति को बढ़ते देखकर उसने आक्रमण कर दिया। एक बार तो रोम के नागरिकों ने मेजिनी और गैरीबाल्डी की अध्यक्षता में संगठित होकर फ्रांसीसी सेना को हराकर अपनी सीमा से बाहर निकाल दिया, पर फिर उसने ३५ हजार नई सेना भेजकर युद्ध आरम्भ कर दिया। इस बार कई दिन तक तो रोम की स्वयंसेवक-सेना ने अच्छी वीरता का परिचय दिया, पर अन्त मे उसे हार मान कर हटना पड़ा । इस असफलता से मेजिनी को बड़ा खेद हुआ और वह कई दिन तक खतरे की परवाह न करके रोम की सड़कों पर घूमकर स्थिति को बदलने की चेष्टा करता रहा । जब कोई आशा दिखाई न दी तो बिना पासपोर्ट लिये ही जहाज मे बैठकर मार्सेलीज पहुँच गया और वहाँ फ्रांस की पुलिस की आँख से बचकर स्विट्जरलैण्ड जा पहुँचा।

## लोकतन्त्र पर अटल श्रद्धा

इस तरह लोकतन्त्र की विरोधी देशी और विदेशी सरकारों की चालों से मेजिनी द्वारा प्रेरित विद्रोह सफल न हो सका, पर इसके कारण न तो वह निराश हुआ और न उसने अपने लक्ष्य को बदला । इस अवसर पर एक बार जब पीटमांट के बादशाह के एक एजेण्ट ने मेजिनी की पार्टी वालों के सामने यह प्रस्ताव रखा कि वे बादशाह से मिलकर काम करें और स्वयं भी लाभ उठायें तो उन्होंने ऐसे देशद्रोही प्रस्ताव को घृणापूर्वक अस्वीकार कर दिया । इस सम्बन्ध में मेजिनी ने एक जगह लिखा था कि "जो गरीब आदमी अपने देश की रक्षा और स्वतन्त्रता के लिये आत्म-बलिदान के लिये तैयार होता है और इस बात की परवाह नहीं करता कि उसकी मेहनत का लाभ कौन उठायेगा, तो वह ईश्वर और राष्ट्र की दृष्टि मे पचास बादशाहों की अपेक्षा भी बढ़कर सम्मान का अधिकारी है।"

मेजिनी ने आन्दोलन और युद्ध के पच्चीस-तीस वर्षों के भीतर जब कभी बादशाही पक्ष का साथ दिया तो उसका कारण यही था कि वह इटली की स्वाधीनता के मार्ग मे अपनी पार्टी को बाधक नहीं बनने देना चाहता था । पर बादशाह के पक्ष वाले और नर्मदल के राजनीतिज्ञ सदा अपनी चालो मे ही लगे रहे । वे जरूरत पड़ने पर मेजिनी और उसकी देशभक्त-पार्टी से मदद लेते थे और जब काम निकल जाता था तो उनका दमन करने को भी तैयार हो जाते थे । वे यह नहीं चाहते थे कि इटली के स्वतन्त्रता-संग्राम में उस पार्टी का महत्त्व और जोर बहुत अधिक बढ़ जाये। उसको भय था कि ऐसा होने से समस्त देश मे प्रजातन्त्र की भावना फैल जायेगी और उस दशा में बादशाहत का टिकना मुश्किल हो जायेगा। मेजिनी राज्य-पक्ष वालों की इन चालों और स्वार्थपरता को समझता था पर इटली के स्वाधीनता-संग्राम मे गृह-कलह पैदा न हो इस ख्याल से वह बादशाह का खुलकर विरोध नहीं करता था। पर जब राज्यपक्ष वालो ने अपने को सच्चा बताकर इटली की पराजय का दोषारोपण झूठ-मूठ मेजिनी के ऊपर किया और इस तरह जनता पर से उसके प्रभाव को कम करने की चेष्टा की तो उसने राज्य-पक्ष वालो को फटकारते हुए एक पत्र भेजा जिसमें कहा गया था—

"ऐ तानाशाही के मददगारो ! तुम किस चीज मे इतना डरते हो ? क्या प्रजातन्त्र का विचार तुम्हें भयभीत करता है ? अगर यही बात है तो हम तुमको बार-बार विश्वास दिला चुके हैं कि अभी हमारा ऐसा इरादा नहीं है और जब कभी हमारा ऐसा इरादा होगा तो हम तुमको बहुत पहले सूचना देकर अपना काम आरम्भ करेंगे । हम तो यह चाहते हैं कि समस्त इटली एक बार विदेशियों की पराधीनता से छुटकारा पाकर स्वतन्त्र हो जाये और एक शासक के शासन में आ जाये । इसके बाद हम फिर खुशी से निर्वासित होना मंजूर कर लेगे । अगर आप समझते हों कि हम अपने यश और प्रतिष्ठा के लिये यह काम करते हैं तो यह भी गलत है । हम तो हमेशा गुप्त रूप मे अपना नाम छिपा कर ही काम किया करते है लेकिन अगर तुम विदेशी शासकों से मिलकर और साजिश करके इटली को गिराने की कार्यवाही करोगे तो हमारा

इरादा अटल है कि हम कभी अपना सर नहीं झुकायेंगे। हमारा इरादा पक्का और मजबूत है तथा जनता की सहानुभूति हमारे साथ है। अगर तुम एक जगह से हमको निकलवा दोगे तो हम दूसरी जगह जा खड़े होंगे, पर जब तक सारा इटली मिलकर एक न हो जाये तब तक हम चुप नहीं बैठेंगे। अगर तुम इटली को एक बनाने के लिये आगे बढ़ते हो तो हम तुम्हारे साथ है। अगर तुम ऐसा नहीं करते तो भी हम इटली के नाम पर जान देते हैं और सदा इसी इरादे पर कायम रहेंगे।"

## देशभक्ति के लिये जीवनोत्सर्ग

मेजिनी को अपने देश से इतना प्रेम था कि कितने ही अवसर मिलने पर भी उसने आजन्म विवाह नहीं किया, यद्यपि उसको समय-समय पर अकेलेपन के कारण बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता था और असुविधा भी सहन करनी पड़ती थी। पर उसने निश्चय कर लिया था कि वह पत्नी और परिवार के बन्धन में पड़कर मातृभूमि के प्रति अपने प्रयत्नों में कमी नही आने देगा। उसके विश्वासानुसार उसकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वह गृहस्थी का जीवन बिताता हुआ देश के स्वाधीनता-संग्राम में पूरी तरह भाग ले सके। अपने निर्वासित जीवन के आरम्भ में जब वह फ्रांस से निकाला जाने पर स्विट्जरलैण्ड में दो-तीन वर्ष रहा था तो मैग्डैलीन नाम की लड़की को उससे प्रेम हो गया था। उस समय मेजिनी की आयु बीस वर्ष की थी और वह लड़की १६ वर्ष के लगभग आयु की होगी। मेजिनी की देशभक्ति और आत्म-त्याग को देखकर वह उसका सम्मान करने लगी जो धीरे-धीरे प्रेम के रूप में परिणत हो गया। फिर मेजिनी को स्विट्जरलैण्ड से भी निकाल दिया गया और वह इंग्लैण्ड में रहने लगा। इस वियोग का प्रभाव मैग्डेलीन पर बहुत अधिक पड़ा और वह मरणासन्न हो गई। स्विट्जरलैण्ड से मेजिनी के एक मित्र ने उसे मैग्डेलीन की बीमारी की खबर दी और आग्रह किया कि उसे स्विट्जरलैण्ड आकर उससे मिलना और उसे सान्त्वना देनी चाहिये। इस पर मेजिनी ने उसे जो उत्तर दिया वह एक सच्चे आत्म-त्यागी व्यक्ति के ही अनुरूप है—

"क्यों मुझे दुःख देते हो? क्यो यह सलाह देते हो कि मैं 'मैग्डेलीन' के साथ पत्र-व्यवहार करूँ या उससे आकर मिलूँ? क्यों पूछते हो कि उसके विषय में मेरे क्या विचार हैं? हे मेरे ईश्वर, क्या मैं स्वतन्त्र अथवा स्वेच्छानुसार कार्य कर सकने की स्थिति में हूँ? ईश्वर जानता है कि मैं नहीं हूँ। यद्यपि मनुष्य प्रतिज्ञाओ की परवाह नही करते जब तक कि वे पूरी न हो जायें, पर ईश्वर की दृष्टि में प्रतिज्ञाओं का भी वही मूल्य है जो उस कार्य का जिसके लिये प्रतिज्ञा की जाती है। क्या तुम समझते हो कि मैं एक कुमारी पवित्रात्मा को सुख देने लायक हूँ? मैं जो हमेशा चिन्तित और उदास रहता हूँ और जो दूसरों की धोखेबाजियो से निराश हो गया हूँ, क्योंकर उस देवी के भाग्य को इस तरह बर्बाद कर सकता हूँ?

"मैग्डेलीन को मुझसे इसलिये प्रेम है, क्योंकि वह मेरे सिद्धान्तों को पसन्द करती है, मेरी देशभक्ति का सम्मान करती है, मेरे लेखों से प्रेम करती है। उसे मुझसे इसलिये प्रेम है क्योकि मैंने अपने काम में और अपने विचारों के प्रकट करने में सच्चाई का परिचय दिया है। मैं समझता था कि उससे इतनी दूर चले आने और एक-दो वर्ष तक उदासीन बने रहने से वह मेरा ध्यान भुला देगी और किसी और तरफ ध्यान देगी पर वह अभी तक ऐसा न कर सकी और शोक के कारण अस्वस्थ हो गई है, यह जानकर मुझे अत्यन्त दुःख होता है। मैं तुमको अधिकार देता हूँ कि वह जिन गुणों को मुझमे समझ कर प्रेम करने लगी है, उसका खण्डन करके और मुझे एक मामूली आदमी सिद्ध करके तुम उसके विचारों को मेरी तरफ से फेर दो और इस प्रकार उसके सन्तप्त मन को शान्ति देने का प्रयत्न करो।"

मेजिनी को मैग्डेलीन से पवित्र प्रेम था। 'गीदता' नामक एक अन्य महिला भी उससे विवाह करने को उद्यत थी और मेजिनी भी उसको अपनाकर उसकी सहायता करना चाहता था, पर निरन्तर आन्दोलन और क्रांतिकारी योजनाओं मे लगे रहने के कारण उसको कभी विवाह की तरफ ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिल सका। वह प्रायः कहा करता था कि अपनी मातृभूमि के प्रति मेरा जो प्रेम है, विवाह करके मै उसमें से हिस्सा बँटा देना नही चाहता।

## अन्तिम समय

मेजिनी का समस्त जीवन इसी प्रकार अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करते हुए व्यतीत हो गया और

उसने अपने समस्त साधनो को देशोद्धार के प्रयत्नों में लगा दिया । बाद में उसका नाम हो जाने पर उसे अपने लेखों से इतनी आमदनी हो जाती थी कि अपना निर्वाह आराम के साथ कर सके पर वह इस धन का भी एक भाग क्रांतिकारी कार्यों मे खर्च कर डालता था और स्वयं गरीबी में ही जीवन व्यतीत करता रहता था । यद्यपि अपने राजनीतिक विरोधियों के कारण उसे जीवन के अन्त तक छिपकर ही काम करना पड़ा और उसकी मृत्यु भी उस समय हुई जब वह इटली वासियों मे शिक्षा सम्बन्धी प्रचार करने की एक योजना को पूरा करने इंग्लैण्ड जा रहा था । मार्ग में ही ठंड लग जाने से उसे निमोनिया हो गया और १० मार्च १८७२ को पीसा नगर में एक मित्र के घर पर अकस्मात उसका देहान्त हो गया ।

मेजिनी उम्र भर अपने देश से निर्वासित रहा । इटली के राज्य-मन्त्री ने एक बार उसको फाँसी की आज्ञा दे दी थी, पर जब वह मर गया तो लोगों ने उसकी महानता को समझा और वे कहने लगे कि देश की उन्नति का सूरज डूब गया । उसके देशवासी उसके शव को एक बड़े जुलूस के साथ जिनेवा ले आये । उसकी अर्थी के साथ उस समय ८० हजार इटलीवासी शोक प्रकट करने को चल रहे थे । जिन लोगों ने जीवित अवस्था में उसका महत्त्व नहीं समझा वे भी मरने के बाद उसके महान व्यक्तित्व का अनुभव कर रहे थे ।

## न्याय और समानता का समर्थक

मेजिनी उन महा-मानवों में से थे जो किसी एक देश या जाति की सम्पत्ति नहीं होते वरन् समस्त संसार उनको अपना समझता है और वे भी सदैव मनुष्य मात्र की कल्याण भावना मे ही सब कार्य किया करते थे । यद्यपि उस समय संसार की परिस्थिति आजकल की अपेक्षा बहुत भिन्न थी और दुनिया में सैकड़ो ऐसे स्वतन्त्र बादशाह और शासक थे जो दूसरों का स्वत्व अपहरण करने को सदा तैयार रहते थे और झूठ-मूठ का बहाना निकाल कर चाहे-जिस पर चढ़ाई कर देते थे । ऐसे समय में किसी अल्पसाधन-युक्त मनुष्य का अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन उठाने का विचार करना और उसमें सफलता प्राप्त कर लेना एक अनहोनी-सी बात थी । मेजिनी ने भी यद्यपि साधनों की कमी के कारण अपनी अधिकांश शक्ति इटली के उद्धार मे ही लगाई, पर वह अन्तर्राष्ट्रीय एकता व संगठन के महत्त्व को पूरी तरह से जानता व मानता था । उसने 'मनुष्य के कर्तव्य' (ड्यूटी आफ मैन) मानवीय कर्तव्यों तथा अधिकारों की जो विवेचना की है वह किसी एक देश के अनुकूल नहीं वरन् समस्त संसार को दृष्टिगोचर रखकर ही लिखी गई है । भारतवर्ष के प्रति भी मेजिनी पूर्ण सद्भावना रखता था और जब यहाँ स्वाधीनता-संग्राम आरम्भ हुआ तो भारतीय युवकों ने मेजिनी के आन्दोलन से बहुत अधिक प्रेरणा ग्रहण की । भारत के सर्वोच्च नेताओं में से एक लाला लाजपतराय ने उर्दू में मेजिनी का जीवन-चरित्र लिखा जिसे पढ़कर हजारों भारतीय नवयुवकों ने देशभक्ति के मार्ग पर पदार्पण किया । मेजिनी वास्तव में भारतीय संस्कृति के अनुसार संसार के प्रत्येक व्यक्ति और देश के साथ पूर्ण न्याययुक्त और समान व्यवहार का पक्षपाती था और इसलिये यूरोपियन देशों द्वारा भारत तथा अन्य ऐशियाई देशों को पराधीन बनाने तथा शोषण करने का सदा विरोध करता था ।

यद्यपि मेजिनी का पूरा जीवन राजनीतिक आन्दोलन में बीता और वह प्रजातन्त्र का दृढ़ समर्थक था, जिससे राज्य-संस्था के पक्ष वाले उस पर नास्तिकता का झूठा इल्जाम न लगाया करते थे । इस प्रकार वे चाहते थे कि जन-साधारण उसके विरुद्ध हो जाये, पर मेजिनी वास्तव में एक सच्चा, धार्मिक व्यक्ति था । यद्यपि वह बहुत अधिक ऊपरी पूजा-पाठ के ढोंग पर विश्वास न करता था, पर देश सेवा और मानव-सेवा को ही ईश्वर की सच्ची पूजा समझता था और इसके लिये आस्तिकता तथा सच्चाई के सिद्धान्तों के प्रभाव को आवश्यक मानता था । इस सम्बन्ध मे अपने साथियों को प्रेरणा देते हुए उसने जो निम्नलिखित अमर शब्द कहे थे—

"दुनिया में दुष्ट और कुमार्गगामी जितने अधिक होते जायेंगे उतना ही अधिक उन लोगों का उत्तरदायित्व बढ़ता चला जायेगा, जो सच्चाई को कायम रखना चाहते हैं । स्वार्थ जितने बल से अपने पैर जमाने की चेष्टा करेगा, उतनी अधिक आवश्यकता इस बात की है कि उसका मुकाबला दृढ़ता से किया जाये और आलसी पीढ़ियो की शिक्षा में स्वार्थ के बीज को नष्ट कर दिया जाये । लोगों में नास्तिकता के विचार जितने अधिक फैलते जाये, उतनी ही अधिक आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने हृदय को परमात्मा का मन्दिर बनाये और अपने विश्वास की मजबूती से उसकी पवित्रता को स्थिर रखने की कोशिश करें ।"

# परोपकार के व्रतधारी : गैरीवाल्डी

सन् १८४६ की बात है । इटली के प्रमुख नगर रोम का भाग्य एक झूले-से मे झूल रहा था । जो नगर को दो-ढाई हजार वर्ष पहले संसार की एक अपूर्व शक्तिशाली सभ्यता का केन्द्र और समस्त यूरोप तथा एशिया, अफ्रीका के भी अनेक देशों का कर्ता-धर्ता था, वही उस समय कितने ही शत्रुओं से घिरा पदावनत अवस्था में पड़ा था । कहने के लिये तो उस पर 'पोप' का अधिकार था, पर ये धर्म का व्यवसाय करने वाले पादरी स्वाधीनता तथा राष्ट्रीयता की भावनाओं को बढ़ावा देने के बजाय उनका गला घोंटने वाले थे । वे इटली देश के शत्रु आस्ट्रिया तथा फ्रांस से समझौता और सहयोग करते थे, पर इटली के उद्धार का बीड़ा उठाने वाले गैरीवाल्डी और मेजिनी जैसे आत्मवलिदानी महापुरुषों पर अपनी सीमा के भीतर घुसने के लिये भी प्रतिवन्ध लगाते थे ।

पर जब इन देश-भक्तों के अथक परिश्रम के फलस्वरूप जनता में स्वाधीनता की लहर उठी तो उसने 'पोप' जैसे स्वार्थी और भोगपरायण व्यक्तियों को तिनके की तरह बहा दिया । जब वहाँ के लोगों को यह स्मरण कराया गया कि किसी दिन यही रोम का नगर समस्त संसार की राजधानी था और यहीं के 'सीनेट-हॉल' मे बडे-बड़े साम्राज्यों तथा बादशाहों की किस्मत का फैसला किया जाता था, तो उन लोगों की मोह-निद्रा-भंग हो गई और वे घर के तथा बाहरी शत्रुओ का सफाया करके स्वाधीनता का झण्डा ऊँचा करने को मतवाले हो उठे । किसी बहादुर नौजवान ने अपनी जान पर खेलकर सरेआम 'पोप' के मन्त्री को मार दिया । यह देखकर 'पोप' ने समझ लिया कि अब मेरी भी खैर नहीं है और वह वहाँ से छिपकर कहीं भाग गया । अब शासन-व्यवस्था के लिये ऐसे व्यक्तियों की एक 'संसद' का निर्माण किया गया जिनको स्वाधीनता प्राणों से प्यारी थी और जिनका लक्ष्य जनता का राज्य स्थापित करने उसके कल्याण के लिये ही हर तरह से प्रयत्न करना था ।

## रोम की रक्षा के लिये घोर संग्राम

अब रोम की संसद ने गैरीवाल्डी को रोम आने का निमन्त्रण भेजा । अब तक तो वह और उसके थोड़े से मातृभूमि के लिये रक्त बहाने वाले साथी एक जगह से दूसरी जगह मारे-मारे फिरते थे और अक्सर उनको अपनी कार्यवाहियों को छुपकर और यहाँ से वहाँ भागते-दौड़ते करनी पड़ती थी । उनको सदैव आस्ट्रिया और फ्रांस की बड़ी-बड़ी सेनाओं का ही मुकाबला नहीं करना पड़ता था वरन् देश के गद्दार शासक भी उनके मस्तक काट कर लाने वालों के लिये बीस-बीस हजार रुपया पुरस्कार देने की घोषणा करते रहते थे । अन्त में जब उनको अपनी आशाओं का सूर्य आसमान पर ऊँचा चढ़ता दिखाई दिया तो गैरीवाल्डी अपने सहकारियों के साथ नये शासन का साथ देने, आवश्यकता पडने पर उसकी रक्षा करने के उद्देश्य से रोम की तरफ रवाना हुआ । नवीन संसद की बैठक ८ फरवरी १८४६ को होने वाली थी । उस समय वर्षों तक जंगलो, पहाड़ों, समुद्रों में दुश्मनों के साथ निरन्तर लड़ते-भिड़ते रहकर कष्ट पूर्ण जीवन व्यतीत करने के कारण गैरीवाल्डी का स्वास्थ्य भी ठीक न था । उसके पैरों के जोड़ो में दर्द होता था और वह चलने लायक न था । तब एक साथी उसे कन्धे पर उठाकर 'सीनेट हॉल' में ले गया । वहाँ रात के ११ बजे समस्त सदस्यों ने एकमत से 'गण-राज्य' की स्थापना का निर्णय किया । इस अवसर पर गैरीवाल्डी की खुशी का ठिकाना न था । यद्यपि इस समय वह एक सदस्य के रूप में ही वहाँ उपस्थित हुआ था, पर आज उसे अपने हृदय की चिर अभिलाषित कामना मूर्तिमान होती दिखलाई पड़ रही थी । उसे सबसे ज्यादा सन्तोष इस बात का था कि सैकड़ों देश-भक्तों के बलिदानों के प्रभाव से देश की सामान्य जनता चैतन्य हो उठी है और अब उसके मार्ग में कितनी ही बाधायें आयें वह स्वतन्त्रता के लक्ष्य को दृष्टि से ओझल नहीं होने देगी ।

## 'धर्मगुरुओं' की माया

पर 'धर्मगुरुओं' की माया बड़ी प्रबल होती है, और उसने प्राचीन समय से जनता के अन्धविश्वासी-वर्ग के ऊपर ऐसा जादू डाला हुआ है कि वे सहज में ही उनके सब्ज-बाग दिखाने को 'वेद-वाक्य' मानकर विपरीत मार्ग पर चलने लगते हैं । यहाँ भी ऐसा ही हुआ ।

इसका वर्णन करते हुए एक लेखक ने समय की बिल्कुल सच्ची तस्वीर ही खींच दी है—

"पोप रोम से क्या भागा कि रोमन कैथौलिक सम्प्रदाय के ईसाइयों की निगाह में आसमान टूट पड़ा। चारों तरफ से रोम के नये 'गण-राज्य' का गला घोंटने की तैयारी होने लगी। कोई कहता इसे विष देकर मार देना चाहिये, कोई कहता फाँसी दे देनी चाहिये, कोई कहता गोली मार देनी चाहिये, कोई कहता अपने बेटों के हाथों उसे मरवाना चाहिये, कोई कहता इसे बहुत कष्ट देकर मारना चाहिए—सारांश यह कि सब तरह के उपाय सोचे और काम में लाये गये।"

"इटली के लोगों को ऐसी ही जहरीली शिक्षा से भड़काया गया। पादरियों तथा जासूसों ने जनता को खूब बहकाया। फ्रांस और आस्ट्रिया जैसी दो बड़ी शक्तियों ने गोला बारूद की तैयारी की और चारों तरफ से नाकाबन्दी करके रसद बन्द करने का इन्तजाम किया गया। इटली के दूसरे प्रान्तों के शासकों को भी लड़ने के लिये तैयार करने की कोशिश की गई। बेईमान और दगाबाज लोग तरह-तरह की झूठी बातें फैलाकर जनता के जोश को दबाने लगे। आपस में जलन, फूट और शत्रुता की आग को भड़काया गया। मतलब यह कि जो कुछ सम्भव और जो असम्भव भी था वह भी किया गया। चार दिन का नन्हा-सा बालक और सारी दुनिया का विरोध—पराये लोगों का और अपने ही भाई-बन्धुओं का भी। पर इस प्रकार के निःस्वार्थ जन-भक्ति के कार्यों में कोई दैवी शक्ति होती है, जिसके बल पर वह बड़े विरोध का सामना करने को तैयार हो जाता है।

जब पोप के षड्यन्त्र और जहरीले प्रचार के नाम पर रोमन कैथौलिक सम्प्रदाय अनुयायी फ्रांस की सेनाओं ने आकर रोम को घेर लिया तो गैरीवाल्डी ही सबसे पहले आगे बढ़ा। कुछ कायर और भीतर ही भीतर प्रजातन्त्र के विरोधी लोगों ने तो कहा कि—बड़े राज्य का मुकाबला करना बेकार है, इसलिये रोम के दरवाजों को खोल देना चाहिये। पर राष्ट्रीय संसद ने जिसका मुखिया उस समय मैजिनी नियत किया गया था, यही कहा कि—आखिरी दम तक मुकाबला किया जाये। इस समय एक तरफ तो फ्रांस की आठ हजार सुशिक्षित अनुभवी सेना थी, जो अभी अफ्रीका से एक बड़े युद्ध में विजय प्राप्त करके लौटी थी और दूसरी ओर गैरीवाल्डी के साथ ३०० वेनिस के स्वयंसेवक, ४०० विश्वविद्यालयों के युवक, ३०० कुलीन वंशों के लड़के और ३०० खानाबदोश इटालियन थे जो विदेशों से प्रजातन्त्र की रक्षा के लिये स्वेच्छा से इकट्ठे हो गये थे इनके अतिरिक्त ४० गैरीवाल्डी के घनिष्ठ सहयोगी थे जो दक्षिण अमेरिका में उसके साथ आये थे और जो उसके एक इशारे पर सदा मरने को तैयार रहते थे। इस प्रकार कुल ढाई हजार मिली-जुली सेना को लेकर गैरीवाल्डी रोम नगर के परकोटे की रक्षा के लिये मुस्तैदी से डट गया। फ्रांस की फौज ने शहर से पन्द्रह मील की दूरी पर घेरा डाला और ३० अप्रैल को थोड़ी सेना के साथ एक सैनिक अधिकारी को रोम के मुख्य फाटक की तरफ भेजा। फाटक से तीन मील के फासले पर ही वहाँ पर तैनात 'गण-राज्य' के एक अधिकारी ने उसे रोक दिया। शुरू में तो दोनों तरफ से कुछ समझौते की बातचीत हुई, पर जब कोई भी पक्ष पीछे हटने को राजी न हुआ तो गोली चल गई। अगर्चे फ्रांसीसी सेनायें सभी घुड़सवार और रोम वाले पैदल ही थे, पर अन्त में फ्रांस वालों को मैदान छोड़ कर भाग जाना पड़ा।

रोम जैसे एक नगर द्वारा फ्रांस जैसे उस समय के सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र की अपमानता होते देखकर फ्रांसीसी सेना का प्रधान सेनापति आग बबूला हो उठा और उसने पूरी सेना और १२ तोपें लेकर रोम पर धावा बोल दिया। जब यह सेना लड़ते-लड़ते परकोटे के पास जा पहुँची और उस पर चढ़ने को तैयार हो गई तो गैरीवाल्डी एक हजार साथियों को साथ लेकर उस पर टूट पड़ा। फ्रांसीसी बड़ी वीरता से लड़े पर मातृभूमि के नाम पर दीवाने इन स्वेच्छा-सैनिकों के आगे उनकी एक न चली और ढाई सौ फ्रांसीसियों के कैद हो जाने पर शेष सेना पीछे हट गई। अब फ्रांसीसी सेनापति ने रोम की संसद से प्रार्थना की कि जब तक सुलह की बात-चीत चले तब तक लड़ाई बन्द रहे। अधिकांश राजनीतिज्ञों ने इसे मान लिया, यद्यपि गैरीवाल्डी इससे स्पष्टतः असहमत रहा और उसने साफ कह दिया कि—यह फ्रांसीसी सेनापति की एक चाल मात्र है, जिससे उसे अधिक सेना बुलाने का समय मिल जाये।

एक महीने बाद ही नेपिल्स के बादशाह ने २० हजार फौज लेकर रोम पर धावा बोला, गैरीवाल्डी ने थोड़ी-सी सेना लेकर उसको भी मार भगाया। इसके बाद ही आस्ट्रिया की सेना ने धावा बोला तो चार हजार सेना उसके मुकाबले को भेजी गई। जब फ्रांसीसी सेनापति ने देखा कि अब रोम मे बहुत थोड़ी सेना रह गई है तो उसने संधि-पत्र को रद्दी की टोकरी में फेंक कर धावा बोल दिया। उसने यह धावा धोखा देकर आधी रात के समय किया जब रोम के समस्त नागरिक और सिपाही सो रहे थे। जो थोड़े से सिपाही पहरा दे रहे थे उनको एकाएक मार कर फ्रांसीसी सेना शहर मे घुस आई और कितने ही महत्त्व के स्थानों पर कब्जा कर लिया।

तोप की आवाज सुनकर जब गैरीवाल्डी जगा तो उसने देखा कि सभी खास-मुकामों पर दुश्मन ने कब्जा कर लिया है। इस निराशाजनक स्थिति में भी वह अपने दो हजार सिपाहियों को लेकर फ्रांसीसियों की २० हजार सेना से जूझता रहा। उसने कई स्थानो से दुश्मन को हटा दिया पर उनकी नई-नई सेना आकर फिर उस पर हमला करती रही। इस तरह रोम के निवासी गैरीवाल्डी और उसके सहकारियों के नेतृत्व मे २५ दिन तक फ्रांसीसियों से लड़ते रहे और हजारो की संख्या में स्त्री, पुरुष तथा बच्चे गोले-गोलियों और तलवारों से मारे गये। अन्त में रोम की ससद ने युद्ध कर के पराजय स्वीकार करने का निश्चय किया। पर गैरीवाल्डी और उसके आत्म-बलिदानी साथी इसके लिये तैयार न हुए और वे उसी समय बाहर निकल गये।

गैरीवाल्डी की वीर-पत्नी एनिटा भी इसी दल में सम्मिलित थी। यद्यपि गैरीवाल्डी ने उससे घर पर ही रहने का बहुत आग्रह किया था, पर वह देश-सेवा के पुण्य से वंचित रहने को किसी तरह तैयार न हुई। उसने अपने बाल कटाकर पुरुषों की पोशाक पहन ली और घोडे पर सवार होकर दल का उल्लास बढाती अग्रसर हुई, पर फ्रांसीसी सेना का एक बड़ा दल इनका पीछा करता हुआ चल रहा था। इससे गैरीवाल्डी और उसके साथियों को भयंकर जंगली और पहाडी मार्ग में होकर चलना पड़ा जिसमे विश्राम के योग्य स्थान और खाने-पीने की व्यवस्था का सर्वथा अभाव था। एनिटा इस समय गर्भवती स्त्री थी। इसलिये निरन्तर भूख-प्यास और ठण्ड को सहते हुए उसका स्वास्थ्य भंग हो गया। एक दिन शत्रुओं से बचने के लिये उसे मक्के के खेत में छुप जाना पड़ा। वहाँ प्यास के मारे उसका दम निकलने लगा, पर पीने के लिये पानी कहाँ? अन्त में गैरीवाल्डी उसे उठाकर एक गाँव में ले गया। वहाँ पर पानी का गिलास एनिटा के लिये भर कर लाया, त्योंही उसके प्राण-पखेरू निकल गये।

## जन्म-जात देश-भक्त

गैरीवाल्डी (जन्म १८०७) मे देश-भक्ति और स्वाधीनता के प्रेम के गुण जन्म-जात थे। वैसे वह एक सामान्य जहाजी व्यवहार करने वाले पिता की सन्तान था और उसने शिक्षा भी अधिक प्राप्त नहीं की थी, पर सत्य और न्याय का पक्ष ग्रहण करना और अत्याचार पीड़ितों की सहायतार्थ सदैव आत्म-बलिदान को प्रस्तुत रहना उसे बचपन से ही अच्छा लगता था। गैरीवाल्डी ने लिखा है कि ये गुण उसे अपनी माता से मिले थे जो असाधारण दयालु प्रकृति की तथा कर्त्तव्य-परायण स्त्री थी। उसका कथन है कि—"आज मुझ में जो इतना प्रगाढ़ देश-प्रेम दृष्टिगोचर होता है वह मेरी माता का ही प्रताप है। यद्यपि मैं अन्ध-श्रद्धालु अथवा बुद्धि विरोधी धर्म का मानने वाला ही हूँ, तो भी मुझे यह स्वीकार करना पडता है कि मेरे जीवन में जब कभी भयंकर घटनाये उपस्थित हुई हैं, मुझे तूफानी समुद्र में गोले-गोलियो की वर्षा में उपस्थित रहने का जब कभी अवसर आया है, तब मुझे सदा यही अनुभव हुआ है कि मेरी माता की छाया-मूर्ति पृथ्वी पर माथा टेके हुए मेरी रक्षा के लिये परमात्मा से प्रार्थना कर रही है। इस दृश्य से मुझमे इतनी हिम्मत आ जाती है कि लोग उसे देखकर आश्चर्य करते थे।

यों तो गैरीवाल्डी को बाल्यावस्था से ही रोम की महानता और इटली के गौरव का ध्यान था, पर जब वह जहाज का एक कर्मचारी बनकर देश विदेश मे घूमने लगा तो उसे अपने देश की प्राचीन और वर्तमान दशा का अन्तर प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा और इसके फलस्वरूप उसके हृदय में देश-सेवा की भावना दृढ होने लगी। जब उसने रोम के प्राचीन खण्डहरों तथा अन्य महानता के चिन्हो को देखा, तो उसे रोमांच हो

आया । उस समय के हार्दिक भावों का वर्णन करते हुए उसने अपनी 'आत्म-कथा' में लिखा है—

"मेरी निगाह में रोम एक ऐसी रानी के समान था जिसका राज-सिंहासन उससे छीन लिया गया है । उसके खण्डहर उसकी प्राचीन महानता का प्रमाण देते हैं । रोम की बर्बादी, रोम की अवनति और रोम के दुर्भाग्य को याद करके दिल पर साँप-सा लोट जाता था । रोम दुनिया की सब चीजों से ज्यादा पवित्र और प्यारा नजर आता था । मेरा उसके प्रति प्रेम जीवन-भर कम न होने पाया वरन् बढ़ता ही गया । मैं जब सैकड़ों कोस दूर चला गया, तब भी ईश्वर से प्रार्थना करता रहा कि वह रोम का दर्शन कराये, क्योंकि मेरी निगाह में 'रोम' के बिना 'इटली' का शब्द अर्थ ही न था जब तक इटली के सब हिस्से मिल न जावें तब तक इटली कोई चीज नहीं और इस एकता के लिये रोम एक झण्डे और सितारे की तरह दिखाई देता है । रोम को देखकर मुझे 'पोप' से दुगनी घृणा हो जाती थी क्योंकि उसी के कारण रोम को इस नैतिक और सांस्कृतिक दुर्दशा का सामना करना पड़ा था ।"

इस प्रकार के विचार को लेकर वह जहाजरानी के काम में बराबर तरक्की करता रहा और उसने निश्चय किया कि यह पेशा केवल पेट भरने के लिये नहीं है वरन् इसके द्वारा देश-रक्षा और देशोन्नति का बहुत काम भी किया जा सकता है। कुछ समय पश्चात् उसकी भेंट एक फ्रांसीसी आन्दोलनकारी से हुई जिसने गैरीवाल्डी को समझाया कि—"हर एक मनुष्य का पहला और पवित्र कर्त्तव्य यह है कि वह अपने देश की रक्षा के लिये तलवार उठाये । दूसरी बात यह है कि किसी देश को परतन्त्र बनाने वाले आक्रमण में मदद न करे । तीसरी यह है कि जो देश किसी बलवान शत्रु के अन्यायपूर्ण आक्रमण और शासन से पीड़ित हो रहा है उसको अपना ही देश मानकर उसकी राष्ट्रीयता की रक्षा के लिये तलवार उठाये । ऐसे व्यक्ति का दर्जा सबसे ऊँचा होता है ।" इस शिक्षा से गैरीवाल्डी को एक नई प्रेरणा प्राप्त हुई और उसने अपना जीवन-कर्त्तव्य सर्वप्रथम अपनी मातृभूमि इटली की तथा उसके बाद संसार के अन्य पराधीन देशों की राष्ट्रीयता के लिये प्राणपण से उद्योग करना निश्चित किया और इसे जिन्दगी के अन्तिम क्षण तक निबाहा ।

सन् १८३० में जब गैरीवाल्डी की उम्र २३ वर्ष की हुई उसको अपने देश की संस्थाओं और कार्यकर्ताओं का हाल मालूम हुआ जो इटली को स्वतन्त्र बनाने के प्रयत्नों में संलग्न थे । उसे मैजिनी की 'यंग इटली' संस्था का हाल भी मालूम हुआ और कुछ ही समय बाद वह उससे सम्बन्ध स्थापित करके बड़े उत्साह के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने लगा । उन दिनों इटली के देशी-विदेशी सभी शासक स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेने वाले आन्दोलनकारियों के पीछे पड़े थे और इस कारण उनको प्रायः इटली से भाग कर फ्रांस और स्विट्जरलैण्ड जैसे सीमावर्ती देशों में रह कर छुपे तौर से अपना काम करना पड़ता था । वे वहीं से इटली की जनता को प्रेरणा देने वाला और उसे स्वाधीनता-संग्राम के लिये तैयार करने वाला साहित्य तैयार कर के भेजते रहते थे । इस काम में उनको सबसे अधिक सहायता उन जहाजी कर्मचारियों से ही मिलती थी जो फ्रांस के मार्सेलीज तथा अन्य बन्दरगाहों से व्यापार का सामान और यात्रियों को लेकर इटली जाते रहते थे । चूँकि गैरीवाल्डी स्वयं जहाज का एक बड़ा कर्मचारी था और हजारों अन्य कर्मचारियों से उसकी जान-पहचान थी इसलिये गुप्त आन्दोलन में उसका सहयोग बड़ा बहुमूल्य सिद्ध हुआ । मैजिनी ने उसकी आन्तरिक उच्च भावनाओं और जहाजी मामलों के पूर्ण जानकार व्यक्ति होने के महत्त्व को फौरन समझ लिया और पहली भेंट में ही उनमें ऐसा सौहार्द और घनिष्ठता पैदा हो गई कि जिसका उदाहरण मिलना कठिन है । आगे चलकर यद्यपि इन दोनों की कार्य-प्रणाली में कुछ अन्तर पड़ा क्योंकि गैरीवाल्डी एक सच्चा सिपाही था और मैजिनी राजनैतिक आन्दोलनकारी, पर इटली के स्वाधीनता संग्राम में इन दोनों का कार्य इतना अधिक महत्त्व का तथा प्रभावशाली रहा कि वह इतिहास में अजर अमर हो गये । इन दोनों ने मिल कर इटली के दुश्मनों को हराने के लिये वर्षों तक जान हथेली पर लेकर ऐसे-ऐसे कारनामे किये कि वे सैकड़ों वर्ष तक सच्चे देश-सेवकों के लिये मार्गदर्शक का काम करते रहेंगे ।

सन् १६३२ में जब मैजिनी ने शत्रुओं की चालों से फ्रांस से निकलकर स्विट्जरलैण्ड में शरण ली और वहीं रहकर इटली पर आक्रमण की योजना बनाने लगा । उसके अनुसार गैरीवाल्डी ने सन् १६३३ में इटली के ही एक नौ-सेना के जहाज पर नौकरी कर ली । उसका इरादा था कि जहाज के मल्लाहों को अपनी तरफ मिलाकर सिपाहियों को आकस्मिक आक्रमण द्वारा वश में कर लिया जाये और तब जहाज को मैजिनी के सुपुर्द करके स्वाधीनता संग्राम के काम मे लाया जाये । उसने मल्लाहों में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करके क्रांतिकारी दल का अनुयायी भी बना लिया, पर आक्रमण की तारीख से दो दिन पहले ही वह दूसरे जहाज पर बदल दिया गया । उसका जहाज 'जिनोआ' नगर को जा रहा था । मार्ग में ही उसने सुना कि वहाँ का क्रांतिकारी दल जिनोआ पर कब्जा करने की योजना बना रहा है । वह भी चुपके से जहाज से उतर कर उसमें जा मिला, पर जब आक्रमण के स्थान पर पहुँचा तो वहाँ किसी को न पाया उल्टा अपने को चारो तरफ से सरकारी सिपाहियों से घिरा हुआ पाया । बात यह हुई कि सरकार को अपने जासूसों द्वारा आक्रमण का पता लग गया था और उसने क्रातिकारियों को पकड़ने की पूरी व्यवस्था कर दी थी । यह देखकर क्रातिकारी दल ने अपनी योजना रद्द कर दी, पर गैरीवाल्डी को समय पर सूचना न मिलने से वह उसमे फँस गया ।

पर वह घबराया नहीं वरन् अपनी सहज बुद्धि से काम लेकर वहाँ इस प्रकार धीरे-धीरे टहलने लगा मानो इसे इस प्रकार के राजनीतिक मामलों से कोई सम्बन्ध ही नही है । फिर एक स्वतन्त्रता-प्रेमी फल बेचने वाली स्त्री के घर में चला गया और अपना हाल कहकर सहायता की प्रार्थना की । उसने उसे घर में छुपा लिया और सन्ध्या हो जाने पर किसानों के पहनने का एक पुराना वस्त्र देकर विदा कर दिया । गैरीवाल्डी वेष बदलकर सार्वजनिक सड़क को छोड़कर जगलो और खेतो के रास्ते से दस दिन तक कठोर यात्रा करके अपने घर 'नाइस' जा पहुँचा । पर मार्ग के कष्टों मे इसकी हालत ऐसी खराब हो गई थी और पैर चलते-चलते ऐसे घायल हो गये थे कि इसकी चाची इसे पहचान भी न सकी और भिखारी समझकर घर से निकल जाने को कहा । तब माता ने इसे कठिनाई से पहचाना । पर हर जगह सरकारी सिपाही इसकी खोज कर रहे थे, इसलिये घर से दूसरे ही दिन दो मित्रों को साथ लेकर चल दिया । रास्ते में 'थार' नदी मिली जिसमें खूब बाढ आई हुई थी । वह तो पक्का तैराक था, पर दोनों मित्र तैरना न जानने के कारण अपने घरो को वापस लौट गये ।

दूसरी पार का प्रदेश फ्रांस के अधिकार में था वहाँ फ्रांसीसी सिपाही पहरा दे रहे थे । गैरीवाल्डी ने वहाँ किसी भय की आशंका न करके अपना ठीक हाल बतला दिया । इस पर सिपाहियों के अफसर ने उसे गिरफ्तार करके एक बगीचे में पन्द्रह फीट की ऊँचाई पर बने कमरे मे बन्द कर दिया और पहरे पर एक सिपाही रख दिया, पर अन्य सब लोग चले गये । गैरीवाल्डी कमरे के नीचे बनी फूलों की क्यारी में कूद पड़ा । सिपाही को इतनी ऊँचाई से कूदने का साहस नहीं हुआ । जब तक वह सीढी से उतरा गैरीवाल्डी दौड़कर पहाड़ के पास पहुँच गया । वहाँ से वह फिर ऊबड़-खाबड़ रास्तो से होकर चला और केवल तारों की सहायता से दिशा का अनुमान करता हुआ मार्सेलीज पहुँच गया ।

## मृत्यु दण्ड की घोषणा

मार्सेलीज पहुँचने पर इसने 'ली प्यूपल सोपेरेन' नामक समाचार-पत्र मे पढ़ा कि इटली के शासकों ने उसे अपराधी ठहरा कर गोली से मार देने की घोषणा कर दी है । नौ-सेना के अध्यक्ष ने तो उसे भगोड़ा करार देकर ऐसी अमानुषिक सजा देने की आज्ञा निकाली थी कि उसका वर्णन करना भी कठिन है । यह पहला ही अवसर था जब गैरीवाल्डी ने अपना नाम अखबार मे छपा हुआ देखा और इससे बडी प्रसन्नता का अनुभव करने लगा । नौ-सेना की तरफ से इसका जो हुलिया प्रकाशित किया गया था उससे इसके व्यक्तित्व का भी कुछ पता लग जाता है । उसमे कहा गया था—"इसकी ऊँचाई पाँच फीट साढ़े छः इन्च, बाल व भौंहे कुछ लाल, आँखें बादामी रग की, माथा खूब चौड़ा, नाक तोते की चोंच की तरह, मुख मँझोला, ठोड़ी गोल, स्वस्थ वर्ण और कोई विशेष चिन्ह शरीर पर नही । ३ फरवरी, १८३४ को 'डेसजिनीस' नामक जहाज पर

सवार होकर प्रस्थान किया और ४ फरवरी को छिपकर काम छोड़ कर भाग गया ।"

पर इस खतरनाक परिस्थिति में भी गैरीवाल्डी ने कभी अपने सुख-दुःख की परवाह न की और जब कभी अवसर आया वह दूसरों की मदद करने से कभी पीछे न हटा । मार्सेलीज मे इटली सरकार का प्रभाव देखकर वह अपना नाम बदल कर पेरिस चला गया और वहाँ एक जहाज पर मामूली नौकरी करके विदेश जाने को तैयार हो गया । उसी समय उसने देखा कि एक नवयुवक समुद्र मे गिर कर डूब रहा है । गेरीवाल्डी ने फौरन कूद कर बडी कठिनाई से उसकी जान बचाई । उसकी वीरता की शहर मे धूम मच गई और सैकड़ो आदमी उसे बधाई देने उसके निवास स्थान पर आये ।

जब उस जहाज पर काम करते हुए गैरीवाल्डी टर्की से एडिसा बन्दरगाह मे ठहरा हुआ था तो एक दिन उसने देखा कि कुछ लोग एक नाव में बैठकर आये और उन्होंने एक थैला समुद्र मे डाल दिया । उसने सुन रखा था कि टर्की के मुसलमान जब किसी औरत से नाराज होते है तो उसे एक थैले मे बन्द करके समुद्र मे फेक देते है । यह ख्याल आते ही वह समुद्र में कूद पड़ा और थैले को पकड़कर जहाज मे ले आया । वास्तव मे उसमे एक सुन्दर स्त्री बन्द थी । गैरीवाल्डी ने उसे एडिसा मे अग्रेजी सरकार के दूत के सुपुर्द कर दिया जिससे उसे उसके माता-पिता के यहाँ पहुँचा दिया जाये । इसी तरह उसने एक डूबते हुए मल्लाह की जान भी बचाई ।

कई बार टर्की की मुसाफिरी करके जब वह मार्सेलीज वापस आया तो उसने देखा कि शहर मे भयकर हैजे की बीमारी फैली हुई है और बीमारों की सेवा करने के लिये अस्पताल वालो को स्वयंसेवको की आवश्यकता है । इस काम में जान-जोखिम समझकर कोई इसके लिये तैयार न होता था । गैरीवाल्डी ने फौरन अपना नाम पेश किया । पन्द्रह दिन तक लगातार इस काम मे लगा रहा ।

## दक्षिण अमेरिका में बारह वर्ष

कुछ समय पश्चात् गैरीवाल्डी एक और जहाज का कप्तान बनकर दक्षिण अमेरिका के ब्राजील देश की राजधानी 'रीओ डी जेनेरो' मे जा पहुँचा वहाँ उसका कितने ही अन्य निर्वासित इटली वासियो से परिचय हो गया और वह अपने थोड़े से साथियो के साथ वहाँ के राजनीतिक मामलों में भाग लेने लगा । उन दिनो वहाँ 'लागरेडी' नामक प्रदेश ने ब्राजील की सरकार के खिलाफ विद्रोह करके स्वतन्त्र प्रजातन्त्र राज्य की घोषणा कर दी । पर ब्राजील के मुकाबले मे इस नये गण-राज्य की शक्ति नगण्य थी, इसलिये 'लागरेडी' निवासियों के बहुत वीरतापूर्वक लडने पर भी उनको पीछे हटना पडा और वहाँ के प्रधान तथा सेक्रेटरी गिरफ्तार करके 'रीओ डी जेनेरो' लाये गये । जब वे लोग वहाँ कैद थे तो उनका पत्र-व्यवहार गैरीवाल्डी के साथ हुआ और उन्होंने उससे अपने नये राज्य की सहायता करने की प्रार्थना की ।

गैरीवाल्डी तो स्वभाव से ही राजतन्त्र का विरोधी और प्रजातन्त्र का समर्थक था, इसलिये तुरन्त मैदान में कूद पड़ा और एक छोटे से लडाकू जहाज पर कब्जा करके ब्राजील के खिलाफ युद्ध छेड दिया । कहाँ तो ब्राजील जैसा एक बड़ा देश और कहाँ गैरीवाल्डी का एक छोटा-सा जहाज (जिसका नाम उसने 'मेजिनी' रखा था) और उस पर लड़ने वाले उसके बारह साथी ! पर केवल अपने साहस, आत्म-त्याग के बल पर इन लोगों ने कई बार ब्राजील के सरकारी बेड़े को हरा कर उसकी नाक मे दम कर दिया । पर कुछ समय बाद एक युद्ध मे गैरीवाल्डी घातक रूप मे घायल हुआ और बीस दिन तक अर्द्धमूर्छित दशा मे पडा हुआ जीवन और मृत्यु के बीच झूलता रहा और अन्त मे उसका जहाज 'मोंटीविडियो' के बन्दरगाह मे पहुँच गया, जहाँ उसे उतार कर उचित सेवा-सुश्रूषा की गई और कुछ समय मे वह बिल्कुल स्वस्थ हो गया । यद्यपि मोंटीविडियो मे उसके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था, तो भी वह एक कैदी के रूप मे ही था और उसे कही बाहर जाने की आज्ञा न थी ।

पर गैरीवाल्डी को यह पराधीन अवस्था कैसे सहन हो सकती थी । वह तो फिर लागरेडी पहुँच कर स्वाधीनता-सग्राम मे भाग लेने को व्याकुल हो रहा था । इसलिये एक दिन मौका पाकर मोंटीविडियो से चल दिया । पर दक्षिण अमेरिका के भयानक जगली प्रदेशो को बिना पूरी जानकारी के पार कर सकना किसी प्रकार सम्भव नही है इसलिये तीन दिन बाद फिर से गिरफ्तार कर लिया । स्थानीय शासक (गवर्नर)

ने जो एक क्रूर प्रकृति का व्यक्ति था, उससे उन लोगों का नाम बताने को कहा जिनने उसे भागने में मदद की थी । पर गैरीवाल्डी इसके लिये तैयार न हुआ । इस पर शासक उसे बेरहमी के साथ कोडों से मारने लगा । कुछ देर पीटने के बाद जब फिर उससे वही सवाल किया तो गैरीवाल्डी ने उसके मुँह पर थूक दिया । फिर तो उसने गैरीवाल्डी को रस्सी से बाँधकर लटका दिया और इतनी यन्त्रणा दी कि उसकी टट्टी निकल गई और बेहोश होकर गिर गया । इस प्रकार उस पर बहुत दिनों तक अत्याचार होता रहा पर वह कभी अपने सहायकों का नाम जुबान पर न लाया । अन्त में वह छोड़ दिया गया और फिर से लागरेंडी आकर वहाँ के स्वाधीनता-संग्राम में सम्मिलित हो गया । कुछ समय पश्चात् मोंटीविड़ियो का गवर्नर जिसने गैरीवाल्डी पर अत्याचार किये थे, उसके कब्जे में आ गया पर अपने उदार स्वभाव के अनुसार इसने उसके साथ हर तरह दयालुता का ही व्यवहार किया ।

## गैरीवाल्डी का विवाह

वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध मे लिखते हुए गैरीवाल्डी ने अपनी आत्मकथा में बतलाया है कि—"मैं हमेशा विवाह के विरुद्ध रहा था, क्योकि मैंने अपने जीवन का जो सिद्धान्त बनाया था उसमें बच्चों का बाप बनना, पत्नी का पालन करना और परिवार की देख-भाल करना मेरे लिये असम्भव था । इसलिये स्वाधीनता-सग्राम में भाग लेते समय मेरा यही निश्चय था कि मैं कभी विवाह न करूँगा । पर दक्षिण अमेरिका की लडाइयों मे जब एक के बाद एक करके मेरे मित्र मृत्यु की गोद मे चले गये, और मेरा साथ देने, मेरा साहस बढ़ाने को कोई भी शेष न रहा तो मैंने विचार किया कि किसी स्त्री से विवाह करके उसी को अपना जीवन-साथी बनाऊँ । गैरीवाल्डी स्वभाव से ही स्त्रियों का बडा आदर करता था और उसका कहना था कि ईश्वर ने जितने प्राणी पैदा किये हैं उनमे स्त्रियो का ज्यादा महत्त्व है । एक दिन अपने जहाज पर बैठा जब वह इन विचारो मे लीन था उसे दूरबीन द्वारा किनारे पर एक सुन्दर रमणी दिखाई दी । वह उस पर मोहित हो गया और जहाज को किनारे पर लगाकर गाँव जाकर उसे तलाश करने लगा । सौभाग्य से वह उसके एक परिचित व्यक्ति की सम्बन्धी ही निकली और शीघ्र ही उन दोनो का विवाह हो गया ।

गैरीवाल्डी का विचार आगे चलकर पूर्ण सत्य सिद्ध हुआ । उसकी पत्नी एनिटा हर तरह से अनुकूल सिद्ध हुई और उसने केवल उसके गृहस्थ जीवन को ही सुखी और सुविधायुक्त नहीं बनाया, उसके साथ स्थल और जल सभी प्रकार के युद्धों में वह कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़ी हुई और वीरतापूर्ण कारनामे करके अपनी कीर्ति अमर की । रोम के घेरे के समय जिस प्रकार उसने गैरीवाल्डी के साथ रहकर वीरता का परिचय दिया उस कथा को तो हम आरम्भ में ही लिख चुके हैं । शादी के बाद तुरन्त ही राज्य की तरफ से गैरीवाल्डी को आदेश मिला कि वह दुश्मन के व्यापारिक जहाजो को नुकसान पहुँचाये । गैरीवाल्डी ने यह कार्य बड़े साहस के साथ किया और अपने दो छोटे से जहाजों के द्वारा शत्रुओं के अनेक जहाजो पर अधिकार जमा लिया । उसकी पत्नी एनिटा इन लड़ाइयों में बराबर उसकी बगल मे खड़ी रहकर युद्ध मे भाग लेती थी और स्वयं तोप चलाकर दुश्मन को परास्त करती थी । एक बार दुश्मन की गोली उसके इतने पास से होकर निकली कि उसके धमाके से वह गिर गई । पर फौरन ही उठकर दौड़कर किनारे पर गई और वहाँ से अन्य मल्लाहो को लाकर फिर युद्ध करने लग गई ।

## गैरीवाल्डी की वीर पत्नी

एक और युद्ध मे जब दुश्मन का बेड़ा बहुत बड़ा जबर्दस्त था और गैरीवाल्डी के जहाजो पर आग बरसा रहा था तो उसने अपनी पत्नी से बहुत बार खुश्की पर चले आने का आग्रह किया । जब वह किसी तरह न मानी तो उसने एक चाल चली और कहा किनारे से थोड़े फासले पर ठहरे जनरल के पास जाकर कुछ और सिपाही भेजने को कहे । गैरीवाल्डी ने यह भी कहा कि इस बात का उत्तर वह किसी अन्य सिपाही द्वारा भिजवा दे । पर वह कब पीछे पैर रखने वाली थी, थोड़ी ही देर में स्वय ही जनरल का हुक्म लेकर आई कि "दुश्मन का मुकाबला करना नामुमकिन है इसलिये जितने हथियार बचाये जा सके उनको किनारे पर भेज दिया जाये और जहाजों में आग लगा दी जाये । गैरीवाल्डी तो दुश्मन से लड़ता रहा और एनिटा हथियारों को नाव पर लदवा कर किनारे पर लाती

रही । जब दुश्मन की गोलाबारी नावों की तरफ होती तो सब मल्लाह बचाव के लिये नावों में लेट जाते थे, पर एनिटा बराबर छाती तान कर खड़ी रहती थी । उसकी इस वीरता और निर्भयता से सभी साथियों पर बड़ा प्रभाव पड़ता था और वे भी प्राणों का मोह त्याग कर मुकाबला करते थे । इसी युद्ध में गैरीवाल्डी के दो-तिहाई सैनिक मारे गये, पर उसकी पत्नी बेमिसाल वीरता से लड़ने पर भी सुरक्षित बनी रही ।

अब दुश्मन की एक बड़ी सेना इन देश-भक्तों की टोली का पीछा करने लगी । इसलिये गैरीवाल्डी लागरेडी के जनरल के साथ जंगलों में होकर पीछे हटने लगा । उसके साथ में इटालियन देश-भक्त तथा उसकी पत्नी भी थी । दक्षिण अमेरिका के जंगल बड़े अनन्त और तरह-तरह के खतरनाक जीव-जन्तुओं से भरे हुए हैं । वहाँ खान-पान की व्यवस्था भी बड़ी कठोर है । इसलिये वे लोग तरह-तरह की तकलीफें उठाकर लागरेंडी की सीमा तक पहुँच सके । वहाँ फिर दुश्मन की सेना से मुकाबला हो गया और उसमें भी गैरीवाल्डी ने केवल बारह साथियों को लेकर दुश्मन पर ऐसी गोलाबारी की कि उसके सैकड़ों सिपाही मारे गये । फिर भी बादशाही सेना की तादाद बहुत ज्यादा होने से अन्त में गैरीवाल्डी को पीछे हटकर अपने बचाव के लिये अन्यत्र जाना पड़ा ।

इस युद्ध से गैरीवाल्डी की पत्नी एनिटा बड़े संकट मे फँस गई । वह घोड़े पर सवार होकर आगे के सिपाहियों को बारूद ले जा रही थी कि उस पर दुश्मन ने गोली वर्षा की । उसकी टोपी गोली से उड़ गई और घोड़ा मर गया । तब वह पकड़ ली गई । बादशाही फौज के अफसर ने उससे कहा कि "गैरीवाल्डी युद्ध मे मारा गया ।" इस पर एनिटा ने उससे पति का शव खोज लाने की अनुमति माँगी । उसे वहाँ शव तो कहीं दिखाई न पडा, गैरीवाल्डी का ओवर-कोट अवश्य मिल गया । उसे लेकर वह वापिस आ गई और एक बुढ़िया से कोट के बदले में किसानों के पुराने कपड़े लेकर उन्हीं को पहिनकर रात में जंगल की तरफ भाग गई । यद्यपि उस समय वह गर्भवती थी और मौसम खराब था तो भी चार दिन उस महा-भयंकर जंगल मे चलकर साठ मील के फासले पर बसे 'लेग्स' नामक नगर में पहुँच गई । इन चार दिनों में उसे सिवाय जंगली बेरों के कुछ खाने को न मिला । तो भी वह जरा भी न घबराई और अन्त मे अपने पति को ढूँढ़कर पुनः स्वाधीनता संग्राम में उसकी सहायता करने लगी ।

इस समय गैरीवाल्डी को अपना समय बड़ी आर्थिक कठिनाइयों मे बिताना पड़ा था । प्रजातन्त्र की तरफ से जो सैनिक युद्ध करते थे उनको सरकारी सेना की तरह बाकायदा मासिक वेतन तो मिलता न था । वे अन्याय के विरोध और स्वाधीनता की रक्षा की भावना के कारण ही सब प्रकार के कष्टों को सहन करते थे । फिर अन्य सिपाही तो किसी नगर को जीतने पर लूटमार द्वारा भी कुछ धन प्राप्त कर लेते थे, पर गैरीवाल्डी इस कार्य को भी लज्जाजनक मानता था और बड़े फौजी अफसरों की आज्ञा होने पर भी कभी साधारण प्रजा को लूटने में सम्मिलित न होता था । इस कारण उसको अपना निर्वाह बड़ी कठिनाई से करना पड़ता था । जब स्थिति बहुत बिगड गई और साधनो के अभाव से प्रजातन्त्रीय सेना के अधिकांश सैनिक अपने घरो को लौट गये, तो गैरीवाल्डी भी लागरेडी को छोड़कर 'मोंटीविडियो' नगर में चला गया और वहाँ जहाजों की दलाली करके और लड़कों को गणित पढ़ा कर अपनी गृहस्थी का पालन करने लगा । यद्यपि उसके अनेक मित्र तथा अन्य प्रसिद्ध व्यक्ति समय-समय पर इसकी सहायता करने को तैयार रहते थे पर वह इसके लिये राजी न होता था । उसका कहना था कि—"दान की रोटी मुझे सदैव कड़वी जान पडती है (ब्रेड ऑफ चैरिटी हैज आलवेज सीम्ड बिटर टू मी) । इस तरह की निस्पृहता और त्याग की वृत्ति के कारण उस गरीबी की दशा मे भी सर्वत्र उसका सम्मान किया जाता था ।

## परोपकारमय जीवन

गैरीवाल्डी की इस मनोवृत्ति का एक स्मरणीय उदाहरण उस समय मिला जब 'मोटिविडियो' मे फ्रासीसी जल सेना का एक बड़ा 'एडमिरल' (नौसेनाध्यक्ष) इससे मिलने आया । उसने गैरीवाल्डी की सच्चाई-ईमानदारी और वीरता की बड़ी ख्याति सुनी थी और उसी से आकर्षित होकर वह उनसे भेट करने आया था । वह समझता था कि इतना प्रसिद्ध वीर सेनापति बड़ी शान के साथ रहता होगा । पर उसने देखा कि उसका घर

एक मामूली किसान की तरह है । उसमें किवाड़ों की जगह एक टूटी-सी बाँसों की टटिया लगी थी । जलसेनाध्यक्ष की आवाज सुनकर गैरीवाल्डी ने आवाज दी—"क्या है प्रिय एनिटा ?"

जान पड़ता है कोई सज्जन आप से भेंट करने आये हैं ।

गैरीवाल्डी—"अगर कुछ हो तो जरा रोशनी कर दो ।"

एनिटा—'क्या जलाऊँ आप ही बतलाइये । घर मे न लैम्प है न मोमबत्ती । एक पैसा भी नहीं कि खरीद कर ले आऊँ ।

गैरीवाल्डी ने विना किसी संकोच के उत्तर दिया—"सत्य है प्रिय, इसमें झूठ क्या है ।" फिर उसने आगन्तुक से कहा—"आइये महाशय भीतर आ जाइये ।" नौसेनाध्यक्ष भीतर गया, पर अँधेरे के कारण एक-दूसरे का चेहरा नहीं दिखाई पड़ता था । गैरीवाल्डी ने कहा—"मैंने मोंटीविडियो की प्रजातन्त्र सरकार से अपने लिये राशन की व्यवस्था कर ली है पर उसमे मोमबत्ती लिखना भूल गया था, इसी से घर मे अँधेरा रहता है, लेकिन मै समझता हूँ कि आप मुझसे वार्तालाप करना चाहते हैं, न कि मुझे देखना ?"

वातचीत के पश्चात् एडमिरल मोंटीविडियो के युद्ध-मन्त्री के पास गया और समस्त घटना उसको सुना दी । उसने फौरन १०० पेटेगोंन्स (उस देश का सिक्का) एक कर्मचारी द्वारा गैरीवाल्डी के पास भेज दिये । गैरीवाल्डी ने उनको ले तो लिया, पर उसमे से अपने पास केवल आधा सेर मोमबत्ती का दाम रखा और शेष धन अपने साथी उन सैनिको की विधवाओं तथा अनाथ वच्चों को वाँट दिया जो समर-क्षेत्र में मारे गये थे । वह समझता था कि मुझसे भी ज्यादा सहायता की आवश्यता इन गरीवों को है जिनके यहाँ कोई कमाने वाला भी नही है । इसी गुण के कारण अनेक लेखको ने उसे "परोपकार का अवतार" लिखा है । उसने कभी अपने लिये धन, मान, प्रतिष्ठा का लालच नहीं किया । वह जो कुछ कार्य करता था उसका उद्देश्य न्याय-रक्षा के लिये हर तरह से प्रयत्न करना ही होता था ।

## इटली में पुनरागमन

इस तरह गैरीवाल्डी लगभग वारह वर्ष तक दक्षिण अमेरिका मे रहकर वहाँ के प्रजातन्त्रवादियों की सहायता करता रहा, पर फिर भी उसे इटली की दशा एक क्षण के लिये भी विस्मरण नहीं होती थी । जव वह सोचता था कि उसके हजारों प्यारे देशवासियों को विदेशी शासक 'देश-सेवा' के अपराध से दण्डित कर रहे है, तो उसका हृदय बड़ा अशान्त हो जाता था और वह शोक-सन्तप्त होकर दीर्घ श्वास लेने लगता था । उस समय उसने एक पत्र मे लिखा था—"मैं सुखी नही हूँ, क्योंकि जब मै देखता हूँ कि मैं जिस उद्देश्य (इटली की स्वाधीनता) के लिये कुछ नही कर रहा हूँ तो मेरा हृदय दुःख की अग्नि से जलने लगता है । मैं ऐसे जीवन को जिसके द्वारा देश का कोई काम नहीं हो रहा है, कव तक सहन कर सकता हूँ ।"

दूसरे पत्र में उसने लिखा—"लिखते-पढ़ते समय इटली सदा मेरे हृदय मन्दिर में विराजमान रहती है और मैं अनेक वार दुःख व क्रोध से पुकार कर कहने लगता हूँ कि इस समय इटली जिस प्रकार बर्बर, निर्दय और दुष्ट लुटेरों के आतंक से काँपती रहती है उससे तो अच्छा होता कि वह उजड़ जाती और उसके महल तथा भवन खण्डहर हो जाते ।

"हे मेरे देश-भ्राताओ ! हम सबके भाग्य संयुक्त हैं । हम सव एक ही सिद्धान्तों के व्रती, एक ही भावना से अनुप्राणित हो रहे हैं—सब एक ही पवित्र उद्देश्य के अनुगत हैं । सुख-शान्ति को तिलांजलि दे चुके है, समस्त कामनाओं को छोड़ बैठे हैं । हमारी हीन अवस्था को देखकर लोग हमारी उपेक्षा कर सकते हैं, पर हमारी आत्मा सदैव स्वतन्त्र है और उसके आदेश तथा अनुमोदन को ही हम सबसे अधिक महत्त्व देते हैं । हम इस भावना को अन्तिम समय तक सुरक्षित रखेंगे ।"

"उत्तरीय भूमि के पुत्रो के समान इटली संतति विदेश भूमि में जाकर नहीं बस सकती, न वहाँ जड़ पकड़ कर फल-फूल सकती है । विदेशी धरती चाहे जितनी उर्वरा और फलप्रद क्यों न हो, वहाँ की ऋतु चाहे जैसी सुहावनी क्यों न हो, इटलीवासी विदेश में कभी भली प्रकार नहीं जी सकता केवल घास-फूस की तरह उग कर पडा रहता है । अपने देश के दर्शनों की लालसा से उसका हृदय तड़पता रहता है और वह देश की स्वतन्त्रता के लिये लड़ने को सदैव उत्कंठित रहता है ।"

इसलिये सन् १८४७ में जब मैजिनी ने उसे एक पत्र में यह सूचना दी कि इटली और उसके पड़ौसी देशों में बहुत बड़े परिवर्तन हो रहे हैं, तो गैरीवाल्डी की आशा-लता लहलहाने लगी । मैजिनी ने लिखा था—सिसली ने विद्रोह करके सफलता प्राप्त कर ली है, फ्रांस में प्रजातन्त्र की घोषणा कर दी गई है और भी कई यूरोपीय देशों में निरंकुश शासकों को प्रजा के आन्दोलन के सम्मुख दबना पड़ा है । आस्ट्रिया भी जनसाधारण के विद्रोह के सम्मुख कम्पायमान हो रहा है । रोम की प्रजा ने पुराने पोप को हटाकर नये पोप को निर्वाचित कर लिया है । इसलिये अब ऐसा समय जान पड़ता है कि इटली के देशभक्त सम्मिलित होकर देशोद्धार के लिये प्रयत्न करें ।

इन समाचारों को जानकर गैरीवाल्डी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई और उसे अनुभव होने लगा कि इटालियन राष्ट्र के उषाकाल का समय आ पहुँचा है और अब प्रत्येक देश-भक्त को अपने स्थान पर डटकर कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये । उसने अपने स्त्री बच्चों को पहले ही अपनी माता के पास भेज दिया था । उसके बाद वह स्वयं मोंटीविडियो से एक छोटे से युद्ध-जहाज पर अपने ६० चुने हुए साथियों को लेकर मातृभूमि के उद्धार के लिये चल दिया ।

## दक्षिण अमेरिकावासियों का आभार प्रदर्शन

दक्षिण अमेरिका में रहकर गैरीवाल्डी ने वहाँ की जनता की जो निःस्वार्थ सेवा की थी उसका प्रभाव वहाँ के देशभक्तों पर इतना पड़ा कि जब गैरीवाल्डी वहाँ का कार्य समाप्त करके इटली के लिये रवाना हुआ तो उनको हार्दिक दुःख हुआ और उन्होंने उसको कितने ही पत्र लिखे जिसमे उनकी हार्दिक श्रद्धा प्रकट होती है । राष्ट्रीय-रक्षा दल के अधिकारी कर्नल तेजस ने लिखा है कि—"हमारे इस स्वाधीनता-संग्राम मे आपने लगातार जो शूरवीरता और उदारता दिखलाई है, निःस्वार्थ भाव से जो तरह-तरह के कष्ट उठाये है, उनको हम कभी नहीं भूल सकेंगे ।" मोंटीविडियो के प्रधान सेनापति ओविस ने लिखा है—"वीर शिरोमणि गैरीवाल्डी ने एक अज्ञानुवर्ती योद्धा और नियम के पालनकर्ता के रूप मे हमारे देश की रक्षा के लिये जो महान बलिदान किया है उसके बदले में उसे यहाँ के सरकारी खजाने मे से एक पाई (०.३३ पैसा) भी नहीं दी गई ।" सच है सच्चे वीर की प्रशंसा मित्र ही क्या शत्रुओं को भी करनी पड़ती है ।

इटली के समीप पहुँचने पर समाचार मिला कि पोप फिर से पादरी लोगों के फेर में पड़ गया है और प्रजातन्त्र पक्ष वालों को कुचलने को तैयार हो गया है । तो भी गैरीवाल्डी ने हिम्मत नहीं हारी और मैजिनी तथा अन्य देश-भक्तों के साथ मिलकर देश-भर में आन्दोलन और जन-जागृति का कार्य करता रहा । अन्त में ऐसा समय आया कि रोम की प्रजा ने स्वयं ही पोपीयशासन के विरुद्ध बगावत कर दी और उसे राजधानी छोड़कर भाग जाना पड़ा । रोम के संघर्ष मे गैरीवाल्डी और उसके पुराने साथियों ने अप्रतिम साहस का परिचय दिया और पोप के सहायक फ्रांस-सम्राट की सेनाओं का भी मान मर्दन किया जिसका वर्णन आरम्भ में ही किया जा चुका है ।

## गैरीवाल्डी का यूरोप प्रवास

जैसा बतलाया जा चुका है कि रोम के संघर्ष के पश्चात् गैरीवाल्डी को दुश्मनों से लड़ते-भिड़ते अपना समय जंगलों और पहाड़ों में व्यतीत करना पड़ता था और उसी आपत्तिकाल कष्ट सहन करते-करते उसकी पत्नी का भी देहान्त हो गया था । पर देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझकर उसने इस मार्मिक आघात को भी सहन कर लिया और उसी क्षण से उद्देश्य की पूर्ति में दत्तचित्त हो गया । उस अवसर पर उसे कैसी आपत्तियों को सहन करना पड़ा उसका वर्णन करते हुए एक लेखक ने कहा है—

"धुन का पक्का गैरीवाल्डी सघन जंगलों मे घुस पड़ा और केवल एक साथी को लेकर समस्त इटली को पार कर लिया, जिसमे उसे सैंतीस दिन लगे । इस बीच में वह तरह-तरह के वेष बदलकर 'अपेनाइन' पर्वतमाला पर विचरण करता रहा । वह कभी गुफाओं और कभी जंगल में समय व्यतीत करता रहा । जंगली कन्दमूल खाना, झरनों का जल पीना और लगातार चलना उसका काम था। जैसा कष्ट गैरीवाल्डी को इस यात्रा में उठाना पड़ा वैसा शायद ही किसी अन्य देश-भक्त ने सहन किया होगा पर फिर भी पोपमांट के राज्य मे पहुँच कर पकड़ लिया गया। जिसकी खोज में देश के कोने-कोने में फैले हुए पोप-दल के हजारों पादरी

और अनगिनत आस्ट्रिया के सैनिक घूम रहे थे । वह आखिर कब तक अपने को छुपाये रख सकता था ।

पर जब उसे जेलखाने में बन्द किया गया तो राज्य की प्रजा ने रोष और उत्साह से भरकर जेल को घेर लिया और वहाँ की पार्लियामेण्ट में भी इस सबन्ध में घोर वाद-विवाद हुआ । अधिकांश प्रजा प्रतिनिधियों ने इस कृत्य के लिये मन्त्रिमण्डल को धिक्कारा और कहा—"तुम्हारी शोभा तो इसी में थी कि तुम भी मातृभूमि के उद्धार के लिये इसी प्रकार वीरता और बलिदान के कार्य करते, पर यदि तुम वैसा कर सकने में असमर्थ हो तो कम से कम इटली के इस महान देशभक्त की प्रतिष्ठा तो करो ।"

अन्त में उसे छोड़ने का प्रस्ताव पास हो गया । पर राज्य की तरफ से उससे प्रार्थना की गई कि—"यदि आप यहाँ से चले जायेंगे तो बड़ा अनुग्रह होगा ।" वह जहाज में बैठकर ट्यूनिस के लिये रवाना हुआ पर वहाँ के अधिकारी भी उसे ठहराने को तैयार न हुए और दूसरे ही जहाज से उसे जिब्राल्टर भेज दिया गया । गैरीवाल्डी को यह देखकर बड़ा खेद हुआ कि जिब्राल्टर के अंग्रेज अधिकारी भी उसे अपने यहाँ रहने देने को राजी न हुए । सारांश यह कि उस समय यूरोप के सभी शासक इस प्रजातन्त्रीय क्रांतिकारी से भयभीत होने लगे थे और यह भी सोचते थे कि इसे ठहराने से आस्ट्रिया और फ्रांस जैसे बड़े देश नाराज हो जायेंगे ।

अन्त में इसने फिर अमेरिका की यात्रा की और वहाँ जाकर कई महीने तक एक मोमबत्ती बनाने के कारखाने में काम किया । वह चाहता तो अपनी राजनैतिक क्षेत्र की सेवाओं और नामवरी के आधार पर आर्थिक सहायता प्राप्त कर सकता था, पर वह उन लोगों में से न था जो थोड़ा-सा सार्वजनिक सेवा का कार्य करते ही उसका बदला चाहने लगते है । वह देश-सेवा के कार्यों को एक बड़ी पवित्र वस्तु समझता था और उसे चाँदी के चन्द टुकड़ो के लिये बेचना अपमानजनक मानता था इसलिये उसने किसी से सहायता माँगने के बजाय शारीरिक श्रम द्वारा रोटी खाना ज्यादा उत्तम समझा ।

कुछ समय बाद उसे जहाजी कार्य की नौकरी मिल गई । सन् १८५४ में जब वह 'कामनवेल्थ' नामक जहाज का 'कमाण्डर' बनकर लंदन गया तो 'टाइन' के निवासियों ने, जो प्राय: श्रमजीवी थे, इसका बहुत उत्साह से स्वागत किया और आपस में चन्दा करके एक तलवार तथा एक दूरबीन खरीदकर इसे भेंट स्वरूप दी । उत्तर में गैरीवाल्डी ने कहा—"आप मेरी योग्यता से अधिक मेरा सम्मान कर रहे हैं । मैं भी आप सबकी तरह ही प्रजा का एक सामान्य व्यक्ति हूँ, इसलिये आपने जो मेरी प्रतिष्ठा की है उसे मैं बहुत मूल्यवान समझता हूँ ।"

इसके कुछ समय पश्चात् केपरेरा नामक टापू में उसने थोड़ी-सी जमीन खरीद ली और अधिकांश समय वहीं रह कर खेती-बाड़ी का काम करने लगा । उस समय उसका जीवन एक सामान्य किसान का सा था । वह अपने हाथ से खेती का समस्त काम करता था और अपने बच्चों के पालन-पोषण तथा शिक्षा के कार्य में भी काफी समय लगाता था । उस समय यही जान पड़ता था कि वह आजीवन एक शान्तिप्रिय किसान ही रहा है । उसके जीवन-क्रम को देखकर कोई नया व्यक्ति यह अनुमान नहीं कर सकता था कि वह युद्धों में वीरता की पराकाष्ठा दिखाने वाला और समुद्र की भयंकर तरंगों का हँसते-हँसते सामना करने वाला महा वीर है । सच्ची निःस्वार्थ सेवा का यही लक्षण है । यद्यपि उसने अपने देश के उद्धार के लिये अनेक बार अपनी जान की बाजी लगाई थी और इटली में शत्रुओं का मुकाबला करते हुए अवर्णनीय कष्ट सहन किये थे, पर जब देश में कुछ शान्ति हुई और एक भाग पर जातीय शासन सुदृढ़ रूप में स्थापित हो गया तो उसने यह माँग नहीं की कि उसे भी कोई उच्च पद अथवा बड़ा पुरस्कार दिया जाये । वरन् वह स्वेच्छा से एक छोटे से स्थान में रहकर सामान्य प्रजाजन की तरह शारीरिक श्रम द्वारा उदर पोषण करने लग गया । निःसन्देह यह उसकी बहुत बड़ी महानता का प्रमाण था ।

## आस्ट्रिया के साथ दूसरा युद्ध

सन् १८५९ में इटली और आस्ट्रिया के बीच फिर से लड़ाई छिड़ गई उस समय इटली का मन्त्री 'केवूर' था, जो समस्त यूरोप में एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ माना जाता था और जिसे अनेक इतिहासकारों ने 'इटली का उद्धारक' घोषित किया है । 'हिस्टरी ऑफ

दी वर्ल्ड' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "इटली के तीन प्रधान उद्धारकों में से मैजिनी दार्शनिक, गैरीवाल्डी वीर सेनानायक और केवूर राजनीतिज्ञ था।" यद्यपि केवूर के विचार मैजिनी और गैरीवाल्डी से कभी मिलते न थे, तो भी आस्ट्रिया से युद्ध छिड़ने पर उसने गैरीवाल्डी को बुलाकर युद्ध मे भाग लेने का आग्रह किया। वह तो मातृभूमि के आह्वान पर कभी पीछे रहने वाला व्यक्ति था ही नहीं। उसने केवल ५ हजार सैनिक लेकर आस्ट्रिया के विरुद्ध छापामार युद्ध प्रारम्भ किया और एक बहुत बड़ी सेना को महीनों तक परेशान किया। इस अवसर पर फ्रांस भी इटली की मदद को आया और उसने आस्ट्रिया को हराने में सफलता प्राप्त की। पर वह तो अपने परस्वार्थ पर दृष्टि रखने वाला था, इससे सन्धि होने पर अपनी 'सहायता' के बदले इटली के नाइस नगर को दबा बैठा।

गैरीवाल्डी को यह कार्य बड़ी नीचता का जान पड़ा और उसने अपने सेनापति के पद से इस्तीफा दे दिया। इसके पश्चात् वह प्रजा-प्रतिनिधि के रूप में इटली की पार्लियामेण्ट में गया और वहाँ उसने इस प्रकार की सन्धि का बड़ा विरोध किया पर उस अवसर पर इटली और फ्रांस के राजनीतिज्ञ मिल गये थे इसके विरोध का कोई फल न निकला।

## नेपिल्स और सिसली का उद्धार

इसके कुछ महीने बाद दक्षिण इटली के नेपिल्स और सिसली को विदेशी शासन से मुक्त कराने की समस्या सम्मुख आई और गैरीवाल्डी बिना थोड़ा भी विलम्ब लगाये दो छोटे जहाजों को लेकर रवाना हो गया। फ्रांस के जहाजों ने उसे पकड़ने या मारने का प्रयत्न किया पर वह सकुशल सिसली मे पहुँच गया। आरम्भ में इसके सैन्य-दल में केवल एक सहस्त्र सैनिक थे, पर अब सिसली के वीर पुरुष इसका साथ देने लगे और कुछ ही समय में इसकी सेना की संख्या बारह हजार तक पहुँच गई। इटली के राजा तथा उनके मन्त्री ऊपर से गैरीवाल्डी का थोड़ा-बहुत समर्थन करते रहे पर उनकी नीति अपने स्वार्थ और अन्य राज्यों को सन्तुष्ट रखने की चालबाजी के कारण सदैव परिवर्तनशील बनी रही। पर इन बातों को कुछ महत्त्व न देकर गैरीवाल्डी अपने उद्योग में लगा रहा और अन्त में फ्रास के हाथ की कठपुतली वहाँ के निरंकुश शासन को हटा कर दक्षिण की ओर इटली की स्वतन्त्रता को सर्वांगपूर्ण बना दिया।

पर फिर उसने स्वार्थ पर नाममात्र को ध्यान न दिया और तुरन्त ही जीते हुए सब राज्यों को इटली नरेश 'विक्टर इमैनुअल' की भेंट कर दिया। थोड़े समय तक जब तक उसने वहाँ का शासन कार्य किया, समस्त राजनैतिक कैदियों को मुक्त किया गया, प्रेस को स्वाधीनता दी गई, अनाथालय स्थापित किये गये, जुआखानों को बन्द कर दिया गया, रोटी के दाम घटाये गये आदि। इस प्रकार इसने अपना ध्यान सबसे पहले उन्ही बातो पर लगाया जिनसे सामान्य जनता का जीवन सुखी बन सकता है। फिर जब इटली नरेश वहाँ अपनी नई सेना सहित पहुँच गये तो इसने बड़ी धूम-धाम के साथ उनका नगर प्रवेश कराया। राजा ने उसको बहुत बडी सैनिक उपाधि तथा ५ लाख फ्रॉक वार्षिक आय की सम्पति देने की इच्छा प्रगट की पर इसने अपनी सेवा के बदले मे कुछ लेना स्वीकार न करके राजा से इतनी प्रार्थना की कि 'जिन वीरों ने सिसली को मुक्त कराया है उनको भुलाया न जाये।' इसके पश्चात वह पुनः अपने टापू में चला गया और वहाँ पूर्ववत् खेती का काम करने लगा। सम्भव है दुनियादार लोग उसे गरीब बतलायें पर उसका मन प्रेम, साहस, वीरता व बड़ाई से भरा हुआ था और ऐसा धनी था जिसकी तुलना भी नहीं कर सकते।

## रोम पर चढ़ाई की तैयारी

केपरेरा में साल भर रहने के बाद इटालियन देश-भक्तों ने फिर रोम और वेनिस पर चढाई करने की योजना बनाई। गैरीवाल्डी चाहता था कि यह कार्य इटली की सत्तारूढ सरकार ही करे पर जब अन्य राष्ट्रों के दबाव और भय के कारण वह अग्रसर न हुई तो फिर उसने स्वयं ही इस कार्य का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। उसने समझा कि सरकार चाहे भय के कारण इस कार्य को स्वय न करे, पर वह हमारे मार्ग में बाधा न डालेगी। पर उसका अनुमान गलत निकला और जैसे ही वह २ हजार स्वयंसेवक सेना को लेकर रोम की तरफ बढ़ा वैसे ही एक बड़ी सरकारी सेना उसे रोकने को भेज दी गई। गैरीवाल्डी ने इस पारस्परिक संघर्ष को रोकने की बहुत चेष्टा की, पर सरकारी अधिकारियों ने इस पर कुछ ध्यान न

दिया । यहाँ तक कि गैरीवाल्डी स्वयं घायल हो गया और उसे गिरफ्तार कर लिया गया । सरकारी मन्त्री तो उसे फाँसी दे देना चाहते थे, पर इटली और फ्रांस के प्रधान शासकों की यह हिम्मत नही पड़ी कि वे ऐसे लोकप्रिय नेता की हत्या की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले सके । इस कारण उसे क्षमा प्रदान करके अपने द्वीप लौट जाने की अनुमति दे दी गई । वहाँ पर वह बहुत समय तक घावों के कारण तकलीफ पाता रहा । जिस इटली के बादशाह को उसने बहुत-सा राज्य जीत कर दिया और जिसके हित की दृष्टि से ही वह रोम पर अधिकार करना चाहता था उसके व्यवहार की समीक्षा करते हुए एक मनीषी ने कहा था—

"इटली के बादशाह ने जनरल गैरीवाल्डी के साथ जो व्यवहार किया वह हमारे सामने बादशाही की कृतघ्नता का एक उदाहरण प्रस्तुत करता है । सच है कि जिन लोगों ने अपनी अन्तरात्मा दूसरों के हाथ बेच दी है, जो दुनिया के वैभव और बादशाहत की खातिर दूसरों के ऐसे मुहताज हों कि वे जो कुछ भी चाहें करा लें, वे उस वैभव को स्थिर रखने के लिये सब प्रकार का उपक्रम कर सकते हैं । दुनिया का कोई पाप नहीं जो उनकी निगाहों में न करने योग्य हो । वैभव और बादशाहत कायम रहे, ईमान और धर्म सब चाहे मिट्टी मे मिल जायें तो कोई चिन्ता नहीं ।"

इस संघर्ष में गैरीवाल्डी और उसके सहयोगी सैनिकों को दूसरे कष्टों के अतिरिक्त कई दिन तक भूखों भी रहना पड़ा, क्योंकि सरकारी सेना ने उनकी रसद आने का रास्ता भी रोक दिया था । जिस दिन गैरीवाल्डी पकड़ा गया उस दिन का हाल लिखते हुए एक भुक्त-भोगी ने बताया है—"जब हम 'प्रोफिस्टनी' के मैदान में पहुँचे तो कुछ आलू मिले । बहुत से लोगों ने तो भूख के मारे कच्चे आलू ही खा लिये । जब कुछ पेट भरा तो पका-पका कर खाने लगे ।" धन्य हैं वे कर्त्तव्यपरायण लोग जो सार्वजनिक हित के लिये कष्ट सहन करते हैं और फिर भी कभी पीछे पैर रखने या किसी पर अहसान जताने का ख्याल भी नहीं करते थे ।

## इंग्लैण्ड में अभूतपूर्व स्वागत

यद्यपि इटली के शासक-दल ने गैरीवाल्डी के लिये ऐसा अनुचित व्यवहार किया कि जिसके लिये अब भी उनकी निन्दा की जाती है, पर स्वाधीनता तथा प्रजातन्त्र की समर्थक इंग्लैण्ड की प्रजा ने इस आत्म-बलिदानी वीर का स्वागत करने का निश्चय किया और बड़े आग्रह के साथ उसे अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दिया । जिस समय गैरीवाल्डी का जहाज 'साउथम्पटन' के बन्दरगाह मे पहुँचा तो ड्यूक आफ सदरलैण्ड कितने ही पार्लियामेंट के सदस्यों के साथ जहाज पर जाकर मिले और फिर उसका बड़ा विशाल जुलूस शहर में निकाला गया । इसके बाद बारह दिन तक तमाम देश मे स्वागत, अभिनन्दन, जुलूस आदि की धूम मची रही । यद्यपि गैरीवाल्डी के स्वागत समारोहों में राजवंश वालों से लेकर सामान्य जनता तक लाखो की संख्या में सम्मिलित हुई, पर इसका मुख्य श्रेय यहाँ के श्रमजीवियों को था । गैरीवाल्डी जन्म से ही गरीब था और अब भी एक गरीब किसान का ही जीवन बिता रहा था । इसलिये चाहे उसका नाम और सम्मान संसारव्यापी हो गया था, तो भी गरीब और श्रमजीवी वर्ग उसे अपना एक साथी मानते थे । वे इस बात को भी बड़ा महत्त्व देते थे कि एक गरीब व्यक्ति ने बिना बड़े साधनों के संसार मे इतना बड़ा काम कर दिखाया, जिसका सम्मान बड़े-बड़े राजा भी कर रहे हैं ।

पर अहंकारी और स्वार्थी व्यक्ति कभी अपनी दुष्टता से बाज नहीं आते । एक तरफ तो इंग्लैण्ड की आत्म-त्यागी प्रजा पलकें बिछाकर इस आत्म-त्यागी महावीर का स्वागत कर रही थी और दूसरी ओर फ्रांस तथा आस्ट्रिया की सरकारो ने इंग्लैण्ड की सरकार से गैरीवाल्डी को अपने यहाँ न ठहरने का अनुरोध किया । प्रत्यक्ष में तो किसी ने कुछ न कहा पर गुप्त रूप से यह अफवाह फैल गई कि गैरीवाल्डी से शीघ्र चले जाने की प्रार्थना की गई है । इसका खण्डन करते हुए अंग्रेजी अधिकारियों ने कहा कि गैरीवाल्डी अपने निर्बल स्वास्थ्य के कारण इंग्लैण्ड के विभिन्न नगरों मे जा सकने मे असमर्थ है, इसलिये उसने शीघ्र ही वापस जाने का निश्चय किया है । कुछ भी हो दो सप्ताह बाद गैरीवाल्डी ने वापस जाने का निश्चय कर लिया । अन्तिम दिन प्रिंस ऑफ वेल्स उससे भेंट करने आये और उसको बड़ी शानदार विदाई दी गई । इंग्लैण्ड की प्रजा के इस स्वतन्त्रता प्रेम तथा गुणग्राह्यता का बखान गैरीवाल्डी सदा करता रहा ।

## उदारता की पराकाष्ठा

इंग्लैण्ड से अपने द्वीप में वापस आने के कुछ समय बाद गैरीवाल्डी इतना अधिक बीमार पड़ गया

कि उसके जीवन की आशा जाती रही । तब चिकित्सकों ने उसे अबोहवा बदल देने के लिये अन्यत्र रहने की सलाह दी । जब केपरेरा द्वीप के गरीब निवासियों को गैरीवाल्डी के बाहर जाने का समाचार ज्ञात हुआ तो वे सब अपने संरक्षक के दर्शन करने आये । कई सौ आदमी उसके मकान के चौक में इकट्ठे हो गये । गैरीवाल्डी ने उनको भीतर आने की अनुमति और हर एक से प्रेम पूर्वक बातचीत की । इतने में उसके कान मे आवाज आई—"नहीं..... नहीं..... मैं तुमको हरगिज अन्दर न जाने दूँगा ।" गैरीवाल्डी ने पूछा तो पहरेदार ने बताया कि "बूढ़ा पलपू आया है लेकिन वह आधा पागल है और उसके कपड़े इतने गन्दे हैं कि हम उसको अन्दर आने की इजाजत नहीं दे सकते । गैरीवाल्डी ने कहा—"आ जाओ प्यारे भाई ! आ जाओ ! मेरे लिये तुम मैले, गन्दे नहीं हो ।" बूढ़ा पलपू भीतर गया और जनरल को देखकर रो पड़ा । जनरल ने उसका हाथ अपने हाथ में लिया और उसे हर तरह से धैर्य दिलाकर विदा किया ।

इसके कुछ समय बाद फिर आस्ट्रिया से इटली का झगड़ा आरम्भ हुआ और इस अवसर पर गैरीवाल्डी ने जख्मी और अस्वस्थ होने पर भी कई हजार स्वयं-सेवक लेकर उससे घोर युद्ध किया और इटली के प्रमुख नगर वेनिस को जीतकर इटली के राष्ट्र को पूर्णांग बना दिया । इसके पहले भी वह पेलेर्मो, नेपिल्स आदि बड़े नगरों को जीत कर इटली के बादशाह के हवाले कर चुका था । यद्यपि राजनैतिक मतभेद के कारण बादशाह ने कभी उसकी सहायता और देश-भक्ति के लिये हृदय से आभार न माना और न उसे उचित पुरस्कार दिया, तो भी जब कभी देश को स्वतन्त्र बनाने का अवसर आया, वह कभी पीछे न हटा और देश की मुक्ति से बड़े से बड़ा खतरा खुशी के साथ उठाता रहा ।

पर उसकी उदारता का सबसे बड़ा प्रमाण उस समय मिला जब जर्मनी ने फ्रांस पर हमला किया और वह एक के बाद एक दूसरी लड़ाई में फ्रांस को हराता चला गया । उस समय उसने 'जानी दुश्मन' गैरीवाल्डी से सहायता की अपील की । यद्यपि उसने गैरीवाल्डी को हर तरह से तंग किया था और उसे फ्रांसीसी सेना से लड़ते हुए अनेक घाव लगे थे, पर उन सब बातों को भूल कर वह फ्रांस की मदद को चल दिया । लोग उसकी उदारता को देखकर दंग रह गये और कुछ लोगो ने उसे पुरानी बातों की याद भी दिलाई पर गैरीवाल्डी ने यही कहा—"राष्ट्रीय आजादी एक पवित्र वस्तु है और उसकी रक्षा के लिये उद्यत होना हर आदमी का कर्त्तव्य है । इटली अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर चुका, अब जर्मनी, फ्रांस को हड़पना चाहता है, तो इटली का कर्त्तव्य है कि फ्रांस की स्वाधीनता की रक्षा मे सहायक बने ।" इस युद्ध में भी गैरीवाल्डी ने बड़ी वीरता दिखाई और बड़े कठिन अवसरों पर ऐसी मदद की कि फ्रांस भर में उसका नाम हो गया । अन्त में जर्मनी और फ्रांस में सुलह हो गई और गैरीवाल्डी भी करोड़ों फ्रांसीसी प्रजा का सम्मान-भाजन बनकर वापस आया ।

इस सम्बन्ध में एक स्मरणीय बात यह थी कि गैरीवाल्डी का जन्म जिस 'लैसी' नगर मे हुआ था, वह पहले इटली का ही था, पर युद्ध में सहायता पाने के एवज में इटली की सरकार ने उसे फ्रांस को दे दिया था । अब जबकि गैरीवाल्डी ने फ्रांस की रक्षा के लिये एक बड़ा काम कर दिखाया तो एक मित्र ने उसे सलाह दी कि वह फ्रांस सरकार से 'लैसी' का नगर इटली को लौटा देने की प्रार्थना करे । पर गैरीवाल्डी ने बहुत धीरे से उत्तर दिया—"खेद है कि इस वक्त मेरी जिह्वा से ऐसी प्रार्थना नहीं निकल सकती, मैं अपनी सेवा का बदला माँगू यह सम्भव नहीं । इसके अतिरिक्त जब तक इटली की सरकार 'लैसी' को वापस पाने की इच्छा प्रकट न करे तब तक मुझे इस तरह का प्रयत्न करने का अधिकार भी नहीं है ।"

## गैरीवाल्डी की लोकप्रियता

गैरीवाल्डी का समस्त जीवन अन्याय पीड़ितों की मदद करने में ही व्यतीत हुआ । अपनी मातृभूमि के उद्धार के लिये तो उसने जीवन भर संघर्ष किया ही, साथ ही अन्य देशों के निवासियों की सहायता करने का भी जब कभी अवसर आया तो उसने प्राणो की परवाह न करके जो कुछ बन पड़ा अवश्य किया । इन लड़ाइयों में उसे न जाने कितने कष्ट सहन करने पड़े और उसके शरीर में कितने घाव लगे इसका परिणाम यह हुआ कि जीवन के अन्तिम वर्षों में बहुत कमजोर

और अपंग-सा हो गया था । सन् १८८० में जब मिलान नगर के देश-भक्तों ने अपने यहाँ के उन शहीदों का एक स्मारक बनाया, जिन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिये अपने प्राण अर्पण किये थे तो गैरीवाल्डी को ही उसका उद्घाटन करने के लिये बुलाया गया । एक लेखक के कथनानुसार उस समय उसकी हड्डियों में जान न थी, वह चल-फिर सकने योग्य न था और वह बड़े कष्ट से जीवन व्यतीत कर रहा था । यात्रा करने लायक शक्ति भी उसमें न थी तो भी उसके साहस में कोई अन्तर नहीं आया और उसने मिलान जाना स्वीकार कर लिया । लोगों ने चारपाई जैसे एक कपड़े पर डालकर उसे गाड़ी में डाल दिया । जब उसकी गाड़ी बाजारों में होकर निकली तो अभूतपूर्व दृश्य दिखलाई पड़ा, सारा शहर उसके स्वागत के लिये उमड़ पड़ा और जय-जयकार से आसमान गूँज रहा था । गैरीवाल्डी में इतनी भी ताकत नहीं थी वह लोगों की जय-जयकार का भी जवाब दे सके । उसका केवल हाथ हिल सकता था । उसके होठों पर मुस्कराहट थी और उसी हाथ को हिला-हिला कर वह स्वागत का उत्तर देता रहा । सभा-स्थल पर उसकी गाड़ी एक स्थान पर खड़ी कर दी गई और उसने स्मारक के अनावरण की रस्म पूरी की । वहाँ पर एक मीनार पर एक सुन्दर देवी के रूप में इटली की मूर्ति बनाई गई थी जिसके हाथ में फूलों की माला थी । नीचे चारों तरफ चार तस्वीरें थीं जिसमें युद्ध के दृश्य दिखलाये गये थे । गैरीवाल्डी की तरफ से एक बड़े सेनापति ने भाषण पढ़कर सुनाया जिसमें कहा गया था कि—"यद्यपि मेटना के युद्ध में इटली की हार हो गई थी पर बलिदान तथा आत्म-त्याग की दृष्टि से वह हमारी बहुत बड़ी नैतिक विजय थी ।"

गैरीवाल्डी ने अपने देश का स्वतन्त्रता संग्राम जिस कुशलता और बहादुरी से लड़ा उसकी चर्चा उन दिनों दूर देशों तक फैली हुई थी और उन्हें बहुत कुछ माना जाता था, और बहुत बड़ा भी ।

एक देश के सेनापति सैन्य संचालन सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण परामर्श करने उनके पास पहुँचे । इन दिनों वे एक बहुत ही मामूली डेरे में रहते थे । साज-सज्जा के सामान का अभाव था । उसी सादगी के वातावरण में सारगर्भित वार्तालाप होता रहा ।

अन्त में सेनापति को एक गोपनीय नक्शा दिखाकर स्थानीय परिस्थितियों के सम्बन्ध में पूछताछ करनी थी । पर कठिनाई यह थी कि लालटेन का कोई प्रबन्ध नहीं था । अस्तु नक्शे को देखना दिखाना सम्भव हो न सका ।

गैरीवाल्डी जैसे विश्व विख्यात व्यक्ति को इतनी सादगी, गरीबी और अभावग्रस्त स्थिति में देखकर सेनापति को आश्चर्य मिश्रित दुःख हुआ ।

दूसरे दिन प्रकाश होने पर जब नक्शे के सम्बन्ध में परामर्श करने के लिये सेनापति आये तो उन्होंने बड़ी नम्रता और सम्मान के साथ पाँच हजार पौण्ड भेंट किये और कहा—अपनी आवश्यकतायें पूरी करने के लिये मेरी यह नगण्य-सी भेंट स्वीकार करने का अनुग्रह करें ।

गैरीवाल्डी ने मुस्कराते हुए कहा—वस्तुतः मुझे कभी उन चीजों की आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई जिन्हें आप अभाव समझते हैं । इस पैसे की मुझे तनिक भी आवश्यकता नहीं है ।

सेनापति का अत्यधिक आग्रह देखा और अस्वीकार करने पर उन्हें खिन्न पाया तो फैसला यहाँ समाप्त किया कि सेनापति पाँच पौण्ड वजन की मोमबत्तियाँ दे जायें ताकि भविष्य में रात्रि के समय कोई परामर्श करने आयें तो उसके लिये सुविधा हो सके ।

ऐसे महापुरुष का २ जून, १८८२ को पिचहत्तर वर्ष की आयु में देहान्त हो गया । जन्म भर जिस सरकार ने उसको मान्यता देने में आनाकानी की थी, वह भी उस समय जनता के जोश के प्रवाह में बह गई । देश भर में शोर हो गया कि इटली का मुक्तिदाता—यूरोप का सबसे बड़ा वीरात्मा, चल बसा । इस समाचार के फैलते ही देश भर के समस्त सरकारी कार्यालय, स्कूल, कॉलेज, थियेटर आदि बन्द हो गये । शहरों में ही नहीं इटली के गाँव-गाँव तक में तमाम दुकानें तथा कारोबार बन्द करके व्यापक हड़ताल कर दी गई । समस्त सरकारी इमारतों पर शोक का झण्डा फहराने लगा । यूरोप के अन्य देशों ने भी इसमें भाग लिया और मानव जाति के एक सच्चे परोपकारी वीर के प्रति अपनी श्रद्धांजलि दी । एक देहात के सामान्य घर में रहने वाले, धन वैभव से रहित व्यक्ति के लिये इतना देशव्यापी सम्मान प्रकट किया जो करोड़ों सम्पत्ति के स्वामी और आलीशान महलों में रहने वाले सम्राटों को भी नसीब नहीं होता । दुनिया में थोड़े ही लोगों के लिये इतना शोक मनाया गया होगा जितना गैरीवाल्डी के लिये इटली और यूरोप के अन्य कितने ही स्थानों

में मनाया गया । जनता ने स्वेच्छा से उसे वह अपूर्व सम्मान देकर सिद्ध कर दिया कि चाहे स्वार्थी दुनिया अपने त्याग के लिये मुँह से चाहे जो कहती रहे, पर निःस्वार्थी और परोपकारी वीरों का आत्म-बलिदान अन्त में संसार पर अपना प्रभाव अवश्य डालता है ।

## गैरीवाल्डी और विचार स्वातंत्र्य

एक खास बात जिस पर बहुत से गैरीवाल्डी के जीवन चरित्र लेखकों ने ध्यान नहीं दिया वह है उसका विचार स्वातंत्र्य । यद्यपि वह जन्म से ईसाई था और उस देश का निवासी था जहाँ पुराणपंथी-ईसाइयों के धर्म गुरु पोप की दुहाई फिरती है इसलिये उस देश की जनता उसी की अनुयायी है । आज तो इस धार्मिक गद्दी की दशा बहुत कुछ सुधर गई है पर अब से सौ-सवासौ वर्ष पहले पोप की हालत ठीक वैसी ही थी जैसी भारत के लिये बहुत बड़े मठाधीश की । उनके चारों तरफ हजारों पादरियों का जमघट रहता था जो सामान्य जनता को बहका कर अपना मतलब पूरा करने में सिद्धहस्त थे । गैरीवाल्डी सत्य-धर्म का अनुयायी था और इसलिये पोप के ढोंग और गृह-त्यागी संन्यासी होने पर भी राजसी-ठाठ में रहने का जोरों से विरोध करता था । अपनी आत्म-कथा में इन पादरियों की बहुत निन्दा की है और मनुष्य जाति की उन्नति का शत्रु बतलाया है ।

वास्तव में धर्म के सम्बन्ध में उसके विचार पूर्ण स्वतन्त्र थे और वह अन्य ईसाइयों की तरह हजरत ईसा को 'मुक्तिदाता' नहीं मानता था । इसके विपरीत उसका विश्वास भारतवासियों की तरह कर्म सिद्धान्त पर था, कि मनुष्य जैसा करेगा वैसा ही बुरा या भला फल उसे अवश्य भोगना पड़ेगा । उसके 'बुद्धिवाद' का एक और उदाहरण जो लाला लाजपतराय ने अपनी पुस्तक में लिखा है हम भारतवासियों की निगाह से विशेष महत्त्वपूर्ण है । वे लिखते हैं—

"गैरीवाल्डी की हार्दिक इच्छा थी कि मरने के बाद उसकी लाश जलाई जाये । उसने कई दोस्तों से इसके सम्बन्ध में कहा भी और उन्होंने उसे जलाने का वायदा भी कर लिया । मरने से कुछ समय पहले फिर अपनी पत्नी से इस विषय में आग्रहपूर्वक कह दिया । पर खेद है कि उसके मरने के बाद किसी की हिम्मत न पड़ी कि उसके आखिरी हुक्म की तामील करे । उसकी मौत होने पर समुद्र में और भूमि पर भी इतना बड़ा तूफान आया कि शायद कभी पहले न आया होगा । लोगों ने उसके शव को बड़ी कठिनाई से जमीन पर रख कर तीन मजबूत पत्थरों से ढक दिया । उसी स्थान में इटली का मुक्तिदाता, इटली का सबसे बड़ा 'हीरो' (वीर), इटली का सबसे बहादुर जनरल और उदार व्यक्ति का शरीर पड़ा है और प्रतीक्षा कर रहा है कि उसका कोई मित्र उसे वहाँ से निकाल कर उसका हिन्दुओं के अन्तिम संस्कार की विधि से संस्कार करे ।"

महान पुरुष वास्तव में किसी खास जाति, धर्म या देश से बँधे नहीं होते । वे 'वसुधैवकुटुम्बकम्' के सिद्धान्त का अपनी अन्तरात्मा से अनुभव करते हैं और इसलिये निःसंकोच भाव से उसी मार्ग का अनुकरण करते हैं जिसकी प्रेरणा उनकी शुद्ध-बुद्धि करे । गैरीवाल्डी ने यद्यपि स्वेच्छा से जन्म भर जनता के उद्धार के लिये महान कष्ट उठाये और सदैव दूसरे की सहायता करके स्वयं गरीबी में जीवन बिताया, पर इस का फल है कि आज देहान्त को अस्सी वर्ष से अधिक हो जाने पर भी उसकी गणना संसार के सबसे महान पुरुषों में की जाती है ।

# सत्य और अहिंसा के उपासक : डॉ. लूथर किंग

अब तेरह वर्ष पूर्व अमेरिका के मौण्टगुमरी नगर में रोजापार्क नाम की नीग्रो (हब्शी) युवती मोटर बस में बैठी जा रही थी । एक स्थान पर 'बस' के रुकने पर कुछ गोरे यात्री गाड़ी पर चढ़े । ड्राइवर ने सामने की सीटों पर बैठे हुए नीग्रो जनों से पीछे की सीटों पर चले जाने को कहा । तीन व्यक्ति तो चले गये, पर रोजापार्क नहीं हटी । जब दो बार कहने पर भी उसने ड्राइवर की आज्ञा नहीं मानी तो उसे गिरफ्तार करके अदालत में पेश किया गया जहाँ उसे १० डॉलर जुर्माने की सजा दी गई । यद्यपि यह कोई नई बात

नहीं थी, इससे पहले भी अनगिनत बार नीग्रो जनों को इससे कहीं अधिक अपमानपूर्ण व्यवहार सहन करना पड़ा था। पर अब समय बदल रहा था और इन पद-दलित लोगों में भी स्वाभिमान की भावना बढ़ती जाती थी। इसलिये रोजापार्क की घटना सबको निन्दित जान पड़ी और यह निश्चय किया गया कि आगामी सोमवार को 'बसों' का बहिष्कार किया जाये। उस दिन मौण्टगुमरी की सड़कों पर एक विचित्र दृश्य दिखाई पड़ा। हजारों नीग्रो खच्चरों अथवा घोड़ों से खीची जाने वाली गाड़ियों में चल रहे थे, हजारों निजी मोटरों में जा रहे थे और हजारों ही पैदल रास्ता तय कर रहे थे। इस तरह जिससे जिस प्रकार सम्भव हुआ वह उसी प्रकार अपने कार्यालय में पहुँचा, पर 'बस' मे एक भी व्यक्ति ने पैर नहीं रखा।

एक दिन ही हड़ताल की सफलता को देखकर नीग्रो नेताओं ने उसको तब तक चलाने का निश्चय किया, जब तक कि इस अन्याय का प्रतिकार न हो जाये। हड़ताल चलने लगी और उसकी सहायता के लिये चारों तरफ से चन्दा आने लगा। एक वर्ष के भीतर नीग्रो जनों की 'नेशनल एसोसियेशन' ने दस लाख रुपये से अधिक यात्रियों की व्यवस्था करने मे खर्च किया। मौण्टगुमरी के गोरे अधिकारियों और नागरिकों ने हड़तालों को भंग करने के लिये तरह-तरह की चालें चलीं, पर नीग्रो नेताओं ने, जिनके अध्यक्ष डॉ. मार्टिन लूथर किंग थे, एक ही जवाब दिया कि—जब तक भेदभाव की नीति का अन्त नहीं किया जायेगा, तब तक कोई व्यक्ति बसों पर नहीं चढ़ेगा। गोरे अधिकारियों ने 'नेशनल एसोसियेशन' के बैंकों मे जमा धन को जब्त करने की कोशिश की, कुछ नीग्रो-पादरियों को फोड़कर उनमें मतभेद पैदा करने की चेष्टा की, पर लूथर किंग सब बातों की तरफ से सावधान रहे। अन्त मे साल भर तक हानि उठाने के पश्चात् बस-कम्पनी ने नीग्रो लोगों की माँगें स्वीकार कीं तब बहिष्कार का अन्त हो सका।

इस आन्दोलन के बीच में श्री किंग को कितने खतरों का सामना करना पड़ा, उनका वर्णन जानकर हम अनुमान कर सकते हैं कि 'अहिंसात्मक असहयोग' का रास्ता कितने आत्म-संयम और परमेश्वर पर भरोसा रखकर आगे बढ़ते चले जाने का होता है। जबसे 'बसों' का बायकाट शुरू हुआ था तब से लूथर किंग के पास बराबर गुमनाम पत्र आते रहते थे जिनमें मार डालने की धमकी दी जाती थी। दिन भर में २०-२५ बार टेलीफोन पर बुरी-बुरी गालियाँ दी जाती थीं। जब उनकी पत्नी टेलीफोन पर बोलने लगती तो उससे ऐसी अश्लीलतापूर्ण बातें कही जातीं कि वह टेलीफोन छोड़कर घर भाग जाती और अपने कानों को धो डालती। एक रात को श्री किंग सार्वजनिक सभा में भाषण कर रहे थे और उनकी पत्नी बरामदे में खड़ी एक मित्र से बातें कर रही थी तो घर के छज्जे पर एक बम फेंका गया जिससे तमाम खिड़कियाँ टूट गईं और दीवारों को भी नुकसान पहुँचा। किंग की पत्नी और मित्र बाल-बाल बच गये।

इसके बाद सरकारी अधिकारियों ने श्री किंग पर एक पुराने 'बायकाट-विरोधी' कानून के अनुसार मुकदमा चला दिया। यद्यपि बचाव की तरफ से अनेक-स्त्री पुरुषो ने गवाहियाँ दीं कि बसों के ड्राइवर उनके साथ कैसा असभ्यतापूर्ण और क्रूरता का व्यवहार किया करते थे, फिर भी गोरे जज ने श्री किंग को ५०० डॉलर जुर्माना और ५०० डॉलर मुकदमे के खर्च का दण्ड दे दिया, जो बाद में ऊपरी अदालत में अपील करने पर रद्द किया गया।

## लूथर किंग का आरम्भिक जीवन

मौण्टगुमरी की यह 'बस बायकाट' वाली घटना डॉ. मार्टिन लूथर किंग (१९२९ से १९६८) के 'आन्दोलनकारी-जीवन' का प्रथम अध्याय थी। वे बाल्यावस्था से ही देख रहे थे कि अमेरिका के उपयोगी और अनुशासनप्रिय नागरिक होने पर भी नीग्रो-जनों के साथ वहाँ के गोरे अधिकारी और निवासी बड़ा ही असमानतापूर्ण व्यवहार करते हैं। यह सच है कि अब से दो सौ वर्ष पूर्व इन लोगों के बाप-दादाओं को अफ्रीका से जबर्दस्ती पकड़ कर अमेरिका लाया गया था, और उनसे जानवरो की तरह परिश्रम कराके अमेरिका के वैभव की नींव डाली गई थी। पर अबसे सौ वर्ष पूर्व एक महान अमेरिकन अब्राहम लिंकन के उद्योग और आत्म-बलिदान से उनको कानूनी गुलामी से मुक्ति मिल गई।

फिर भी अमेरिका की दक्षिणी रियासतों मे, जहाँ गुलामी-प्रथा का विशेष प्रचार था, गोरे अधिकारियों का व्यवहार नीग्रो के साथ बड़ा अन्यायपूर्ण रहा। उनको

वहाँ उसी प्रकार हीन और पतित दशा में रखा गया, जिस प्रकार हमारे यहाँ अछूत रखे जाते हैं । उनके मुहल्ले अलग थे । वे न तो सार्वजनिक स्कूलों में अपने लड़कों को पढ़ा सकते थे, न होटलों में मेज पर बैठकर खाना खा सकते थे और न रेलगाड़ी और मोटर-बस में गोरे लोगों के पास बैठ सकते थे । अगर गोरे यात्रियों की संख्या अधिक हो तो उनको अपना स्थान उनके लिये छोड़कर खड़े हो जाना पड़ता था ।

लूथर किंग को अपने बचपन की एक घटना याद आती थी, जब वह अपने पिता के साथ एक दुकान में जूता पहनने को गया था । उसका पिता जाकर सामने की बैंच पर बैठ गया । यह देखकर दुकानदार ने उनसे कहा—आप पीछे की सीट पर जाकर बैठ जायें, मैं वहीं आपको जूता दिखा दूँगा । उन्होंने उत्तर दिया कि हमको यहाँ भी कोई असुविधा नहीं है, तुम जूता ले आओ । दुकानदार आगे की सीटों पर किसी नीग्रो को बैठाना नहीं चाहता था, क्योंकि इससे उसके यहाँ आने वाले गोरे लोग नाराज होते थे । इसलिये वह बार-बार इनसे पीछे जाने को कहने लगा । इस पर किंग के पिता गुस्सा होकर उठ बैठे और कहने लगे कि—"मुझे अगर लेना होगा तो यहीं बैठकर लूँगा नहीं तो जूता खरीदूँगा ही नहीं ।" पर गोरा दुकानदार तब भी न माना और वे अन्यत्र चले गये ।

लूथर किंग को किसी सार्वजनिक स्कूल में पढ़ने का स्थान न मिला । उनको हब्शियों के विशेष स्कूलों में ही अपनी शिक्षा पूरी करनी पड़ी । हाईस्कूल की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वे 'मोर हाउस कॉलेज' में भर्ती हुए जो हब्शियो के लिये ही था । लूथर किंग के पिता की इच्छा थी कि वे उनकी तरह एक पादरी ही बनें । इसलिये उन्होंने 'किंग' को कॉलेज में धर्म का अध्ययन करने की सम्मति दी । पर इनका विचार था कि धर्म केवल मनुष्य की आत्मा से सम्बन्ध रखता है, उसके द्वारा मनुष्य की आर्थिक और सामाजिक स्थिति का सुधार नहीं हो सकता । इसलिये वे चिकित्सा अथवा कानून का अध्ययन करना अधिक उपयोगी मानते थे । पर जब इस सम्बन्ध में कॉलेज के प्रेसीडेण्ट और धर्म-विभाग के प्रोफेसर से उनका वार्तालाप हुआ तो उनका विचार बदल गया । उन्होंने समझ लिया कि अगर वे अपने भाइयों की दशा को सुधारने की दिशा में कुछ काम करना चाहते हैं, तो उसके लिये डॉक्टर या वकील बनने की अपेक्षा पादरी बनने से अधिक लाभ रहेगा ।

अठारह वर्ष की आयु में उन्होंने कॉलेज की परीक्षा पास करली और वे 'धर्म' के विषय में उससे ऊँची शिक्षा प्राप्त करने के लिये दूसरे कॉलेज में गये जिसमें गोरे विद्यार्थी भी पढ़ते थे । वहाँ के सौ विद्यार्थियों में से केवल ६ नीग्रो थे । लूथर किंग को इस बात का बड़ा ख्याल रहता था कि वे गोरे विद्यार्थियों की अपेक्षा कम योग्य सिद्ध न हों । इसलिये उन्होंने पढ़ाई में इतना परिश्रम किया कि तीन वर्ष तक बराबर वे सर्वप्रथम रहे और अन्त में उन्हीं को कॉलेज का १२०० डॉलर का पुरस्कार मिला जिससे वे किसी भी यूनीवर्सिटी में दाखिल होकर धर्म सम्बन्धी सर्वोच्च उपाधि प्राप्त कर सकें । इस सुविधा को प्राप्त करके बोस्टन यूनीवर्सिटी में पी. एच. डी. के लिये अध्ययन करने लगे । पच्चीस वर्ष की आयु मे वहाँ से 'डॉक्टरेट' का प्रमाण-पत्र प्राप्त करके वे मौण्टगुमरी के बैपटिस्ट गिर्जाघर मे पादरी का कार्य करने लगे गये ।

## सत्याग्रह के अनुयायी

डा. लूथर किंग ने महात्मा गाँधी और उनके सत्याग्रह के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे तो सन् १९५१ मे सुना, पर इसके पहले भी वे थोरो के 'सिविल डिसओबीडियंस' (सविनय आज्ञा भंग) तथा अन्य दार्शनिको के अध्ययन द्वारा इस विषय पर विचार किया करते थे और यदि उनके सम्बन्धियों से पता लगाया जाये तो वे आरम्भिक अवस्था से ही दुष्टता का सामना शान्तिपूर्ण ढंग से करने में विश्वास करते थे । इस सम्बन्ध में उनके जीवन चरित्र में एक स्थान पर कहा है—

"जब स्कूल का कोई बदमाश लड़का छोटे लूथर किंग को थप्पड़ मार देता तो वह उसका बदला लेने को उस पर हाथ नहीं उठाता था । एक बार किसी दुकान में एक गोरी स्त्री ने उनको एक थपत लगा दी और कहा—"क्यों रे निगर ! तूने मेरे पैर पर पैर रख दिया !" उसने कुछ भी न कहा, पर वह निर्भय भाव से उसकी ओर देखता रहा । ऐसे अवसरों पर वह बिना बोले ही मन ही मन उनका कोई जोरदार प्रतिकार करने का उपाय सोचा करता था । जब कभी उस पर मार पड़ती तो उसकी आँखों में आँसू आ

जाते, पर कभी चिल्लाकर रोता न था। उसकी दादी कहा करती थी कि—'किंग की बाहरी शान्ति के नीचे एक अग्नि प्रज्वलित रहती थी।'

जबकि लूथर किंग की आयु बारह-तेरह वर्ष की थी तभी से वे गोरों द्वारा हब्शियों पर किये जाने वाले अन्यायों को देखने और समझने लग गये थे। अमेरिका में एक गुप्त घातक-दल के सदस्य, जिसका नाम 'कू-क्लक्स क्लैन' था, प्रायः रात्रि के समय नीग्रो लोगों की बस्तियों पर आक्रमण करके दो-चार व्यक्तियों को पकड़ ले जाते थे और उन्हें निर्दयतापूर्वक मारकर सार्वजनिक स्थानों पर रख देते थे। इस प्रकार की घटनाओं के विषय में भी उन्होंने कई बार सुन रखा था। वह जानते थे कि अदालतों में नीग्रो के साथ न्याय नहीं किया जाता। यद्यपि उनके घर की आर्थिक दशा काफी अच्छी थी, और उन्होंने कभी किसी प्रकार की तकलीफ नहीं पाई थी तो भी वह जानते थे कि उनके अनेक परिचित मित्र बड़ी गरीबी में जीवन व्यतीत करते हैं। उन्होंने कारखानों में भी गरीब लोगों के साथ विशेष रूप से अन्याय का व्यवहार होते देखा था। इससे उनको विश्वास हो गया कि जातिगत-अन्याय और आर्थिक-अन्याय दोनों आपस में मिले-जुले चलते हैं।

श्री किंग का ईसा के उपदेशों पर भी बड़ा विश्वास था और ऐसा होना स्वाभाविक भी था, वे स्वयं एक ईसाई गिर्जाघर के पादरी थे। पर ईसा के उपदेशों का खूब अध्ययन और मनन करके भी उनको यह विश्वास न हो सका कि उनके द्वारा सामाजिक और राष्ट्रीय अन्यायों का भी प्रतिकार किया जा सकता है। ईसा का 'प्रेम' का सिद्धान्त व्यक्तिगत आचरण की दृष्टि से बड़ा श्रेष्ठ और आत्मोत्थान करने वाला है, पर उसके द्वारा नीग्रो जैसी अन्याय पीड़ित जाति का दुष्ट प्रकृति के गोरों के जुल्मों से कैसे उद्धार हो सकता है, यही उनकी समझ में नहीं आया। इसलिये जब उन्होने महात्मा गाँधी के 'सत्याग्रह-आन्दोलन' के विषय मे सुना और कितनी पुस्तकें पढ़कर उसका अच्छी तरह अध्ययन किया तब उनकी आँखे खुल गईं और उन्होंने समझ लिया कि हम शान्तिपूर्ण और द्वेष रहित उपायों से भी दुष्ट प्रकृति के लोगो का प्रतिकार कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में उन्हीं का कथन सुनिये—

"गाँधी जी के सत्याग्रह-आन्दोलन पर तो मैं मोहित हो गया। मुझे लगा कि यही तरीका है जिससे प्रेम की शक्ति द्वारा सामाजिक परिवर्तन लाये जा सकते हैं। मैंने समझ रखा था कि ईसा का सिद्धान्त केवल व्यक्तिगत आचरणों के लिये है, उसमें मुझे अपनी भूल अब मालूम हुई। मैं समझ गया कि गाँधी जी की राह पर चलकर प्रेम को सामाजिक और सामुदायिक परिवर्तन की खातिर एक जबर्दस्त हथियार के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।"

## महात्मा गाँधी के सच्चे भक्त

सर्वोदय आन्दोलन के एक कार्यकर्ता श्री सतीशकुमार जब शान्ति-प्रचार के सम्बन्ध में अमेरिका गये थे तो वहाँ श्री किंग से भी मिले। जब उनसे प्रश्न किया गया कि 'आपके अहिंसात्मक नीग्रो आन्दोलन पर गाँधी जी का प्रभाव कहाँ तक है?' तो उन्होंने कहा—

"एक हद तक गाँधी जी ही मेरी प्रेरणा हैं। उनके सत्याग्रह के तरीकों को जब मैंने पढ़ा, तब मुझे लगा, मानो मेरे मन की बात को किसी ने भाषा दे दी हो। खासतौर से नीग्रो-स्वातन्त्र्य की प्राप्ति के लिये गाँधी जी का तरीका न केवल सिद्धान्त रूप में, बल्कि एक कारगर हथियार के रूप में भी स्तैमाल किया जा सकता है। इस बात का सक्रिय अनुभव मुझे तब हुआ जब मौण्टगुमरी मे हमने दृढ़तापूर्वक इस हथियार का प्रयोग किया और सफलता पाई।"

आगे चलकर श्री किंग ने अपनी सन् १९५९ की भारत यात्रा का जिक्र करते हुए कहा—"भारत-यात्रा मेरे जीवन की अद्भुत घटना है। उस धरती पर जाना, जहाँ गाँधी ने जीवन विताया था, एक तीर्थ-यात्रा के समान ही था। उन लोगों से मिलना और बात करना जिन्होंने गाँधी के साथ काम किया, मेरे लिये असाधारण आनन्द की बात थी। खास तौर से विनोबा, नेहरू, श्रीमती अमृतकौर तथा जयप्रकाश नारायण ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया। यदि अहिंसात्मक सिद्धान्तों के बल पर एक देश राजनीतिक आजादी प्राप्त कर सकता है तो हम नीग्रो सामाजिक आजादी और नागरिक समानता प्राप्त करने के लिये उन्ही सिद्धान्तों पर क्यों न चलें? इस विचार ने मेरे जीवन को ही बदल डाला। इसलिये मैं अपने ऊपर भारत का महान उपकार मानता हूँ।"

श्री सतीशकुमार ने अमेरिका में श्री किंग के घर पर जाकर जब उनसे भेंट की तो उनके व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा—"एक नम्र, भोला और सरल व्यक्तित्व प्रकट करने वाला चेहरा, साढ़े पाँच फुट का मामूली कद, अत्यन्त सादगी व्यक्त करने वाला रहन-सहन, बाल-सुलभ निष्कपट आँखें और दार्शनिक सुलभ स्वभाव—यही है श्री किंग का प्रथम दर्शन !

"उनके घर में गाँधी जी का एक चित्र टँगा है । बातचीत करते हुए वे गाँधी, थोरो और टॉलस्टाय का नाम अक्सर लेते है । उनके कामों को नापसन्द करने वाले गोरों की टेढ़ी नजर हमेशा उन पर रहती है । उनके घर में तीन बार बम फूट चुके है, कई बार असफल हमले किये जा चुके हैं और इस ३५ वर्ष की आयु में ही १७ बार उनको जेल में ठूँसा जा चुका है । फिर भी अहिंसा-सिद्धान्त मे उनका विश्वास अटल है । वे जब अपने अहिंसात्मक आन्दोलन का वर्णन करते है तो *उसका कहीं अन्त नहीं होता* ।"

जब यह पूछा गया कि नीग्रो लोगो को अधिकार दिलाने के आन्दोलन मे अहिंसा कहाँ तक सफल हो रही है, तो श्री किंग ने एक अनुभवी और सच्चे आन्दोलनकारी की तरह कहा—"अहिंसा की सफलता को हम रातोंरात नहीं देख सकते । मनुष्य की आदतें और पूर्वाग्रह सहज में नही बदले जा सकते । पर जो कार्यकर्ता अहिंसा की प्रतिज्ञा के साथ कर्म-क्षेत्र में उतरते है, उनका जीवन परिवर्तन तो होता ही है । इसके अतिरिक्त आज इस अहिंसात्मक आन्दोलन की चर्चा लाखों जुबानों पर है, सैकड़ों जलपान-गृह, बसें, रेलें आदि भेदभाव की नीति से मुक्त हो चुकी हैं ।

## हिंसावादी नीग्रो-जनों का संगठन

इस वर्णन से यह समझ लेना ठीक न होगा कि अमेरिका के सभी हब्शी श्री किंग के अनुयायी और उनके अहिंसात्मक आन्दोलन को पसन्द करने वाले हैं । उनके एक मित्र के कथनानुसार "एक ओर तो उग्रपंथी (क्रांतिकारी) नीग्रो युवक उनके अहिंसात्मक आन्दोलन को 'कमजोरी' बतलाते है, और दूसरी तरफ गोरे लोग उनसे इसलिये जलते हैं कि उनका आन्दोलन इतना प्रभावशाली सिद्ध हो रहा है और समस्त नीग्रो-समाज में जागृति पैदा कर रहा है । इस प्रकार श्री किंग अच्छी तरह जानते थे कि उनका यह मध्य मार्ग उनको एक दिन मौत के घाट उतारेगा । फिर भी वे अपने मार्ग से नहीं हटे इसका कारण केवल उनकी वीरता ही नहीं थी, वरन् यह भी था कि वे नैतिकता की दृष्टि से इसी मार्ग को सर्वश्रेष्ठ और जीवन का चरम उद्देश्य मानते थे । उन्होंने इस सम्बन्ध में स्वयं कहा था—

"प्रत्येक व्यक्ति के सामने कोई ऐसा लक्ष्य रहना चाहिये जिसके लिये वह मर सके । जो मनुष्य किसी बात के लिये मरने को तैयार न हो वह जीवित रहने के योग्य नहीं है ।"

इन क्रांतिकारी संगठनों के नेता कारमाइकेल और ब्राउन जैसे व्यक्ति थे जो इस प्रकार धीरे-धीरे सुधार होने को बिल्कुल नापसन्द करते थे । इन लोगों के प्रयत्न से नई-नई गुप्त संस्थायें बनने लगीं जैसे "ब्लैक पैन्थर्स" (काले बाघ), "आर-ए-एम" (रीवोल्यूश्नरी एक्शन मूवमेण्ट) । इन लोगों ने "व्हाइट पावर" (गोरों की शक्ति) के स्थान "ब्लैक पावर" (कालों की शक्ति) शब्द का प्रयोग आरम्भ किया । इस प्रकार के प्रचार और संगठन के फल से सन् १९६० के पश्चात अनेक स्थानों में गोरों और नीग्रो लोगों में जातीय दंगे होने लगे। इन दंगों के कारण श्री किंग का अहिंसात्मक-आन्दोलन का स्वप्न खून और आग मे डूबता दिखलाई पड़ने लगा ।

यद्यपि बड़े-बड़े दंगे तो 'वैट्स', 'नवार्क' और 'डेट्रियट' में हुए, पर जैसे-जैसे समय बीतता गया ये अनेक छोटे-बड़े नगरों में फैल गये । सरकारी रिपोर्ट के अनुसार सन् १९६४ से ६६ तक तीन वर्षो के भीतर ८५ नगरो में जो जातीय-संघर्ष हुए उनमें 'घैटो' (गरीबों की गन्दी बस्तियो) मे रहने वालों ने पुलिस और फौजी सिपाहियो की खुलकर और छुपकर लड़ाइयाँ कीं, आग लगाई और लूट-मार की । इन दंगों और आक्रमणों में १४१ व्यक्ति मारे गये तथा ४५५२ घायल हुए । दोनो जातियों में कटुता का भाव बहुत अधिक बढ़ गया, जिसके चिन्ह चारों तरफ दिखलाई पड़ने लगे । शांत प्रकृति के सज्जन नागरिक इन आकस्मिक उपद्रवों मे बहुत घबरा गये ।

यद्यपि श्री किंग इन उपद्रवों को देखते और अपने विरुद्ध उग्रपंथियों की बातें सुनते हुए भी अपने सिद्धान्त पर दृढ रहे, पर हिंसावादी अपने काम से न रुके । जिस प्रकार हमारे देश में गाँधी जी के सत्याग्रह के

समय भी क्रांतिकारियों ने अपना काम वन्द नही किया और 'काकोरी डकैती', 'ऐसेम्वली में बम विस्फोट', 'सॉण्डर्स हत्याकाण्ड' आदि घटनाओं के रूप में वे अपनी कार्यवाहियाँ करते ही रहे, उसी प्रकार अमेरिका के इन 'काले क्रांतिकारियों' ने श्री किंग के उपदेशों की परवाह न करके हथियार लेकर चारों ओर जातीय-दंगों की आग भड़का दी । जब किसी ने एक लूट-मार करने वाले युवक से पूछा कि—"क्या तुम्हारे इस काम को श्री किंग पसद करेंगे ? तो उसने बड़े विरक्त भाव से कहा—"लूथर किंग कौन होता है ?"

जब इन क्रांतिकारियों का नेता 'कारमाइकेल' क्यूबा गया और वहाँ के प्रेसीडेण्ट कैस्ट्रो ने उसका स्वागत किया तो उसने अपने क्रांतिकारी दल की कार्यवाहियों पर प्रकाश डालते हुए कहा—"नेवार्क मे हमने गुरिल्ला-युद्ध किया था । शहरों में भी हमने अपनी रक्षा के लिये गुरिल्ला-दल वनाये थे । इन क्रातिकारी कार्यों का निःसन्देह हमको बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है । पर हम भयभीत नही हो सकते । हमारा कार्यक्रम सड़क पर खडे होकर व्याख्यान दे लेना नहीं है । हम मरने के क्षण तक संघर्ष करते रहेंगे ।"

दूसरा नेता, ब्राउन, जो एक विद्यार्थी था, इससे भी अधिक 'गर्म' था उसने सन् १९६४ मे 'कैम्ब्रिज' नामक स्थान में एक मोटर गाड़ी की छत पर खड़े होकर ५० मिनट तक खुले आम 'गदर' का प्रचार किया । उसने कहा—"देखो, 'मैनफील्ड' के भाइयों ने कैसा काम किया है । उन्होंने गोरे पुलिस वाले के सिर पर पहले एक वाल्टी फेक कर मारी और फिर उसकी पिस्तौल लेकर उसी को मार दिया । 'डेट्रियट', 'नेवार्क', 'हालेम' आदि सवमे आग भड़क उठी है, अव कैम्ब्रिज का नम्वर है । अमेरिका को काले लोगों ने ही बनाया है । इसलिये भाइयो ! अमेरिका ठीक रास्ते पर नही आता है तो हम उसको जलाकर खाक कर देंगे ।" इस पर वहाँ पर उपस्थित ३०० नीग्रो लोगों की भीड़ ने खूब तालियाँ बजाई और एक घण्टा वाद ही दंगा आरम्भ हो गया । पुलिस के गोली चलाने से ब्राउन के माथे मे एक हल्का घाव लगा । दूसरे दिन सुबह नीग्रो लोगो की बस्ती के दो अहातो में गोरो ने आग लगा दी । खबर देने पर भी 'फायर व्रिगेड' ने आने से इन्कार कर दिया । जब एक नीग्रो स्त्री ने रोते हुए पुलिस अफसर से अपने जलते हुए घर को बचाने की प्रार्थना की तो उसने जवाव दिया—"तुमको अपनी करनी का फल भोगना ही पड़ेगा । तुम खडे हुये तमाशा देखते रहे और बाहर से कुछ गुण्डों ने आकर दंगा शुरू कर दिया । तुमने उसको क्यों नही रोका ?"

दूसरे दिन ब्राउन दंगा और लूट-मार कराने के अभियोग में गिरफ्तार कर लिया गया और दस हजार डॉलर के मुचलके पर छोड़ा गया । उसने अमेरिकी प्रेसीडेण्ट जान्सन पर दोषारोपण किया कि उन्होने फौजी सिपाहियो को जान-बूझकर हमें मारने को भेजा है । वाशिंगटन पहुँचने पर उसने कहा—"जॉन्सन एक पागल कुत्ता है । हिंसात्मक आन्दोलन भी आवश्यक है, खासकर अमेरिकनो को तो इसमें मजा आता है । अगर तुम मुझे एक वन्दूक दो और उसे अपने शत्रु पर चलाने को कहो तो मै उसे फौरन लेडी बर्ड (प्रेसीडेण्ट जॉन्सन की पत्नी) पर चला दूँगा ।"

पर श्री किंग ऐसे सिरफिरे क्रांतिकारियों से भी न डरकर निरन्तर उनका विरोध करते रहे । "मै गोली चलाने की वात सुनते-सुनते थक गया हूँ । मै लूट-मार की घटनाओ को भी अच्छी तरह देख चुका हूँ । पर कोई चाहे कुछ भी कहे मै हिंसात्मक आन्दोलन को स्वीकार नहीं कर सकता ।"

श्री किंग हिंसात्मक दल वालों की बातो को अपनी जाति के लिये हानिकारक मानते थे । साथ ही वे कहते थे कि "उनकी बातें व्यावहारिक नही है, वे केवल लोगों को भड़का सकते हैं । उदाहरण के लिये वे कहते हैं कि नीग्रो लोगो के लिये पृथक शहर बसाये जायें । पर क्या यह सम्भव है कि प्रत्येक स्थान पर नीग्रो और गोरे अलग-अलग रह सकें और देश भर में 'काले लोगो की सडक' तथा 'गोरे लोगों की सड़क' अलग-अलग बनाई जा सकें ? नीग्रो लोगों का उद्धार पृथक होकर नही हो सकता ।" श्री किंग के विचार उन क्रांतिकारी नेताओं की तरह संकीर्ण न थे । वे चाहते थे कि अमेरिका की समस्त शोषित और दरिद्रता में जीवन व्यतीत करने वाली जातियाँ चाहे वे नीग्रो हों या रेड-इण्डियन, मैक्सिकन हों या गोरे अमेरिकन सब मिलकर सार्वजनिक अधिकारों के लिये काम करे और गरीबी को दूर करने का उद्योग करें । यद्यपि वे

कुछ लोगों द्वारा अपने ही देशवासियों के साथ मनुष्यता के विपरीत व्यवहार किया जाता देखते थे, तो वे भी जानते थे कि जनता में एक बहुत बड़ा भाग ऐसा मौजूद है जो गरीबों से सद्भावना रखता है। आवश्यकता है उस तक पहुँचने और उसकी सहानुभूति को जागृत करने की।

## नागरिक अधिकारों के लिये संघर्ष

श्री किंग मौण्टगुमरी के बस आन्दोलन मे सफलता प्राप्त कर लेने के बाद सन् १९५९ में अटलांटा चले गये और वहाँ अपने पिता के साथ ही गिर्जाघर में काम करने लगे। उधर मौण्टगुमरी के दुष्ट गोरों ने नीग्रो लोगो से आन्दोलन का बदला लेने के लिये ही रात में नीग्रो लोगों की बस्ती पर ६ बम फेंके जिसमें चार गिर्जाघरों और दो पादरियो के घर नष्ट हो गये। ये दो पादरी वे थे जिन्होने बस-आन्दोलन में श्री किंग के साथ सबसे अधिक काम किया था।

यह देखकर श्री किंग ने निश्चय किया कि एक-एक बात के लिये आन्दोलन करने की बजाय एक देशव्यापी आन्दोलन ऐसा उठाया जाये जिससे नीग्रो को मूलभूत 'वोट' का अधिकार गोरों के समान ही प्राप्त हो और उसका उपयोग करके वे शासन सभाओं में जाकर अपनी उन्नति के लिये स्वयं चेष्टा करें, नये नियम पास करायें। इस बीच में उनके आन्दोलन के प्रभाव से अनेक नीग्रो-संस्थायें तरह-तरह के अधिकारो के लिये संघर्ष भी करने लगी।

नार्थ कारोलिना रियासत के एक नगर में कुछ नीग्रो विद्यार्थी एक जलपानगृह में खाने की बैंचों पर जाकर बैठ गये, जिन पर केवल गोरों को ही बैठने का नियम था। उन्होने वहाँ काम करने वाली नौकरानी से भोजन लाने को कहा, पर उसने उस पर जरा भी ध्यान न दिया। नीग्रो लोग उस जलपानगृह में भोजन-सामग्री खरीद सकते थे, पर उनको वह अलग खड़े होकर ही लेनी पड़ती थी। आज ये विद्यार्थी गोरों की बैंचों पर बैठ गये और जब उनको भोजन-सामग्री नहीं दी गई तो वे शाम तक वहीं बैठे रहे। दूसरे दिन वे और भी अधिक संख्या में आये और कुछ ही दिनों मे यह आन्दोलन १४ नगरों मे फैल गया। गोरे लोगों में से कितने ही विद्यार्थियों को पीटते थे, थप्पड़ मार देते थे, उन पर थूकते थे, सिगरेट से जला देते थे, बुड्ढी औरतें उनको 'निगर-निगर' कहकर चिढ़ाती थीं। पर ये लोग ऐसी किसी बात से भयभीत न होकर अपने आन्दोलन में लगे रहे।

श्री किंग ने भी इस सत्याग्रह में भाग लिया और उनको गिरफ्तार करके चार महीने की जेल की सजा दी गई। इस समय उनकी पत्नी गर्भवती थी। श्री किंग को सजा होने का समाचार सुनकर अमेरिका के भावी प्रेसीडेण्ट श्री कैनेडी ने टेलीफोन द्वारा उनकी पत्नी से बातचीत की और उसको आश्वासन दिया कि वे इस सम्बन्ध में जो कुछ हो सकेगा अवश्य करेंगे। उनके प्रयत्न से श्री किंग शीघ्र ही मुक्त कर दिये गये। इसका परिणाम यह हुआ कि नीग्रो जनता के हजारों 'वोट' उनको मिले और इससे प्रेसीडेण्ट बन सकने मे सहायता मिली।

इसके कुछ समय पश्चात् श्री किंग ने एक अन्य नगर मे सार्वजनिक स्थानो पर जहाँ नीग्रो लोगों का प्रवेश निषिद्ध था जाकर ईश-प्रार्थना करने का आन्दोलन आरम्भ किया। उन्होने अमेरिका के विभिन्न भागों से ७५ गोरे पादरियों और गिर्जाघरों में काम करने वाले अन्य लोगो को भी बुलाया और सबको साथ लेकर नगर के टाउन हॉल के सामने प्रार्थना करने का प्रदर्शन किया। पुलिस ने पहले उनसे हट जाने को कहा, पर वे न माने तो सब गिरफ्तार कर लिये गये।

आन्दोलन को नियमबद्ध रूप से चलाने के लिये विद्यार्थियो की एक कॉन्फ्रेन्स की गई, जिसमे श्री किंग ने उनसे अपना एक सुदृढ़ संगठन बनाकर काम करने को कहा। साथ ही यह भी प्रेरणा दी कि वे इसे केवल एक राजनीतिक आन्दोलन न समझे, वरन् 'अहिंसा' के सिद्धान्त को अच्छी तरह से समझें और उसके अनुसार सदैव व्यवहार करने का अभ्यास करें। पर उनके किसी सहयोगी ने ही इस बात का विरोध किया और कहा कि हमको इस आन्दोलन का संचालन राजनीतिक दृष्टि से ही करना चाहिये। विद्यार्थियों में अधिक संख्या 'गर्म' विचार वालों की ही थी, इसलिये विरोधी की बात ही मान ली गई।

## इन्कम टैक्स का मुकदमा

गोरे अधिकारी श्री किंग को तंग करने के लिये तरह-तरह के उपाय करते रहते थे। उन्होंने श्री किंग

द्वारा दाखिल किये गये इन्कमटैक्स के हिसाब पर सन्देह प्रकट किया और इल्जाम लगाया कि उन्होंने बेईमानी से झूठा जमा-खर्च लिख दिया है । यद्यपि जज ने उनको गिरफ्तारी के बाद ही मुचलका लेकर छोड़ दिया और बाद में फैसला भी उनके अनुकूल ही हुआ, पर उनको इस बात का बड़ा दुःख हुआ कि उनके द्वारा दाखिल किये गये हिसाब को अविश्वसनीय माना गया । वास्तव में जिस व्यक्ति ने सत्य और अहिंसा को अपना जीवन-ध्येय बना लिया हो उस पर इस तरह का इल्जाम असहनीय होता है । पर लोग स्वयं बेईमान होते हैं और तरह-तरह की चालाकियों द्वारा कानून के फंदे से बचते रहते हैं, वे इसके महत्त्व को कभी नहीं समझ पाते ।

## अब्राहम लिंकन की समाधि पर

सन् १९६३ का वर्ष अमेरिका की नीग्रो जनता में एक महान स्मरणीय घटना के रूप में मनाया गया । इससे ठीक सौ वर्ष पूर्व सन् १८६३ में एक महान अमेरीकन—अब्राहम लिंकन ने दक्षिणी रियासतों के साथ कई वर्ष तक युद्ध करके नीग्रो लोगों को गुलामी से छुड़ाया था । उस समय भी इन दक्षिणी नगरों में दुष्ट लोगों की एक बड़ी संख्या मौजूद थी । युद्ध में हार जाने और विवश होकर गुलामों को स्वतन्त्र कर देने के बाद भी उन्होंने धोके से प्रेसीडेण्ट लिंकन की हत्या कर डाली । इसलिये नीग्रो लिंकन को अपना 'देवता' मानते हैं और अच्छी तरह जानते है कि उसी ने अपने प्राण देकर हमको पशु की स्थिति से निकाल कर मनुष्य बन सकने का अवसर प्रदान किया है । श्री किंग ने इस अवसर को अपने सिद्धान्त के प्रचार के लिये उपयुक्त समझा और देशव्यापी सत्याग्रह आन्दोलन की एक योजना बनाकर उसे कार्यान्वित किया ।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने 'बरमिंघम' के कस्बे को चुना, जहाँ के गोरे, नीग्रो लोगों को किसी प्रकार का नागरिक अधिकार दिये जाने के सबसे बड़े विरोधी थे । वहाँ पर श्री किंग ने स्वयं जाकर लोगों को सत्याग्रह के लिये तैयार किया । कई सप्ताह तक परिश्रम करके उन्होंने दो सौ सत्याग्रहियों की एक सूची तैयार की, जो जेल जाने को तैयार थे और जिन्होंने पुलिस द्वारा मारे-पीटे जाने पर भी हाथ न उठाने की प्रतिज्ञा की थी । इसके पश्चात् प्रतिदिन कुछ नीग्रो पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का एक जुलूस खूब सजधज कर नगर की सड़कों पर निकलने और पुलिस द्वारा गिरफ्तार किया जाने लगा । इतने लोगों का बिना किसी प्रतिरोध के हँसते-हँसते जेल चला जाना एक अद्भुत दृश्य था । पुलिस वाले इसे देखकर चकित हो गये ।

धीरे-धीरे यह आन्दोलन चारों तरफ फैलने लग गया और दूर-दूर के लोग इसमें भाग लेने लगे और अन्तिम दिन तीन हजार से अधिक व्यक्ति श्री किंग की अध्यक्षता में जुलूस बनाकर निकले और चारों तरफ फैल गये । पुलिस, ने आग बुझाने के नलों द्वारा उनको पानी से भिगो दिया और डण्डों से खूब पिटाई की । सिपाहियों ने लोगों को जिस बेरहमी से मारा उसका दृश्य 'टेलीविजन' के द्वारा समस्त देश में दिखाई पड़ा और उसके कारण बहुसंख्यक सज्जन पुरुष दक्षिणी गोरों के विरोधी बन गये । रायविलकिन्स नामक नेता ने तो, जो नागरिक अधिकारों के लिये वैध-आन्दोलन में पूर्ण विश्वास रखता था, कहा—"जब मैंने 'टेलीविजन' पर सिपाहियों को एक औरत को पकड़ कर बैठे और उसका गला दबाते हुए देखा तो मेरी सब शान्तिप्रियता काफूर हो गई और मैं भी जुलूस में शामिल होकर जेल चला गया ।"

इस आन्दोलन द्वारा देश भर में जागृति उत्पन्न करके श्री किंग ने अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन में एक बहुत बड़ा प्रदर्शन करने का निश्चय किया । देश के सब भागों से समान नागरिक अधिकारों के आन्दोलनकारी इकट्ठे हुए और लगभग दो लाख नीग्रो और गोरे लोगों का मिला-जुला जुलूस 'वाशिंगटन मौन्यूमेण्ट' से रवाना होकर 'लिंकन मैमोरियल' तक गया । वहाँ जाकर एक विशाल सभा की गई जिसमें 'नागरिक अधिकार आन्दोलन' के प्रमुख नेताओं के भाषण हुए । पर श्री किंग ने अपने भाषण में समस्त नीग्रो समस्या का जैसा चित्र खींचा उसका प्रभाव समस्त श्रोताओं और 'टेलीविजन' के करोड़ों दर्शकों पर इतना अधिक पड़ा, जो बहुत समय तक उनको याद रहा । श्री किंग ने कहा—

सौ वर्ष पूर्व एक अमेरिकन ने, जिसके स्मारक की छाया मे आज हम खड़े है । हमारी मुक्ति के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे । यह स्मरणीय घोषणा करोड़ो

नीग्रो—गुलामों के लिये एक महान प्रकाश की तरह सिद्ध हुई, जो अभी तक अन्याय और अत्याचार की अग्नि मे झुलस रहे थे । यह एक प्रकार से बन्धन की रात्रि का समाप्त होकर प्रभात का प्रकाश होने के तुल्य था । पर आज सौ वर्ष बाद भी हम अनुभव कर रहे हैं कि नीग्रो भेदभाव और असमानता की हथकड़ियों से जकड़े हुए हैं । इस एक सौ वर्ष में जहाँ देश में वैभव का समुद्र लहराने लगा है, वहाँ नीग्रो अब भी एक 'दरिद्रता के टापू' में रहने को बाध्य किये जा रहे हैं । आज हम यहाँ इसीलिये इकट्ठे हुए है कि अपनी शोचनीय गरीबी का दिग्दर्शन अमेरिका के प्रतिनिधियों को करायें ।

"एक दृष्टि से हम अपने देश की राजधानी मे 'बैंक का एक चैक' भुनाने आये है । जब इस प्रजातन्त्र के निर्माताओं ने यहाँ का विधान बनाया था तो उसमे यह वायदा किया गया था कि यहाँ प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, स्वाधीनता और सुख के समान अधिकार प्राप्त होंगे । आज यह स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है कि जहाँ तक काले लोगो (नीग्रो) का सम्बन्ध है वहाँ तक अमेरिका ने अपने उस वायदे को जोकि एक 'बैंक चैक' के समान है, पूरा करके नही दिखाया । अब समय आ गया है कि हम प्रजातन्त्र के उस वायदे को सत्य सिद्ध करें । अब वह अवसर आ गया है कि भगवान के सब बच्चों के लिये प्रगति के द्वार खोल दिये जायें ।

"अगर नीग्रो जनता के दृढ़ निश्चय को मामूली समझकर ठुकरा दिया गया तो यह राष्ट्र के लिये एक घातक भूल होगी । आप यह न समझे कि १९६३ का वर्ष इस आन्दोलन का अन्तिम दिन है, वरन् मैं बतलाना चाहता हूँ कि यह इस आन्दोलन का आरम्भ मात्र है । आप यह भी आशा न करें कि नीग्रो कोरी बातों से सन्तुष्ट हो जायेंगे । इस बात को अच्छी तरह समझ लीजिये कि जब तक नीग्रो जनों को उचित नागरिक अधिकार न दिये जायेगे तब तक अमेरिका में शान्ति और सुव्यवस्था नही हो सकती । जब तक न्याय का सूर्योदय न होगा तब तक क्रांति का बवण्डर राष्ट्र की जड़ों को हिलाता ही रहेगा ।

"पर इन बातों के साथ मुझे अपने सजातीयों से भी कुछ कहना है, जो न्याय के मन्दिर मे प्रवेश करने की तैयारी कर रहे है । अपना न्यायमुक्त स्थान प्राप्त करने मे हमको किसी दूषित कर्म का अपराधी नहीं बनना चाहिये, अपनी स्वाधीनता की प्यास को बुझाने के लिये हमें विद्वेष और घृणा का प्याला नही पी लेना चाहिये । हमको अपने सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे शारीरिक बल का प्रयोग किसी दशा में करना उचित नही ।

"हमको प्रत्येक गोरी जाति के व्यक्ति पर अविश्वास नहीं करना चाहिये, क्योकि अनेक गोरे भाई हमसे पूरी सहानुभूति रखते हैं, जैसा कि इस जुलूस मे उनके काफी संख्या में सम्मिलित होने से साबित होता है । हम अकेले आगे नही बढ़ सकते । हाँ, हमको यह प्रतिज्ञा अवश्य करनी चाहिये कि हम सामने नजर रखते हुए अपने लक्ष्य की तरफ बढ़ते जायेंगे, कभी पीछे मुड़ने का विचार भी न करेंगे । कितने ही लोग हमसे प्रश्न करते है कि 'नागरिकता के अधिकार' का आन्दोलन करने वाले कब सन्तुष्ट होंगे ? हमारा उत्तर है कि जब तक पुलिस नीग्रो लोगों पर अकथनीय अत्याचार कर रही है, हम कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकते । हम तब तक सन्तुष्ट नही होंगे जब तक यात्रा करने के बाद हमारे थके हुए शरीरों को होटलो तथा विश्राम-स्थलों में अन्य लोगों की तरह ठहरने की अनुमति नहीं मिल जाती । हम तब तक संतुष्ट नही हो सकते जब तक छोटे स्थानों में रहने वाले नीग्रो लोगों को भी 'वोट' देने का पूरा अधिकार नही मिल जाता ।

"मै यह भी जानता हूँ कि आप लोगों में से, जो आज यहाँ इकट्ठे हुए हैं, कितनों ने ही बड़े-बड़े अत्याचार सहन किये हैं । आप में से कितने ही तो अभी जेल की तंग कोठरियों में से निकलकर चले आ रहे है । आपको फिर अपने भाइयों की अँधेरी कोठरियों और गन्दी बस्तियों में जाकर यह विचार करना है कि इस स्थिति को किस प्रकार बदला जा सकता है ? मेरे मित्रो ! यद्यपि इस समय हमारे सामने केवल कठिनाइयाँ और असफलता ही दिखाई पड़ रही हैं, तो भी मै एक स्वप्न देख रहा हूँ । मुझे दिखाई पड़ रहा है कि एक दिन यह ऊपर उठेगा और अपने मूल-सिद्धान्त को क्रियान्वित करेगा, जिसमें कहा गया है कि 'हम इस सिद्धान्त को स्वभावतः सत्य मानते हैं कि समस्त मनुष्यों को एक समान उत्पन्न किया गया है ।' मुझे यह स्वप्न आ रहा है कि एक दिन 'जार्जिया' की लाल पहाड़ी

पर पुराने समय के गुलाम और गुलाम रखने वालों के पुत्र एक ही मेज पर भाइयों की तरह बैठेंगे । यह भी मेरा एक स्वप्न है कि एक दिन मेरे चारों पुत्र एक ऐसे राष्ट्र के निवासी होंगे जहाँ पर मनुष्य का मूल्य उसकी चमड़ी के रंग से नहीं वरन् उसके चरित्र से आँका जायेगा ।"

"इसी आशा के बल पर आप दक्षिणी अमेरिका के नगरों को जा रहे हैं । इसी श्रद्धा की शक्ति के आधार पर हम सब मिलकर प्रयत्न कर सकेंगे, मिलकर भगवान से प्रार्थना कर सकेगे, मिलकर संघर्ष कर सकेंगे, मिलकर जेल जा सकेंगे कि एक दिन हम अवश्य इन बन्धनों से मुक्त होंगे और यदि अमेरिका को महान बनना है तो यह सब स्वप्न एक दिन अवश्य सत्य होगा । इसलिये अब नई दुनिया के उच्च शिखरो से स्वाधीनता का जयघोष होना चाहिये । जब हम चारों ओर से स्वाधीनता का जयघोष करेंगे तो वह दिन शीघ्र आएगा जबकि भगवान के सब बच्चे—चाहे वे काले हों या गोरे, यहूदी हों या ईसाई, प्रोटेस्टेण्ट हों या कैथोलिक—हाथ से हाथ मिलाकर प्राचीन नीग्रो कवि के शब्दो में गायेंगे—"अन्त में स्वतन्त्र हो गये—अन्त में स्वतन्त्र हो गये, भगवान को धन्यवाद है कि हम अन्त में स्वतन्त्र हो गये ।"

यद्यपि हमारा भारतवर्ष भी वाईस वर्ष से स्वतन्त्र हो चुका है, पर जिस 'स्वतन्त्रता' की अभिलाषा श्री किंग ने अपने भाषण में प्रकट की है, वह अभी तक हमको भी प्राप्त नहीं । हमारे देश में भी ऐसे करोड़ों अभागे मौजूद हैं जिनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति अमेरिका के 'नीग्रो' (हब्शियों) से तनिक भी अच्छी नहीं कही जा सकती । अमेरिका में सम्भवतः प्रत्येक नीग्रो व्यक्ति को मामूली भोजन तो मिल ही जाता है, पर यहाँ करोड़ों व्यक्ति भर पेट रोटी भी नहीं पाते । अनेकों छोटे बच्चे सदा एक टुकड़े के लिये रोया ही करते है ।

वास्तव में जब तक संसार गरीब और अमीर के दो हिस्सों में बँटा है, जब तक समाज की सम्पत्ति पर थोड़े से लोगों के अधिकार को 'न्याययुक्त' माना जाता है, जब तक ऊँच और नीच का निर्णय वंश या जाति के आधार पर किया जाता है, तब तक इस 'अन्याय' का दूर हो सकना असम्भव ही है । हम जानते हैं कि संसार में जितनी सम्पत्ति है, जितने पदार्थ हैं, वे सब भगवान के ही उत्पन्न किये हुए हैं और यदि आज 'गरीब' कहलाने वाले करोड़ों व्यक्ति उनसे वंचित हैं तो इसका कारण यही है कि कुछ चालाक अथवा जबर्दस्त लोगों ने उन पर अपना अधिकार जमा लिया है । ऐसे ही स्वार्थी और अपहरणकर्ता व्यक्ति गरीबों की माँगों को गैरकानूनी बतलाते हैं और अपनी आर्थिक तथा हथियारों की ताकत के द्वारा उनको दबाते रहते हैं ।

अमेरिका के 'नीग्रो' सैकड़ों वर्षों से इस अन्याय के शिकार हो रहे हैं और भारत के अछूतों को तो इस दुर्दशा में रहते हजारों वर्ष बीत चुके । अब महात्मा गाँधी और श्री किंग जैसे मानवता के उपासकों के प्रयत्न और आत्मबलिदान से इन दबे और कुचले हुए लोगों को प्रकाश की क्षीण रेखा दिखाई पड़ने लगी है और यदि श्री किंग का 'स्वप्न' सत्य हो गया तो एक दिन वे भी पूरे 'मनुष्य' माने जा सकेंगे ।

## नोबेल पुरस्कार विजेता

श्री किंग के आन्दोलन के फलस्वरूप अनेक स्थानों में नीग्रो लोगों की उन्नति होने लगी और वे भी अपना महत्त्व अनुभव करने लगे । दक्षिणी रियासतों के भी ११४१ स्थानो के स्कूलों में नीग्रो बालकों को गोरों के साथ पढ़ने की अनुमति मिल गई । नीग्रो लोगों को अधिक नौकरियाँ मिलने लगीं । बैंक, सुपर मार्केट, होटल और बड़े-बड़े स्टोरों में नीग्रो कर्मचारियों को तरक्की दी गई । कई राज्यों में नीग्रो लोगों को छोटी-बड़ी अनेक सरकारी नौकरियाँ दी जाने लगीं ।

दूसरी तरफ नीग्रो के विचारो में भी एक नया परिवर्तन दिखाई देने लगा । अभी तक वे अपने मूल निवास स्थान अफ्रीका का जिक्र जहाँ तक सम्भव होता, नहीं करते थे और वहाँ के हब्शियों को नीची निगाह से देखते थे । पर अब वे अपने 'अफ्रीकन' होने में गर्व का अनुभव करने लगे और वहाँ जो नये-नये राज्य बन रहे थे उनको भी महत्त्व देने लगे । अब वे कहने लगे—'काले सुन्दर होते हैं—काले सुदृढ़ होते हैं ।' कुछ महिलाओं ने अफ्रीकन ढंग पर अपने बाल सजाने आरम्भ किये । अब वे लोग गोरों की नकल करना अपमानजनक समझने लगे । अब तक वे लोग लाखों रुपया गोरे बनने और बालो को सीधा करने की दवाओं में खर्च किया करते थे, पर अब इसे एक हीन मनोवृत्ति

समझ कर उन्होंने त्याग दिया और इस प्रकार सैकड़ों वर्षों से जो गोरे रंग वालों को कालों से श्रेष्ठ मानने की मनोवृत्ति फैली हुई थी उसकी जड़ उखड़ने लगी।

इसी समय श्री किंग को सन् १९६४ का 'शान्ति नोबेल पुरस्कार' प्राप्त हुआ। इस उपलक्ष्य में उनको ५४ हजार डॉलर (लगभग ३ लाख रुपया) शान्तिमय आन्दोलन और आदर्शों की सराहना के रूप में दिया गया। इस पुरस्कार को ग्रहण करने वे ओसलो (नार्वे) गये और उस अवसर पर भाषण करते हुए उन्होंने अहिंसा और संसार व्यापी शान्ति का प्रतिपादन इन शब्दों में किया—

"सभ्यता और हिंसा परस्पर विरोधी विचार हैं। अमेरिका के नीग्रोजनों ने, भारत वर्ष का अनुकरण करते हुए यह सिद्ध कर दिया है, कि अहिंसा निर्वीर्य या निष्क्रियता का नाम नहीं, वरन् वह एक ऐसी प्रबल नैतिक शक्ति है, जो सामाजिक कायापलट कर देती है। देर-सबेर संसार के लोगों को आपस में शान्ति के साथ रहने का कोई उपाय सोचना होगा—मनुष्य को सब भावी संघर्षों को मिटाने का ऐसा उपाय निकालना होगा जिसमें प्रतिकार, प्रतिशोध और आक्रमण का सहारा न लिया जाये। इस प्रकार के उपाय की बुनियाद प्रेम ही हो सकती है।

"अलबामा राज्य के मौण्टगुमरी नगर से जो कष्टकारक मार्ग ओसले तक पहुँचा है, वह इस सच्चाई का प्रमाण है। सहस्रों नीग्रो जन प्रतिष्ठा और गौरव की नई भावना प्राप्त करने के लिये इसी मार्ग पर चल रहे हैं। इसी मार्ग ने सब बन्धनग्रस्त लोगों के लिये प्रगति और आशा का नया युग प्रस्तुत किया है। इसने 'नागरिक अधिकार बिल' की मंजिल को सम्भव बना दिया है और मेरा विश्वास है कि इसे चौड़ा और लम्बा करके न्याय के विशाल राज्य-पथ में परिणत किया जा सकेगा।

"मैं इस विवेकशून्य विचार को मानने को तैयार नहीं कि एक के बाद दूसरे देश को सैन्यवाद के अँधेरे कुएँ में उतर कर आणविक विनाश के कब्रिस्तान में पहुँचना होगा। मेरा विश्वास है कि अरक्षित सत्य और असीम प्रेम की स्थिति यथार्थता की दृष्टि से सर्वोपरि होगी। आज के बम विस्फोटों और सनसनाती हुई गोलियों के बीच भी मुझे यह आशा है कि कल स्वर्णिम प्रातः होगा। तब संसार भर के लोगों को प्रतिदिन अपने शरीरों के लिये तीन बार भोजन, अपने मस्तिष्कों के लिये शिक्षा एवं संस्कृति तथा अपनी आत्माओं के लिये प्रतिष्ठा, समानता और स्वाधीनता की उपलब्धि होगी।"

श्री किंग ने अपने आन्दोलन का जिक्र करते हुए कहा—"मुझे मालूम है कि कल ही बर्मिंघम (अलबामा) में हमारे बच्चों को, जो भ्रातृत्व की माँग कर रहे थे, आग बुझाने वाले नलों, खूँखार कुत्तों और गोलियों से उत्तर दिया गया है। मैं यह भी जानता हूँ कि कल ही मिसीसिपी आदि नगरों में 'वोट' का अधिकार माँगने वाले युवकों को पशुओं की तरह मारा-काटा गया है तो भी अमेरिका में चिरस्थायी विश्वास और मानव जाति के सुन्दर भविष्य में पूर्ण निष्ठा के रखते हुए मैं इस पुरस्कार को स्वीकार करता हूँ।"

नोबेल पुरस्कार प्राप्त करके जब श्री किंग पुनः अमेरिका लौटे तो न्यूयार्क के मेयर ने उनको नगर का सम्मान सूचक स्वर्ण-पदक प्रदान किया और उसी सप्ताह प्रेसीडेण्ट जॉन्सन ने 'व्हाइट हाउस' में उनसे भेंट की। पर इस अवसर पर भी दक्षिण के भेद-नीति के समर्थक गोरों ने दुष्टतापूर्वक यही कहा—"इस सबसे खराब अशान्ति उत्पन्न करने वाले को संसार का सर्वश्रेष्ठ शान्ति पुरस्कार कैसे दे दिया गया? निश्चय ही पुरस्कार देने वालों से कुछ गलती हो गई है!"

## पारिवारिक जीवन

'नागरिक अधिकारों' के आन्दोलन में श्री किंग की पत्नी श्रीमती कोरेटा ने निरन्तर उनका साथ दिया है। उन्होंने विवाह के कुछ ही दिन बाद अहिंसात्मक आन्दोलन शुरू कर दिया था। तब से सन् १९६८ तक, जब श्री किंग की हत्या की गई, उनकी पत्नी को सदा ऐसी दुर्घटना होने का भय बना ही रहा। इन वर्षों में श्री किंग को बराबर मारने की धमकी के पत्र मिलते रहे और उनकी जान लेने की कोशिशें भी की गई यद्यपि उनकी पत्नी यह जानती थी कि किसी भी समय वह विधवा हो सकती है और तब उसे अपने बच्चों का पालन स्वयं ही करना पड़ेगा, तो भी उसने कभी अपने पति को उस मार्ग पर चलने में बाधा नहीं डाली, जो उन्होंने अपने लिये सर्वश्रेष्ठ समझकर चुना था। वह जानती थीं कि श्री किंग ने अपने हृदय में

अपनी जाति वालों के लिये न्याय और समानता प्राप्त कराने का दृढ़ निश्चय कर रखा है, चाहे इसके लिये उनको मरना ही क्यों न पड़े ।

उनकी पत्नी भी नीग्रो जनों के साथ होने वाले दुर्व्यवहार से भली प्रकार परिचित थी । उसे अपनी बाल्यावस्था में नित्य पाँच मील पैदल चलकर स्कूल पहुँचना पड़ता था । प्रतिदिन राह में चलते हुए उसे वह 'स्कूल-बस' मिला करती थी जो गोरे बच्चों को विभिन्न स्कूलों तक पहुँचाया करती थी, पर वह नीग्रो होने के कारण उसमे नही चढ़ सकती थी । इसलिये उसी समय उसके मन में ऐसी दूषित अवस्था को बदलने की भावना उत्पन्न हो गई थी ।

श्री किंग दम्पति के चार बच्चे हैं । एकबार श्रीमती किंग ने बतलाया कि ये चारों ऐसे समय मे पैदा हुए हैं जबकि हमारे ऊपर गम्भीर स्थिति आई हुई थी । जब सबसे बड़ा लड़का बहुत छोटा था तो हमारे मकान पर बम फेंका गया । जब दूसरा लड़का पैदा हुआ तो एक अर्द्धविक्षिप्त नीग्रो स्त्री ने श्री किंग पर छुरे से वार किया जिससे उनको घातक चोट लगी, पर वे किसी प्रकार बच गये । जिस समय तीसरा बच्चा हुआ, तब पुलिस उनके पति को जंजीरो से बाँधकर जेल में ले गई । चौथे बच्चे के जन्म के बाद जब वह अस्पताल से लौटकर घर आई तो मालूम हुआ कि उसके पति को बर्मिंघम की जेल में बन्द कर दिया गया है ।

जब श्री किंग के बच्चे कुछ समझदार हुए तो वे प्राय. अपनी माता से पूछते रहते थे कि—"हमारे पिता अन्य लोगों की तरह घर पर क्यो नहीं रहते ?" वह कुछ देर तक सोचती रही कि बच्चो को कैसे समझाया जाये कि उनके पिता जगह-जगह सजातीय लोगों की सभा और गोष्ठियों मे भाषण देने को जाते रहते हैं । उनके घर मे न रहने का यह कारण नही कि वे अपने बच्चों से प्यार नहीं करते, वरन् इसका एकमात्र कारण यही है कि वे अन्य लोगों को सहायता देने के उद्देश्य से हमेशा दौड़-धूप करते रहते हैं ।

बच्चे पूछते थे—"हमारे पिताजी को जेल क्यो जाना पड़ता है ?" श्रीमती किंग को इस प्रश्न का उत्तर देना और भी कठिन जान पड़ता । वे यही कहती कि—"आजकल बहुत से लोगों को रहने के लिये अच्छे घर नहीं मिलते, अच्छा भोजन नहीं मिलता, पहनने को पूरे कपड़े नहीं मिलते । तुम्हारे पिता उनकी सहायता करते हुए ही जेल में जाते हैं ।"

फिर भी बच्चों को अपने पिता से इतना प्रेम था कि वे उनके लिये व्याकुल रहते थे और जब कभी वे घर आते तो उनकी गोदी में टूट पड़ते । श्री किंग एक प्रेमी पिता थे और उनको हमेशा बच्चो का ख्याल बना रहता था । पर कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से उनको अपनी भावनाओं को दबाकर संकटपूर्ण स्थिति में रहने को बाध्य होना पड़ता था ।

जब प्रेसीडेण्ट कैनेडी की हत्या कर दी गई तो श्री किंग के बच्चे समझने लगे कि उनके पिता की भी यही हालत हो सकती है । कैनेडी के मारे जाने के बाद ही बड़े लड़के 'योलान्डा' ने कहा—"उन लोगों ने प्रेसीडेण्ट कैनेडी को मार डाला, और वे किसी का कुछ भी न कर सके ! क्यों मम्मी ! क्या हम लोग स्वतन्त्र न हो सकेंगे ?"

जब नोबेल पुरस्कार ग्रहण करने श्री किंग 'ओसलो' गये तो उनकी पत्नी भी साथ थी । साम्प्रदायिकता की दूषित-भावना से मुक्त नार्वे का अनुभव प्राप्त करके श्रीमती किंग ने कहा था—"मैं चाहती हूँ कि हम इस पर्वत की चोटी पर ही हमेशा निवास करते रहें । पिछले दस वर्षों में तो मेरे सामने हमेशा मौत की धमकी का भय बना रहता है ।" पर वे यह भी जानती थी कि उनके पति अपने सजातीय लोगों को कष्टों मे छोड़कर पर्वत की चोटी पर रहना कभी पसन्द नही कर सकते । एक पतिव्रता पत्नी की हैसियत से वे कभी अपने पति से ऐसी बात नहीं कह सकी थीं। इसलिये वे पुनः अपने नगर में वापस आ गये ।

'नागरिक अधिकारों' के आन्दोलन में अनेक लोगों को प्राण भी गँवाने पड़े । १९६३ में बर्मिंघम के गिर्जाघर पर बम फेका गया, जिसमे चार बच्चे मर गये । ईवान्स नामक कार्यकर्ता को गोली से मार दिया गया । कुछ लोग ख्याल करते हैं कि श्री किंग ऐसी घटनाओं से निराश हो जाते होंगे । पर उन्होंने इन शोचनीय हत्याकाण्डों के पश्चात् यही कहा—"अहिंसात्मक आन्दोलन मे हमको इस प्रकार की प्राण हानि के लिये तैयार होना ही पड़ेगा । तुम अपने विरोधियों पर

आक्रमण नहीं कर सकते, पर उनका आक्रमण तुमको सहन करना ही पड़ेगा ।"

श्रीमती किंग इन बातों को खूब अच्छी तरह समझती है और उनके महत्त्व को भी जानती हैं । एक बार उन्होंने कहा था—"श्री किंग की सहयोगिनी बनने के कारण मैंने आज तक कभी पश्चाताप नहीं किया । मेरा दृढ़ विश्वास है कि हमने अपने बच्चों के लिये जो आशाजनक स्वप्न देखे हैं, वे तभी पूरे हो सकते हैं जब हम इस समय संघर्ष, बलिदान और कष्ट सहन के लिये प्रस्तुत हों । हमको भविष्य की आशा और प्रेम तथा न्याय के सिद्धान्त की श्रेष्ठता में सदैव अटल विश्वास रखना चाहिये ।"

जब श्री किंग मौण्टगुमरी की नौकरी छोड़कर अटलाण्टा चले आये और अपने पिता के साथ सहकारी पादरी का काम करने लगे, तो उनको आर्थिक कष्टों का भी सामना करना पड़ा । श्रीमती किंग ने एक बार अपने घर की हालत बतलाते हुए कहा था—"हमको एक पुराने घर में रहना पड़ता है जिसमें पानी टपकता है, बिजली खराब होती रहती है । जब श्री किंग बाहर रहते हैं तो उनके वृद्ध पिता मेरी सहायता करते हैं ।"

पर इस स्थिति में भी श्री किंग अपना निर्वाह प्रायः उसी वेतन से करते रहे जो उनको गिर्जाघर से प्राप्त होता था । उनको सभाओं में भाषण करने या पुस्तकों की बिक्री से जो धन प्राप्त होता था उसे वे प्रायः सार्वजनिक कार्यों में खर्च कर देते थे । पर श्रीमती किंग ने कभी इस बात की शिकायत नहीं की और न कभी आर्थिक तंगी का जिक्र करके अपने पति को परेशान किया । वे जो कुछ मिल गया उसी में अपने घर की व्यवस्था करके काम चलाती रहीं ।

श्रीमती किंग का उदाहरण भारतीय स्त्रियों के लिये बड़ा प्रेरणाप्रद और अनुकरणीय है । हमारे यहाँ के सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के लिये सबसे बड़ी बाधा यही रहती है कि उनकी पत्नियाँ उनके काम के महत्त्व को कुछ भी नहीं समझतीं और सदा घर के खर्च और अपनी वस्त्राभूषण की माँगों से उनको तंग करती रहती हैं । हम जानते हैं कि अनेक सुयोग्य और सच्चे हृदय के व्यक्ति इसी कारण सार्वजनिक सेवा के कार्यों में भाग नहीं ले सकते, क्योंकि उनके परिवार वाले इस प्रकार के कार्य को अपने हित के विपरीत समझते हैं और हर तरह से उनको घर के धन्धे में ही उलझाये रखने की चेष्टा किया करते हैं । यह खेद की बात है कि जो भारतीय स्त्रियाँ अपने पतिव्रत गुण के कारण संसार में प्रसिद्ध हैं और जो पति को 'परमेश्वर' के रूप में मानती हैं, वे उसके महानता के प्रतीक स्वरूप कार्यों में सहायक होने के बजाय उल्टी बाधक सिद्ध होती हैं ।

## श्री किंग की हत्या और अन्तिम संस्कार

सन् १९६८ के आरम्भ में 'नागरिक अधिकारों' सम्बन्धी कानून को पास करने में सरकारी अधिकारियों और शासन-सभा के प्रतिनिधियों को ढील करते देखकर श्री किंग ने अधिक जोरदार उपायों से काम लेने का निश्चय किया । उन्होंने घोषणा की कि वे एक "पूअर पीपुल्स' (गरीब लोगों का कूँच) संगठित करने वाले हैं तो वाशिंगटन जाकर गरीबों की सहायता के कानून को पास कराने की चेष्टा करेगा । जब वे इसकी तैयारी कर रहे थे, उसी समय 'मेम्फिस' नामक कस्बे से खबर आई कि वहाँ के 'सफाई-विभाग' के कर्मचारी, जिनमें से अधिकांश नीग्रो थे, दो महीने से अपना वेतन बढ़वाने के लिये हड़ताल कर रहे हैं । उन्होंने श्री किंग से सहायतार्थ आने की प्रार्थना की ।

'मेम्फिस' पहुँच कर उन्होंने वहाँ के समस्त नीग्रो लोगों से, जिनकी संख्या लगभग दस हजार थी, कहा कि—एक दिन की हड़ताल रखकर हड़तालियों का समर्थन करने के लिये प्रदर्शन करें । प्रदर्शन २८ मार्च को किया गया, जिसमें दंगा हो गया । अधिकारियों ने नगर में करफ्यू लगा दिया और सब जगह फौजी सिपाही पहरे पर नियुक्त कर दिये गये । दंगा हो जाने से श्री किंग को बहुत खेद हुआ, पर सहकारियों की सम्मति से उन्होंने एक सप्ताह बाद दूसरा प्रदर्शन करने का कार्यक्रम बनाया ।

इधर मेम्फिस के 'भेद-नीति' के समर्थक गोरे उनको बराबर गुप्त रूप से जान से मार देने की धमकी दे रहे थे । वहाँ की गम्भीर स्थिति को देखकर उनको भावी दुर्घटना का कुछ अनुमान हो गया और ३ अप्रैल की रात्रि को उन्होंने एक जनसमूह के सम्मुख भाषण करते हुए कहा—"मैं नहीं समझ सकता कि अब क्या होने वाला है । हमारे सामने कठिन समय आने की सम्भावना स्पष्ट जान पड़ती है । पर मुझे इस बात

की कोई चिन्ता नहीं कि मेरा क्या होगा ? क्योंकि मैं अब पर्वत की चोटी पर पहुँच चुका हूँ । यह सत्य है कि अन्य लोगों की तरह मैं भी दीर्घ-जीवन चाहता हूँ, पर यदि ऐसा न हो सके तो भी मुझे उसका कोई दु:ख न होगा । अब तो मैं भगवान की इच्छा पूर्ण करना चाहता हूँ । उसी ने मुझे पर्वत पर चढ़ने की प्रेरणा दी है और वहाँ पहुँच कर मैने 'भावी मुक्ति-प्रदेश' के दर्शन कर लिये हैं । हो सकता है कि मै तुम्हारे साथ न रह सकूँ, पर तुमको मै यह विश्वास दिला देना चाहता हूँ कि हमारी जाति एक दिन उस 'मुक्ति-प्रदेश' को अवश्य प्राप्त कर लेगी । इसलिये आज रात को मैं बहुत खुश हूँ और मुझे किसी बात की चिन्ता नही है । मैं किसी व्यक्ति से भयभीत नहीं हूँ । मेरे नेत्रो ने भगवान के आगामी 'सुखप्रद राज्य' के दर्शन कर लिये है ।"

यह कहते-कहते श्री किंग का गला भर आया और आँखों में से आँसू छलकने लगे । लोगों को विश्वास हो गया कि उनको वास्तव मे 'ईश्वरीय-राज्य' की झलक दिखाई पड गई है । दूसरे दिन शाम को जब वे अपने ठहरने के होटल के ऊपर एक मित्र द्वारा दी गई 'दावत' में जाने की तैयारी कर रहे थे, और साथ ही होटल के सामने नीचे के चौक में खड़े लोगो से बातें भी करते जाते थे, सामने की इमारत के एक कमरे मे से बन्दूक चलने की आवाज आई । सनसनाती हुई एक गोली आकर श्री किंग की गर्दन और जबड़े मे लगी । वे दोनों हाथ ऊपर की तरफ उठा कर पीछे की तरफ गिर गये । होटल का फर्श घाव से निकलने वाले खून से तर होने लगा । लोगो ने तुरन्त घाव को बाँधकर अस्पताल भेजा पर आधे घण्टे के भीतर उनके प्राण निकल गये । गोली से कंठनाली के नष्ट हो जाने से वे मरते समय एक शब्द भी न कह सके ।

इस प्रकार गरीबो की सेवा मे अर्पित एक दैवी-जीवन का अन्त हो गया । वे एक 'देव-दूत' की तरह अमेरिका की अत्याचार पीड़ित नीग्रोजनों को 'मुक्ति-प्रदेश' का मार्ग दिखलाने आये और बारह वर्ष तक अपने सजातियों को 'अहिंसात्मक प्रतिरोध' की शिक्षा देकर चले गये । उन्होंने अपना उदाहरण उपस्थित करके अपने समस्त अनुयायियो को बतलाया कि—अमेरिका के गोरे हथियारो और धन की शक्ति से जिस प्रकार 'मदमत्त' हो रहे हैं, हम उनका सामना इन्हीं साधनों से नहीं कर सकते । हमको इस 'भौतिक शक्ति' का मुकाबला उसी प्रकार 'आत्मिक-शक्ति' से करना चाहिये, जिस प्रकार महात्मा गाँधी और उनके अनुयायियों ने भारतवर्ष से ब्रिटिश-साम्राज्य की शासन-सत्ता को हटाने के लिये किया था । विश्वास रखो कि भगवान की शक्ति गोरे लोगों की भौतिक शक्ति से अवश्य ही महान है । और जो कोई हृदय से उसका आश्रय लेकर आगे बढ़ेगा वह निश्चय ही एक 'संकट-सागर' से पार हो सकेगा ।

## हिंसा बनाम अहिंसा

डॉ. लूथर किंग के हत्याकाण्ड ने संसार के सम्मुख इस प्रश्न को बड़े स्पष्ट रूप में उपस्थित कर दिया है कि क्या राजनैतिक क्षेत्र में कभी अहिंसा की सत्ता उसी प्रकार सर्वमान्य हो सकती है, जिस प्रकार आज हिंसा की हो रही है ? हिंसा के समर्थक तो कहते है कि हिसा प्राणी के स्वभाव में ही सम्मिलित है और जब से पृथ्वी-तल पर मनुष्य का अस्तित्व है, तबसे वह बराबर हिंसा का आश्रय लेकर अपना वर्चस्व स्थापित करने की चेष्टा करता आया है । जंगली और पालतू प्राणियो पर तो उसने सदा ही अपनी हिंसकवृत्ति प्रकट की है और शिकार करना आदि-काल से आज तक एक 'लाभकारी मनोरंजन' मान लिया गया है । इसके साथ ही अन्य मनुष्यो के साथ भी वह परिस्थिति के अनुसार प्रकट या गुप्त रूप से इसका प्रयोग करता रहा है । ऐतिहासिक काल और उससे भी पूर्ववर्ती काल में होने वाले युद्धों की लम्बी सूची उसका असंदिग्ध प्रमाण है ।

पर हजारो वर्षों के अनुभव के पश्चात् मनुष्य अब इस नतीजे पर पहुँचा है कि युद्ध से मानव-जाति की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता । पहले कुछ लोग युद्ध का समर्थन इसलिये करते थे कि इसके द्वारा अन्याय का नाश होकर न्याय की स्थापना होगी । पर वर्तमान समय में यूरोप, अमेरिका के वैज्ञानिको ने युद्ध-कला को ऐसा व्यवस्थित और सर्वसंहारक रूप दे दिया है कि बहुत लम्बे समय तक संघर्ष करते रहने पर भी उसके द्वारा किसी बात का अन्तिम निर्णय नही हो सकता । खासकर वर्तमान समय मे जिन अणुअस्त्रो का आविष्कार किया गया है, उनसे तो युद्धों की निष्फलता

और भी सिद्ध हो गई है । अब चाहे युद्ध करने वाले दोनों पक्ष एक दूसरे को पूरी तरह नष्ट कर डालें, पर वे इसके द्वारा किसी प्रकार अन्याय का प्रतिकार नहीं कर सकते । अब यदि दो प्रमुख देशों में युद्ध हो तो उसका स्वरूप और परिणाम क्या होगा इस सम्बन्ध में एक लेखक ने निम्न मत प्रकट किया है—

"आज दो देशों में युद्ध नाम की कोई चीज शेष नहीं रह गई है । अब दो देशों का युद्ध किसी भी क्षण विश्वयुद्ध हो सकता है । फिर युद्ध में सैनिक असैनिक का कोई भेद नहीं रह जाता । अब युद्ध में केवल सैनिक ही नहीं मरते वरन् निरीह नागरिक, स्त्री, बच्चे, बुड्ढे, बीमार सभी समान रूप से मौत के घाट उतारे जाते हैं । जनहानि की तरह भीषण धनहानि भी होती है । इस कारण युद्ध से सभी डरते हैं । फिर भी आज सभी देश नये-नये और अधिकाधिक शस्त्र बनाने में संलग्न है । एक को दूसरे का कुछ भी भरोसा नहीं, इसलिये मुँह से शान्ति की बातें करते हुए भी, वे लड़ने को सदैव तैयार रहते हैं ।"

जो बात राष्ट्रों के सम्बन्ध में कही जा रही है वही छोटे समुदायों और व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी यथार्थ मानी जा सकती है । अमेरिका की सरकार यद्यपि नीग्रोजनों को बहुत से अधिकार दे चुकी है और आगे भी देने को तैयार है, पर वहाँ के गोरे निवासियों का एक दल, जिनके बाप-दादे खासतौर पर नीग्रो-जनों से गुलामी कराके धनी बन गये थे, उनको पूर्ववत् ही दबाकर रखना चाहता है । इसके लिये वे लोग प्रायः हिंसक उपायों और जोर जुल्म से काम लेते रहते हैं । उन्होंने अपने गुप्त संगठन बना रखे हैं और वे झूठ-मूठ के कारणों पर भी नीग्रो-जनों को पकड़ कर मार देने या उनके घरों को लूट लेने, जला देने को तैयार रहते हैं ।

यद्यपि सरकार की और नीग्रो-जनों की तरफ से इसके प्रतिकार की चेष्टा की जाती है, पर कुछ दक्षिणी रियासतों में इन 'गुण्डों' का ऐसा आतंक छाया हुआ है कि उनकी रोकथाम कर सकना असम्भव हो गया है । वे केवल नीग्रो-जनों को ही मारने को तैयार नहीं रहते, वरन् जो गोरे लोग नीग्रो का पक्ष लेते हैं उनको मारने में भी वे आनाकानी नहीं करते । प्रेसीडेण्ट कैनेडी की हत्या इसी कारण की गई और उससे समस्त संसार को मालूम हो गया कि ये दक्षिणी अमेरिकन 'दैत्य' कितने भयंकर और न्याय तथा नीति के शत्रु हैं ।

## अहिंसा की विजय

यह सब कुछ होने पर भी विचारशील व्यक्ति इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हिंसा मनुष्य की नीची प्रकृति है और जैसे-जैसे वह आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति करता जायेगा अहिंसा के प्रति उसकी आस्था दृढ होती जायेगी और एक दिन वह उसी प्रकार स्वाभाविक रूप से उसका प्रयोग करने लगेगा जैसा आज हिंसा का कर रहा है । यों तो अविचारी और विरोधी हमेशा ही इस सिद्धान्त को अव्यवहार्य बताकर इसकी हँसी उड़ाते रहते है, पर इसका मुख्य कारण यही है कि अभी वे भौतिक-क्षेत्र में ही भटक रहे हैं और उनके पुराने पशु-संस्कार ही बलवान बने हुए हैं । पर जो व्यक्ति आत्मिक-क्षेत्र में प्रवेश कर चुके है और जिन्होंने मानव-जीवन के चरम लक्ष्य को पहचान लिया है, वे उस आगामी युग के दर्शन आज भी सूक्ष्म-जगत में कर सकते हैं । आधुनिक युग मे अहिंसा के आचार्य महात्मा गाँधी ने अहिंसा की साधना का जो मार्ग बतलाया था, उसमें कहा गया था—

"कष्ट की अग्नि द्वारा शुद्ध हुए बिना कभी कोई देश ऊपर नहीं उठा । माता इसलिये कष्ट उठाती है कि उसका बालक जीवित रह सके । गेहूँ उगने के लिये शर्त यह है कि उसका अस्तित्व नष्ट हो जाये । मृत्यु ही से जीवन उत्पन्न होता है । प्राचीन काल के ऋषियों ने शरीर को इसलिये कष्ट दिया था कि उनके भीतर की आत्मा मुक्ति प्राप्त करे और उनके सधाये हुए शरीरों पर अत्याचारियों द्वारा दिये जाने वाले किसी कष्ट का असर न पड़ सके । यदि हम लोग पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य की स्थापना देखना चाहते हैं तो हमको भी उसी प्रकार कष्ट सहने को तैयार रहना चाहिये । पर दूसरों को कष्ट पहुँचाने की रीति से हम अलग रहें और जब तक अन्यायी अपने अन्याय को आँख खोलकर न समझ ले तब तक उसका सक्रिय शान्तिमय विरोध करते ही रहें ।"

महात्मा गाँधी ने जिस समय यह उपदेश दिया था उस समय यद्यपि उनका मुख्य लक्ष्य भारतवर्ष का 'असहयोग-आन्दोलन' ही था । उसी के लिये वे अपने

देशवासियों में अन्यायी सरकार को किसी प्रकार का सहयोग न देने का आंदोलन कर रहे थे और भारतीय ऋषि परम्परा के अनुसार उनको अहिंसा का व्यवहार करने का आदेश भी देते रहते थे । यद्यपि उस समय भी करोड़ों देशी और विदेशी व्यक्तियों ने इसको असम्भव ही बताया था पर महात्मा जी और उनके साथियों की दृढ़ श्रद्धा ने 'असम्भव' को सम्भव कर दिखाया ।

महात्मा जी ने अहिंसा के सिद्धान्त की स्थापना एक देश के लिये नहीं की थी वरन् उनका उद्देश्य विश्वव्यापी था । वर्तमान समय में हिंसा (युद्ध) का सिद्धान्त संसार की समस्याओं को हल करने मे किस प्रकार निकम्मा सिद्ध हो रहा है, इस पर महात्मा जी के सिद्धान्तानुसार विचार करते हुए आचार्य कृपलानी ने एक स्थान पर लिखा है—

"सामूहिक अन्यायों का निराकरण करने के लिये पहले चाहे युद्ध और हिंसा के नियम की कुछ उपयोगिता रही भी हो, पर अब उससे वांछनीय परिणाम प्राप्त कर सकना सम्भव नही । कुछ विद्वानों के मतानुसार प्राचीन युग में युद्ध के द्वारा भी मानव-सभ्यता की वृद्धि में सहयोग मिला है, पर अब तो युद्ध का फल केवल मनुष्य में पाशविकता की वृद्धि तथा घृणा और हिंसा के क्षेत्र का विस्तृत होना ही दिखाई पड़ रहा है । उसके कारण समाज का विघटन और पतन होता है और व्यक्ति पर भी उसकी हानिकारक प्रतिक्रिया होती है । वर्तमान परिस्थितियों में मानव-समाज की प्रगति के लिये सामूहिक अन्यायो के निराकरण और सामूहिक न्याय और सदाचार की स्थापना की आवश्यकता है, पर यह उद्देश्य युद्ध से हर्गिज पूरा नही हो सकता ।"

अहिसा और सत्याग्रह के विरोधी प्राय· यह कहा करते है कि अभी तक सत्याग्रह का प्रयोग ऐसी अवस्थाओ मे ही किया गया है जहाँ दोनों दलो मे किसी प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है और जहाँ प्रतिपक्षी दल मे सभ्यता और जनमत के सम्मान की कुछ भावना पाई जाती है । पर हिटलर के समान किसी विदेशी आक्रमणकारी या दक्षिण अमेरिका के 'गुप्त घातक-दल' जैसे हृदयहीन अथवा सर्वनाश पर उतारू लोगों के सम्मुख सत्याग्रह का कोई प्रभाव नहीं हो सकता ।

इसका उत्तर शान्तिवादियों की तरफ से यह दिया जाता है कि अब तक संसार के राष्ट्रों ने हिंसात्मक युद्धों के लिये जिस प्रकार का सुदृढ़ संगठन और प्रत्येक विषय की अधिक से अधिक तैयारी की है, अहिंसात्मक प्रतिरोध के सम्बन्ध में अभी उससे सौवाँ अथवा हजारवाँ भाग भी प्रयत्न नहीं किया गया है । एक अमेरिकन लेखक सेसिल ई. हिनशा ने इस समस्या पर अपने देश की दृष्टि से विचार करते हुए लिखा है—

"हमारी मुख्य जिम्मेदारी यह है कि लोग इन विचारों में विश्वास रखते है, उन्हें कार्यकारी प्रभावशाली जमात के रूप में संगठित करें । समूचे राष्ट्र को इस नीति पर ले आने और उसके बाद सफलतापूर्वक कार्यक्रम चलाने के लिये ऐसा संगठन प्रथम आवश्यकता है । इस विषय में हम भारत में गाँधी जी के अनुभवों से बहुत कुछ सीख सकते है । वहाँ ऐसे चार लाख आदमी ऐसी जमात के रूप मे संगठित हुए थे । इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे किसी संगठन के बिना भारत के अहिंसात्मक प्रतिरोध के आन्दोलन में इतनी बड़ी सफलता कदापि प्राप्ति न होती, पर गाँधी जी को फिर भी यह कहना पड़ा कि मैने जो जमात खडी की वह पर्याप्त रूप से शक्तिशाली नहीं है । इसलिये हमें अमेरिका में और भी विशाल सगठन बनाने की बात सोचकर ही आगे बढ़ना होगा । हमें अपने सामने दस लाख व्यक्तियों के संगठन का लक्ष्य रखना आवश्यक है ।"

संसार के विभिन्न देशो में फैले हुए शान्तिवादी विचारकों की योजनाओं को पढकर हम कह सकते है कि डॉ. लूथर किंग ने अपनी मृत्यु के कुछ घण्टे पूर्व संसार में न्याय और समानता का नया युग आने की जो भविष्यवाणी की थी वह केवल मन की कल्पना नहीं है । एक दिन वह था जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को मारकर खा जाता था और एक आज का दिन है जब हजारो व्यक्ति ऐसे पाये जाते हैं जो सर्वथा अपरिचित लोगो की रक्षा के लिये बिना किसी स्वार्थ के अपने प्राण दे डालते है । यह विलक्षण परिवर्तन आध्यात्मिकता की ही देन है । हमारा दृढ़ विश्वास है कि जैसे-जैसे मनुष्य आत्मा के अस्तित्व को समझता जायेगा और समस्त विश्व में एक ही आत्म-तत्व का अनुभव करता जायेगा वैसे-वैसे ही लूथर किंग का 'एक जगत और एक मानवता' का स्वप्न साकार होता चला जायेगा ।

# जापान के गाँधी : टोयोहिको कागावा

टोयोहिको कागावा अपने पिता के गोद लिये पुत्र थे। इनकी जननी एक अनाथ विधवा थी। वह इतनी गरीब थी कि बच्चे का पालन-पोषण नहीं कर सकती थी। इसके साथ ही वह उस समय के जापानी जीवन की शिकार बनी हुई थी। निर्धनता तथा नैतिक दुराचार की विभीषिका ने उसका जीवन नारकीय बना दिया था। यह उस समय के पतित जापानी समाज में गरीब और निम्न वर्ग की स्त्रियों के लिये एक विवशता थी।

कागावा की माता अपने उस निकृष्ट तथा नारकीय जीवन के प्रभाव से बच्चे को बचाना चाहती थी। निदान उसने उसे कागावा नाम के मुखिया को गोद दे दिया था। मुखिया कागावा का यही दत्तक पुत्र टोयोहिको कागावा आगे चलकर अपनी दया, उदारता, सहानुभूति, त्याग तथा सेवाओं के आधार पर जापान के गाँधी—कागावा के नाम से सम्मानित तथा लोकप्रिय हुआ।

कागावा को अपनी जननी और उस जैसी असंख्य स्त्रियों के नारकीय जीवन की कथाओं तथा दृश्यों ने इस सीमा तक प्रभावित तथा प्रेरित किया कि उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही समाज-सेवा तथा सुधार के लिये समर्पित कर दिया और आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक तथा अनेक शारीरिक बाधाओं के होते हुए भी, जब तक अपने ध्येय में सफल न हो गये चैन की सांस न ली।

कागावा ने अपना जीवन तथा समाज-सेवा का कार्य घोर निर्धनता की स्थिति में प्रारम्भ किया। आगे चलकर उन्हें लाखों रुपयों की वार्षिक आय हुई, तथापि उन्होंने न तो कभी पेट भर खाया ही और न तन भर कपड़े ही पहने। अपनी सारी आय उन्होंने समाज के सुधार और दीन-दुःखियों की सेवा में ही लगा दी।

कागावा अपने जिस समाज का सुधार करने के लिये व्रतवन्त हुए थे उसका रोमांचकारी पतन किस सीमा तक पहुँचा हुआ था इसका कुछ अनुमान कागावा के उन पीड़ापूर्ण उद्गारों से लगाया जा सकता है जो उन्होंने अपनी एक पुस्तक के सन्दर्भ में प्रकट किये हैं और उन्हीं से इस बात का भी अन्दाज किया जा सकता है कि कागावा का सेवा-क्षेत्र कितना विस्तृत, दुरूह तथा आवश्यक था ? वे लिखते हैं—

"मेरी पुस्तकों के पढ़ने वालों की संख्या कम नहीं है, किन्तु मेरे जीवन का उद्देश्य ग्रन्थ-रचना ही नहीं है। मैं तो एक सैनिक मात्र हूँ और जन-मानस को जागृत करने के लिये आन्दोलन करना मेरा मुख्य काम है। मेरे ग्रन्थों में मेरी आत्मा रोती है और जो भी सहृदय मेरी आत्मा के उस रुदन को सुनता और समझता है, वही मेरा सच्चा मित्र और स्वजन है।"

"जापान के साढ़े पाँच सौ वेश्यालयों को दफन करना, पन्द्रह करोड़ पौण्ड की शराब-धारा को रोकना, चौरानवे लाख मजदूरों का उद्धार करना और दो करोड किसानों को स्वाधीन बनाना ही मेरे जीवन की आशा और उद्देश्य है और इसी उद्देश्यपूर्ण आशा से मैं अपनी पुस्तक सर्व-साधारण की सेवा हे समर्पित कर रहा हूँ।"

"मनुष्य की अन्तरात्मा ही राजनीति है, अर्थशास्त्र है, शिक्षा है और विज्ञान है। इसलिये मनुष्य की आत्मा को सुसंस्कृत बनाना ही सबसे अधिक आवश्यक है। यदि हम सब अपनी आत्मा को परिष्कृत बना सके तो राजनीति अर्थशास्त्र, शिक्षा और विज्ञान की समस्यायें स्वयं ही हल हो जायें। मेरे यह भाषण मात्र वक्तृता नहीं, मेरे अन्तरात्मा की करुण पुकार है।"

इतने विशाल सेवा-क्षेत्र में अपने उद्देश्यों को मूर्तिमान करने वाले कागावा ने कौन से सकट नहीं उठाये ? किन्तु जापान का वह पथ-प्रदर्शक ध्रुव तारा जरा भी विचलित न हुआ। दूध पीते हुए मजदूर माता का स्तन छूटा। चाल साल की आयु में गोद लेने वाला पिता छोड गया और छः महीने के भीतर ही विमाता तथा कर्कशा दादी ने अपने निर्दय व्यवहार से अनुभव करा दिया कि वह एक अनाथ और आश्रयहीन बालक है। संसार में उनका कोई नहीं है। कभी कहीं एक उसकी एक माता रही है जो अब तक समान

की भयंकरताओं की भेंट चढ़कर समाप्त हो गई होगी । बालक कागावा जने-जने का मुँह ताकता और डबडबाई हुई आँखें नीची कर लेता ।

वह विमाता को माता कहकर आँचल पकडना चाहता किन्तु उसे मिलता एक घृणा भरा झटका । उसे कागावा से इतनी घृणा थी कि वह उससे कभी बोलती ही न थी । न जाने कैसी स्त्री थी ? क्या उसके पूरे अस्तित्व में मातृत्व का एक विन्दु भी नहीं था ? 'माँ' कहकर पुकारते हुए किसी बालक को 'बेटा' कहकर पुचकार देने में उसकी कौन-सी निधि नष्ट हो जाती ? किन्तु जिन अभागिनियों की भाग्य-रेखा में श्रेय के अक्षर नहीं लिखे होते वे ऐसी ही कठोर तथा कर्कश प्रवृत्तियों को प्रश्रय दिया करती हैं । कागावा को जो बनना था वह बना ही, किन्तु अवसर होने पर भी वह विमाता जापान के गाँधी की माता बनने का गौरवपूर्ण महत्त्व न पा सकी । अपने संयोग से मरते-जीते अनाथ कागावा के 'माँ' कहने पर यदि वह प्यार से उसे 'बेटा' कहकर मातृत्व का प्रमाण दे सकी होती तो क्या आज कागावा के साथ उसका भी नाम मानवता के इतिहास मे अमर न हो जाता ?

और दादी ! वह विमाता से भी गई गुजरी थी । उसने मानो अपने सारे जीवन का क्षोभ और कुण्ठा उतारने का लक्ष्य कागावा को ही बना रक्खा था । वह उसे खाने-पहनने को जो देती थी वह आगे की बातो से पता चल जायेगा । यहाँ पर उसका वह दुर्व्यवहार बतला दिया जाये जो वह असहाय कागावा के साथ करती थी और जिसको सहन करता हुआ कागावा अगले जीवन की कठोरताओ का मानो पूर्वाभ्यास कर रहा था ।

कागावा जब-जब उसके सामने पडता और जब तक बना रहता जवानी की जर्जर बुढिया गालियों की बौछार किये रहती थी । जब कागावा का धैर्य उससे विचलित न होता तो उसको मार लगाती । असहाय आश्रित को पीटने के लिये किसी आततायी को किसी कारण की अपेक्षा नहीं होती । उसका असहाय और आश्रित होना स्वयं एक बहुत बड़ा कारण होता है । दूषित दृष्टिकोण और विकृत मनोवृत्ति वाले लोगों को निरपराधी मे भी अपराध खोज लेते देर नहीं लगती । अस्वस्थ हृदय व्यक्तियो को किसी भी निःसहाय का उठना, बैठना, बात करना, हँसना, रोना, चलना-फिरना, यहाँ तक कि अपना दु.खड़ा वतलाना भी अपराध जैसा ही लगता है । पता नहीं ऐसे हृदयहीन व्यक्ति कैसे तो जीते हैं और जीते हुए कौन-सा सुख-सन्तोष अनुभव करते है ? जिसमें आत्मीयता की आर्द्रता नही, सहानुभूति और सम्वेदना की शीतलता नही, सहृदयता और सौहार्द्र की छाया नही ऐसी श्मशान जैसी वृत जिन्दगी जीवन की यातना के सिवाय और क्या कही जा सकती है ?

बुढ़िया का आतंक कागावा पर हर समय छाया रहता । यहाँ तक कि वह उसका सपना देखता और रात मे डर जाता । यह घटना तो उस दादी के लिये अत्याचार का उत्सव होती और वह उसे न केवल डडो से पीटती ही थी वल्कि लोहे की गरम चीजों से चहकाती और जलाती भी थी किन्तु धन्य थे मनुष्यता के अवतार कागावा कि मनुष्य से इतनी यन्त्रणा पाने पर भी मनुष्यता की भलाई के लिये न केवल अपना तन, मन, धन ही दे डाला और जब इस आत्यन्तिक उत्सर्ग से भी सन्तोष न हुआ तो अन्तरात्मा के आँसू दे डाले जिनका मूल्य भक्ति या मुक्ति कुछ भी हो सकता था । दादी के दिये वे दाग कागावा के शरीर पर आजीवन बने रहे और उस अन्धी कोठरी को तो वे कभी भूले ही नहीं—यन्त्रणा के बाद जिसमें वे भूखे-प्यासे बन्द कर दिये जाते थे ।

समाज में यदि दादियाँ ऐसी होने लगें तब तो उनका जरा-जीर्ण शरीर और विकृत मुखाकृति को देखकर बच्चे और भी डर जाया करे, किन्तु दादी तो दया की देवी होती है । माता-पिता से भयभीत बच्चे उसकी गोद मे ही तो छिपकर अभय पाते है किन्तु कागावा की दादी देवी नहीं दानवी थी । अपने समय में उसने जो असावधान जिन्दगी जी और उस ईश्वरीय प्रसाद की जो लूट मचाई, उसी के दण्ड स्वरूप उसके हृदय की सारी सरसता सूख गई और सारा आस्तित्व सदा सर्वदा के लिये अस्वस्थ हो गया । अपने कलुष और कुण्ठा की अभिव्यक्ति का माध्यम उसने कागावा को बना लिया ।

वह दयाहीन दादी बालक कागावा से कड़ाई से काम लेती । घोड़े के लिये घास खोदने भेजती, तालाव से जिस दिन ढेर-सी मछलियाँ न लाता उस दिन न केवल पीटा जाता बल्कि घर के जूठे टुकड़ों से भी

वंचित कर दिया जाता । घर की सफाई और बर्तनों का माँजना, धोना कागावा के ही सुपुर्द था किन्तु सहनशील कागावा यह सब बिना किसी उपालम्भ के करता और अपने अन्तर की महानता को पालता रहा।

इतनी यातना उठाने और काम करने पर भी कागावा को पेट भर भोजन न मिलता था । कपड़ों के नाम पर उसे प्रायः नंगा रहना पड़ता था । हाँ उसके पेट को पूरा भोजन मिलने की एक ऋतु आती थी । वह यह कि जब धान की बुवाई और कटाई के दिन आते थे । उन दिनों कागावा किसान बालकों के साथ दिन भर खेतों में काम करता रहता था और शाम को जरूर इतना पा जाता था कि तृप्ति के सुख का अनुभव कर लेता था । उसकी इस कमाई का बहुत सा भाग दादी और विमाता झटक लेती थी । बालक कागावा वहीं खेतों पर धान के पौधों से अपने लिये कपड़ा गढ़ लेता था और काफी दिन अपना तन ढके रहता था । यह था कागावा का प्रारम्भिक जीवन जिसकी कठोरता और कठिनाइयों ने उसे इतना सहिष्णु तथा सवेदनशील बना दिया कि, वह समाज की सराहनीय सेवा कर सका ।

समाज की सराहनीय ही नही महत्त्वपूर्ण सेवा करने वाला कागावा उसे अपने समाज द्वारा कितना पीड़ित और तिरस्कृत किया गया था उसका एक छोटा-सा उदाहरण यह है । उसके परिवार वालों का जो दुर्व्यवहार उसके साथ था सो तो था ही उस उपेक्षित बालक को पीड़ा पहुँचाने में गाँव वालों ने भी कुछ उठा न रक्खा था ।

एक बार पड़ोस की एक सोलह साल की लड़की को सख्त चोट लग गई । वह उस आघात से इतनी घायल हो गई थी कि प्राणों का संकट उपस्थित हो गया । बेहोशी के कारण वह यह न बतला सकी कि वह चोट उसे कैसे लगी ? पर असहाय के प्रति तो बहुधा लोगो का कोप भाव ही बना रहता है । फिर उस असहाय को तो लोग विरोध की दृष्टि से ही देखते है जिसके आश्रयदाता स्वयं उसकी उपेक्षा करते हों । लड़की के घर वालों ने अपना क्षोभ उतारने के लिये झट कागावा का नाम धर लिया । वाह रे समाज, तेरे अत्याचार के लक्ष्य निर्बल और निरुपाय ही हुआ करते हैं और तभी तो उनकी आहों और यातनाओं के साथ स्वयं भी जला और मरा करता है ।

उक्त लड़की के घर वालों के इस झूठे आरोप का अनुमोदन कागावा के घर वालो ने तुरन्त कर लिया किन्तु कागावा को इसका दुःख न हुआ । दुःख उसे तब हुआ कि जब उसने देखा कि गाँव वाले भी उसे दोषी मानते है । इस मिथ्या और सार्वजनिक समर्थन ने बालक कागावा का हृदय विदीर्ण कर दिया । वह अपनी वेदना को सह न सका और तीन दिन तक बिना कुछ खाये-पिये रोता रहा । कागावा के पास उस समय सात आठ रुपये थे जो उसने धान के खेतों पर काम करके भविष्य के लिये बचा रक्खे थे । वह उन्हें लेकर लड़की के पिता के पास गया और दवा-दारू के लिये देकर क्षमा भी माँगी । इस मिथ्या आरोप और उसकी स्वीकृति ने कागावा के हृदय में एक ऐसे निर्वेद को जन्म दे दिया जिसने उसे मनुष्य से देवता और सामान्य से सन्त बना दिया ।

उस समय कागावा गाँव की प्रारम्भिक पाठशाला में पढ़ता था । पर इस घटना से उसका मन गाँव से उचट गया और वह उस अवा नाम के गाँव को छोड़कर संसार मे आश्रय खोजने चल दिया । चलते समय उसका हाथ पकड़ कर रोकने वाला कोई भी नही था । इस एकाकी-पन के भाव से कागावा का हृदय आँखो में झलक आया उसने चलते समय दादी और विमाता से बड़ी मार्मिक विदा माँगी और आशा की कि शायद अब सदा-सर्वदा के लिये जाते हुए अपने इस कोप भाजन के लिये वे सहानुभूति के दो शब्द बोल सकें, किन्तु उन दोनों शुष्काओ के पास इसका सर्वथा अभाव था । उन्होंने सिर से अपना भार टलता हुआ समझा और कागावा सिसकता हुआ चला गया । जिनकी शक्तियाँ, जिनकी भावनायें और जिनका जीवन सार्वजनिक सेवा के लिये सुरक्षित रक्खा जाता है, कदाचित् परमात्मा की इच्छा उनके चारों ओर ऐसे निर्मोह का ही वातावरण उत्पन्न कर देती है किन्तु हो सकता है कि इसी निर्मोह की प्रतिक्रिया व्यक्ति के संकीर्ण व्यामोह को सार्वलौकिक प्रेम में विस्तृत कर देता हो । कुछ भी सही, पर इनका निश्चय है कि जीवन की कठिनाइयाँ समाज की अपेक्षा और मोह-बन्धनो का खण्डन इस बात का स्पष्ट संकेत होते हैं कि अमुक व्यक्ति किसी महान कर्तव्य के लिये निर्मित किया जा रहा है जिसके लिये उसे सजग, सावधान तथा सक्रिय हो जाना चाहिये । जिन्होंने

इन मार्मिकताओं का महत्त्व समझा और उन्हें साहस पूर्वक जीवन में स्वीकार किया वे संसार तथा समाज के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बने हैं और इसी प्रकार जो आगे भी समझेंगे वे महान तथा महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बनेगे ।

आश्रय खोजता हुआ कागावा अवा से टोकोशिमा आया और चाहा कि किसी स्कूल में प्रवेश और कोई छोटा-मोटा काम मिल जाये । पर उसे बहुत समय तक निराश तथा निःसहाय रहना पड़ा तथापि वह हतोत्साहित न हुआ और अपना प्रयत्न जारी रक्खा । इसी काम में एक दिन उसने टोकोशिमा के एक मिडिल स्कूल के अध्यापक श्री काटायामा से भेंट की ।

श्री काटायामा एक उदार चेत्ता व्यक्ति थे । उन्होंने कागावा की करुण कथा सुनी और समझ लिया कि वह सहायता तथा सहानुभूति का उपयुक्त पात्र है। इस निराश्रित बालक को आश्रय मिलना ही चाहिये । सच्चे सज्जन व्यक्ति अपने सद्विचारो को कार्य रूप में परिणत करने में अधिक किन्तु-परन्तु में समय खराब नहीं करते । निदान काटायामा ने कागावा को न केवल स्कूल में ही भर्ती करा दिया बल्कि बेटे की तरह अपने घर रख लिया । जीवन मे प्रेम की एक बूँद के लिये कलपने वाला कागावा का हृदय शिक्षक के उस सौहार्द्य की अनुभूति से फूल की तरह खिल उठा उसके सारे गुण अपनी प्रतिभा के साथ प्रवृद्ध हो उठे और वह जीवन के ठीक-ठीक मार्ग पर ठीक दिशा की ओर चल पडा । विगत जीवन की उसकी सारी कटु और करुण अनुभूतियाँ प्रेरणा बनकर उनकी सहायिका हो गईं ।

कागावा उन मूर्ख व्यक्तियों में से न था जो आश्रय पाकर आलसी और अकर्मण्य हो जाया करते हैं । अपने विगत कष्टों को सोच-सोच कर अधिक से अधिक आराम उठाने की सोचा करते है । काम करने में टाल-मटोल करते हुए यह समझ लेते हैं कि उनकी यह निष्क्रियता उनकी पूर्वक कठिनाइयों के सन्दर्भ में उचित समझ ली जायेगी, किन्तु कागावा उस प्रकार का लडका नहीं था । उसे उस प्राप्त अवसर का अधिक से अधिक सदुपयोग करने का ध्यान रहता था और इस बात का संकोच रहता था कि कोई यह न सोचने पाये कि जिस लड़के को सहयोग दिया गया है वह इसके योग्य था नहीं । वह इस बात से भी निरपेक्ष नही था कि भले ही उसके सहायक शील संकोच-वश कुछ न कहें तब भी उसका आलस्य तथा कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा उसकी वैयक्तिक उन्नति में तो बाधक बनेगी ही ।

कागावा ने अध्ययन में अपना पूरा मन लगा दिया। वह पढ़ने में इतना परिश्रम करता कि कक्षा में सबसे आगे रहता और पूछे जाने वाले प्रश्नों का उत्तर तुरन्त दे देता । उसने अपना स्वभाव इतना अध्ययनशील बना लिया था कि वे पढ़ाये पाठों को अपने आप ही तैयार कर लिया करता था । उसने भूलकर भी कभी अपना एक क्षण बेकार नही खोया ।

अध्ययन में इतना परिश्रम करने के साथ-साथ कागावा अपने सहायक शिक्षक काटायामा के घर का सारा काम भी करता था । वह बाजार से सारा सामान खुद लाद कर लाता । घर की सफाई और बर्तनों को माँजना, धोना तो मानो उसका अपना काम ही था । इसकी दक्षता तो वह दादी के कठोर शासन में सिद्ध ही कर चुका था । संरक्षको के बहुत मना करने पर भी कागावा सबके कपड़े अपने हाथ से धोता और कोयले भी खुद ही तोड़कर अगीठी के योग्य बना दिया करता था । कागावा ने घर का सारा काम इस ढंग से अपने ऊपर उठा लिया था कि वह उन दम्पत्ति का न केवल प्रिय-पात्र ही बल्कि आवश्यक पात्र बन गया था । इस प्रकार अध्ययन तथा सेवा द्वारा कागावा ने किसी की सहायता को सार्थक बनाकर दिखला दिया ।

टोकोशिमा की स्कूली शिक्षा पूरी करके कागावा जब टोकियो के प्रेसबीटेरियन कॉलेज मे अध्ययन करने के लिये प्रविष्ट हुआ तब उसकी अध्ययनशीलता और भी कई गुनी बढ़ गई । उसने दो वर्ष में ही अपने पाठ्यक्रम के साथ-साथ कॉलेज की विशाल लायब्रेरी के सभी अच्छे-अच्छे ग्रन्थ पढ़ डाले जिससे उसकी योग्यता अनेक विषयो मे विद्वानों के समान हो गई ।

इसी समय कागावा ने बौद्ध-धर्म, ईसाई और अनेक अन्य धर्मों का अध्ययन करने के साथ-साथ बाइबिल और कन्फ्यूशियस के ग्रन्थो का गूढ़ अध्ययन किया । इसका उन पर गहरा प्रभाव पड़ा । उनके हृदय मे निहित दया, करुणा, सम्वेदना, सहानुभूति, प्रेम तथा परोपकार के निहित बीज अंकुरित हो उठे और वे सत्कार्यों की ओर प्रवृत्त हो चले ।

एक दिन कॉलेज से लौटते समय कागावा ने देखा कि एक बिल्ली का बच्चा एक मोरी मे डूबा जा रहा है । बच्चा अपनी नन्हीं-सी म्याऊँ से सहायता के लिये लोगों को पुकार रहा था और अपने छोटे-छोटे पैरो से बचने की व्यर्थ कोशिश कर रहा था । कागावा ने यह भी देखा कि लोग उस निरीह बच्चे की आवाज सुनते और उधर देखते भी, पर उसकी सहायता के लिये कोई भी न बढ़ता । लोगो के लिये उसका डूबना साधारण सी बात लग रही थी । उसकी ओर देखते और यथावत अपने रास्ते चले जाते थे । पर कागावा की मनुष्यता उस बिल्ली के बच्चे का कष्ट न देख सकी । उन्होने तत्काल ही उसके जीवन के प्रति लालसा को अपने प्राणों मे अनुभव कर लिया और उन्हे ऐसा लगा मानो वे स्वयं ही डूबते हुए मरने की पीड़ा अनुभव कर रहे हो । कागावा का संवेदनशील हृदय तड़प उठा और वे तुरन्त उसे डूबने से बचाने के लिये दौड पड़े । हाथो और कपड़ो की गंदगी का विचार किये बिना ही उन्होंने मोरी में उतर कर उस बिल्ली के बच्चे को बाहर निकाल लिया । बच्चा केवल अर्ध चेतन अवस्था मे हो चुका था किन्तु फिर भी उसने अपने रक्षक के सहानुभूति पूर्ण स्पर्श का अमृत अनुभव कर लिया और एक बार आँखे खोल कर म्याऊँ किया । मानो उसने कागावा का उस उपकार के लिये धन्यवाद दिया हो ।

कागावा कुछ देर उसके पास रहे । जिससे कि वह पूरी तरह चेतन हो जाये और फिर अपनी माँ के पास चला जाये । थोड़ी देर में बच्चा पूरी तरह होश मे आ गया कागावा ने उसे प्रेम से थपथपाया और यह कहकर अपने रास्ते चल दिए—"जाओ अब अपनी माँ के पास चले जाओ । कागाव अभी दो-चार कदम ही गये होगे कि उनके कानो मे छोटी-सी म्याऊँ फिर पडी । उन्होंने मुड़कर देखा—बच्चा गिरता-पड़ता उनकी पीछे दौड़ता चला आ रहा था । कागावा ने उसे फिर थपथपाया और जाने के लिये कहा । पर वह न गया और कागावा के पीछे चलता रहा । बेचारा अपने प्राणदाता को छोड़कर जाता भी कहाँ । माँ से वह बिछुड़ चुका था, अस्तित्व की रक्षा मे स्वय समर्थ न था । संसार में कोई दूसरा दया करने वाला नही था । कागावा ने उसकी मजबूरी और उसकी वेदना अनुभव कर ली और उस निरीह पशु को हाथों में उठा लिया । उनके साथ दूर तक वह चल ही नहीं सकता था ।

रास्ता चलते लोगो ने देखा और कहा—कैसा मूर्ख आदमी है, बिल्ली के गन्दे बच्चे को हाथ में उठाये लिये जा रहा है । उधर फेंक क्यों नही देता ? कागाव ने सुना और मन ही मन कह लिया—ईश्वर हमारी इस मूर्खता को दिन-दिन बढ़ाता रहे । कई एक ने तो कागावा से कहा भी । कैसे गन्दे आदमी हो । इसे उधर फेकते क्यों नहीं ? कागावा ने केवल इतना ही कहा—यह हमारा गहरा मित्र है—और अपने रास्ते चलते गये । घर आकर उन्होंने उसे नहला-धुला कर साफ किया और साथी की तरह अपने कमरे में रख लिया ।

इसी प्रकार एक दिन कागावा ने देखा एक सूखे, दुबले, कमजोर कुत्ते को कई संड-मुसंड कुत्ते लिपटे हुए हैं । वह बेचारा इधर-उधर भागकर अपनी जान बचा रहा है लेकिन वह जिस आदमी की आड लेता है वही उसे दुत्कार कर भगा देता है । कोई भी उस आपत्ति-ग्रस्त प्राणी की रक्षा करने को तैयार नहीं होता । कागावा को बड़ा दुःख हुआ । वह सोचने लगे संसार मे निर्बलता सबसे बड़ा पाप है । निर्बल स्वयं तो अपनी रक्षा कर ही नही पाता कोई दूसरा भी उसकी रक्षा करने को तैयार नही होता । पर क्या यही मनुष्यता है कि जिसकी रक्षा असम्भव है और जो निश्चय ही सहायता के योग्य है, उसकी भी रक्षा और सहायता न की जाये ? ऐसा करके भी यदि कोई अपने को मनुष्य मानता है तो उसे यह भी सोच लेना चाहिये कि उसमें और इन आततायियो मे कोई अन्तर नही है जो इस कमजोर को सता रहे है । यह सब भी इसे काटते-मारते हैं और वह भी इसे मारते-भगाते है । कितना अच्छा हो कि समाज मे सब एक दूसरे की सुरक्षा तथा सहायता को तत्पर रहे । ऐसी दशा में न कोई अत्याचार करने का साहस करे और न कोई सताया जा सके । कागावा बढे और उन्होंने उन बदमाश कुत्तों को भगाकर उस कमजोर की रक्षा कर दी । पर चलते समय वह मरियल कुत्ता भी बिल्ली के बच्चे की तरह उनके पीछे लग लिया । कागावा ने चाहा कि वह चला जाये पर परोपकारी सज्जन को पाकर निराश्रित जाता भी कहाँ ? निदान विशाल-हृदय

कागावा उसे भी यह कह कर साथ ले आये—चल भाई तू भी चल —और कमरे में रख लिया । उनके निश्छल प्रेम के प्रभाव से वह कुत्ता और वह बिल्ली का बच्चा मित्रों की तरह रहने लगे ।

एक दिन लोगों ने देखा कि एक बड़ा ही फटे हाल भिखारी कागावा का सहारा लिये आया और उन्हीं का अतिथि बन गया । बेचारा कमजोरी और बीमारी से त्रस्त सड़क के किनारे पड़ा कराहता हुआ जीवन और जीविका की याचना कर रहा था । यदि सहारा न मिलता तो शायद दो-चार दिन मे वहीं पड़ा-पड़ा मर जाता । कागावा ने उसे देखा और सहायता का पात्र भी पाया । ले आये और अपने साथ रख लिया । देखा तो बहुत से लोगों ने और शायद पिछले कई दिनों मे देख रहे थे तब भी कुछ न देख सके और हो सकता है कि सब कुछ देखकर भी अनदेखा कर दिया हो-क्योंकि समाज में तो—'हमे क्या मतलब'—वाली बीमारी जो चलती है । पर कागावा को तो हर दीन-दु:खी तथा आपत्तिग्रस्त से मतलब था और इसी सम्बन्ध में तो वह लक्षण होता है जिसके आधार पर माना जाता है ।

कागावा ने सोचा अब तो हम एक से चार हो गये । सभी को पेट के लिये कुछ न कुछ तो चाहिये ही । कॉलेज से मिलते है कुछ गिने-चुने रुपये ही छात्रवृत्ति मे । जरूरी हो गया है कि कुछ काम-धन्धा और मेहनत-मजदूरी देखूँ । कुत्ता और बिल्ली का बच्चा तो कुछ कर नहीं सकते और इस मनुष्य को अब भीख नहीं माँगनी है । जब तक यह और किसी काम के योग्य न हो जाये इसे भी इन्हीं की तरह पालना ही है । कागावा ने कई लड़को को पढ़ाना शुरू कर दिया और सारी आय के अनुपात से कुछ ऐसा प्रबन्ध कर लिया जिससे रोटी, कपडा भी चलता रहे और कॉलेज का खर्च भी कम न पड़े । उन्होंने ऐसी भोजन सामग्री चुनी जो एक साथ सबके काम आ जाये । आप खुद भी उसी योजना मे अनुमाता के अनुसार शामिल हो गये । कपडों के सम्बन्ध मे अपने पुराने कपड़ों से ही अपना और भिखारी का काम चलाने लगे । कोट, पायजामा और जूते भी उसे इसलिये दे दिये कि वह बीमार था उसको इनकी ज्यादा जरूरत थी ।

इन तीन घटनाओं से तीन बातें हुईं । एक तो यह कि कागावा की सेवा-भावना पूरी तरह से न केवल प्रस्फुटित ही हो गई बल्कि सक्रिय भी हो उठी । उनका दृष्टिकोण ऐसा बन गया कि अब चलते हुए उनकी दृष्टि समाज में उसी स्थान पर पड़ती जहाँ पर उनकी सेवाओं की आवश्यकता होती । दूसरी यह कि भिखारियों तथा दीन-दु:खियों ने उन्हें अपना आश्रयदाता समझा और दूर से ही आते-जाते कागावा को पहचानने लगे, तीसरी यह कि नगर के गुण्डों और बदमाशों ने उन्हें अमीर आदमी समझा और जब तब डरा-धमका कर उनसे कुछ वसूल करने की कोशिश करने लगे ।

कागावा का नित्य नियम था कि वे सायकाल शहर की बस्तियों और सडकों पर घूमते हुए यह देखने जाया करते थे कि समाज की वास्तविक अवस्था क्या है, सुधार की कौन-कौन सी आवश्यकतायें है और कहाँ पर किनको उनकी सेवाओ की जरूरत है ? इसी भ्रमण के क्रम में नगर की एक बड़ी और घनी बस्ती शिंकावा भी पहुँच गये ।

शिकावा को बस्ती कहने की अपेक्षा उसे नरक का एक जीता-जागता कोना कहना अधिक उपयुक्त होगा । यह एक निहायत गन्दी बस्ती थी जो जापानी समाज की तत्कालीन तस्वीर को प्रकट करती थी । वह एक ऐसा नमूना थी जिसके आधार पर जापान की अधिकांश बस्तियों की दशा का अनुमान किया जा सकता था । कागावा ने शिंकावा को देखा । उनके हृदय पर गहरा धक्का लगा । वे सोचने लगे कि उफ ! हम सब एक ऐसे जापान मे रहते हैं । हमारे देश का ऐसा घिनौना स्वरूप, हमारे राष्ट्र की यह दशा और हमारे समाज का यह पतन जिसमें कि हम रहते हैं । क्या यह सब, जिनको मैं देख रहा हूँ, मनुष्य हैं ? यदि यह गन्दे, घिनौने, पतित, अशिक्षित, अपराधी, पापी और व्यसनी मनुष्य कहे जा सकते हैं तो इसी शब्द से पशु शब्द भी बदल दिया जाना चाहिए।

खेद, दुःख, ग्लानि और सहानुभूति की अनुभूति से कागावा की विचारधारा रुकी और फिर तत्काल ही दूसरी दिशा मे वह चली—और हम सब सभ्य, शिष्ट तथा शिक्षित कहे जाने वाले जापान के नागरिक इनके लिये क्या करते, है ? क्या पढ़-लिखकर अपने में सभ्य

और सुसंस्कृत बन जाने में हमारी नागरिकता और सामाजिकता समाप्त हो जाती है ? क्या हमारा अपने इन भाइयों, इन भूले-भटके सहसामाजिको के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं है ? क्या हमारी सबकी मानवता खाने-कमाने और सोने-जागने तक ही सीमित है ? क्या हमे परमात्मा ने आँखें इसीलिये दी हैं कि हम इस गन्दगी को देखें और चुपचाप एक ओर मुड़ जाये ? क्या हमारे बड़प्पन, हमारी धनाढ्यता और हमारी भद्रता का महत्त्व तभी है जब यह सब इसी प्रकार गन्दे, असभ्य, गरीब और अपराधो के गुलाम बने रहें ? जापान के ये भयानक नरक राष्ट्र के नाम पर एक कलंक हैं । मनुष्यता के नाम पर एक बोझ है । जिस राष्ट्र, देश और समाज की यह दशा है उसकी उन्नति तथा सुख-शान्तिपूर्ण हो सकने की सम्भावना संदिग्ध है ।

जिनके सहसामाजिक और राष्ट्र-बन्धु इस दुर्दशा में पड़े हों उन शिष्ट तथा शिक्षित, धनी तथा साधन सम्पन्न व्यक्तियो को कैसे तो नीद आती है और कैसे वे हास-विलासपूर्ण जीवन बिता पाते हैं ? समाज के प्रति यह उपेक्षा ओर यह निरपेक्षता किसी के लिये आत्मा में एक चोरी है, दु:शील और निर्लजता के साथ-साथ विश्वासघात है । जब तक समाज के सारे वर्ग एक सामान्य मानवीय स्तर पर न आ जायें किसी को क्या हक है कि वह धन का कोई भी भाग और जीवन का कोई भी हिस्सा नाच-रंग, हास-विलास और मौज-मनोरंजन मे अपव्यय करे । समाज से पाई सम्पत्ति और ईश्वर से पाई जिन्दगी तब तक समाज और सृष्टि की सेवा एवम् सुधार में ही लगाई जानी न्यायसंगत है जब तक कि सबको मानवोचित जीवन का अवसर न मिल सके । सच्ची मनुष्यता का प्रमाण इसी प्रयत्न मे है कि सभी अच्छे रहें, सभी अच्छे बनें और सभी निरामय हों ।

सोचते-सोचते कागावा का हृदय और नेत्र दोनों एक साथ भर उठे और उन्होंने अपने मन में निश्चय—एक अडिग तथा अखण्ड निश्चय कर डाला और चल दिये । चलते-चलते अपने से कहते जाते थे—'कागावा ! तूने तो एक लम्बी शिकायत कर डाली । जापान के सभी भद्र व्यक्तियों को कोस डाला । समाज के प्रति बड़ी सहानुभूति व्यक्त कर डाली और मनुष्यता की बड़ी ऊँची दुहाई दे डाली । लेकिन खुद भी कुछ करेगा या यों ही थोथी भावुकता की तरंगों मे झूलता रहेगा । समाज की दशा का चित्र तूने देखा और अनुभव किया है । विचार और वेदना तुझमें उत्पन्न हुए है इसलिये तेरा पहला कर्त्तव्य है कि तून इन नरकों को सुधारने का जो भी प्रयत्न कर सके कर । सद्‌विचारों का उदय होना जहाँ जीवन का पुण्य संकेत है, वहाँ उनको यथाशक्ति उपयुक्त दिशा में कार्यान्वित न करना पाप है । ईश्वरीय ईंगिता की उपेक्षा तथा अवहेलना है । क्या तू इस पाप का भागी बनेगा ? कागावा के पैर तेजी से दृढ़तापूर्वक चलने लगे । जिनसे विदित होता था कि उनकी आत्मा ने पुण्य का पक्ष लिया है, पाप का नही । उसने यथाशक्ति कुछ करने का निश्चय कर लिया है ।

शिंकावा की जिस बस्ती ने कागावा के हृदय में हलचल पैदा कर दी थी, निश्चय ही वह नरक का एक निदर्शन थी । उसमें चारों ओर गन्दगी और दुर्गन्ध का वातावरण फैला हुआ था । टूटे-फूटे घिनौने घर, जिनकी अँधेरी कोठरियों में दस-दस परिवार घास-फूस की तरह भरे हुए थे । द्वार-द्वार पर मल-मूत्र के ढेर लगे हुए थे । जिनसे बचकर निकल जाना असम्भव था । बच्चे वही खेलते और गन्दे होते । उस लम्बी-चौड़ी बस्ती में शौचालय के नाम पर केवल आड़ थी, जिसकी सफाई सम्भव न थी । स्त्री-पुरुष धक्का-मुक्की करते, साथ-साथ धँस जाते और बेपरदगी का लिहाज न करते थे । पानी के नाम पर एक गन्दी तथा सँकरी गली मे एक नल था । हर समय भीड लगी रहती थी । पानी भरने, नहाने और कपड़े धोने के लिये सिर फुटौवल मची रहती थी । बस्ती में खटमल, मच्छर और पिस्सुओ के साथ-साथ पानी और मल-मूत्र के कीड़े बजबजाया करते थे ।

उस गन्दी बस्ती में चोर, बदमाश, ठग, उठाईगीरे, उचक्के, हत्यारे, वेश्यायें, दलाल, गठकटे, शराबी और जुआरियों की बहुतायत थी । रिक्शा खींचने वाले, कुली, मजदूर, सडक खोदने वाले, शराब और अफीम बेचने वाले, सड़ी मिठाइयाँ और गली तरकारियाँ बेचने वालों के अतिरिक्त रमलिये और जालिये भी वहाँ रहते थे ।

शिंकावा अपराध और अपराधियों का गढ था । साधारण-सी बात पर हत्या हो जाना और शराब की बेहोशी में खून खराबी वहाँ की एक मामूली बात थी । लोगों को शराब पीते, जुआ खेलते और स्त्रियों से बुरी तरह लड़ते-झगड़ते और गाली-गलौज करते तो कागावा ने अपनी आँखों से देखा था । इतना ही नहीं—कागावा ने बच्चों को नंग-धड़ंग और गन्दे शरीर लिये रोते-चिल्लाते और रोटी के लिये मचलते भी देखा । उन्होंने यह भी देखा कि बदमाश के हाथ में खुला छुरा है और वह किसी से कुछ वसूल करने के लिये मौत की धमकी दे रहा है । दिन के खुले प्रकाश में वेश्यालय चलते देखकर उस भद्र पुरुष की आखें खुली न रह सकीं । उसने वेश्याओं के घरो से निर्लज्ज मानव-पशुओं को आते-जाते देखा और दलालों की बातें अपने कानों में सुनकर तो वह वहाँ खड़ा ही न रह सका । वह चल दिया और चलते समय उसकी आत्मा चीत्कार कर उठी—"हाय, क्या यही हमारा जापान देश है ? और हम इसी समाज के एक सदस्य है ।"

सभ्यता, शिष्टता और शिक्षा का तो वहाँ कोई नाम ही नहीं जानता था । स्वच्छता क्या होती है ? शायद बच्चे से बूढ़े तक कोई भी न जानता था । उनका परिचय तो गन्दगी, दुर्गन्ध तथा निर्धनता से था । हम भी मनुष्य हैं और हमें भी मनुष्यों की तरह रहना चाहिये, वहाँ पर इसकी कल्पना किसी के वश की बात नहीं थी । प्रायः सभी निर्धन, सभी जड़ और सभी अपराधी थे । यह जापान की केवल एक बस्ती का हाल था और उस समय जापान में ऐसी बस्तियों की भरमार थी । इस कुंठित और कलुषित स्थिति में कागावा ने इन्हीं लोगों के बीच सेवा और सुधार का कार्य प्रारम्भ किया और अपनी उस तपस्या को करोड़ों रुपयों के साथ गन्दी बस्तियो के सुधार की सरकारी तथा नागरिक योजना की सक्रियता के रूप में सफल होते भी देखा । इन तपस्वी कागावा का जन्म भी १० जुलाई, १९८८ को कोवे की एक ऐसी ही गन्दी बस्ती में विषम परिस्थितियों में फँसी एक अज्ञात अबला की कोख से हुआ था ।

कागावा अपने निवास स्थान पर आये और सामान बाँधने लगे । उनके साथियों ने आश्चर्य से पूछा—"कागावा ! कहाँ की तैयारी हो रही है ?" उन्होंने उत्तर दिया—"शिंकावा की । जहाँ की दशा मेरी सेवाओ का आह्वान कर रही हैं ।" उस गन्दी और गलीज बस्ती में जहाँ चोर, उचक्के, उठाईगीरे, बदमाश और वेश्याये रहती है । वह स्थान तो किसी भले आदमी के रहने योग्य नहीं है ।

कागावा ने कहा—"और दूसरे भले आदमियों के रहने योग्य भले न हो पर मेरे लिये तो है । मुझे वहाँ रहना है । मैं वहाँ रहूँगा और वहाँ के पथ-भ्रष्ट लोगों को ठीक रास्ते पर लाने का प्रयत्न करूँगा । बच्चों को पढ़ाऊँगा और दीन-दुःखियों की सेवा करूँगा । संगत से आदमी का बिगाड़ होता है और संगत से ही सुधार भी । शिंकावा में इस समय माना बुरे लोग रहते हैं । उनके बीच कोई ऐसा आदमी नहीं है जो उन्हें मानवता की परिभाषा, उसका मूल्य और उसका प्रकार बतला सके । सब एक जैसी मनोवृत्ति तथा आचरण के लोग रहते है और एक-दूसरे को प्रेरित, प्रभावित तथा प्रोत्साहित करते हैं । उनके बीच, अपना दम्भ छोड़कर भले और अच्छे आदमी रहने और अपने आचार-विचार का प्रभाव डालने लगें तो कोई कारण नहीं कि उस बस्ती के बिगड़े लोग उनकी संगति से सुधरने न लगें । मनुष्य बुराई को तब तक ही ग्रहण किये रहता है जब तक उसे अच्छाई के दर्शन नही होते । अन्धकार तभी तक रहता है जब तक प्रकाश नहीं होता । मैं उनके बीच रहूँगा और मुझमें यदि कोई सच्चाई, अच्छाई और प्रकाश है तो वहाँ का अन्धकार अवश्य दूर कर सकूँगा ।"

कागावा अपना सामान लाद कर शिंकावा आ गये और उन्हें वहाँ एक कोठरी भी मिल गई । कोठरी क्या थी एक कोटर मात्र थी । उसका आयात केवल छत्तीस वर्ग फीट था । यानी छः फीट लम्बी और छः फीट चौड़ी । न तो उसमे कोई वातायन था और न झरोखा । खिड़कियाँ होने का प्रश्न ही नहीं उठता । आते ही उसके मिल जाने का एक विशेष कारण था । कुछ दिन पहले ही उस कोठरी में एक हत्या हो चुकी थी और लोगो की धारणा थी कि उसमे उस मृत व्यक्ति का भूत रहता है । इसी डर से कोई उसमे रहने का साहस न करता था और वह तब से ही खाली पड़ी थी । कागावा अन्धविश्वास से परे थे । उन्हे न तो भय लगा और न उस जग-श्रुति का कोई

प्रभाव पड़ा । उन्होंने उसे अपना निवास-स्थान बना लिया ।

कोठरी गन्दी, दुर्गन्धित और सीलन वाली थी । किसी भले आदमी के रहने योग्य न थी । पर कागावा का लक्ष्य अच्छा निवास नहीं था । वे तो वहीं उन लोगों के बीच गरीबी में रहकर घुल-मिल जाना चाहते थे । उनका लक्ष्य था उन गरीबों की कठिनाइयों तथा दुःखों को अनुभव करना और उसी तथ्य के आधार पर उनकी आवश्यकतायें समझना और उनका हल निकालना । वे अच्छी तरह जानते थे कि सुधार के लिये जब तक निर्धारित लोगों के आन्तरिक जीवन को निकट से न देखा जायेगा तब तक सफलतापूर्वक काम कर सकना कठिन होना । किसी को केवल उसका ऊपरी जीवन देखकर सुधार के प्रयत्न निश्चित कर उनमें ढालना गलत सांचे में किसी आकार की आशा करने के समान है । सुधार बाह्य का नहीं अन्तर का किया जाता है ।

मानिये किसी की गन्दगी का सुधार करना है और कोई नित्य जाकर उसके गन्दे शरीर और गन्दे कपड़ों की आलोचना करता है । कभी-कभी अपने हाथ से उसके वस्त्र भी धो देता है । पर इस तरह उसको स्वच्छ रहने का स्वभाव न हो सकेगा । जब तक उसे आलोचना की ग्लानि रहेगी, कहे जाने का डर रहेगा तब तक वह भले ही सफाई रक्खे । इन आशंकाओं के तिरोहित होते ही स्वच्छता की उसकी विवशता भी जाती रहेगी । स्थायी रूप मे तो स्वच्छ वह तब रहेगा जब उसके हृदय में गन्दगी के प्रति घृणा और सफाई के प्रति अनुराग हो । यह स्थायित्व स्वभाव परिवर्तन से ही आ सकता है और मनुष्य का स्वभाव तभी परवर्तित किया जा सकता है जब उसके भीतर घर किये उसकी कमजोरियों का पता लगा लिया जाये और उन्हीं के सन्दर्भ में उसे दुर्गुणों की अशोभनीयता और गुणों की शोभा बतलाई ही न जाये बल्कि अनुभूत कराई जाये ।

कागावा सुधार प्रयत्नों की इन सूक्ष्मताओं से परिचित थे । इसीलिये उन्होंने उनके बीच रहना ही आवश्यक समझा । ऐसा करने में उन्हें कई सुविधायें दीखीं । एक तो यह कि उनके बीच रहकर वे उनके हो जायेंगे । अपने आचरण को उनके सामने खुली पुस्तक की तरह रखकर उनका विश्वास प्राप्त कर सकेंगे । वे लोग उनसे अभिन्नता के कारण अपने दुःख-सुख निःसंकोच रूप से उनके सामने रखेंगे । कागावा हर समय हर एक की गतिविधि को प्रमाणित रूप से देख सकेंगे और उसमें सत्यासत्य का सही निर्णय कर सकेंगे । वे घटना स्थल पर ही आवश्यकतानुसार लोगों को समझाकर संस्कार डाल सकेंगे । इससे उन्हें लाल लोहे पर चोट करने जैसा लाभ होगा । जब चाहेंगे कोठरी से निकल कर लोगों को जमा कर लेगें और जो कहना चाहेंगे कह सकेंगे । उनकी शिक्षा में, सफाई में सरलता पूर्वक सहायक हो सकेंगे । झगड़ों को बढ़ने से पहले ही शमन करा सकना आसान होगा और सबसे बड़ी बात यह है कि पूरी बस्ती के अभिभावक की तरह उनके बीच रहेंगे । लोग उनकी मदद और शील करेंगे और कई बार गलत कामों को बना जाया करेंगे । यह भी सुधार मार्ग पर एक छोटा-सा चरण होगा । लोग खुले आम जो शराब पीते, जुआ खेलते, गाली-गलौज या वेश्यत्व करते हैं उस पर एक प्रतिबन्ध-सा लग जायेगा और उसमें कमी आने लगेगी । भले और भद्र मनुष्य की उपस्थिति में उन्हें अपनी गन्दी आदतें और बुराइयाँ अनुभव होगी जिससे नैतिक विकास का धरातल बनेगा । बुराई को जीवन न समझकर बुराई समझने लगना भी सुधार की दिशा में एक अच्छा कदम है ।

मनुष्य स्वभाव से नही संगत से बुरा बनता है और बुराइयों के प्रति तब तक आसक्त रहता है जब तक अच्छाई उसके बराबर न हों । अच्छाई में अपना नैसर्गिक दबाव यथा प्रभाव रहता है, एक मोहक छटा रहती है जो किसी पर भी अनायास ही छा जाती है । बुरा मनुष्य कितना ही उद्धत, धृष्ट और दुराग्रही क्यों न हो, अच्छाई के सम्मुख अपने को हीन तथा गिरा हुआ ही अनुभव करेगा । वह बाहर से भले ही प्रकट न करे, पर आत्मा से स्वीकार करेगा ही कि अमुक आदमी भला, ऊँचा और आदरणीय है, इसकी तुलना में मैं खोटा, पतित हूँ । उतनी देर को उसे अपने जीवन और अपने आचरण पर खेद तथा ग्लानि अवश्य होगी । साथ ही यह भी सम्भाव्य है कि वह वैसा बनने के लिये लालायित होगा । उनके वहाँ रहने से यह सारी प्रतिक्रियाये होंगी, उनका प्रभाव, दबाव,

आचरण और आदर्श उन्हें सुधार की ओर आन्दोलित करेगा । कागावा न केवल यह जानते ही थे बल्कि इस परिमाण के प्रति विश्वासी भी थे ।

अपने कार्य की आवश्यकता, क्रिया की सरलता और परिस्थितियों की अनुकूलता के लिये ही कागावा ने उस गन्दी, अन्धी और संकीर्ण कोठरी में रहना स्वीकार किया था । कठिनाई, असुख, असुविधा, तकलीफ, परेशानी, ऊब और विषमता जैसे शब्द तो उनके कोश में ही नहीं थे । वे तो सहिष्णुता, सहनशीलता तथा सामंजस्य की मानो प्रतिमूर्ति ही थे ।

कागावा ने कोठरी में सामान रखकर ऐसा अनुभव किया मानो वे अपनी उस दुनिया में आ गये जिसमें काम करने को उन्हें जन्म दिया गया है । सबसे पहले उन्होंने अपनी कोठरी की ठीक-ठीक सफाई की । फर्श खोदकर उसे हमवार किया और दीवारों तथा कोनों से गन्दगी, कालिख और मकड़ियों के जाले दूर किये । फर्श की कुटाई तथा लिपाई करके उसे पक्का किया । अनन्तर वे बाजार गये, वहाँ से कुछ कलई, कोयले, बाँस का कागज और सुगन्धित सामग्री लाये ।

अब उन्होंने दीवारों तथा छत पर खुद अपने हाथ से कलई की और कोयले दहकाकर उसे सूखने के लिये छोड़ दिया । जब तक दीवार सूखें तब तक वे कोठरी से निकले मिट्टी-कूड़े को दरवाजे के सामने से ले जाकर एक ऐसे स्थान पर कायदे से डालने लगे जो घरों से कुछ दूर भी था और उपयुक्त भी था । मिट्टी-कूड़ा हट जाने के बाद उन्होंने बाहर की दीवारों की सफाई करके उन पर भी कलई कर दी, फिर झाड़ू लेकर जुट गये और सारा सामना साफ कर डाला । जमीन का आसार साफ करने के बाद वे नालियों में लगे और उन्हें पूरी तरह साफ करके पानी से धो दिया । उन्होने नालियों को उस सीमा तक साफ किया कि कहीं पर पानी न रुके । इस सीमा में ऐसे अनेक घरों का सामना भी आ गया जहाँ वे नालियाँ बहती थीं । नालियों की सफाई तथा धुलाई के बाद उन्होंने उनके किनारे-किनारे पिसी सूखी कलई आखिर तक बुरका दी ।

अब वे फिर कमरे में आये । दीवारें और छत काफी सूख चुके थे । उन्होने उन पर कागज मढ़ा और कीलों के सहारे अच्छे-अच्छे कलेन्डर व चित्र टाँग दिये । अपनी खूँटियों की प्लेट गाढ़ी और उस पर आवश्यक कपड़े टाँग दिये । चारपाई, मेजों तथा तिपाइयों आदि को ठीक स्थान पर रखकर उन पर किताब तथा आवश्यक चीजे चुन दीं और चौकी पर बर्तन रख दिये ।

इस प्रकार घर की सफाई तथा व्यवस्था करने के बाद कागावा नहाने के लिये नल पर गये । सबसे पहले वे उसकी सफाई में लगे । दूर-दूर तक चारों ओर उसका परिसार, स्थान तथा नाली के गड्ढे न केवल साफ ही कर डाले बल्कि मिट्टी, ईंट, गिट्टी तथा कंकड़ों से उन्हें भर भी दिया । काई तो उन्होंने रगड़-रगड़ कर इस हद तक साफ कर दी कि उसकी मौलिक भूमि दिखलाई देने लगी । इसके साथ ही उन्होंने उस समय वहाँ उपस्थित कई स्त्रियों के बर्तन भी अप्रत्याशित ढंग से रगड़ कर चमका दिये । इतना करने के बाद वे एक ओर खड़े होकर नल खाली होने की प्रतीक्षा करने लगे । पनिहारिनों ने समझ लिया कि यह भद्र व्यक्ति नहाने को खड़ा है । इसलिये अब उन्होंने जरा भी विलम्ब नहीं किया और न अपनी बारी के लिये झंझट खड़ा करके वक्त खराब किया और न नल पकड़ कर सत्याग्रह किया । जल्दी ही सब की सब पानी भरकर फुर्सत पा गईं । कागावा ने खूब विमल-विमल स्नान किया और अपने निवास पर चल दिये ।

स्वाभाविक था कि जब एक भद्र पुरुष नल पर तन्मयता से काम कर रहा था तो वहाँ पर कोई गोलमाल न किया जाता । सारे लोग चुपचाप बिना किसी बहस और झगड़े के अपनी-अपनी उचित बारी पर पानी भरने लगे । जहाँ उन्होंने अभी अपनी आँखों से सफाई होते देखी थी वहाँ गन्दगी भी किस प्रकार की जा सकती थी ? थूक-खंखार भी लोगों ने नल से दूर हटकर की । उस बस्ती के इतिहास में शायद यह पहला अवसर था जबकि न तो लोगों ने झगड़ा किया, न गाली-गलौज की और न वक्त खराब किया । साफ स्थान पर गन्दगी करने का तो किसी का साहस हो ही कैसे सकता था ? एक सज्जन व्यक्ति की उपस्थिति तथा सक्रियता ने वह पनघट, जहाँ से झगड़ा होकर वर्षों चलता रहता था, पुश्तैनी बन जाता था और कभी-कभी हत्या और खून खराबी तक में परिणामित हो जाता था एक अनुशासन का स्थल बना दिया । एक बार अनुशासन की सुविधा और शान्ति के सुख

और सारल्य का अनुभव होते ही झगड़ा वहाँ से सदा के लिये दूर हो गया । लोग उस नल को सफाई और सुरक्षा करने वाले की सम्पत्ति समझने लगे और कायदे के साथ प्रयोग मे लाने लगे ।

कागावा कोठरी में आये और कपड़े बदल कर सबसे पहले उस सुगंधि द्रव्य की घनी आहुतियाँ अँगीठी मे दीं । जिससे थोड़ी ही देर में न केवल उनकी कोठरी ही नहीं बल्कि सारी बस्ती ही महक उठी । लोगों ने उस अपूर्व गन्ध का अनुभव किया और दुर्गन्ध में बसी उनकी आत्मा ओत-प्रोत होकर सुख एवं आनन्द का अनुभव कर उठी जैसे उसकी दुनिया ही बदल गई हो । वह सुगन्ध लोगो को स्पृहणीय लगी और उन्होंने बदबू और सुगन्ध का अन्तर जाना ।

शिवत्व में अशिव के प्रति जो एक नैसर्गिक विसंगति और वर्जन रहता है उसकी प्रतिक्रिया बस्ती पर हुई । शराबियों को अपना नशा और शराब की बदबू भारी लगने लगी । उनका जी मिचलाने और सिर दर्द करने लगा । जुआरिओं का जी उखड़ गया, वेश्यालय घिनौने लगने लगे और झगड़ने वालों का ध्यान बँटने लगा । विलासिता के भाव से नहीं कल्याण-कामना से, अँगीठी में कागावा की दी हुई सुगन्धित आहुतियों ने सारी बस्ती में खबर कर दी कि उनके बीच कोई देवता आ गया है । सभी लोग सुधरें और सावधान जीवन का अंगीकरण करें । कागावा के आगमन, उनकी क्रियाओं, सफाई और सुगन्ध ने शिंकावा की उस गन्दी बस्ती मे एक अभूतपूर्व अनुभव उत्पन्न कर दिया । उनकी साफ-सुथरी और सजी हुई वह कोठरी जो भूतवास के नाम से बदनाम थी एक मन्दिर जैसी लगने लगी । लोग उसकी ओर सहज ही आकृष्ट हो उठे ।

कागावा जब सब काम से निवृत होकर बाहर तिपाइयाँ और कुर्सियाँ डालकर बैठे तो लोग दर्शन, कौतूहल, नवीनता तथा जिज्ञासा के भाव से आने और अभिवादन करने लगे । कागावा स्नेह से उत्तर देते और कुशल प्रश्न करते । लोग प्रति उत्तर देते और अनुभव करते कि वे उनके आत्मीय हैं । क्रम चला और काफी देर चलता रहा ।

जन-कल्याण की भावना से कागावा ऐसे बहुल व्यक्तित्व हो गये थे कि वे हर आदमी को उसकी आवश्यकता के अनुसार दिखाई देने लगे । एक लड़का आया जिसके सारे शरीर में खुजली थी, बोला—"डाक्टर साहब मेरी खुजली ठीक कर दीजिये, मैं मरा जा रहा हूँ ।" कागावा ने कहा—"बैठो, मैं तुम्हारी खुजली का उपचार करूँगा ।" एक जेल काटा हुआ हत्यारा आया और बोला—"पापा ! मेरे पीछे उस आदमी का भूत लगा है, वह मुझे मार डालेगा । मुझे उससे बचा लीजिये ।" कागावा ने आश्वासन देकर उसे भी बिठा लिया । तभी एक भिखारी आया और गिड़गिड़ाने लगा—"बाबू, तीन दिन से पानी के सिवाय अन्न का एक दाना भी पेट में नसीब नहीं हुआ है । भूख से मर रहा हूँ । मेरी रक्षा कीजिये ।" कागावा ने उसे भी बिठा लिया ।

इन तीनों की कागावा ने केवल मदद ही नही की बल्कि उन्हें अपने साथ ही रख लिया और सेवा करने लगे । भिखारी को तो उन्होंने ऐसी प्रेरणा दी कि वह तो मंगते से मजदूर बन गया । लड़के को उन्होंने दवा देने के साथ पढ़ाना शुरू किया और त्रस्त व्यक्ति को तो वे अपने पास ही रात में सुलाते और उसका भ्रम विश्वास दूर करते । तीनों का सुधार हुआ और तीनों ठीक रास्ते पर लग गये । वे बेचारे आभार मे और तो कुछ न कर सके, कागावा के स्थायी साथी और प्रचार-पात्र जरूर बन गये । उन्होंने कागावा के उपकार की इतनी जगह और इतनी बार चर्चा की कि लोग जल्दी ही उन्हें जान गये ।

बस फिर क्या था प्रसिद्ध उपकारी के पास जो भीड़ लगनी स्वाभाविक होती है वह कागावा के पास भी लगने लगी । एक क्षय रोगी जीवन की आशा से, एक सनकी मनोकल्प के लिये, एक वैश्या उपदंश से पीड़ित और एक ट्रिकोमा का पीड़ित आँखों के उपचार के लिये और अनेक अपाहिज तथा अनाथ बच्चे आश्रय के लिये उनके पास आकर रहने लगे । कागावा ने किसी को निराश नही किया । सबको अपने साथ रख लिया और सबकी सेवा सहायता करने लगे ।

पर इस बड़े परिवार की सेवा तथा सहायता में कागावा को दो कठिनाइयाँ आने लगी । एक तो कालिज के कारण समय की और कॉलेज से केवल सोलह शिलिंग की आय होने के कारण पैसे की । इसके दो ही हल थे । एक तो यह कि कोई अन्तरंग

सहयोगी किया जाये और दूसरे यह कि कोई अतिरिक्त मेहनत-मजदूरी की जाये ।

मेहनत-मजदूरी के लिये तो कागावा ने जल्दी ही पन्द्रह रुपये महीने पर लालटेनें साफ करने का काम खोज लिया । सहयोगी के विषय में सोचते-सोचते वे इस निर्णय पर पहुँचे कि किसी अनाथ, निराश्रित तथा सेवा-भावी एक ऐसी लड़की से शादी क्यों न की जाये जो मेरे विचारों तथा कार्यों की समर्थिका हो और मेरी अनुपस्थिति में इन दीन-हीन तथा निराश्रित लोगों की भोजन व्यवस्था तथा सेवा कर सके । जल्दी ही मित्रों की सहायता से उनकी यह भी आवश्यकता पूरी हो गई और उन्हें एक साधारण शिक्षित और सेवा भाविनी लड़की मिल गई ।

श्रीमती कागावा, जिनका कि नाम स्प्रिंग था जिसका कि अर्थ है वासन्तिनी, जब पहली बार अपनी सुसराल कागावा के उस अनाथालय में आई तब उनका वह महादेव की बारात जैसा परिवार देख कर हँस पड़ी । उन्होंने देखा कि लँगड़े, लूले, अपाहिज, अन्धे, रोगी, वृद्ध तथा बालक तरह-तरह के प्राणी आवभगत में खड़े उनका स्वागत कर रहे हैं । वे हँसकर कागावा से बोली—"प्रियतम ! अपना कुटुम्ब तो बड़ा विचित्र है । मैं एक अच्छी गृहणी की तरह इनकी जी-जान से सेवा करूँगी—यह विश्वास तो आपको रखना ही चाहिये ।"

श्रीमती वासन्तिनी ने जो कहा वही किया । वे तुरन्त सेवा तथा व्यवस्था में लग गईं । सबसे पहले उन्होंने अपने पति के साथ परिवार के सदस्यों तथा आय का अनुपात लगाकर बजट बनाया और खुद बाजार जाकर मोटे से मोटा अनाज तथा सस्ती से सस्ती तरकारियाँ खरीद लाईं और उनसे अपनी पाक कुशलता और मितव्ययता द्वारा इतना सुन्दर और सस्ता भोजन बनाकर सबको खिलाया कि उन्हें उन अनाथों तथा असहायों से आशीर्वाद तथा प्रशंसा के इतने फूल मिले कि उनका तन, मन और आँचल भर गया और न समा सके तो वे आँखों के रास्ते टपक उठे । उनकी आत्मा कह उठीं उफ ! सेवा मे इतना विशाल सुख ! श्रीमती वासन्तिनी ने घर की व्यवस्था तथा सदस्यो की सेवा का दायित्व अपने ऊपर लेकर पति को विस्तृत सेवा क्षेत्र के लिये मुक्त कर दिया ।

कागावा एक दिन बस्ती के मात्र शौचालय की सफाई में जुट पड़े । वे बस्ती की गन्दगी के मूल कारण को ही सबसे पहले दूर कर देना चाहते थे । उनको तन, मन से उस कार्य में लगा देखकर बस्ती के दूसरे लोग भी लग गये और तत्काल सफाई का एक आन्दोलन चल पड़ा जो आगे भी एक साप्ताहिक कार्यक्रम के रूप में चलता रहा । कागावा के तत्वावधान में बस्ती के लोगों ने शौचालय के विषय में एक व्यवस्था बना डाली वह यह है कि इसमें केवल स्त्रियाँ ही जायें और निवृत्त होने के बाद उस पर मिट्टी डाला करें और पुरुष यथासम्भव बाहर मैदानो तथा खेतों मे जाने का प्रयत्न करे । साथ में एक खुरपी ले जायें और गड्ढा खोदकर निवृत हो और तदनन्तर उस पर मिट्टी डालें । इसके साथ ही कागावा ने जगह-जगह सोखता गड्ढे बनवाये और खुड्डीयों की व्यवस्था कराई । इस प्रकार बस्ती की गन्दगी का मूल स्थल ही जब साफ रहने लगा तो लोग अपने घरों की सफाई क्यों न करते । घरों की सफाई के दैनिक तथा साप्ताहिक कार्यक्रम चलने लगे और वह न देखी जाने वाली शिंकावा की गन्दी बस्ती अब और बस्तियों के लिये एक उदाहरण बन गई ।

सफाई की प्रवृत्ति जगाकर कागावा ने शिक्षा की ओर ध्यान दिया । वे तथा उनकी पत्नी बस्ती के बच्चों को दोनों समय दो घंटे पढ़ाने लगे । बच्चो की पढ़ाई में होने वाला सारा खर्च वे अपने पास से ही करते थे । इस प्रकार धीरे-धीरे शिक्षा का विकास करके उन्होंने वहाँ एक पाठशाला स्थापित कर दी ।

कागावा नित्य सायंकाल सत्संग बुलाते और उसमे लोगों को शराब, मद्य, जुआ तथा व्यभिचार छोड़ देने की प्रेरणा देते । वे उन्हे उनसे होने वाली शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय हानियाँ बतलाते और उनको छोड़ देने से होने वाले लाभों पर प्रकाश डालते ।

उन्होंने बहुत बार वेश्याओं की बैठक की और, बहुत बार उनके घरो पर जाकर उनकी उस वृत्ति के दोष बतलाये और प्यार पूर्वक मेहनत, मजदूरी द्वारा पावन जिन्दगी जीने की प्रेरणा दी । वे वेश्याओं को माता, बहन तथा बेटी का सम्बोधन देते । उनके हीन हृदयो में आदरपूर्वक स्वाभिमान जगाते और जीविका

उपार्जन के अन्य उपाय बताते ही नहीं बल्कि उनके लिये सहायता भी करते ।

जन-कल्याण की सच्ची सद्‌भावना से किये हुए प्रयत्न कभी विफल नहीं जाते । बस्ती का सुधार शुरू हो गया । लोगों के घर साफ रहने लगे । शरीर और कपड़े स्वच्छ रहने लगे और सभी लोग अपने साथ बस्ती की सफाई का भी ध्यान रखने लगे । स्त्रियों के स्वभाव मधुर तथा सामंजस्यपूर्ण बनने लगे । बच्चे पढ़ने तथा स्वस्थ रहने लगे । बहुत से शराबियों तथा जुआरियों ने अपने व्यसन छोड़ दिये । वेश्याओं में से बहुतों ने चरखा कातकर, कारखानों मे नौकरी करके और अन्य प्रकार की मजदूरी द्वारा अपना भरण करना शुरू कर दिया । शिंकावा का यह सुधार स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगा और लोग सत्य पर चलने का प्रयत्न करने लगे ।

किन्तु यह सब इसी प्रकार सरलतापूर्वक ही नहीं होता गया । इसके लिये कागावा और उनकी पत्नी को बड़ी यातना तथा तिरस्कार सह कर धैर्य की परीक्षा देनी पड़ी । बस्ती तथा नगर के धूर्त लोग जो उनकी अचेतना से लाभ उठाते थे, शराब, अफीम आदि बेचने वाले जो उनके पैसे लूटते थे, वेश्याओं के दलाल और चकला-चलाने वाले सबके सब कागावा से नाराज हो गये और यहाँ तक कि दोनों को न केवल पीटा ही बल्कि मार डालने तक की कोशिश की । पर वे देवोपम दम्पति अपने सत्पथ और सत्कर्मों में लगे ही रहे । उन्होंने कष्ट ही नहीं मृत्यु तक की परवाह नहीं की । सत्त्ववृत्ति ने तो उन दोनों को मान-अपमान की भावना से परे ही कर दिया था ।

इतना ही क्यों रोगियों की सेवा करते-करते और बीमारों के सम्पर्क में रहने-रहते कागावा को क्षय तक हो गया था, सारा शरीर खुजली से भर गया और भयंकर ट्रोकामा ने तो उनकी दृष्टि ही ले ली । पर वे उस दशा में भी लोगों की सेवा करते रहे । एक दिन भी बिस्तर पर पड़ कर बीमारी नहीं मनाई ।

उनके उपकार कार्य देखकर बदमाशों और लुच्चों ने उन्हें मारा, गोली और छुरे चलाये, चोरी की, लूटा और गाँठ काटी । पर सहनशील कागावा ने सब कुछ सहा और उनका कल्याण ही चाहा । वेश्याओं को सत्पथ का उपदेश करते हुए श्रीमती कागावा को एक चकलेदार ने एक बार इतना मारा कि बेचारी लहूलुहान होकर बेहोश हो गई । पर फिर भी वे अपने सत्कर्म में लगी रहीं । एक बार एक बदमाश ने दीवाल में पिस्तौल की गोली धँसाकर कागावा को धमकाया और शराब पीने के लिये पैसे माँगे । कागावा ने साफ कह दिया कि तुम मुझे गोली भले मार दो पर मैं तुम्हे शराब जैसी दुष्ट चीज के लिये पैसे नहीं दूँगा । उससे तुम्हारी तन्दुरुस्ती खराब होगी, तुम्हारी अपराधवृत्ति बढ़ेगी, तुम व्यभिचार के लिये प्रेरित होगे । मेरा ध्येय लोगों को बुराई से अच्छाई की ओर लाना है । शराब के लिये तुम्हें पैसे देकर मैं पाप न करूँगा । हाँ यदि तुम कोई अच्छी और स्वास्थ्यदायक चीज खाना चाहो, अपने लिये या बच्चों के लिये कपड़ा बनाना चाहो, घर पर कोई चीज ले जाना चाहो तो मैं तुम्हें अभी पैसे दे सकता हूँ । तुम हामी भरो कि पैसा खराब काम मे खर्च नहीं करोगे तो लो यह पाँच रुपये देता हूँ, ले जाओ और किसी अच्छे काम में खर्च करो । कागावा ने रुपये निकाल कर उसकी ओर बढ़ा दिये । बदमाश बड़ी देर तक कागावा का मुँह देखता रहा और सोचता रहा कि क्या संसार में ऐसे अच्छे आदमी भी रहते है जो मौत का सन्देश लिये खडे व्यक्ति का भी हित तथा कल्याण चाहते हैं । उसके प्रति ऐसी सद्‌भावना रखते हैं । मर जाने को तैयार हैं पर गलत बात को प्रोत्साहित करने को तैयार नहीं । उसने पिस्तौल फेंक दी और कहा—"देवता ! आज से मैं भला आदमी हो गया अब कभी कोई अपराध नहीं करूँगा इस प्रकार परोपकारी कागावा के प्रभाव से बदमाशों का सरदार बदल गया और फिर तब से बस्ती में बदमाशो का कोई उपद्रव नहीं हुआ ।

कागावा के कामों के साथ उनका नाम भी फैलने लगा । नागरिकों का ही नहीं बल्कि सरकार का भी ध्यान उनकी ओर और उनकी प्रेरणा तथा परामर्श से देश की गन्दी बस्तियों की ओर गया । नागरिकों ने अपने नगरों की और सरकार ने सारे देश की गन्दी बस्तियों के सुधार की योजनायें प्रारम्भ कर एक आन्दोलन चला दिया । जापान देश की कायाकल्प होने लगी और गन्दा मानव-समाज सच्चे तथा सच्चरित्र राष्ट्र के रूप में विकसित होने लगा । कुछ ही दिनों में जापान के विशाल नगरों—टोकियो, ओसाका, याकोहामा कोबे,

क्योटो और नागोया की गन्दी बस्तियाँ विलुप्त हो गयीं और उनके स्थान पर सभ्य, सुरक्षित, शिष्ट तथा स्वस्थ लोगों की आबादी दिखलाई देने लगी । इस प्रकार एक व्यक्ति के तप, त्याग तथा प्रयत्नों ने पूरे राष्ट्र की ही कायाकल्प सम्भव कर दी । सेवा तथा सच्ची सद्भावना में दैवी शक्ति होती है जिसे कोई कागावा जैसा तपस्वी बनकर प्राप्त कर सकता है ।

पूरा देश ही कार्यक्षेत्र बन जाने पर कागावा समाज सुधार के तरीकों तथा उनके रूपों का अध्ययन करने के लिये अमेरिका गये और दो वर्ष तक प्रिन्सटन विश्वविद्यालय में समाज शास्त्र का अध्ययन करने के साथ-साथ मजदूरों तथा किसानों की समस्याओं तथा उनके उपायों का भी हल करते रहे ! अमेरिका से उपार्जित ज्ञान लेकर जब वे स्वदेश आये तब उनका समारोह के साथ नागरिक अभिनन्दन किया गया । उसी समारोह में टोकियो के महापौर ने उनसे दो हजार रुपये मासिक वेतन पर निगम की ओर से समाज-सेवा करने की प्रार्थना की । पर कागावा ने विनम्रतापूर्वक इन्कार करते हुए कहा—

"समाज सेवा तो मेरा धर्म, जीवन और लक्ष्य ही है उसके लिये वेतन लेने का तो कोई प्रश्न नहीं उठता । सेवा तथा सद्भावना बेचना मैं किसी भी पाप से कम नहीं समझता । नगर की हर योजना में मेरा पूरा सहयोग रहेगा और मेरे योग्य जो सेवा हो उसके लिये आप मुझे कभी भी आह्वान कर सकते हैं । मैं समाज की हर सेवा और आपकी सहायता करने के लिये सदैव प्रस्तुत हूँ ।"

कागावा ने मजदूरों की समस्याओं का अध्ययन किया और पाया कि कारखानेदार तथा ठेकेदार लोग इनका बुरी तरह शोषण करते हैं । उनके श्रम का पूरा पारिश्रमिक उन्हें नहीं मिलता । उनके स्वास्थ्य तथा उनके रहन-सहन का स्तर उठाने की कोशिश की जाती है । किसान, मजदूर किसी भी राष्ट्र की रीढ़ होते हैं । उन्हीं के आधार पर राष्ट्रों की उन्नति तथा विकास होता है । जब तक श्रमजीवियों का विकास और उद्धार न किया जायेगा तब तक जापानी राष्ट्र सुदृढ़ तथा सम्पन्न देश न बन सकेगा । निदान उन्होंने मजदूरों में चेतना जगाने के लिये उनका संगठन बनाया और उन्हें अपने पैरों पर खड़े होकर उद्धार करने की प्रेरणा देने लगे । इस कर्म के लिये कागावा को समाज के शोषकों का निशाना बनकर जेल भी काटनी पड़ी पर वे अपने मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलते रहे । जेल से निकल कर उन्होंने एक राष्ट्रव्यापी विशाल जापान मजदूर संघ की स्थापना की । उनकी स्थापित की हुई यह संस्था आगे चलकर मजदूरों के लिये बड़ी हितकारी सिद्ध हुई । उसकी छत्र-छाया में मजदूरो ने अपने बहुत से अधिकार प्राप्त किये ।

मजदूर संघ की स्थापना करने के बाद कागावा किसानों की सेवा की ओर बढ़े और उन्होंने—'अखिल जापान किसान संघ' की नींव अपने निवास स्थान पर ही डाली । वे नगरों में तो किसानों की सभायें करते ही थे । गावों में भी जाते थे और लोगों में चेतना जगाने का प्रयत्न किया करते थे । उन्हें पता था कि बदमाश गाँव से ही अबोध कन्याओं को बहका लाते हैं और शहरों में उन्हें वेश्या बनाकर अपनी आय का साधन बनाते हैं । पूँजीपतियों के गुर्गे गाँवों से ही नौजवानों को बुला लाते हैं और कारखानो मे सस्ते मजदूर बनाकर शोषण की वेदी पर चढ़ा देते हैं । कागावा ने ग्रामीण किसानों तथा उनके बच्चों को उनकी भूलें और धूर्तों की चालें बतलाकर गाँव में रहने और खेती का विकास करने की प्रेरणा दी, जिससे जापान के कृषि उद्योग में अभूतपूर्व उन्नति हुई ।

जापान के गाँधी ये कागावा केवल समाज-सेवक ही नहीं थे बल्कि एक प्रकाण्ड विद्वान और लोकप्रिय लेखक भी थे । कागावा ने लगभग पचास ग्रन्थ लिखे हैं जिनकी बारह लाख प्रतियाँ बिकीं और जो संसार की लगभग सभी भाषाओं में भाषान्तरित किये गये हैं । उनके 'एक्रास द डेथ लाइन' (मृत्यु-रेखा के पार), 'द शूटर ऐट द सन' (सूर्य पर सन्धान करने वाला), 'पारसिंग फ्राम स्टार टु स्टार' (एक तारे से दूसरे तारे पर गमनागमन), 'ए ग्रेन ऑफ ह्वीट' (गेहूँ का एक दाना) आदि ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय हुए है । जिसका प्रमाण यह है कि इन ग्रन्थों की क्रमशः ढाई लाख, सवा लाख और एक-एक लाख प्रतियाँ अब तक बिक चुकी हैं । कागावा के लेखन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे केवल कल्पना-लोक में विहार करने वाले कल्पक नहीं हैं । वे यथार्थ के ठोस धरातल पर अपने हृदय के रग से लिखते रहे हैं । साथ ही

उनकी लेखनी के विषय, मनुष्य, समाज, विज्ञान तथा मानव-कल्याण ही रहे हैं ।

इतने बड़े और लोकप्रिय लेखक की आय का अनुमान लगा सकना कठिन है । तथापि जब वे कम से कम रॉयल्टी पर सस्ती से सस्ती पुस्तके निकलवाते रहे हैं तब उन्हें तीन लाख रुपये से अधिक आय होती रही है । किन्तु उन्होंने अपना रहन-सहन बिल्कुल वैसा ही रखा जैसा कि शिंकावा की कोठरी मे था । वैसा ही खाते और वैसा ही पहनते रहे हैं । इन अपरिग्राही महात्मा कागावा ने टोकियो जैसी रंगीन बस्ती मे भी कबाड़ी से थोड़ा सा सामान खरीद कर शहर के बाहर एक कोने में अपने हाथ से लकड़ी का एक छोटा-सा घर बना लिया था और उसमे ही रहते रहे । उनका कुल मिलाकर सौ रुपये माहवार से अधिक खर्च न था । अपने ऊपर इतना कम खर्च करने वाले कागावा अपनी लाखो रुपयों की आय समाज की सेवा तथा दीन-दु:खियो की सहायता और बच्चों की शिक्षा पर ही खर्च करते थे । यह रोमांचकारी मितव्ययता तथा उदारता अपने-अपने स्थान पर न केवल प्रशंसनीय ही है बल्कि पूज्यनीय भी है । ऐसे उदार मितव्ययी जिस देश-समाज में होंगे उसका उद्धार तथा उन्नति तो दैव भी नहीं रोक सकता ।

मितव्ययता तथा जीवन-निर्वाह पर अपने विचार प्रकट करते हुए कागावा ने एक स्थान पर कहा है—

"जीवन निर्वाह का सबसे अच्छा तरीका यही है कि इतनी सरलता, सादगी के साथ रहा जाये कि किसी दूसरे से सहायता लेने की जरूरत न पड़े । यदि आदमी अपने हाथ से बनाई कुटिया में रहे, अपने हाथ से सब्जी तथा शाक उगाये, अपने हथकरघे पर बुना हुआ कपड़ा पहने, खुद अपने हाथ से अपनी रसोई बनाये और अपने घर का प्रबन्ध स्वयं अपने हाथ से करे तो वह एक आध्यात्मिक स्वाधीनता का सुख पा सकता है । उसे न स्वयं किसी पर निर्भर रहना पड़े और न किसी दूसरे को अपना सेवक बनाना पड़े । इस आत्मसेवा से समाज तथा संसार की बहुत-सी समस्यायें सुलझ सकती हैं । यदि मनुष्य किसी शान्त जलाशय के किनारे वृक्षों की सघन छाया में अपनी झोंपड़ी बना ले पशु-पक्षियो तथा वनस्पति जगत से निकट का सम्बन्ध रखता हुआ प्राकृतिक जीवन-यापन करे तो फिर उसे किस मुक्ति की आवश्यकता शेष रह सकती है ? जीवन्मुक्त होकर आनन्दमय और उन्नति जीवन सकता है और श्री कागावा ऐसा जीवन जीते रहे

वर्तमान समय में जापान ने विशेष रूप भौतिकवाद को अपना रखा है और गत सौ वर्ष वह पौर्वात्य आदर्श की अपेक्षा पाश्चात्य आदर्श अनुकरण करने की अधिकाधिक चेष्टा कर रहा है इसका नतीजा यह हुआ कि जहाँ वह उद्योग-ध व्यापार-व्यवसाय और धेन-सम्पत्ति की दृष्टि से प्र कर रहा है, उसमें स्वार्थपरता तथा अनैतिकता अ के तत्त्व बढ़ते जाते हैं जिनकी चर्चा हम अमेरि आदि के सम्बन्ध में सुना करते हैं । वहाँ के पूँजीप अपनी सम्पत्ति को बढ़ाने के लिये गरीबों के शोषण कुछ भी संकोच नहीं करते और इससे जनता में पूँजीव समाज की अनेक बुराइयाँ पनपती और फैलती जा हैं ।

ऐसे वातावरण मे कागावा जैसे परमार्थ-पथिक उदय होना परमात्मा की महती अनुकम्पा है । जै भारतवर्ष में गत सौ वर्षों में दादाभाई नौरोजी, तिल लाजपतराय आदि से लेकर महात्मा गाँधी तक अने ऐसे महामानवों का आविर्भाव हुआ कि जिन्होंने अप स्वार्थ को तिलांजलि देकर विदेशी-शासन में जनता गिरते हुए मनोबल को ऊँचा उठाया और उसके स्वाभिमा तथा चरित्र की रक्षा करते हुए स्वाधीनता आन्दोल चलाया, उसी प्रकार कागावा ने भी जापान मे बढ़ती हुई भौतिकता और अनैतिकता के विरुद्ध झंडा खड़ा किया और केवल अपने बल-बूते पर ही उस निम्नगामी धारा के खतरों से बचने के लिये एक प्रकाश स्तम्भ निर्मित कर दिखाया । उनका जीवन इस बात का एक ज्वलन्त उदाहरण है कि एक बिल्कुल साधारण और साधनविहीन व्यक्ति भी यदि वास्तव में परोपकारी जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर ले और अपनी शक्तियों को समझ-बूझकर परहित के कार्यों में लगाने लगे तो वह निश्चय ही इतना काम कर सकता है कि जिसे देखकर संसार दंग रह जाये और जिसके परिमाणस्वरूप एक ऐसी नई धारा का आविर्भाव हो जाये जो करोडों लोगो के जीवन को प्रभावित करने की सामर्थ्य रखती हो ।

कागावा के जीवन से हम यह शिक्षा भी ग्रहण कर सकते हैं कि जन-सेवा के लिये बड़े-बडे समारम्भों, बड़ी संस्थाओं और बड़े साधनों की कोई खास आवश्यकता नहीं है । उन्होंने अपना सेवाकार्य बहुत छोटे पैमाने पर पूर्ण स्वावलम्बी रहकर आरम्भ कर दिया और उसी को थोड़े समय में इस स्थिति तक पहुँचा दिया कि उससे अनेक दुर्दशाग्रस्त व्यक्तियों का उद्धार हो गया, अनेक लोगो को नई जीवन-राह मिल गई और अनेक दुर्व्यसनों से बचकर उपयोगी नागरिक बन गये हैं । जब हम कागावा के रहन-सहन पर विचार करते है तो उनमें एक सच्चे संन्यासी के दर्शन करते हैं जो अभावग्रस्त लोगों की सहायता के लिये परिश्रम तो सदैव करता रहा, पर स्वयं सूखी रोटी पर सतोष कर लेता है । इसे भाग्य का खेल अथवा एक दुर्दैव ही समझना चाहिये कि जिस भारत-भूमि मे संन्यास के आदर्शों का बीजारोपण अति प्राचीनकाल में किया गया वहाँ के 'संन्यासी' नामधारी आज जनता की सेवा और उत्थान करने के बजाय उसे उल्टा अन्धकार के गर्त में ढकेल रहे हैं उसी की कमाई से स्वयं आलस्य और प्रमाद में पड़े रहकर मालपुआ और मोहनभोग उड़ा रहे है । दूसरी ओर जापान जैसे पश्चिमीय आदर्श की ओर उन्मुख देश मे कागावा जैसे त्यागी और ऋषि-जीवन वाले व्यक्ति निकलते हैं जो अपनी विद्या और परिश्रम का फल दूसरों को देकर 'परोपकार' और 'परमार्थ' के शब्दों का जीवित उदाहरण बनकर लाखों का हित-साधन करते हैं ।

भारतवर्ष में इस समय जो अनगिनत सामाजिक दोष और अनैतिक आचरण फैले हुए हैं उनके निराकरण के लिये एक नही अनेक 'कागावा' जैसे सन्तों की आवश्यकता है । जिस दिन यहाँ 'धर्म' जबानी जमा-खर्च करने वाले और रगे वस्त्रो को ही संन्यास का प्रमाण मानने वाले 'सन्तों' और 'साधुओं' की जगह कागावा जैसे दो-चार कर्मठ, सुयोग्य और अपना ही उदाहरण उपस्थित करने वाले संन्यासी निकल आयेंगे, उस दिन देश का उद्धार होने में विलम्ब न होगा ।

# गुलाम से महापुरुष बनने वाले : बुकर टी. वाशिंगटन

अब से सौ वर्ष पहले अमेरिका की किसी कोयले की खान में एक १२ वर्ष का नीग्रो (हब्शी) लड़का मजदूरी कर रहा था । एक दिन अंधेरे में कोयला ढोते हुए उसने दो अन्य मजदूरों को आपस में बात करते हुए सुना कि "हैम्पटन नगर मे हब्शियो के लिये एक ऐसा बड़ा स्कूल खुला है, जहाँ पर वे पढ़ने के साथ ही अपने गुजारे के लिये कमाई भी कर सकते हैं ।" इन शब्दों के कान में पड़ते ही उस बालक को "हैम्पटन" की धुन लग गई क्योंकि जबसे उसने होश सँभाला था उसे पढ़ने का शौक था, पर दुर्भाग्यवश नीग्रो लोगो के पढने की न कोई उचित व्यवस्था थी और न उसके पास इसके लायक साधन ही थे । यह लडका जिसका नाम 'बुकर टी. वाशिंगटन' (सन् १८५६ से १९१५) था, दिन मे कोयले की खान में मजदूरी करके रात के समय किसी छोटे से स्कूल में एकाध घण्टा पढ़ लिया करता था, पर इतने में उसे सन्तोष नहीं होता था ।

बुकर का जन्म गुलामी की दशा में हुआ था । उस समय गुलामों के मालिक उनके साथ कैसा भी व्यवहार कर सकते थे, उनको गाय, बकरी की तरह किसी के हाथ बेच सकते थे । पर सन् १८६० में अमेरिका के महान प्रेसीडेण्ट अब्राहम लिंकन ने इस अमानवीय प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई और विरोधी दल से कई साल तक युद्ध करके समस्त गुलामों को स्वतन्त्र करा दिया । इस प्रकार सात वर्ष की आयु में 'बुकर' 'स्वाधीन' तो हो गया, पर इसके युग की गरीबी और अशिक्षा के कारण नीग्रो लोगों की स्थिति मे शीघ्र ही कोई सुधार नहीं हुआ । तब भी वे थोड़े से वेतन पर गोरे लोगों के खेतों या कारखानो मे कठोर परिश्रम करते थे और उनके साथ वैसा ही भेदभाव का बर्ताव किया जाता था जैसा हमारे देश में अछूतों के साथ किया जाता है ।

हैम्पटन के स्कूल की चर्चा सुनने के पश्चात् बुकर ने कोयले की खान की नौकरी छोड़ दी और पाँच

रुपया मासिक तथा भोजन पर एक गोरी महिला के यहाँ काम करने लग गया । यह स्त्री बड़ी सख्त थी और उसके यहाँ काम करने वाले प्रायः दो चार सप्ताह मे ही भाग जाते थे । पर बुकर ने उसकी सेवा ऐसे परिश्रम और ईमानदारी से की कि वह डेढ़ वर्ष तक बागवानी का काम करता रहा और वह उसकी अनेक प्रकार से सहायक बन गई । वह उसे स्कूल जाने के लिये एक घण्टे की छुट्टी देती थी और स्वयं भी काम करने का अच्छा ढंग सिखाया करती थी । इस प्रकार बुकर ने इस डेढ़ वर्ष में जीवन-निर्वाह की बहुमूल्य शिक्षा प्राप्त की ।

## ज्ञान की खोज में

पर इस दशा मे भी वह उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य को नहीं भूला और सन् १८७२ में, जब सोलह वर्ष का हो चुका, वह किसी साधन के बिना 'हैम्पटन' को चल दिया, जो उसके घर 'मालडेन' से पाँच सौ मील दूर था । उसके पास न ठीक जूते थे और न कपड़े । पर जो कुछ भी मिला उसे एक थैले में रखकर और जेब में डेढ़ रुपया (डॉलर) लेकर वह यात्रा को निकल पड़ा । इस मार्ग में कुछ दूर तक रेल जाती थी और शेष भाग घोड़ा-गाड़ियों से पूरा करना होता था । बुकर के पास इतना पैसा न था कि वह हैम्पटन तक पूरा किराया दे सकता, इसलिये वह कभी सवारी पर और कभी पैदल चलने लगा । रास्ते में जब भूखों मरने की नौबत आ जाती तो मजदूरी करके कुछ कमा लेता था । इस प्रकार बहुत अधिक कठिनाइयाँ सहन करते हुए वह कई सप्ताह में हैम्पटन के स्कूल में जा पहुँचा । जब वह इस फटी-टूटी हालत में उस संस्था की प्रधान अध्यापिका के सामने पहुँचा तो वह उसे एक आवारा घुमक्कड़ की तरह का समझ और उसे स्कूल में दाखिल करने में वह संकोच प्रकट करने लगी । कुछ घण्टे बाद उसने कहा कि "बगल के अध्यापकीय कमरे को साफ करना है, इस झाड़ू को लेकर अच्छी तरह साफ कर डालो ।"

अन्य कोई व्यक्ति होता तो आरम्भ में ही इस प्रकार का 'स्वागत' पाकर निराश हो जाता । पर बुकर इस आदेश को सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने समझ लिया कि इस परीक्षा में पास होने पर ही मेरा भविष्य निर्भर है । उसने बड़े उत्साह से झाड़ू लेकर कमरे को तीन बार झाड़ा और फिर कपड़ा लेकर वहाँ रखी सब मेज-कुर्सियों को अच्छी तरह पोंछा । कुछ देर बाद प्रधान अध्यापिका जब जाँच करने आई तो उसने कई जगह अपने रूमाल से रगड़कर देखा । पर जब उसे कहीं गर्द का एक कण भी दिखाई न पड़ा तो उसने सन्तुष्ट होकर कहा—"मैं समझती हूँ कि तुम इस संस्था में शामिल होकर अध्ययन कर सकते हो ।"

इस प्रकार झाड़ू लगाने की परीक्षा में पास होने पर बुकर को इतनी प्रसन्नता हुई जितनी बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों की प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर भी अन्य लोगों को नहीं होती होगी । अध्यापिका ने उसे कई कमरों की देख-रेख का काम सुपुर्द कर दिया और इसके बदले में उसके भोजन और निवास की व्यवस्था हो गई । साथ ही इस घटना के फलस्वरूप प्रधान अध्यापिका को बुकर की ईमानदारी और परिश्रमशीलता का भी अनुभव हो गया और वह अन्त तक उसकी सहायिका बनी रही ।

हैम्पटन में बुकर का परिचय जनरल आर्मस्ट्रौंग से हुआ और वह उनसे इतना ज्यादा प्रभावित हुआ कि अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है कि "मुझे अमेरिका और यूरोप में अनेक महान पुरुषों से परिचित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, पर जनरल आर्मस्ट्रौंग से बढ़कर सदाशय व्यक्ति और कोई नही मिला । गृहयुद्ध के अवसर पर वह नीग्रो लोगों का पक्ष लेकर दक्षिण के गोरों से लड़ा था और अब उनके लिये शिक्षा और जीविकोपार्जन की सुविधायें प्रदान कराने के लिये दिन-रात परिश्रम करता रहता था । हैम्पटन स्कूल के विद्यार्थी इन सद्गुणों के कारण उसकी पूजा करते थे और यदि कभी उसकी सेवा करने का कोई अवसर मिल जाता तो अपना अहोभाग्य समझते थे । परोपकारी व्यक्तियों की ऐसी ही महिमा है ।

इस प्रकार कई वर्ष तक कठोर परिश्रम और त्याग-तपस्या का जीवन व्यतीत करके वाशिंगटन ने वह ज्ञान राशि प्राप्त की, जिसके लिये वह लालायित रहा करता था । पर इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये उसे तथा उसके अन्य साथियों को गरीबी की परिस्थितियों से कैसा संघर्ष करना पड़ता था, इसका वर्णन करते हुए उसने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है—

"उस समय हैम्पटन में जितने विद्यार्थी पढ़ रहे थे मैं उनमें काफी छोटी उम्र का था । अधिकांश तो पूरे मर्द या औरत थे, जिनमें से कई चालीस वर्ष के थे । जब मैं उक्त शिक्षा-संस्था में अपने प्रथम वर्ष की स्मृतियों का ध्यान करता हूँ तो मुझे अनुभव होता है कि वहाँ पर एकत्रित तीन-चार सौ व्यक्तियों के समान अन्य किसी जन-समुदाय का मिलना बड़ा कठिन है । वे सब ज्ञान प्राप्ति के लिये हृदय से इतने उत्सुक थे कि दिन-रात या तो पढ़ने मे लगे रहते थे या कोई अन्य परिश्रम का कार्य किया करते थे । बहुत से अधिक आयु वाले तो पाठ्य पुस्तकों को अच्छी तरह समझने में असमर्थ हो चुके थे, तो भी ऐसी संलग्नता से पढ़ने मे परिश्रम करते रहते थे, कि उनकी दशा देखकर दया आती थी । उनमें से कुछ ऐसे ही गरीब थे जैसा कि मैं था और पढ़ाई में घोर परिश्रम करने के साथ ही उन विचारों को अपनी दरिद्र अवस्था के साथ भी संघर्ष करना पड़ता था । उनमें से कुछ ऐसे थे जिनको अपने वृद्ध माता-पिता का पालन करना पड़ता था और कुछ लोगों की स्त्रियाँ घरों पर थीं, जिनके निर्वाह की व्यवस्था करना आवश्यक था ।"

"इस प्रकार उस समय वहाँ सभी पढ़ने वालों के सामने एक ही उद्देश्य था कि किसी प्रकार अपने घर वालों की दशा को सुधारा जाये । अपने सुख-दुःख की वहाँ किसी को जरा भी चिन्ता न थी । यही हाल वहाँ अध्यापकों और व्यवस्थापकों का भी था । वे सब गोरे अमेरिकन थे, पर रात-दिन इन काले विद्यार्थियों के लिये परिश्रम करते रहते थे । वे जब किसी प्रकार विद्यार्थियों की सहायता करने में समर्थ होते तो अत्यन्त प्रसन्नता अनुभव करते थे ।"

"जब प्रथम वर्ष की पढ़ाई समाप्त हो जाने पर वार्षिक अवकाश की छुट्टियाँ हुईं तो अधिकांश विद्यार्थी अपने घरों को जाने की तैयारी करने लगे । उनको देखकर मुझे भी अपने घर की याद सताने लगी, पर मेरे पास वहाँ जाने के लिये मार्गव्यय ही न था । तब मैंने विचार किया कि किसी पास के कस्बे में ही जाकर कुछ काम किया जाये जिससे अगले वर्ष के लिये कुछ रुपया जमा हो सके । पर मेरे पास कहीं भी जाने लायक खर्च न था तब मैंने हैम्पटन मे ही एक होटल मे नौकरी कर ली । पर वहाँ मुझे इतना कम वेतन दिया गया कि वह सब भोजन में ही खर्च हो जाता था । मैंने अपना खर्च हर तरह से कम करके यह चेष्टा की इन छुट्टियों में मैं इतना कमा लूँ कि स्कूल का ऋण, जो १६ डॉलर मुझ पर हो गया था, चुका दूँ। पर सब कुछ प्रयत्न करने पर भी मैं इसमें कृतकार्य न हो सका । तब मैं संस्था के खजांची जनरल मार्शल के पास गया और उनसे अपनी परिस्थिति की बात स्पष्ट रूप से कह दी । वे मेरी सच्चाई और दीनता पर कृपालु हो गये और आदेश दिया कि तुम स्कूल का कर्ज सुविधानुसार कभी भी चुका सकते हो ।"

क्या यह दृश्य हमको भारतवर्ष के प्राचीन गुरुकुलों की याद नहीं दिलाते ? यद्यपि देश, काल में भेद होने से इन दोनों प्रकार के रहन-सहन तथा आचार-विचारों में अन्तर अवश्य था, पर यदि उनकी मनोभूमि और त्याग-तपस्या पर विचार किया जाये तो मालूम होता है कि जिस प्रकार हमारे गुरुकुलों के विद्यार्थी गौ-पालन तथा कृषिकार्य करके अपना निर्वाह करते थे, उसी प्रकार ये गरीब नीग्रो सर्वथा साधनहीन होने पर भी केवल परिश्रम और कष्ट सहन के आधार पर ज्ञान की आराधना कर रहे थे । इनमें से भी अधिकांश का ध्येय अपने लिये सुख-सुविधा की स्थिति प्राप्त करना नहीं था, वरन् वे अपने पददलित सम्बन्धियों और जाति भाइयों की दुर्दशा का सुधार करना ही अपना परम कर्तव्य मान रहे थे । यह उन लोगों के स्वार्थत्याग का ही परिणाम है कि आज नीग्रो जाति के व्यक्ति उस सोचनीय गुलामी की हालत से उठकर अमेरिकन समाज में क्रमशः मानव अधिकारों को प्राप्त करते जाते हैं ।

इसकी तुलना जब हम आज के भारतीय विद्यार्थी समाज से करते है तो सिवाय निराशा और शोक के कुछ अनुभव नहीं होता । अत्यन्त खेद का विषय है कि जिस देश के निवासियों के सामने प्राचीन गुरुकुल प्रणाली और ऋषि-मुनियों के आश्रमों का सर्वोच्च आदर्श मौजूद है, वहीं के विद्यार्थी अब नीच मनोवृत्तियों और चरित्रहीनता के मार्ग को अपनाते जा रहे है । समाजसेवा और परोपकार की भावना तो दूर रही इन दिनों वे सामान्य संयम और सज्जनता के व्यवहार को भी त्यागते जाते हैं । उनकी रुचि और अभिलाषा मुख्यतया बढ़िया फैशन तथा गन्दे मनोरंजन की तरफ ही दिखाई पड़ती

है । ऐसे विद्यार्थी घर वालों के सहायक होने के बजाय उनके लिये भारस्वरूप ही सिद्ध होते हैं ।

## परोपकारमय जीवन

हैम्पटन से अपने निवास स्थान मालडेन आते ही 'बुकर' ने सेवाकार्य आरम्भ कर दिया । उसने हैम्पटन मे ही वहाँ के अध्यापकों और संचालकों का सेवाभाव देखकर यह निश्चय कर लिया था कि मैं अपनी इस कष्टोपार्जित विद्या का उपयोग दूसरों की भलाई के लिये करूँगा और आजीवन यही प्रयत्न करता रहूँगा कि यह दुनियाँ कुछ अच्छी बन सके । इसलिये वह घर लौटते ही वहाँ के स्कूल में अध्यापन कार्य करने लगा । वहाँ की नगरपालिका उसे वेतन तो थोड़ा ही देती थी, पर वह अपनी खुशी से सुबह के आठ बजे से रात के दस बजे तक स्कूल का ही काम करता रहता था । कुछ ही समय काम करने के पश्चात् उसे मालूम हुआ कि यहाँ बहुसंख्यक व्यक्ति ऐसे है जो पढ़ने की बड़ी अभिलाषा रखते हैं, पर उनको जीवन निर्वाह के लिये दिन भर मजदूरी करनी पड़ती है, इसलिये स्कूल नहीं आ सकते । इस पर वाशिंगटन ने रात्रि पाठशाला खोल दी और शीघ्र ही उसमें भी उतने ही विद्यार्थी आने लगे जितने कि दिन में आते थे ।

पर इतने पर ही उन्होंने अपना प्रयत्न समाप्त नहीं कर दिया । लोगो में ज्ञान फैलाने के लिये उन्होंने एक वाचनालय और 'व्याख्यान-समिति' भी स्थापित की । इतवार की छुट्टी के दिन भी वे दो स्थानों में 'सन्डे स्कूल' चलाते थे जिनमें उन प्रौढ़ लोगों को पढ़ाया जाता था जिनको नौकरी के कारण अन्य दिन अवकाश नहीं मिलता था । इसके अतिरिक्त वे उन नवयुवकों को प्राइवेट ट्यूशन के तौर पर पढ़ाते थे जो कुछ तैयारी करके हैम्पटन के बड़े स्कूल में दाखिल होना चाहते थे । इतना अधिक परिश्रम करने पर भी उनको इस बात का कोई ख्याल न था कि पढने वाले उनको कुछ पारिश्रमिक देते हैं या नहीं ? जो कोई जितना दे सकता था वे उसी पर संतोष कर लेते थे । उनका मुख्य उद्देश्य यही था की किसी तरह वे अपनी जाति वालों को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर कर सकें ।

वाशिंगटन केवल पुस्तकों की पढाई पर ही विश्वास नहीं रखते थे । वरन् वे चाहते थे कि उनके विद्यार्थी जो कुछ शिक्षा प्राप्त करें उसे व्यावहारिक जीवन में भी चरितार्थ करें । इसलिये स्कूली पाठ्यक्रम के अतिरिक्त विद्यार्थियों को यह भी सिखलाते थे कि बालों में कैसे कंघा करना, अपने हाथ और चेहरे को साफ रखना, वस्त्रों की स्वच्छता का ध्यान रखना, ठीक ढंग से दाँतों को ब्रुश से साफ करना और नियमित स्नान आदि करना चाहिये । उन्होंने लिखा है कि 'शिक्षा संस्थाओं मे मै सदा दाँतों की सफाई पर जोर देता रहा हूँ और मेरा विश्वास है कि देखने में साधारण होने पर भी सभ्यता के प्रसार में इसका भी बहुत बड़ा स्थान है ।''

## एक पद दलित जाति का पुनः निर्माण

पर यह कार्य सहज नही था । नीग्रो लोग कई पीढ़ियों से पशुओं की तरह गोरों की गुलामी कर रहे थे और उसके पहले वे अफ्रीका मे जंगली जीवन व्यतीत करते थे । ऐसे लोगों से यह आशा करनी व्यर्थ थी कि वे शीघ्र ही 'विद्या' के वास्तविक स्वरूप और उद्देश्य को समझ जायेगे । वैसे तो कानून द्वारा गुलामी से छुटकारा पाने के कुछ समय बाद ही उनमें पढ़ने का बहुत अधिक शौक पैदा हो गया था और उनके लिये जितने भी स्कूल खोले गये उनमें विद्यार्थियो की जरा भी कमी न रही । इन लोगो में अधिकांश बड़ी उम्र के युवक और चालीस-पचास वर्ष तक के प्रौढ़ थे । पर इनका मुख्य उद्देश्य शिक्षा प्राप्त करके अपनी ज्ञान वृद्धि करना नहीं था, वरन् वे समझते थे कि अगर वे पढ़ लिख जायेंगे तो मेहनत मजदूरी से छुटकारा पाकर 'बाबू गीरी' की नौकरी पाकर आराम से रह सकेंगे । वे ख्याल करते थे कि अगर वे ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें पढ लेंगे और 'ग्रीक' तथा 'लेटिन' जैसी प्राचीन भाषाओं की कुछ जानकारी प्राप्त कर लेंगे तो 'महा-मानव' के दर्जे पर पहुँच जायेंगे ।''

इसका नतीजा यह हुआ कि नीग्रो लोगों में कुछ ही समय में 'टीचर' और 'प्रीचर' (शिक्षक और पुजारी) लोगों की भरमार हो गई । इनमें कुछ लोग परोपकारी, सेवाभावी और धर्म परायण भी थे, पर अधिकांश इन कार्यों को इसी उद्देश्य से करना चाहते थे कि वे आराम की जिन्दगी व्यतीत कर सकें । उस समय कितने ही ऐसे भी व्यक्ति शिक्षक बन गये जो केवल अपना नाम ही लिखना जानते थे । एक ऐसे ही व्यक्ति से जब वाशिंगटन की भेंट हुई तो उन्होंने पूछा कि आप—'पृथ्वी की आकृति कैसी है इस विषय को बच्चों को किस

प्रकार समझायेंगे ? उसने उत्तर दिया कि "पृथ्वी चपटी है या गोल है"—मैं दोनों तरह पढ़ाने को राजी हूँ । इस विषय में मेरे स्कूल के अधिकांश संचालक जैसा चाहेंगे उसी तरह मैं पढ़ाऊँगा ।"

पर पुजारी (पादरियों) के पेशे की हालत इससे भी कहीं अधिक खराब थी । पुजारी बनने के इच्छुक लोगों में बहुसंख्यक व्यक्ति अल्पशिक्षित ही नहीं थे वरन् वे चरित्रहीन भी होते थे । स्वाधीनता के आरम्भिक दिनों में जो व्यक्ति थोड़ा-सा पढ़ना जान जाता था पुजारी बनने को तैयार हो जाता था । इसका तरीका भी उन लोगों ने बड़ा अजीब निकाल रखा था । वे कहते थे कि हमको इस कार्य के लिये भगवान की तरफ से "धर्म प्रचार करने की प्रेरणा" (काल) प्राप्त हुई है । इस तरह की 'प्रेरणा' प्रायः गिर्जाघर में ही प्राप्त होती थी और वह व्यक्ति किसी दिन वहाँ बैठे-बैठे जमीन पर इस प्रकार औधा गिर जाता था जैसे उसे गोली लगी हो या बिजली ने करेन्ट मार दिया हो । वह इसी प्रकार घण्टों तक बिना बोले और हिले-डुले जमीन पर ही पड़ा रहता था । यह देखकर लोगों में यह बात फैल जाती थी कि अमुक व्यक्ति को 'प्रेरणा' प्राप्त हुई है । अगर वह पहली बार 'प्रेरणा' पर ध्यान नहीं देता था, तो ऐसी ही 'प्रेरणा' दूसरी और तीसरी बार भी आती थी और अन्त में उसे 'धर्म प्रचार' के काम में लगना ही पड़ता था ।

## हमारे देश के 'भगत' बनने वाले

इस वर्णन को पढ़कर हमको अपने देश के उन लोगों की याद आ जाती है जो देवी-देवताओं की पूजा करते समय 'आवेश' में आकर उछलने-कूदने और अपने ही शरीर को लोहे की जंजीरों से ठोकने-पीटने लगते हैं । उनके अनुयायी भी उन नीग्रो लोगों की तरह अशिक्षित और अन्धविश्वासी होते हैं और इस प्रकार के दृश्य को देखकर कहने लगते हैं कि "इस भगत के सर पर देवता आ गया है ।" तब वे उससे अपने लाभ, बीमारी या किसी अन्य आवश्यकता के सम्बन्ध में प्रार्थना करने लगते हैं और वे 'भगतजी' भी उनको तरह-तरह से देवता की पूजा के विधान बतलाने लगते हैं । हम जानते हैं कि इस समय शहरों में तो यह प्रवृत्ति अधिकांश में "छोटी जाति" के कुछ स्त्री-पुरुषों में ही रह गई है, पर अनेक गाँवों में अब भी उसका काफी जोर है ।

इन दिनों इस 'प्रेरणा' ने एक दूसरा रूप ग्रहण किया है । पच्चीस तीस वर्ष से हमारे देश में 'कीर्तन' का जोर बढ़ गया है । हम जानते हैं कि आध्यात्मिक और भक्ति की भावनाओं को उद्दीप्त करने के लिये 'कीर्तन' बड़ा प्रभावशाली माध्यम है, पर हमारे देशवासियों की अन्धविश्वासी मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप उसमें भी ऐसी 'प्रेरणा' वाले बहुसंख्यक व्यक्ति घुस जाते हैं । ये लोग 'कीर्तन' करते-करते ऐसी भावुकता में आ जाते हैं कि कभी तो रोने लगते हैं, कभी पुकारने लगते हैं और कभी बेसुध हो जाते हैं । यह देखकर 'धर्म भीरु' जनता यही समझने लगती है कि ये सज्जन बहुत बड़े 'भक्त' हैं और कीर्तन करते-करते इनको भगवान के स्वरूप के दर्शन हो जाते हैं अथवा ये किसी बहुत ऊँचे 'आध्यात्मिक स्तर' पर पहुँच जाते हैं । पर हम जानते हैं कि ऐसे 'भक्त' प्रायः 'कीर्तन' की आड़ में ही आराम से जीवन व्यतीत करने की व्यवस्था कर लेते हैं और कितने ही धर्म के नाम पर 'दुराचार' का मार्ग ढूँढ़ लेते हैं । इस सम्बन्ध में कई ऐसे उदाहरण हैं जिनमें बड़े-बड़े घर की महिलायें ऐसे ही किसी कीर्तनकार 'भक्त' के निकट सम्पर्क में आकर अपना सब कुछ गँवा बैठती हैं । इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि आध्यात्मिकता पर आधारित कीर्तन-प्रथा आज ऐसे 'भक्तों' के कारण काफी बदनाम हो गई है ।

## सेवा के नये क्षेत्र

वाशिंगटन ने हैम्पटन में तथा उसके पश्चात अपने नगर में जिस प्रकार परिश्रम और सेवाभाव से शिक्षा ग्रहण करने और उसका प्रसार करने का कार्य किया उससे सभी लोगों को उसकी सत्यनिष्ठा और परोपकारिता पर दृढ़ विश्वास हो गया । खास तौर पर हैम्पटन की शिक्षा-संस्था के प्रिंसिपल जनरल आर्मस्ट्रौंग तो उस पर आरम्भ से ही बड़ी कृपा रखते थे और वे आजीवन उसे आगे बढ़ने में सहयोग देते रहे । अभी 'मालडेन' के स्कूल में काम करते हुए उसे कठिनता से तीन-चार वर्ष हुए थे कि जनरल ने उसे हैम्पटन बुलाकर अमेरिका के मूल निवासी 'रेड इण्डियन' विद्यार्थियों का शिक्षक और निरीक्षक (गृहपति) बना दिया ।

ये 'रेड इण्डियन' भी निराले ढंग के मनुष्य थे यद्यपि गोरों ने उनकी जाति को प्रायः नष्ट कर दिया था और अब कुछ हजार लोग दूरवर्ती भागों में सरकारी संरक्षण में बचे हुए थे। पर अब भी वे अपने को अमेरिका का असली स्वामी ख्याल करते थे। इसलिये वे अपने को गोरों से ऊँचा मानते थे। नीग्रो (हब्शी) लोगों को तो वे अपने से बहुत नीचा समझते थे, क्योंकि गुलामी के दिनों में उनके मुखिया भी गुलाम खरीदकर उनसे अपने खेतों में काम कराते थे। ऐसी दशा में वाशिंगटन का काम बड़ा कठिन था। एक नीग्रो होकर ७५ इण्डियन विद्यार्थियों को वश में रखना और उन्हें आदेश देना सहज बात न थी। पर अपने सच्चे सेवाभाव और परोपकार के सिद्धान्त का पालन करने के द्वारा उसने उन अर्द्धसभ्य विद्यार्थियों को पूर्ण रूप से प्रभावित कर लिया और वे खुशी से उसकी आज्ञाओं को मानने लगे।

इन 'इण्डियनों' को शिक्षा देने के कार्य में दो-एक बार ऐसी घटनायें हुईं जिनसे प्रकट होता है कि अमेरिका में 'जाति-भेद' का विष कुछ अंशों में हमारे ही देश की तरह व्याप्त है। 'इण्डियन' लड़कों में से एक बीमार पड़ गया और वाशिंगटन से कहा गया कि वह उसे राजधानी में पहुँचाकर सरकारी कर्मचारियों द्वारा उसे अपने घर भिजवा दे। जब वे दोनों एक छोटे जहाज पर सफर कर रहे थे तो खाने की घण्टी बजी। पर भोजनगृह में पहुँचने पर व्यवस्थापक ने कहा कि वह 'इण्डियन' को बैठाकर खिला सकता है पर वाशिंगटन को नहीं। इन दोनों का रंग लगभग एक-सा ही था, पर भोजन-गृह वाले ने किसी तरह दोनों को अलग-अलग पहचान लिया। ऐसी ही घटना राजधानी में पहुँचने पर हुई। वे जिस होटल में ठहरने को पहुँचे उसके कर्मचारी ने 'इण्डियन' लड़के को ठहराना स्वीकार किया पर वाशिंगटन के लिये इन्कार कर दिया।

पर उस समय भी नीग्रोजनों में इतना स्वाभिमान आ गया था कि इस प्रकार के व्यवहार की परवाह न करके कानूनी तौर से अपने को गोरों से कम नहीं समझते थे। उन्हीं दिनों श्री फ्रेडरिक डगलस प्रान्तीय शासन-परिषद के सदस्य थे। वे नीग्रो थे और बड़े सज्जन तथा सदाशय व्यक्ति थे। एक बार जब वे रेल में यात्रा कर रहे थे तो कर्मचारियों ने रंग-भेद के कारण उनको मुसाफिरों के डिब्बे में से उतारकर पार्सल के डिब्बे में बैठने के लिये कहा। उन्होंने वैसा ही किया। कुछ देर पश्चात कुछ गोरे यात्री उस पार्सल के डिब्बे में आकर आश्वासन देने लगे। एक ने कहा—"श्रीमान् डगलस ! मुझे अफसोस है कि आपको इस प्रकार नीचा दिखाया गया।" डगलस एक वाक्य पर तनकर खड़े हो गये और कहा कि—"वे फ्रेडरिक डगलस को कभी नीचा नहीं दिखा सकते। मेरे भीतर जो आत्मा है उसे कोई हीन नहीं बना सकता। इसलिये इस व्यवहार से मैं नीचा नहीं हुआ, वरन् जिन्होंने ऐसा व्यवहार किया वे ही नीच हुए हैं।"

वास्तव में डगलस का कहना सत्य था। कोई मनुष्य चाहे कैसी भी ऊँची जाति का क्यों न हो अगर वह दूसरों के साथ मनुष्यता का बर्ताव करना नहीं जानता तो उसे नीचा ही समझा जाना चाहिये। जो सचमुच ऊँचा होगा वह किसी के साथ अपमान, तिरस्कार का बर्ताव न करेगा। इस सम्बन्ध में अमेरिका के उद्धारक प्रेसीडेण्ट वाशिंगटन का उदाहरण बड़ा प्रेरणादायक है। एक दिन रास्ते में किसी नीग्रो ने बड़ी विनय के साथ टोपी उतार कर उनको सलाम किया। वाशिंगटन ने भी प्रत्युत्तर में टोपी उतारकर उसका अभिवादन किया। इस पर उसके कुछ गोरे साथियों ने कहा कि आपने यह ठीक काम नहीं किया। वाशिंगटन ने उत्तर दिया, "क्या तुम यह चाहते हो कि मैं उस गरीब, अशिक्षित नीग्रो के मुकाबले में अपने को अविनीत सिद्ध होने देता।"

ये दोनों घटनायें हम भारतवासियों की आँखें खोल देने वाली हैं। हमारे यहाँ करोड़ों व्यक्तियों को बिना योग्य-अयोग्य का विचार किये नीचा और अछूत मान लिया गया है और हम उसके साथ उससे कहीं गर्हित व्यवहार करते हैं जैसा अमेरिकन गोरों द्वारा नीग्रो जनों के साथ किया जाता है। दक्षिण भारत में तो अभी तक इतनी बुरी हालत थी कि अगर सड़क पर कोई ब्राह्मण आता हो तो सामने से आते हुए अछूत जातीय व्यक्ति को सड़क छोड़कर कई गज दूर भाग जाना पड़ता था। हमारे यहाँ के समाज सुधारक वर्षों से इस अमानवीय अत्याचार को मिटाने के लिये पुकार मचा रहे है, पर अब भी अधिकांश 'ऊँची-जाति' का अभिमान रखने वाले अपने दुराग्रह को त्यागने को राजी

नहीं होते । इसका परिणाम यह हुआ कि मद्रास के 'नीची जाति' वालों ने 'वोट' के जोर से अपना शासन स्थापित कर लिया और उपद्रव खड़ा करके कितने ही ब्राह्मणों की चोटियाँ काट डालीं और जनेऊ तोड़ दिये । महाराष्ट्र में डॉ. अम्बेडकर की प्रेरणा से लाखो अछूत हिन्दू धर्म त्यागकर बौद्ध हो गये और हर तरह से हिन्दू जाति की जड़ काटने की चेष्टा करने लगे ।

यद्यपि हमारे देश में भी श्री महादेव गोविन्द रानाडे जैसे व्यक्ति हो चुके हैं, जिन्होंने हाईकोर्ट का जज और देशपूज्य नेता होने पर भी किसी अछूत बुढ़िया की प्रार्थना करने पर उसका बोझा उठाकर सिर पर रखवा दिया, पर हम अच्छी तरह जानते हैं कि अभी तक हमारे यहाँ के अधिकांश लोगों की मनोवृत्ति बदली नहीं है । अब सरकारी कानून और परिस्थितियों वश वे प्रकट में अछूतों को कुछ सुविधायें देने को तैयार हो जाते हैं, पर उनमें ऊँच-नीच की भावना अब भी उसी दूषित रूप में मौजूद है । खासकर 'पण्डित' और 'पुजारी' श्रेणी के लोग तो अपने को 'पवित्रता' का ठेकेदार समझकर अछूतों से हमेशा 'दूर-दूर' ही कहते रहते हैं । पुराने अथवा संकीर्ण विचारों के व्यक्ति अपने मन में चाहे जो कुछ समझते रहें, पर यह स्पष्ट है कि यह अन्यायपूर्ण कुप्रथा समाज तथा राष्ट्र के लिये कभी हितकर नही हो सकती । जो किसी के साथ अन्याय करता है उसे स्वयं भी दूसरों का अन्याय, अत्याचार सहन करना पड़ता है, यही परमात्मा का नियम है । इसलिये यदि 'ऊँचा' होने का मिथ्या अभिमान रखने वालों को अपने दुराग्रह का कठोर दण्ड भोगना पड़े तो कोई आश्चर्य की बात नही है ।

साथ ही जो लोग 'नीची जाति' के कहे जाते हैं उनका भी कर्त्तव्य है कि वे वास्तव में ऊँचा बनने की चेष्टा करें । बुकर टी. वाशिंगटन के चरित्र से भी यह शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं कि संसार में ज्ञान, गुण और परिश्रम का ही आदर होता है । उसने स्वयं सब तरह के कष्ट उठाकर शिक्षा प्राप्त की और अपनी योग्यता को स्वार्थ साधन में न लगाकर अपनी जाति के उत्थान में लगाया, तब नीग्रो लोगों की दशा किसी हद तक सुधर सकी । पर हमको खेद से कहना पड़ता है कि हमारे देश मे दो चार व्यक्तियों को छोड़कर किसी अछूत ने अपनी जाति वालों के उत्थान के लिये स्वार्थत्याग और कष्ट सहन नही किया । अभी तक उनको जो अधिकार मिले हैं वे सवर्ण जातियो के ही थोड़े से सुधारकों और मानवसेवा व्रतधारियों के प्रयत्नों का फल है ।

## टस्केजी विद्यालय की स्थापना

कुछ समय पश्चात् टस्केजी नामक स्थान के कुछ व्यक्तियों ने हैम्पटन विद्यालय के प्रिन्सिपल जनरल आर्मस्ट्रौंग को एक पत्र भेजा कि यदि वे किसी योग्य व्यक्ति को 'टस्केजी नार्मल स्कूल' की व्यवस्था करने को भेज सकें तो बड़ी कृपा हो । जनरल आर्मस्ट्रौंग को इसके लिये वाशिंगटन से बढ़कर और कोई व्यक्ति न जान पड़ा क्योंकि वे हृदय से अपनी जाति और देश की सेवा करना चाहते थे और इसके लिये सब तरह की कठिनाइयाँ उठाने को भी तैयार थे । इसलिये जब यह प्रस्ताव उसके सामने रखा गया तो 'टस्केजी' के विषय में किसी प्रकार की जानकारी न होने पर भी वह इस कार्य का भार उठाने को तैयार हो गये ।

पर जब वह 'टस्केजी' पहुँचे तो उन्होंने देखा कि वहाँ न तो कोई स्कूल का मकान है और न विद्यार्थी हैं, केवल सरकार से कुछ सहायता मिल जाने के आधार पर एक योजना बना ली गई है । पर वाशिंगटन ने हिम्मत नही हारी और वह दो-चार स्थानीय व्यक्तियो की सहायता से स्कूल की नींव जमाने में संलग्न हो गये । इसके लिये उसने आस-पास के स्थानों का दौरा करना आरम्भ किया, जहाँ नीग्रो लोगों की आबादी बहुत अधिक थी और वे कपास की खेती करके जीवन निर्वाह करते थे । वाशिंगटन ने देखा कि वे सब अब भी बुरी हालत मे है और उनकी फसले पहले से ही ऋणदाता साहूकारों के पास गिरवी रख दी जाती हैं । उनके लिये सरकार की तरफ से जगह-जगह थोड़े से स्कूल खुले हुए थे, पर उनमें से किसी का अपना मकान नहीं था और न कोई सामान था । इनमे से अधिकांश गिर्जाघरो मे स्थापित थे और उनके मास्टर स्वयं भी बहुत कम पढ़े लिखे और निर्बल चरित्र के व्यक्ति थे । जब वाशिंगटन एक स्कूल के भीतर पहुँचे तो देखा कि विद्यार्थियो के पास पाठ्य पुस्तकें भी नहीं हैं और पाँच लड़के एक ही किताब से पढ़ रहे हैं ।

इन नीग्रो लोगों की मानसिक स्थिति भी ऐसी गिरी हुई थी कि वे अपने को पूरा मनुष्य भी नहीं समझते थे । एक व्यक्ति ने अपने आरम्भिक जीवन का वर्णन करते हुए कहा कि—"हम पाँच जने इस स्थान के स्वामी के हाथ बेचे गये थे ।" वाशिंगटन ने पूछा—"तुम्हारे चार साथी कौन थे ?" नीग्रो ने कहा—"एक तो मेरा भाई था और तीन खच्चर थे ।" वे लोग अपने में जानवरों में कुछ अन्तर ही न समझते थे ।

इस तरह अनेक स्थानों में घूम-फिरकर तथा रुपया और विद्यार्थियों का कुछ प्रबन्ध करके वाशिंगटन ने ४ जुलाई १८८१ को 'टस्केजी विद्यालय' की स्थापना कर दी । उस समय वह एक पुराने गिर्जाघर में ही खोला गया । कुल मिलाकर ३० विद्यार्थियों ने उसमें नाम लिखाया, जिनमें से आधे लड़के और आधी लड़कियाँ थीं । पढ़ाने वाला मास्टर एकमात्र वाशिंगटन ही था । वह इन लड़कों को पाठ्य पुस्तकों द्वारा ही शिक्षा नहीं देता था वरन् उनको रहन-सहन और सभ्यता के नियमों की भी शिक्षा देता था । उसने देखा कि कितने ही लडके बड़ी-बडी पुस्तकों का नाम तो लेते हैं, पर उनको अपना मुँह और हाथ पैर भी साफ करना नहीं आता । इसी प्रकार लड़कियाँ पृथ्वी के नक्शे मे अफ्रीका के रेगिस्तान और चीन की राजधानी का तो पता लगा लेती थी, पर यह नहीं जानती थी कि भोजन की मेज पर छुरी और काँटा किस जगह रखा जाना चाहिये ।

## मिस डेविडसन का आगमन

फिर भी वाशिंगटन के कठिन परिश्रम और सेवा-भावना से स्कूल की तरक्की होने लगी और पहले महीने के अन्त में विद्यार्थियो की संख्या पचास तक पहुँच गई । डेढ़ महीने बाद एक नये सहायक शिक्षक का आगमन हुआ जिसका नाम था मिस ओलविया ए. डेविडसन । वह भी वाशिंगटन की ही तरह सेवाभावी युवती थी और दक्षिणी रियासतों मे शिक्षकों की विशेष रूप से आवश्यकता है, यह जानकर कई स्थानों मे शिक्षक का कार्य करके 'टस्केजी' आई थी । उसने भी हैम्पटन से उच्च परीक्षा पास की थी । उसका रंग काफी सफेद था, पर जब किसी ने उससे कहा कि आप अपने को नीग्रो प्रकट न करें वरन् गोरे अमेरिकन की हैसियत से ही ट्रेनिंग कॉलेज में दाखिल हो तो उसने साफ इन्कार कर दिया और कहा—"मैं किसी हालत में अपनी जातीयता छिपाकर दूसरे लोगों को धोखा नहीं दे सकती ।"

मिस डेविडसन वाशिंगटन की सच्ची सहयोगी सिद्ध हुई और उसने 'टस्केजी' विद्यालय के निर्माण मे जितना परिश्रम किया उतना अकेले किसी अन्य व्यक्ति ने नहीं किया । वह उत्तरी रियासतों में घूम-घूमकर विद्यालय के लिये चन्दा माँगकर लाती थी और स्कूल की दशा को हर तरह से सुधारने के लिये प्रयत्न भी करती रहती थी । यद्यपि आज 'टस्केजी' विद्यालय की कुल सम्पत्ति दो करोड़ रुपये से भी अधिक हो गई है, पर उस समय वाशिंगटन को प्रायः जगह-जगह से कर्ज लेकर विद्यालय की सामान्य इमारत का निर्माण करना पड़ा था। जब कर्ज का भार बहुत बढ़ जाता, या जब खरीदे गये सामान का बिल चुकाने में देर होने लगती तो मिस डेविडसन चन्दा इकट्ठा करके वाशिंगटन की सहायता करती । आगे चलकर वाशिंगटन के साथ उसका विवाह भी हो गया और उसने अपनी तमाम जिन्दगी नीग्रो जाति की इस महान संस्था को सफल बनाने में ही लगा दी ।

## स्वावलम्बन की शिक्षा

टस्केजी विद्यालय की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें केवल पुस्तको द्वारा पढ़ाई ही नहीं होती, वरन् हाथो से काम करके विद्यार्थियों को स्वावलम्बी बनाने की पूरी चेष्टा की जाती है । वाशिंगटन ने आरम्भ से ही इस बात को समझ लिया था कि उसके प्रायः सभी विद्यार्थी मजदूर या ग्रामीण किसानो के घर से आते है, अतः यदि स्कूल की परीक्षा पास करके वे अपने हाथ से कृषिकार्य करने के अयोग्य हो गये, तो यह उनके हित की दृष्टि से बड़ा बुरा होगा । यह सच है कि वहाँ जितने विद्यार्थी आते थे उनका लक्ष्य प्रायः मास्टर, क्लर्क या पादरी आदि बनकर मेहनत मजदूरी की जिन्दगी से छुटकारा पाना ही होता था, पर वाशिंगटन समझते थे कि इन लोगों को न तो कहीं मास्टरी मिल सकती है न क्लर्की । इसलिये दूसरे वर्ष जैसे ही उनको कुछ एकड खेती की जमीन मिल गई, विद्यार्थियो को कृषि-विद्या की शिक्षा देनी शुरू कर दी गई । बाद में स्कूल की इमारत के लिये ईंटे बनाने का काम भी विद्यार्थियो से कराया गया । आरम्भ में

तो विद्यार्थी इससे बहुत चौंकें कि जब यहाँ भी हमको मेहनत-मजदूरी करनी पड़ती है, तो स्कूल में पढ़ने से क्या फायदा ? पर जब वाशिंगटन ने उनको श्रम की महिमा समझाई और स्वयं फावड़ा लेकर मिट्टी खोदने और ईंटें बनाने का काम किया तो विद्यार्थी भी उनका अनुसरण करने लगे ।

निःसन्देह ईंटें बनाने में वाशिंगटन को बड़ा परिश्रम करना पड़ा । उनका ईंटों को पकाने का भट्टा तीन बार अधूरा ही बैठ गया, जिससे काफी हानि उठानी पड़ी । चौथी बार जब उसके पास कुछ भी शेष न बचा था तो वह अपनी घड़ी को एक व्यक्ति के पास गिरवी रखकर १५ डॉलर लाये और उस बार उन्हें सफलता मिल गई । तब तक टस्केजी के पास ईंटों का कोई कारखाना न था और मकान बनाने वालों को उनके लिये बड़ा परेशान होना पड़ता था । इसलिये टस्केजी विद्यालय का कार्य बड़ी तेजी से उन्नति करने लगा और बीस वर्ष बाद प्रति वर्ष दस-पन्द्रह लाख बढ़िया किस्म की ईंटें तैयार होने लगी । स्कूल की सभी इमारतें इन्हीं ईंटों से बनाई गईं और आस-पास के लोग भी उनको खरीदने हमेशा आने लगे । इस प्रकार जनता उनसे परिचित हो गई और उनकी ईमानदारी पर विश्वास करने लगी ।

## जनरल आर्मस्ट्रॉंग का आगमन

जब वाशिंगटन का स्कूल सफलतापूर्वक चलने लगा और उसमें शिक्षकों की संख्या बहुत बढ़ गई, जो कि अधिकांश में हैम्पटन विद्यालय के ग्रेजुएट (स्नातक) थे, तो हैम्पटन के खजांची जनरल मार्शल उसका निरीक्षण करने आये । उन्होंने सबसे पहले टस्केजी विद्यालय की जमीन खरीदने को २५० डॉलर उधार दिया था । उसके बाद वहाँ की प्रधान अध्यापिका, जिसने प्रथम दिन वाशिंगटन से झाड़ू दिलवा कर उसकी परीक्षा ली थी, उस विद्यालय को देखने आईं और बाद में जनरल आर्मस्ट्रौंग स्वयं आये । ये सब विद्यालय की इतनी जल्दी तरक्की होते देखकर बड़े प्रसन्न थे और आगे किस प्रकार कार्य करना चाहिये इसकी सम्मति भी देते थे । कुछ समय बाद जनरल आर्मस्ट्रॉंग वाशिंगटन को लेकर उत्तर की रियासतों में लैक्चर देने गये । उनका उद्देश्य था कि इस प्रकार वाशिंगटन को उन स्थानों के ऐसे व्यक्तियों से परिचित करा दिया जाये, जो इस प्रकार के कार्यों में उदारतापूर्वक सहायता देने को तैयार रहते हैं ।

जनरल आर्मस्ट्रॉंग अमेरिकन गृह-युद्ध में नीग्रो लोगों का पक्ष लेकर दक्षिणी रियासतों के गोरों से लड़े थे, इसलिये वाशिंगटन का ख्याल था कि वे शायद दक्षिण के गोरों से अधिक बातचीत करना पसन्द न करते होंगे । पर 'टस्केजी' में जब बहुसंख्यक गोरे उनका स्वागत करने और भेंट करने आये तो वे उनसे भी बड़े प्रेम के साथ मिले और उनकी दशा सुधारने को भी बहुत सी उपयोगी सलाहें देते रहे । इससे वाशिंगटन ने सीखा कि महान व्यक्ति कभी अपने विरोधी को भी कड़ी बात नहीं कहते । उन्होंने जनरल के इस गुण को अपना लिया और इसके फल से उनका कभी किसी से झगड़ा या वैमनस्य नही हुआ ।

## विद्यालय की वृद्धि और विस्तार

वाशिंगटन और उनके सभी सहयोगी इतनी सच्ची लगन और परिश्रम के साथ विद्यार्थियों को शिक्षा देते और उन्हें सब प्रकार से सफल सांसारिक जीवन व्यतीत कर सकने योग्य बनाने का कार्य करते थे कि, उनकी संख्या कुछ ही दिनों में ३० से बढ़कर ३०० से भी ऊपर हो गई । उनके लिये एक के बाद एक बोर्डिंग हाउस, व्याख्यानशाला, पुस्तकालय और उद्योग-धन्धे सम्बन्धी छोटे वर्कशॉप आदि बनते चले गये । समस्त देश में वाशिंगटन के निःस्वार्थ सेवाभाव और 'टस्केजी' विद्यालय के जीवन का सुधार करने वाली शिक्षा की प्रशंसा फैल गई और इसलिये आवश्यकता के समय कोई न कोई उनकी सहायता को आगे आता ही रहा ।

पर गुलामी से छुटकारा पाने वाले नीग्रो लोगों की दशा ऐसी हीन थी कि इतनी व्यवस्था हो जाने पर भी प्रार्थियों की भीड़ लगी ही रहती थी । जब विद्यालय मे बोर्डिंग हाउस (छात्रावास) बन गया तो बहुत से ऐसे भी स्त्री-पुरुष पढ़ने की इच्छा से आये, जिनके पास स्कूल का खर्च देने के लिये कुछ भी न था । पर वे ज्ञान प्राप्त करने को इतने अधिक उत्सुक थे कि उनसे इन्कार कर सकना भी उचित नहीं जान पड़ता था । इसलिये विद्यालय में एक रात्रि पाठशाला खोली गई और यह व्यवस्था की गई कि वे लोग दिन भर किसी धन्धे या कारखाने में काम करें और रात मे दो घण्टा पढ़ लें । इस प्रणाली का परिणाम बड़ा

कल्याणकारी हुआ और सैकड़ों साधनहीन और निराश्रित व्यक्ति उसके द्वारा पढ़ लिखकर सज्जनोचित जीवन व्यतीत करने के योग्य बन गये । सन् १६०० में नाइट स्कूल में पढ़ने वालों की संख्या १२ से बढ़कर ४५७ तक पहुँच गई थी ।

## अटलाण्टा प्रदर्शिनी में भाषण

कुछ वर्ष बाद जब दक्षिण रिसायतों के प्रमुख नगर अटलाण्टा में औद्योगिक प्रदर्शनी की गई तो उसमें नीग्रो जाति वालों के लिये भी एक पृथक भवन बनाया गया और उसकी समस्त व्यवस्था उन्हीं लोगों के सुपुर्द की गई । प्रदर्शनी के उद्घाटन के अवसर पर अन्य लोगों के साथ नीग्रो लोगों के भी एक प्रतिनिधि को भाषण करने को निमन्त्रित करने का निश्चय किया गया और बहुत सोच-विचार कर इसके लिये बुकर टी. वाशिंगटन को ही चुना गया । इस निमन्त्रण को पाकर वे अत्यन्त गम्भीर हो गये और परमात्मा को धन्यवाद देने लगे कि, जो व्यक्ति कुछ वर्ष पहले दूसरों का गुलाम था और भर पेट भोजन के लिये भी तरसता था, आज वह राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के इतने प्रसिद्ध व्यक्तियों के समाज में सम्मान के साथ बुलाया जाता है ।

जब वे अपनी पत्नी और तीन बच्चों के साथ अटलाण्टा पहुँचे तो वहाँ के नीग्रोजनो ने उनका बहुत बड़ा जुलूस निकाला, जिसको प्रदर्शनी तक पहुँचने में तीन घण्टा लग गये । व्याख्यान भवन हजारों लोगों की भीड़ से भरा था और हजारो ही व्यक्ति जगह न मिलने के कारण बाहर खड़े थे । उस समुदाय में सम्भवतः वे लोग भी होंगे जिनके यहाँ वाशिंगटन बाल्यावस्था में गुलामी करते थे । बहुसंख्यक गोरे इस भावना से भी भाषण सुनने आये थे कि "बाद में इस काले आदमी की खूब हँसी उड़ायेंगे ।" पर जब वाशिंगटन ने भाषण दिया और देश की उन्नति के लिये गोरे और कालों से मिलकर काम करने की पूर्ण हार्दिकता के साथ अपील की, तो उसका इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि भाषण समाप्त होते ही उस रिसायत का प्रधान शासक (गवर्नर) सबसे पहले लपक कर हाथ मिलाने को आया । इसके बाद प्रदर्शनी मे और समस्त नगर में इतने अधिक व्यक्ति उनको धन्यवाद देने आये कि वे उनसे हाथ मिलाते-मिलाते थक गये और चुपचाप अपने विद्यालय को वापस चले आये ।

## जार्ज वाशिंगटन कार्वर का सहयोग

वाशिंगटन अपनी जाति के उद्धार के लिये स्वयं ही आत्मत्याग और परिश्रम नहीं कर रहे थे, वरन् अन्य सुयोग्य व्यक्तियों को भी प्रेरणा देकर इस उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न करते थे । इस प्रकार उन्होंने टस्केजी में ऐसे कितने ही सुयोग्य कार्यकर्ता और विद्वान् एकत्रित कर लिये, जिनके प्रयत्नों से नीग्रो जाति का बड़ा कल्याण हुआ ।

इन विशेष व्यक्तियों में जार्ज वाशिंगटन कार्वर मुख्य थे । वे भी बचपन में एक गोरे किसान कार्वर के यहाँ दास की तरह काम करते थे । वे सर्वथा अनाथ थे, क्योंकि उनकी माँ को डाकू पकड़ ले गये थे और उसके बाद बाप भी कहीं चला गया था । ऐसी दशा में उसका पालन-पोषण उसकी मालकिन ने ही किया जो बड़े दयालु स्वभाव की स्त्री थी । छः वर्ष की आयु से ही वह अपने मालिक के खेत और बगीचे मे काम करने लगा और शीघ्र ही उसने कपड़ा धोने, खाना पकाने, चाय तैयार करने का भी अच्छा अभ्यास कर लिया । इस प्रकार उसे आगामी जीवन में जहाँ कहीं भी रहने का अवसर मिला वह अपनी उपयोगिता के कारण सबका प्यारा बना रहा । पास मे एक पैसा न रहने पर भी अनेक प्रकार की कठिनाइयों को सहन करके उसने शिक्षा प्राप्त की और पेड़-पौधों में स्वाभाविक रुचि होने के कारण अन्त में वह एक अच्छा वनस्पति विज्ञान ज्ञाता बन गया, जिससे एक प्रसिद्ध कॉलेज में उसे बिना किसी प्रयास के प्रोफेसर का पद मिल गया ।

यद्यपि कार्वर ने प्रोफेसर नियुक्त किये जाने के दिन तक गरीबी मे दिन काटे थे, उसको कभी ठीक भोजन और वस्त्र भी न मिल सके थे । पर वह केवल अपने आत्म-विश्वास, सत्संकल्प और परिश्रम के बल पर दुःख-सुख की तरफ कुछ ध्यान न देता हुआ अध्ययन मे लगा रहा और अन्त में वनस्पति विज्ञान की परीक्षा मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त करके उसने अपने समस्त सहपाठियों और अध्यापकों को, जो सब गोरे थे, चकित कर दिया । उसी दिन कॉलेज की प्रबन्धकारिणी कमेटी ने उसे अपने यहाँ वनस्पति विज्ञान का प्रोफेसर नियुक्त

कर दिया क्योंकि सबको यह निश्चय हो गया था कि वह आगे चलकर इस क्षेत्र में बड़ा नाम पैदा करेगा और उसके कारण विद्यालय की प्रतिष्ठा भी देश भर में बहुत अधिक बढ़ जायेगी ।

लोग समझते थे कि इतना अच्छा पद पाकर अब कार्वर सुखी जीवन बितायेगा और कुछ ही समय बाद उसे धन तथा यश की कुछ कमी नहीं रहेगी । पर कॉलेज में दो वर्ष काम करने के पश्चात् ही एक दिन उसे 'टस्केजी' से भेजा हुआ डॉ. बुकर टी. वाशिंगटन का एक पत्र मिला, जिसमें कार्वर को अपने यहाँ आमन्त्रित करते हुए अन्त में लिखा था—

"यहाँ गरीबी का यह हाल है कि स्कूल में पढ़ने आने वाले लड़के मीलों नंगे पैर चलकर आते हैं । यहाँ के लोग जोतना, बोना तक ठीक से नहीं जानते । यहाँ की मिट्टी ऐसी खराब है कि उससे ईंटें बनाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो पाता । मैं कृषि विज्ञान का जानकार नहीं हूँ । मै तो केवल लिखना-पढना, जूते बनाना, ईंटें बनाना, दीवालें खड़ी करना ही सिखाता हूँ । मैं उन्हें खाना नहीं दे सकता, अन्न पैदा करना नहीं सिखा सकता । फलतः वे भूखों मर रहे हैं । इन्हें तुम्हारे जैसे व्यक्ति की आवश्यकता है ।"

"मैं तुम्हें पैसा, पद या यश नहीं दे सकता । इनमें से पहले दो तो तुम्हारे पास हैं और जिस जगह तुम नाम कर रहे हो, वहाँ से अन्तिम (यश) भी मिल जायेगा लेकिन मैं तुमसे इन तीनों चीजों को छोड़ने को कह रहा हूँ । मैं दे रहा हूँ तुमको काम, कठोर काम, यह काम है पिछड़ेपन, गरीबी और बर्बादी से पीड़ित लोगों को ऊपर उठाने का, उनको पूर्ण मनुष्यत्व प्रदान करने का ।"

कार्वर ने कई बार इस पत्र को पढ़ा । उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि वहाँ की नंगी-भूखी जनता उसे पुकार रही है, उसे अपना सुख वैभव त्याग कर इस सेवा-व्रत को ग्रहण कर लेना चाहिये । उसने बिना अधिक आगा-पीछा किये एक साधारण पत्र में अपनी स्वीकृति लिखकर भेज दी और कुछ ही दिन बाद सिम्पसन कॉलेज से त्यागपत्र देकर टस्केजी पहुँच गया ।

## कूड़े-कबाड़ से वैज्ञानिक प्रयोगशाला

जब कार्वर टस्केजी पहुँचे तो वाशिंगटन ने उनका हार्दिक स्वागत किया और खड़े-खड़े ही दोनों बातें करने लगे । कार्वर ने सबसे पहले 'प्रयोगशाला' देखनी चाही, क्योंकि किसी बड़े वैज्ञानिक का काम इसके बिना नहीं चल सकता । पर बुकर ने कहा—"मै खाली जमीन आपको दे सकता हूँ और बुद्धि भगवान ने आपको दी है ।"

कार्वर ने समझ लिया कि यहाँ साधनों का सर्वथा अभाव है और उसे इस सबकी व्यवस्था अपने परिश्रम से ही करनी पड़ेगी । उसने भी अपना जीवन ऐसी ही बुरी परिस्थितियों में काटा था । इसलिये वह साधनों और धन के लिये चिन्तित नहीं हुआ, वरन् भगवान का नाम लेकर अध्यापन कार्य मे प्रवृत्त हो गया ।

कार्वर के सामने केवल लड़कों को पढ़ाने की समस्या नहीं थी, वरन् वह उनको ऐसी शिक्षा देना चाहता था जिससे उस प्रदेश की गरीब जनता अपनी कुछ उन्नति कर सके । इसका एक मात्र मार्ग केवल यही था कि वहाँ के खेतों की पैदावार बढ़ाई जाये लेकिन जब उसने इसकी चर्चा खेती वाले विद्यार्थियो से की तो उसने देखा कि उनमें इस विषय की कुछ भी रुचि और उत्साह नहीं है, क्योंकि वे समझते थे कि भूमि के खराब होने के कारण वे इस विषय में कुछ भी तरक्की नहीं कर सकते ।

पर कार्वर ने बतलाया कि उनकी यह भावना ठीक नहीं है । भूमि और प्रकृति मे सर्वत्र अनन्त सम्पत्ति भरी हुई है । संसार मे कोई चीज व्यर्थ या बेकार नहीं है । अगर हम ईश्वर की दी हुई बुद्धि से ठीक तरह काम ले और हृदय से परिश्रम करें तो कोई कारण नहीं कि हम असम्भव समझे जाने वाले कामो को भी सम्भव न बना सके । इसके लिये यहाँ की मिट्टी तथा पेड़-पौधों की ठीक तरह जाँच करने की आवश्यकता है । यदि हमारे पास नियमित 'प्रयोगशाला' नही है और उसके लिये हम कीमती सामग्री खरीद भी नहीं सकते, तो हम टूटी-फूटी चीजों को काम लायक बनाकर ही अपने कार्य को आगे बढायेंगे ।

बस वे अपने कुछ विद्यार्थियों को लेकर कस्बे मे गये और लोगो के यहाँ से बेकार पड़े हुए डिब्बे, लैम्प, कड़ाही, पतीली, बोतलें आदि माँग लाये और इन्हीं के द्वारा वैज्ञानिक प्रयोग करने लगे । उन्होंने विद्यालय से

खेती के लिये बीस एकड़ जमीन ली । जिस समय प्रोफेसर कार्वर हल द्वारा उसको जोतने लगे, तो छात्रों और बस्ती के लोगों के लिये एक तमाशा ही बन गया । उन्होने सबसे पहले उसमें ग्वार और मकई आदि की खेती की । इससे विद्यार्थी बड़े निराश हुए, क्योंकि ये पशुओं के खाने की चीजें समझी जाती थीं । पर जब एक दिन कार्वर ने इन्ही के व्यंजन तैयार करके उनको खिलाये तो उनको वे बहुत स्वादिष्ट जान पड़े । इसके बाद उन्होंने उसी भूमि में आलू बोये तो लोगों ने सोचा कि इस भूमि में आलू क्या पैदा होंगे ? पर आलू की फसल ऐसी बढ़िया हुई कि लोग आश्चर्य में पड़ गये । फिर उन्होंने कपास बोई और उसकी पैदावार भी दूसरे खेतो की अपेक्षा दूनी-चौगुनी हुई ।

प्रो. कार्वर ने लोगों को समझाया कि यह जमीन खराब नही है, पर लोग उसका उपयोग करना नहीं जानते । अगर अधिक पैदावार करना चाहते हो तो एक जमीन पर लगातार एक ही फसल मत करो । बल्कि 'रोटेशन-प्रणाली' (एक के बाद दूसरी चीज की खेती करना) से काम लो । उनके उपदेशों से उस प्रदेश के लोगों को कृषि-विज्ञान सम्बन्धी अनेक उपयोगी बातों का ज्ञान हुआ और कुछ ही वर्षो में उनकी आर्थिक स्थिति में पहले की अपेक्षा बहुत सुधार हो गया ।

प्रोफेसर कार्वर ने अपना कार्य यहीं समाप्त नहीं कर दिया, वरन् वहाँ उत्पन्न होने वाली वस्तुओं से तरह-तरह की उपयोगी और बाजार में बिक सकने लायक चीजें बनाने की शिक्षा भी उन्होंने लोगों को दी । उन्होने वहाँ की मिट्टी में से कई तरह के रंग निकालकर उनका पेण्ट तैयार किया, जिससे वहाँ के नये गिर्जाघर को बहुत थोड़े खर्च में बहुत सुन्दर रंग दिया गया । बीमार पड़ने वाले लोगों को उन्होने ऐसी जंगली जडी बूटियाँ और कन्द बतलाये जिनमे 'विटामिन' बहुत अधिक थे । इनका सेवन करके सैकड़ो लोग चंगे हो गये तो वे कार्वर को एक बड़ा डॉक्टर भी मानने लगे । उन्होंने मूँगफली से प्लास्टिक, कागज, दफ्ती, कॉफी, क्रीम, दूध आदि से ३०० प्रकार की चीजें तैयार कर सकने के आविष्कार किये और आलू से ११८ चीजे बनाई । अन्य रद्दी समझी जाने वाली चीजों से भी उन्होंने अनेक उपयोगी वस्तुये तैयार की ।

इन आविष्कारों का हाल सुनकर अनेक पूँजीपति उनके पास दौड़े आये और इन आविष्कारो को पेटेण्ट (रजिस्टर्ड) करा के साझे में कारखाना खोलने की सलाह देने लगे । रूस की सरकार ने उन्हें अपने यहाँ की पंचवर्षीय योजना मे सहयोग देने के लिये आमन्त्रित किया । मैक्सिको की खानो के मालिकों ने उनको अपने यहाँ बुलाना चाहा । वेस्टइण्डीज के लोगों ने भी उनको अपने देश में रखने की चेष्टा की । अगर वे चाहते तो पूँजीपतियों के साथ मिलकर इनमें से किसी चीज का व्यापार करके कुछ समय में ही लखपती-करोड़पती हो सकते थे, पर उन्होंने इन सबको अस्वीकार कर दिया और अपने देश की गरीब जनता के उद्धार को ही सच्चा 'धर्म' मानकर टस्केजी के नीग्रो-विद्यालय में डटे रहे और नाम मात्र के वेतन पर ४० वर्ष अपनी जाति की सेवा करते रहे । वे ज्ञान को बेचना अच्छा नही समझते थे वरन् मानव-मात्र के हित के लिये उसका उपयोग करना ही उनका आदर्श था । इसलिये जो कोई उनके पास आकर इस सम्बन्ध में कुछ जानना चाहता था, वह चाहे काला हो या गोरा, वे सबको निष्कपट भाव से उचित सलाह देते और मार्गदर्शन करते । इस प्रकार ४० वर्ष तक गरीबों के बीच मे काम करते हुए उन्होंने कितने व्यक्तियो का जीवन-सुधार कर दिया इसकी गणना नहीं की जा सकती ।

## यूरोप-यात्रा

टस्केजी विद्यालय ने ऐसे ही कई स्वार्थत्यागी महामानवो के सहयोग से देश में इतनी ख्याति प्राप्त करली कि सरकार और प्रसिद्ध धनी भी उसकी मुक्तहस्त से सहायता करने लगे । सन् १८८६ में सरकार ने उसे २५ हजार एकड़ सरकारी भूमि प्रदान की, जिसमें अनेक प्रकार के खनिज पदार्थ पाये जाते थे । सन् १८६८ में अमेरिका के प्रेसीडेण्ट उसका निरीक्षण करने आये । उसी समय बोस्टन के कुछ धनी मित्रो ने वाशिंगटन को आर्थिक सहायता देकर यूरोप भ्रमण के लिये भेजा जिससे वे वर्षों तक लगातार परिश्रम करते रहने के पश्चात् दो-तीन महीने का विश्राम कर सके और साथ ही वहाँ की प्रसिद्ध शिक्षा संस्थाओं का निरीक्षण करके टस्केजी विद्यालय को और भी ऊँचा उठा सके । हालैण्ड में उन्होंने देखा कि लोग नई-नई

विधियों द्वारा थोड़ी-सी जमीन से कितनी अधिक पैदावार प्राप्त करते हैं। यह अनुभव उनके विद्यालय के लिये भी उपयोगी था, जिनके अधिकांश विद्यार्थी किसान परिवारों के ही थे। पेरिस में उनके सम्मान में यूनीवर्सिटी क्लब की तरफ से स्वागत समारोह किया गया। पेरिस में ही उनकी भेंट अपने पूर्व परिचित नीग्रो कलाकार मि. टैनर से हुई जो यूरोप में अपनी कलाकृतियों के आधार पर बड़ा नाम पैदा कर रहे थे। इसके पश्चात् वाशिंगटन अपने विद्यार्थियों को प्रायः मि. टैनर का उदाहरण देकर उन्हें यह प्रेरणा दिया करते थे कि अगर वे वास्तव में किसी क्षेत्र में अपने परिश्रम और प्रतिभा के बल पर कोई बड़ी सफलता प्राप्त करके दिखा सकेंगे तो संसार उनका सम्मान अवश्य करेगा।

लन्दन पहुँचने पर उनको सभा-समितियों के इतने अधिक निमन्त्रण-पत्र मिले कि यदि उनको स्वीकार किया जाता तो उसमें महीनों का समय लग जाता और 'विश्राम' का उद्देश्य भी व्यर्थ हो जाता। अन्त में उन्होंने अमेरिकन राजदूत की सलाह से एक बड़े व्याख्यान हॉल में एक बार भाषण किया जिसका प्रचार इंग्लैण्ड तथा अमेरिका के पत्रों द्वारा दूर-दूर तक किया गया। महारानी विक्टोरिया से भी उनकी भेंट हुई। पार्लियामेण्ट में भी उन्होंने सरकारी अधिकारियों से अमेरिका के नीग्रोजनों के सम्बन्ध में वार्तालाप किया। लन्दन में अनेक अंग्रेजों से उनकी मित्रता हो गई जो सदैव उनके शुभचिन्तक बने रहे। जब वे अमेरिका वापस लौटे तो उनके जन्म-स्थान चार्ल्सटन नगर के गोरे और काले सभी लोगों ने उनको निमन्त्रित करके बड़ी धूमधाम के साथ स्वागत किया। इस नगर में उनकी बाल्यावस्था बड़ी गरीबी के साथ गुजरी थी और उन्होंने कई लोगों के यहाँ घरेलू कामों की नौकरी भी की थी। उनमें से कितने ही लोग स्वागत-समारोह में मौजूद थे। पर किसी के मन में यह ख्याल न था कि—"अरे यह तो हमारे यहाँ दास का काम कर चुका है।" वरन् भूतपूर्व गवर्नरों और जनरलों तक ने उनका हार्दिक प्रेम से स्वागत किया और इस बात को अपने लिये बड़े गौरव की बात समझा कि हमारे यहाँ का एक व्यक्ति इस तरह देश प्रसिद्ध होकर ऊँची पदवी पर पहुँच गया है।

यह घटना हमारे देशवासियों के लिये शिक्षाजनक है। यहाँ जिसने एक बार कोई छोटा पेशा या मामूली नौकरी कर ली फिर उसे सदा छोटा ही समझेंगे, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो। यह हृदय की संकीर्णता का लक्षण है और इस प्रकार के लोगों का समाज कभी बहुत ऊँचा नहीं उठ सकता। मनुष्य को तो सदैव ऐसा उदार भाव रखना चाहिये कि छोटे लोगों को भी सदा आगे बढ़ने की प्रेरणा दे और उनका उत्साह बढ़ाता रहे। ऐसे ही उदार व्यक्ति समाज और देश की उन्नति के आधार होते हैं।

## सहयोग और समन्वय की भावना

यद्यपि राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलनों में प्रायः विरोध और संघर्ष के अवसर भी आ जाते हैं, तब भी सच्चे परोपकारी और सेवाभावी कार्यकर्ता अपना लक्ष्य विशेषतः सहयोग और समन्वय पर ही रखते हैं। उग्रतापूर्ण कार्यक्रम थोड़े समय के लिये आवश्यक हो सकते हैं और सामान्य जनता भी उनके द्वारा जोश में आकर कुछ करने और मरने को तत्पर हो सकती है, पर यह मार्ग सदैव अल्पकालीन और अस्थायी ही रहता है। उसके द्वारा कोई स्थायी रचनात्मक कार्य नहीं हो सकता और न दीन-दुःखी तथा पीड़ित लोगों की दशा का सुधार किया जा सकता है। हम विशेष परिस्थितियों में आतंककारी अथवा सशस्त्र क्रांति की कार्यवाही करने वाले और देशोद्धार के लिये हँसते-हँसते मृत्यु वेदी पर अपना बलिदान कर देने वाले वीर पुरुषों का महत्त्व कम करना नहीं चाहते, वरन् हमारा आशय यही है कि किसी समाज की स्थायी उन्नति और प्रगति के लिये लगातार श्रम, अनवरत स्वार्थ त्याग की आवश्यकता पड़ती है जो और भी कठिन और दुर्लभ है।

बुकर टी. वाशिंगटन ऐसे ही महान और इतिहास में स्थायी स्थान प्राप्त कर सकने वाले समाजसेवी कार्यकर्ताओं में से थे यद्यपि आज अमेरिका के नीग्रोजनों में भी उग्र क्रांतिकारी भावना का समावेश हो गया है और कितने ही नीग्रो युवक बम और पिस्तौल लेकर गोरे लोगों का मुकाबला करने लगे हैं पर बुकर के समय में ऐसी परिस्थिति सम्भव नहीं थी। उस समय सभी नीग्रो और स्वयं बुकर भी गोरों के जड़खरीद गुलाम थे, उनमें मानवीय स्वाभिमान का नाम भी न था और मालिक के कहने पर वे कैसा भी नीच जान

पड़ने वाला काम करने से इन्कार नहीं करते थे। अगर कोई मालिक गुस्से में आकर अपने नीग्रो गुलाम को पीटते-पीटते जान से मार देता तो भी उसे कानून के अनुसार दोषी नहीं माना जाता था और न कोई दण्ड मिलता था। कोई गोरा किसी नीग्रो स्त्री का उपभोग करना चाहता तो उसमें भी किसी तरह का ऐतराज नहीं होता था। सारांश यह है कि उस समय अमेरिका की दक्षिणी रियासतों में नीग्रो गुलामों का दर्जा ठीक गाय, बकरी, घोड़ा, गधा आदि पशुओं के समान था, जिनके साथ उनके स्वामी कैसा भी व्यवहार कर सकते हैं। उस समय किसी नीग्रो का पुस्तक लेकर पढ़ना या पढ़ाना एक जुर्म माना जाता था जैसाकि किसी अन्धकार युग मे हमारे यहाँ भी शूद्रों के लिये नियम बना दिया गया था।

इस प्रकार की परिस्थिति में और ऐसे मानवता से हीन प्राणियो का उद्धार और उत्थान सहज न था। उनके पास कठोर परिश्रम करने पर भी पेट भरने के पूरे साधन न थे, तब वे क्या तो ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा करते और किस प्रकार उसका उपयोग करते?

## काले लोगों से सहानुभूति रखने वाले गोरे

इसलिये बुकर ने सदा सहयोग और समन्वय की भावना से ही काम लिया और अधिकांश में गोरे लोगों से ही हर तरह की सहायता लेकर अपनी जाति वालों के लिये इतनी बड़ी शिक्षा-संस्था स्थापित कर दी कि जिसके द्वारा आज नीग्रो जाति की काया-पलट हो चुकी है और कानून द्वारा उनको गोरों के समान ही सब अधिकार प्राप्त हो चुके हैं। इससे हम समझ सकते हैं कि उस समय भी गोरे लोगों में ऐसे अनेक मानवतावादी और परोपकारी सज्जन थे जो इन दीनहीन लोगों के लिये निःस्वार्थ भाव से सब कुछ करने और स्वयं कष्ट उठाने को तैयार रहते थे। स्वयं वाशिंगटन जिन जनरल आर्मस्ट्रॉंग की सहायता से पढ़ा था और जिन जनरल मार्शल से रुपया उधार लेकर टस्केजी विद्यालय के लिये सर्वप्रथम थोड़ी भूमि खरीदी थी, वे सब गोरे ही थे। उसके बाद विद्यालय के स्थापित हो जाने पर भी वाशिंगटन और उनके सहकारी सदैव उत्तरी रियासतों में और दक्षिण में भी सदैव ऐसे गोरे लोगों के पास जाते रहते थे जो इस प्रकार के परोपकारी कार्यों के लिये दान करने को तैयार होते थे। इस प्रकार की एक घटना का वर्णन करते हुए उन्होंने अपने आत्म-चरित्र में लिखा है—

"एक बार मुझे सूचना मिली कि एक सज्जन जो स्टैमफोर्ड से दो मील दूर एकान्त स्थान में रहता है 'टस्केजी' विद्यालय की सहायता कर सकता है। एक दिन अत्यन्त शीत और तूफान सहन करता हुआ दो मील पैदल चलकर मैं आपके पास गया। कुछ कठिनाई के साथ उससे भेंट हो सकी और उसने मेरी बातें ध्यान से सुन भी लीं, पर न तो कुछ दिया और न वायदा किया। मैंने लौटते समय अपने मन में समझ लिया कि आज के ये तीन घण्टे व्यर्थ गये। फिर भी मुझे इस बात का संतोष था कि मैंने अपना कर्तव्य पालन कर लिया। अगर मैं उसके पास न जाता तो मुझे यह बात खटकती ही रहती कि मैंने अपना कर्तव्य पूरा नहीं किया।"

"दो वर्ष बाद अकस्मात् मेरे पास एक पत्र आया, जिसे खोलने पर मालूम पड़ा कि वह उसी व्यक्ति का है, जिसके यहाँ से मैं दो साल पूर्व खाली हाथ लौट आया था। उस पत्र के साथ दस हजार डॉलर (उस समय का ३२ हजार रुपया) का एक बैंक ड्राफ्ट भी था और लिखा था कि "मैंने इस रुपये को अपने उत्तराधिकार पत्र में आपके विद्यालय के लिये लिखा था। पर अब मुझे अनुभव हो रहा है कि मैं इसे अभी दे दूँ, जिससे यह विद्यालय की प्रगति के लिये काम में लगाया जा सके।" बुकर का कहना है कि यह उस समय तक मिलने वाले दानों में सबसे बड़ी रकम का दान था और यह ऐसे अवसर पर मिला था जबकि विद्यालय के ऋण को न चुका सकने की चिन्ता से हम व्याकुल हो रहे थे।

## दैवी कृपा का एक उदाहरण

इसी प्रकार एक दूसरे अवसर पर कॉलेज के विद्यार्थियों के सामने धर्मोपदेश देने को बोस्टन के एक बड़े धर्माचार्य को बुलाया गया। उस समय तक विद्यालय के पास कोई ऐसा प्रार्थना भवन या धर्म मन्दिर (गिर्जाघर) नहीं था, जिसमें हजार-पाँच सौ व्यक्ति एक साथ बैठ सकें। इसलिये एक शामियाना लगाकर काम चलाया गया। पर जिस समय सभा का काम आधा ही हुआ था एकाएक जोरों की बरसात होने लग गई और शामियाने में पानी टपकने लगा।

यह देखकर एक व्यक्ति धर्माचार्य के मस्तक पर छाता लगाकर खड़ा हो गया । कुछ समय बाद वर्षा बन्द हो गई तो उन्होंने अपना प्रवचन समाप्त किया । इसके पश्चात् जब वे अपने ठहरने के कमरे में गये और अपने कपड़ों को सुखाने लगे तो उन्होंने बातचीत करते हुए कहा कि टस्केजी मे धर्मोपदेश के लिये एक बड़ा गिर्जाघर बन जाये तो बड़ा अच्छा हो । इसके दूसरे ही दिन दो महिलाओं की तरफ से, जो उस समय इटली में यात्रा कर रही थीं, अकस्मात् एक पत्र आया कि वे टस्केजी विद्यालय में दानस्वरूप अच्छा गिर्जाघर बनवा देना चाहती हैं । बुकर ने इसे एक दैवी घटना ही समझा और भगवान को घुटनो के बल झुककर धन्यवाद दिया । धर्म की दृष्टि से वे एक सच्चे ईसाई थे और सर्वथा धनहीन होने पर भी भगवान की कृपा के भरोसे ही इतना बड़ा आयोजन कर सके थे ।

## श्री कार्नेगी द्वारा पुस्तकालय भवन का दान

इसी प्रकार जब उनको विद्यालय के पुस्तकालय के लिये मकान की आवश्यकता प्रतीत हुई तो उन्होंने अमेरिका के प्रसिद्ध धन कुबेर और विद्याव्यसनी श्री कार्नेगी से इसके लिये प्रार्थना की । पर उस समय उन्होंने उनकी प्रार्थना पर बहुत कम ध्यान दिया । दस वर्ष बाद सन् १६०० में उन्होंने फिर इस सम्बन्ध में श्री कार्नेगी को पत्र लिखा कि "इस समय विद्यालय में ११०० छात्र, ८६ अध्यापक और अन्य कार्यकर्ता शिक्षा प्रसार के कार्य में लगे हुए है । हमारे पुस्तकालय में पुस्तकों की संख्या भी १२ हजार हो गई है । पर हमारे पास अभी तक कोई ऐसा उपयुक्त स्थान नहीं है, जहाँ बैठकर इनसे लाभ उठाया जा सके । इसके लिये उपयुक्त भवन २० हजार में बनाया जा सकता है । बहुत-सा निर्माण कार्य तो विद्यार्थी गण स्वयं कर लेंगे, पर सामग्री के लिये धन की आवश्यकता होगी ।" इस पर कार्नेगी ने तुरन्त स्वीकार पत्र भेज दिया और लिखा कि "सामग्री का जितना हिसाब हो वह उनके पास भेज दिया जाये, वे उसे चुका देने को तैयार है ।"

## अमेरिका के प्रेसीडेण्ट का आगमन

बुकर टी. वाशिंगटन की आरम्भ से ही यह इच्छा थी कि इस नीग्रो विद्यालय को उन्नति करके इस योग्य बनाया जाये कि अमेरिका का प्रेसीडेण्ट यहाँ पधारे । अन्त में सन् १८६८ मे १६ दिसम्बर को ऐसा दिन आया जब कि प्रेसीडेण्ट मैकिनले अपनी धर्मपत्नी और मन्त्रिमण्डल के कितने ही सदस्यों के साथ टस्केजी आये । दक्षिण अमेरिका में एक छोटे से कस्बे के लिये वास्तव में यह बड़े सौभाग्य और महत्त्व का अवसर था और इस उत्सव को देखने के लिये चारों तरफ के गाँवों और कस्बों की इतनी जनता उमड़ पड़ी कि टस्केजी में उसका समा सकना भी कठिन हो गया विद्यालय के लगभग एक हजार विद्यार्थी जुलूस बनाकर प्रेसीडेण्ट के सामने होकर निकले, जिनमें से प्रत्येक के हाथ में एक गन्ना था और उसके सिरे पर कपास के कुछ खुले हुए डोंड झण्डे की तरह टँगे हुए थे । उनके पीछे कितनी ही चौकियाँ चल रही थीं जिनमें विद्यालय में सिखाये जाने वाले उद्योग-धन्धों का प्रदर्शन किया गया था । बुकर ने संस्था का परिचय देते हुए कहा कि—

"बीस वर्ष पहले टस्केजी का यह विद्यालय एक टूटे-फूटे मुर्गी पालने के घर तथा दो चार पुराने कमरों में आरम्भ किया गया था । उस समय कुल तीस विद्यार्थी इसमें पढ़ते थे और केवल एक ही अध्यापक था । इस समय विद्यालय के पास २३ हजार एकड़ जमीन है, जिसमें से एक हजार एकड़ पर प्रतिवर्ष केवल विद्यार्थियों के श्रम द्वारा खेती की जाती है । विद्यालय की भूमि पर छोटी बड़ी ६६ इमारतें बन गई हैं और वे भी प्रायः सभी विद्यार्थियों द्वारा ही बनाई गई है । जब विद्यार्थीगण खेती या मकान बनाने का कार्य करते हैं तो इन विषयों के होशियार शिक्षक उनको इस सम्बन्ध में नये से नये तरीको की शिक्षा देते रहते है ।"

प्रेसीडेण्ट ने उत्तर देते हुए कहा कि "टस्केजी का विद्यालय देश के भीतर ही नहीं विदेशों तक में प्रसिद्ध हो चुका है । यह समस्त कार्य केवल एक व्यक्ति के उत्साह और प्रेरणा से सम्पन्न हो सका, यह कम प्रशसा की बात नहीं है ।" जल-सेना के सेक्रेटरी श्री लौंग ने कहा कि "अपने देश के काले और गोरे उद्योगशील सज्जनों द्वारा ऐसा प्रशंसनीय कार्य होते देखकर मेरा हृदय प्रसन्नता से भर गया । भगवान इसके सचालक का कल्याण करे जिसने गुलामी की हालत से ऊपर उठकर इतना महान कार्य कर दिखाया ।" अमेरिका के पोस्ट मास्टर जनरल श्री स्मिथ ने कहा हमने देश के विभिन्न स्थानो मे बड़े-बड़े शानदार उत्सव और

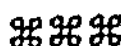
रंग-बिरंगे प्रदर्शन देखे है, पर मेरा विश्वास है कि उनमें से कोई ऐसा प्रभाव उत्पन्न करने वाला नहीं था, जैसा कि आज का यह उत्सव प्रतीत हो रहा है, क्योंकि इसके द्वारा अपने देश के उज्ज्वल भविष्य के लिये एक महान प्रेरणा मिलती है ।"

## एक सच्चे जन-नेता का सच्चा स्मारक

इस प्रकार सहृदयता और सद्‌भावना के आधार पर कार्य-सचालन करते हुए गोरे व्यक्तियो की सहायता से ही बुकर ने नीग्रो जाति के उद्धार का एक महान आयोजन पूरा कर दिखाया, यद्यपि उनके समय में ही दुष्ट प्रकृति के गोरो ने "कु क्लक्स क्लैन" नामक गुप्त-दल स्थापित कर लिया था जो गोरों की प्रतियोगिता करने वाले नीग्रो लोगों को रात्रि के समय आक्रमण करके तरह-तरह से दण्डित करता था, पर बुकर ने कभी अपनी सद्‌भावना में कमी नहीं आने दी । वे अपने जीवन के अन्त तक कालों और गोरों में एक्य, सहयोग और प्रेम का प्रचार करते रहे । इसके फल स्वरूप आज भी उनको अमेरिका का महान पुरुष माना जाता है । सन् १९५६ में उनकी शताब्दी के अवसर पर अमेरिका की सरकार ने उनका एक उपयुक्त स्मारक बनाने के लिये दस लाख रुपये की रकम मजूर की और उनकी स्मृति मे पचास लाख डॉलर के सिक्के और डाक टिकिट निकाले गये । आज उनका जन्म-स्थान, जो गुलामो के रहने की छोटी सी कोठरी थी एक 'तीर्थ स्थान' बन गई है, जहाँ प्रतिवर्ष लाखो नीग्रो और कुछ गोरे भी अपनी भक्ति प्रदर्शन के लिये जाया करते है ।

बुकर टी. वाशिंगटन का जीवन हम सबके लिये, और खास तौर पर साधनहीन गरीब युवकों के लिये आदर्श और प्रेरणादायक है । उनकी गरीबी की कोई सीमा न थी, क्योंकि गुलामों का सब कुछ उनके मालिक का ही होता है । समाज मे उनको किसी प्रकार का अधिकार न था और प्रगति के कोई साधन उनको प्राप्त न थे । पर ऐसी स्थिति मे भी वे केवल अपनी अन्तःप्रेरणा से ऊपर उठे और सैकड़ों प्रकार की कठिनाइयाँ उठाकर शिक्षा प्राप्त कर ली । पर उनकी सबसे बड़ी महानता तो यह थी कि शिक्षा प्राप्त करके उसका उपयोग अपने निजी परिवार के सुख के लिये करने के बजाय, उसके द्वारा अपनी जाति के अन्य व्यक्तियों को ऊँचा उठाने का प्रयत्न ही वे निरन्तर करते रहे । उनकी पत्नी ने भी विद्यालय की उन्नति के लिये परिश्रम करते-करते प्राण अर्पण कर दिये और अपने पुत्रों को भी उन्होंने टस्केजी के अन्य विद्यार्थियों के समान ईंटे बनाने का काम सिखाकर जाति का सेवक ही बनाया ।

यदि हम लोग अपनी साधारण सम्पत्ति या छोटी-मोटी जायदादों का मोह त्याग कर अपने देश भाइयों की उन्नति के लिये अपने जीवन का कुछ भाग अर्पण कर दे, तो क्या वह एक 'महानता' का कार्य न होगा ? हमको स्मरण रखना चाहिये कि जनता उसी का हृदय मे सम्मान करती है और उसी को मरने के पश्चात् भी याद रखती है, जो दूसरे लोगों की भलाई के लिये कुछ काम करता है ।



# पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

*परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, ओरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनने अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है। जिनके नाम इस प्रकार हैं :-*

१. युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन
समग्र वाङ्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जाग्रति की ओर
८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ ( सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
३८. प्रज्ञोपनिषद्
३९. नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
४१. जीवेम शरदः शतम्
४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
४३ हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
४४. मरकर भी अमर हो गये जो
४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
४८. समाज का मेरदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
४९. शिक्षा एवं विद्या
५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसग-१
५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
५३. धर्मतत्त्व का दर्शन व मर्म
५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
५५. दृश्य जगत् की अदृश्य पहेलियाँ
५६.ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
५७. मनस्विता प्रखरता और तेजस्विता
५८. आत्मोत्कर्ष का आधार- ज्ञान
५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
६१. गृहस्थ : एक तपोवन
६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
६८. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)

**वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे—**

७१. मनोविकारो की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय
७३ चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप
७४ पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. सकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६ बाल-विकास के विविध सोपान
७७ बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता मे सुसंस्कारो का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील ओर परिवार-निर्माण
८० व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१ विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२ सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६ नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवन: एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के सयुक्त दायित्व
८९ नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१ पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६ मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषो के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४ उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मजूषा
१०६ मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमो का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार सहिता
१०८. गुरुदेव की अपने आत्मीय जनों से अपनी बातें

❑❑❑